कर्म-विज्ञान

चतुर्थ-भाग

कर्म सिद्धान्त पर सर्वांगीण विवेचन

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय का ३०६वां रत्न

* कर्म-विज्ञान	:	(चतुर्थ भाग) (कर्म प्रकृतियों का विवेचन)
* लेखक	:	श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि
* सम्पादक	:	विद्वद्रत्न मुनिश्री नेमिचन्द्र जी
* प्रस्तावना	:	डॉ. कल्याणमल लोढा
* प्रथम आवृत्ति	:	वि. सं. २०५० चैत्र शुक्ल पंचमी (चादर महोत्सव समारोह) २८ मार्च १९९३, उदयपुर
* प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	:	श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर–३१३००१
* मुद्रण	:	श्री संजय सुराना द्वारा कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, ए-७, अवागढ़ हाउस, एम.जी. रोड, आगरा–२८२००२, फोन ६८३२८
* मूल्य	:	अस्सी रुपया मात्र: लागत मूल्य से भी कम

श्री तारक गुरु जैन संस्थान उदयपुर 125

प्रकाशकीय बोल

धर्म और कर्म अध्यात्म जगत के ये दो अद्‌भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म शब्द मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म शब्द बंधन का। बंधन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। प्राणी/कर्मबद्ध आत्मा प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

"कर्मवाद" का विषय बहुत गहन गंभीर है, तथापि कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत के महान मनीषी, चिन्तक/लेखक आचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज ने "कर्म-विज्ञान" नाम से यह विशाल ग्रंथ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान उपकार किया है। यह विराट् ग्रंथ लगभग ३००० पृष्ठ का होने से हमने पांच भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में आस्रव एवं संवर पर तर्क पुरस्सर विवेचन है।

पहले हमने तीन भाग में ही कर्म विज्ञान ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना बनाई थी। परन्तु ज्यों ज्यों आचार्यश्री द्वारा इनकी सामग्री प्राप्त होती गई त्यों-त्यों लगा कि इसकी पूर्णता चार भाग में भी नहीं, संभवतः पांच भाग में हो जाय। इस भाग में कर्म प्रकृतियों का वर्णन है। अभी कर्म मुक्ति की प्रक्रिया निर्जरा और सम्पूर्ण कर्म मुक्त स्थिति मोक्ष का विवेचन बाकी है। संभवतः वह पंचम भाग में पूर्ण हो जायेगा। कर्म विज्ञान के द्वितीय और तृतीय भाग के प्रकाशन में आर्थिक अनुदान उदारमना डा. चम्पालाल जी देसरड़ा का मिला, उसी तरह इस प्रकाशन में भी दानवीर डा. चम्पालाल जी देसरड़ा, औरंगाबाद का अपूर्व योगदान मिला है जो उनकी साहित्यिक अभिरुचि तथा आचार्य श्री और उपाध्याय श्री के प्रति अपार आस्था की द्योतक है। ऐसे तेजस्वी धर्मनिष्ठ युवक सुश्रावक पर हमें सात्विक गर्व है। हम उनके आभारी हैं। साथ ही साहित्यसेवी श्रीमान् श्रीचन्द सुराना "सरस" ने बड़ी तत्परता के साथ सुन्दर मुद्रण व साज-सज्जा युक्त प्रकाशन कर समय पर प्रस्तुत किया, हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

आशा है, पाठक इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से अधिकाधिक लाभान्वित होंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय

पुस्तक प्रकाशन में विशिष्ट सहयोगी श्रीमान डॉ. चम्पालाल जी देसरड़ा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में, परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्त्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा एवं सौ. प्रभादेवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया। आप में धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाज-हित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारता पूर्वक दान देते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लाखों लोग खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले होते हैं। आप उन्हीं विरले सत्पुरुषों में हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकूबाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवसाय के कारण धातुशास्त्र में (Metallurgical Engineering) पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्रीमान मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभादेवी धर्मपरायण, सेवाभावी महिला है। जैन आगमों में धर्मपत्नी को "धम्मसहाया" विशेषण दिया है वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है।

आपके सुपुत्र हैं–श्री शेखर । वह भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। अभी इन्जिनियरिंग परीक्षा समुत्तीर्ण की है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीता देवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार एवं मधुर हैं ।

श्री शेखर जी भी धर्म एवं समाज सेवा में भाग लेते हैं, तथा उदारता पूर्वक सहयोग प्रदान करते हैं ।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं–कुमारी सपना और कुमारी शिल्पा।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिणकेसरी मुनिश्री मिश्रीलाल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कालेज, गुरु गणेश नगर, औरंगाबाद के आप सेक्रेटरी हैं।

सन् १९८८ में श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका आचार्यश्री से सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान पुस्तक के चार भागों के प्रकाशन में आपश्री ने विशिष्ट अनुदान प्रदान किया है। अन्य अनेक प्रकाशनों में भी आपश्री ने मुक्त हृदय से अनुदान प्रदान किया है। आपकी भावना है, घर-घर में सत्साहित्य का प्रचार हो, धर्म एवं नीति के सद्विचारों से प्रत्येक पाठक का जीवन महकता रहे।

आपकी उदारता और साहित्यिक सुरुचि प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है।

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान निम्न हैं।

Alloy Castings
Parason Enterprises
Parason Machinary (India) Pvt. Ltd
Sunmoon Sleeves Pvt. Ltd.

आपका पता है :
चम्पालाल शेखर कुमार देसरड़ा
'अनुकृपा'
२८, व्यंकटेशनगर, जालना रोड,
औरंगाबाद-४३१००१
फोन : २८९४४, २६१५६, २६५४६

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

स्वकीय

अनेक प्रश्नों का एक उत्तर : कर्म-विज्ञान

संसार की विचित्र स्थितियों को देखकर मन में एक कुतूहल जगता है। संसार में इतनी विभिन्नता/इतनी विचित्रता क्यों है? प्रकृति के अन्य अंगों को छोड़ देवें, सिर्फ मनुष्य जाति पर ही विचार करें तो हम देखेंगे, भारत के ८८ करोड़ मनुष्यों में कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं मिलते। उनकी आकृति में भेद है, प्रकृति में भेद है। कृति, मति, गति और संस्कृति में भी भेद है? विचार और भावना में भेद है। तब प्रश्न उठता है, आखिर यह भेद या अन्तर क्यों है? किसने किया है? इसका कारण क्या है?

प्रकृतिजन्य अन्तर या भेद के कारणों पर वैज्ञानिकों ने बड़ी सूक्ष्मता और व्यापकता से विचार किया है और उन्होंने एक कारण खोज निकाला–हेरिडिटी–(Heredity) वंशानुक्रम।

वैज्ञानिकों का कहना है–हमारा शरीर कोशिकाओं द्वारा निर्मित है। एक कोशिका (एक सेल) कितना छोटा होता है, इस विषय में विज्ञान की खोज है–एक पिन की नोंक पर टिके इतने स्थान पर लाखों लाख कोशिकाएं हैं। कोशिकाएं इतनी सूक्ष्म हैं। उन सूक्ष्म कोशिकाओं में जीवन-रस है। उस जीवन-रस में जीवकेन्द्र-न्यूक्लीयस (Nucleus) है। जीव केन्द्र में क्रोमोसोम (Chromosomes) गुणसूत्र विद्यमान हैं। उनमें जीन (जीन्स–Genes) हैं। जीन में संस्कार सूत्र हैं। ये जीन (Genes) ही सन्तान में माता-पिता के संस्कारों के वाहक या उत्तराधिकारी होते हैं। एक जीन जो बहुत ही सूक्ष्म होता है, उसमें छह लाख संस्कार सूत्र अंकित होते हैं। इन संस्कार सूत्रों के कारण ही मनुष्य की आकृति, प्रकृति, भावना और व्यवहार में अन्तर आता है।

इस वंशानुक्रम विज्ञान (जीन सिस्टमोलोजी) का आज बहुत विकास हो चुका है। यद्यपि वंशानुक्रम के कारण अन्तर की बात प्राचीन आयुर्वेद एवं जैन आगमों में भी उपलब्ध है। आयुर्वेद के अनुसार पैतृक गुण अर्थात् माता-पिता के संस्कारगत गुण सन्तान में संक्रमित होते हैं। भगवान महावीर ने भी भगवती तथा स्थानांग सूत्र में जीन को मातृ अंग-पितृ अंग के रूप में निरूपित किया है। इसलिए आधुनिक विज्ञान की वंशानुक्रम-विज्ञान की खोज कोई नई बात नहीं है। मारवाड़ी भाषा का एक दूहा प्रसिद्ध है–

बाप जिसो बेटो, छाली जिसो टेटो,
घड़े जिसी ठिकरी, मां जिसी दीकरी ।

यह निश्चित है कि माता-पिता के संस्कार सन्तान में संक्रमित होते हैं, और वे मानव व्यक्तित्व के मूल घटक होते हैं। परन्तु देखा जाता है, एक ही माता-पिता की दो

सन्तान–एक समान वातावरण में, एक समान पर्यावरण में पलने पर, एक समान संस्कार और शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी–दोनों में बहुत सी असमानताएँ रहती हैं। एक समान जीन्स होने पर भी दोनों के विकास में, व्यवहार में, बुद्धि और आचरण में भेद मिलता है। एक अनपढ़ माता-पिता का बेटा प्रखर बुद्धिमान और एक डरपोक कायर माता-पिता की सन्तान अत्यन्त साहसी, वीर, शक्तिशाली निकल जाती है। बुद्धिमान माता-पिता की सन्तान मूर्ख तथा वीर कुल की सन्तान कायर निकल जाती है। सगे दो भाइयों में से एक का स्वर मधुर है, कर्णप्रिय है। दूसरे का कर्कश है। एक चतुर चालाक वकील है, तो दूसरा अत्यन्त शान्तिप्रिय, सत्यवादी है। ऐसा क्यों है?

वंशानुक्रम विज्ञान के पास इन प्रश्नों का आज भी कोई उत्तर नहीं है। मनोविज्ञान भी यहां मौन है। एक सीमा तक जीन्स का अन्तर समझ में आ सकता है। परन्तु जीन्स में यह अन्तर पैदा करने वाला कौन है? विज्ञान वहां पर मौन रहता है, तब हम कर्म सिद्धान्त की ओर बढ़ते हैं। कर्म जीन से भी अत्यन्त सूक्ष्म सूक्ष्मतर है। और जीन की तरह प्रत्येक प्राणधारी के साथ संपृक्त है। अतः जब हम सोचते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद है, अन्तर है, उसका मूल कारण क्या है? तो कर्म शब्द में इसका उत्तर मिलता है।

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–इन प्राणियों में परस्पर इतना विभेद क्यों है? तो भगवान महावीर ने इतना स्पष्ट और सटीक उत्तर दिया–"गोयमा ! कम्मओ णं विभत्ती भावं जणयइ !" हे गौतम ! कर्म के कारण यह भेद है? "कर्म" ही प्रत्येक प्राणी के व्यक्तित्व का घटक है।

विपाक सूत्र[1] में वर्णन आता है। इन्द्रभूति गौतम मृगापुत्र (मृगालोढा) को देखने के लिए गये। वह विजय क्षत्रिय राजा की रानी मृगादेवी की कुक्षि से जन्मा था। रानी की अन्य सन्तानें बहुत सुन्दर और दर्शनीय थीं, परन्तु मृगालोढा एक पत्थर के गोल-मटोल आकार का लोढा जैसा था। न आदमी, न पत्थर ! उसका मुखद्वार और मलद्वार एक ही था। उसके शरीर से इतनी भयंकर बदबू आती थी कि कोई उसके पास खड़ा भी नहीं रह सकता था। यह विचित्र और अत्यन्त करुणाजनक स्थिति देखकर गौतम जैसे ज्ञानी भी द्रवित हो गये। गौतम ने भगवान के पास आकर पूछा–भन्ते ! राजघराने में जन्मा यह प्राणी इतना दारुण/असह्य दुःख क्यों भोग रहा है?

भगवान ने उत्तर दिया–गौतम ! आज यह इतना कष्ट क्यों पा रहा है, इसका उत्तर पाने के लिए वर्तमान को नहीं, अतीत को देखो। पूर्वजन्म में उसने क्या-क्या कर्म किये हैं? उन कर्मों पर विचार करो तो तुम्हें समाधान मिलेगा, कि इसे दुःख देने वाला कोई अन्य नहीं, इसी के स्वकृत कर्म हैं।

---

१. प्रथम अध्ययन

जैन दर्शन कर्म विज्ञान के सहारे सूक्ष्म समाधान तक पहुँचा है। प्राणी के एक या दो जन्म तक नहीं, किंतु सैंकड़ों हजारों पूर्वजन्मों तक कर्म संस्कारों को खोजता रहा है और उस विज्ञान के आधार पर उसकी हर गति-मति का समाधान भी दिया गया है।

जैन धर्म का कर्म विज्ञान इतना सूक्ष्म और इतना सटीक है, इतना तर्कसंगत और व्यावहारिक है कि यह सिद्धान्त अगर विज्ञान के हाथ में पहुंच गया होता तो आज वह मानव जीवन की अनेक गूढ़ पहेलियां सुलझा देता और संसार को "कर्म" के बंध और परिणाम (फल) से अवगत कराकर शायद उसे इतने घोर दुराचार से कुछ हद तक रोक भी सकता था। जिस धर्म और अध्यात्म के पास कर्म-सिद्धान्त जैसा विज्ञान है, उसके पास प्रयोग, पर्यवेक्षण, अनुसन्धान जैसे विकसित साधन नहीं हैं। इसलिए कर्म-विज्ञान आज सिर्फ धार्मिक सिद्धान्त बनकर रह गया है।

मैंने बचपन से ही कर्म शास्त्र को पढ़ा है। अनेक गुरु गंभीर ग्रंथों का परिशीलन भी किया है। जैन धर्म की सचेलक तथा अचेलक परम्परा में कर्म सिद्धान्त पर बहुत ही सूक्ष्म, बहुत ही गहराई से चिन्तन-मनन और अध्यात्म अनुभव किया गया है और मनुष्य जीवन की प्रत्येक समस्या को कर्म-विज्ञान की दृष्टि से देखकर उसका तर्क-संगत समाधान भी दिया गया है। अगर हम कर्म-साहित्य को पढ़ेंगे तो अपनी हर समस्या का समाधान स्वयं खोजने में कुशल हो जायेंगे।

प्रायः हम अपने सुख-दुःख का दोष परिस्थितियों के मत्थे मढ़ देते हैं, या किसी दूसरे के गले बांधकर उसे कोसते हैं, गालियां देते हैं और मन में क्रोध, रोष, द्वेष, अनुताप, पश्चात्ताप, मोह और ममत्व से संत्रस्त होते रहते हैं। कर्म-विज्ञान हमें इस संकट से उबारता है वह एक ही सशक्त और सम्पूर्ण समाधान देता है–अत्त कडे दुक्खे ! णो परकडे।

तुम्हें जो दुःख हैं, चिन्ताएं, तनाव हैं, संकट और संत्रास के कारण हैं वे किसी दूसरे के खड़े किये हुए नहीं, उनका कारण तुम्हारी अपनी ही भावनाएं, प्रवृत्तियां और वृत्तियां रही हैं। तुम सिर्फ वर्तमान को देखते हो इसलिए दुःखी हो, अतीत में झांकने की चेष्टा करो, इन दुःखों का कारण समझ में आ जायेगा। दुःख का कारण समझ में आने पर उसका निवारण भी किया जा सकेगा। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त हमें बाहर से भीतर, वर्तमान से अतीत में ले जाता है। अन्तर्मुखी बनाता है। अपने दुःख-सुख की जिम्मेदारी स्वयं पर डालता है और स्वयं ही उसे समाधान करने का मार्ग बताता है। उसके फल या परिणाम भुगतने के समय शान्त और संतुलित रहना सिखाता है।

कर्म-विज्ञान पुस्तक के पिछले तीन भागों में मैंने कर्म के स्वरूप, कर्म का अस्तित्व, कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध, शुभकर्म–पुण्य, अशुभकर्म–पाप, कर्म का

आगमन–आस्रव, कर्म निरोध–संवर तत्त्वों पर बहुत ही विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है। प्राचीन धर्म ग्रन्थों के अलावा, वंशानुक्रम विज्ञान, मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान आदि आधुनिक विज्ञान के अनुसंधान, प्रयोग आदि का भी सहारा लेकर कर्म-सिद्धान्त की वास्तविकता और व्यापकता पर चर्चा की है। अनेक प्राचीन, अर्वाचीन और आधुनिक उदाहरण तथा घटनाएं देकर भी कर्म की सत्ता और कर्मफल की सार्थकता बताने का प्रयास किया है। जिन पाठकों ने वे तीन भाग पढ़े हैं, उन्हें कर्म सिद्धान्त की काफी नई जानकारी मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

यह चौथा भाग, कर्मबन्ध की प्रक्रिया और उसके स्वभाव–प्रकृति के विषय पर विस्तृत प्रकाश डालता है। कर्मबन्ध के कारणों पर भी इसमें चर्चा है। और कौनसा कर्म क्या फल देता है। किस कर्म की क्या प्रकृति है, कितनी स्थिति है, किस प्रकार का उसका विपाक होता है। मन्द और तीव्र भावों के कारण एक ही कर्म किस प्रकार भिन्न-भिन्न फल देता है। आदि विषयों पर भी विवेचन किया है। वास्तव में मैं उन सभी पाठकों से अनुरोध करता हूँ जिन्होंने पूर्व के तीन भाग पढ़े हैं या नहीं पढ़े हैं, वे इस भाग को जरूर पढ़ें। किस प्रकार की प्रवृत्ति से कौन सा कर्म बंधता है, और उसका क्या फल, कैसे उदय में आता है। इस संपूर्ण कर्म प्रक्रिया का विवेचन इस भाग में पढ़कर उन्हें कर्म की वैज्ञानिकता पर, इसकी अकाट्य और अनिवार्य सत्ता पर अवश्य विश्वास होगा और अशुभकर्म से विरत रहकर शुभ कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा भी मिलेगी। ऐसा विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ।

इस प्रासंगिक प्राक्कथन के साथ ही आज मैं अपने अध्यात्म नेता, श्रमण संघ के महान आचार्य राष्ट्रसन्त महामहिम स्व. श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का पुण्य स्मरण करता हूँ जिन्होंने मुझे श्रमण संघ का दायित्व सौंपने के साथ ही यह आशीर्वाद दिया था कि–"अपने स्वाध्याय, ध्यान और श्रुताराधना की वृद्धि के साथ ही श्रमण संघ में आचार कुशलता, चारित्रनिष्ठा, पाप-भीरुता और परस्पर एकरूपता बढती रहे–इस दिशा में सदा प्रयत्नशील रहना। मैं उनके आशीर्वाद को श्रमण जीवन का वरदान समझता हुआ उनके वचनों को सार्थक करने की अपेक्षा करता हूँ..... चतुर्विध श्री संघ से।

मेरे परम उपकारी पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी महाराज का इन दिनों में स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहने से यद्यपि मैं सुदूर प्रदेशों में विहार नहीं कर सका, यह बहुत से व्यक्तियों की शिकायत भी है, परन्तु संघ सेवा के साथ-साथ गुरु-सेवा करना भी मेरा एक धर्म है, मैं संघ-सेवा और गुरु-सेवा में सामंजस्य स्थापित करने की दिशा में अहर्निश प्रयत्नशील हूँ।

कर्म-विज्ञान जैसे विशाल ग्रंथ के सम्पादन में हमारे श्रमण संघीय विद्वद् मनीषी मुनिश्री नेमिचन्द्रजी महाराज का आत्मीय सहयोग प्राप्त हुआ है। मुझे संघीय कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समयाभाव रहा पर मेरे स्नेह सद्भावना पूर्ण अनुग्रह

से उत्प्रेरित होकर मुनि श्री ने अपना अनमोल समय निकालकर यह कठिन कार्य सम्पन्न किया तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। उनका यह सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा और प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी उपयोगी होगा। मैं उनके आत्मीय भाव के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस लेखन-सम्पादन में जिन ग्रंथों का अध्ययन कर मैंने उनके विचार व भाव ग्रहण किये हैं, मैं उन सभी ग्रंथकारों/विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना डा. कल्याणमलजी लोढ़ा (पूर्व कुलपति जोधपुर विश्वविद्यालय) ने लिखी है। उनका वैदुष्य और सौमनस्य हम सबके लिए ही प्रमोद का विषय है।

पुस्तक के शुद्ध एवं सुन्दर मुद्रण के लिए श्रीयुत श्रीचन्द सुराना का सहयोग तथा इसके प्रकाशन कार्य में परम गुरुभक्त उदारमना दानवीर डा. चम्पालालजी देसरड़ा की अनुकरणीय साहित्यिक रुचि भी अभिनन्दनीय है। जिसके कारण प्रस्तुत ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सका है।

मैं पुनः पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि जैन धर्म के इस विश्वविजयी कर्म-सिद्धान्त को वे समझें और जीवन की प्रत्येक समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान प्राप्त करें। समता, सरलता, सौम्यता का जन-जन में संचार हो, यही मंगल मनीषा ·· ····।

आचार्य देवेन्द्र मुनि

卐

प्रस्तावना

कर्म विज्ञान : एक अप्रतिम उपलब्धि

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

(पूर्व कुलपति जोधपुर विश्वविद्यालय)

आचार्य देवेन्द्र मुनि जी का वृहत् ग्रन्थ "कर्म-विज्ञान"(चार भागों में प्रकाशित) एक अप्रतिम उपलब्धि है। उसके लिए लिखना कर्त्तव्य से अधिक मेरे लिए मंगलप्रद है। जैन वाङ्मय में ही नहीं, समूचे भारतीय वाङ्मय में ऐसी प्रकल्पना दिखाई नहीं देती। मैं इसे जैन कर्म तत्त्व का "विश्वकोष" ही कहना चाहूंगा। यों तो संसार के सभी दार्शनिकों, तत्त्वज्ञों और चिन्तकों ने कर्म की विशद व्याख्या–विवेचना की है– दर्शन ही क्यों मनोविज्ञान और पराविज्ञान में भी यह विचारणीय और महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। भारतीय मनीषियों ने कर्म पर जितना गहन, गंभीर और समग्रतः विवेचन किया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। कोई ऐसा धर्म, दर्शन व ज्ञान-विज्ञान नहीं है, जिसमें कर्म तत्त्व की व्याख्या न की गई हो। पुनर्जन्म को मानने वालों की तो यह आधारभूमि ही है। आवागमन में विश्वास न करने वाले विचारकों ने भी इसकी व्याख्या की है, चाहे वह भिन्न स्तर की क्यों न हो। जैन धर्म-दर्शन तो कर्म सिद्धान्त पर ही आधृत है।

आचार्य देवेन्द्र मुनि जी का वैदुष्य सर्वविदित है। वे प्रज्ञा-पुरुष हैं। प्रज्ञा विवेक के लिए तप, श्रद्धा, स्मृति, समाधि आवश्यक है। मुण्डकोषनिषद कहता है–"तपः श्रद्धेये ह्युपवसन्त्यरण्ये (१-२-११)" सत्य की साधना श्रद्धा और तप के द्वारा संभव है। यही योग की मधुमती भूमिका है। आचार्यप्रवर में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की दुर्लभ त्रिवेणी है। वस्तुतः वे ज्ञान योगी हैं और जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते (४-३०)" ज्ञान से ही समस्त कर्मों का क्षय होता है "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा (वही-४-३७)" ज्ञान ही दर्शन और चारित्र की निर्माण भूमि है। जैन मान्यता में श्रमण के लिए कहा गया है "झाणाज्झयणं मुक्खं जइ धम्मं (रयणसार)" ध्यान और अध्ययन साधु का मुख्य धर्म है। आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिक सूत्र में श्रमण की व्याख्या करते हुए कहा है कि तपःसाधना से मुक्ति लाभ करने वाले ही श्रमण कहलाते हैं "श्राम्यतीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः"। आचार्यश्री की ज्ञाननिष्ठा, तप-साधना व दर्शन और चारित्र की उत्कृष्टता ने उन्हें जैन समाज में अत्यंत प्रेरक और प्रभावी बना दिया है। उनका व्यक्तित्व विनम्रता, सरलता, शुचिता और संयम की मंजूषा है, तो उनका कृतित्व अप्रतिम प्रतिभा और विद्वत्ता का रत्नकोश । प्रमाण, परिमाण और परिणाम तीनों दृष्टियों से वे आचार्य हैं। यही कारण

है कि उन्होंने तीन सौ के लगभग ग्रन्थों की रचना की है, जिसके लिए प्रसिद्ध विद्वान दलसुख मालवणिया ने भी उनकी प्रशस्ति की। ये ग्रन्थ गुणात्मक और धनात्मक दोनों दृष्टियों से प्रभूत ज्ञानवर्धक हैं। यहाँ उनकी सूची देना अपेक्षित नहीं क्योंकि वह लोक विदित हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ कर्म-विज्ञान उनके मौलिक, गंभीर और विवेक संगति का अनुपम ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने जैन धर्मानुसार कर्म सिद्धान्त की तात्त्विक, वैज्ञानिक और प्रामाणिक प्रस्तुति, वृहत् परिप्रेक्ष्य में, तुलनात्मक धरातल पर की है। ग्रन्थ की विषय सूची ही यह स्वतः सिद्ध कर देगी। प्रथम खण्ड में कर्म का अस्तित्व, कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन, कर्म का विराट स्वरूप (कुल पृष्ठ ६०७) मुख्य विषय हैं, जिनके अन्तर्गत विभिन्न रूपों में कर्मवाद का विवेचन किया गया है। द्वितीय खण्ड में कर्म-विज्ञान की उपयोगिता और विशेषता पर (५३५ पृष्ठों में) समीक्षा की गई है। तृतीय खण्ड में आस्रव और संवर की (५०० पृष्ठों में) व्याख्या की गई है। चतुर्थ खण्ड में कर्मबन्ध के विभिन्न रूपों पर (५००) पृष्ठों में प्रकाश डाला है। इस प्रकार संपूर्ण रचना २००० पृष्ठों में कर्मविज्ञान की वृहत्तम प्रकाशिका बन गई है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा कि इसकी उपादेयता केवल पृष्ठ परिमाण की दृष्टि से ही नहीं है, बल्कि प्रमाण और परिणाम की सिद्धि से है। जिस प्रकार समुद्र की अतल गहराई वायुयान से नहीं मापी जाती, उसका तो पता कुशल व अनुभवी गोताखोर ही लगा सकते हैं, उसी प्रकार कर्मवाद की अतल गहराई अप्रतिम प्रतिभा संपन्न विद्वान ही माप सकते हैं।

आचार्य देवेन्द्र मुनि जी ने यह ऐतिहासिक कार्य किया जो सर्वसुलभ और युगान्तरकारी बन गया है। यह उनकी क्षमता व सिद्धि-सम्पन्नता का साक्ष्य है। कर्म शब्द "कृ" धातु से बना है, जिसका अर्थ है व्यापार, हलचल । कर्म के दो अर्थ माने गये हैं, वह क्रत्यर्थ और पुरुषार्थ का पर्याय है? कहा गया है कि "कर्मणा बध्यते जन्तुः।" कर्म से प्राणिमात्र बंधा है, कर्म की प्रचलित परिभाषा है–"यत्क्रियते तत् कर्मन्" करोति निखिल-क्रिया वाचकत्वात् कर्त्तव्याय रैर्यत् साध्यते तदित्यर्थ,–अतएव क्रिया साध्य कर्म।" पुनः "क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मक बीजांकुरवत् प्रवाह रूपेणादि।" आचार्यों ने कर्त्तव्य को भी कर्म का पर्याय गिना है। महापुराण के अनुसार "विधि सृष्टा विधाता दैव कर्म पुराकृतम्"।

ईश्वरे रचेती पर्याय कर्म वेधस (४३७) विधि, सृष्टा, विधाता, देव, पुराकृतम्, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्म पर्याय हैं। यास्काचार्य के मत में "कर्मकस्मात् क्रियते इति" (निरुक्त ३-१-१) अर्थात् जो किया जाता है, वही कर्म है। इस प्रकार कर्म का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अत्यन्त व्यापक है। प्राणिमात्र की प्रत्येक क्रिया कर्म से अभिहित है। योग-वासिष्ठ ने कर्म की परिभाषा इस प्रकार की है "स्पन्दनशीलता ही कर्ता का धर्म है, उसकी कल्पना शक्ति ही स्पन्दन क्रिया से कर्म बनती है; अर्थात् क्रिया और उसका फल दोनों का सम्मिलित रूप कर्म है।" फल के बिना कर्म नहीं हो सकता "स्पन्दफलं

तदा कर्मेत्युदाहृता (९६-२१)"। योग वासिष्ठ ने कर्म का सम्बन्ध वासना से बताया है, "सर्वन्ति वासना भावे प्रयान्त्यफलतां क्रिया (वही)"। अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण इन सब की जो नियत क्रिया हो रही है, जिसमें उसकी अवस्थान्तरता होती है–वही कर्म है। यह क्रिया दो प्रकार की है–चेष्टा-स्वतंत्रतापूर्वक एवं अविदितभाव से व्यक्ति करणों के अधीन होकर करता है। कर्मतत्त्व का प्रतिपाद्य विषय है कि कर्मों की क्रियान्विति का प्रयोजन क्या है? और उसमें व्यक्ति का कर्तृत्व किस सीमा तक निहित है? कर्म तत्त्व से हम शरीर और आन्तर विकार के मूल कारण को जान पाते हैं और उनका सापेक्ष रूप भी समझ लेते हैं, इसके मूल में कारण-कर्म नियम का प्रमाण किस रूप में विराजमान है? कर्मवाद इन नियमों को प्रमाणित करता है। अतएव उसमें अन्ध-विश्वास एवं कोरे भाग्यवाद का स्थान नहीं है। कर्मवाद प्रतिष्ठित विज्ञान है। डा. पाण्डुरंग काणे के अनुसार "इस सिद्धान्त ने सहस्रों वर्षों तक अथवा कम से कम उपनिषदों के काल से संपूर्ण भारतीय चिन्तन एवं सभी हिन्दुओं, जैनों एवं बौद्धों को प्रभावित कर रखा है,"..... यही नहीं "पुनः शरीर धारण पर पश्चिम में अब तक एक बृहत् साहित्य की रचना हो चुकी है। (धर्म शास्त्र का इतिहास–खण्ड ४–अध्याय ३५) ।" वस्तुतः कर्म-विज्ञान का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पुनर्जन्म की अवधारणा से है और भारतीय मनीषा ने इसका सर्वाङ्गीण विवेचन व अध्ययन किया है।

हम कर्मवाद का विकास–क्रम देखें । प्राचीनतम वैदिक चिन्तन की प्रमुख रूप से तीन अवस्थाएं थीं–प्रथम अवस्था मंत्रों के साक्षात्कार और उनके द्वारा आत्मसिद्धि, द्वितीय परम्परा थी ऋषियों के जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर जीवन को वैयक्तिक और लोक धरातल पर आदर्श एवं नैतिक अवधारणाओं से पूर्ण करना। इस अवधारणा में सृष्टि के सभी व्यापारों की एक अखण्ड सूत्रात्मकता का नियोजन था, तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः(यजुर्वेद ४०-७) की धारणा ने प्राणि मात्र में एकात्मदर्शन से बाह्य और आन्तरिक जीवन जगत में अविरोधपरक ऐक्य स्थापित किया। तृतीय परम्परा कर्मकाण्ड और याज्ञिक संस्कृति की थी, जिसका प्रधान उपस्तम्भ यजुर्वेद था। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम (५) मंत्र में परमात्मा से श्रेष्ठ कर्म के प्रति प्रेरित करने की प्रार्थना है "इषे त्वोर्जे त्या वा यवुम्य देवोवः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व" पुनः ४०/२ में इसी वेद की ऋचा है "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं क्षमाः" । सामवेद की ऋचाओं में भी कर्म सम्पादन और यज्ञानुष्ठान का विवरण है (४-२-१०) पर यजुर्वेद ही कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करता है। यों तो ऋग्वेद में भी 'कर्म' शब्द चालीस बार प्रयुक्त हुआ है और डॉ. काणे के अनुसार वहां उसका अर्थ "पराक्रम" और कुछ स्थानों पर "धार्मिक कृत्य" है, यज्ञ, दान आदि (द्रष्टव्य–ऋचाएं १, ६१, १३; १, ६२, ६; १, १३१, १) ।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री के अभिमत में देव-पूजा, स्तुति-प्रार्थना ही यज्ञ अथवा वैदिक कर्मकाण्ड का प्रारंभिक स्वरूप था । इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की यह ऋचा उल्लेखनीय है "तामिर्वहैनं सुकृतां उल्लोकम्" (१०.१६.४) अर्थात् मृतक को उस लोक में ले जायें जहां अच्छे कर्म वाले हैं। "सुकृतांलोकम्" अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार ऋग्वेद की एक और ऋचा (१.३१.८) में बताया गया है कि हे अग्नि ! हमें एक ऐसा पुत्र दो, जिससे हम कर्म (यज्ञ) कर सकें। सायण ने इस ऋचा की "प्राप्नुयाम वयं कर्म यज्ञ" व्याख्या की है (भारतीय संस्कृति का विकास)।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म शब्द का प्रयोग प्रायः यज्ञ के अर्थ में ही किया गया है। शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट कहता है "यज्ञो वै कर्म" और "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"। अन्यत्र वीर्य वै कर्म (द्रष्टव्य १.१.२.१, १.७.१.५, ७.५.१.२५)। इसी ब्राह्मण में कर्मानुसार फल की प्राप्ति कही है ..... तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभि सर्म्पद्यत इति (१४. ७. २. ७)। ऐतरेय ब्राह्मण में सायण ने कर्म का अभिप्रेत "सोमयाग" से लिया है (१-४)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यो ब्रह्मणा कर्मणा देष्टि देवाः ..... (३, ७, ६, ५) कहकर कर्म, ज्ञान, तप, दान, आदि अर्थ किया है। यह ब्राह्मण कहता है कि बहति हवै वह्निर्धुरो यासु युज्यते (६. १. ८) कर्मशील व्यक्ति जिस काम को हाथ में लेता है, उसे पूरा करता है। इस ब्राह्मण का प्रसिद्ध गीत "चरैवेति" पुरुषार्थ का द्योतक है। (७-१५) । कर्मशीलता का सम्बन्ध पुरुषार्थ से है। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि कर्म ही जीवन को प्रतिष्ठा देता है। ययाति ने यहां तक कहा कि वह वस्तु नहीं चाहिए, जिसके लिए मैंने कर्म न किया हो।

इसके पहले कि हम उपनिषद्, रामायण, महाभारत में कर्मवाद का अवलोकन करें, वैदिक कर्मकाण्ड के अधोपतन पर भी विचार करना अपेक्षित है, क्योंकि इस अधोपतन व अवनति का कारण यज्ञ धारणा की हेय व अपकृत हो गयी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में ही इस अवनति का उल्लेख मिलता है। हम पुनः ऐतरेय ब्राह्मण को लें। वह कहता है "यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानकर अनधिकारी, लोभी, लुटेरे, ऋत्विज, श्रद्धालु, यजमानों को लूटने लगे (११)। इसी ब्राह्मण में यह भी आया है कि ऋत्विज भय, लोभ और अनाचार के वशीभूत यज्ञ कराने लगे थे (३-४६)। यह भी बताया गया है कि ऋत्विज यजमान का प्राण भी ले सकता है।

"यं कामयते प्राणनैनं व्यर्ध वायव्यमस्य लुब्धं शं सेदृचं ।
वा पदं वाती यान्ते नैवं तल्लुब्धं प्राणे नैवैनं तदव्यर्ध यतीति ॥ (३.३)

इस प्रकार यज्ञ युग आर्यों के लिए एक विभीषिका बन गया और इससे यज्ञ विरोधी वातावरण जन्मा, जिसकी परिणति श्रमण संस्कृति में हुई। श्रमण संस्कृति ने यज्ञ परम्परा व हिंसा का विरोध करना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझा। चार्वाक ने भी यज्ञ का विरोध किया। परवर्तीकाल में कर्म सिद्धान्त ने नया रूप धारण कर लिया,

जिस पर हम पीछे विचार करेंगे। याज्ञिक संस्कृति ने कर्म की विचार सरणि को हास्यास्पद बनाया। ब्राह्मण ग्रन्थों में सामान्य बातों को लेकर अनेकानेक प्रायश्चित्त करना आवश्यक गिना गया। यहां तक आडम्बर बढ़ा कि शत्रु सेना को एक अभिमंत्रित तृण से हराया जा सकता है (ऐतरेय ब्राह्मण ३-२२)। इस अपकर्ष का कारण अनियंत्रित पुरोहितवाद था। विद्वानों की यह धारणा है कि याज्ञिक प्रथा निरन्तर जटिल होती गई। यह माना जाने लगा कि "याज्ञिक के पास प्रत्येक कामना पूर्ति की कर्मकाण्डीय पुड़िया वर्तमान रहती थी" (भारतीय संस्कृति का विकास-मंगलदेव शास्त्री-पृष्ठ १६७)। यह संपूर्ण परम्परा ब्राह्मणवाद के एकाधिकार में परिणत हो गयी। दक्षिणा के साथ-साथ बलि हेतु लाए गए पशुओं के अंगों के वितरण की पद्धति भी निर्धारित हुई।

"न रजतं दद्याद् बर्हिर्षि पुरास्य संवत्सराद गृहे रुदन्ती तिश्रुतेः"–(तैत्तिरीय संहिता १-५१) दक्षिणा में चांदी न देने वाले के घर में, एक वर्ष में ही रुदन होगा। ऋत्विज को "दक्षिणा-क्रीत" समझा जाने लगा–"यं यजमानेन क्रीताः कर्त्तार ऋत्विजः"–मन्त्र की अर्थवत्ता भी समाप्त हो गयी। इन सब का दुष्परिणाम था जातीय पतन के साथ-साथ नैतिक ह्रास । श्रीमद्भागवत में वैदिक याज्ञिकों की दुरवस्था के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–हिंसा विहारा हृया लब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया। जयन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन खलाः (श्री कृष्णकथन ११-२१-३०-३२-३४) खल व्यक्ति सुखेच्छा से प्रेरित होकर यज्ञों में बलि पशुओं की हिंसा में विहार करते हैं।

उपनिषदों में कर्म की नूतन व्याख्या की गयी । सारहीन कर्मकाण्ड से पृथक कर्म का आध्यात्मिक अभिनिवेश और अधिगम प्रारंभ हुआ। कर्म को संस्कारों के साथ संपृक्त कर उसे पुनर्जन्म से जोड़ा । ईशावस्योपनिषद् का दूसरा मंत्र है "कुर्वन्नेहं कर्माणिजिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः।" मनुष्य निष्काम कर्म करते हुए शतायु होने की कामना करे। वृहदारण्यक श्रुति कहती है, व्यक्ति की आत्मा को कर्म संज्ञा दी गयी–"आत्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति ।" पूर्णता यज्ञ से है-और मन प्राण चक्षु-श्रोत्र-कर्म इनसे यज्ञ किया जाता है (१.४.१७) उपनिषद् कहता है "पुण्येन कर्माणा भवति, पापः पापेनेन्तति (३.२.१३)। ऋषि ने यह निष्कर्ष निकाला कि कर्म कभी नहीं छूटता, कर्म के सहारे ही जीव टिका रहता है, पुण्य कर्म से जीव पुण्य वाला और पाप से पाप करने वाला होता है। तैत्तिरीयोपनिषद में कहा गया "यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि" (१.११.२) इस उपनिषद् की शिक्षाध्याय वल्ली में आचार्य कहते हैं कि हमारे अनिन्दित कर्म का ही अनुपालन करना अन्य का नहीं। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.११) में एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी, सर्व भूतान्तरात्मा के साथ-साथ कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः कहा गया। कठोपनिषद कहता है कि सांसारिक भोगों में लिप्त (अर्थात् कर्म करने वाले) मूढ हैं, जैसे अंधे को अंधा पथ दिखा रहा है। यही मुण्डकोपनिषद (१-५) में

भी है। मुण्डकोपनिषद में अपराविद्या और पराविद्या के संदर्भ में यज्ञ कर्म की विशद व्याख्या की गयी है। विद्वानों ने पिण्ड में होने वाले प्राण यज्ञ को ही कर्म गिना है। इसी उपनिषद् में यह भी कहा गया "अग्नाव्राणी मनाः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्" (१-५)। ऐसा कर्म करना चाहिए, जिसमें अमृत निहित है। छान्दोग्य श्रुति (४-१६-१) में यज्ञ के दो मार्ग मन और वाणी बताए गए हैं अर्थात् सृष्टि यज्ञ का ब्रह्म, आत्म-यज्ञ का मन और अध्वर्युवापी है।

अन्य उपनिषदों में भी कर्म और अकर्म की व्याख्या उपलब्ध है। निरालम्बोपनिषद् के अनुसार क्रियाशील इंद्रियों के द्वारा अध्यात्म-निष्ठा से निष्पन्न कर्म ही सच्चा कर्म है फलासक्ति पूर्ण कर्म अकर्म है–अध्यात्म निष्ठया कृतं कर्मेव कर्म.....फलाभिसन्धानं यत्तदकर्म। नारदपरिव्राजकोपनिषद् (३-६-७) के अनुसार "न मंत्र कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते" मंत्र बिना "कर्म कुर्यादभस्मन्याहुतिवद भवेत्।" मंत्र के साथ कर्म की संगति पर बल दिया गया। कर्म सिद्धान्त के साथ ही श्रुतियों में पुनर्जन्म का भी वर्णन है, जिस पर पीछे विचार करेंगे।

महाभारत में कर्म मीमांसा की गई है। महाभारत में जितना व्यापक और विशद वर्णन कर्म सिद्धान्त का है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। गीता का कर्मयोग तो सर्वविदित है। महाभारत के शान्ति पर्व में पाप की निष्कृति तप, दान तथा कर्म के अनुष्ठान में बतायी गयी है। तपसा, कर्मणा चैव प्रदादेन च भारत" (शान्ति पर्व २५.१)। इसी प्रकार संसार को कर्मस्थली कहा गया और कर्मफल का विवेचन करते हुए बताया कि "कर्मभूमिरियं लोके इह कृत्वा शुभाशुभम्।" महाभारत में कर्मफल के संबंध में यह भी कहा गया है कि सुकर्म के द्वारा मनुष्य अपने दुष्कर्मों को भी नष्ट कर सकता है। जिस प्रकार काठ के सहारे मनुष्य नदी पार करता है, पर साथ ही वह काठ के टुकड़े को भी पार कराता है, उसी प्रकार सुकर्म मनुष्य के दुष्कर्मों को भी भव सागर से पार करता है (१९२.१४०-१-३१-३३)। महाभारत के पात्र अपने कर्मफल को प्रायः भोगते हुए दिखाई पड़ते हैं। शुभ अशुभ कर्मों के कारण ही यह विश्व कर्मों की रंगस्थली है। महाभारत में "कर्म यज्ञ की पूर्णता" का जो विवेचन किया गया है, वह सामाजिक, सांस्कृतिक व आध्यात्मिक आदर्शों का दर्पण है। महाभारत कर्म को अतीत, वर्तमान व भविष्य से जोड़ता है। वह नियतिवाद का समर्थक नहीं है। सार तत्व है कि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तथा मन ही कर्म साधक हैं।

महाभारत मन, वचन व शरीर के आधार पर भी कर्मों का वर्गीकरण करता है। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी हरिहरानन्द कहते हैं "कारण–कार्य नियम से शरीर के कर्म से जाति, आयु और भोग घटित होता है। बाह्य कारणों से शरीर, इन्द्रियों से जो फल होता है, वह नितान्त सत्य है। शरीर का निर्माण संस्कार युक्त अन्तःकरण करता है किन्तु उसका उपादान पंच भूतात्मक है"। यहीं पर वे कर्मवाद का प्रतिपाद्य

स्पष्ट कर कहते हैं कि "कषाय युक्त आचरण से शरीर, मन आदि में जो परिवर्तन होता है वह भी कर्म के कारण। इस प्रकार सभी क्षेत्रों में कर्म व कर्म जनित संस्कार देहादि के परिवर्तन में अन्तर्भुक्त संस्कार ही प्रधान है, जिस प्रकार स्वर्ण अनेक रूपों में परिवर्तित होकर भी स्वर्ण ही रहता है, उसी प्रकार कर्म क्षेत्र में कर्म संस्कार ही मुख्य रहते हैं (कर्मतत्त्वेर प्रतिपाद्यः बांग्ला) पुनर्जन्म का भी सबंध कर्म से है (कर्मणा बध्यते रूपं कर्मणा चोपलभ्यते (२१०-४५) इसी प्रकार हिंसा-कर्म की भी घोर भर्त्सना की गयी। (२६४-६-९) शान्ति पर्व के अतिरिक्त अनुशासन पर्व, आश्वमेधिक पर्व, आश्रमवासिक पर्व में भी कर्म का सविस्तार उल्लेख है। कहा गया है–

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥

(अनुशासन पर्व–६-१०)

यहीं नहीं कर्मानुरूप शरीर व आकृतियां भी प्राप्त होती है "कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृपः" (आश्रमवासिक पर्व–३४-४) स्पष्ट उल्लेख है "कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्धाना विपश्चितः। अनाशीर्योग संयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः।।" शान्तिपर्व में कर्म विपाक पर प्रकाश डाला गया है। उद्योग पर्व में विदुर धृतराष्ट्र से पुण्य कर्म करने वाले धर्मात्मा की प्रशंसा करते है–"प्रवृत्तानि महायाज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम्" (४-३५)। इसी प्रकार मोह से बुरे कर्म करने से विपरीत फल भोग कर व्यक्ति जीवन खो बैठता है और उत्तम कर्मों से सुख शान्ति पाता है, उत्तम कर्म न करने पर पश्चात्ताप होता है (६-२२-२३) व्यास के मत में यह लोक कर्मभूमि है, और परलोक फलभूमि। वन पर्व में देवदूत कहता है "कर्मभूमिरियम् ब्रह्मन् फलभूमि रसौमता" (२६१-३५)। उनके अनुसार कर्म मनुष्य की विशेषता है "प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः (अश्व ४३-२०) इसी कारण पुरुषार्थ पर इन्द्र पाणिवाद का उपदेश देता है। "न पाणि-लाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते।"

श्री भगवद्गीता के कर्मयोग पर विचार करने के पूर्व हर्म पतंजलि के योग दर्शन में कर्म सिद्धान्त के विवेचन पर विचार कर लें। साधनपाद (२-१) में पतंजलि कहते हैं "तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः" क्रिया योग है–तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।" क्रिया योग का अर्थ है "चित्तनिरोध का उद्देश्य कर कर्म करना– इससे समस्त अशुद्धियों का क्षय होता है। पुनः कर्माशय के लिए कहा है "क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः (२-१२) कर्माशय अर्थात् कर्म संस्कार। धर्म और अधर्म रूप कर्म-संस्कार ही कर्माशय है। कर्माशय का संबंध वासना से है। कर्म संस्कार और वासना के पारस्परिक सम्बन्ध पर आगे विचार किया जायेगा। योगदर्शन के मत से चित्त में कोई भाव के कारण, जो स्थितिभाव हो जाता है, वही संस्कार है। विपाक होने पर अनुभवमूलक संस्कार ही वासना है। आगे के सूत्र में कर्माशय की

"नियत विपाक" और "अनियत विपाक" के भेद से व्याख्या की गई है। इसकी व्याख्या में कर्माशय के प्रधान और अप्रधान भेद हैं। कैवल्यपाद (७-८) में कर्म के चार प्रकार गिनाए हैं–कृष्ण, शुक्ल, शुक्लकृष्ण, अशुक्लाकृष्ण । दुरात्माओं का कर्म कृष्ण है और तपस्वी, स्वाध्यायी आदि का शुक्ल । चरमदेह कैवल्य प्राप्त सन्यासी अशुक्लाकृष्ण हैं और कृष्णशुक्ल बाह्य व्यापार से साध्य है। सूत्र ८-९ में पुनः संस्कार और वासना से कर्माशय के फल का निरूपण है। सूत्र ३० में "ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः" कहकर क्लेश कर्म की निवृत्ति का विवेचन करते हुए पतंजलि जीवन्मुक्त पुरुष का वर्णन करते हैं। यह सर्वोच्च साधन से संपन्न होते हैं।

पतंजलि ने कर्म की सैद्धान्तिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक व्याख्या की, जो कर्मवाद की परम्परा में अपना वैशिष्ट्य रखती है। पतंजलि के भाष्य की विवेचना करते हुए स्वामी हरिहरानन्द ने कहा है कि "प्राणी की स्वतंत्रतापूर्वक अथवा कारण वृत्ति की प्ररोचना द्वारा निहित चेष्टा पुरुषकार है और प्रबल कारणों से अविदित भाव से की गई क्रिया का नाम है "अदृष्टफल कर्म ।" पुरुषकार क्रिया की जा सकती है और नहीं भी, पर जो अनिवार्य रूप से करणीय है वह अदृष्ट फल कर्म है, सुख दुःख के फलस्वरूप ही कर्म के उपर्युक्त चार भेद किए गए हैं। सुख और दुःख का भोग ही कर्म संस्कार का फल है। जो जन्म काल से आविर्भूत रहता है, यह सांसिद्धिक फल है और परवर्ती समय में अभिव्यक्त होता है, वह "अभिव्यक्तिक ।" सुख और दुःख भी तीन प्रकार के होते हैं–(१) प्रत्यक्ष अनुभव–शरीरगत है, (२) अतीत एवं अनागत विषयों पर सहगत, (३) अस्फुट भाव से अनुस्यूत (पातंजल योग सूत्रम् बांग्ला संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय)। कर्मफल पतंजलि के अनुसार स्वाभाविक एवं नैमित्तिक होते हैं। देह धारण पूर्वक हिताहित विवेचना एवं स्वगत संस्कार से प्रवर्तित-निवर्तित फल स्वाभाविक हैं और अनुकूल प्रतिकूल बाह्य घटना एवं पारमार्थिक अवस्था के परिणामस्वरूप फल नैमित्तक होते हैं, ये फल अनियमित होते हैं (वही)। पतंजलि ने कर्म सिद्धान्त को नए आयाम दिए और परम्परा से आती हुई विचारधारा को नवीन उद्भावनाएं ।

योगवासिष्ठ में कर्म के संबंध में कहा गया है कि ब्रह्म से कर्म और कर्ता अभिन्न रूप में प्रकट हुए। दोनों की उत्पत्ति कारण-कार्य भाव से है–बीज से अंकुर और पुनः बीज । योगवासिष्ठकार ने कर्मफल को अत्यन्त व्यापक बताया है, मनुष्य ही नहीं पर्वत, आकाश, समुद्र, देश, सभी कर्म फल भोगते हैं, यथा,

अभिन्न कर्म कर्तारो सममेदं पदात् पदात् ।
स्वयं प्रकट वा याती पुष्पामोदौ तरोरिव ॥
एवं कर्मणा क्रियते कर्ता कर्त्रा कर्म प्रणीयते (९५-२०)

× × ×

न से शैलो न तदव्योम न सौऽब्धिश्च न विष्टपम्। (९५–३३)

श्रीमद्भगवत्गीता का कर्मयोग सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय कर श्रीकृष्ण ने गीता में कहा "योगः कर्मसु कौशलम्।" यों गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म की गति को अत्यन्त गहन बताया "गहना कर्मणो गतिः।" इसके लिए श्री अरविन्द का यह कथन उल्लेख्य है–

"मानवी श्रम, जीवन और कर्म की महिमा का अपनी अधिकार वाणी से देकर सच्चे अध्यात्म का सनातन उपदेश गीता दे रही है।" बाल गंगाधर तिलक के मत में "गीता का योग पातंजलयोग से भिन्न है। उन्होंने गीतोक्त कर्म का अर्थ भी उसके धातु "कृ" से लिया है और कहा है कि गीता में कर्मयोग की व्याख्या इस प्रकार है– "कर्म करने की विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैली को योग माना है और इसी से "योगः कर्मसु कौशलम्" का अर्थ कर्म में स्वभावसिद्ध रहने वाले बंधन को तोड़ने की युक्ति कहा है।" उनके अनुसार कर्म का अर्थ "केवल श्रौत अथवा स्मार्त कर्म" नहीं है। इस प्रकार कर्म का अर्थ "कर्तव्य कर्म अथवा विहित कर्म हो जाता है" (कर्मयोगशास्त्र ३ अध्याय १२-५९-११ वां संस्करण)। गीता में कहा गया है, "कर्मयोगेण योगिनाम्"–योगी ही कर्म करने वाले होते हैं। इसी से कर्म वस्तुतः कर्मयुक्ति है। विनोबा भावे के अनुसार गीता में कर्म का आशय स्वधर्माचरण से है। इस प्रकार यज्ञ की भी भिन्न व्याख्या की है। यज्ञ के संबंध में श्रीकृष्ण प्रेम का कथन है कि "यज्ञ वह आत्म परिसीमन रूपी बलिदान है, जिसके द्वारा एक से अनेक बनते हैं, गीता में यही यज्ञ चक्र है–विश्व में निरन्तर सृष्टि प्रक्रिया का। इसी यज्ञ चक्र से प्रव्यक्त विश्व बनता है। (भगवद्गीता का योग–पृ. २४ दृष्टव्य गीता ३-१४-१५) तैत्तिरीय श्रुति "यज्ञो वै विष्णु" कहती है। गीतोक्त कर्म का विवेचन इतने व्यापक स्तर और धरातल पर हुआ है कि उसकी पुनरुक्ति अभीष्ट नहीं। केवल कुछ महत्वपूर्ण संकेत ही पर्याप्त होंगे। श्रीकृष्ण का प्रथम उपदेश है कि निष्काम कर्म अनिवार्य है, कर्मफल की अभीप्सा उचित नहीं "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (२-४७)। अन्यत्र वे कर्म से यज्ञ का उद्भव और कर्म का ब्रह्म से समुद्भव बताते हैं, "अनाश्रितं कर्मफलं कार्य कर्म करोति यः (६-१) वही वस्तुतः सन्यासी और योगी है। "समत्वं योग उच्यते" समत्व ही योग है। गीता ने यह स्पष्ट घोषित किया है कि "ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहु पण्डितं बुधाः" (४-१९) यही पण्डित की परिभाषा भी है। इसी से श्रीकृष्ण ने द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ बताया (४-३३) क्योंकि ज्ञानाग्नि में सब कर्म भस्म हो जाते हैं "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।" ज्ञान के सदृश कुछ भी पवित्र नहीं है। श्रीकृष्ण नियत कर्म करने को कहते हैं। आचार्य शंकर नियत कर्म की व्याख्या इस प्रकार करते हैं "नित्यंयोचस्मिन् कर्मणि अधिकृतः फलाय च अश्रुतम् तद् नियतम्" अर्थात् जो कर्म कोई फल नहीं देता, ऐसे कर्म का व्यक्ति अधिकारी है, वही नियत कर्म है। कुछ विद्वानों ने नियत कर्म का अर्थ "निरन्तर" भी किया है। १५वें अध्याय में यज्ञ, दान, तप, कार्य वाले के लिए उपदिष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कर्त्ता, करण और क्रिया–तीन प्रकार के कर्म संग्रह बताते हैं एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म का उल्लेख करते हैं।

श्रीकृष्ण ने गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म की गंभीर विवेचना की है। विनोबा भावे कहते हैं कि कर्म के साथ जब विकर्म का जोड़ मिल जाता है तो शक्ति स्फोट होता है और उसमें अकर्म का निर्माण । ४ अध्याय के १६-१७ श्लोक इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आचार्यों ने कर्म, अकर्म और विकर्म का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। यहां हम स्वामी आत्मानंद का मत ही संक्षेप में देते हैं। उनके अनुसार समय पर किया गया कर्म कर्म है और समय बीतने पर किया गया अकर्म । विकर्म का विशिष्ट अर्थ है "आभ्यंतरिक क्रिया।" कर्म और विकर्म का योग होना चाहिए तभी कर्म अकर्म बनता है। गीता में अकर्म का अर्थ है, जिससे कर्म का दोष निकल जाए–इसी को "नैष्कर्म्य" भी कहते हैं। अकर्म का अर्थ निठल्लापन नहीं है (गीतातत्व चिन्तन दूसरा भाग पृ. २२३-२२५)। बाल गंगाधर तिलक ने कर्म, अकर्म और विकर्म पर भिन्न दृष्टि से विचार किया है। वे सात्विक कर्म को ही अकर्म गिनते हैं, क्योंकि इसमें कर्म का विपाक नष्ट हो जाता है। तामस कर्म को वे विकर्म मानते हैं, क्योंकि ये कर्म मोह और अज्ञान से अनुस्यूत हैं। जो कर्म सात्विक नहीं हैं–वे राजस कर्म हैं। राजस कर्म को केवल कर्म भी कह सकते हैं। गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म की दार्शनिकों ने अपने मतानुसार व्याख्या की है। स्वामी चिन्मयानन्द ने भी इन तीन शब्दों की विस्तृत विवृत्ति दी। १५वें अध्याय (२३-२४-२५) श्लोक में श्री कृष्ण ने सात्विक, राजसी और तामसी कर्मों का भेद निरूपित किया। राग द्वेष से हीन निरभिमान शास्त्रोक्त फलासक्ति रहित कर्म सात्विक है और परिश्रम से भोगेच्छा द्वारा अहंकार से किया गया राजसी एवं अज्ञान, हिंसा, परिणामहीन किया गया कर्म तामसी है। इस प्रकार गीता के कर्मयोग पर विद्वानों ने प्रभूत विचार किया है। गीता के १८वें अध्याय (१४-१५) में कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न करण एवं विभिन्न चेष्टाओं के साथ-साथ पांचवाँ हेतु दैव है। दैव का तात्पर्य आचार्यों ने शुभाशुभ कर्मों से किया है। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि मनुष्य मन, वाणी व शरीर से जो कुछ कर्म करता है, उसके ये पांचों कारण हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह तीन प्रकार की कर्म प्रेरणा है। यहीं पर स्वाभाविक एवं सहज कर्म का भी विश्लेषण है।

श्री शक्ति गीता में भी कर्मतत्व पर विस्तृत विचार किया गया है। इस गीता ने कर्मयोग के दो प्रकार बताए हैं–प्रवृत्ति फल देने वाला और निवृत्ति फलदायक । एक सकामासक्त है और दूसरा निष्काम रूप–यह परमानन्द भाव प्रकाशक है। इस प्रकार कर्म योग से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। निष्काम कर्म योग वासना रहित, निर्विकार एवं विकल्प हीन है, परन्तु सकामासक्त कर्मयोग भी मान्य है। कृष्ण और शुक्ल गति प्रवृत्ति मूलक है और सहजगति शान्त और निष्काम (श्री शक्ति गीता–श्री भारत धर्म महामण्डल-काशी पृ. ४०-४३)। इस प्रकार कर्मों की भावना के अनुसार उनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से कर्मों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। आधिभौतिक कर्म लोकमंगलकारी व सार्वनैतिक शुभ

संकल्प से होता है, जैसे दान, अनाथालय, धर्मशाला आदि। आधिदैविक कर्म दैवी शक्ति की सहायता से किया जाता है, जिसके कारण वह अपने प्रबल संस्कारों के द्वारा प्रतिकूल कर्मों को निरस्त करता है। देव-पूजन, देव-यज्ञ आदि ऐसे ही कर्म हैं। आध्यात्मिक कर्म ज्ञान का विस्तार करते हैं–ये कर्म मनुष्य की चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाकर उच्चस्तर की ओर ले जाते हैं। इसी प्रकार निवृत्तिमूलक और प्रवृत्तिमूलक भेद भी किए गए हैं। प्रवृत्तिमूलक कर्म में आसक्ति, कामभावना, परिग्रह आदि हैं और निवृत्ति में तप, अहिंसा, गुरु-सेवा, स्वाध्याय आदि कहा है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने कर्म-मार्ग का निर्धारण किया है। इसके साथ-साथ हिन्दू दण्डनीति में कर्म-सांकर्य का भी विवेचन है, जिसके अन्तर्गत अपने स्वाभाविक कर्म को छोड़कर यदि कोई लोभ, भय अथवा रागादि से अन्य के कर्म को करे, जिसकी योग्यता उसमें नहीं है, तो वह कर्म-सांकर्य कहलाता है।

बौद्ध धर्म में आत्मवाद-अनात्मवाद के संदर्भ में ही कर्मतत्त्व पर विचार करना होगा। अनात्मवादी विचारकों ने कर्म सिद्धान्त के औचित्य पर संदेह प्रकट किया है। विदेशी विद्वानों में जेम्स ऐलविस, फर्न आदि विद्वानों की धारणा है कि अनात्मवाद के साथ कर्म सिद्धान्त की संगति नहीं बैठती है। समकालीन लेखक डेलराइप का भी प्रायः यही मत है। आत्मवाद अनात्मवाद के साथ "सातत्य" और "सांकेतिकता" का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इस प्रश्न पर भी बौद्ध विचारकों में गंभीर विचार-विमर्श हुआ है। यहाँ हम सिरिस डेविड्स के मत का उल्लेख करना चाहेंगे। उनकी स्थापना है कि "गौतम के अनुसार प्राणी की मृत्यु के बाद उसके कर्मों–मानसिक तथा भौतिक कार्यों के परिणामों के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। हर प्राणी मानव या देव पूर्व के प्राणियों की लम्बी शृंखला में कर्म का अंतिम वारिस या परिणाम होता है।" बुद्ध के अनुसार दो प्राणियों को एक बनाने का कार्य आत्मा नहीं, कर्म करते हैं। यह संबंध भौतिक न होकर नैतिक है। इस मत के अनुसार कर्म को ही दो जन्मों के बीच की कड़ी माना है, आत्मा का सातत्य नहीं। त्रिपिटक में कर्म सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। कर्म सिद्धान्त में "किरियावाद" आदि बौद्ध विचारधारा में उतना ही महत्व रखता है, जितना अनात्मवाद । मज्झिमनिकाय में बुद्ध बच्छगोत को बताते हैं कि किसी आजीवक को निर्वाण प्राप्त नहीं हुआ, हां एक स्वर्ग अवश्य गया, वह कर्म विपाक की शिक्षा देता था, अर्थात् किरियावादी था। (जिल्द दो–पृ. १२५)। इसी निकाय में जैन धर्म की मान्यताओं की भी समीक्षा की गई है। बौद्ध विचारणा में कर्म सिद्धान्त एक विकसित नैतिक सिद्धान्त है। टामस के शब्दों में बाह्य क्रियाओं के स्थान पर नैतिक निर्णय में कर्म सिद्धान्त का बुद्ध ने रूपान्तरण कर दिया। (हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थाट–पृ. ११६) महामोग्गलायन जैसा जीवन मुक्त साधु भी चोरों के हाथों मारा गया तथा उसकी इन्द्रियाँ असफल रहीं। कीथ के अनुसार बुद्ध की दृष्टि में चेतना या संकल्प तथा इसके परिणामतः होने वाली क्रियाएं कर्म हैं। इस प्रकार मन,

वचन और कर्मणा द्वारा किए गए कार्य ही कर्म हैं। बुद्ध ने चार प्रकार के कर्मों का निरूपण किया है–कृष्ण जिनका कृष्ण विपाक होता है, शुक्ल जिनका शुक्ल विपाक, दोनों अथवा दोनों से परे (मज्झिम निकाय–जिल्द २ पृ. ६३-६४)।

बुद्ध कहते हैं 'कम्म दायादा सत्ता' केवल अंतिम समय में कर्म क्षय होता है पर शृंखला नए जन्म में भी बनी रहती है। बुद्ध चुल्लकम्म विभंग में शुभ नामक ब्राह्मण से कहते हैं, विकर्मों के कारण ही व्यक्ति उच्च या नीच होता है। सत्ता कम्मदायादा कम्म योनी कम्मबंधू कम्मपटि सरणो। अंगुत्तर निकाय में कहा गया है कि व्यक्ति अपने ही कर्मों का परिणाम है, कर्मों का दायित्व व्यक्ति का है। धम्मपद भी कहता है–"नहि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुच्चति। इदृनतंबालमन्वेति भस्मच्छन्नोव पावको॥" पाप व्यक्ति का उसी प्रकार अनुसरण करते हैं, जैसे राख आग का। संयुक्त निकाय का एक संयुक्त बताता है "सत्त" किस प्रकार "अत्तभावों" से कर्मों का प्रायश्चित करता है। बौद्ध मत में तण्हा (तृष्णा) आसव, काम, संखार (संस्कार) विञ्ञाण (विज्ञान) पर भी पूरा पूरा निदर्शन मिलता है और संस्कार के निरोध को दुःख का निरोध माना है (जिल्द २, ७०. ७१) यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि बुद्ध के अनुसार संस्कार व्यक्ति के चरित्र को निर्धारित करने वाला मानसिक घटक है। इस संबंध में मिलिन्द प्रश्न (मिलिन्द पन्ह) में नागसेन मिनेन्दर को उत्तर देते हैं कि आत्मा के बिना भी पुनर्जन्म संभव है। जिनमें चिन्तक मैल (क्लेश) लगा है, वे जन्म ग्रहण करते हैं, एवं जो क्लेश रहित हैं, वे पुनर्जन्म नहीं करते। आगे इसी ग्रन्थ में कहा है, "अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम और रूप और तज्जन्य छः आयतन पुनः स्पर्श, वेदन, तृष्णा, उपादान और भव एवं जन्म और फिर रोग, भोग, शोक आदि (मिलिन्द प्रश्न ५, ३, ९, एवं ६२)। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "बौद्ध धर्म दर्शन" में आचार्य नरेन्द्र देव ने कर्मवाद (त्रयोदश अध्याय) में कर्म संबंधी बौद्ध मान्यताओं का सम्यक् विवेचन किया है। इसके अनुसार कर्म दो प्रकार के हैं, चेतना और चेतयित्व । चेतना मानस कर्म है और येतयित्वा चेतना कृत है। चेतायित्वा भी दो प्रकार का है, "कायिक और वाचिक।" इसी प्रकार कृत कर्म और उपचित कर्म में भेद है। स्वेच्छा से अथवा बुद्धिपूर्वक किया गया कर्म उपचित है। कर्म विपाक में नियत कर्म उपचित है। कर्म की परिपूर्णता के लिए चार तत्व आवश्यक हैं– प्रयोग, मौल प्रयोग, मौलकर्म पथ और पृष्ठ । इस प्रकार विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कर्म का भी विवेचन है। (अभिधम्मकोश) अविज्ञप्ति कर्म को सौतांत्रिक नहीं मानते। विसुद्धिमग्ग में कर्म को अरूपी कहा है। इस संबंध में एक और घटना बुद्ध के कर्म संबंधी विचार को स्पष्ट करेगी। एक शिष्य अपने सिर से होते हुए रक्त स्राव को लेकर बुद्ध के पास आया तो वे बोले "इसे ऐसा ही रहने दो। हे अर्हत ..... तुम अपने कर्मों का फल भोग रहे हो, जिसके लिए अन्यथा तुम्हें पाप मोचन में सदियां लग जातीं। डॉ. राधाकृष्णन का यह विचार सही है कि कर्म विधान वैयक्तिक उत्तरदायित्व पर एवं भविष्य जीवन की

यथार्थता पर बल देता है। यद्यपि बुद्ध ने कर्म स्वातंत्र्य के विषय में कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, पर इसका सर्वथा निषेध भी नहीं किया। अंगुत्तर निकाय (३.९९) में उनका यह कथन स्पष्ट है "यदि कोई मनुष्य ऐसा कहता है कि उसके कर्मों के अनुकूल ही पुरस्कार मिलता है और धार्मिक जीवन की संभावना है व दुःखों से सर्वथा मुक्ति की भी।" बौद्धमत कर्म की यांत्रिक व्याख्या न करके नीतिपरक यथार्थ व्याख्या करता है। (भारतीय दर्शन पृ. ४०७) अब हम भारतीय दर्शन पर विचार कर अन्य धर्मों में कर्म सिद्धांत के स्वरूप पर दृष्टिपात करने के अनन्तर जैन धर्म और दर्शन में कर्म के मूल तत्व और विज्ञान का विवेचन करेंगे।

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान के विकास के साथ-साथ परमपद की प्राप्ति के लिए कर्म की नितान्त आवश्यकता है। कर्म ही अन्तःकरण को निर्मल करता है। बिना ज्ञान के शुभ कर्म संभव नहीं। इस प्रकार ज्ञान और कर्म का पूर्ण सामंजस्य करके ही व्यक्ति अपने जीवन पथ को प्रशस्त और मंगलमय करता है। दर्शन के क्षेत्र में कर्म का उतना ही महत्व है जितना ज्ञान का । डॉ. उमेश मिश्र का यह अभिमत है कि धार्मिक आचरण, कायिक वाचिक और मानसिक पवित्रता, जिनके द्वारा काय शुद्धि होती है और स्थूल अथवा सूक्ष्म उपासनाएं की जाती हैं–सभी कर्म के अन्तर्गत हैं। इसी कारण कर्म और उपासना भारतीय दर्शन का प्रारंभिक अंग है। सांख्य दर्शन के अनुसार कर्म प्रकृति का विकार है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं। सांख्य सूत्र (५-२५) कहता है, अंतःकरण धर्मत्वं धर्मादीना। सांख्य कारिका में कथन है कि धर्म और अधर्म को संस्कार कहते हैं। उसी से शरीर बनता है "संस्कारोनाम धर्माधर्मो निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्ति भवति।..... संस्कारवशात्–कर्मवशादित्यर्थः (६७)। ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका के प्रारंभ में ही आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक दुःखों के आत्यन्तिक क्षय का वर्णन करते हैं। सांख्य दर्शन में अविवेक और विद्या के कारण सुख-दुःख होते हैं। यह अविवेक ही संसार में भ्रमण का हेतु है। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार बुद्धि कभी असफल न होने वाली तथा सभी संस्कारों को धारण करने वाली है। स्मृतियां बुद्धि में संग्रहीत होती हैं। डा. राधाकृष्णन् इसे यों व्यक्त करते हैं।"मन के द्वारा जो संवेदनाएं तथा सुझाव मिलते हैं, वह उन्हें आत्मा को अर्पण कर देता है। इस प्रकार भावों तथा निर्णयों के निर्माण में सहायक होता है। अहंकार वह नहीं है जो सार्वभौम चैतन्य को व्यक्तित्व का अर्थ देता है..... बाह्य जगत से जो संस्कार आते हैं, उन्हें यह व्यक्तित्व प्रदान करता है। जब अहंकार पर सत्व की प्रधानता होती है, तब अच्छे कर्म करते हैं, जब रजस की प्रधानता होती है, तब बुरे कर्म होते हैं। तमोगुण में वे कर्म होते हैं, जो न अच्छे न बुरे हैं। (भारतीय दर्शन २ खण्ड पृष्ठ २६७, सांख्य दर्शन–सांख्य प्रवचन भाष्य–१:६२ विज्ञानभिक्षु के आधार पर)। संक्षेप में सांख्य दर्शन में कर्म निमित्तों से प्रकृति के प्रवृत्त होने का उल्लेख है। कर्मों के कारण प्रकृति में विविधता आ जाती है, "कर्म निमित्त योगाच्चं,

कर्म वैचित्र्यात्तु सृष्टि वैचित्र्यम्, चिदवसाना भुक्तिस्ततत्कर्मोज तत्वात्" (सांख्य दर्शन, ३१, ६७, ६-४१, ६-५५) अर्थात् चेतन द्वारा अर्जित कर्मों से भोगों की प्राप्ति और समाप्ति पर, आत्मा को कर्मों का कर्त्ता एवं कर्मों को भोगोत्पादक बताया है। न्याय दर्शन के मत में कर्म को ही शरीर व इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण बताया है। परमाणुसंयोग के कारण सृष्टि का कारण भी कर्म है।

कर्म कारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थ तन्त्रः
शरीरोत्पत्ति निमित्तवत् संयोगोत्पत्ति कर्म ।

(न्याय दर्शन ३,१,३७, ३.२.६९)

इस दर्शन के अनुसार राग, द्वेष और मोह से, मन वचन और काय की प्रवृत्ति से धर्म-अधर्म होते हैं और ये ही संस्कार हैं। न्यायसूत्र पुनः कहता है "कर्मफल ईश्वर के द्वारा प्राप्त होता है, ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मा-फलस्यादर्शनात् (४/१) ईश्वर ही कर्मफल की व्यवस्था करता है। न्याय दर्शन की मान्यता है कि कुछ कर्मफल तत्काल मिलते हैं, कुछ का विलम्ब होता है। पवित्र जीवन और कर्मकाण्ड संबंधी कर्मफल इसकी दूसरी कोटि में आते हैं, क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति मरणोपरान्त ही होती है। उद्योतकर लिखता है "तत्काल फल न मिलने का कारण उन विशेष परिस्थितियों से उत्पन्न बाधाओं से है, जो अवशिष्ट कर्मों के कारण आती हैं। इसके अन्य कारण भी उसने दिए हैं। (न्याय वार्तिक ३.२.७०) अदृष्ट गुण व अवगुण कर्म से भिन्न नहीं हैं। कर्म करते समय हमारे ऊपर राग और द्वेष का आसन रहता है। इससे हम आत्मा का उपादेय भूल जाते हैं। राग और द्वेष से मुक्त होकर ही हम परम श्रेय और परम पद प्राप्त कर सकते हैं। समस्त कार्यों का प्रयोजन संसार से मुक्त होकर परम श्रेय पाना है। न्याय दर्शन मानता है कि आत्माएं अपना रूप पूर्व कर्मों के अनुसार धारण करती हैं। न्याय शास्त्र ने कर्म का विशद निरूपण किया है। संसार के सभी कार्य धर्म-अधर्म से ही व्याप्त हैं। कर्म का विस्तृत विवेचन वैशेषिक दर्शन ने भी किया है। न्याय दर्शन की भांति वैशेषिक भी कर्म के पांच भेदों को समान अर्थ में लेते हैं। कणाद ने कर्म की परिभाषा यों की है "कर्म वह है, जो एक द्रव्य में रहता है, गुणों से रहित है तथा संयोग और वियोग का तात्कालिक कारण है। (वैशेषिक सूत्र १.१.७) कर्म अस्थायी हैं और आधारभूत द्रव्य के संयोग विनाश के साथ समाप्त हो जाते हैं। आकाश, काल, देश, आत्मा द्रव्य हैं, पर कर्म रहित (संदेह है कि कणाद आत्मा को कर्म विहीन मानते थे)। गुणों की भांति कर्म निरन्तर अपना अस्तित्व नहीं रखते। यह दर्शन जगत की सभी वस्तुओं को सात पदार्थों में विभाजित करता है, जिनमें कर्म भी एक है। कर्म के पांच भेद हैं "ऊपर फैंकना (उत्क्षेपण), नीचे फैंकना (अपक्षेपण) आकुंचन (संकोचन), विस्तार (प्रसारण) और गमन । प्रशस्तपाद ने स्वैच्छिक और अनैच्छिक दो भेद कर्मों के किए हैं। ऐन्द्रिक जीवन के कर्म अनैच्छिक हैं और आचार से सम्बन्धी

स्वैच्छिक। प्रथम का लक्ष्य शरीर है और दूसरे का कल्याण । (प्रशस्तपाद) सर्वोत्कृष्ट सुख ज्ञानी पुरुष को होता है, जो सर्व स्वतंत्र है और शान्ति, सद्गुण और संतोष प्रदान करता है। वैशेषिक दर्शन ने कर्म-कर्तव्य के १३ नियम भी बताए हैं। अहिंसा को ही धर्म गिना है, हिंसा भाव अधर्म है।

मीमांसा दर्शन (पूर्व) के दो प्रधान विषय हैं, कर्मकाण्ड के विरोध का परिहार-समाहार और उसके मूल सिद्धान्तों का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन । इस दर्शन में यज्ञ के अर्थ में कर्म का प्रयोग हुआ है। कर्म के संबंध में यज्ञ के अनुष्ठान का उल्लेख है। कृते वा विनियोगस्स्यात्कर्मणः सम्बन्धात् (मीमांसा दर्शन १.१.३२) कर्म नित्य एवं सार्वकालिक है। कर्म में दैहिक अंगों का गतिमान होना अनिवार्य है। जैमिनी सूत्र भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं, "न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतरेतराश्च यत्व प्रसंगः" (ब्रह्मसूत्र–भाष्य २.१.१२. ३६)। वेदों में तीन कर्मों का उल्लेख है– नित्य-नैमित्तिक, निषिद्ध और काम्य । काम्य कर्म कामना विशेष की सिद्धि के लिए होते हैं। ये स्वर्गादि को देने वाले हैं। निषिद्ध कर्म अनिष्टकारक हैं, नरक देने वाले। प्रभाकर के मतानुसार सिद्धान्त मुक्तावलि में ऐच्छिक कर्म का यह क्रम निदर्शित है। कार्य का ज्ञान, चिकीर्षा (कृति साध्यज्ञान) प्रवृत्ति चेष्टा और क्रिया। प्रभाकर कर्त्तव्य कर्म पर अधिक बल देता है। मीमांसक मानवीय स्वतंत्रता का पक्षधर है–इसकी संगति, डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में कर्म विधान नहीं है। नित्य-नैमित्तिक वे कर्म हैं, जिनके न करने पर दोष होता है। मीमांसक दो प्रकार के कर्मों में भेद करते हैं–सहज कर्म और ऐच्छिक कर्म। ऐच्छिक कर्म बौद्धिक होते हैं और एक काल में घटित । कर्म को मीमांसक प्रत्यक्षगोचर मानते हैं, यह भाट्टमत है; पर प्रभाकर मतानुसार कर्म अनुमेय है। वस्तु के क्रियाशील होने पर क्रिया दिखाई नहीं पड़ती है। वरन् संयोग अथवा विभाग होता दिखाई पड़ता है। ये दोनों गुण हैं और इन्हीं से कर्म का अनुमान होता है। इसके अनुसार कर्म मीमांसा का प्रमुख उद्देश्य है कि प्राणी वेद द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कार्यों में प्रवृत्त हो और अपना हित साधन करे। "स्वर्ग कामो यजेत" का तात्पर्य है कि स्वर्ग के लिए यज्ञानुष्ठान । निष्काम कर्म का प्रतिपादन भी मीमांसक करते हैं, इसके धर्माचरण से आत्मज्ञान होता है और पूर्वकर्मों के संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और व्यक्ति बन्धन मुक्त हो जाता है। मीमांसकों ने (कुमारिल, प्रभाकर भट्टतात आदि) कर्म के अभाव में फलोदय की धारणा में अपूर्व का शीर्ष महत्व माना है। प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्यापुण्य) की क्षमता रहती है।

यागादेव फलं तद्धि शक्ति द्वारेण सिध्यति ।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ॥

(तन्त्रवार्तिक पृ. ३९५)

शंकराचार्य का "अपूर्व" के सबंध में मत है कि बिना अपूर्व के नष्ट होने वाला कर्म कालान्तर में फलप्रसू नहीं हो सकता। अतः कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था अथवा फल की पूर्वावस्था ही "अपूर्व" है। (शांकर भाष्य ३.२.४०) उद्योतकर ने "अपूर्व" के सिद्धान्त की आलोचना की क्योंकि कर्म फल की व्याख्या "अपूर्व", सिद्धान्त से नहीं हो सकती। कर्म फल के संबंध में जैमिनी ने यज्ञ से ही प्राप्ति मानी पर आपदेव आदि आचार्यों ने मोक्ष साधन के निमित्त ईश्वर को भी स्वीकार किया "ईश्वरार्पण बुद्धया क्रियमाण स्तु निःश्रेयस हेतुः । शबर ने धर्म को कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने वाला कहा है। कर्तव्य-कर्म (नित्य कर्म) का पालन आवश्यक है। कुमारिल और प्रभाकर में अन्तर यह है कि कुमारिल कर्त्ता को ही कर्म का कारण मानता है और प्रभाकर कर्मों को कर्त्ता से स्वतंत्र करके विश्लेषित करता है। कर्म ज्ञान के विषय में कुमारिल प्रत्यक्ष ज्ञान मानता है और प्रभाकर अनुमेय । कुमारिल ने तो महान् पुरुषों द्वारा निष्पन्न सभी कर्मों को सदाचार नहीं गिना एवं इसकी विस्तृत सूची भी दी है, पर दोषों के परिमार्जन के विषयों का भी वर्णन किया है।

पूर्व मीमांसा के पश्चात् अब हम उत्तर मीमांसा (वेदान्त) के कर्म-सिद्धान्त पर विचार करें। ब्रह्मसूत्र (१.३.३३) में बादरायण जैमिनी के इस मत का खण्डन करते हैं कि यज्ञादि कर्म में देवता का अधिकार नहीं है। बादरायण कहते हैं कि यज्ञादि कर्म में भी देवताओं का अधिकार है और यह अधिकार वेद विहित है। आगे सूत्र "फलमत उपपत्ते" (३.२.३५) में यह प्रमाणित किया है कि जीवों के कर्मफल का भोग परमात्मा ही व्यवस्थित करते हैं। "श्रुतित्वाच्च" में श्रुति के प्रमाण से यह सिद्ध किया है। अध्याय ४ के १-१३, १.१४ सूत्रों में बताया है कि पर ब्रह्म परमात्मा के प्राप्त हो जाने पर पूर्व और पीछे किए हुए पापों का नाश होता है। ज्ञानोत्तर काल में भी ज्ञानी पाप कर्म से अलिप्त रहता है। भगवत्प्राप्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों कर्मों से तर जाता है। प्रारब्ध कर्म रहने तक ही शरीर की अवधि रहती है। सूत्र (४.१.१५) में यह स्पष्ट किया है, पूर्वकृत पुण्य और पाप कर्म का नाश, उन्हीं कर्मों का होता है, जो अपना फल दे नहीं पा रहे हैं और संचित अवस्था में हैं। प्रारब्ध कर्मों का फल भोगने के लिए विद्वानों को शरीर मिलता है और उनके नाश होने पर परमात्मा में विलीन हो जाता है। (वेदान्त दर्शन, गीता प्रेस के आधार पर)

शंकराचार्य ने यह प्रतिपादित किया है कि कार्य निष्ठा और ज्ञान निष्ठा दो भिन्न निष्ठाएं हैं। अभ्युदय अर्थात् सांसारिक सुख उपलब्धि के लिए कर्म विधान है और आत्मा-परमात्मा रूप में ज्ञान का अनुष्ठान (दृष्टव्य-गीता भाष्य १८-५५) आचार्य शंकर आगे कहते हैं "किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने अथवा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की इच्छा से कर्म किए जाते हैं, आत्मा में विकार अथवा संस्कार का अभाव है अतएव निमित्त कर्म अकिंचित्कर हैं;

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्य विकार्य च क्रियाफलम् ।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम् ॥

(नैष्कर्म्य सिद्धि १.५३)

आगे उनका कथन है कि कामनाहीन नित्य कर्म द्वारा चित्त शुद्धि अवश्य होती है, जिससे बिना किसी प्रतिबन्ध के जीव आत्म स्वरूप को पहचान लेता है। सकाम कर्म असुरत्व की प्राप्ति कराता है। (गीता भाष्य १८-१०)

उन्होंने कर्म को सर्वतोभावेन स्वीकार किया है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है, वासना से संसार । अतएव संसार के उच्छेदन के निमित्त कर्म का निर्हरण अनिवार्य है। यह निर्हरण योग, ध्यान, सत्संग, जप आदि से होता है। विज्ञान दीपिका में उनका कथन है–

कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्संगाज्जापतोऽर्थतः ।
परिपाका व नोकाच्च कर्म निर्हरणं जगुः ॥

(विज्ञान दीपिका २२ डा. बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत)

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने "वेदान्त बोध" में कर्म को इस प्रकार संक्षेप में व्याख्यायित किया है, "ज्ञान और कर्म के क्षेत्र विविक्त हैं। ब्रह्म विचार-जनित ज्ञान साधन है और कर्म जीवन को सर्वांगीण उत्कर्ष प्रदान करता है कर्म निर्माण विभाग है और ज्ञान प्रमाण, वासनावान कर्म का अधिकारी है और निर्वासनिक ज्ञान का । कर्म कर्तृ तन्त्र है और ज्ञान वस्तु तन्त्र। कर्म साध्य का निर्माण करता है, ज्ञान साक्षात्कार । कर्म-ज्ञान और ज्ञान में अन्तर है–कर्म का कोई प्रमाण नहीं है। भामतीकार कहता है "वस्तुसिद्धिः विचारेण न क्वचित् कर्म कोटिभिः"।

अन्य दर्शनों में कर्म की विवेचना न करके अब हम स्मृतियों में कर्म संबंधी विचार प्रक्रम का अवलोकन करें। मनुस्मृति के मत में मन, वाणी व शरीर से निष्पादित कर्म शुभाशुभ फलदायक होते हैं। कर्म से ही मनुष्य को विभिन्न गतियां प्राप्त होती हैं। सात्विक, राजसिक व तामसिक भावना से किए गए कर्म भी तदनुसार फल देते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए छः कर्म आवश्यक हैं–वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, संयम, अहिंसा और गुरु सेवा। वैदिक कर्म से आत्म ज्ञान प्राप्त होता है–यह भी प्रवृत्ति और निवृत्ति मूलक है। प्रवृत्त्यात्मक कर्म से देवगति और निवृत्त्यात्मक से मोक्ष प्राप्त होता है। (मनुस्मृति १२, अध्याय श्लोक ३, ८१, ८३, ८५, ९०)।

शुक्रनीति में कहा है कि कर्म का फल अनिवार्य है, उसका भोग करके ही वह समाप्त होता है। अनिष्ट फलदायक कर्म से बचना धर्म है। अन्तःकरण से सत् फलदायी कर्म करना चाहिए। भर्तृहरि भी अपनी नीति में कर्मफल पर विचार करके कहते हैं कि विधाता भी कर्म के अनुसार फल देते हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य को भी

कर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत कहते हैं। पूर्व तप से संचित कर्म ही फल देते हैं, इसीलिए कर्म के परिणाम को दृष्टिगत रखना चाहिए। कर्मफल कभी टल नहीं सकता। इसीलिए पवित्र कर्म करना चाहिए।

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किंच विधिना ।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥
वने रणे शत्रु जलाग्नि मध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥

(नीति शतक– ९५-९८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी नीतियों ने कर्म तत्व और कर्म फल पर विचार किया है। स्वामी कालिकानन्द का मत है कि 'एक ही के फल कई महीने तथा कई जन्मों तक भी चलते हैं। स्वप्न में जो विषय भोग सुख दुःखादि होते हैं वह भी कर्म फल हैं। मानस कर्मों का फल स्वप्न है। जाग्रत कर्म फल भोग के मध्य में अर्थात् उसके उपाय स्वरूप से जाग्रत स्थूल शरीराभिमान होता है। स्वप्न शरीराभिमान स्वप्न कर्म फल भोग करने पर होगा।' (पंचेश्वर पत्रिका फरवरी १९९३)

इसके पूर्व कि हम जैन धर्म व पुनर्जन्म आदि पर विचार करें, अन्य धर्मों पर भी विहंगम दृष्टिपात करना अनुचित नहीं होगा। इससे कर्म-विज्ञान की व्यापकता और प्रामाणिकता अनुमोदित होगी।

मसीही धर्म में कर्म की मान्यता है। पोलुस का कथन है कि अन्त में ईश्वर हर व्यक्ति को उसके कर्मों से पहचानेगा। कर्म का न्याय अदृष्ट के हाथों में है। इस धर्म में कर्म, विश्वास और प्रायश्चित्त पर बल दिया गया है। ईसामसीह के भाई याकूब ने कहा कि मनुष्य विश्वास के साथ कर्मों से भी धर्मी ठहरता है। विश्वास के साथ कर्म आवश्यक है। इस धर्म में आत्मा और शरीर के कर्मों का निर्वचन किया गया है। आत्मा के कर्म हैं–प्रेम, आनन्द, धैर्य, परोपकार, संयम और विनय । बाइबल में कर्म-फल की अनेक पुरा कथाएं हैं, जिनमें लाजर, अय्यूब और जन्मान्ध डाकू आदि की कथाएँ मुख्य हैं। कर्म के साथ प्रभु का अनुग्रह भी आवश्यक है। इस प्रकार कर्म, विश्वास और अनुग्रह मुख्य हैं। ईसाई धर्म ग्रन्थों में शुभ कर्मों और नैतिक आचरण पर बल दिया है। कुछ उदाहरण स्पष्ट करेंगे। कोन (X१११-३-७) में कहा गया है जो प्रेम, शान्ति, और रीति पर चलता है, वह अधर्म से आनन्दित नहीं होता–वह स्थिर रहता है। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र अपने सभी कर्मों को ईश्वरार्पण करने को कहा गया है। यही बात गल (पंचम २२-२३) में भी कही गयी है। आत्मा का फल है प्रेम, आनंद, शान्ति, सौजन्य, विश्वास और परिमिताचार । कर्मफल के लिए कहा गया है कि सुकर्म करने से हम थक न जाएँ–हमें कातर नहीं होना चाहिए, ठीक समय पर हमें इनका फल प्राप्त होगा (वही–६२) अच्छे कर्मों में सदा प्रवृत्त रहो। लूक (vi

४३-४४) में कर्म फल के लिए कहा गया है कि अच्छे पेड़ में बुरा फल नहीं लगता है, न बुरे पेड़ में अच्छा। प्रत्येक पेड़ अपने फल के द्वारा ही पहचाना जाता है, क्योंकि लोग कांटों के पेड़ से गूलर नहीं तोड़ते हैं, और न कटैले झाड़ से अंगूर।

इस्लाम धर्म में भी अंतिम निर्णय कयामत के दिन पर अल्लाह के समक्ष सबको अपने कर्मों का विवरण देना होगा। जन्नत उनके लिए है, जिन्होंने शुभ कर्म किए (अल बकर २५) यही कहा गया है कि जिन्होंने सत्कर्म किए हैं–ईश्वर को मानते हैं, वे किसी धर्म के हों, प्रभु ! उन्हें पुरस्कृत करेगा। अल कुरान (xii) में कहा गया है कि हे प्रभो! जो मुझे पाप कर्म की ओर ले जाते हैं, उससे तो कारागृह भी अधिक प्रिय है। पुनः कहा गया है कि जो परलोक में विश्वास नहीं करते हैं, वे घमण्ड से सत्य को अस्वीकार करते हैं (अध्याय १६) अलहजारत (१२-१२) में कहा है कि सबसे अधिक मान्य वह है जो संयमी है "इन्ना अकरामाकुम इन्दल्लाहि अतकाकुम"।

मुहम्मद साहब ने अनेक बार सत्कर्म पर जोर दिया है। डॉ. निजामुद्दीन ने स्पष्ट किया है कि इस्लाम ने कर्म के स्वरूप पर दो दृष्टियों से विचार किया है (१) लौकिक कर्म, जिनका समाज से संबंध है। (२) आध्यात्मिक कर्म, जिनका संबंध नमाज, तकवा, जकात से है। ईमान का विशिष्ट महत्व है। सूरे कहफ में कहा है कि ईमान वालों के सत्कर्म कभी नष्ट नहीं होते। जीवन में आस्था एवं कर्म का संयोग अनिवार्य है। कुरआन उसी मनुष्य को श्रेष्ठ कहता है, जिसका आचरण शुद्ध है और कर्म पवित्र है "इन्नलाह ला युगेयिरूमावि कौमिन हत्ता युगैयिरू मा वि अनुफुसिहिम" (कुरआन अर्रअद १३-११)।

यहूदी धर्म में भी कर्म की व्याख्या का सार तत्व है कि वह मनुष्य धन्य है, जिस पर परमेश्वर कोई दोष नहीं लगाता और जिसकी आत्मा में छल कपट नहीं है (अवस्ता २५) ईश्वर के घर में सेवक बनकर रहना अधिक श्रेयस्कर है, बनिस्पत अट्टालिका या मण्डप में । यहूदी धर्म भी कर्म फल में आस्था रखने का आदेश देता है, "धन्य है वह जो अधर्म पर नहीं चलता है और न पाप कर्म से जुड़ता है। वह नदी के कूल के वृक्ष के सदृश है, जो समय पर फल देता है, उसकी पत्तियां कभी नहीं मुर्झातीं, वह जो कुछ करेगा– उसके सत्कर्म सफल होंगे। कुकर्मी व अधार्मिक भूसी की भांति हैं जो अल्प हवा में ही उड़ जाती है। इन सभी धर्मों में हमारे कर्मों का सामान्य उद्देश्य सचेत जीवन, उच्च नैतिक अवधारणाएं, अनुभूति के वांछनीय रूपों की सृष्टि और मानवीय उत्कर्ष है।

कर्म और पुनर्जन्म पर विचार करने के पूर्व हम कर्म विपाक का विश्लेषण करें क्योंकि पुनर्जन्म का सिद्धान्त तत्वतः कर्म विपाक पर ही निर्भर है। विपाक का अर्थ है "परिपक्व होना" "परिणाम" फल । कर्म की परिपक्व अवस्था ही कर्म विपाक अथवा कर्म फल है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म के पांच साक्षी हैं।

सूर्यः सोमो यमः कालो महाभूतानि पंच च ।
एते शुभाशुभस्येह कर्मणो नव साक्षिणः ॥

शुभाशुभ कर्म के ये ही साक्षी हैं। गरुड़ पुराण (२२ अध्याय) में कर्म विपाक का विशद वर्णन है। डा. पा. वा. काणे ने कर्म विपाक का अर्थ इस प्रकार किया है "कर्म विपाक का अर्थ दुष्कृत्यों या पापों के फलवान होने का ही द्योतक है। योगसूत्र (२-१३) में कर्म विपाक के लिए कहा गया है "सतिमूलेताद्विपा को जात्यायु भोगाः"। सभी क्लेश (पांच) बताए गए हैं। मूल में रहने से कर्म फलारम्भी होते हैं, पर उनके उच्छिन्न होने पर ऐसा नहीं रहता। कर्म विपाक जाति, आयु तथा भोग से होता है। एक भोग का हेतु होने से एक विपाकारम्भी तथा आयु और भोग दोनों से द्विपाकारम्भी होता है। प्रथम के दो भेद हैं नियति विपाक और अनियति विपाक । पतंजलि के व्यास भाष्य में कहा गया है "इस जन्म के संस्कार संचित होने से शारीरिक प्रकृति में परिवर्तन करता है और आयु एवं भोग फल देते हैं। कर्म ही इसका कारण है।" इस कारण (सूत्र १४) में कहा है कि जाति, आयु तथा भोग पुण्य और पाप के सुख और दुःख देते हैं। १५ सूत्र में संस्कार का विवेचन किया है। जाति से तात्पर्य कीट, पशु आदि की योनि, आयु से अल्प जीवन एवं भोग से नारकीय यातनाएं हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति (३.१३१) में भी कर्म विपाक शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है "विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषां चिदिह जायते।" "प्रायश्चित्त सार" में भी विस्तृत वर्णन है। पुराणों में वामन पुराण, ब्रह्म पुराण, मार्कण्डेय पुराण, वराह पुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण आदि में कर्म विपाक का उल्लेख नारकीय भोग के साथ प्रायश्चित्त आदि का विवेचन है। कुछ ग्रन्थों में व्याधि, विपर्यय, कृचन्व आदि के लिए देव-पूजा भी निर्धारित की गई है। विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर कहते हैं, "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।" 'प्रारब्ध विचार' में शंकराचार्य ने कर्म और कर्म फल पर विचार किया है । वे कहते हैं 'फलोदयः क्रिया पूर्वो निष्क्रियो न हि क्वचित्' (४४७) इसके साथ ही वे कहते हैं–

ज्ञानोदयात्पुरारब्धकर्म ज्ञानान्ननश्यति ।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्ट बाणवत् ॥४५४॥

अर्थात् लक्ष्य की ओर छोड़ दिए गए बाण के समान ज्ञान के उदय से पूर्व ही आरम्भ हुआ कर्म अपना फल दिए बिना ज्ञान से नष्ट नहीं होता। विद्वान का प्रारब्ध कर्म अवश्य ही बलवान होता है। उसका क्षय भोगने से ही संभव है

प्रारब्ध-बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः ।
सम्यग्ज्ञान हुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनाम् ॥४५४॥

शंकराचार्य के अनुसार कर्मणानिर्मितो देहः प्रारब्ध टतस्य कल्प्यताम् । देह कर्मों से है प्रारब्ध भी उसी से है । आत्मा कर्मों से नहीं बना है । प्रारब्ध कर्म का क्षय

भोगने से ही होता है । पूर्वसंचित और आगामी कर्मों का क्षय तत्त्वज्ञान रूपी अग्नि से । आत्मा और ब्रह्म की एकात्मता को जानने वाला किसी प्रकार के कर्म में लिप्त नहीं होता । मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान होने पर कोटि कल्पों के कर्म नष्ट हो जाते हैं । (४५०) आचार्य शंकर कहते हैं कि **'खेर्यथा कर्मणिसाक्षि भावो'**–मनुष्य के कर्मों का सूर्य ही साक्षी भाव है। वे कर्म बंध के सम्बन्ध में कहते हैं संसार रूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है–देहात्मबुद्धि अंकुर है–राग पत्ते हैं और कर्म जन्म है व उससे उत्पन्न हुआ दुःख ही फल है । मोक्ष का हेतु आसक्तियुक्त कर्मों का सर्वथा त्याग है। वस्तुतः लिंग शरीर भूतों से उत्पन्न होकर ही वासनायुक्त कर्म फलों का अनुभव कराता है। निर्विकल्प समाधि से वासना ग्रंथियों का नाश और वासनाओं के नाश से कर्मों का नाश होता है–तदनन्तर सर्वत्र निरन्तर स्वरूप की स्फूर्ति होती है 'समस्त वासना ग्रन्थेर्विनाशोऽखिल कर्म नाशः (३६४) इस प्रकार विवेक चूड़ामणि में आद्य शंकराचार्य ने कर्म के संबंध में प्रचुर विचार किया है । यदि इसकी तुलना हम जैन कर्म तत्त्व से करें तो कुछ अंगों में साम्य दिखाई पड़ेगा ।

महाभारत के वन पर्व में लिखा है कि स्वर्ग प्राप्ति पर यज्ञादि के पुण्यों का अंत होने पर पुनः जन्म लेना पड़ता है (वन-पर्व २५९-६0)। अनुशासन पर्व में गौतमी पुत्र की सर्पदंश से मृत्यु पर कहती है कि यह कर्म का फल है। यहीं पर काल का महत्वपूर्ण कथन है कि बालक की मृत्यु उसके पूर्व जन्म के कारण है। विराट पर्व (२0-१४) में यही कथन है। शान्ति पर्व में आत्मा के छः रंग बताए हैं, कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, पीत व शुक्ल। उपनिषदों और गीता में ज्ञान द्वारा कर्म-विपाक के नष्ट होने का उल्लेख है। मुण्डक कहता है **"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे** (२.२.५) पर ब्रह्म आत्म तत्व का ज्ञान सब कर्मों को नष्ट कर देता है। श्वेताश्वतर का भी यही मत है (३.५) योग वासिष्ठ (२.४.८) में कर्मक्षय के लिए पौरुष का महत्व बताया गया है। वाल्मीकि में राम वन गमन के समय दशरथ व कौशल्या अपने दुःख को पूर्वजन्मों के पाप का फल बताते हैं। दशरथ कहते हैं कि "मनुष्य कर्माधीन है और उसे कर्मों का फल भोगना पड़ता है। आम के पेड़ को काटकर ढाक सींचना पागलपन है, वही मैंने किया है।" कौशल्या भी पुत्र वनवास का कारण पूर्व जन्म में किए गए दुष्कर्म का फल बताती है। रामायण में यत्र तत्र कर्मफल का वर्णन है। कर्म विपाक का सम्बन्ध पुनर्जन्म से है।

जैन धर्म के कर्मतत्त्व का विचार करने के पहले हमें पुनर्जन्म सबंधी विचार धारा का अवलोकन करना आवश्यक है। कर्मफल का तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्ति स्वातंत्र्य का अभाव है अथवा मनुष्य केवल नियति का दास है, कर्मफल अनिवार्य होते हुए भी मनुष्य की स्वातंत्र्य शक्ति का विरोध नहीं करता। न वह नैराश्य का प्रतिपादन करता है। इस संबंध में डॉ. सतीश चन्द्र बंदोपाध्याय का "तत्त्व जिज्ञासा" (कर्म एवं कर्मफल पृ. ५४) का कथन है कि यदि इस जीवन में सुख दुःख भोगने का कारण

हम न देख पाएं, तब पूर्व जन्म में उसके अनुरूप कर्म निश्चय किए होंगे (बांग्ला ग्रन्थ)। डॉ. काणे ने "धर्म शास्त्र का इतिहास" (पंचम भाग अध्याय–३५) में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त की विस्तृत समीक्षा की है। उनका मत है कि "इस सिद्धान्त ने सहस्रों वर्षों तक कम से कम उपनिषद् काल से संपूर्ण भारतीय चिन्तन, सभी हिन्दुओं, बौद्धों, जैनों को प्रभावित किया है। कर्म ही जन्म-जन्मान्तर का हेतु है। यथा,

लब्धा निमित्तम् व्यक्तं व्यक्ताव्यक्त भवत्युत ।
यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥

अब तो पश्चिम में भी परामनोविज्ञान के अनुसंधानों और जैविक सिद्धान्तों ने पुनर्जन्म की नूतन व्याख्या और उसकी संपुष्टि की है। भारतीय चिन्तनधारा में ही नहीं, पश्चिम में भी हेरोडोटस, पेथोगोरस ने पुनर्जन्म पर आस्था रखी। प्लेटो पूर्व और उत्तर जन्म में विश्वास करता था। एम्पीडकिल्स ने अपने पूर्व जन्मों का विवरण तक दिया था। कुछ विदेशी लेखकों की यह भ्रान्त धारणा रही है कि भारत में उपनिषदों के पूर्व वैदिक वाङ्मय में पुनर्जन्म की मान्यता प्राप्त नहीं होती (दृष्टव्य गफः फिलासफी आफ दि उपनिषद एवं जी. डब्लू ब्राउन आदि के लेख)। वस्तुतः पुनर्जन्म का तात्विक विवेचन जितना भारत में हुआ है, उतना अन्यत्र किसी देश में नहीं। यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि षट्दर्शनों में एक दूसरे की मान्यताओं का विरोध-प्रतिकार मिलता है, पर सबने प्रायः कर्म व पुनर्जन्म को स्वीकार किया। बौद्ध और जैन धर्म तो इसमें अटूट विश्वास करते हैं। शतपथ ब्राह्मण की भृगु आख्यायिका, उसमें प्रयुक्त पुनर्जन्म-पूर्वजन्म आदि के प्रचुर प्रयोग आवागमन के प्रमाण हैं। उपनिषदों में मरणोपरान्त आत्मा का देवयान-पितृयान मार्गों से जाना बताया है, कठोपनिषद् में नचिकेता का तीसरा वर है– मैं किस प्रकार पुनर्जन्म दूर करूं ? यमाचार्य पूर्वजों की महायात्रा का भी उल्लेख करते हैं।

योनि मन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म तथा श्रुतम् ॥५-७॥

छांदोग्य श्रुति में आत्मा की "जायस्व-म्रियस्व" गति है। श्वेताश्वतर, प्रश्न, मुण्डक, ऐतरेय उपनिषदों में भी पुनर्जन्म का विवरण है। श्रीमद्भगवद्गीता में तो जन्म-जन्मांतर का प्रचुर वर्णन श्री कृष्ण ने किया है "जातस्य हि ध्रुवोमृत्यु, ध्रुव जन्म मृतस्य च" यह शाश्वत सिद्धान्त है। कुछ संदर्भ उसमें ये हैं (अध्याय ४-५, ७-८, ८-१६, १८-२१ आदि)। आदि शंकराचार्य कहते हैं "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं, पुनरपि जननि जठरे शयनम् ।" श्री शुक विरचित द्वादशाक्षर स्तोत्र में प्रार्थना है–

गतां गतेन श्रान्तोऽस्मि दीर्घ संसार वर्त्मसु ।
पुनर्नागन्तु विच्यामि त्राहि मां मधुसूदनम् ॥

अन्यत्र कहा गया है "विष्णु पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।" यह भी कहा गया है कि रथारूढ़ वामन के दर्शन पर पुनर्जन्म नहीं होता "रथारूढ़ वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते" ज्योतिषाचार्य वराह मिहिर ने वृहज्जातक (२५-१५) में नवमेश व पंचमेश से पूर्वजन्म और परलोक पर विचार किया है। चार्वाक व लोकायत को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों ने पुनर्जन्म को स्वीकार किया। न्यायसूत्र कहता है "ईश्वरः कारणं कर्माफलस्य दर्शनात् (४) न्यायसूत्र तो नवजात शिशु के मुख पर हर्ष, शोक, भय को पूर्व जन्म का कारण गिनता है (३.१.१६)। वैशेषिक में चौबीस गुणों में अदृष्ट के कारण जीव का आवागमन अनादि है। सांख्य दर्शन ने धर्माधर्मरूपी संस्कार (पंच क्लेशों से क्लिष्ट वृत्ति) को आशय, वासना, कर्म कहा है। कैवल्य पद ही मोक्ष है। प्रशस्तपाद विज्ञान दीपिका में संचीयमान प्रारब्ध, संचित कर्म के विवेचन का आधार जन्म-जन्मान्तर गिनते हैं। उन्होंने पेट और अन्न के प्रतीक से यह समझाया है। वामदेव भट्ट ने जन्म मरण विचार में कहा है कि आतिवाहिक शरीर "मृत से आगामी शरीर का द्वार है–यान कैवल्योपनिषद (१-१४) कहता है–

जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।
पुनश्च जन्मान्तर कर्मयोग योगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः॥

बौद्ध धर्म भी पुनर्जन्म में विश्वास करता है। जातक कथाएं इसका प्रमाण हैं, वे बुद्ध के पूर्व जन्म भी कथाएं हैं। स्वय बुद्ध ने कहा कि उनके पैर में चुभने वाला कांटा पूर्वजन्म के प्राणि बध का विपाक था। धम्मपद में बुद्ध ने पुनर्जन्म के संबंध में अनेक गाथाएं दी हैं। उन्होंने यमलोक का भी वर्णन किया है। पुष्फवग्गो में (१-२) उन्होंने स्पष्ट कहा कि पुण्य कर्म झील की भांति कर्दम रहित रहता है एवं आवागमन से मुक्त हो, निर्वाण प्राप्त कराता है। आधुनिक चिन्तकों के लिए यह मत ध्यातव्य है। श्री अरविन्द चेतना के साथ-साथ अतिमानव की अवतारणा में विश्वास रखते थे (ओवर माइन्ड एवं सुपर माइन्ड)। स्वामी विवेकानन्द ने कर्म सिद्धान्त की मार्मिक विवेचना की है। वे कहते हैं "प्रत्येक क्रिया प्रतिक्रिया बनकर पुनः हमारे पास आती है। उसी प्रकार हमारे कार्य अन्य मनुष्यों को भी प्रभावित करते हैं।" एलडुअस हक्सले ने तो देहान्तर सिद्धान्त का समर्थन किया है। भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी पुनर्जन्म की मान्यता सिद्धान्ततः स्वीकृत है। बेबिलोनियन निवासी मरणोपरान्त व्यक्ति की देह का आलेपन करते थे कि वह पुनः स्वर्ग में अवतीर्ण होगी। अवेस्ता में स्वर्ग और नरक का वर्णन मिलता है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो व पेथोगोरस का पुनर्जन्म में विश्वास था। मेक्सिको के प्राचीन निवासी भी पुनर्जन्म में आस्था रखते थे। सीरियन सम्प्रदाय "बार्डिसनीज" का सूक्ष्म शरीर में विश्वास था। दक्षिण अमेरिका के निवासी आवागमन में विश्वास रखते थे। इस्लाम धर्म में रफजिया व इसमाईली सम्प्रदाय कर्मवाद व पुनर्जन्म को मानते थे। सूफी जलालुद्दीन कहता है–

जा कि गर्वामहम चू जां खुश आगदस्ता ।
मर्गमन दरवास चंग अन्दर जदस्त ॥

अर्थात् मृत्यु मुझे जीवन के सदृश प्रिय है–उसके बाद मुझे पुनः जीवन प्राप्त होगा। यों इस्लाम अपने मूल सिद्धान्त में पुनर्जन्म स्वीकार नहीं करता। ईसाई धर्म के संबंध में स्वामी प्रेमानंद कहते हैं, ईसाई धर्म के प्रथम प्रचलन के समय प्रधान प्रचारक पुनर्जन्मवाद को मानते थे, परन्तु मध्यकाल में इसे अस्वीकार कर दिया और इसमें विश्वास करने वालों को "श्रापित" कहा। मैं यहां उन विदेशी विद्वानों का सविस्तार उल्लेख नहीं करके केवल यही कहूँगा कि स्पिनोजा, हर्टली प्रीस्टले, लिबनिज, इमर्सन, वाल्टमिटमेन, गेटे सभी पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। कवियों की तो लम्बी सूची है। तिब्बती लामा गोविन्दजी ने अपने गुरु टोमोगिले रिमपूछे के पुनर्जन्म का उनकी भविष्यवाणी के आधार पर वर्णन भी किया है। जैन धर्म का तो कर्मवाद के साथ-साथ यह आधारभूत सिद्धान्त है, जिस पर आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि ने सविस्तार वर्णन किया है। आधुनिक परामनोविज्ञान की महत्वपूर्ण उपलब्धि मुमुर्षु का दिव्य दर्शन एवं परकाया प्रवेश हैं। यों योग दर्शन, योगवासिष्ठ, भोजवृत्ति, तंत्रागमों में भी परकाय प्रवेश का वर्णन है। तत्व वैशारदी व योग वर्तिका में परकाय प्रवेश की पद्धति भी बतायी गयी है। भारतीय वाङ्मय में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। शंकराचार्य, राजा शिखिध्वज की पत्नी चूड़ाला की कथा तो विख्यात है। आलिवर लाज, मोशिये हुरावेल, तिब्बती लामाओं के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने यह सिद्धि प्राप्त की थी। (दृष्टव्य साप्ताहिक हिन्दुस्थान–१७.५.१९५९ में जनरल एल. पी. फेबेल का संस्मरण)। डब्लू.टी.स्टीड द्वारा परलोकगत जूलिया की मरणोपरान्त अवस्था का वर्णन स्वामी प्रेमानन्द ने दिया है। इसी प्रकार हेमेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रमोदशंकर भट्ट (धर्मयुग–२४.७.१९६६) ने भी प्रमाण दिए हैं। सद्यः प्रकाशित ग्रन्थ "दि आवर आफ डेथ" (कार्लस ओसिस) में मरते समय व्यक्ति की अवधारणाओं व दूतों का प्रामाणिक चित्रण किया है। भारतीय मनीषा ने यह स्पष्ट घोषणा की कि मनुष्य के जीवन में दो "क्षण" सर्वाधिक महत्व रखते हैं–जब प्राण का प्रथम स्पन्दन होता है और तदनन्तर जब उसका प्रयाण और निष्क्रमण। प्रथम क्षण में ही उसके जीवन की समग्रता अंकित होती है और अंतिम क्षण में भी मुक्त जीवन की। गीता में भी श्रीकृष्ण ने यही कहा कि मृत्यु के समय जैसी भावना होगी, वैसा ही अगला जन्म होगा। आज परामनोविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान टाइरेल, विलियम कुत्स, जान रेण्डेल प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हैं।

आधुनिक जैविक विज्ञान के सिद्धान्तों ने भी मनुष्य की आनुवंशिकता पर विचार करते हुए "जीन" की सार्थकता और महत्ता निर्विवाद बतायी है। मेंडेल के अनुसंधान के पश्चात् आज वैज्ञानिक इस सत्य पर पहुंचे हैं कि जीन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी

तक व्यक्ति की सूचनाएं देते रहते हैं और यह एक शृंखलाबद्ध "मोलिक्यूल" का प्रवाह है। परम्परा रक्ताश्रित और विशिष्ट होती है। किसी भी व्यक्ति का विकास अनेक स्तरों पर क्रमशः होता है, जिनमें पर्यावरण के साथ "एमीनोएसिड" का भी हाथ रहता है। "क्रोमोसोम" ही अनुवांशिकता का निर्माण करते हैं। इस प्रकार "जीन" ही आनुवंशी परम्परा का मूल तत्व व सूत्र है।

आधुनिक विज्ञान के संबंध में कुछ नए तथ्य आज भी हमारे सामने हैं। विद्वानों की धारणा है कि इलोक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन, पोजीट्रोन आदि जैन धर्म के "पुदगल-परमाणु" के ही रूप है। वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि परानीहारिका (पैरागेलेक्सी) में पहले द्रव्य और प्रतिद्रव्य विद्यमान थे। आज विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि विश्व में किसी भी पदार्थ की विनष्टि नहीं होती। उसका अलक्ष्य पर निरन्तर रूपान्तरण होता रहता है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि प्रत्येक कार्य की प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार कर्म की भी प्रतिक्रिया होती है और वह अनवरत चलती रहती है। इस संबंध में अधुनातन अनुसंधान "सुपर स्ट्रिंग्स" का भी उल्लेख करना उचित है। वैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि समस्त सृष्टि सूक्ष्मातिसूक्ष्म "कण" से निर्मित है, जो अणु का एक खरबांश है, उससे भी कम। यह वैज्ञानिक तथ्य जैन सिद्धान्त के कर्म-वर्गणा को और पुष्ट करता है। इस सम्बन्ध में किरियन फोटोग्राफी का भी उल्लेख उचित है, जिसने यह सिद्ध कर दिया कि हमारे शुद्ध आचरण में हमारी प्राणधारा ऋजु होती है और कषाय युक्त होने पर असंतुलित। इस प्रकार हमारे व्यवहार का प्रभाव वातावरण पर तो पड़ता ही है, पर पौधों और लताओं पर भी होता है। यदि हम क्रोध व रौद्र भाव से पौधों को देखेंगे तो वे मुर्झा जाएंगे इसके विपरीत हमारे सौम्य व स्नेहिल व्यवहार से वे अधिक विकसित होंगे। ऐसे और भी उदाहरण प्राप्त हैं।

अब हमें आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। कर्म के लिए अंग्रेजी में "ऐक्सन" और "बिहेवियर" दोनों का प्रयोग मिलता है। एफ. एस. ग्रैजर के मतानुसार कर्म व्यक्ति की भावना पर निर्भर करता है। जब विचारों का वेग भावात्मक और क्रियात्मक होता है, तभी कर्म बनता है। मैक्डूगल के अनुसार मनुष्य का आचरण विविध रूपों में समाज-विज्ञान से संबंध रखता है और वह व्यवहार के रूप में व्यक्त होता है। हिंग्गिंसन कहता है कि मनुष्य का कर्म सोद्देश्य होता है। वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सुख एवं संतोष प्राप्त करना चाहता है। डूमण्ड ने बताया है कि मनुष्य अपने स्वभाव और आचरण (कर्म) से ही बाह्य जगत को प्रभावित करता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के मूल्याकंन में कर्म ही हमारे सम्मुख रहते हैं। गिलबर्ट रिले के अनुसार कर्म मनुष्य के स्वभाव से निष्पन्न होता है। मनोविज्ञान के अनुसार कर्म के दो वर्ग हैं–ऐच्छिक व अनैच्छिक। (संदर्भ –साइकोलोजी : एफ.ए.ग्रैगर पृ. २१६; सोशल साइकोलोजी–विलियम मैक्डूगल पृ. ३०४, जी.डी.

हिग्गिन्सन कृतः साइकोलोजी, मार्गेट ड्रूमण्ड कृत ऐलिमेंट्स आफ साइकोलोजी एवं गिलबर्ट रिले का दि कन्सेप्ट आफ माइन्ड)।

इस वैज्ञानिक संदर्भ में हम कर्म-विज्ञान के अन्तर्गत संस्कार और स्मृति पर भी विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि आज जिस सत्य पर विज्ञान पहुंचा है, उसे कर्म-विज्ञान के विवेचन में हमने संस्कार और स्मृति द्वारा यही तथ्य उद्घाटित किया और संस्कार से ही जातिस्मरता पर भी विचार किया था। "संस्कार" अनुभव है। मेदिनी कोश में उसे "मानस कर्म" कहा है। न्याय में वह एक सूत्र विशेष है, जो त्रिविध होता है–वेगाख्य, स्थिति-स्थापक और भावना । भाषा-परिच्छेद में संस्कार को "अतीन्द्रिय जीव वृत्ति (जीन के समानान्तर) कहा है "संस्कार तत्त्वम्" में वह अदृष्ट विशेष जनक कर्म है। चित्त पर संस्कार के दो रूप होते हैं, कर्म और स्मृति। चित्त पर हमारे भावों और कार्यों का निरन्तर रेखांकन होता है–ये ही मृत्यु के पश्चात् स्मृति-संस्कार बन जाते हैं। (युंग एक प्रकार से इन्हें प्रकारान्तर में सामूहिक अचेतन कहता है–जो सामाजिक होते हुए भी (आद्यबिंब) व्यष्टि में भी विद्यमान रहते हैं।) यह संस्कार वृत्ति ही आधुनिक "जीन" है। चित्त का कोई ज्ञान या चेष्टा होने से उसे "संस्कार" कहते हैं। ज्ञान संस्कार के अनुभव का नाम "स्मृति" है, जिसका एक धरातल अचेतन है। क्रिया संस्कार का नाम स्वतः सम्भूत चेष्टा है। प्रत्येक ज्ञान और क्रियमाण कर्म संस्कारोत्पन्न होते हैं। पातंजल योग सूत्रम् में इन संस्कारों की विशद व्याख्या की गई है। इसके अनुसार ये संस्कार विद्या अथवा अविद्यामूलक होते हैं। संस्कार का रूप "वासना" है, जिसमें केवल "स्मृति" होती है। पतंजलि इसे ही आयु, जाति और भोग की स्मृति कहते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार, "प्रत्यक्ष बुद्धि निरोधेत तदनुसंधान विषयः स्मृतिः" है। अतीतानुभव का अनुसंधान ही संस्कार है। संस्कार–साक्षात्कार का अर्थ है स्मृति या पूर्वज्ञान । जेगीषण्य को संस्कार-साक्षात्कार से पूर्वजन्म के कर्म-परिणाम ज्ञात हुए थे। सामान्य मनुष्य को पूर्व जन्म की स्मृति न रहने के कारणों का भी विवेचन है। फलित ज्योतिष में पूर्वजन्म के किस पाप का फल भोगना पड़ता है, इसका भी उल्लेख है। आचार्य मंगेश्वर का कथन है–

धर्मेश्चरेणैव हि पूर्वजन्म वृतं भविष्यज्जनं सुखेशात ।
सदीश जाति त्वधिष्ठित क्षे दिश हितत्रैव तदीश देशम् ॥

स्वामी प्रेमानन्द के अनुसार साधना के छन्द-कम्पन मनुष्य के चित्त में ही नहीं प्रत्युत वृक्षों और शिलाओं पर भी अंकित हो जाते हैं। कहा गया है "मनोहि जन्मान्तर संगतिम्" मन जन्मान्तर की संगति करने में समर्थ है। (संस्कार व पुनर्जन्म के लिए दृष्टव्य लेखक का निबंध "जातस्य हि ध्रुवोमृत्युः ध्रुव जन्म मृतस्य च" (डॉ. हरवंश लाल शर्मा स्मृति ग्रन्थ)।

कर्म तत्व को लेकर अत्यन्त प्राचीन काल से जैन मनीषी, आचार्य व दार्शनिक विचार करते आए हैं और आज भी उस पर निरन्तर नए-नए अनुसंधान हो रहे हैं। दिगमबर साहित्य के परिप्रेक्ष्य में षट्खण्डागम (गुणस्थान का पूर्ण विकसित रूप) एवं निर्युक्तियों में श्वेताम्बर साहित्य के संदर्भ में प्रचुर विचार किया गया है। उमास्वाति का "तत्वार्थ सूत्र" प्रसिद्ध है। जैन आगमों में आचारांग, स्थानांग, भगवती, विपाक सूत्र आदि में कर्म सम्बन्धी प्रचुर वर्णन उपलब्ध है। श्रीमद देवेन्द्र सूरि का "कर्म ग्रन्थ" (भाग १-६) कर्म विषयक अध्ययन का प्रमुख आकर्षण रहा है। शिवरार्म सूरि का "कर्म प्रकृति" एक सर्वमान्य ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त का विपुल विवरण और अध्ययन प्राप्त है। आधुनिक युग में युवाचार्य महाप्रज्ञ का "कर्मवाद", डॉ. नरेन्द्र भानावत द्वारा संपादित "जिनवाणी का कर्म सिद्धांत विशेषांक", स्व. मधुकर मुनि जी का "कर्म सिद्धान्त," डॉ. सागर मल जैन का "कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन," क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी का "कर्म सिद्धांत" और अब आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि द्वारा रचित यह बृहत् "कर्म विज्ञान" (पांच खण्ड) इस ओर महत्वपूर्ण व युग प्रवर्तक कृतियाँ हैं। आचार्य देवेन्द्र मुनि ने कर्म सिद्धान्त, विज्ञान, तत्व व वाद का सर्वांगीण विवेचन किया है, जिसका एक सूत्र प्राचीन ग्रन्थों की परम्परा से जुड़ा है और दूसरा सूत्र आधुनिक समाजशास्त्रीय, वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन धारा से। जैन धर्म आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी धर्म है, "से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी किरियावादी" (आचारांग १-३)। कर्म का लक्षण है, "कीरइ जिएण्होउहिं" जो जीव के द्वारा किया जाय, वही कर्म है। क्रिया का कर्म स्वतः होता है पर विशिष्ट कर्म स्वतः नहीं। "जेणं तो मण्णाई कम्मं" (आचार्य देवेन्द्र सूरि) पुद्गल वर्गणा के संग्रह का नाम कर्म है। रागद्वेष ही कर्म के बीज हैं, "रागो व दोसो वि य कम्म वीयं।" कर्म का सामान्य लक्षण है "कर्म शब्दस्य कर्मादिषु साधनेषु संभवत्सु इच्छा तो विशेषोऽध्यवसेय। वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण क्षय क्षयोपशम मापेक्षण आत्मानात्म परिणामः पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चय व्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्मः" (राजवार्तिक ६-१७-५०४-२६)। कर्म शब्द कर्ता, कर्म और भाव तीनों में निष्पन्न होता है और विवक्षानुसार तीनों कर्मास्रव के प्रकाश में गृहीत हैं। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा निश्चय नय से आत्म परिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्म परिणाम भी जो किए जाएँ–वे कर्म हैं (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश–भाग-२ पृष्ठ २७)। वैशेषिक दर्शन और जैन दर्शन की परिभाषा में अन्तर यह है कि वैशेषिक परिणमन स्वरूप भावात्मक पर्याय को कर्म न कहकर, क्रियात्मक पर्याय को ही कर्म कहता है। जैन दर्शन दोनों प्रकार के पर्यायों को कर्म कहता है। (वही) आचार्य देवेन्द्र मुनि ने भगवान महावीर के अनुसार "कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति" कहकर कर्म को मोह से उत्पन्न बताया है और उसे कम्मं च जाई मरणस्स मूलं–जन्म

मरण का मूल माना है। पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियां हैं, इन्हें वर्गणाएं कहते हैं। कर्म वर्गणा ही कर्म द्रव्य है और यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में सर्वत्र व्याप्त है। जीव के साथ बद्ध होकर, वह कर्म कहलाता है। आगम के अनुसार शरीर पांच प्रकार के हैं– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इसमें आठ प्रकार के कर्मों का समूह ही कार्मण शरीर है। तैजस और कार्मण शरीर की गति अप्रतिहत होती है "तेयग सरीरा पदेसट्ठाए अणंत गुणा, कम्मग सरीरा पदेसट्ठयाए अमंत गुणा।" इन दोनों का आत्मा के साथ अनादि संबंध है। कार्मण शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। कर्म शरीर से ही पुद्गल चिपकते हैं। यह वस्तुतः तैजस और स्थूल शरीर का सेतु है।

जैन धर्म का कर्मवाद आत्मवाद पर स्थित है। संभवतः विश्व के किसी भी धर्म अथवा दर्शन में कर्म का इतना गम्भीर व व्यापक विवेचन नहीं मिलता, जितना जैन धर्म में। अध्यात्म साधना के सोपान कर्म के आस्रव, संवर और निर्जरा पर आधृत हैं। गुणस्थानों का विकास क्रम इसका एक पक्ष है। कर्म बंध और कर्म फल के अनिवार्य सम्बन्ध का निदर्शन जैन कर्मवाद का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष है। इस पुरोवाक् में हम केवल इस पर एक विहंगम दृष्टि ही डाल सकेंगे। आचार्य देवेन्द्र मुनि ने कर्म विज्ञान का कोई पक्ष अछूता नहीं रखा। व्यावहारिक दृष्टि से जैन कर्म सिद्धान्त मनुष्य के कर्त्तव्यबोध, नैतिक मूल्य, आचार-विचार की श्रेष्ठता के साथ पुरुषार्थ पर आधृत है। जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह, मान, परिग्रह, हिंसा, मिथ्यात्व, स्वार्थ को छोड़कर संयम, स्वाध्याय और सामायिक का वरण करता है, वही अपने पुरुषार्थ से कर्म बंधनों से मुक्त हो सकता है। जिस प्रकार व्यास ने कहा कि–

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयं ।
परोपकार पुण्याय पापाय पर-पीड़नम् ॥

उसी प्रकार हम जैन जीवन दर्शन के लिए कह सकते हैं–

जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहि लुप्पन्ति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहई, नो तस्स मुच्चज्जऽपु द्वयं ॥

–सूत्रकृतांग १.२.१९४

विश्व के समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मों के कारण ही दुःखी हैं। उन्होंने जो भी कर्म किए हैं, जिन संस्कारों की छाप इन पर पड़ी है, उनका फल भोगे बिना या अनुभव किए बिना उनका छुटकारा नहीं। जैन कर्म विज्ञान का यही "आर्य सत्य" है। आचारांग–सूत्र (१.३.१) यही बताता है "कम्मुणा उवाहि जायई" कर्म के कारण ही जीव की नाना उपाधियाँ हैं। महावीर ने कहा "अकर्म कहीं नहीं है। संसारी जीवों में कर्म बीज की भिन्नता से ही उनके भोग होते हैं, स्थितियों में अन्तर है। आचार्य देवेन्द्र सूरि ने "कर्म ग्रन्थ" में इसे अधिक स्पष्ट किया है। मनुष्य की इस भिन्नता का प्रमाण उसका कर्मबंध अथवा कर्मफल है। पंचाध्यायी भी इसी की पुष्टि करता है।

"एको दरिद्र एकोहि श्रीमानिति च कर्मणः ।

मनुष्य की जीवन यात्रा की शुचिता यह है कि वह कर्म से अकर्म की स्थिति में पहुंचे, तत्त्वदर्शी, लोक व्यवहार से परे । आचारांग (१.३.१) यही कहता है "अकम्मस्स ववहारो न विज्जई" अथवा एक कवि के अनुसार–

मैंने वे बंधन तोड़ दिए, जिनसे जीवन संकीर्ण बना ।
वे परिभाषाएं भूल गया, जिनसे मेरा स्वर जीर्ण बना ॥

जब इस सीमा पर पहुंचा तब सीमा का संसार न था। (रामकुमार वर्मा) कवि प्रसाद ने भी कहा है–कर्म का भोग–भोग का कर्म–यही जीवन की अप्रतिहत प्रक्रिया है।

आज विज्ञान पूर्व जन्म के संस्कारों पर बल देता है, उसी प्रकार शताब्दियों पूर्व जैनागमों और आचार्यों ने संस्कार व स्मृति की व्याख्या पर कर्म प्रकृति और बंध पर विचार किया था। जैन दर्शन के अनुसार संस्कारों के अधीन मनुष्य के सब कर्म हैं, जिन्हें वह पूर्वभव और कुछ वर्तमान भव से संचित करता है। जैनशास्त्रों ने गर्भाधान से लेकर ५३ क्रियाओं का विधान किया है। संस्कार की परिभाषा है, "वस्तु स्वभावोऽयं यत् संस्कारः स्मृति बीज मादधति अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही संस्कार है, यही स्मृति का बीज है। शास्त्रकारों की यह धारणा रही है कि शुद्ध ज्ञान-श्रुत ज्ञान के संस्कार शनैः शनैः आत्म संस्कार बनते हैं। आत्म संस्कार से तात्पर्य है "निजपरमात्मनि शुद्ध संस्कार करोति स आत्म संस्कारः अर्थात् शुद्ध संस्कार निज परमआत्म का संस्कार है। यह भी कहा गया है कि अविद्या के द्वारा उत्पन्न संस्कारों से मन विक्षिप्त हो जाता है पर "तदैव ज्ञान संस्कारेः स्वतस्ततत्वेऽवितिष्ठते"–कषायों के द्वारा उत्पन्न संस्कारों के नष्ट न होने पर जीव निरन्तर कर्म बन्ध का कुफल भोगता रहता है। स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर है, वह इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि एवं अहंकार से बनता है। चौदह तत्वों से निर्मित यह सूक्ष्म शरीर मरणोपरान्त आत्मा के साथ जाता है और पुनर्जन्म के साथ लौटता है। आत्मा की कर्म मुक्ति तक यह साथ रहता है और नए जन्म का प्रकार निर्धारित करता है। अतीत कर्मों के स्मृति प्रभाव और चिन्हों को वासना एवं संस्कार कहते हैं। यहां संस्कार से तात्पर्य है चिन्ह, प्रभाव, क्रिया तथा रूप । संस्कार दो प्रकार के होते हैं। स्मृति क्लेश रूपी जिन्हें ज्ञानज संस्कार कहा है। कर्म विपाक के संस्कारों को "वासना" कहते हैं, "द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृति क्लेश हेतुवो वासना रूपाः विपाक हेतवो धर्माधर्म रूपाः (व्यास भाष्य ३.१८) वासनाएं, अवचेतन अचेतन में पड़े हुए प्राचीन संस्कार होने से मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ, स्वभाव व रुचियों के भेद के लिए उत्तरदायी हैं। पुनर्जन्म में चित्त इन वासनाओं से जकड़ा हुआ होता है (भारतीय मनोविज्ञान डॉ. लक्ष्मी शुक्ला के आधार पर) स्मृति का बीज संस्कार है। पूर्व संस्कार के कारण प्रकट स्मरण को "स्मृति" कहते हैं।

जैन धर्मानुसार कर्म बंध आस्रव से होता है और इसका फल भोगना अनिवार्य है। संवर से नए कर्म का आगमन नहीं होता है और निर्जरा से पूर्व संचित कर्म नष्ट होकर व्यक्ति आत्म-सिद्ध बनता है। काय वाङ्मनः आस्रव (तत्वार्थ सूत्र)। पुनः पुण्य पापागम द्वार लक्षण आस्रव । आस्रव द्वार पांच हैं–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। शुभ योग पुण्य और अशुभ योग पाप का आस्रव है। श्री लोकाशाह चरितम् (४.३५) में कहा गया है छिद्रान्विते यथा वारिघटे विशति तत्स्थितेः। जीवे मिथ्यादृगादिभ्यो विशति कर्म पुदगलाः ॥

संवर की परिभाषा है "आस्रव निरोधः संवरः।" अन्यत्र इसे यों कहा गया है "कर्मागमनिमित्ता प्रादुर्भूतिराश्रव निरोध। भगवती आराधना के अनुसार निर्जरा से तात्पर्य है–"पुव्व कदकम्म स हणं तु निर्जरा। अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है "निर्जरणं निर्जरा, विशरण परिशटनमित्यर्थः अर्थात् आत्म प्रदेश पर कर्मों का निर्जरणा समाप्त होना निर्जरा है। वह अष्ट कर्मों को दूर करती है–निर्जरा के भी द्वादश भेद स्थानांग सूत्र (ठाणा–१) में बताए गए हैं। आचार्यों ने तप और निर्जरा का संबंध बताते हुए कहा है कि तप कारण है, निर्जरा कार्य है। निर्जरा के यों दो भेद सकाम निर्जरा व अकाम निर्जरा बताए गए हैं। आत्मा को क्लेश, कषाय और कर्म से मुक्त करने के ये सोपान हैं। जैन धर्म ने मनोवैज्ञानिक पद्धति से मनुष्य को कर्ममुक्त करके निर्वाण की ओर अग्रसर किया है। भगवान महावीर ने कर्म को ही मनुष्य के उच्च व नीच होने का आधार गिना। जन्मना सब मनुष्य समान हैं–केवल कर्म से ही वे उच्च और नीच होते हैं–यह एक जड़ परम्परा और मान्यता के विरुद्ध सशक्त और सफल क्रांति थी। उनका उद्घोष था कि कर्म से ही ब्राह्मण होता है, जन्म से नहीं (कम्मुणा बम्भणो होई) जिस मूल सिद्धान्त पर जैन कर्मवाद विवेचित है, वही प्रायः किसी न किसी रूप में सर्वत्र मान्य रहा है। कर्मों का फल अनिवार्य है। जन्म जन्मांतर तक संस्कारों का प्रवाह निरन्तर चलता है। कर्मफल प्राप्त होगा ही। चाणक्य नीति कहती है, कर्मायतं फलं पुंसा बुद्धि कर्मानुसारिणी (१३.१०)। यह भी स्वयं सिद्ध सत्य है कि प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मों के बंधन से मुक्त होना है–वह उसका पुरुषार्थ है। अन्य कोई उसे जीवन के परम लक्ष्य तक नहीं ले जा सकता "अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य" अन्यत्र भी यही कहा गया है। "स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।" जैन कर्म विज्ञान की एक और विशेषता कर्मों का वर्गीकरण है (उत्तरा. अ. ३३) व स्थानांग सूत्र के अनुसार कर्म की आठ मूल प्रकृतियां हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय (८.३.५७६) देवेन्द्र सूरि ने कर्म विपाक में इन्हीं की विवेचना की है। इन्हीं से कर्म बंध होता है जिन्हें भोगना ही पड़ता है–

जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तंमि तंमि समए सुहासुहं बंधए कम्मं ॥(उपदेशमाला २४)

उत्तराध्ययन में बार-बार प्रभु ने यही देशना दी। (४/३, इत्यादि) कर्म के विभिन्न भेद भी जैनाचार्यों की तात्त्विक दृष्टि के प्रमाण हैं। द्रव्य और भाव कर्म मुख्य दो वर्ग है। कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्य भाव विकल्पतः" यों कार्तिकेयानुप्रेक्षा में(९०)पुण्य और पाप रूप कर्मों के दो भेद बताए हैं "कम्मं पुण्णं पावं। पुण्य कर्म शुभ होते हैं और पाप अशुभ। द्रव्य वर्गणा दो प्रकार की हैं, कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणा। जीव के द्रव्य कर्म हैं, वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं। भाव कर्म वे हैं, जो आत्मा से अभिन्न रूप से स्ववेद्य प्रतीत होते हैं। वे क्रोधादि रूप हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक और तैजस नाम कर्म के उदय से चार प्रकार के शरीर के कर्म हैं। पाँचवाँ कार्मण शरीर ही कर्म रूप है। जीव के साथ कर्म बंध इस प्रकार वर्णित है–स्पृष्ट बंध, बंध बंध, निकाचित बंध, निधत्त बंध। यों तो जीव कर्म बंध करने में स्वतंत्र है पर बंध के उपरान्त वह अपना स्वातंत्र्य खो देता है। पुद्गल परमाणुओ के पिण्डरूप कर्म द्रव्य कर्म हैं और उनके निमित्त से होने वाले राग-द्वेष भाव कर्म हैं। "पोग्गल पिंडो दव्वं तस्सती भाव कम्मं तु। इस विषय पर अधिक न जाकर केवल कषायों से रक्षा के उपाय का उल्लेख करना अपेक्षित है। भगवती आराधना में कहा है, उपशम, दया और निग्रह रूपी तीन शस्त्रों द्वारा कषाय रूपी चोरों से रक्षा होती है। विशुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्र मयमुज्ज्वलम्। यो ध्यायत्यात्मनात्मनं कषायं क्षपयत्यसौ (योग सार अमितगति) जय धवला (१-४-९४) कर्म बंधों के लिए कहता है, हिंसा से कर्म बंध होता है, कोई जीव मरे या न मरे निश्चय दृष्टि का यही स्वरूप है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं "कामादिप्रभश्चित्तः कर्म बन्धानुरूपतः" (आत्म मीमांसा) युवाचार्य महाप्रज्ञ ने "प्रज्ञापनासूत्र" के अनुसार कर्म विपाक की पांच शर्तें बतायी हैं–वे हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव एवं उनका गंभीर विवेचन किया है (कर्मवाद पृ. ७९) विशेष दृष्टव्य समणसूत्रं–ज्योतिर्मुख–गाथा ५२-५४ आत्मा का कर्म मुक्त होना ही मोक्ष है। वही मानव जीवन का अंतिम साध्य है, क्योंकि आत्मा निर्मल तत्व है–शुद्ध है–एक स्वरूप है, जो अशुद्धता है, विरूपता व विभेद है, वे पर्याय दृष्टि से हैं "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" (द्रव्य-संग्रह) "एगे आया"(स्थानांग सूत्र) अपने प्रसिद्ध बांग्ला ग्रन्थ "भारतीय दर्शन में मुक्तिवाद" में प्रसिद्ध विद्वान डॉ. विजय भूषण वन्दोपाध्याय कहते हैं "जैन दर्शनानुसार जीव सकल दुःखों का अन्त कर सकता है–यह दुःखान्त अवस्था ही निर्वाण है–जीव सिद्धि लाभ करता है, ज्ञान लाभ करता है, परिनिर्वाण लाभ करता है एवं सभी दुःखों का अन्त करता है–वही मोक्ष है। केवलज्ञान सम्पन्न निरहंकार, वीतराग, अनास्रव एवं शाश्वत परिनिश्च, जन्म जरामयमरण, शोक दुःखभय से परिमुक्तावस्था ही निर्वाण है" (पृ. १५४) मोक्ष, कर्म से मुक्ति है और निर्वाण सिद्धि। डा. ग्लासेनाप्प ने अपने ग्रन्थ "जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त (Doctrine of Karma in Jain Philosophy पृ. ७) में जैन मुक्ति लाभ के विषय में जो शंकाएँ उठायी हैं। (क्या जीव अल्प या अधिक काल के लिए मुक्ति लाभ करता है)

उसका उत्तर डॉ. वंदोपाध्याय ने दे दिया है। उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को सम्मिलित रूप से मोक्ष मार्ग कहा है।

यह पुरोवाक् आचार्य देवेन्द्र मुनि के कर्म विज्ञान (चारों भाग) का एक संक्षिप्त प्रारूप है। कर्म विज्ञान में आचार्यश्री ने कर्म तत्व की जो सर्वांगीण और व्यापक विवेचना की है, वह जैन कर्म सिद्धान्त का समग्रभावेन अध्ययन है। आचार्य श्री ने वैचारिक ऊहापोह और सैद्धान्तिक वैमत्य में न जाकर, वस्तुनिष्ठ और विवेक संगति से प्रमाण पुष्ट प्रस्तुति की है। उन्होंने आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि से प्रारंभ कर विभिन्न पक्षों और संदर्भों से इसका प्रतिपादन किया है। प्रमाणनयतत्वालोक (प्र-५५-५६) के प्रसिद्ध कथन "प्रमाता प्रत्यक्षादिः प्रसिद्ध आत्मा। चैतन्य स्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता, स्वदेह परिमाण प्रतिक्षेत्र भिन्न पौद्गलिका दृष्ट्वाश्चायम्" उद्धृत करते हुए उन्होंने कर्म अस्तित्व के मूल आधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर विचार किया है। आगे बढ़ते हुए "कर्मवाद का आविर्भाव" अध्याय में शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से "अप्पा सो परमप्पा" की विवेचना की है। इसके साथ ही कर्मवाद के विरोधी मतों का भी विवरण देते हुए जैन धर्मोक्त सिद्धान्तों की संपुष्टि की है। कर्म के विभिन्न अर्थ और रूप उनकी विद्वत्ता का परिणाम है। इसी प्रकार गीता के कर्म, विकर्म और अकर्म अध्याय तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं, यही स्थिति सकाम निष्काम कर्म की है। कर्म-विज्ञान का दूसरा खण्ड मूल्यांकन और आलोचनात्मक है, जिसमें उपयोगिता, महत्ता और विशेषता की दृष्टि से कर्मवाद पर सविस्तार विचार किया गया है। कर्मवाद और समाजवाद की विसंगति और संगति की भी मीमांसा की गई है। यह खण्ड कर्म सिद्धांत की वास्तविकता और अर्थवत्ता का प्रामाणिक और वैज्ञानिक अध्ययन है। तृतीय खण्ड में आस्रव और संवर का अध्ययन है, जिसमें तत्सबंधी सभी पक्ष और आयाम दिए गए हैं। चतुर्थ भाग कर्मबंध का संश्लिष्ट और विशिष्ट अध्ययन है, इसमें कर्म बन्ध पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। इस प्रकार चार खण्डों में कर्म विज्ञान एक ऐतिहासिक ग्रन्थ बन गया है।

किसी ग्रंथ की रचना अनुबंध चतुष्टय से प्रमाणित होती है। अनुबंध चतुष्टय के लिए कहा गया है–

ज्ञातार्थ ज्ञात सम्बन्धः श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

अधिकारी, विषय, संबंध और प्रयोजन–यही अनुबंध चतुष्टय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अधिकारी वे हैं, जिन्हें जैन धर्म के कर्म विज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अन्य धर्मों के परिप्रेक्ष्य में, उनका सही मूल्यांकन करना है। विषय स्वतः स्पष्ट है। ग्रन्थ का शीर्षक "विज्ञान" है। विज्ञान का अर्थ है, निपुणता, शास्त्रादि का ज्ञान–विशेष ज्ञान (संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ) इसके अनुसार यह शीर्षक विषय प्रतिपादन के कारण

"सिद्धान्त" वाद आदि से भिन्न पड़ता है। वैज्ञानिक पद्धति निगमनात्मक व आगमनात्मक दोनों होती है। "कर्म विज्ञान" की भी यही रचना-पद्धति है। ग्रन्थ का संबंध जैन धर्म और दर्शन के साथ-साथ तुलनात्मक स्तर पर कर्म का विवेचन करना है। आधुनिक चिन्तन धारा की यही विशेषता है कि ऐसे महत्वपूर्ण विषय का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये। इसके साथ-साथ आचार्यश्री ने कर्म पर उपलब्ध प्रायः सभी आगम व अन्य ग्रन्थों का संदर्भगत प्रासंगिक व मौलिक उपसंग्रहण किया है। अंतिम अनुबंध चतुष्टय प्रयोजन है। ऐसी रचनाएं स्वान्तः सुखाय होने के साथ-साथ बहुजन हिताय भी होती हैं। इनका उद्देश्य होता है विषय प्रतिपादन के साथ-साथ उसकी ऐसी विवृति, जो विषय की व्यापक परिधि में उसके सर्वांगीण निरूपण से अनुसंधान की प्रक्रिया में एक प्राणाणिक संदर्भ ग्रन्थ बन सके। कर्म पर विपुल ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किसी भी अध्येता के लिए उन सबका अध्ययन दुष्कर और दुर्लभ है। मेरी धारणा है कि "कर्म विज्ञान" एक ऐसा मापक ग्रन्थ है, जिसमें इन सभी ग्रन्थों का सार समाविष्ट किया गया है, और साथ में नूतन उद्भावनाएं भी प्रस्तुत हैं।

आचार्यश्री देवेन्द्र मुनि एक प्रज्ञापुरुष हैं उनका श्रमण अधीत और अनुपम विद्या संपन्न, एवं ज्योतिर्मय है। मेरा विश्वास है कि "कर्म विज्ञान ग्रन्थ" उनके कृतित्व का अनुपम उदाहरण तो है ही पर साथ में जैन धर्मगत कर्म का सर्वांगीण आलोचनात्मक मौलिक, मूल्यांकन भी है। मैं उन्हें अपनी सश्रद्ध प्रणति देता हूँ।

● ●

विषय-सूची

सप्तम खण्ड

कर्मबन्ध की सार्वभौम व्याख्या

क्र. सं.	शीर्षक	पृष्ठ
१.	कर्मबन्ध का अस्तित्व	३
२.	दु:ख–परम्परा का मूल: कर्मबन्ध	१७
३.	कर्मबन्ध का विशद स्वरूप	२६
४.	कर्मबन्ध : क्यों, कब और कैसे?	३७
५.	कर्मबन्ध का मूल स्रोत : अध्यवसाय	५८
६.	कर्मबन्ध के बीज : राग और द्वेष	७९
७.	कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण : मिथ्यात्व	९९
८.	कर्मबन्ध के मुख्य कारण : एक अनुचिन्तन	१२०
९.	बन्ध के संक्षेप-दृष्टि से दो कारण : योग और कषाय	१३४
१०.	कर्मबन्ध की मुख्य चार दशाएँ	१४३
११.	कर्मबन्ध के प्रकार और स्वरूप	१५५
१२.	कर्मबन्ध के अंगभूत चार रूप	१७२
१३.	प्रदेशबन्ध : स्वरूप, कार्य और कारण	१८५
१४.	प्रकृतिबन्ध : मूल प्रकृतियाँ और स्वरूप	१९७
१५.	मूल प्रकृतिबन्ध : स्वभाव, स्वरूप और कारण	२०९
१६.	उत्तरप्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण–१	२४७
१७.	उत्तरप्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण–२	२७९
१८.	उत्तरप्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण–३	२९३
१९.	उत्तरप्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण–४	३३५
२०.	उत्तरप्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण–५	३५७
२१.	घाती और अघाती कर्म–प्रकृतियों का बन्ध	४००
२२.	पाप और पुण्य कर्म–प्रकृतियों का बन्ध	४१७
२३.	रसबन्ध बनाम अनुभागबन्ध : स्वरूप और परिणाम	४४३
२४.	स्थितिबन्ध : स्वरूप, कार्य और परिणाम	४७३
	परिशिष्ट: प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची	५०६

कर्म विज्ञान

सप्तम भाग

१

कर्मबन्ध का अस्तित्व

सजीव-निर्जीव वस्तुओं का परस्पर बन्ध : प्रत्यक्षगोचर

संसार में सर्वत्र ईंट, सीमेंट आदि पदार्थ मकान के रूप में बंधे हुए प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। अनेक कागजों को परस्पर मिलाकर, उन्हें सीं कर और चिपका कर पुस्तक की जिल्द बांधी जाती है; यह कागजों का परस्पर बन्ध भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार एक जमींदार के घर में घोड़ा, गाय, भैंस आदि पशु रस्सी के द्वारा खूंटों से बंधे हुए नजर आते हैं। आटा, पानी आदि मिल कर गूँदने से एक पिण्ड बंध जाता है और उसकी रोटी बनती हुई हम देखते हैं। इसी प्रकार संसार में अगणित चीजें बंधी हुई प्रत्यक्ष मालूम होती हैं।

यही नहीं, अध्यापक अध्यापन-कार्य से, वकील वकालत के पेशे से, व्यापारी अपने मनोनीत पदार्थ के व्यापार से, किसान कृषि से और चिकित्सक चिकित्सा-कार्य से बंधे होते हैं। मां अपनी संतान के पालन-पोषण के लिए बंधी होती है। इसी प्रकार कई लोग अमुक-अमुक सजीव (परिवार, समाज आदि के सदस्यों) तथा निर्जीव (धन, सम्पत्ति, मकान, दूकान, कार, बंगला आदि) पदार्थों (द्रव्यों) के प्रति ममत्ववश बंधे होते हैं। अधिकांश लोग अमुक-अमुक क्षेत्र (ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि) के प्रति मोहवश बंधे रहते हैं। कई लोग अमुक काल से बंधे होते हैं। दफ्तर, दूकान, सर्विस आदि पर पहुँचने के लिए वे समय से बंधे होते हैं।

इसी प्रकार कई वस्तुएँ भी समय से बंधी होती हैं; जैसे–रेलगाड़ी, बस, विमान, रेडियो-प्रसारण, टाईमबम आदि।

संसार में विवाहित स्त्री-पुरुष प्रणयभाव से, माता-पुत्र वात्सल्यभाव से, गुरु-शिष्य उपकार्य-उपकारक भाव से तथा नौकर-मालिक स्वामी-सेवक भाव से बंधे हुए होते हैं। इस प्रकार विभिन्न कोटि के व्यक्ति परस्पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से परस्पर सम्बद्ध और प्रतिबद्ध देखे जाते हैं।

आत्मा के साथ कर्मों के बन्ध के विषय में शंकाशील मानव

ये सब वस्तुएँ एक दूसरे के साथ बन्धन के रूप में प्रत्यक्ष बद्ध दिखाई देती हैं, किन्तु जीव (आत्मा) के साथ कर्मबन्ध चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, इस कारण कतिपय नास्तिक, अविश्वासी, अश्रद्धालु तथा संशयशील मस्तिष्क वाले व्यक्ति कर्मबन्ध का अस्तित्व नहीं मानते। उनका कहना है–मिट्टी और पानी के सम्बन्ध से घट, तन्तुओं के परस्पर सम्बन्ध से पट आदि की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध या बन्ध प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। फिर अमूर्त आत्मा (जीव) का मूर्त जड़ कर्मों से बन्ध कैसे हो सकता है? इन और ऐसे ही कुतर्कों के आधार पर वे लोग कर्मबन्ध का अस्तित्व मानने से इन्कार करते हैं।

संकटापन्न स्थिति में उनके द्वारा कर्मबन्ध का स्वीकार

किन्तु वे ही महाशय अथवा पापकर्मी, स्वच्छन्दाचारी नास्तिक जब चारों ओर से किसी अपरिहार्य संकट, असह्य कष्ट, दुःसाध्य व्याधि अथवा किसी विपत्ति से घिर ही जाते हैं, अथवा किसी स्वजन के वियोग से संतप्त होते हैं, या पापकर्मग्रस्त व्यक्ति स्वयं कदाचित् मरणासन्न स्थिति में होते हैं। चारों ओर से हाथ-पैर मारने, अथवा अनेक उपाय करने पर तथा पैसा पानी की तरह बहा देने पर भी जब उक्त संकट, कष्ट, रोग, संताप, विपत्ति एवं स्थिति आदि का निवारण नहीं होता, प्रश्न उलझता जाता है, तब वे ही लोग कर्मबन्ध के अस्तित्व को एक या दूसरे प्रकार से स्वीकार करते देखे गए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसे ही लोगों के मानस का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है–"इसके अनन्तर जब वह अज्ञानी जीव किसी आतंककारी रोग-विशेष के कारण ग्लान होकर परितापं पाता है, तब अपने बांधे हुए कर्मों का अनुप्रेक्षण (अन्वेषण-मनन) करता हुआ परलोक (में प्राप्त होने वाले दुःखों) की भीति से भयभीत हो जाता है।"

"अपने बांधे हुए कर्मों के अनुसार उन-उन (नरकादि) स्थानों में जाने वाला वह अज्ञानी जीव बाद में पश्चात्ताप करता है कि नरक में उत्पन्न होने के स्थान (कारण) जैसे मैंने सुने हैं,–श्रवण करके निश्चित किये हैं (वे बहुत ही भयंकर हैं।)"[1]

इसी प्रकार अज्ञानी जीवों या कर्मबन्ध को न मानने वाले व्यक्तियों को बाद में कर्मबन्ध का अहसास होता है और वे उनके कारण भविष्य में प्राप्त होने वाले दुःखद फलों का अनुमान करके पछताते हैं, अथवा वर्तमान में उनके कारण प्राप्त हुए घोर परितापकारी फलों को देखकर दुःखित होते हैं।

---

१. (क) तओ पुट्ठो आयंकेण, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो ॥

(ख) तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मेऽयमणुस्सुयं ।
अहाकम्मेहिं गच्छंतो, सो पच्छा परितप्पई ॥ –उत्तराध्ययन ५/११,१३

आप्त सर्वज्ञ महापुरुषों द्वारा कर्मबन्ध का प्रत्यक्षीकरण

कोई व्यक्ति पूर्वाग्रहवश या हठाग्रह-ग्रस्त होकर चर्म-चक्षुओं से न दिखाई देने वाली किसी वस्तु के अस्तित्व को नहीं मानता, इतने से ही उस वस्तु के सद्भाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। उन वस्तुओं को आगम (आप्तवचन), अर्थापत्ति अथवा अनुमान के आधार पर मानना ही पड़ता है। अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न सर्वज्ञ वीतराग आप्त पुरुषों ने तो कर्मबन्ध को हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह प्रत्यक्ष देखा है, देखते हैं, अनुभव भी किया है, करते हैं। उन वीतराग सर्वज्ञ आप्तपुरुषों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत कर्मबन्ध को कैसे झुठलाया जा सकता है? पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में वीतराग सर्वज्ञ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने स्पष्ट कहा है–"मैं तुम्हारे समक्ष अष्टविध (बद्ध होने वाले) कर्मों का क्रमशः प्रतिपादन करुंगा; जिन (कर्मों) से बंधा हुआ यह (संसारी) जीव संसार (जन्म-मरणरूप संसार) में बार-बार पर्यटन परिभ्रमण करता है।"[1]

उन वीतराग सर्वज्ञ आप्त-पुरुषों के वचनों पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि उन्हें असत्य कहने में कोई भी, किसी भी प्रकार का स्वार्थ, लोभ, क्रोध, प्रतिक्रिया, भय या राग-द्वेष नहीं है।

कर्मबन्ध के विषय में प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों के अनुभूत वचन

चूंकि कर्मबन्ध भावबन्धनरूप प्रतीत होता है, किन्तु कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा के बद्ध होने से द्रव्यबन्धनरूप होने पर भी जिन अल्पज्ञ व्यक्तियों को प्रत्यक्ष न होते हुए भी जिन सर्वज्ञ आप्तपुरुषों ने उसके अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण किया है, उनके कथन से कर्मबन्ध को प्रत्यक्षवत् माने बिना कोई चारा नहीं है। उन प्रत्यक्षदर्शी महापुरुषों ने 'ज्ञातासूत्र' में बताया है–"जैसे शब्दादि विषयों में गृद्ध (आसक्त) बने हुए अश्व पाश से बांधे गए, वैसे ही पंचेन्द्रिय विषयों में रत (आसक्त) जीव परम दुःख के कारणरूप घोर कर्मबन्ध को प्राप्त होते हैं।"[2] इसी प्रकार 'दशवैकालिक सूत्र' में भी स्पष्टरूप से कहा गया है–"जो साधक अयतना (अविवेक) से चर्या करता है, अयतना से खड़ा होता है, बैठता है, तथा सोता है, या खाता है, बोलता है, अथवा अन्य क्रियाएँ अयतना से करता है, वह अन्य प्राणियों की और एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करता है; एवं पापकर्म का बन्ध करता है, जिसका कटु फल उसे बाद में भोगना पड़ता है।"[3] "जो साधक शारीरिक विभूषा (सौन्दर्य-वृद्धि) में प्रवृत्त हो जाता,

---

१. अट्ठकम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्वि सुणेह मे ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियट्टइ ॥ –उत्तराध्ययन अ, ३३, गा. १

२. जहा सद्दाइसु गिद्धा, बद्धा आसा, तहेव विसयरया ।
पावंति कम्मबंधं, परमासुह-कारणं घोरं ॥ –ज्ञाताधर्मकथा सूत्र १७/४

३. दशवैकालिक सूत्र अ. ४, गा. १ से ६ तक

है, वह चीकने कर्म बांधता है और उस स्निग्ध-कर्मबन्ध के फलस्वरूप वह दुरुत्तर एवं घोर संसार-समुद्र में पड़ता है।"[1] उत्तराध्ययन सूत्र में तो साफ-साफ कहा है–"जो मनुष्य पापकर्म से धन संचित करके उसे अमृत-सम जान कर (अबुद्धिपूर्वक) ग्रहण करते हैं, वे विषयरूपी पाश-बन्धन में फंस कर तथा अनेक जीवों के साथ वैर भावरूप कर्म बांध कर नरक के मेहमान बनते हैं।" "जिस प्रकार संधिमुख में सेंध लगाता हुआ (रंगे हाथों) पकड़ा गया चोर अपने चौर्यकर्मरूप पापकर्म का कर्ता होने से मारा जाता है; इसी प्रकार उन पापकर्मी जीवों को भी अपने द्वारा किये (बांधे) गये पापकर्मों का फल इस लोक या परलोक में भोगे बिना छुटकारा नहीं है।"[2] उत्तराध्ययन सूत्र में आगे और भी कहा गया है–"उसने स्वयं ने जो भी शुभ या अशुभ अथवा सुखरूप या दुःखरूप कर्म किये (बांधे) हैं, उन कर्मों से संयुक्त (बद्ध) होकर जीव परलोक में जाता है।"[3]

प्राचीनकाल में कई ऐसे मतवादी (अन्यतीर्थिक) भी थे, जो यह मानते थे कि "दुःखरूप कर्म अकृत्य है, अर्थात्–आत्मा (जीव) द्वारा नहीं किया (बांधा) जाता, तथा दुःखरूप कर्म अस्पृश्य है, अर्थात्–आत्मा द्वारा उसका स्पर्श नहीं होता, तथा दुःख अक्रियमाण कृत है, अर्थात्–वह आत्मा द्वारा बिना किये हुए ही किया जाता है; उसे बिना किये (बांधे) ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व उसकी वेदना वेदते (फल भोगते) हैं।" परन्तु भगवान् महावीर ने इसका पूर्णतया खण्डन किया है। उनसे जब पूछा गया–"भगवन्! यह (कर्म-बन्ध-जनित) दुःख किसने किया है?" इसके उत्तर में उन्होंने कहा–"वह दुःख स्वयं जीव ने ही अपने लिए प्रमाद-वश होकर उत्पन्न किया है और वही जीव स्वयं द्वारा कृत (बद्ध) कर्म-जनित दुःख का वेदन करता है-भोगता है।"[4]

---

१. विभूसा-वत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसार-सायरे घोरे, जेण पडइ दुरुत्तरे॥ –दशवैकालिक सूत्र अ. ६, गा. ६६

२. (क) जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा, समाययंति अमइं गहाय।
पहाय ते पास-पयट्ठिए णरे, वेराणुबद्धा णरयं उवेंति॥
(ख) तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण ण मुक्ख अत्थि॥
–उत्तराध्ययन सूत्र अ. ४, गा. २,३

३. तणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं। कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छइ उ परं भवं॥
–उत्तराध्ययन सूत्र अ. १८, गा. १७

४. (क) अणउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति ·····, अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणं कडं दुक्खं। अकट्टु अकट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेदेंति त्ति वत्तव्वं सिया?
जे ते एवमाहंसु ते मिच्छा एवमाहंसु। अहं पुण एवमाइक्खामि ····· एवं परूवेमि–किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणं–कडं दुक्खं। कट्टु कट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेदेंति त्ति वत्तव्वं सिया। –स्थानांग. स्था. ३, उ. २, सू. ३३७
(ख) से णं भंते! दुक्खे केण कडे? जीवेण कडे पमाएणं। से णं भंते! कहं वेइज्जति?
अप्पमाएणं॥ –स्थानांग सूत्र स्था. ३, उ. २, सू. ३३६

अतः ये और ऐसे अनेकों आगम-प्रमाण कर्मबन्ध और उसके फल के विषय में होते हुए भी कैसे कहा जा सकता है कि कर्मबन्ध नहीं है, वह जीव द्वारा कृत (बद्ध) नहीं है, उसका दुःखरूप फल उसे नहीं भोगना पड़ता?

हठाग्रही और नास्तिक भी परोक्ष बातों को अनुमान से मानने को बाध्य

इतने प्रमाण होते हुए भी हठाग्रही और कुतर्की लोग वीतराग सर्वज्ञ आप्त पुरुषों की अनुभूति एवं प्रत्यक्ष ज्ञान से जानी हुई बातों को मानने को तैयार नहीं, जबकि वे ही नास्तिक, अश्रद्धालु या हठाग्रही लोग कर्मबन्ध आदि के सिवाय अन्य कई परोक्ष बातों को भी अनुमान और तर्क से मानते देखे गए हैं। उन नास्तिकों या प्रत्यक्षवादियों ने अपने दादे या परदादे को प्रत्यक्ष नहीं देखा है, फिर भी अनुमान के आधार पर उन्हें मानना पड़ता है कि हमारा दादा या परदादा था; तभी तो वह उनका पोता या परपोता कहलाता है। यदि दादा या परदादा नहीं होता, तो वह कहाँ से आता? किसी नास्तिक या प्रत्यक्षवादी ने दादा या परदादा प्रत्यक्ष नहीं देखा होता है, किन्तु घर में रखे हुए उनके चित्र या फोटो पर से उसे यह कहना और मानना पड़ता है कि ये मेरे दादाजी या परदादाजी थे। जीवन में ऐसे कई प्रसंग आते हैं, जबकि ऐसे लोगों को प्रत्यक्ष न देखी हुई कई वस्तुओं, व्यक्तियों या घटनाओं को फोटो, चित्र, पुस्तक, इतिहास, भूगोल, नकशे, आप्तकथन या स्वप्न-दर्शन आदि कई माध्यमों से उन्हें या उनके अस्तित्व को प्रत्यक्षवत् मानना पड़ता है। विदेश या परदेश में कई वर्षों से गए हुए नास्तिक के पुत्र का पत्र आता है, तब उसे पढ़ कर, वर्तमान में पुत्र के परोक्ष होने पर भी वह कह बैठता है–'यह मेरे पुत्र का पत्र है।'[1] इसी प्रकार कर्मबन्ध प्रत्यक्ष न दीखने पर भी आगम और अनुमान प्रमाण से उसे मानने में क्या आपत्ति है?

अनुमान आदि प्रमाणों से भी कर्मबन्ध की सिद्धि

कर्मबन्ध इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमानादि प्रमाणों से भी सिद्ध है। किसी भी संसारी जीव के लक्षणों, प्रवृत्तियों अथवा स्वभावों आदि पर से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि "इस जीव या मनुष्य ने पूर्वजन्म में अथवा इस जन्म में पहले अमुक-अमुक कर्म बांधा होगा, वही कर्म अब उदय में आया है, जिसका फल यह अमुक रूप में भोग रहा है।" जैसे कि समुद्रपाल ने अपने प्रासाद में बैठे हुए वध्य (मृत्युदण्ड दिये जाने योग्य) व्यक्ति के शरीर पर मण्डित चिह्नों आदि से युक्त चोर को वधिकों द्वारा ले जाते हुए देख संवेग-प्राप्त होकर यों कहा–"अहो ! इस चोर (वध्य) के द्वारा पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों का ही यह पापरूप फल है !"[2]

---

१. न्याय सिद्धान्त-मुक्तावली (नृसिंहदेव कृत व्याख्या) से भावांशग्रहण।

२. अह अन्नया कयाइं, पासायालोयणे ठिओ।
वज्झ-मंडण-सोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं॥
तं पासिऊण संविग्गो समुद्दपालो इणमब्बवी।
अहोऽसुहाणं कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं॥ –उत्तराध्ययन अ. २१/८,९

क्रोध एक प्रकार का भाव है। उसका प्रत्यक्ष दर्शन तो मति-श्रुत-ज्ञानी को नहीं हो पाता, किन्तु आँखें लाल होने, चेहरा विकराल होने, जोर-जोर से बोलने अथवा हाथ-पैर आदि अंगों की चेष्टाओं पर से प्रत्येक समझदार और विवेकी, विशेषतः मनोविज्ञान-वेत्ता यह जान लेता है कि इस व्यक्ति में इस समय क्रोध का प्रादुर्भाव है। इसी प्रकार अहंकार, लोभ, ईर्ष्या, छल-कपट, शोक, चिन्ता, भय, जुगुप्सा, कामविकार, हास्य आदि भावों का पता भी तन, मन, वचन एवं इन्द्रियों आदि की चेष्टाओं से लग जाता है। नीतिकार भी कहते हैं-"आकृति से, संकेतों से, या इशारों से, गति (चाल-ढाल) से, चेष्टा से, बोलने से तथा नेत्र और मुख के विकारों से व्यक्ति के अन्तर्गत मनोभाव परिलक्षित हो जाते हैं।[1]

बिजली इन स्थूल नेत्रों से देखने वालों को प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, किन्तु पंखा, हीटर, कूलर, रोशनी आदि कार्यों के द्वारा बिजली के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार कर्मों का बन्ध चर्म इन्द्रियों से प्रत्यक्ष-गोचर न होता हो, फिर भी कर्म-बन्धजनित कार्यों, उसके परिणामों तथा उनके फलभोगों (विपाकों) को देखकर प्रत्येक व्यक्ति यह कह सकता है कि पहले बांधे हुए इसके कर्म अब उदय में आए हैं, उन्हीं पूर्वबद्ध कर्मों का फल दृष्टिगोचर हो रहा है। जैसे कि चित्तमुनि के जीव (निर्ग्रन्थ साधु) ने सम्भूति के जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को कह दिया था-"राजन् ! तुमने निदान (नियाणा) करके जो कर्म बांधे (किये) थे, तथा निदान-पूर्वक ही उनका विशेषरूप से चिन्तन किया था, उसी के फल-विपाक (कर्म-फल-भोग) के कारण हमारा (इस जन्म में) यह वियोग हुआ।[2]

जैसे आयुर्वेदशास्त्र में पारंगत तथा नाड़ीविज्ञान का अनुभवी वैद्य रोगी की नाड़ी तथा मुख और चेहरे आदि के लक्षण देखकर यहाँ तक कह देता है कि इस रोगी ने अमुक वस्तु खाई है, उसी के कारण इसे अमुक व्याधि उत्पन्न हुई है। इसके वात, पित्त या कफ में से अमुक दोष कुपित है। इस रोग का लक्षण इसके शरीर में प्रतीत हो रहा है। वैसे ही कर्म-विज्ञान के गहन अभ्यासी और सिद्धान्तवेत्ता व्यक्ति भी स्पष्ट अनुमान करके बता सकता है कि इस व्यक्ति के अमुक कर्म उदय में आया है, इसलिए सम्भावना है कि इस व्यक्ति ने अमुक कर्म का बन्ध किया है।

समस्त संसारी जीवों में कर्मबन्ध का अस्तित्व है

द्रव्य कर्मबन्ध के अस्तित्व की सिद्धि में एक प्रमाण यह भी है कि कर्म जीव से सम्बद्ध है, क्योंकि कर्म के कार्यरूप मूर्त शरीर से जीव का सम्बन्ध तभी बन सकता

---

१. (क) व्यावहारिक मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल)
(ख) आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र-वक्त्र-विकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ -हितोपदेश

२. कम्मा नियाण-पगडा, तुमे राय ! विचित्तिया।
तेसिं फल-विवागेण, विप्पओगमुवागया॥ -उत्तराध्ययन अ. १३, गा. ८

है, जब कर्म का जीव के साथ बन्ध (सम्बन्ध) हो। कर्म के कार्यरूप शरीर के साथ शरीरधारी (जीव) का दूध-पानी की तरह या खड्ग-म्यानवत् गाढ़ सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे–शरीर के छेदे-भेदे जाने पर जीव को दुःख होता है। शरीर के खींचने से जीव का भी आकर्षण देखा जाता है। शरीर में दाह होने पर जीव में भी दाह-दुःख होता है। जीव के रुष्ट होने पर शरीर में कम्प, दाह, पसीना आदि कार्य देखे जाते हैं। शरीर के गमनागमन में जीव का भी गमनागमन देखा जाता है। अन्यथा, जीव की इच्छा से शरीर का गमन तथा सिर और अंगुलियों का संचालन नहीं होना चाहिए। कर्म कार्मणशरीरमय है, उसका जीव के साथ बन्ध होता है, तभी शरीरादि से सम्बद्ध सभी कार्य होते हैं। यदि जीव (आत्मा) के साथ कर्म का बन्ध न हो तो फिर समस्त संसारी जीव भी सिद्ध परमात्मा के समान, प्रकट में अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त होने चाहिए। किन्तु ऐसा सिद्धान्त और व्यवहार दोनों से विरुद्ध है। अतः समस्त संसारी जीव कर्मबन्ध से युक्त हैं, ऐसा सिद्ध होता है।[1]

उपचार से जीव कर्मबन्ध का कर्ता माना जाता है

प्रश्न होता है–जीव (आत्मा) परमार्थ दृष्टि से केवल अपने भावों का कर्त्ता है, फिर उसे कर्म (बन्ध) का कर्ता क्यों कहा जाता है? इसका युक्तिसंगत समाधान 'समयसार' में इस प्रकार किया गया है–निमित्तभूत जीव को पाकर उसका कर्मबन्धरूप परिणमन देखकर उपचारवश कहा जाता है–जीव ने कर्मबन्ध किया। उदाहरणार्थ–यद्यपि योद्धा लोग ही युद्ध करते हैं, लेकिन कहा यह जाता है–अमुक राजा ने युद्ध किया। इसी प्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा से यह कहा जाता है कि जीव ने ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध किया। इस कथन पर से जीव के साथ कर्मबन्ध का अस्तित्व सिद्ध होता है।[2]

---

१. (क) सरीरदाहे जीवे दाहेवलंभादो, सरीरे भिज्जमाणे छिज्जमाणे च जीवं वेयणोवलंभादो, सरीर-परिसणे जीव-परिसण-दंसणादो, सरीर-गमणागामणेहिं जीवस्स गमणागमण-दंसणादो, पडियार-खंडयाणं व दोण्णं भेदा गोवलंभादो, एगीभूएबद्धोदयं व एगत्तेणुवलंभादो।
–धवला ९/४/१/६३/२७०

(ख) तं च कम्मं जीवसंबद्धं चेव; तं कुदो गव्वदे? मुत्तेण सरीरेण कम्म-कज्जेण जीवस्स संबंधण्णहाणुववत्तीदो। ..... ण च संबंधो; सरीरे छिज्जमाणे जीवस्स दुक्खुवलंबादो .... जीवे गच्छंते ण सरीरेण गंतव्वं, ... जीवे रुट्ठे, कंप ..... पुलउग्गं-धम्मादयो ण होज्ज। सव्वेसिं जीवाणं केवलणाण-सम्मत्तादओ होज्ज। ..... ण च एवं। तहाणुभवगमादो।'
कसायपाहुड १/१/१/४०

२. (क) रूवादिरहिं रहिदो एच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि॥
–प्रवचनसार २/८२

(ख) जीवम्मि हेदुभूदे, बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं, भणदि उवयारमत्तेण॥
जोधेहिं कदे जुद्धे, राएण कदं ति जप्पदे लोगो।
तह ववहारेण कदं, णाणावरणादि जीवेण॥
–समयसार गा. १०५, १०६

वर्तमान में आत्मा अकेला न होने से कर्मबन्धयुक्त मानना अनिवार्य

अगर आत्मा अकेला अपने आप में शुद्ध स्वरूपी होता तो कर्मबन्ध को मानने की कोई आवश्यकता न होती; किन्तु वर्तमान में आत्मा जब तक संसारी है, तब तक वह अकेला नहीं है, वह कर्मों से बद्ध है और कर्मबन्ध के कारण उसके नाना उपाधियाँ (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, स्वजन, परिजन, धन, मकान आदि) लगी हुई हैं। कर्मबन्ध के कारण ही उसे जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि विभिन्न दुःख भोगने पड़ते हैं, एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार जीव जब तक सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हो जाता, तब तक कर्मबन्धन से बद्ध रहता ही है।[1]

कर्मबन्ध के कारण ही जीव नये-नये शरीर, नये-नये भव, नई-नई जिंदगी प्राप्त करता है। कर्मबन्ध के कारण ही आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु और रोग आदि नाना दुःखों को तथा इष्ट-अनिष्ट संयोगों को प्राप्त करता है। यह कर्मबन्ध ही है, जो जीव को नाना गतियों और योनियों में भटकाता है। सिद्ध परमात्मा निरंजन, निराकार एवं अशरीरी होते हैं, वे आठों ही कर्मों से तथा कर्मबन्ध के चक्र से सर्वथा मुक्त हैं। वे अपने आत्म गुणों में रत हैं, अपने पूर्ण आत्म-स्वरूप में, स्व-भाव में रत हैं। इसलिए उन्हें न तो जन्म, जरा, रोग, मरण आदि की प्राप्ति का भय है और न ही वे पुनः शरीर धारण करते हैं, न उन्हें पुनः संसार में आना पड़ता है। वे एकान्त अनन्त आत्म-ज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मिक सुख एवं आत्मिक शक्ति से परिपूर्ण हैं। अतः समस्त संसारी जीवों को जन्ममरणादि का दुःख है, व्याकुलता है, राग-द्वेषादि भाव हैं; इसीलिए उनके सात या आठ कर्म समय-समय पर प्रायः बंधते रहते हैं।[2] इसलिए कर्मों से सर्वथा मुक्त होने तक संसारी जीवों के कर्मबन्ध होता रहता है।

संसारी जीव के साथ कर्मबन्ध प्रवाहरूप से अनादि

कर्मविज्ञान के पुरस्कर्ता महापुरुषों ने जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहरूप से अनादि बताया है।[3] पंचास्तिकाय में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–"जो संसारस्थ जीव है, उसके राग, द्वेष और मोहादिक परिणाम होते हैं। उन परिणामों के कारण कर्म बंधते हैं। उन बद्धकर्मों के फलस्वरूप नाना गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्मग्रहण करते ही उसे शरीर मिलता है। शरीर प्राप्त होने से इन्द्रियाँ होती हैं। जिनसे यह जीव पंचेन्द्रिय और मन (नोइन्द्रिय) के विषयों को ग्रहण करता है। विषयों को ग्रहण करने के साथ ही उन पर राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं, जिनसे विभिन्न

---

१. आत्म-तत्व-विचार (प्रवक्ता-विजयलक्ष्मणसूरीजी म.) से, पृ. २९३, २९४

२. देखें, प्रज्ञापनासूत्र, पद २३

३. यथाऽनादिः स जीवात्मा, यथाऽनादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः॥ –पंचाध्यायी २/३५

कर्मबन्ध होते हैं। इस प्रकार संसार और कर्मबन्ध का चक्र चलता रहता है। संसारचक्र में जो छद्मस्थ जीव स्थित हैं। उनकी ऐसी ही अवस्था होती हैं।''[1]

संसारी जीव परतंत्र होने से कर्मबन्धन से बद्ध है

दूसरी दृष्टि से भी संसारी आत्मा कर्मबन्धन से बद्ध है, यह सिद्ध होता है। यद्यपि परमार्थ दृष्टि से आत्मा कर्मादि विकारों से रहित पूर्णतया शुद्ध है, परन्तु 'आप्तपरीक्षा' में इस तथ्य से इन्कार करते हुए कहा गया है–''विचारप्राप्त संसारी जीव कर्म-बन्धन से बंधा हुआ है, क्योंकि वह परतंत्र है। जैसे–हस्तिशाला में स्तम्भ से बंधा हुआ हाथी परतंत्र रहता है। इसी तरह संसारी जीव भी कर्मबन्धन से बँधा हुआ होने से पराधीन है। संसारी जीव पराधीन क्यों है, इस सम्बन्ध में हम 'कर्म का परतंत्री कारक स्वरूप' में स्पष्ट कर चुके हैं।[2]

यदि संसारी जीवों के साथ यह दुःखरूप परतंत्रकारक कर्म न बंधा होता तो किसी को कर्म के क्षय करने की, कर्म-निर्जरा करने की, पूर्वबद्ध कर्मों को भोग कर सर्व कर्मों से तथा सर्व दुःखों से मुक्त होने की साधना करने की क्या आवश्यकता थी? तथा आते हुए नवीन कार्मों को रोकने (संवर) की, कर्मों से मुक्त होने के लिए बाह्यान्तर तप की, भेदविज्ञान की, ज्ञाताद्रष्टा बने रहने की, एवं सम्यक्दर्शन आदि रत्नत्रय की साधना में पुरुषार्थ क्यों करना पड़ता? अर्थात्–कर्मबन्धन न होता तो कर्मक्षय करने की साधना का क्या अर्थ है? यदि कर्मबन्ध न होता तो संसारी जीवों में इतनी विविधता और विचित्रता क्यों दिखाई देती?[3]

इससे सिद्ध है कि समस्त संसारी जीवों के न्यूनाधिक रूप से कर्म बंधे हुए हैं। वे ही जीव फिर अज्ञानतावश नये-नये कर्म बाँधते रहते हैं। संसारी जीवों के रग-रग में कर्मबन्ध न्यूनाधिक रूप से समाविष्ट है। अतः कर्मबन्ध के अस्तित्व से इन्कार करना वैसा ही है, जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरी माता बन्ध्या है।

कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाण ही कर्मबन्ध के अस्तित्व के साधक

इस सब के अतिरिक्त अन्य कारणों एवं युक्तियों से भी कर्मबन्ध का अस्तित्व सिद्ध है। 'कर्म का अस्तित्व' नामक खण्ड में हमने जिन विविध युक्तियों, सूक्तियों,

---

१. जो खलु संसारत्थो जीवो, तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदीसु गदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसय-ग्गहणं, तत्तो रागो य दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालम्मि ॥ –पंचास्तिकाय गा. १२८, १२९, १३०

२. (क) देखें, आप्तपरीक्षा (विद्यानन्दि स्वामी) पृ. १
(ख) देखें–कर्मविज्ञान खण्ड ३ में 'कर्म का परतंत्रीकारक स्वरूप' निबन्ध

३. देखें, महाबंधो भा. १ में कर्मबन्ध-मीमांसा

अनुभूतियों और प्रमाणों से कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है, उन्हीं युक्तियों, सूक्तियों, अनुभूतियों और प्रमाणों को 'कर्मबन्ध के अस्तित्व' के विषय में समझ लेना चाहिए।[1]

कर्मबन्ध के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले चार प्रमुख कारण

इन कारणों के अतिरिक्त कर्मबन्ध के अस्तित्व को असंदिग्ध-रूप से प्रमाणित करने के लिए चार प्रमुख कारण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं-(१) पुद्गल और जीव का परस्पर प्रभाव, (२) प्राणी के रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम, (३) संसार में प्राणियों की विविधता और बहुरूपता, और (४) मन-वचन-काय के योगों की चंचलता।

प्रथम कारण : कर्म-पुद्गल और जीव का पारस्परिक प्रभाव

कर्मबन्ध के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला प्रथम कारण है-कर्मपुद्गल और जीव का पारस्परिक प्रभाव। हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि पुद्गल जीव को और जीव पुद्गलों को प्रभावित करता है। जड़ पुद्गल जीव के तन, मन और बुद्धि को प्रभावित करता है। जैसे-दवा की गोली खाते ही सिरदर्द गायब हो जाता है; पेट की पीड़ा शान्त हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य के भावों और विचारों का भी पुद्गलों पर प्रभाव पड़ता है। मंत्र क्या है? अमुक शब्दों का समूह। भाषावर्गणा के पुद्गल-रूप मंत्र का अचूक प्रभाव पड़ता है; उसका कारण है-मंत्र के पीछे संकल्प शक्ति की प्रबलता। अमुक भावों, विचारों अथवा मंत्रों से अनिष्ट कार्य बंद हो जाता है और अभीष्ट कार्य प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य का उदय स्वाभाविक होता है। वह किसी भी प्राणी को कुछ करने की प्रेरणा नहीं देता। परन्तु सूर्योदय होते ही पशु-पक्षी अपने-अपने आहार की खोज में लग जाते हैं। मनुष्य भी प्रायः जग जाते हैं और अपना दैनिक प्रातः कृत्य करने लग जाते हैं। श्रमिक, धनिक, व्यवसायी, विद्यार्थी, शिक्षक आदि सभी प्रायः अपने-अपने व्यावसायिक कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। किसान खेत पर जाकर उसकी देखभाल में, पहलवान अपने अखाड़े में व्यायाम आदि करने में, सुनार, लुहार, सुथार आदि अपने-अपने मनोनीत कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह विभिन्न प्राणियों पर सूर्य की प्रभावशीलता का ज्वलन्त प्रमाण है।[2]

इसी प्रकार जीव के राग-द्वेषादि परिणाम कर्मपुद्गलों को आकर्षित और प्रभावित करते हैं, और इस प्रकार भावकर्म के द्वारा द्रव्यकर्म का बन्ध होता है, तथैव द्रव्यकर्म (अर्थात्-पहले बंधे हुए कर्म) जीव के वैयक्तिक रागादि परिणामों के उत्पन्न होने में सहयोग देते हैं। इस प्रकार द्रव्य कर्म से भावकर्म का बन्ध होता है। स्पष्ट है कि जीव और कर्मपुद्गल दोनों परस्पर सम्बद्ध होते हैं, और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

---

१. देखें-कर्मविज्ञान के प्रथम खण्ड में 'कर्म का अस्तित्व' नामक लेख।

२. कर्मवाद से भावांश ग्रहण, पृ. १०१

आत्मा का इस प्रकार परभावों या विभावों से प्रभावित होना, उनसे सम्बद्ध होना ही कर्मबन्ध के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है।

द्वितीय कारण : जीव का राग-द्वेषादियुक्त परिणाम

कर्मबन्ध के अस्तित्व में द्वितीय कारण है–जीव का रागद्वेषादियुक्त परिणाम। यदि सांसारिक जीवों में राग-द्वेष तथा इनसे सम्बद्ध कषाय न होते तो कर्मबन्ध को मानने का कोई भी कारण न होता। जो प्राणी पहले से कर्मों से बंधा हुआ है, उसके रागद्वेषादिमय परिणाम अवश्य होते हैं। यद्यपि आत्मा का मूल स्वभाव राग-द्वेषादि करना नहीं है, तथापि वह स्व-भाव को भूल कर प्रमादवश, अज्ञानवश, योगों की चंचलतावश, तथा पूर्वबद्धकर्मवश पर-भावों में चला जाता है; अपने स्व-भाव का अतिक्रमण कर राग-द्वेषादि भावों के प्रवाह में बह जाता है। फिर तो कर्मों का बंधना स्वाभाविक है। अतः जीवों में पाया जाने वाला राग-द्वेष-कषायादि परिणाम भी कर्मबन्ध के अस्तित्व की झांकी करा देता है।

तृतीय कारण : योगों की चंचलता

कर्मबन्ध के अस्तित्व में तृतीय कारण है–मन-वचन-काया के योगों की चंचलता। आत्मा अपने आप में तो एकाकी है, शुद्ध है, ज्ञान-स्वरूप है, शाश्वत है, किन्तु पूर्वकृत कर्मबन्ध के कारण ही उसे मन, वचन और काय मिलते हैं। इन त्रिविध योगों के कारण चंचलता होती है। शरीर इनमें प्रधान है। शरीर के अवयवों की, वाणी की तथा इन्द्रियों की शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ होती हैं। उन प्रवृत्तियों पर मन प्रियता-अप्रियता का, इष्ट-अनिष्ट का, अनुकूल-प्रतिकूल का, राग-द्वेष का, द्रोह-मोह का तथा आसक्ति और घृणा की छाप लगाता है। वाणी भी प्रिय-अप्रिय की अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार जो मन, वचन और काया की चंचलता होती है, साम्परायिक क्रिया होती है, अथवा रागादिमय प्रवृत्ति होती है, इसके पीछे कौन प्रेरक बल है? कहना होगा कि इन तीनों की चंचलता या कषाययुक्त क्रिया अथवा प्रवृत्ति के पीछे पूर्वबद्ध कर्म अथवा कर्म के पूर्व-संस्कार ही प्रेरक हैं। इससे सिद्ध है कि कर्मबन्ध समस्त संसारी प्राणियों के अगल-बगल में या आगे-पीछे लगा रहता है।[1]

चतुर्थ कारण : प्राणियों की विभिन्नता एवं विविधता

कर्मबन्ध के अस्तित्व का द्योतक चौथा कारण है–संसार में प्राणियों की विभिन्नता और प्रत्येक जाति के प्राणियों में भी विविधता। यदि कर्म का बन्ध न होता तो प्राणियों में ये विभिन्नताएँ, विचित्रताएँ, विरूपताएँ या विसदृशताएँ दृष्टिगोचर न होतीं। एक जीव एकेन्द्रिय है, तो दूसरा पंचेन्द्रिय है। कोई द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय या चतुरिन्द्रिय है।

---

१. कर्मवाद से भावांशग्रहण पृ. १०१

फिर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों में भी[1] एक-एक जाति के प्राणियों के हजारों-लाखों प्रकार हैं। इसके अतिरिक्त उनके शरीर, गति, इन्द्रिय, योग, उपयोग, लेश्या, कषाय, भव, संज्ञित्व-असंज्ञित्व, ज्ञान-अज्ञान, आहार आदि में भी अनन्त-अनन्त वैविध्य हैं। भगवान् महावीर से यह पूछने पर कि भगवन् ! जीवों में ये सब विभिन्नताएँ कर्मों के कारण हैं या अकर्मता के कारण? तब उन्होंने यही समाधान दिया कि ये सब विभिन्नताएँ अकेली आत्मा या अकर्म के कारण नहीं हैं, किन्तु आत्मा के साथ कर्मबन्ध होने के कारण हैं। अगर आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध न होता तो सभी प्राणी एक जैसे होते। उन जीवों में कोई भी विचित्रता या विभिन्नता न होती। इसी तथ्य को हम 'कर्म का अस्तित्व' नामक प्रथम खण्ड के अन्तर्गत 'कर्म-अस्तित्व का मुख्य कारण : जगत्-वैचित्र्य,' तथा 'विलक्षणताओं का मूल कारण : कर्मबन्ध' शीर्षक निबन्धों में स्पष्ट कर आए हैं। इसलिए यह कारण भी कर्मबन्ध के अस्तित्व को प्रबलता से प्रमाणित करता है।

यही कारण है कि कर्मविज्ञान के परम उपदेष्टा भगवान् महावीर ने सूत्रकृतांग-सूत्र में भव्यजीवों को प्रेरणा देते हुए कहा है–"न बन्ध है और न ही मोक्ष है, ऐसी संज्ञा (श्रद्धा या बुद्धि) नहीं रखनी चाहिए। अपितु बन्ध भी है और मोक्ष भी है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।"[2]

अन्य दर्शनों में भी कर्मबन्ध के अस्तित्व का स्वीकार

न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन भी कर्मबन्ध के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मीमांसादर्शन एक या दूसरे रूप में कर्मबन्ध का अस्तित्व मानता है। वेदों में जहाँ यज्ञ-यागादि कर्मों की चर्चा है, वहाँ वेदविहित कर्म से अतिरिक्त कर्म-मर्यादाओं का उल्लंघन करके किये जाने वाले अथवा अज्ञानतापूर्वक-अविधिपूर्वक किये जाने वाले कर्म को 'शतपथ ब्राह्मण' में कर्मबन्ध कहा गया है। 'ऋग्वेद' में यज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न न किये जाने को 'कर्मबन्ध' की संज्ञा दी गई है।[3] योगदर्शन और सांख्यदर्शन में प्रकृति-पुरुष-संयोग को कर्मबन्ध मान कर इस पर व्यापक चर्चा की गई है।[4]

उपनिषदों में कर्मबन्ध की परिधि व्यापक हो गई है। वहाँ कर्मबन्ध को यज्ञसीमित क्रियाओं पर ही आधारित न मानते हुए कहा गया है–जो लोग इष्ट, पूर्त और दत्त

---

१. देखें, कर्मविज्ञान, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड में "कर्म-अस्तित्व का मुख्य कारण : जगत्-वैचित्र्य" तथा 'विलक्षणताओं का मूल कारण : कर्मबन्ध' शीर्षक लेख।

२. णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए॥ –सूत्रकृतांग, श्रु. २, अ. ५, गा. १५

३. (क) शतपथ ब्राह्मण १०/४/३/१०,
(ख) ऋग्वेद ८/२१/१४

४. योगदर्शन (विद्योदय भाष्य सहित) साधनपाद २, सू. २५, पृ. १२८

कर्म की उपासना करते हैं। धूम को प्राप्त होते हैं·····।[1] इसका आशय है–सकाम उपासना कर्मबन्धरूप है। इष्ट का अर्थ है–वेद-विहित कर्मकाण्ड, पूर्त का अर्थ है–सामाजिक कार्यों से सम्बद्ध सकाम कर्म और दत्त का अर्थ–वेदी से बाहर के व्यक्तियों को दान देने का कार्य। ये तीनों ही कर्म वैदिक दृष्टि से भले ही शुभ हों, परन्तु हैं ये सकाम। इसलिए भले ही ये पुण्यबन्ध के कार्य हों, हैं ये कर्मबन्धरूप ही।

बौद्धदर्शन में कर्मबन्ध के विभिन्न कारणों का प्रतिपादन करते हुए उसके अस्तित्व को माना है। 'भगवद्गीता' में यत्र-तत्र बन्धन के हेतु बता कर कर्मबन्ध को स्वीकार किया गया है। महाभारत में तो स्पष्ट कहा गया है–'कर्मणा बध्यते जन्तुः'–प्राणी कर्म से बद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने कर्मबन्ध को एक स्वर से स्वीकार किया है।

कर्मबन्ध के अस्तित्व के सम्बन्ध में पाश्चात्य लेखकों के विचार

पाश्चात्य विचारक पॉल ब्रंटन (Paul Brunton) अपनी पुस्तक टीचिंग बियोंड दी योग (Teaching beyond the Yoga) में लिखते हैं–"कर्मबन्ध का सिद्धान्त ईसामसीह के उपदेशों में था, परन्तु कितने ही स्वार्थी व्यक्तियों ने उसे ईसा के उपदेशों में से निकाल दिया। अब उसकी पुनः प्रतिष्ठा करनी चाहिए। यह कार्य वर्तमान युग की परिस्थिति को देखकर अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। युग की इस मांग को देखकर विचारकों को बाध्य होकर भी इस ओर दो कदम बढ़ाने चाहिए। पुनर्जन्म और कर्म का सिद्धान्त राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाता है। इन दोनों में न तो अन्धश्रद्धा है और न ही विवेकशून्यता या असम्बद्धता को अवकाश।"

इसी प्रकार दूसरी एक पाश्चात्य लेखिका 'सीवल लीक' अपनी पुस्तक "रि-इन्कारनेशन ऑफ द सेकंड चांस" में लिखती है–"अज्ञान के कारण हम कर्मों का या कर्मबन्धनों का अस्वीकार कर सकते हैं, किन्तु कर्म हमारा अस्वीकार नहीं करता, वह तो आपके चिपक ही जाता है।"

जैसे–चौराहे पर No parking—नो पार्किंग (गाड़ी खड़ी करना मना है) का बोर्ड लगा है; किन्तु इधर-उधर नजर घुमाने पर पुलिसमैन दिखाई नहीं दिया। अतः चालाकी से उस व्यक्ति ने अपनी कार वहाँ पार्क करदी। किन्तु जैसे ही उसने अपनी कार पार्क कर निश्चिंतता की सांस ली, वैसे ही खाकी वर्दी पहने पुलिसमैन तैयार मिला। गाफिल आदमी सोच सकता है कि पुलिसमैन हमें नहीं देख रहा है, किन्तु पुलिसमैन की चौकन्नी नजर तो उस पर तुरंत जाती है और उसे पकड़ते देर नहीं लगती; वैसे ही मनुष्य चाहे अंधेरे में, एकान्त में या निर्जन स्थान में कोई पापकर्म करके यह सोचे कि इसका बन्ध नहीं होगा, परन्तु पापकर्म कर मन से

१. छान्दोग्य उपनिषद् ५/१०/३

विचार करते ही वह बंध जाता है, चिपक जाता है। वह पापकर्म कर्ता से अधिक चीकना है।[१]

निष्कर्ष यह है कि कोई व्यक्ति कर्मबन्ध को माने या न माने; कर्मबन्ध तो मन में शुभ या अशुभ परिणाम आते ही वह तुरन्त हो जाता है और समय आने पर अपने अस्तित्व का परिचय दे ही देता है।

संसारी जीव : कर्मबन्ध का जीता-जागता परिचायक

वस्तुतः आत्मा का स्वभाव से हट कर परभावों या रागादि विभावों में परिणमन होना ही कर्मबन्ध को न्यौता देना है। विविध प्रकार के कर्मों का बन्ध एक या दूसरे रूप में, न्यूनाधिक रूप से समस्त सांसारिक जीवों में पाया जाता है। एक तरह से, संसारी प्राणी अपने आप में स्वयं कर्मबन्ध के अस्तित्व का जीता-जागता परिचायक है। अतः इस प्रत्यक्ष अनुभूत वस्तु को न मानने से कर्मबन्ध का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

● ●

१. (क) Teaching beyond the Yoga (By Paul Brunton)
(ख) Re-Incarnation of the second chance (By Sival Leak)
(ग) रे कर्म तेरी गति न्यारी (आ. श्री विजयगुणरत्न सूरी जी) से, पृ. १५

२

दुःख-परम्परा का मूल : कर्मबन्ध

संसार के सभी जीवों को दुःख कर्मसंयोग के कारण

इस अनादि-अनन्त संसार में प्रत्येक जीव किसी न किसी कारणवश दुःखी है। नरक के जीव तो अत्यधिक दुःखी हैं ही। स्वर्ग के जीव भी सुखी नहीं हैं। उनमें भी सुख-साधनों, वैभव, ऋद्धि, देवांगना, देवों के योग्य आवास आदि परिग्रह को लेकर प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, अधिकार-लिप्सा, आकुलता, वैमनस्य आदि के कारण कई प्रकार के मानसिक दुःख हैं। तिर्यंच जाति के जीवों में भी पराधीनता, पराश्रितता, अज्ञान, मिथ्यात्व, कषाय, रागादि विकार, ममत्व, मानसिक विकास की न्यूनता, व्यक्त भाषा का अभाव आदि कारणों से अनेक प्रकार के दुःख और क्लेश लगे हुए हैं। मनुष्यों में भी शारीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक आदि विकास सर्वाधिक होने पर भी, तथा मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता होने पर भी परस्पर तारतम्य होने से तथा क्रोधादि कषायों की न्यूनाधिकता होने से जिसे वास्तविक आत्मसुख कहना चाहिए, उससे प्रायः अधिकांश मनुष्य दूर हैं। क्या आप बता सकते हैं–संसार के प्राणियों के जीवन में ये नाना दुःख किस कारण से हैं? जैनाचार्यों ने नपे-तुले शब्दों में बताया है–

संजोगमूला जीवेण पत्ता दुक्ख-परंपरा[1]

"जीव को जो दुःख-परम्परा–एक दुःख के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरे दुःख की घटा प्राप्त होती है, उसका मूल कारण संयोग है–अर्थात् कर्मशास्त्रीय भाषा में कर्मबन्ध है–कर्मों के साथ जीवों का रागाद्यात्मक सम्बन्ध है।"

कर्मबन्ध को अनुभव से जाना जा सकता है

आप कहेंगे उस कर्मबन्ध को हम कैसे जानें? क्योंकि कोई भी जीव रस्सी आदि से जकड़े हुए की तरह बंधा हुआ प्रत्यक्ष नजर नहीं आता। फिर कैसे मान लें कि जीव कर्मों से बंधा हुआ होने से ही नाना दुःख पाता है? इसके लिए हम कतिपय

१. मरणविभक्ति प्रकीर्णक से

उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनसे आप स्वयं अनुभव कर सकेंगे कि जीवों के दुःखों का मूल कारण क्या है?

मकान के खरीदार को अचानक दुःख क्यों प्राप्त हुआ?

एक व्यक्ति के पास चार लाख रुपयों का आलीशान तिमंजला भवन है। वह उसे बेचकर धन अपने व्यापार में लगाना चाहता है। एक ग्राहक आता है, उसे मकान पंसद आ जाता है। उसके साथ सौदा तय हो जाता है। मकान मालिक को वह चार लाख रुपये देकर उस मकान को खरीद लेता है। मकान मालिक उन रुपयों को गिनकर अपनी तिजोरी में रख लेता है। रात हुई। उस खरीदे हुए भव्य भवन में अचानक आग लग गई। आठ घंटों में सारा मकान जल कर भस्म हो गया। अभी इस मकान को खरीदने वाला अपने परिवार-सहित मकान में रहने के लिए आया भी नहीं था, उससे पहले ही मकान जलकर राख हो गया।

इस मकान का खरीदार फफक-फफककर रोने और आर्तध्यान करने लगा–हाय! मेरी चार लाख की पूंजी भी गई, और मकान भी हाथ न लगा ! मुझे ऐसा दुःख क्यों आ पड़ा?[1]

कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ से वह पूछता है तो उसे यही उत्तर मिलता है–इस दुःख का मूल कारण पूर्वबद्ध कर्म ही हैं। इस दुःख का कारण न तो कोई ईश्वर है, न ही कोई देवी-देव है और न कोई मनुष्य है। तेरे ही द्वारा बांधे हुए कर्म कारण हैं।

रूपवती धनिकपुत्री पर शारीरिक-मानसिक दुःख क्यों आ पड़ा?

एक लड़की अत्यन्त रूपवती है, अतीव बुद्धिमती है, विनीत और सुशील है, घर के सब लोगों को प्रिय है। धनाढ्य पिता की लाड़ली पुत्री है। माता का भी उस पर अपार प्रेम है।

एक दिन उसके मुख पर सफेद दाग दिखाई दिया। वही दिनानुदिन बढ़ता गया। हाथ, पैर, कमर, पेट आदि शरीर के सभी अंगों पर सफेद दाग हो गये। एक ही वर्ष में वह कुष्टरोग इतनी तेजी से फैला कि उसने सारे शरीर पर अधिकार जमा लिया।

जिस लड़की को एक दिन सभी प्यार करते थे, अब उससे सभी घृणा करने लगे। उसके साथ खाने-पीने तथा उसके हाथ का बनाया हुआ भोजन खाने में, यहाँ तक कि उसके पास बैठने-उठने से सभी परहेज करने लगे। कोई उससे मधुरतापूर्वक बात नहीं करता। बात-बात में सभी उसका तिरस्कार करने लगे। जितने भी अच्छे-अच्छे नामी डॉक्टर, वैद्य, हकीम, होमियोपैथ, नेचरोपैथ (प्राकृतिक चिकित्सक) आदि थे, उन सबका इलाज करवाया गया। उसके पिता ने पैसा पानी की तरह बहाया। मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि सभी उपाय अजमा लिये। परन्तु उसका यह रोग नहीं मिटा, सो नहीं मिटा।

---

१. जैनदर्शनमां कर्मवाद (पं चन्द्रशेखर विजयजी गणि) से, सारांश ग्रहण पृष्ठ ७

वह लड़की सभी का तिरस्कारपात्र बन गई। वह सभी की नजरों में गिर गई। बेचारी धनाढ्य पिता की पुत्री होते हुए भी अनाथ, असहाय, पीड़ित, तिरस्कृत और अप्रसन्नता का जीवन बिताती हुई घर के एक कौने में दीन-हीन-पराश्रित बन कर बैठी रहती। स्वयं को अत्यन्त दुःखी महसूस करती रहती।[1]

बताइए, इतने सुखप्राप्ति के साधन होते हुए तथा धनाढ्य घर की लड़की होते हुए भी एवं मानव जैसा देवदुर्लभ जन्म प्राप्त होने पर भी भयंकर दुःखानुभूति या दुःखप्राप्ति उसे क्यों हुई? ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस दुःख का मूल कारण पूर्वकृत कर्मबन्ध ही है।

दीनता, निर्धनता और असहायता के दुःख का मूल–पूर्व कर्मबन्ध

एक व्यक्ति को मनुष्य जैसा उत्तम जन्म तो मिला। परन्तु परिवार में धर्म का कोई वातावरण नहीं मिला, न ही उत्तम धर्मसंस्कार मिले। बचपन में ही माता-पिता का वियोग हो गया। इसलिए दीनता और दरिद्रता की चक्की में पिसते हुए किसी तरह वह वयस्क हुआ। मेहनत-मजदूरी करके अपना गुजारा चलाने लगा। संयोगवश एक गरीब पिता ने उसके साथ अपनी लड़की ब्याह दी। थोड़ी-सी सुखानुभूति हुई। पति-पत्नी दोनों मेहनत करके गृहस्थाश्रम की गाड़ी खींच रहे थे। प्रौढ़वय में उसके एक लड़का हुआ। किन्तु उसके दो साल बाद ही पत्नी चल बसी। अब वह और उसका पुत्र ये दो ही प्राणी रह गए। चिन्ता के कारण अकाल में ही वह वृद्ध हो गया। शरीर में रोग और अशक्ति ने डेरा जमा लिया। उसने निश्चय कर लिया कि मुझे पुत्र को पढ़ा लिखा कर बुद्धिमान और संस्कारी बनाना है, ताकि बुढ़ापे में मेरा सहारा बने। यह शिक्षित हो कर कमाने लगेगा; फिर मैं शान्ति से निश्चिंतता का जीवन जीने लगूंगा।

परन्तु मनुष्य की सारी आशाएँ और आकांक्षाएँ कब फली हैं? वह कुछ और सोचता है और उसके बांधे हुए कर्म कुछ और ही खेल खिलाते हैं। बेचारा वृद्ध अपने पुत्र को पढ़ाने और बाद में स्वयं सुखी हो जाने की आशा में जी-तोड़ मेहनत करता है। शरीर अशक्त और लाचार है, फिर भी मन को मनाकर प्रतिदिन सख्त मजदूरी करता है। उसका पुत्र ज्यों-ज्यों उच्च कक्षा में चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वृद्ध का आशातन्तु भी कल्पना का कमनीय महल बांधता जा रहा था, कि अब तो तीन चार वर्ष पश्चात् ही मेरी स्थिति सुखद हो जाएगी। लड़का कमाएगा, मेरी सेवा करेगा। मैं शान्तिपूर्वक आनन्द से जीऊंगा।

परन्तु उसका यह कल्पना का हवाईमहल उस दिन अचानक ही टूट कर धराशायी हो गया, जिस दिन उस कुपुत्र ने अपने उपकारी पिता को सदा-सदा के लिए छोड़कर चले जाने का निश्चय किया। अपने इस निश्चय को बताने के लिए

१. वही, पृ. ४

उसने इस आशय का पत्र पिता को लिखा और पिता के कमरे में टेबल पर रख कर चुपचाप चला गया-"मैं अपनी जिंदगी को अत्यन्त सुखी बनाने के लिए आप से नाता तोड़कर जा रहा हूँ। आपने मुझे पाला-पोसा, बड़ा किया, उसके लिए आपका आभार! अब आपको मेरा मुंह देखने को नहीं मिलेगा।"

सहशिक्षा, सिनेमा, टी.वी. और उपन्यासों के वाचन ने उसके जीवन को, उसके तन-मन को कुमार्ग पर चढ़ा दिया। उसको अपना पिता अब ग्रामीण और असंस्कारी मालूम होने लगा। फैशन और व्यसन ने उसकी बुद्धि और दृष्टि विपरीत कर दी। वह एक धनिक की लड़की के रूप पर मोहित हो गया। लड़की ने भी प्रेम का नाटक रच कर उसे अपने मोहजाल में फंसा लिया। अतः अब उस लड़के को अपना पिता नहीं, वह लड़की (प्रेमिका) ही उपकारी प्रतीत होती है। अब वह पिता के साथ रहने में सुख नहीं मानता, इस लड़की के साथ रहने में ही उसे सुख मालूम होता है।

उसका पिता इस पत्र को पढ़ते ही मूर्च्छित हो गया। होश में लाने वाला कोई था नहीं। निर्धन मनुष्य का सहायक कौन बनता? शीतल पवन दौड़ कर आया। उसकी मूर्च्छा दूर की। परन्तु होश में आने पर सोचा-"अब जी कर भी क्या करना है? हाय! मेरे मनोरथ का महल टूट गया। अब मुझे किसकी आशा से, किसके आधार से जीना है?" यों कहता-कहता वह जोर-जोर से रोता है और इसी आघात से उसका हार्ट-फेल हो जाता है।[1]

वस्तुतः पूर्वजन्म में किये हुए कर्मबन्ध के कारण ही उसे पुत्रमोह हुआ। जिसके कारण उसने नाना कष्ट सहे, बड़ी-बड़ी आशाओं का महल बांधा। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने से पुत्र सहारा देने के बदले बेसहारा बनाकर छोड़ गया। सच पूछा जाए, तो उसका लड़का तो दुःखानुभूति में केवल निमित्त बना था, दुःख का मूल तो पूर्वबद्ध कर्म ही था।

वह करोड़पति से रोड़पति क्यों बना?

वह एक करोड़पति पिता का पुत्र था। खूब धूमधाम से उसका जन्मोत्सव मनाया गया। माता-पिता, भाई-बहन सभी उससे लाड़-प्यार करते थे। बाल्यवय अत्यन्त सुख में बीती। किशोरवय में पढ़ने-लिखने के दिनों में वह मटरगश्ती करने लगा। नीच मित्रों की कुसंगति में पड़कर वह कई दुर्व्यसनों का शिकार हो गया। यौवन-अवस्था आते-आते वह वैभव-विलास, राग-रंग एवं आमोद-प्रमोद में पड़ गया। प्रतिदिन नई-नई जगह में सैर-सपाटे करना, नये-नये पिक्चर देखना, और रोज वारांगना की महफिल में बैठना, धन-सम्पत्ति उड़ाना और मौज-शौक करना, यही जीवन का उद्देश्य बना लिया उसने। पिता की सम्पत्ति का वह मनमाना दुरुपयोग करने लगा। शादी हुई फिर भी उसको अपने जीवन का तथा अपने भविष्य का कुछ भी भान न हुआ।

---

१. जैनदर्शनमां कर्मवाद से भावांशग्रहण पृ. ५-६

माता-पिता यथासमय उसकी चिन्ता ही चिन्ता में चल बसे। वह, उसकी पत्नी और चार बच्चे रह गए। व्यापार-धंधा स्वयं न संभालने से चौपट हो गया। पंचेन्द्रिय-विषयों की रसलोलुपता, धनिक पिता के पुत्र होने का अभिमान, मनमाना खर्च करने और मनचाही मौज करने के अधिकार का मद, और ऐसी ही कुछ बातें अशुभ कर्मबन्ध[1] की कारण बनीं। बद्धकर्म उदय में आया। एक समय का करोड़पति का पुत्र अब रोड़पति हो गया। दर-दर का भिखारी बन गया। उसके जिगरी दोस्त अब उससे किनाराकसी करने लगे। उसके निकट के सम्बन्धी भी उससे आँखें चुराने लगे।

आज वह निपट अकेला बनकर दीन और आर्त्तस्वर में पुकार कर भीख मांग रहा था। उस शहर को छोड़ कर, वह पैदल चलकर दूसरे शहर में पहुँचा। कई दिनों का भूखा था। सोचा–'धनाढ्य लोगों की बस्ती में जाऊँ। वहाँ जरूर खाने को कुछ मिल जाएगा।' वह पहुंच गया एक धनिक-मोहल्ले में। परन्तु धनाढ्य लोगों को दूसरों के जीवन की क्या चिन्ता थी? वे अपने वैभव-विलास में मस्त थे। उनका कुत्ता भी खूब मौज से रहता है।

धीमे कदमों से लड़खड़ाता हुआ वह एक धनिक के बंगले के द्वार पर पहुँचा। कोई भी दूसरा अपरिचित व्यक्ति अंदर न घुस जाय, इसके लिए उस धनिक ने एक आरब चौकीदार रखा था। उसे कह रखा था–"कोई भी हरामखोर यानी जो धनहीन हो, स्वजन न हो, उसे अन्दर न घुसने देना।" आरब चौकीदार ने उसे देखते ही कहा–"किसलिए आये हो यहाँ? यहाँ कुछ भी न मिलेगा। चले जाओ यहाँ से !"

वह भिखारी वेषधारी मन ही मन कहने लगा–'कहाँ जाऊँ अब ! मेरे शरीर में शक्ति और मन की धीरता खत्म हो गई है। यहाँ मैं कुछ पाने की आशा से ही आया हूँ।' वह घूमते-घूमते बहुत थक गया था। दुर्बलता और अशक्ति के कारण आँखों के सामने मौत नाचती दिखाई दे रही थी। सोचा–ऐसे जीवन की अपेक्षा तो मृत्यु ही अच्छी ! मृत्यु में शान्ति और निश्चिन्तता तो है !

मौत की परछाई की कल्पना करते ही अपने जन्म से लेकर अब तक की घटनाएँ चलचित्र की तरह उसकी आँखों के समक्ष आने लगीं। करोड़पति पिता के यहाँ जन्म ! बचपन अत्यन्त सुख-सुविधा और लाड़ प्यार में बीता ! फिर आया यौवन ! अहा ! कितना स्वच्छन्द और विलासी जीवन था वह ! प्रतिदिन नये-नये स्थानों में पर्यटन, रोजाना पिक्चर और प्रतिदिन राग-रंग !

फिर आया ४५ वर्ष का प्रौढ़वय ! वैभव का सूर्य अस्ताचल की ओर जाने लगा। सुरा, सुन्दरी, रसलोलुपता और सम्पत्ति का मौज-शौक में व्यय। इन चारों ने कौटुम्बिक, शारीरिक और मानसिक सब सुख छीन लिया। कोटिपति एकदम फटेहाल भिखारी हो गया ! सबने तिरस्कार किया, परिजनों एवं स्वजनों से अलग-थलग ! यों सोचते-सोचते आँखों से आँसू और मुख से निःश्वास निकल पड़े !

१. वही, पृ. १ से ३ तक

इतने में तो उसकी नंगी पीठ पर सहसा जोर से एक डंडा पड़ा। हरामखोर कहीं का ! साहब के आने का समय हो गया है ! कमबख्त ! तेरे पाप से हमारा भी सर्वनाश हो जायगा ! उठता है या नहीं !–यों लाल-लाल आँखों से घूरते हुए आरब चौकीदार चिल्लाया।

पर अब कौन उठता ! उठने के लिए वह बैठा ही न था ! और उठ कर भी कहाँ जाता !

"बेवकूफ ! तू यों नहीं जाएगा। तो ले" यों कहते हुए आरब चौकीदार ने चार इंच के लोहे के कांटे लगा हुआ डंडा उसके सिर पर दे मारा। चीखता हुआ वह भिखारी वहीं ढल पड़ा। उसकी खोपड़ी फट गई। खून की धारा बह चली। सदा के लिए उसने आँखें मूंद लीं।

आरब चौकीदार उसे गाली देता हुआ चला गया। उसका मृतदेह तीन दिन तक वहीं पड़ा रहा ! कौन उठाता? गिद्धों और कुत्तों ने उसका मांस नोचकर केवल अस्थिपिंजर कर दिया ![1]

यह है पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध के कारण प्राप्त हुए दुःखों की शृंखला !

कर्म संयोग ही दुःख का कारण

इसीलिए आचार्य अमितगति ने स्पष्ट कहा–"इस जन्मरूपी वन में शरीर-धारी प्राणी संयोग (कर्म आदि परभावों के साथ बन्ध) के कारण अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। इसीलिए अपनी आत्मिक परमशान्तिरूप मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति को मन-वचन-काया से कर्मादि पर-पदार्थों के संयोग (बन्ध) का परित्याग कर देना चाहिए।"[2]

पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध ही तो कारण था

पूर्वकृत अशुभ कर्मों के कारण ही अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति केनेडी की भरे बाजार में दिन-दहाड़े गोली मार कर हत्या कर डाली गई।

ये पूर्वबद्ध कर्म ही थे, जिनके कारण अजातशत्रु एवं अहिंसा के परम उपासक महात्मा गांधी की नाथूराम गोडसे द्वारा हत्या हुई। गोडसे को ऐसी कुबुद्धि किसने सुझाई? कहना होगा–गांधीजी के पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध ने ही।

हीरोशिमा और नागासाकी, इन दो नगरों के लाखों निर्दोष मानवों को एटमबम फैंककर जीते-जी भस्म कर देने की कुबुद्धि अमेरिका को किसने स्फुरित की। दूसरों को मारकर जीने का, जी कर पूंजीवाद फैलाने का जंगली विज्ञान अमेरिका को

---

१. जैनदर्शनमां कर्मवाद से भावांशग्रहण

२. संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥ –सामायिक पाठ

किसने सिखाया? उन नागरिकों के पूर्वबद्ध कर्मों ने ही तो उसे प्रेरित किया, उसे ऐसा कुकृत्य करने के लिए।

सुडौल शरीर वाले मस्त पहलवान 'गामा' का शरीर सहसा क्यों सूख गया?

भारत के यशस्वी प्रधानमंत्री स्व. लालबहादुर शास्त्री सदैव राष्ट्रहित एवं परोपकार में रत रहते थे, उनका ताशकंद में अकस्मात् कैसे हार्टफेल हुआ? कोई भी उपचार उस समय काम न आया, इसका क्या कारण था? उनके पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध को ही कारण मानना होगा।

अपनी कला में दत्तचित्त होकर जनता को मंत्रमुग्ध करके सत्पथ पर लाने के इच्छुक संगीत सम्राट ओंकारनाथ को दुःख-दारिद्र्य का अनुभव क्यों करना पड़ा? ये सारे खेल पूर्वकृत अशुभकर्मबन्ध के ही हैं।

इनके विपरीत पूर्वकृत शुभकर्मबन्ध का खेल देखिये। उसके कारण महान् चित्रकार बनने की तमन्ना वाला विद्यार्थी नेपोलियन एक दिन फांस का सम्राट् कैसे बन गया?

एक दिन लकड़ियाँ फाड़ने वाला बिलकुल आशाहीन लड़का जर्मनी का भाग्य-विधाता हर हिटलर कैसे बन गया? तथा एक बार तो ब्रिटेन और अमेरिका जैसे महान् राष्ट्रों को भी प्रकम्पित कर देने वाली प्रचण्ड शक्ति इसमें कहाँ से आ गई? उसके पूर्वकृत शुभकर्मबन्ध के कारण ही ऐसा हुआ? परन्तु इन दोनों ने अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करके लाखों निर्दोष मनुष्यों को मौत के घाट उतार कर अशुभ कर्मबन्ध कर लिया, जिसका फल भी उन्हें इसी जन्म में मिल गया। इनकी प्रचण्ड सामर्थ्य चूर-चूर हो गयी। इन विश्व के मांधाताओं की सारी बाजी उस बद्ध अशुभकर्म ने ही तो धूल में मिला दी थी![1]

दुःख-परम्परा का मूल : कर्मबन्ध

कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता, निमित्त दूसरे-तीसरे हो सकते हैं, परन्तु मूल कारण तो पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मबन्ध को ही मानना होगा।

निष्कर्ष यह है कि इन सब दुःखों का मूल कारण कर्मबन्ध को ही मानना पड़ेगा। कर्मबन्ध दुःख का कारण इसलिए बनता है कि आत्मा अनात्मा से, चेतन जड़ से, देही देह से संयुक्त-बद्ध हो जाता है। नयचक्र वृत्ति में बन्ध का लक्षण भी यही दिया गया है–'आत्मप्रदेशों और पुद्गलों का परस्पर मिल जाना, बन्ध है।'[2] वस्तुतः यही दुःख है। क्योंकि समग्र दुःखों का कारण शरीर को ही माना गया है।

---

१. जैनदर्शनमां कर्मवाद से भावांश ग्रहण

२. अप्पा-पएसामुत्ता, पुग्गलसत्ती तहाविहा णेया।
अण्णोण्णं मिल्लंता बंधो खलु होइ णिच्चइ॥ –नयचक्र वृ. १५४

उत्तराध्ययन सूत्र में शरीरासक्ति को दुःखोत्पत्ति का कारण बताते हुए कहा गया है–"जो व्यक्ति मन, वचन और काया से अपने शरीर पर तथा शरीर के रंग (वर्ण) और रूप पर सर्वथा आसक्त हैं, वे अपने लिए दुःख के उत्पादक हैं। अर्थात् दुःखरूप कर्मबन्ध के कारक हैं।"[1]

भगवती सूत्र में तो दुःख को कर्मबन्ध का पर्यायवाचक तुल्य बताते हुए कहा गया है–जो दुःखित–कर्मबद्ध है, दुःख–कर्मबन्ध को प्राप्त करता है, जो दुःखित (कर्मबन्ध) नहीं है, वह दुःख (कर्मबद्ध) को नहीं पाता।"

इसी प्रकार दुःखी (कर्मबद्ध) जीव ही दुःखों को परिग्रहण करता है, वही दुःख की उदीरणा करता है, वही दुःख का वेदन करता (भोगता) है, तथा वही दुःख की निर्जरा करता है। अदुःखी (अकर्मबद्ध सिद्ध परमात्मा) नहीं।[2]

इससे स्पष्ट है कि दुःख और कर्मबन्ध दोनों पर्यायवाची हैं। जहाँ दुःख है, वहाँ कर्मबन्ध है। संसार में जितने भी दुःख हैं, चाहे वे कायिक हों, मानसिक हों या बौद्धिक, अथवा वे पारिवारिक हों, सामाजिक हों, या राजनैतिक, आधिभौतिक हों, आधिदैविक हों या आध्यात्मिक, स्वकृत हों, या परकृत, प्रकृतिकृत हों या पर-प्राणिकृत, सभी एक या दूसरे प्रकार से कर्मबन्ध के कारण हैं।

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने बन्धन को दुःखरूप माना

भारत के प्रत्येक आस्तिक दर्शन ने बन्धन (कर्मबन्ध) को दुःख रूप माना है और आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ही दुःखों का विघात–नाश करना ही जीवन का चरम लक्ष्य बताया है। 'सांख्यदर्शन' ने इसी तथ्य को व्यक्त करने हेतु 'सांख्यकारिका' की प्रथम कारिका में कहा है–"सारा संसार दुःखत्रय से अभिहत–पीड़ित है। अतः सर्वप्रथम यही जिज्ञासा होनी चाहिए कि दुःखत्रय के विघातक हेतु कौन-कौन से हैं?[3] योगदर्शन ने कहा–सभी विवेकी पुरुषों के लिए यह संयोग दुःख है, अतः वह हेय है, अनागत दुःख भी हेय है।[4] बौद्धदर्शन ने चार आर्यसत्य ये ही बताए हैं–दुःख (बद्धकर्म हेय), दुःख-समुदय (हेयहेतु), दुःखक्षय का मार्ग (हानोपाय या मोक्षोपाय), एवं दुःखनिरोध (हान या मोक्ष)।[5]

---

१. जे केइ सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा काय-वक्केण, सव्वे ते दुक्ख-संभवा ॥ –उत्तराध्ययन ६/१२

२. दुक्खी दुक्खेण फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेण फुडे । ..... एवं दुक्खी परियावियति, दुक्खी दुक्खं उदीरेति, दुक्खी दुक्खं वेदेति, दुक्खी दुक्खं निज्जरेति ।
–व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र श. ७ उ. १ सू. १४/१५/१-२

३. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ । –सांख्यकारिका १

४. दुःखमेव सर्वं विवेकिनः हेयं दुःखमनागतम् ॥ –पातंजलयोगदर्शन २/१५-१६

५. बौद्धदर्शन

स्थानांग सूत्र में एक प्रश्नोत्तरी है–"दुःख (कर्मबन्ध) किसने किया? उत्तर में कहा गया–जीव ने ही प्रमादवश दुःख किया है।" भगवतीसूत्र में तो स्पष्ट कहा है–दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं।"[1] उत्तराध्ययन सूत्र में भी इसी स्वर को मुखरित किया गया है–"जितने भी अविद्यावान् पुरुष हैं, वे अपने लिए दुःख (कर्मबन्ध) उत्पन्न करते हैं। और फिर स्वकृत दुःख के फलस्वरूप अनन्त संसार में दिशाविहीन (लुप्त) होकर प्रभ्रमण करते रहते हैं।"[2]

कर्मों से मुक्ति ही सर्वदुःखों से मुक्ति है

निष्कर्ष यह है कि प्रायः सभी दर्शनों ने दुःख (कर्मबन्ध) से मुक्ति अथवा शाश्वत सुख की ओर प्रस्थान करने का विधान किया है। जैन-दर्शन ने तो कर्मबन्धन को दुःख का मूल मान कर दुःखों से सर्वथा मुक्त होने या शाश्वत अव्याबाध सुख प्राप्त करने का उपाय कर्मों से सर्वथा मुक्त होना बताया है।

वैषयिक सुख भी दुःखरूप कर्मबन्धक

साथ ही वैषयिक सुखों या सांसारिक सुखों को दुःखरूप या दुःख-बीज बताया है। आत्मिक सुख को ही मोक्ष-सुख या परम आनन्द-रूप बताया है। जैसे कि 'प्रवचनसार' में कहा गया है–"जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह पराश्रित, बाधायुक्त, विच्छिन्न, बंध का कारण तथा विषम होने से सुख नहीं, दुःख ही है।"[3]

शरीर सम्बद्ध जन्मादि भी दुःख रूप

शरीर को भी दुःखरूप कर्मबन्धन का कारण इसलिए माना गया है कि उसको लेकर जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, आधि, उपाधि आदि दुःख प्राप्त होते हैं। वीतराग महापुरुषों ने उत्तराध्ययन में स्पष्ट किया है–"जन्म, जरा, मरण, रोग आदि दुःखरूप हैं। अतः आश्चर्य है कि यह संसार दुःखरूप (कर्मबन्धजनित) है, जिसमें संसारी जीव क्लेश पाते रहते हैं।[4] इसी सूत्र में अन्यत्र बताया गया है–"जन्म-मरण को ही दुःख कहते हैं, और कर्म (बन्ध) जन्म-मरणरूप दुःख-परम्परा का मूल हैं।" अतः इस दुःख-परम्परा का मूल कर्मबन्ध ही स्पष्टतः सिद्ध होता है। ● ●

---

१. (क) दुक्खे केण कडे? जीवेण कडे पमाएणं। –स्थानांग–३/२
(ख) अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे। –भगवतीसूत्र १७/५

२. जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए॥ –उत्तराध्ययन ६/१

३. सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥ –प्रवचनसार १/७६

४. (क) जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥ –उत्तरा.–१९/१५
(ख) कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति॥ –वही. अ ३२, गा. ८

३

कर्मबन्ध का विशद स्वरूप

बन्ध समस्त प्राणियों के लिए दुःखदायक–पीड़ाजनक

बन्धन किसी भी प्राणी को अच्छा नहीं लगता। जिसमें मनुष्य तो सर्वाधिक चैतन्य-विकासशील प्राणी है, उसके लिए बन्धन कितना पीड़ाजनक एवं दुःखदायी है, यह वही सबसे अधिक अनुभव कर सकता है। बन्धन का नाम सुनते ही पशु-पक्षी, एवं मनुष्य की आत्मा तिलमिला उठती है। कोई भी मानव, देव, नारक या तिर्यञ्च जीव बन्धन को सुखदायी एवं शान्तिप्रद नहीं मानता। समस्त प्राणियों को बन्धन कष्टकारक, दुःखरूप और मनोवेदनाजनक लगता है। बन्धन की बाह्य पीड़ा कदाचित् किसी जीव को आदत या अभ्यास के कारण महसूस न होती हो, परन्तु आन्तरिक पीड़ा रह-रहकर उसके मन को क्षुब्ध, खिन्न एवं संतप्त बना देती है।

बाह्यबन्ध का रूप भी कितना वेदनाजनक है?

बाह्य (द्रव्य) बन्ध का रूप भी विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में कितना कष्टकारक है, यह उनके द्वारा बाह्यबन्ध के बताए हुए लक्षणों से ही मालूम हो जाता है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं–'किसी को अपने अभीष्ट स्थान से जाने-आने से रोकने का कारण बन्ध है।'[1] आचार्य उमास्वाति का कथन है–"रस्सी, डोरी, सांकल आदि से बांधकर किसी पर नियंत्रण करना बन्ध है"।[2] धवलाकार का कहना है–"अभीष्ट प्रदेश में गमन करने के लिए उत्सुक जीव पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु खूँटे, कील आदि में रस्सा, शृंखला आदि डालकर उनसे बांध देना, जकड़ देना, बंध है।[3] यंत्र, पिंजरे या जेल में अथवा किसी मकान में बंद करके यातना देना भी बाह्य बन्ध है। इसी प्रकार अपराधी

---

१. अभिमतदेशे गतिरोध हेतुर्बन्धः। –तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ७/२५

२. (क) बध्यते येन रज्ज्वादिना स बन्धः। –तत्त्वार्थ भाष्य ८/१
(ख) रज्ज्वादि-बंधने –ज्ञाता. १/८ अ.

३. अभिमत-देश-गमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतुः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिसंगो बन्ध इत्युच्यते।
–धवला पु. १३/ पृ. ३४७

को सजा देने के लिए उसके हाथों-पैरों में हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ डाल देना भी बन्ध है।[1] बाह्य बन्ध किसी भी प्रकार का हो, परतंत्रता में डालने वाला है। फिर वह बन्धन रस्से का हो, सांकल का हो, या हथकड़ियों-बेड़ियों का, कथमपि सुखदायक नहीं है। तोते को लोहे के पिंजरे के बजाय सोने के पिंजरे में डाल दिया जाए, अथवा किसी पशु को लोहे की सांकल की अपेक्षा सोने की सांकल से बांधा जाए, तो भी उसे अच्छा नहीं लगेगा, वह मन ही मन दुःखी होता रहेगा और बन्धनमुक्त होने के लिए छटपटाता रहेगा। इससे भी बढ़कर बन्धन होता है—जेल की कोठरी का, अथवा नजरबन्द कैद का, तथा अज्ञातवास का या वनवास का। इसके अतिरिक्त किसी क्षेत्र की प्रतिबन्धता का बन्धन या किसी पदार्थ की प्रतिबन्धता का बन्धन अथवा किसी की दासता या गुलामी का बन्धन भी कम दुःखदायक या पीड़ाजनक नहीं है।

कर्मबन्धन सभी बाह्यबन्धनों से प्रबलतर है, क्यों ?

संक्षेप में ये सभी बाह्यबन्धन अत्यन्त मनोवेदनाजनक, कष्टकारक तो हैं ही। साथ ही मानव की शारीरिक-मानसिक शक्तियों को भी कुण्ठित एवं भग्न करने वाले, स्वभाव को परतंत्रता की ओर ढालने वाले, विकृत करने वाले एवं प्रतिभा को रौंदने वाले हैं।

इन सब बन्धनों से भी बढ़कर एक और बन्धन है, जो इन सब बाह्यबन्धनों का मूल कारण है, मुख्य स्रोत है। वह बाहर से तो किसी भी अल्पज्ञ को बन्धन-जैसा नहीं दिखता, क्योंकि वह भावबन्धन या आन्तरिक बन्धन है। परन्तु प्राणी के जीवन-व्यवहार में उसके कषाय, राग-द्वेष, मोह, भय, काम आदि की वृत्ति-प्रवृत्ति पर से उस बन्ध का अनुमान हो जाता है। उसे कर्म-विज्ञान की भाषा में कर्मबन्ध कहते हैं। कर्मबन्ध उपर्युक्त सभी बाह्य बन्धों से प्रबलतर है। अगर कर्मबन्ध न हो तो पूर्वोक्त सभी बन्धन उत्पन्न नहीं हो सकते। इस प्रबल बन्ध के कारण ही पूर्वोक्त सभी बंधन होते हैं। उपर्युक्त सभी बन्धन तो केवल शरीर से सम्बद्ध हैं, परन्तु कर्मबन्ध मूल में आत्मा से सम्बद्ध है।

कर्मबन्ध आत्मा को परतंत्र, अनाथ एवं विमूढ़ बना देता है

कर्मबन्ध इतना प्रबल है कि वह आत्मा के स्वभाव को, आत्मा के निजी गुणों को विकृत, कुण्ठित और आवृत कर डालता है। इसी बन्ध (कर्मबन्ध) के कारण आत्मा अनाथ, परतंत्र और विमूढ़ बनकर न तो अपना विकास सम्यक् रूप से कर पाती है, और न ही सम्यग्ज्ञान-दर्शनादि गुणों की वृद्धि करने में सम्यक् पुरुषार्थ कर पाती है; न ही बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चरण में, तथा महाव्रत एवं संयम-नियम के पालन में अपनी पूर्ण शक्ति लगा सकती है।

---

१. बन्धः निगडादिभिः संयमने। —व्यवहारसूत्र उ. ६

कर्मबन्ध आत्मा को पराधीन बनाकर नाना दुःखभागी बनाता है

इसीलिए तत्त्वार्थवार्तिक और आप्त-मीमांसा वृत्ति में कर्मबन्ध का लक्षण किया गया है–'जो आत्मा को परतंत्र कर देता है, अथवा आत्मा का परतंत्रीकरण बन्ध है अथवा कर्म के द्वारा जीव को परतंत्र कर देना, बन्ध है।' 'बंध-विहाणे' में इसका निर्वचन करते हुए कहा है–जो बांध देता है, आत्मा को अस्वतंत्रता–परतंत्रता में डाल देता है, वह (कर्म) बन्ध है।[1] पराधीनता सबसे बड़ा दुःख है। गोस्वामी तुलसीदास की शब्दावली में "पराधीन सपनेहु सुख नांही" इस कहावत के अनुसार कर्मबन्ध के कारण कर्माधीन बना हुआ जीव बार-बार जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि के नाना दुःख भोगता रहता है। बाह्यबन्ध के कारण तो व्यक्ति एक जन्म, वह भी अमुक अवधि तक ही दुःख पाता है, किन्तु कर्मबन्ध के कारण जन्म-जन्मान्तर में विविध गतियों और योनियों में भटक कर रोग, शोक, भूख-प्यास, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग आदि के कारण नाना दुःख, संकट, चिन्ता, उद्विग्नता, बेचैनी, हैरानी, आधि, व्याधि, उपाधि आदि पाता रहता है। इसीलिए 'प्रमाण-संक्षेप' की स्वोपज्ञवृत्ति में कहा गया–चेतन (आत्मा) को हीन स्थान में पहुँचा देना (कर्म) बन्ध है।[2] अर्थात् आत्मा जब अपने स्व-भाव को भूलकर रागद्वेषादि या कषायादि विभाव-परिणामों को करता है, तब कर्म उसे शीघ्र ही उच्च स्थान से गिराकर हीन स्थान में पहुँचा देता है। आप्तपरीक्षा में इसका आशय प्रगट किया गया है कि जैसे हस्तिशाला में बंधा हुआ हाथी परतंत्र रहता है, इसी प्रकार संसारी जीव पराधीन होने के कारण कर्मों से बंधा हुआ है।

संसारी जीव पराधीन इसलिए है कि उसने हीन स्थान को ग्रहण किया है। जैसे कोई सात्त्विक एवं पवित्र ब्राह्मण अपना घर छोड़कर वेश्यागृहरूप निन्द्य स्थान स्वीकार करता है, क्योंकि उसकी कामवासना के तीव्र वेग ने उसे पराधीन बना दिया है। इसी प्रकार संसारी जीव (आत्मा) ने शरीररूप हीन स्थान को आवास स्थल बना लिया। संसारी जीव का शरीर हीन स्थान इसलिए है कि वह जन्म-मरणादि अनेक दुःखों का कारण है। यदि आत्मा सर्वथा स्वतंत्र होता तो वह मल-मूत्र-भण्डाररूप इस महान् अशुचि भण्डार, घृणित एवं अपावन शरीर को कदापि अपना आवास स्थान न बनाता। कर्मबन्ध ऐसा प्रबल होता है कि वह जीव को बार-बार शरीर धारण कराता है। शरीर में रहते हुए वह मोहासक्त होकर कर्मबन्ध के कारण विवश हो जाता है।[3]

---

१. (क) बध्यतेऽस्वतंत्री क्रियते, अस्वतंत्रीकरणं वा बन्धः। –तत्त्वार्थवार्तिक १/४/१०
(ख) बंधो नाम कर्मणाऽस्वतंत्रीकरणं। –आप्तमीमांसा (वसु. वृ.) ४०
(ग) बध्नाति आत्मानं परतंत्री करोति, अस्वतंत्रतां प्राप्यतीति बन्धः। –बंधविहाणे १

२. (क) चेतनस्य हीनस्थान-प्रापणं बन्धः। –प्रमाण संक्षेप (स्वो. वृ.) ६६
(ख) आप्तपरीक्षा (आ. विद्यानन्दि स्वामी) पृ. १

३. रे कर्म तेरी गति न्यारी (गुणरत्न सूरीश्वरजी म.) से पृ. ३

किसको किसका बन्ध है ?

इसीलिए एक आचार्य ने कहा–जैसे हाथी को अंकुश का बन्धन है; घोड़े को लगाम का बन्धन है, सर्प को पिटारे का बन्धन है, कुत्ते को गले के पट्टे का बन्धन है, पक्षी को पिंजरे का बन्धन है, पुरुष को स्त्री का बन्धन है; उसी प्रकार जीव को कर्मों का बन्धन है।

कर्मबन्ध के विविध लक्षण : कर्म के साथ संयोग अर्थ में

इसलिए 'विवेकविलास' ग्रन्थ में बन्ध का लक्षण बताया–कर्मों के बन्ध के कारण 'कर्मबन्ध' कहा गया है। गोम्मटसार में भी कर्मों के सम्बन्ध को बन्ध कहा गया है। जबकि कर्मग्रन्थ तृतीय भाग में बन्ध का लक्षण किया गया है–नये कर्मों को ग्रहण करना बन्ध है। तत्त्वार्थ भाष्य में कर्म के संयोग को कर्मबन्ध कहा है। आचारांग निर्युक्ति में कहा गया–"कर्मद्रव्यों के साथ जीव का जो संयोग होता है, उसे ही बन्ध जानना चाहिए।" षड्दर्शन समुच्चय में भी इसी आशय से मिलता-जुलता लक्षण दिया गया है–शुभ-अशुभकर्मों का ग्रहण करना ही कर्मों का बन्ध इष्ट है।[1] इसी प्रकार कर्मस्तव (कर्मग्रन्थ भा. ३ वृत्ति) में कहा गया है–"मिथ्यात्व आदि हेतुओं के द्वारा अभिनव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का ग्रहण करना बन्ध कहलाता है।"[2]

संयोग के विषय में भ्रान्ति और उसका निराकरण

निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त सभी लक्षणों में कर्मों के ग्रहण, सम्बन्ध या संयोग को एक या दूसरे प्रकार से 'कर्मबन्ध' कहा गया है। वैसे तो आत्मा और कर्म का संयोग प्रवाह रूप से अनादि[3] है। यह तथ्य हमने भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है, इसी खण्ड के चतुर्थ निबन्ध में। परन्तु संयोग शब्द व्यावहारिक जगत् में कुछ भ्रम पैदा करने वाला है। सामान्यतया व्यवहार में संयोग शब्द का प्रयोग पूर्व-वियोग को अनुलक्षित करके होता है। अर्थात् पहले जब दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् स्थिति में हों, और बाद में वे

---

१ (क) कर्मणां बन्धनात् बन्धो। –विवेकविलास ८/२५२
(ख) कम्माणं संबंधो बंधो। –गोम्मटसार कर्मकाण्ड ४३८
(ग) अभिणव-कम्म-ग्गहणं बंधो। –कर्मस्तव ३
(घ) बन्धः कर्मणो योगः। –तत्त्वार्थ भाष्य १/३
(ङ) बन्धो हि जीव-कर्म-संयोग-लक्षणः। –आवश्यकनिर्युक्ति (म. वृत्ति) ६२
(च) कम्मदव्वेहिं सम संजोगो होइ उ जीवस्स ; सो बंधो नायव्वो। –आचा. नि.२६०
(छ) शुभाशुभानां ग्रहणं कर्मणां बन्ध इष्यते। –षड्दर्शनसमुच्चय (वृ.) ४७

२. मिथ्यात्वादि हेतुभिरभिनवस्य नूतनस्य कर्मणः ज्ञानावरणादेर्ग्रहणं उपादानं बन्ध इत्युच्यते। –कर्मग्रन्थ भा. ३, कर्मस्तव स्वो. वृ. ३

३. देखें, इसी सप्तम खण्ड के चतुर्थ निबन्ध–'कर्मबन्धः क्यों, कब और कैसे ?' में अनादि शब्द का विश्लेषण।

इकट्ठी हो जाएँ, तब कहा जाता है कि उक्त दोनों वस्तुएँ संयोग को प्राप्त हुईं। आशय यह है कि पहले वियोग हो तो संयोग होता है, ऐसा व्यावहारिक जगत् में देखा जाता है। इस दृष्टि से यहाँ भी कर्म और आत्मा के संयोग में यह भ्रम पैदा होता है कि पहले दोनों का वियोग हो गया था, फिर इन दोनों के संयोग की शुरुआत हुई। ऐसा मानने से कर्म और आत्मा की आदि सूचित होती है, मगर यह सिद्धान्तविरुद्ध है। इसलिए यहाँ संयोग शब्द एक अलग अपेक्षा से ही प्रयुक्त किया जाता है। आत्मा और कर्म भिन्न-भिन्न स्वभाव और गुण वाले हैं। इसी भिन्नता को सूचित करने में ही संयोग शब्द की सफलता है।

आत्मा और कर्म का स्वभाव भिन्न-भिन्न, फिर भी इन दोनों का संयोग

आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा, इन्द्रियातीत, अमूर्तिक, संकोच-विस्तार शक्तियुक्त और असंख्यात-प्रदेशी एक द्रव्य है। इससे विपरीत कर्म-द्रव्य पौद्गलिक, समूर्त्त और जड़-पिंड है। ये दोनों द्रव्य अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले हैं। ये दोनों एक प्रदेशावगाही होने पर भी स्वभाव में निराले-निराले हैं। आत्मा का एक भी प्रदेश कर्मरूप नहीं होता, इसी प्रकार कर्म का एक भी परमाणु आत्मरूप नहीं होता। सोना और चाँदी, दोनों को एक बर्तन में गलाकर तथा दोनों को एकत्र ढालकर संयुक्त करने पर भी सोना अपने पीलेपन के गुण सहित चाँदी के श्वेत गुण से भिन्न ही रहता है। तेजाब के प्रयोग से दोनों को पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म दोनों एक साँचे में ढले हुए वर्तमान में प्रतीत होते हैं, वर्तमान में दोनों का संयोग हो रहा है, फिर भी स्वभाव से दोनों (आत्मा और कर्म) द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में हैं। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की दृष्टि से ये दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न भासित होने से ही इन दोनों का संयोग प्रतिपादित किया गया है। इसलिए संयोग-शब्द इस स्थल पर इसी अपेक्षा को ही सूचित करता है।[1]

संयोग शब्दजन्य भ्रान्ति के निराकरणार्थ श्लेष शब्द-प्रयोग

संयोग शब्द से व्यावहारिक जगत् में होने वाली पूर्वोक्त भ्रान्ति उत्पन्न न हो, इस अपेक्षा से 'तत्त्वार्थ भाष्य' आदि में संयोग के बदले श्लेष शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है–"बन्धन बन्ध है, (अर्थात्–आत्मा और कर्म दोनों का) परस्पर आश्लेष–चिपकना बंध है।"[2] 'भाव-प्राभृत' में इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कहा है–"आस्रव के अनन्तर दूसरे क्षण (समय) में आत्मप्रदेशों में कर्म-परमाणुओं का जो श्लेष होता है, वह बन्ध है।"[3]

---

१. कर्म अने आत्मानो संयोग (श्री अध्यायी) से, पृ. ४

२. बन्धनं बन्धः परस्पराश्लेषः। –तत्त्वार्थ भाष्य, हारि. वृ. ५/२४

३. आत्मप्रदेशेषु आस्रवानन्तरं द्वितीय समये कर्मपरमाणवः श्लिष्यन्ति स बन्धः।
–भावप्राभृत टी. ९५

आशय यह है कि पहले आस्रव (राग द्वेष या कषाय रूप भावास्रव) के द्वारा कर्मपुद्गलों का आकर्षण होता है, उसके पश्चात् दूसरे क्षण (समय) ही (कषाय या राग-द्वेष की चिकनाहट आत्म प्रदेशों पर होने से) कर्मपरमाणु चिपक जाते हैं। यही बन्ध की प्रक्रिया है। उत्तराध्ययनसूत्र (नि. शा. वृ.) में भी इसी लक्षण का समर्थन करते हुए कहा गया है–आत्मा और कर्म का परस्पर अत्यन्त आश्लेष हो जाना बन्ध है।[१] इसी का ही विशद स्वरूप राजवार्तिक में बताया है–आत्मा और कर्म का एक दूसरे में अनुप्रवेश हो जाना बन्ध है।"[२] कर्मप्रकृति में इसी तथ्य को दूसरी तरह से प्रतिपादित किया गया है–"बन्ध उसका नाम है, जहाँ आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों का अग्नि और लोहपिण्ड की तरह परस्पर अनुगमन–एक-दूसरे में प्रवेश हो जाता है।"[३] बृहद्द्रव्य-संग्रह की टीका में अधिक स्पष्टीकरण के साथ बन्ध का स्वरूप बताते हुए कहा गया है–"बन्ध से अतीत, शुद्ध आत्मोपलब्धि के भावों से च्युत जीव का कर्मप्रदेशों के साथ संश्लेष हो जाना बन्ध है।[४]

बन्ध के इन सब लक्षणों में संयोग, श्लेष या बन्ध के अन्तर और रहस्य को गहराई से समझ लेना आवश्यक है। यहाँ बन्ध को बालू के कणों की भाँति संयोग या सम्पर्क-मात्र नहीं समझना चाहिए। रजकणों का परस्पर मिलकर भी पृथक्-पृथक् रहना संयोग कहलाता है। संयोग भी दो प्रकार का होता है–(१) भिन्न-क्षेत्रवर्ती और (२) एकक्षेत्रवर्ती। रजकणों का संयोग भिन्न-क्षेत्रवर्ती होता है, क्योंकि वे परस्पर एक दूसरे से जुड़ते तो हैं;[५] किन्तु एक दूसरे में अवगाह को प्राप्त न होकर पृथक्-पृथक् प्रदेशों पर स्थित रहते हैं, जबकि अनन्त परमाणुओं का, सूक्ष्म स्कन्धों का या विभिन्न वर्गणाओं का संयोग (बन्ध नहीं), एक क्षेत्रवर्ती है; क्योंकि ये परस्पर एक क्षेत्र में अवगाह को प्राप्त होकर एक ही प्रदेश में स्थित हो जाते हैं। एक-क्षेत्रावगाह रूप से आकाश के एक ही क्षेत्र में रहने पर भी ये परस्पर बन्ध को प्राप्त हुए नहीं कहला सकते; क्योंकि इस प्रकार उनका एक दूसरे के साथ कोई श्लेष (गाढ़) सम्बन्ध नहीं हो पाता। एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष अपना-अपना स्वतंत्र परिणमन या कार्य करते रहते हैं।

ध्यान रहे, आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर इस प्रकार के अनन्त द्रव्य रह रहे हैं, परन्तु वे स्वतंत्र सत्ता के कारण परस्पर बंधते नहीं, बंधे भी नहीं हैं। विवक्षित बन्ध में

---

१. बन्धः आत्मकर्मणोरत्यन्त-संश्लेषः। – उत्तराध्ययन नि. शा. वृ. ४

२. आत्म-कर्मणोरन्योन्य-प्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। –राजवार्तिक १/४/१७

३. बन्धोनाम कर्मपुद्गलानां जीव प्रदेशैः सह वन्ह्यया पिण्डवदन्योन्यानुगमः।
–कर्मप्रकृति मलय. वृ. व. क. २/ पृ. १८

४. बन्धातीत–शुद्धात्मोपलम्भनावना–च्युत-जीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः।
–बृहद् द्रव्यसंग्रह, टीका, २८

५. इस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें–'कर्मसिद्धान्त' (जिनेन्द्रवर्णी) में 'बन्ध-परिचय' नामक पंचम प्रकरण।

कुछ विशेषता है। मिल-जुलकर एकाकार अखण्डरूप बन जाना बन्ध कहलाता है, जो संश्लेष-सम्बन्धस्वरूप होता है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ होता है कि बन्ध को प्राप्त मूल पदार्थ जड़ हो, या चेतन अपने-अपने पृथक्-पृथक् शुद्ध स्वरूप से च्युत होकर कोई विजातीय रूप धारण कर लेते हैं। धवला में बन्ध का ऐसा ही लक्षण दिया गया है। उदाहरण के रूप में–ऑक्सीजन और हाईड्रोजन, इन दो गैसों को ले लीजिए। ये दोनों ही वायु-स्वरूप हैं और दोनों ही आग को भड़काने की क्षमता रखती हैं। परन्तु परस्पर बन्ध को प्राप्त हो जाने पर न तो ऑक्सीजन रहती है और न ही हाईड्रोजन, एक तीसरा ही नया पदार्थ, अर्थात्–जल बन जाता है, जिसमें अग्नि को भड़काने के बजाय उसे बुझाने की शक्ति है। इस प्रकार के बन्ध को श्लेष-बन्ध कहते हैं। समस्त रासायनिक प्रयोगों का आधार ऐसा ही बन्ध है। सोना तथा ताँबा मिलकर एक अखण्ड पिण्ड बन जाता है, जो न तो शुद्ध सोना रहता है, और न शुद्ध ताँबा। एक तीसरी विजातीय धातु बन जाती है। इसी प्रकार पीतल, कांसा आदि धातुओं के विषय में भी समझ लेना चाहिए।[1]

दोनों का संश्लेष-सम्बन्ध होने पर स्व-स्वभाव को नहीं छोड़ते

इस पर से कोई यह न समझ बैठे कि आत्मा और कर्मपुद्गल, अथवा ऑक्सीजन-हाईड्रोजन आदि दोनों पदार्थ अपने स्वभाव को सर्वथा छोड़ देते हैं। दोनों का परस्पर संश्लेषण बन्ध हो जाने पर भी इनकी स्वतंत्रता और स्वभाव अवश्य बने रहते हैं, वे अव्यक्त या तिरोभूत अवश्य हो जाते हैं। स्वतः अथवा किसी रासायनिक प्रयोग द्वारा पृथक् हो जाने पर उनका यह मूल स्वभाव पुनः व्यक्त या आविर्भूत हो जाता है। जैसे–जल को प्रयोग विशेष द्वारा फाड़ने पर पुनः वे ऑक्सीजन तथा हाईड्रोजन बन जाते हैं। इसी प्रकार ताँबा-मिश्रित स्वर्ण को शोधने पर सोना तथा ताँबा पुनः अपने-अपने शुद्ध रूप में आ जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी कर्मों के साथ पूर्वोक्त प्रकार से बँधकर भी संवर-निर्जरा की प्रक्रिया से पृथक्-पृथक् हो जाने पर दोनों अपने-अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित हो जाते हैं। बन्ध-अवस्था में ही उनका यह विजातीय रूप रहता है, पृथक् हो जाने पर पुनः अपने स्वभाव में आ जाते हैं।[2]

आत्मा और कर्मपुद्गल : बन्ध की अपेक्षा से अभिन्न, लक्षण की अपेक्षा से भिन्न

'पंचास्तिकाय' में इसी तथ्य को स्पष्टतया समझाया गया है–"कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ श्लिष्ट होकर विशिष्ट शक्ति के परिणमन से (दूध और पानी की तरह एक रूप में) स्थित हो जाना बन्ध है।" इसका तात्पर्य भी वही है, जिसे हम पिछले पृष्ठों में स्पष्ट कर आए हैं। स्पष्टः शब्दों में कहें तो–'लक्षण की अपेक्षा से जीव

---

१. (क) जैन सिद्धान्त (जिनेन्द्रवर्णी) से, पृ. ३४-३५
(ख) बंधो णाम दुभाव-परिहारेण एयत्तावत्ती।' –धवला, पु. १३, पृ. ३४७

२. जैन सिद्धान्त से पृष्ठ ३५-३६

(आत्मा) और कर्म-पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं। जीव चेतन है, कर्मपुद्गल अचेतन; जीव अमूर्त्त है, कर्म पुद्गल मूर्त्त है; किन्तु बन्ध की अपेक्षा से जीव (आत्मा) और कर्मपुद्गल अभिन्नवत् हैं–एकमेक हैं–दूध और पानी की तरह एकत्व को प्राप्त हैं।[1]

श्लेषरूप बन्ध में शुद्ध की अपेक्षा बद्ध के द्रव्यादि चतुष्टय में अन्तर

इस विषय में और अधिक स्पष्टता करते हुए श्री जिनेन्द्र वर्णीजी लिखते हैं– संश्लेषरूप इस सम्बन्ध-विशेष में केवल क्षेत्रात्मक प्रदेशबन्ध ही नहीं होता, अपितु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारों का ही बन्ध हो जाता है। पृथक्-पृथक् द्रव्य सदा एक होता है, किन्तु बद्ध-द्रव्य एकाधिक द्रव्यों का पिण्ड हो जाता है। शुद्ध द्रव्य स्व-देश-प्रमाण ही होता है; अर्थात्–पुद्गल द्रव्य एक प्रदेशी और जीव द्रव्य लोकाकाश-प्रमाण असंख्यात्-प्रदेशी। परन्तु बद्ध पुद्गल-स्कन्ध अनेक-प्रदेशी और बद्ध जीव शरीर-प्रमाण असंख्यात-प्रदेशी हो जाता है। शुद्ध द्रव्य की शुद्ध पर्याय केवल एक समय-स्थायी होती है, परन्तु बद्ध जड़ द्रव्यों की तथा बद्ध चेतन द्रव्यों की अशुद्ध द्रव्य-पर्यायें अथवा भाव-पर्यायें नियमतः असंख्यात-समय-स्थायी या अधिक-काल-स्थायी होती हैं। शुद्ध द्रव्यों का भाव अपने-अपने शुद्ध गुणों रूप रहता है, परन्तु बद्ध द्रव्यों का भाव अनेक गुणों के मिश्रण से विकृत हो जाता है। शुद्ध अवस्था में जड़ (कर्मपुद्गल) या चेतन कोई भी पदार्थ इन्द्रिय-गोचर नहीं होता, जबकि बद्ध अवस्था में जड़-स्कन्ध तथा शरीरधारी जीव इन्द्रिय-ग्राह्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्य के बद्ध-अवस्था में, स्व-चतुष्टय ही बदलकर विजातीय रूप धारण कर लेते हैं। यही श्लेषरूप बन्ध की विचित्रता है।[2]

सभी एकक्षेत्रावगाही वस्तुएँ बन्ध को प्राप्त नहीं होतीं

यह ठीक है कि बन्ध को प्राप्त वस्तुएँ एकक्षेत्रावगाही हो जाती हैं, किन्तु सभी एकक्षेत्रावगाही वस्तुएँ बन्ध को प्राप्त हो जाएँ, यह आवश्यक नहीं है। जैसे कि एक प्रदेश पर स्थित अनन्त परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त न होकर अलग-अलग रहते हैं। लोकाकाश के एक प्रदेश या क्षेत्र पर अनन्तानन्त परमाणुओं, अनन्त सूक्ष्म वर्गणाओं, अनन्त सूक्ष्म शरीरधारी जीवों तथा एक स्थूल शरीरधारी जीव, आदि इतनी बड़ी समष्टि का अवस्थान पाया जाता है। ये सभी एक दूसरे में अवगाह पाकर निर्बाधरूप से अवस्थित रहते हैं। इन सब में एकक्षेत्रावगाह तो है, किन्तु संश्लेष सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि सभी पदार्थों का परिणमन एक-दूसरे से निरपेक्ष स्वतंत्ररीत्या चलता रहता है। बन्ध में ऐसा नहीं होने पाता, क्योंकि बन्ध को प्राप्त सभी (कर्म)[3] परमाणुओं और जीव का परिणमन एक दूसरे की अपेक्षा रखकर होता है। पंचाध्यायी में इसी तथ्य

---

१. बन्धस्तु कर्म-पुद्गलानां विशिष्ट-शक्ति-परिणामेनाऽवस्थानम्। –पंचास्तिकाय (अमृत. वृ.) १४८

२. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णीजी) से

३. वही, (जिनेन्द्र वर्णीजी) से

को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–"यह बन्ध आत्मा और कर्म की अनुकूलता होने पर ही होता है, प्रतिकूलों का बन्ध नहीं होता।" प्रवचनसार में कहा गया है–यथायोग्य स्निग्ध-रूक्षत्वरूप स्पर्श से पुद्गल-कर्मवर्गणाओं का पिण्डरूप बन्ध होता है तथा राग-द्वेष-मोह परिणामों से जीव का बन्ध होता है। जीव के परिणामों का निमित्त पाकर जीव-पुद्गल का बन्ध होना जीव-कर्म-बन्ध है। अतः जीव और कर्मपुद्गल के आश्लेष रूप बन्ध में दोनों अपने-अपने शुद्ध रूप को छोड़कर एक-दूसरे के अधीन हो जाते हैं, अपने कार्य में अन्य की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। यही विकार भाव है। इस भाव में द्रव्य अपने शुद्ध भाव से च्युत होकर किसी विजातीय प्रकार का हो जाता है। जैसे–दूध के मिठास से दही का खटास हो जाना।[1]

बन्ध का परिष्कृत लक्षण

'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' में इसी का परिष्कृत लक्षण देते हुए कहा गया है–"कर्म के योग्य, सूक्ष्म और एकक्षेत्रावगाही अनन्त कर्मपुद्गल परमाणुओं का कषाय से भीगे हुए आत्मा के प्रत्येक-प्रदेश में उपश्लिष्ट हो जाना–एकमेकरूप से चिपक जाना, बन्ध है। वही बन्ध है, अन्य संयोगमात्र या स्वगुण-विशेष समवायरूप बंध नहीं है। यही तात्पर्यार्थ है।"[2]

तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि वृत्ति में बन्ध का लक्षण स्पष्ट करने हेतु मूलसूत्र के साथ संगति बिठाते हुए कहा गया है–जीव कषाययुक्त होने के कारण कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है, वही बन्ध है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी जठराग्नि के अनुरूप आहार का ग्रहण करता है, उसी प्रकार कषायों की तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम अवस्था के अनुरूप कर्मों का स्थितिबन्ध, और अनुभागबन्ध होता है, इस विशेषता को द्योतित करने के लिए सूत्र में 'सकषायत्वात्' कहा है। आत्मा अमूर्त है, इसलिए बिना हाथ-पैर आदि के वह कर्मों को कैसे ग्रहण करता है, इसके समाधान के लिए यहाँ 'जीव' पद दिया है। जीव का अर्थ है–जो जीता है, प्राण धारण करता है, जिसके आयुष्य कर्म का सद्भाव है **'कर्मणोयोग्यान्'** पद से तात्पर्य है–कषाययुक्त जीव कर्म को बांधने के योग्य होते हैं, वे कर्मयोग्य पुद्गलों को त्रिविध योग द्वारा ग्रहण करते हैं। वस्तुतः पूर्वबद्ध कर्म के कारण जीव कषाययुक्त होता है। इससे जीव और कर्म का अनादि-सम्बन्ध भी सूचित होता है। इसी प्रकार अमूर्त जीव

---

१. (क) सानुकूलतया बन्धो, न बन्धः प्रतिकूलयोः। –पंचाध्यायी २/१०२
(ख) कम्मेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णस्सऽवगाहो पुग्गल-जीवप्पणो भणिदो॥ –प्र. सा. २/८५
(ग) देखें–प्रवचनसार (अमृतचन्द्रसूरि टीका) में इस पर व्याख्या। २/८५

२. कर्मणो यौग्यानां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानामादानादात्मनः कषायार्द्रीकृतस्य प्रतिप्रदेशं तदुपश्लेषो बन्धः। स एव बंधो, नान्यः संयोगमात्र स्व-गुण-विशेष-समवायो वेति तात्पर्यार्थः।
–तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक (वृ.) ८/२

मूर्त कर्म को कैसे बांधता है?, इस कुतर्क का भी निराकरण हो जाता है; क्योंकि पहले से कर्मयुक्त होने के कारण जीव वर्तमान में मूर्त है, अमूर्त नहीं। तथा सकषाय होने से वह (जीव) कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इससे कषाय-रहित वीतराग पुरुषों के नये कर्मों का तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता और सर्वकर्म रहित सिद्ध परमात्मा के तो कर्मों का बन्ध सर्वथा नहीं होता।[1]

पं. सुखलालजी द्वारा बन्ध के लक्षण का स्पष्टीकरण

तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन) में बन्ध के इसी लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए पं. सुखलालजी लिखते हैं–"पुद्गल की अनेक वर्गणाएँ (प्रकार) हैं। उनमें से जो वर्गणाएँ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं, उन्हीं को ग्रहण करके जीव अपने आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप से जोड़ देता है। इसका आशय यह है कि आत्मा स्वभाव से अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कषाययुक्त या रागादियुक्त तथा कर्म से बद्ध होने से मूर्तवत् हो जाता है। वह मूर्त जीव ही मूर्त कर्मपुद्गलों का ग्रहण करता है और कषायवश उनसे बँध जाता है। उदाहरणार्थ–जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को खींच (ग्रहण) करके अपनी उष्णता से उसे लौ में परिणत कर लेता है, वैसे ही आत्मारूपी दीपक भी कषायरूप बत्ती द्वारा कर्मयोग्य तेलरूप पुद्गलों को ग्रहण (खींच) कर उन्हें अपनी उष्णता से कर्मरूप में परिणत कर लेता है। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त पुद्गलों का यह श्लेष सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है।" अर्थात्–"कर्म और आत्मा का परस्पर श्लेष होने से एक विजातीय–विलक्षण रूप में दोनों की अवस्था-विशेष को बन्ध कहा जाता है।"[2]

निष्कर्ष यह है कि जब आत्मा के प्रदेशों से पुद्गलद्रव्य के कर्मयोग्य परमाणु मिल जाते हैं, तब आत्मा का अपना स्वरूप और शक्ति विकृत हो जाती है। वह अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करने में स्वतंत्र नहीं रहती; यही उसका बन्ध है।

कर्मबन्ध : आत्मा के स्व-भाव और स्व-गुणों का अवरोधक

आध्यात्मिक दृष्टि से सोचा जाए तो बन्ध वही है, जो आत्मा को बंधन में डालता है, आत्मा की शक्तियों को कुण्ठित कर देता है, आत्मा के ज्ञान और दर्शन रूप स्वाभाविक गुणों को आवृत कर देता है। एक वाक्य में कहें तो आत्मा के अपने स्व-भाव को उपलब्ध होने देने में जो अवरोधक कारण है, वही बंध है। वृहद् द्रव्य संग्रह में बन्ध के इसी स्वरूप का समर्थन करते हुए कहा गया है–"बन्ध से अतीत शुद्ध आत्मोपलब्धिरूप भावना से च्युत होकर (अशुद्ध निश्चयनय से) जीव (आत्मा)

---

१. (क) सकषायत्वात् कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः। –तत्त्वार्थ सूत्र ८/२
(ख) देखें, इसी सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि में व्याख्या, जैन सिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. ९६

२. तत्त्वार्थ सूत्रः विवेचन (पं. सुखलालजी) से पृ. १९४

का कर्म के प्रदेशों के साथ परस्पर मेल (श्लेष) होना बन्ध है।" आत्मा को अपने स्वभाव में जाने से कर्मबन्ध रोकता है।[1] आत्मा अपने विकारी भावों–विभावों से कर्म बांधता है।

कर्मबन्ध के फल को जानकर उनसे बचो।

कर्मबन्ध के कारण ही जीव चौरासी लक्ष जीवयोनियों में बार-बार जन्म-मरण करता है, वहाँ जैसे–तैसे जीता है, सुख की इच्छा होते हुए भी दुःख के कटघरे में जीता है। मरने की तनिक भी इच्छा न होते हुए भी कर्मबन्ध के फलस्वरूप जबरन शीघ्र मर जाता है। मरने के बाद भी ऐसे-ऐसे नये-नये शरीर धारण करने पड़ते हैं, जिनसे घृणा हो ऐसे स्थान में रहना पड़ता है, जहाँ धर्म और ज्ञान की जरा भी किरण नहीं पहुँचती। कर्मबन्ध के कारण आत्मा अपने ८ निजी गुणों से वंचित रहता है, वे गुण कुण्ठित और आवृत हो जाते हैं। कर्मबन्ध के कारण ही आत्मा के आठों गुण दबे हुए हैं। इसलिए कर्मबन्ध का वास्तविक स्वरूप पहचान कर कर्मबन्ध के कारणों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।[2]

●●

---

१. (क) वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि (डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री) से भावांश ग्रहण पं. २२८
(ख) बन्धातीत-शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भ-भावना-च्युत-जीवस्य कर्म-प्रदेशः सह श्लेषो बन्धः।
–बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. २८ टीका

२. रे कर्म तेरी गति न्यारी (विजयगुणरत्न सूरीजी) से भावांश ग्रहण, पृ. ४

४

कर्मबन्ध : क्यों, कब और कैसे ?

समस्त आत्माएँ अपने मूल स्वभाव में क्यों नहीं रहतीं ?

आत्मा का मूल स्वभाव ज्ञान-दर्शन, सुख (आत्मिक आनन्द) और शक्ति है। वह अपने आप में शुद्ध है, निर्मल है, अनन्त अव्याबाध सुख और शक्ति से ओतप्रोत है। परन्तु वर्तमान में सांसारिक आत्माओं की दशा अशुद्ध है। वे न तो पूर्ण ज्ञान-दर्शन से युक्त हैं और न ही अव्याबाध सुख और शक्ति से सम्पन्न हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों पर दृष्टिपात करते हैं तो उनकी दशा गाढ़ मिथ्यात्व एवं मिथ्याज्ञान से ग्रस्त, अन्धकाराच्छन्न है। तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों में भी अधिकांश जीव इसी घोर अज्ञान और मिथ्यात्व के अन्धकार में पड़े हुए हैं। कहीं-कहीं कोई संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव किसी निमित्त से अपनी अशुद्ध दशा को जान पाता है, उसकी दृष्टि विकसित होती है, किन्तु वह भी कदाचित् कर्मक्षयोपशमवशात् देशविरत हो सकता है, सर्वविरत नहीं। मनुष्यों में भी अधिकांश मिथ्यात्व-कुज्ञान के अन्धतमस् में पड़े रहते हैं। उनको स्व-पर का कुछ भी बोध नहीं होता। कदाचित् पूर्वकृत कर्मों के क्षयोपशमवशात् कोई सम्यक्-दृष्टि सम्पन्न हो जाता है, कोई सम्यक्ज्ञान की किरण भी पा जाता है, और कोई देशविरति और कोई सर्वविरति चरित्र भी पा जाता है। मनुष्य भव में आत्मा को शुद्ध भावों में रखने तथा उसकी अशुद्ध दशा को एकांशतः अथवा सर्वांशतः दूर करने का अधिक चांस है। अन्य पंचेन्द्रिय जीवों–देवों, नारकों तथा तिर्यञ्चों को यह चांस नहीं मिलता कि वह सर्वांशतः शुद्ध दशा को प्राप्त हो सकें।

आत्मा शुद्ध से अशुद्ध दशा में कैसे पहुँच जाती है ?

प्रश्न होता है–आत्मा का स्वभाव तो अपने आप में शुद्ध है, ज्ञानमय है, फिर यह अपने स्वभाव को कैसे विकृत कर लेती है अथवा अशुद्ध दशा में कैसे पहुँच जाती है? इसका मूल कारण है–कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का संश्लिष्ट हो जाना–बद्ध हो जाना। जैसे–पानी का स्वभाव शीतल एवं निर्मल (स्वच्छ) है, किन्तु अग्नि और मिट्टी

के सम्बन्ध (संयोग) के कारण वह उष्ण एवं मलिन हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव शान्त, निराकुल एवं आनन्दमय है, परन्तु परभावों या विभावों के संयोग से वह अशान्त, व्याकुल एवं दुःखमय हो जाता है। आत्मा जब अपने स्वभाव को छोड़कर परभावों या विभावों को अपनाता है, तब वह बन्धन में पड़ता है, दुःख पाता है।

दूसरा कोई द्रव्य आत्मा को सुख या दुःख नहीं देता

मनुष्य अज्ञानवश यह मानता है–कर्म, ईश्वर या अन्य कोई व्यक्ति सुख या दुःख देता है। वस्तुतः कर्म या ईश्वर कोई भी जीव को सुख या दुःख नहीं देता। अगर कर्म या ईश्वर के हाथ में अपनी स्वतंत्रता सौंप दी तो इससे बड़ी आत्मा की विडम्बना या परतंत्रता और क्या होगी ? फिर तो अपनी मुक्ति या परम स्वतंत्रता पाने के लिए जीव के द्वारा की जाने वाली रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की सारी साधनाएँ निरर्थक हो जायँगी। परन्तु ऐसा नहीं है।[1] प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। कोई भी द्रव्य या ईश्वर अपने आप में किसी को सुख या दुःख नहीं देता, न ही कोई दूसरा (पर-भाव) किसी को सुखी या दुःखी कर सकता है। सभी जीव स्वभाव में स्वतंत्र हैं, अपने सुख-दुःख के बनाने वाले स्वयं जीव ही हैं। जैसे–बिजली सामने प्रत्यक्ष दिखती है। वह न तो बोलती है, और न ही किसी को सुख या दुःख देती है। बिजली के नंगे तार के हाथ लगाने से या उसके साथ छेड़छाड़ करने से वह पकड़ लेती है, प्राण भी हरण कर लेती है। इसमें बिजली का कोई अपराध नहीं, वह तो तटस्थ है। बिजली को किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं। इसके तार में करेंट है। बिजली को कोई छूता है, तो वह झटका लगा देती है, किन्तु कोई व्यक्ति अगर लकड़ी या प्लास्टिक पर खड़ा है तो बिजली उसे छोड़ देगी। यह बिजली का पक्षपात नहीं, किन्तु उसका स्वभाव है। और व्यक्ति का विवेक है।

क्या बिजली की तरह कर्म भी पक्षपाती है ?

इसी प्रकार गहरे पानी में अगर साधु भी खड़ा रहेगा, तो वह माफ नहीं करेगा, वह उसे बहा ले जायेगा। पानी तटस्थ है। वह सोने को भी बहा ले जाता है, और मिट्टी को भी। वह मुर्दे को भी बहा ले जाता है, जिंदे को भी। इसमें पानी का कोई अपराध या पक्षपात नहीं, यह तो उसका स्वभाव है। ऐसे समय में न तो बिजली को गाली दी जा सकती है और न ही पानी को। क्योंकि पानी या बिजली का कोई दोष नहीं। इसी प्रकार मनुष्यों को कर्म जिलाता है, मारता भी है, सुख भी देता है, दुःख भी। कर्म किसी को मन्दबुद्धि बना देता है, किसी को महाविद्वान्। वह किसी को राजा,

---

१. तुलना करें–
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः, स्वकर्मसूत्र-ग्रथितो हि लोकः ॥

किसी को रंक, किसी को तिर्यंचगति का और किसी को नरकगति का, तथा किसी को मनुष्यगति का और किसी को देवगति का मेहमान बना देता है। क्या इसमें कर्म का किसी के प्रति पक्षपात या अन्याय है और किसी के प्रति आकर्षण और स्नेह है? ऐसा भी कुछ नहीं है। जैसे जल, लोहा, जमीन आदि को छूता हुआ मनुष्य बिजली को छू ले तो बिजली खींच लेती है। इसी प्रकार मनुष्य भी किसी भी क्रिया या प्रवृत्ति को करता है, तो तुरंत ही कर्मवर्गणा के पुद्गल आकर्षित होकर चले आते हैं और राग-द्वेष या किसी भी कषाय का स्पर्श होते ही आत्मा कर्म के साथ बँध जाती है।[1]

कर्म कब चिपटता है, कब नहीं ?

कर्म स्वयं किसी को सुख-दुःख नहीं देता, न ही वह जीव से स्वतः चिपटता है। परन्तु आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर जब किसी वस्तु, व्यक्ति या भाव को लेकर मन, वचन या काया से प्रवृत्ति या क्रिया करता है, तो तुरंत ही कर्मों–कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आगमन-आकर्षण हो जाता है। परन्तु केवल कर्मों के आगमन-मात्र से वह आत्मा के साथ चिपटता या बँधता नहीं। केवल आता है, और आत्मा के साथ प्रदेश रूप से पहले समय में प्रदेशबन्ध से बँधकर, दूसरे-तीसरे समय में ही आत्मा से अलग हो (झड़) जाता है। परन्तु कर्म के आगमन के साथ ही अगर अच्छे-बुरे, प्रीति-अप्रीति, राग-द्वेष, मोह-द्रोह आदि तथा कषाय आदि विकारों की चिकनाहट लगी कि कर्मबन्ध हुआ।[2]

आत्मा में बिगाड़ आता है, विजातीय वस्तु के संयोग से

अगर आत्मा अकेला होता तो शुद्ध स्वरूपी होता, चिदानन्द अवस्था में होता और अनन्त अव्याबाध सुख का उपभोग करता होता। परन्तु वह अकेला नहीं, विजातीय कर्म-पुद्गल से सम्बद्ध है। कर्म और आत्मा दोनों परस्पर मिलने से अशुद्ध हो जाते हैं। दोनों अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं रहते।[3]

विजातीय वस्तु के साथ मिल जाने से मूल वस्तु में बिगाड़

किसी भी वस्तु में बिगाड़ तभी होता है, जब कोई विजातीय वस्तु उसके साथ मिल जाती है। दूसरी वस्तु (पर-पदार्थ) के मिले बिना किसी भी पदार्थ में अपने-आप विकृति नहीं आती। शरीर में भी रोग तभी उत्पन्न होते हैं, जब कोई पर-पदार्थ (Foreign Matter विजातीय पदार्थ) आ घुसता है। घड़ी भी ठीक चलती-चलती तभी रुकती है, या गलत चलने लगती है, जब उसके पुर्जों में कुछ मैल या कचरा घुस जाता है। पुर्जों को आसानी से चलते रहने के लिये घड़ी में सफाई करने वाले

१. मुक्ति के ये क्षण (ब्र. कु. कौशलजी) से भावांश ग्रहण
२. आत्म-तत्त्व-विचार से भावांश ग्रहण
३. वही, भावांश ग्रहण

(पैट्रोल-Petrol) आदि कुछ पदार्थ डालना पड़ता है। घड़ी की डिबिया (डायल) या बक्स के अन्दर थोड़ी-बहुत हवा तो अवश्य होती है, उस हवा में जरा-सा गर्दा मिला होता है, उस गर्दे के बहुत ही बारीक कण (रजकण) पुर्जों की चिकनाई के कारण उन पर जम जाते हैं, और उनकी चाल को बिगाड़ देते हैं।

इसी प्रकार आत्मा में जब शुभाशुभ परिणाम आते हैं, तो वे रागद्वेष के कारण बनते हैं। तभी रागद्वेष से जन्य वे कर्म-परमाणु आत्मा में किसी भी प्रकार का स्पन्दन, हलन-चलन, क्रिया या प्रवृत्ति होते ही, पहले से बैठे हुए आत्मप्रदेशों के साथ मिल जाते हैं, घुल-मिलकर दूध-पानी की तरह सम्बद्ध हो जाते हैं। ये ही पर-पदार्थ हैं, जिनके कारण आत्मा में विकृति (बिगाड़) आती है। मूल में रागद्वेष या कषाय ही इसमें चिकनाई का काम करते हैं। रागद्वेष या कषाय के बिना किसी प्रकार का कोई भी मैल शुद्ध आत्मा को नहीं लग सकता। वह मैल भी कहीं बाहर से खींचकर नहीं लाना पड़ता। जिस प्रकार घड़ी के अंदर की हवा में मिला हुआ गर्दा ही पुर्जों से चिपट कर उसकी चाल को बिगाड़ देता है, ठीक इसी तरह शरीर के अन्दर जो अतिसूक्ष्म पुद्गल-परमाणु विद्यमान होते हैं, वे ही रागद्वेष या कषाय-रूपी चिकनाई के कारण आत्मा (आत्मप्रदेशों) से चिपटकर उसकी चाल को–स्वभाव को बिगाड़ देते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कर्म कोई विशेष वस्तु नहीं है जो कहीं से ढूंढ़ कर लाई जाती हो अथवा स्वयं ही कहीं से आती हो किन्तु जैसे घड़ी के पुर्जों में चिपटे हुए उस मामूली गर्दे के समान जो घड़ी के अंदर की हवा में मिला रहता है, वही घड़ी की चाल को, उस के पुर्जों से चिपटकर बिगाड़ देता है। इसी प्रकार आत्मा में भी राग-द्वेष या कषाय की चिकनाहट लग जाने से शरीर के अंदर की हवा में मिले हुए गर्दे के अतिसूक्ष्म कण आत्मा में घुल-मिल जाते हैं। वस्तुतः वे ही आसपास के मामूली कर्मपरमाणु कषायवश आत्मा से चिपट कर उसकी चाल को, उसके स्वरूप को बिगाड़ देते हैं।[1]

आशय यह है कि आत्मा के साथ कर्मरूप पर-पदार्थ के मिलने से रागद्वेष की स्निग्धता के कारण आत्मा में बिगाड़ या विकार आता है, वह अशुद्ध हो जाती है।

चुम्बक द्वारा सुई को आकर्षित करने के समान जीव और कर्म का आकर्षण

इस सम्बन्ध में 'पंचाध्यायी' में कहा गया है–'जीव और कर्म दोनों पृथक-पृथक हैं; इन दोनों को परस्पर बन्धनबद्ध करने वाली चुम्बक पत्थर द्वारा आकर्षित हो जाने वाली लोहे की सुई की तरह विभाव भाव की शक्ति है। द्रव्यकर्म जीव के ज्ञानादि स्वभावों के विकार का कारण होता है और जीव का रागद्वेष कषायादि वैभाविक भाव द्रव्यकर्म के आस्रव का कारण होता है। आशय यह है कि आत्मा के वैभाविक

१. (क) भाग्य और पुरुषार्थ (सूरजभान वकील) से भाव-ग्रहण, पृ. ११-१२
(ख) आत्मतत्व विचार से

भावों के निमित्त से पृथक्भूत कार्मण-पुद्गल ज्ञानावरणीयादि कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जीव (आत्मा) और कर्म-पुद्गल दोनों ही अशुद्ध हो जाते हैं, वे अपने शुद्ध रूप में नहीं रहते।[1]

जीव और पुद्गल दोनों के सम्बन्ध से तीसरी वस्तु का निर्माण

जीव (आत्मा) और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं। दोनों का अपना अलग-अलग स्वभाव है। आत्मा (जीव) का अपना स्वभाव ज्ञानमय है, और पुद्गल का वर्णादि चतुष्टयमय। न ही जीव अपने-आप में अपना स्वभाव बदलता है, और न ही कर्म पुद्गल। परन्तु जीव जब विभाव परिणामों को लेकर मन-वचन-काया से कर्म-पुद्गलों को खींचता है, तब उनके साथ रागद्वेष-कषायादि विभाव परिणामवश कर्मों की जो अवस्था विशेष होती है, उसे ही बन्ध कहा जाता है। जिस प्रकार हल्दी अलग है और चूना अलग है। किन्तु हल्दी और चूना दोनों के सम्बन्ध से एक तीसरी चीज बन जाती है। अर्थात् दोनों के मिलाने से लाल रंग बन जाता है। वह लालिमा जिस प्रकार एक जात्यन्तर वर्ण है, जो न हल्दी में है, और न चूने में ही पाया जाता है। जैसे कि कहा है–

हरदी ने जरदी तजी, चूना तज्यो सफेद।
दोउ मिल एकहि भए, रह्यो न काहू भेद॥

आशय यह है कि बन्ध की अवस्था में जिन दो वस्तुओं का परस्पर बन्ध्य-बन्धक- भाव उत्पन्न होता है, उन दोनों के स्व-गुणों में विकृति उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में, राग-द्वेषादि विकारी भाव न शुद्ध आत्मा (जीव) में उपलब्ध होते हैं, और न ही जीव (आत्मा) से असम्बद्ध पुद्गल में उपलब्ध होते हैं। अर्थात् जीव (आत्मा) में रागादि भाव न शुद्ध जीव के हैं, और न शुद्ध पुद्गल के। इसीलिए कहा गया–'बन्धोऽयं द्वन्द्वतः स्मृतः'–यह बन्ध दो (जीव और पुद्गल उभय) से उत्पन्न होता है। एक द्रव्य का बन्ध नहीं होता। पंचाध्यायी में भी कहा गया है–

अन्य (द्रव्य) के गुणों के आकार रूप परिणमन होना बन्ध है। इस परिणमन के उत्पन्न होने पर अशुद्धता आती है। उस समय उन दोनों बद्ध होने वालों के स्वगुणों का विपरिणमन होता है। अर्थात् दोनों ही अपने-अपने गुणों से च्युत होते हैं।[2]

---

१. अयस्कान्तोपलाकृष्ट-सूचीवत् तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या, मिथो बन्धाधिकारिणी॥ ४५॥
जीव-भाव-विकारस्य, हेतुः स्याद् द्रव्यकर्म तत्।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च, यथा प्रत्युपकारकः॥ १०९॥
तन्निमित्तात्पृथक्भूतोऽयर्थः स्यात्तन्निमित्तकः॥ ११०॥ –पंचाध्यायी

२. (क) महाबन्धो, भा. १ की प्रस्तावना से, पृ. ४२।
(ख) बन्धः परगुणाकारा, क्रिया स्यात् पारिणामिकी।
तस्यासत्यामशुद्धत्वं, तद्द्वयोः स्वगुण-च्युतिः॥ –पंचाध्यायी २/१३०

रागादि बन्ध हेतु परिणाम : जीव-कर्म-संयोग जनित हैं

इस सम्बन्ध में 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' में एक प्रश्न उठाकर उसका जैन सिद्धान्त की अनेकान्त शैली से उत्तर दिया गया है। आगम में बन्ध के कारण राग, द्वेष और मोह बताए गए हैं। प्रश्न यह है कि कर्मबन्ध के कारणरूप रागद्वेषादि परिणाम क्या कर्मजनित हैं, अथवा जीव से उत्पन्न हुए हैं ? संक्षेप में समाधान है–ये न तो अकेले कर्म से जनित हैं और न ही अकेले जीव से ; स्त्री और पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान, तथा चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुए वर्ण विशेष (एक अलग ही रंग) के समान कर्म-बन्ध-जनक राग-द्वेषादि परिणाम जीव और कर्म दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

नय की विवक्षा के अनुसार विवक्षित एकदेश शुद्ध विश्चयनय से रागद्वेषादि कर्मजनित कहलाते हैं, किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से जीव-जनित कहलाते हैं। यह अशुद्ध निश्चयनय शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय ही है।

शुद्ध निश्चयनय से दोनों का संयोग ही नहीं बनता

पुनः प्रश्न होता है–साक्षात् शुद्ध निश्चयनय से ये रागद्वेषादि किसके हैं ? इसका उत्तर है–स्त्री और पुरुष के संयोग के बिना पुत्र की अनुत्पत्ति के समान तथा चूना और हल्दी के संयोग के बिना रंग-विशेष की अनुत्पत्ति के समान साक्षात् शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से राग-द्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती; क्योंकि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में जीव और (कर्म-) पुद्गल दोनों ही अपने आप में शुद्ध हैं और इन दोनों के संयोग का अभाव है।[1]

अमूर्त आत्मा का मूर्त्त कर्म के साथ बन्धन कैसे ?

प्रश्न होता है–जीव, चेतन और अमूर्त्त है, जबकि कर्मपुद्गल अचेतन और मूर्त्त है। इन दोनों द्रव्यों का एकमेक सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इन दोनों में यदि कोई सम्बन्ध निश्चयदृष्टि से नहीं है, तब तो कर्मों का क्षय करने या कर्म-निरोध करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। परन्तु इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध और उसके फलस्वरूप जीवों की नाना गति, योनि और जाति की विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। निश्चयदृष्टि से अमूर्त्त और मूर्त्त का संयोग सभी जीवों का मान लिया जाए

---

१. अत्राह शिष्य :–रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिताः ?
तत्रोत्तरम्–स्त्री-पुरुष-संयोगोत्पन्न पुत्र इव, सुधा-हरिद्रा-संयोगोत्पन्न-वर्ण-विशेष इवोभयसंयोगजनिता इति। पश्चान्नय-विवक्षा-वशेन विवक्षितैक शुद्ध निश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तत्रैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति। स चाऽशुद्धनिश्चयः शुद्ध-निश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अथमतम्–साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामोवयम्।
तत्रोत्तरम्–साक्षाच्छुद्ध-निश्चनयेन स्त्री-पुरुष-संयोगरहित-पुत्रस्येव, सुधा-हरिद्र-संयोग-रहित-रंग-विशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति, कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति। –बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका गा. ४८

तो सिद्ध परमात्मा के साथ भी कर्मों का संयोग माना जाएगा, परन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। अतः एकान्त रूप से यह नहीं माना जाता कि आत्मा अमूर्तिक ही है। कर्मबन्धरूप पर्याय की अपेक्षा उससे युक्त होने के कारण आत्मा कथंचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा कथञ्चित् अमूर्त है।[1]

मूर्त और अमूर्त का सम्बन्ध किस माध्यम से ?

जीव और कर्म दोनों के सम्बन्ध की स्वीकृति के पश्चात् विचारणीय यह है कि मूर्त और अमूर्त में सम्बन्ध किस माध्यम से स्थापित हुआ है ? इन दोनों का सम्बन्ध (बन्ध) स्थापित हुआ है–एक माध्यम के द्वारा। वह माध्यम है–जीव के स्वयं मूर्त होने का। आत्मा अमूर्त है, यह एक सिद्धान्त है, किन्तु संसारी जीव अमूर्त हो गया, यह यथार्थ नहीं है। संसारी जीव अमूर्त है, यह निश्चयनयगत सिद्धान्त है, और भविष्य की कल्पना है। जिस दिन जीव अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होगा, उस दिन वह (सिद्ध) अमूर्त हो जायेगा। निष्कर्ष यह है कि जो शरीरधारी है, वह अमूर्त नहीं है। मर जाने के बाद स्थूल शरीर को छोड़ देने पर भी संसारी जीव सूक्ष्म (कार्मण) शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। जिस दिन वह तैजस-कार्मण (सूक्ष्म) शरीर से भी मुक्त हो जाएगा, उस दिन सर्वथा अमूर्त हो जाएगा। एक बार सर्वथा अमूर्त हो जाने के पश्चात् फिर कदापि मूर्त कर्म-पुद्गल के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा।

आशय यह है–कर्म का जीव के साथ तभी तक सम्बन्ध रहता है, जब तक सूक्ष्म (तैजस-कार्मण) शरीर मौजूद है। कार्मण शरीर के कारण ही जीव अमूर्त होते हुए भी स्वयं मूर्तिमान जैसा हो जाता है। अतः वर्तमान स्वरूप में जीव मूर्त है, इसलिए जीव और कर्मपुद्गल के बंध में कोई समस्या खड़ी नहीं होती।[2]

वैभाविक शक्ति से रूपी पदार्थों को जानने-देखने से आत्मा का मूर्त कर्मों के साथ बन्ध

'प्रवचनसार' में इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया गया है–"जिस प्रकार रूपादि रहित आत्मा रूपी द्रव्यों और उनके गुणों को जानता-देखता है। इस अपेक्षा से आत्मा कर्म के साथ बंध को प्राप्त होता है। कदाचित् ऐसा न माना जाए तो यह प्रश्न

---

१. (क) न चामूर्तेः कर्मणां बन्धो युज्यते ? तत्र, अनेकान्तात्। नायमेकान्त अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्ध-पर्यायापेक्षया तदादेशात् स्यान्मूर्तः, शुद्ध-स्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः।
–तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि २/७/१६१

(ख) जीव-पोग्गल-दव्वाणममुत्त-मुत्ताणं कधमेयत्तेण संबंधो ? ण एस दोसो। संसारावत्थाए मुत्तो जीवो कथं णिब्बुओ संतो अमुत्तत्तमल्लियइ ? ण एस दोसो। जीवस्स मुत्तत्त णिबंध कम्माभावे तज्जणिदमुत्ततस्स वि तत्थ अभावेण सिद्धाणममुत्तभाव-सिद्धिदो।
–धवला १३/५/३/१२/११/९

२. जैनयोग पृ. ४३, ४४।

होता है कि अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थों को क्यों जानता देखता है? निष्कर्ष यह है कि अमूर्तिक आत्मा अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण जैसे मूर्तिक पदार्थों का ज्ञाता-द्रष्टा है, उसी प्रकार वह अपनी वैभाविक शक्ति के परिणमन-विशेष से मूर्तिक कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त होता है। वस्तु स्वभाव तर्क के अगोचर है। उदाहरणार्थ–बालक द्वारा मिट्टी के बने बैल या असली बैल को जानने-देखने पर बैल के साथ सम्बन्ध न होने पर भी विषयरूप से रहने वाला बैल जिसका निमित्त है, ऐसे उपयोगारूढ़ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का सम्बन्ध बैल के साथ के सम्बन्धरूप व्यवहार का साधक है, इसी प्रकार आत्मा अरूपित्व के कारण स्पर्शशून्य है, तथापि एकावगाह रूप से रहने वाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं, ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादि भावों के साथ का सम्बन्ध कर्मपुद्गलों के साथ के बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य हो जाता है।[1]

आत्मा अमूर्त होते हुए भी मूर्त क्यों ? : एक युक्तिसंगत समाधान

आचार्य अकलंकदेव ने भी युक्तिपूर्वक इस तथ्य का समर्थन किया है–"अनादि कालीन कर्मबन्ध की परम्परा के अधीन आत्मा के अमूर्त्तत्व के विषय में अनेकान्त-दृष्टि से सोचो। बन्ध-पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथंचित् मूर्तिक है; किन्तु अपने ज्ञानादिरूप लक्षण का परित्याग न करने के कारण कथंचित् अमूर्त्तिक भी है। जैसे–मद, मोह तथा भ्रम को उत्पन्न करने वाली मदिरा को पीकर मनुष्य (चेतनायुक्त होते हुए भी) स्मृतिशून्य हो जाता है, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों से अभिभूत होने से (ज्ञानवान् मानव के भी) अपने ज्ञानादि स्वलक्षण आविर्भूत नहीं हो पाते। इस दृष्टि से आत्मा मूर्तिक भी है, ऐसा निश्चय किया जाता है।" "तत्त्वार्थसार" में भी कहा है–"आत्मा अमूर्तिक है, फिर भी कर्मों के साथ उसका (प्रवाहरूप से) अनादिनित्य सम्बन्ध होने से दोनों के ऐक्यवश आत्मा को मूर्त्त निश्चित करते हैं।"[2]

---

१. (क) रूवादिएहिं रहितो, पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणा य जधा, तह बंधो तेण जाणीहि ॥ –प्रवचनसार २/८२
(ख) प्रवचनसार २/८२ पर अमृतचन्द्राचार्य की टीका ।
(ग) देखें–प्रवचनसार मू. १७४ तथा तत्त्व-प्रबोधिनी टीका –जै. सि. को. भा. ३, १७५ पृष्ठ

२. (क) अनादि-कर्मबन्ध-सन्तान-परतंत्रस्यात्मनः अमूर्तिं प्रत्यनेकान्तो बन्ध-पर्यायं प्रत्येकत्वान्मूर्त्तम्, तथापि ज्ञानादि-स्वलक्षणाऽपरित्यागात् स्यादमूर्तिः ।
.....मद-मोह-विभ्रमकारीं सुरां पीत्वा नष्ट-स्मृतिर्जनः काष्ठवदपरिस्पन्द उपलभ्यते, तथा कर्मेन्द्रियाऽभिभवादात्मा नाविर्भूतस्वलक्षणो मूर्त्त इति निश्चीयते ।
–तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ. ८१
(ख) वण्ण-रस-पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ –द्रव्यसंग्रह ७
(ग) अनादि-नित्य-सम्बन्धात् सहकर्मभिरात्मनः ।
अमूर्त्तस्यापि सत्यैक्ये, मूर्त्तत्वमवसीयते ॥ –तत्त्वार्थसार ५/१७

अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध : ऐसे भी

एक अन्य युक्ति के द्वारा भी जैनकर्मविज्ञान विज्ञों ने अनेकान्त दृष्टि से समाधान दिया है कि आकाश अमूर्त है–अरूपी है, फिर भी घट, मठ आदि के साथ उसका सम्बन्ध होता है और लोकव्यवहार में कहा जाता है–यह घटाकाश है, यह मठाकाश है। इसी प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ भी मूर्त कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध होता है। यद्यपि जीव और कर्मपुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं, फिर भी परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं; एक माध्यम के द्वारा। वह माध्यम है–शुभाशुभ अध्यवसाय, भाव या परिणाम। इसे स्पष्टतया यों समझिए–जीव (आत्मा) अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्त्तिक पदार्थों के आश्रय से राग-द्वेषादि युक्त मूर्त परिणाम या भाव करता है और वह भी मूर्त बन जाता है। ज्यों ही किसी पदार्थ को देखकर जीव में राग-द्वेष या कषाय के परिणाम आए त्यों ही अमूर्त जीव मूर्त बन जाता है, और दोनों (जीव और कर्मपुद्गल) का सम्बन्ध या बन्ध स्थापित हो जाता है।

एक उदाहरण से इस तथ्य को समझ लें–एक व्यक्ति पचास मंजिली बिल्डिंग पर चढ़ा। अगर वह उस बिल्डिंग को देखकर केवल ज्ञाता-द्रष्टा बना रहे, मन में किसी भी प्रकार का अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय का भाव न लाए, वहाँ तक तो वह अपने आपे में है, किन्तु ज्यों ही उसने उक्त बिल्डिंग को देखकर अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता की छाप मन अथवा वचन से उस पर लगाई कि वह कर्म के साथ बँध गया।[1]

कर्म मूर्त है, इसमें क्या प्रमाण ?

अब एक और प्रश्न 'जयधवला' टीका में कर्म के मूर्त होने के सम्बन्ध में उठाया गया है। चूँकि आत्मा की तरह कर्म भी छद्मस्थों (अल्पज्ञों) के लिए नेत्रादि इन्द्रियगोचर नहीं होता। यदि कर्म मूर्त है तो नेत्रादि द्वारा प्रत्यक्ष होना चाहिए। अतः प्रश्न उठाया गया है–कर्म मूर्त है, यह कैसे जाना जाए ? इसका समाधान यह है कि यदि कर्म को मूर्त न माना जाए तो मूर्त औषध के सम्बन्ध से परिणामान्तर की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। अर्थात्–रुग्णावस्था में मूर्त औषध के ग्रहण करने से रोग के कारणभूत कर्मों की उपशान्ति देखी जाती है, वह नहीं बन सकेगी। औषध सेवन से परिणामान्तर की प्राप्ति असिद्ध नहीं है, क्योंकि परिणामान्तर के अभाव में ज्वर, कुष्ठ तथा क्षय आदि रोगों का निवारण नहीं बन सकता। अतः परिणामान्तर की प्राप्ति होना, कर्म का मूर्त्तत्व सिद्ध करता है।

अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं–कर्म मूर्त्त है, क्योंकि उसका फल मूर्त्तद्रव्य के सम्बन्ध से अनुभवगोचर होता है। जैसे–चूहे के काटने से उत्पन्न हुआ विष। चूहे के काटने से शरीर में जो शोथ (सूजन) आदि विकार उत्पन्न होता है, वह इन्द्रियगोचर होने से मूर्त्तिमान् है। इसका कारण उसका मूल कारण–विष भी मूर्त्तिमान् होना चाहिए। इसी

१. आत्म-तत्त्व -विचार से भावांशग्रहण, पृ. २७७

प्रकार यह जीव मणि, पुष्प वनितादि के निमित्त से सुख तथा सिंह-सर्पादि के निमित्त से दुःख रूप कर्म के विपाक का अनुभव करता है। अतः इस सुख-दुःख का कारण जो कर्म है, उसे भी मूर्त मानना उचित है।[1]

पुण्यपाप-बंधन में पड़ा जीव अमूर्तिक भी मूर्तिक हो जाता है

योगसार में भी कहा गया है–पुण्य और पाप दोनों द्रव्यकर्म पौद्गलिक–मूर्त्तिक होते हैं। उनके परिणामस्वरूप प्राप्त सुख-दुःख फलों को, जो मूर्तिकजन्य होने से मूर्तिक होते हैं, भोगता हुआ अमूर्त्तिक आत्मा मूर्त्तिक हो जाता है। अतः पुण्य-पाप के वश-बन्धन में पड़ा हुआ संसारी जीव अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्त्तिक हो जाता है। अतः कर्मफल को भोगने वाले समस्त संसारी जीव (प्रवाहरूप से) अनादि कर्म सम्बन्ध होने के कारण मूर्त्तिक कहलाते हैं, और जब जीव पुण्य-पाप दोनों के बन्धन से छूट जाता है, तब स्वरूप में स्थित हुआ वह स्वयं अमूर्त्तिक हो जाता है।[2]

जीव संसारी अमूर्त्तिक न होकर, मूर्त्तिक ही है

कर्मसिद्धान्त-मर्मज्ञ जिनेन्द्रवर्णी जी ने जीव-(कर्म-)पुद्गल-बन्ध का विश्लेषण करते हुए कहा है–जो यह शंका उठाते हैं कि अमूर्त्तिक जीव के साथ मूर्त्तिक (कर्म-) पुद्गल का बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि यहाँ जिस अमूर्त्तिक द्रव्य की बात चलती है, वह वास्तव में आकाशवत् सर्वथा अमूर्त्तिक नहीं है। जिस प्रकार घी नामक पदार्थ मूलतः दूध में उपस्थित होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के पश्चात् उसे पुनः दुग्धरूपेण परिणत करना सम्भव नहीं है। अथवा जिस प्रकार स्वर्ण नामक पदार्थ मूलतः पाषाण के रूप में उपलब्ध होता है। परन्तु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे पुनः किट्टिका के साथ मिलाया जाना असम्भव है। इसी प्रकार जीव (आत्मा) नामक पदार्थ मूलतः शरीर में उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुनः इसका शरीर के साथ बँध जाना असंभव है। इसी पर से यह जाना जाता है कि घी तथा स्वर्ण की भाँति जीव मूलतः अमूर्त्तिक

---

१. (क) तं पि मुत्तं चेवा तं कधं णव्वदे? मुत्तोसह-संबंधेण परिणामान्तर-गमणण्णहाऽणुववत्तीदो। ण च परिणामांतर-गमणमसिद्धं। तस्स तेण विणा जर-कुट्ठक्खयादीणं विणासाणुववत्तीए परिणामान्तर-गमण-सिद्धिदो। –जयधवलाटीका १/५७

(ख) मूर्तं कर्म मूर्त-सम्बन्धेनानुभूयमान-मूर्तफलत्वादाखु-विषवत्। –अमृतचन्द्राचार्य

(ग) जहाकम्मस्स फलं, विसयं फासेहि भुंजदे नियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि॥ –पंचास्तिकाय १३३

२. मूर्तो भवति भुञ्जानः सुख-दुःखफलं तयोः।
मूर्त-कर्मफलं मूर्तं, नामूर्तेन हि भुज्यते॥
मूर्तो भवत्यमूर्तोऽपि, पुण्य-पापवशीकृतः।
यदा विमुच्यते ताभ्याममूर्तोऽस्ति तदा पुनः॥ –योगसार ३४, ३५

या शरीर-रहित नहीं है। बल्कि शरीर के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूपेण संश्लेष-सम्बन्ध को प्राप्त होने के कारण वह अपने अमूर्त्तिक स्वभाव से च्युत हुआ उपलब्ध होता है। इसी कारण वह मूलतः अमूर्त्तिक न होकर कथंचित् मूर्त्तिक है। ऐसा मान लेने पर संसारावस्था में जीव का शरीररूप (कर्मशरीररूप) मूर्त्तिक पदार्थ के साथ बन्ध हो जाना सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है। हाँ, एक बार समस्त शरीरों या कर्मों से मुक्त हो जाने पर वह सर्वथा अमूर्त्त अवश्य हो जाता है, फिर शरीर या कर्म के साथ[1] उसके बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।

दोनों अनुकूल द्रव्यों का ही बंध होता है

छह द्रव्यों में चार द्रव्य तो तटस्थ हैं, किन्तु जीव और कर्म-पुद्गल ये दो द्रव्य बंध को प्राप्त होते हैं। ये दोनों द्रव्य भी तभी बन्ध को प्राप्त होते हैं, जब आत्मा और कर्म की परस्पर अनुकूलता हो, प्रतिकूलों का बन्ध नहीं होता। यही तथ्य पंचाध्यायी में प्रगट किया गया है। प्रवचनसार में कहा गया है–यथायोग्य स्निग्ध-रूक्षत्वरूप स्पर्श से पुद्गल-कर्मवर्गणाओं का परस्पर पिण्डरूप बन्ध होता है। राग-द्वेष-मोह रूप परिणामों से जीव का बन्ध होता है। जीव के रागादि या कषायादि परिणामों का निमित्त पाकर जीव-पुद्गल का बन्ध होना जीव-(कर्म-) पुद्गल बन्ध है।[2]

बन्धप्राप्त दोनों द्रव्यों का परस्पर सापेक्ष होकर ही बंध होता है

सारांश यह है कि बन्ध को प्राप्त सभी कर्म-परमाणुओं का तथा जीव का परिणमन एक दूसरे की अपेक्षा रखकर होता है और यही उसका विकार कहलाता है। अपने शुद्ध तथा स्वतन्त्र रूप को छोड़कर अन्य के अधीन हो जाना या अपने कार्य में अन्य की सहायता की अपेक्षा रखना ही विकार है। यह भाव अपने शुद्ध भाव से च्युत होकर किसी विजातीय प्रकार का हो जाता है। जैसे–दूध के मिठास से दही का खट्टा हो जाना।

श्लेषरूप बंध केवल क्षेत्रात्मक ही नहीं, द्रव्यादि चतुष्टयात्मक होता है

आत्मा के साथ कर्मों के इस संश्लेष रूप बंध-विशेष में केवल क्षेत्रात्मक बन्ध ही नहीं होता, अपितु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारों का बन्ध हो जाता है। इसका विशेष स्पष्टीकरण हम इसी खण्ड के अगले प्रकरण में करेंगे।[3]

---

१. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्रवर्णीजी), पृ. ३७-३८।

२. (क) सानुकूलतया बन्धो, न बन्धः प्रतिकूलयोः। –पंचाध्यायी २/१०२
(ख) प्रवचनसार टीका २/८५।

३. (क) कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) से भावांशग्रहण, पृ. ३७।
(ख) वही, पृ. ३६।

बंधावस्था में जीव कर्म-निबद्ध, कर्म जीव से बद्ध हो जाता है

बंध की इस अवस्था का पंचाध्यायी में भी स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है–(इस बंध की अवस्था में) जीव कर्म से निबद्ध हो जाता है और कर्म जीव से बद्ध हो जाता है। दोनों का परस्पर संश्लेष होता है। उस संश्लेष और बन्धनबद्धता से तात्पर्य है कि (उदय में आने पर) कर्म अपना फलोपभोग दिये बिना आत्मा से पृथक नहीं होते।

जीव कर्मों को पराधीन करता है, वैसे कर्म भी जीव को करते हैं

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार यह जीव कर्मों को बाँधता है, पराधीन करता है, उसी प्रकार कर्म भी जीव को बाँधते हैं, पराधीन बनाते हैं। पण्डित आशाधरजी ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है–बंध में जीव और कर्म दोनों की स्वतंत्रता का परित्याग होता है। दोनों परवश हो जाते हैं।[1]

बंध के ये उभयविध रूप

बंध के इन उभयविध रूपों को एक श्लोक के द्वारा वे अभिव्यक्त करते हैं– "जिस परिणति-विशेष से कर्म, अर्थात् कर्मत्व-परिणत पुद्गल–द्रव्यकर्म-विपाक अनुभव करने वाले जीव के द्वारा परतंत्र किये जाते हैं–योगद्वार से प्रविष्ट होकर पुण्य-पापरूप परिणमन करके योग्यरूप से सम्बद्ध किये जाते हैं, वह बन्ध है अर्थात् आत्मा के जिन रागद्वेषादि भावों से कर्मत्वपरिणत पुद्गल जीव के द्वारा परतंत्र किया जाता है, वह बन्ध है। अथवा जो कर्म जीव को अपने अधीन करता है, वह बन्ध है अथवा जीव और (कर्म) पुद्गल के प्रदेशों का परस्पर मिल जाना बन्ध है।"[2]

कर्म आत्मा से ही क्यों चिपटते हैं, वस्त्रादि से क्यों नहीं ?

अब कर्मबन्ध से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि "कर्म के आत्मा के साथ श्लेषबन्ध को कर्मबन्ध कहा गया, किन्तु कर्म आत्मा से ही क्यों चिपटते हैं, शरीर, वस्त्र आदि अन्य पदार्थों से क्यों नहीं ?" इसका संक्षिप्त समाधान तो यही है कि कर्मों का ऐसा ही स्वभाव है, वे जब भी चिपकेंगे (श्लिष्ट होंगे) आत्मा से ही चिपटेंगे। एक उदाहरण से इस तथ्य को स्पष्ट कर दूँ, जैसे–चुम्बक लोहे से ही चिपकेगा, लकड़ी या रबर से नहीं, क्योंकि उसका ऐसा ही स्वभाव है। बोतल में तेज अँगूरी शराब रखी हुई है, इसी प्रकार भांग तेज घोंटकर गिलास में रखी हुई है, किन्तु वह

---

१. (क) जीवः कर्म-निबद्धो हि, जीवबद्धं च कर्म तत् । –पंचाध्यायी २/१०४
(ख) महाबन्धो भाग-१, प्रस्तावना पृ. ४३ ।

२. स बन्धो बध्यन्ते परिणति विशेषेण विवशी-क्रियन्ते
कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा।
स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत् सुवशतां प्रदेशानां
यो वा स भवति मिथः श्लेष उभयोः ॥ –अनगारधर्मामृत २/३८

शराब या वह भांग बोतल को तथा गिलास को नशा नहीं चढ़ाती, मुर्दे के पेट में शराब या भांग उँड़ेल देने से उसे भी वह नशा नहीं चढ़ाएगी। वह शराब या भांग नशा तभी चढ़ाती है, जब सचेतन जीवित व्यक्ति उसको गले से नीचे उतारेगा। इसी प्रकार कर्म भी वस्त्र, शरीर या किसी अचेतन द्रव्य या पदार्थ के नहीं चिपटता। वह जब भी चिपटेगा, सचेतन जीव को ही चिपटेगा। अतः जिसका जैसा स्वभाव है, वैसी ही क्रिया उससे होती है।

चिपटना ही कर्म ही कर्म का स्वभाव नहीं है

अगर चिपटना ही कर्म का स्वभाव हो, तब तो वह जिस प्रकार आत्मा से चिपटता है, उसी प्रकार शरीर, वस्त्र तथा अन्यान्य वस्तुओं से भी चिपटेगा। आत्मा से ही चिपटे और शरीरादि से न चिपटे, ऐसा विवेक तो वह कर नहीं सकता; क्योंकि कर्म स्वयं जड़-(पुद्गल) है।[1]

कर्ममुक्त शुद्ध आत्मा के कर्म नहीं चिपटता

दूसरा प्रश्न कर्मबन्ध के सम्बन्ध में यह भी उठता है—वह आत्मा से चिपटता ही है तो अशुद्ध आत्मा की तरह शुद्ध आत्मा—मुक्त परमात्मा से भी चिपटने लगेगा। अर्थात् संसारस्थित आत्माओं को जैसे कर्म चिपटते हैं, वैसे सिद्धावस्था (मुक्तावस्था) प्राप्त आत्माओं को भी कर्मबन्ध होने लगेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। जहाँ जीव में कषाय या रागद्वेषादि हैं, वहीं कर्म चिपटते हैं, जहाँ कषाय या राग-द्वेषादि विकार नहीं हैं, उन ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों के कर्म नहीं चिपटते। आध्यात्मिक शब्दावली में जिस जीव में राग-द्वेषादि या कषाय की चिकनाहट है, उसी जीव के कर्म चिपटते हैं, अन्य जीव को नहीं।

अगर शुद्ध यानी कर्मरहित आत्मा के भी कर्म का बन्ध माना जाएगा तो मोक्ष या मुक्ति शाश्वत एवं अव्याबाध सुख का धाम नहीं बन सकेगी, क्योंकि मुक्त आत्माओं को भी चाहे जब कर्मबन्ध होने लगेगा और उसके फलस्वरूप जन्म-जरा-मरणादि नाना दुःख भोगने पड़ेंगे और जब मोक्ष में सर्वकर्मरहित अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय युक्त परम-शुद्ध दशा नहीं है तो उसे प्राप्त करने से भी क्या लाभ? सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्माचरण में भी पुरुषार्थ कौन करेगा? धर्माराधना या आध्यात्मिक साधना भी फिर निरर्थक सिद्ध होगी। इसलिए यह मानना कथमपि उचित नहीं है कि शुद्ध आत्मा के भी कर्मबन्ध होता है।[2]

संसारस्थ जीव और कर्म का बंध अनादि है, प्रवाहरूप से

वैसे निश्चयदृष्टि से तो प्रत्येक आत्मा शुद्ध है, शुद्ध था, फिर अशुद्ध कैसे और कब होगया? कर्म उसके साथ कब से लगे? ये प्रश्न पहले से ही समाहित और

१. आत्मतत्व-विचार से भावांश ग्रहण पृ. ३८७
२. वही, पृ. २७६

अव्याकृत हैं। जैनदर्शन जीव और कर्म के सम्बन्धों को प्रवाह रूप से अनादि मानता है। गोम्मटसार में कहा है–जिस प्रकार सुवर्ण और पाषाण यद्यपि भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, तथापि इनका सम्बन्ध (प्रवाहरूप से) अनादि माना जाता है; ये नये नहीं मिले हैं। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है।[1] पंचास्तिकाय में जीव और कर्म का (बन्ध) अनादि सम्बन्ध कैसे है? इसे 'जीव-पुद्गल-कर्मचक्र' द्वारा सिद्ध किया गया है–"जो संसार में स्थित (जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ) जीव है, उसके रागद्वेष (कषाय) रूप परिणाम अवश्य होते हैं। उन परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों से नाना गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म से शरीर होता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, विषयों के ग्रहणवश मनोज्ञ-अमनोज्ञ पर राग-द्वेष परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसार चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।"[2]

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की दृष्टि में संसार और कर्म का अनादि सम्बन्ध

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में भी संसार को अनादि सिद्ध करके जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध स्वीकार करते हुए कहा गया है–"यह दोष नहीं है, क्योंकि संसार अनादि है। यदि संसार आदिमान् होता तो यह दोषापत्ति होती। अनादि संसार में बीज-अंकुरवत् हेतु-हेतुमद्भाव से ब्रह्म (आत्मा) के साथ कर्म के संग-वैषम्य की प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं है। उपर्युक्त शांकर भाष्य से संसार की अनादिता सिद्ध होने से जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि सिद्ध होता है।[3]

संसारस्थ आत्मा अनादिकाल से कर्मबद्ध होता रहता है : क्यों और कैसे?

सिद्धान्त यह है कि संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मयुक्त है और कर्म बांधना, और कर्मफल भोगना, फिर कर्म बांधना और कर्मफल भोगना, यह कर्म-कर्मफलभोगचक्र अनादिकाल से निरन्तर चल रहा है। इसलिए भगवान महावीर ने कहा–संसारी जीव प्रतिक्षण सात या आठ कर्म (साम्परायिक रूप से) बाँधता रहता है।

---

१. जीवंगाणं अणाइ-संबंधो, कणयोवले मलं वा ताणत्थिदं सयं सिद्धं। –गोम्मटसार (क.) २/३

२. जो खलु संसारत्थो जीवो, तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदु गदीसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसय-गहणं, तत्तो रागो व दोसो वा॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार-चक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा॥१३०॥

३. न कर्माविभागात् इति चेन्न, अनादित्वात् ····· नैष दोषः; अनादित्वात् संसारस्य । भवेदेष दोषो यदि आदिमान् संसारः स्यात् । अनादौ तु संसारे बीजांकुरवत् हेतु-हेतुमद्भावेन कर्मणः संग-वैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते । –ब्रह्मसूत्र २, १, ३५ शांकरभाष्य

वह जब तक संसारावस्था में रहता है, तब तक वह कभी सर्वथा कर्मरहित नहीं होता। आचार्य पूज्यपाद ने 'कर्मणो योग्यान् पुद्गलान्' इस तत्वार्थ गत सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है–"पूर्वजन्म के बद्धकर्म के कारण जीव कषाय युक्त होता है, और कषायों के कारण कर्म आते हैं और बंधते हैं। कषाय-रहित जीवों के कर्मबन्ध नहीं होता। अतः सिद्ध है कि जीव और कर्म का बीज और वृक्ष की तरह अनादिकालीन कार्य-कारण सम्बन्ध है। कर्म से कषाय और कषाय से कर्म, यह परम्परा बीज और वृक्ष की तरह अनादिकाल से प्रवाहित हो रही है और तब तक होती रहेगी, जब तक संसार में जीवों का अस्तित्व है।" इस प्रकार कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि सिद्ध होता है।

अन्य आचार्यों ने भी पूज्यपाद की तरह कर्म और जीव का सम्बन्ध अनादि माना है। उनका कथन है–प्राचीन कर्म प्रतिक्षण फल देकर आत्मा से पृथक होते रहते हैं और नवीन कर्म आत्मा के रागादि परिणामों के कारण आत्मा के प्रदेशों से बंधते जाते हैं। तत्वार्थ वार्तिक में कहा है–"जिस प्रकार भण्डार से पुराने चावल निकाल लिये जाते हैं और नये भर दिये जाते हैं, उसी प्रकार अनादि कार्मण शरीर-भण्डार में कर्मों का आना-जाना होता रहता है।" पंचाध्यायीकार भी आत्मा और कर्म के बन्धरूप सम्बन्ध को अनादि सिद्ध करते हुए कहते हैं–अग्नि की स्वाभाविक उष्णता की तरह आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होना स्वतःसिद्ध है। अतः इनका सम्बन्ध किसने और कब किया? इस प्रकार के प्रश्न ही निरर्थक हैं।[1]

संस्कार के कारण ही अनादिकाल से कर्म बाँधते हैं

निष्कर्ष यह है कि कर्म-युक्त आत्मा के ही कर्म चिपटते–बंधते हैं, कर्मरहित आत्मा के नहीं। संसारी आत्मा वीतराग न हो तो, रागद्वेष करती रहती है। रागद्वेष के करने से आत्मा में एक प्रकार का ऐसा संस्कार पड़ जाता है, जिससे फिर दुबारा राग-द्वेष पैदा होता है। उस दुबारा पैदा हुए राग-द्वेष से फिर राग-द्वेष पैदा होता है। इस प्रकार एक चक्कर-सा चलता रहता है। इसे ही पुनः पुनः कर्मबन्ध होना कहते हैं। पुनः पुनः कर्मबन्ध का फलितार्थ है–एक संस्कार का निर्माण, एक चित्तवृत्ति का निर्माण, जो पुनः पुनः उसी राग-द्वेष-युक्त क्रिया या प्रवृत्ति को करने के लिए बाध्य होती है। जीव अपने मस्तिष्क में एक ऐसा अंकन पैदा कर लेता है कि वह अंकन पुनः पुनः उस प्रवृत्ति को करने के लिए बाधित करता है। जैसे कोई मनुष्य पानी के जाने का एक बार रास्ता बना डालता है तो फिर जैसे ही पानी आता है तो उसी रास्ते से बह जाता है। इसी प्रकार एक बार प्रवृत्ति करने से ही वह प्रवृत्ति बंद नहीं

१. (क) आत्म तत्वविचार से भावांशग्रहण, पृ. २७६
(ख) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ८/२
(ग) तत्त्वार्थ वार्तिक ८/२/१२
(घ) पंचाध्यायी २/५३-५४

हो जाती, मस्तिष्क के स्मृतिकोष में वह प्रवृत्ति अंकित हो जाती है। जो प्रवृत्ति या क्रिया राग-द्वेष या कषाय से युक्त होती है, वह समाप्त नहीं हो जाती, वह अपना संस्कार छोड़ जाती है। फिर जैसे ही निमित्त मिलता है, समय आने पर उसकी स्मृति उभरती है, वृत्ति उत्तेजित होती है, और उक्त प्रवृत्ति को करने के लिए जी मचलता है, लार टपकती है, सूक्ष्म वासना, कामना और लालसा मिलकर मन ही मन उसी क्रिया या प्रवृत्ति को करने के लिए जोर मारती हैं। अतः एक बार क्रिया समाप्त होने पर भी उसकी प्रतिक्रिया चलती रहती है। यह शृंखला एक बार नहीं, एक वर्ष नहीं, हजार लाख बार, और हजारों-लाखों-करोड़ों वर्षों तक–जन्म-जन्मातर तक चलती रहती है। यही जीव के साथ अनादिकाल से पुनः पुनः कर्मबन्ध होने का रहस्य है। यह कर्मचक्र तब तक चलता रहेगा, जब तक वह प्रवृत्ति मूलतः नष्ट न हो जाए, या नष्ट न कर दी जाए।

इसे एक सरल दृष्टान्त से समझिए–मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए कुम्भकार डंडे से चाक को घुमाता है। परन्तु डंडा और कुम्भकार दोनों के अलग हो जाने पर भी कुछ देर तक चाक घूमता ही रहता है। डंडे के द्वारा घुमाने से चाक में घूमते रहने का संस्कार पड़ जाता है। इसी कारण घुमाना बंद करने पर भी चाक कुछ देर तक घूमता ही रहता है।

इसी प्रकार डोरी लपेटकर जब लट्टू घुमाया जाता है, तब डोरी अलग होने पर भी बहुत देर तक वह लट्टू अपने आप घूमता रहता है। इसी का नाम संस्कार पड़ जाना या आदत (हैबिट–Habit) पड़ जाना है।

बार-बार किसी प्रवृत्ति या क्रिया को (राग द्वेष युक्त) चस्के से करते रहने से जो आदत पड़ जाती है, वह पक्की होकर छूटनी मुश्किल हो जाती है। किसी व्यक्ति को भांग, चरस या शराब पीने आदि किसी नशे की लत लग गई, वह उस आदत को छोड़ने का इरादा करता है, फिर भी नहीं छूटती, छूट भी जाती है, किन्तु कमजोर मन वाले मन ही मन उस प्रवृत्ति के लिए ललचाते हैं, अथवा किसी दूसरे नशे की आदत डाल लेते हैं।[1]

क्रिया की प्रतिक्रिया का चक्र ही अनादिकालीन कर्मबन्ध का द्योतक

यह ध्वनि की प्रतिध्वनि, क्रिया की प्रतिक्रिया, प्रवृत्ति की प्रतिप्रवृत्ति या पुनरावृत्ति का सिद्धान्त है। क्रिया छोटी-सी अल्पकालीन होती है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया बड़ी और दीर्घकालीन होती है।

रागद्वेष और कर्मबन्ध का यह प्रदाहरूप से अनादिकालिक सिद्धान्त मनोविज्ञान से भी समर्थित है। कोई व्यक्ति एक बार जो प्रवृत्ति कर लेता है तो फिर दुबारा भी

१. (क) भाग्य और पुरुषार्थ (सूरजभान जी वकील) से भावग्रहण, पृ. १०
(ख) जैनयोग से भावांश-ग्रहण, पृ. ४१

उस प्रवृत्ति को करने की भावना जगती है, पूर्व-प्रवृत्ति का स्मरण होता है, फिर बार-बार उस प्रवृत्ति को दोहराता जाता है। एक बार प्रवृत्ति जिसने करली, उसने अपने पर कर्म का बन्धन डाल लिया। यह ऐसा बन्धन है कि फिर उस प्रवृत्ति से मुक्त होना उसके वश की बात नहीं रहती। वह सहज नहीं, जटिल बात हो जाती है। एक बार भी यदि पूर्वकृत कर्म-वश किसी इष्ट-अनिष्ट विषय, व्यक्ति या पदार्थ के प्रति राग-द्वेष या कषाय किया कि उसकी अधीनता उसने स्वीकार कर ली। फिर उसके लिए न करना आसान नहीं रहता। एक बार जो मार्ग पड़ जाता है–पगडंडी बन जाती है, फिर उसे मिटा पाना सरल नहीं होता।

अनादिकालीन कर्मबन्ध की प्रक्रिया

नशीली चीजों के व्यसन की बात तो दूर रही, जिन लोगों को भोजन में तेज लाल मिर्च डालकर चटपटा खाने की आदत पड़ जाती है, उसके खाने से स्वास्थ्य की हानि होने पर भी उसका खाना नहीं छोड़ते। तेज मिर्च से उनकी आँखे दुखती हैं, कड़कती हैं। वे तड़फते हैं, चिल्लाते हैं, और जानते भी हैं कि तेज मिर्च खाने से यह तकलीफ बढ़ी है, फिर भी खाते हैं और कष्ट उठाते हैं। यही हाल राग-द्वेषादि, कषायादि विकारों के परिणाम से कर्मबन्ध का है। लोग जानते हैं कि इसके कारण बार-बार जन्म-मरणादि दुःख नाना गतियों-योनियों में उठाने पड़ेंगे, परन्तु फिर भी राग-द्वेषादि करके बार-बार कर्म बाँधते और भोगते हैं। इन विकारों के अपनाने से पुनः पुनः वैसा ही करने का संस्कार पड़ जाता है। बार-बार करते रहने से वे संस्कार अधिकाधिक बद्धमूल हो जाते हैं, फिर छूटने मुश्किल हो जाते हैं। यही जीव के साथ अनादिकालीन कर्मबन्ध की प्रक्रिया है, जिसके चक्कर में समस्त संसारी जीव पड़े हुए हैं।[1]

एक जीव एक साथ सात-आठ कर्मों को कैसे बांध लेता है?

एक जीव एक साथ ही पूर्वोक्त संस्कारवश अष्टविध कर्मों में से एक कर्म बाँधे, यह तो समझ में आता है, परन्तु एक समय में सात या आठ कर्म बाँध ले, यह कैसे सम्भव है? इस गुत्थी को सुलझाने के लिए प्रज्ञापना सूत्र में बहुत ही युक्तिपूर्वक सामाधान प्रस्तुत किया गया है।

प्रश्न–भंते ! जीव आठ कर्म प्रकृतियों को किस प्रकार (कैसे) बाँधता है?

उत्तर–गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म का (उत्कृष्ट) उदय होने पर जीव दर्शनावरणीय कर्म को अवश्य ही प्राप्त करता–वेदता है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से दर्शनमोहनीय कर्म को और दर्शन मोह के उदय से मिथ्यात्व को निश्चय ही प्राप्त

१. (क) जैनयोग से भावांश ग्रहण पृ. ४०
(ख) भाग्य और पुरुषार्थ से भावांशग्रहण, पृ. १०-११

करता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव निश्चय ही आठ कर्म प्रकृतियों को बाँधता है।

तात्पर्य यह है–एक कर्म के निमित्त से दूसरा कर्म आता है–बंध जाता है।[1]

आत्मा द्वारा गृहीत एवं आकर्षित कर्म ही बद्धकर्म कहलाते हैं, शेष नहीं

कर्मबन्ध-सम्बन्धी इतने विश्लेषण के पश्चात् भी यह शंका बनी रहती है कि कर्म स्वयं आत्मा से चिपटते हैं, अथवा आत्मा अपनी क्रिया द्वारा कर्मों को अपनी ओर खींचता है? इसका समाधान यह है कि आकाश प्रदेश में चारों ओर नाना प्रकार के पुद्गल-परमाणु व्याप्त हैं। लेकिन वे सब कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणु नहीं है। जितने पुद्गल-परमाणुओं की कार्मण-वर्गणा बनी होती है, वे ही कर्म-पुद्गल कहलाते हैं। वे कर्मवर्गणाएँ भी जीव के आस-पास चारों ओर ठसाठस भरी हुई हैं, अगर उन्हें जीव से चिपटना होता तो वे तुरन्त चिपट जातीं; वे ही, उतनी ही, कार्मणवर्गणाएँ आत्मप्रदेशों के चिपटती हैं, जितनी कर्मवर्गणाओं को आत्मा ग्रहण करके या योगों के द्वारा आकर्षित करके अपने आत्म प्रदेशों से मिला देता है। इन्हें ही बंधे हुए कर्म कहते हैं।

एक युक्ति द्वारा इस तथ्य को समझ लें–एक बड़े बर्तन में चाहे जितना आटा पड़ा हो, भले ही वह रोटी बनाने के योग्य हो, लेकिन उसमें से जितना आटा निकाल कर गूंधा जाएगा, और जितने आटे की रोटी बनाई जाएगी, उसे ही रोटी कहेंगे, बर्तन में पड़ा हुआ बाकी आटा आटा ही कहलाएगा, रोटी नहीं। इसी प्रकार आकाशरूपी पात्र में कर्मरूपी आटा तो ठसाठस भरा हुआ है, लेकिन जीव उसमें से जितना कर्मरूपी आटा निकाल (खींच) कर अपने आत्म प्रदेश के साथ मिलाएगा–बाँधेगा, उतना ही वह बद्धकर्म कहलाएगा शेष कर्म बद्ध कर्म नहीं कहलाएँगे।[2]

आत्मा ही अपनी क्रिया–प्रवृत्ति द्वारा कर्मों को खींचती-चिपटाती है

इसका फलितार्थ यह हुआ कि कर्म स्वयं आत्मा से नहीं चिपटते; किन्तु आत्मा ही अपनी क्रिया द्वारा उन्हें अपनी तरफ खींचती है और उसके पुद्गलों को अपने प्रदेशों में मिला लेती है। इसे व्यावहारिक भाषा में कहते हैं–कर्म आत्मा से चिपटे। जैसे–ट्रेन में यात्रा करने वाले लोग कहते हैं–'अमुक स्टेशन आया।' किन्तु वास्तव में वह स्टेशन

---

१. कहण्णं भंते ! जीवे अट्ठ-कम्म-पगडीओ बंधइ?
गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं णियच्छति, दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं णियच्छति; दंसण-मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छति, मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं, गोयमा ! एवं खलु जीवे अट्ठकम्म-पगडीओ बंधइ। –प्रज्ञापना सूत्र पद २३, उ. १, द्वार २, सू. १६६७

२. आत्म-तत्त्व-विचार से भावांशग्रहण, पृ. ३८६

चलकर उसके पास नहीं आया। वह स्वयं ही ट्रेन में बैठ कर स्टेशन के पास आया है। कर्म और आत्मा के संयोग के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना।

कोई कह सकता है कि "कर्म तो भव-भव में परिभ्रमण कराने वाले तथा दुःख देने वाले आत्मा के कट्टर शत्रु हैं, उन्हें आत्मा जान-बूझकर अपनी क्रियाओं द्वारा क्यों ग्रहण करती है? अपने पैरों स्वयं कौन कुल्हाड़ी मारेगा?" इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है–माना कि कर्म आत्मा के कट्टर शत्रु हैं, परन्तु अज्ञानादि दोषों से गाढ़रूप से लिप्त आत्मा इस बात को कहाँ समझती है? गीता के अनुसार ऐसी आत्माओं (जीवों) का ज्ञान अज्ञान और मोह से आवृत, कुण्ठित एवं सुषुप्त हो जाता है, इसी कारण वे मूढ़ हो जाती हैं। और अपनी क्रियाओं व परिणामों द्वारा कर्मों का आस्रव (ग्रहण) और बन्ध करती रहती हैं और उनके फल भोग कर दुःखी होती रहती हैं।[1]

ज्ञानस्वरूप होते हुए भी आत्मा कर्मों से क्यों बंधता है?

यह सत्य है कि आत्मा ज्ञान लक्षण वाला है। वह वस्तुस्वरूप को भलीभाँति जान सकता है। निगोद से लेकर मनुष्य भव को प्राप्त करने तक अकाम-निर्जरा के योग से ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर कर्मों का भार हलका होता जाता है, त्यों-त्यों उसके ज्ञान पर आया हुआ आवरण कम होता जाता है, कषायादि विकार कम होते जाते हैं। उसे सम्प्रधारण संज्ञा प्राप्त हो जाती है। ऐसी उच्च संज्ञा प्राप्त होने पर भी अधिकांश व्यक्ति अपना हिताहित नहीं समझते और पुनः पुनः कर्मबन्ध के कारणों के चक्कर में पड़ कर अपनी मनमानी प्रवृत्ति करते रहते हैं, कर्मों को ग्रहण करते और बाँधते रहते हैं। इस प्रकार वे अपनी आत्मा को कर्मों से आवृत और कुण्ठित कर डालते हैं। कर्मों को कट्टर शत्रु जानते हुए भी वे कर्मों से दूर रहने के बजाय, उन्हें अपनी आत्मा से चिपटाते रहते हैं। कदाचित् मोहवश दूर न भी रहें तथा कर्म गाढ़ बन्धन से न बाँधे और कर्म बहुत ही शिथिल बाँधें ताकि भविष्य में उन्हें अनेक प्रकार की दुःखद यातनाएँ न भोगनी पड़ें।[2]

क्रिया-प्रतिक्रियाजनक संस्कार के कारण कर्मबन्ध होता रहता है।

पिछले पृष्ठों में हमने क्रिया से प्रतिक्रिया और प्रवृत्ति से पुनः पुनः प्रवृत्ति के संस्कार के विषय में बताया था। एक बार किसी प्रवृत्ति को चालू करने के बाद मनुष्य उसे नितान्त अहितकारी जानते हुए भी सर्वथा त्याग नहीं कर पाता। जब असातावेदनीय का उदय होता है तो मनुष्य उस दुष्कर्म को न करने का निर्णय करता है, लेकिन ज्यों ही सातावेदनीय का उदय हुआ कि पूर्वसंस्कारवश उसी पुरानी चाल

१. (क) वही, पृ. ३८६-३८७
(ख) अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः। –भगवद्गीता

२. आत्मतत्व–विचार से भावांश-ग्रहण, पृ. ३८७

पर चलने लगता है। सब निर्णय धरे रह जाते हैं। उस समय वह यह विचार नहीं करता कि वह कितना कर्मबन्ध कर रहा है? इसका क्या परिणाम आएगा?

नमक के त्याग की शर्त को तोड़ने का नतीजा

कुछ वर्ष पहले की एक सत्य घटना है। एक धनिक का पुत्र दुःसाध्य रोग से ग्रस्त हो गया। उसके स्वजन रोने लगे। किसी ने कहा–"यहाँ से कुछ ही दूर एक संन्यासी रहते हैं। शायद वे इसे स्वस्थ कर सकेंगे।" कुछ लोग दौड़कर उस संन्यासी को बुला लाए। उसने लड़के की बीमारी की हालत देखकर कहा–"आपको मेरी एक शर्त स्वीकार हो तो इस लड़के को दवा दूँ। उस दवा से आपका लड़का बच जाएगा, स्वस्थ भी हो जाएगा, मगर उसे जिंदगी भर के लिए नमक का त्याग करना पड़ेगा।" सबने स्वीकार किया कि लड़का बच जाए तो भले ही आजीवन नमक का त्याग करना पड़े, करेगा। सबने यह शर्त मंजूर की। संन्यासी ने दवा दी। लड़का स्वस्थ हो गया।

अब वह नमक-रहित भोजन करता रहा। तबियत ठीक रहने लगी। एक दिन माता पिता किसी कार्यवश बाहर गए। घर में लड़का और नौकर दो ही थे। लड़के के मन में विचार आया कि "आज तो नमक लगे हुए बादाम और पिश्ते खाएँगे। नमक उनमें लगा होगा पर कितना नमक होगा? उतने से क्या नुकसान होगा?" उसने नौकर से नमकीन बादाम-पिश्ते देने के लिए कहा। नौकर ने एक बार तो मना किया, लेकिन आखिर न मानने पर उसे लाकर देने पड़े। सेठ के पुत्र ने वे नमकीन बादाम-पिश्ते खाये; लेकिन थोड़ी ही देर बाद उसे बेचैनी मालूम होने लगी। हालत बिगड़ती चली गई और माता-पिता आए तब तक उसकी हालत बहुत बिगड़ चुकी थी। नौकर से उन्होंने पूछा तो उसने सारी बात स्पष्ट कह सुनाई। माता-पिता को[1] बहुत अफसोस हुआ। वे दौड़कर संन्यासी के पास पहुँचे। लड़के की हालत बता कर उसे संभालने की विनति की। संन्यासी ने घर आकर लड़के की हालत देखी तो कहा– "इसके पेट में नमक गया है। अब मैं लाचार हूँ। अब इसे बचाना मेरे बस की बात नहीं। मैंने सिखरसायन खिलाकर इसकी जान बचाई थी। इसमें नमक का आजीवन त्याग करने की शर्त थी, किन्तु वह शर्त तोड़ डाली गई है। इसी कारण इसकी ऐसी हालत हो गई है। बस अब आप इसे राम-नाम सुनाते रहें, यह सिर्फ आधे घंटे का मेहमान है।"[2]

यही बात हुई। लड़का आधे घंटे के बाद मर गया। घर में कोहराम मच गया।

जानबूझ कर कर्म बाँधने के पीछे पूर्वोक्त प्रवृत्ति-संस्कार ही कारण

अतः जीव द्वारा जान-बूझकर भी कर्म बाँधते रहने के पीछे यही पूर्वोक्त प्रवृत्ति-संस्कार कारण है। प्रवृत्ति-संस्कार के कारण व्यक्ति बार-बार कर्म बाँधता है

१. आत्मतत्व विचार पृ. ३८८
२. आत्मतत्वविचार से पृ. ३८८-३८९

और भोगता है। भोगते समय फिर राग-द्वेष या कषाय करता है, जिससे फिर नया कर्म बाँधता है, और फल भोगता रहता है।

जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति से प्रतिक्षण जुड़े हुए कर्मबन्ध से अनभिज्ञ

गहराई से सोचें तो जो हमारे जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति और प्रत्येक क्षण के साथ जुड़ा हुआ है, उस कर्म बन्ध के विषय में हम बहुत कम सोचते हैं, हम मन-वचन-काया से मनमानी करते चले जाते हैं, किन्तु यह नहीं सोचते कि इस प्रकार हम अपने आपको कर्म के हाथ में क्यों सोप रहे हैं, क्यों कर्मबन्ध करके अपनी शक्तियों तथा अपने स्वाभाविक गुणों को कुण्ठित, आवृत एवं सुषुप्त तथा मूर्च्छित करते जा रहे हैं?

मानव कर्मबन्ध का जाल स्वयं बुनता है, स्वयं फंसता है

जैसे मकड़ी स्वयं ही अपना जाला बुनती है और स्वयं ही उसमें फसती चली जाती है। शहतूत का कीड़ा अपनी मृत्यु के लिए स्वयं कोष बनाता है। यदि वह कोष न बनाए तो रेशम के धागे निकालने के लिए स्वयं को अत्यन्त गर्म पानी में न उबलना पड़े और बेमौत न मरना पड़े। कस्तूरी मृग अपनी नाभि में कस्तूरी नहीं बनने देता तो कस्तूरी पाने के लिए उसको जो अकाल में ही मौत के घाट उतारा जाता है, वह न उतारा जाता। इसी प्रकार कर्मबन्ध के रहस्यों से अनभिज्ञ और उसके प्रति उपेक्षा और अरुचि करने वाला मानव दूसरों को फंसाने के लिए नहीं, अपितु स्वयं को फंसाने तथा स्वयं को बाँधने के लिए जाल बिछाता और स्वयं को कर्मों की गिरफ्त में बाँधता चला जा रहा है। वह इस बात से अनभिज्ञ है कि कर्मबन्ध क्यों, कब और कैसे हो जाता है? अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों के साथ कैसे बँध जाता है? जो कर्म आत्मा को परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ते हैं, उसके साथ जीव क्यों स्वयं चिपट जाता है? एक साथ ही, वह सात या आठ कर्म कैसे बाँध लेता है? निश्चय से परमात्मतत्त्व सदृश होने पर भी आत्मा व्यवहार में कर्म से क्यों और कैसे बंध जाता है? इन और ऐसे ही कर्मबन्ध से सम्बन्धित अनेक पहलुओं पर इस निबन्ध में गहराई से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक पहलू पर गहराई से मन्थन करने पर कर्मबन्ध का रहस्य समझ में आ सकता है।[1]

●●

१. जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांशग्रहण, पृ.२१४,२१५

५

कर्मबन्ध का मूल स्रोत : अध्यवसाय

गंगानदी की विविध धाराओं के स्रोत हिमालयवत्

कर्मबन्ध धाराओं का स्रोत अध्यवसाय

गंगा नदी मैदानी इलाकों में बहुत तेजी से बहती है। उसका पाट भी वहाँ बहुत चौड़ा होता है। आगे चलकर उस गंगानदी से ही अनेक छोटी-छोटी नदियाँ निकलती हैं। उनसे पेयजल की प्राप्ति, खेतों की सिंचाई, शरीरशुद्धि इत्यादि लाभों के अतिरिक्त विद्युत-उत्पादन, जलयानों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन, माल का आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यापार इत्यादि लाभ भी लिया जाता है। कहीं कहीं इस पवित्र नदी में गटरों और गंदे नालों का गंदा जल भी मिल जाता है, जिसे यह अपने में मिलाकर शुद्ध (रिफाइन्ड–Refined) कर देती है। कभी-कभी वर्षा ऋतु में पानी अधिक होने से यह बाढ़ का रूप धारण करके भयंकर विनाशलीला भी उपस्थित कर देती है। फिर भी लोक-जीवन के लिए संजीवनी होने से यह हिन्दू समाज में लोक माता भी मानी जाती है।

कुछ भी हो, गंगा नदी भारतीय जन-जीवन के लिए शुभ भी है, बाढ़ आदि के कारण अशुभ भी है, तथा आध्यात्मिक जीवन-जीवियों के लिए पवित्रता और शुद्धता की प्रेरणादायिनी होने से शुद्ध भी है। दूसरी दृष्टि से देखें तो मछली आदि जल-जन्तुओं को जीवनदायिनी तथा आश्रयदायिनी होने से यह शुभ है, किन्तु बगुले, मगरमच्छ, घड़ियाल आदि जल-जन्तु भक्षक जीवों के लिए मत्स्यादि जलजन्तुओं के भक्षण में निमित्त/आश्रयदात्री होने से वह अशुभ है।

किन्तु भारतीय संस्कृति के मनीषियों ने इस नदी को 'सुरसरिता' मान कर इसके स्रोत को ढूँढने का प्रयत्न किया। उन्होंने अन्वेषण के पश्चात् बताया कि गंगा नदी का मूल स्रोत हिमालय पर्वत है। वहाँ से यह बहुत ही पतली धारा के रूप में निकलती है। अनेक वनौषधियाँ इसमें मिलती हैं। और फिर अनेक धाराओं में फैल जाती है। पूर्वोक्त कथनानुसार गंगा नदी की ये धाराएँ शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों प्रकार की होती हैं।

ठीक इसी प्रकार कर्मविज्ञानवेत्ता मनीषियों ने कर्मबन्ध की शुभ, अशुभ और शुद्ध आदि विविध धाराओं का मूल स्रोत 'अध्यवसाय' को माना है।

अध्यवसाय विभिन्न अर्थों में

यद्यपि दार्शनिक एवं व्यावहारिक जगत् में अध्यवसाय के कई अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं। वेदान्त दर्शन बुद्धिधर्म को 'अध्यवसाय' कहता है। नैयायिक कहते हैं कि अध्यवसाय आत्मा का धर्म है, जो 'यही है' इस प्रकार के विषय के परिच्छेद यानी निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सांख्यदर्शन में विषयों को ग्रहण की हुई इन्द्रियों की वृत्ति-प्रवृत्ति के होने पर बुद्धि से रजोगुण और तमोगुण का अभिभव होने तथा सत्वगुण का समुद्रेक होने को अध्यवसाय कहा गया है।[१] गीता में निश्चय अर्थ में अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त हुआ है।

व्यावहारिक जगत् में अध्यवसाय का अर्थ किया जाता है–प्रयत्न, परिश्रम, उत्साह या लगन।

जैनदर्शन में भी विविध सन्दर्भ में अध्यवसाय के विभिन्न अर्थ आगमों में दृष्टिगोचर होते हैं। कर्मविज्ञान के सन्दर्भ में कर्मबन्ध के मूल स्रोत के रूप में अध्यवसाय का अर्थ आत्मा का परिणाम, या भाव किया गया है। 'समयसार' में बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, अध्यवसाय, मति-विज्ञान, चित्तभाव और परिणाम, इन्हें एकार्थक कहा गया है। श्वेताम्बर जैनागमों तथा ग्रन्थों में भी इन्हीं अर्थों में अध्यवसाय शब्द का प्रयोग किया गया है। आचारांग, विपाक सूत्र, आवश्यक, स्थानांग, ज्ञातासूत्र, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों की टीकाओं में अध्यवसाय का अर्थ किया गया है–आत्म-परिणाम, विचार, अन्तःकरण-प्रवृत्ति, उत्साह, वाचा-संकल्प, आत्मा के सूक्ष्म परिणामविशेष, मनःसंकल्प, अत्यन्त हर्ष और विषाद से अधिक अवसान–चिन्तन, चिन्तन विशेष आदि।[२]

---

१. (क) बुद्धिधर्म इति वेदान्तिनः।
(ख) अध्यवसायः इदमेवेति विषय-परिच्छेदे–निश्चये, स चाऽत्मधर्मः, इति नैयायिकाः।
(ग) उपात्तविषयाणमिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेः रजस्तमोऽभिभवे सति सत्त्व-समुद्रेकः सोऽयमध्यवसायः इति सांख्याः। –अभिधान राजेन्द्र कोष भा.१, पृ. २३२
(घ) आत्मतत्त्वविचार (विजयलक्ष्मण सूरिजी म.) से पृ. ३६९-३७०

२. (क) आत्मतत्व विचार पृ ३७०
(ख) अध्यवसायः (अज्झवसाओ) आत्म-परिणाम; विचारः।
आचारांग श्रु.१, विपाकसूत्र १/२, कर्मग्रन्थ भाग ४, पृ. ८२
(ग) बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो॥ –समयसार २७१
(घ) अन्तःकरण-प्रवृत्तौ। –सूत्रकृतांग श्रु. २, अ. २
(ङ) मनसः परिणतौ। –ज्ञाता श्रु. १ अ. १ टीका
(च) मणसंकप्पेत्ति वा अज्झवसाणं से वा एगट्ठा। –निशीथचूर्णि १ उ.
(छ) उत्साहे वाचासंकल्पे। –आवश्यक टीका अ.३
(ज) सूक्ष्मेषु आत्मनः परिणाम-विशेषेषु। –आचारांग श्रु. १, अ. १, उ.२

भाव, अध्यवसाय या परिणाम से ही बन्ध और मोक्ष

जैन जगत् में एक सूत्र सर्वत्र प्रचलित है–"परिणामे बन्धः"–अर्थात्–परिणाम से–अध्यवसाय से कर्मबन्ध होता है। 'योगसार' में भी कहा गया है–परिणाम से ही जीव को (कर्म) बन्ध कहा है तथा परिणाम से ही मोक्ष कहा है। 'धवला' में भी इसी दृष्टि से कहा गया है–कर्म का बन्ध शुभ व अशुभ परिणामों से होता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः'–'मन ही मनुष्यों के (कर्म) बन्ध और मोक्ष का कारण है'; इस उक्ति का तात्पर्यार्थ भी व्यञ्जना–लक्षणा के अनुसार–'मन के शुभाशुभ परिणाम अथवा अध्यवसाय होता है। 'प्रवचनसार' में इसे ही स्पष्ट करते हुए कहा गया है–जीव के पर के विषय में शुभपरिणाम पुण्य (पुण्यबन्धकारक) हैं, और अशुभ परिणाम पाप (पापबन्धकारक) हैं। शुभ और अशुभ से भिन्न आत्म-परिणाम (जो अन्यगत न हों) सिद्धान्त में दुःखक्षय का कारण हैं। अध्यवसाय का दूसरा नाम 'भाव' भी है। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में चेतन के परिणाम को 'भाव' कहा है। पंचास्तिकाय में चित्त से समुत्पन्न परिणाम (विकार) को 'भाव' कहा है।[1]

गंगा की शुभ-अशुभ-शुद्ध धारावत् कर्मबन्ध-धाराएँ भी त्रिविध

जिस प्रकार गंगा नदी के मूल स्रोत हिमालय से निर्गमन शुद्धधारा के रूप में होता है, परन्तु बाद में उसके साथ कहीं-कहीं वनौषधियाँ मिलने से वह शुद्धधारा विकृत तो होती है, परन्तु वह धारा शुभ ही कहलाती है, अशुभ नहीं। इसी प्रकार आगे चलकर उस नदी के साथ गंदे नालों, गटरों के गंदे-मैले पानी एवं कूड़ा कर्कट के मिलने से वही धारा अशुभ कहलाती है। इसी प्रकार मूल में आत्मा का अध्यवसाय शुद्ध होता है, वह मोक्ष का–कर्म-क्षय का कारण होता है, अथवा वह ऐर्यापथिक रूप शुद्ध कर्म (अबन्धक कर्म) रूप होता है। परन्तु कर्मों से बद्ध आत्मा के अप्रशस्त राग-द्वेष-कषायादिरूप अशुभ परिणामधारा के मिलने के कारण वह अध्यवसाय भी अशुभ हो जाता है, और वह अशुभ कर्मबन्ध का कारण बन जाता है। किन्तु प्रशस्त रागादि परिणामों की धारा के मिलने से वह अध्यवसाय भी शुभ हो जाता है, तथा शुभकर्मबन्ध का कारण बनता है। 'धवला' में (अशुभ) परिणाम के विषय में पृच्छापूर्वक समाधान किया गया है–'परिणाम क्या है? मिथ्यात्व, असंयम और कषायादि को परिणाम कहते हैं।'[2]

---

१. (क) परिणामे बंधु जि कहिउ, मोक्खु वि तह जि वियाणि । –योगसार यो. १४
(ख) कम्मबंधो हि णाम सुहासुह-परिणामेहिंतो जायदे । –धवला १२/४/२/८/३/२७९
(ग) सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खय-कारणं समये ॥ –प्रवचनसार मू. १८१
(घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. ३, पृ ३०
(ङ) भावश्चित्तत्य उच्यते । –प. प्र टीका १/१२१
(च) भावश्चित्तपरिणामः । –गो. जी. (जी प्र.) १६५/३२१/६

२. को परिणामो? मिच्छत्तासंजम-कसायादो । –धवला १५/१७२/७

असंख्यात अध्यवसाय धाराएँ–असंख्यात कर्मबन्ध प्रकार

जिस प्रकार गंगा महानदी हिमालय से शुद्धरूप में निकलती है, परन्तु आगे चलकर शुभ और अशुभ धाराओं के अतिरिक्त, कहीं तीव्र, कहीं मन्द, कही मध्यम गति से प्रवाहित होती है। उसी प्रकार आत्मा का अध्यवसाय अपने आप में शुद्ध होते हुए भी रागद्वेष-कषायादि के मिलने से कहीं अशुभ अध्यवसाय धारा हो जाती है, कहीं प्रशस्त रागादि के कारण शुभ अध्यवसाय रूप हो जाती है। फिर उन धाराओं के भी तीव्र, मन्द, मध्यम होने से वे प्रशस्त-अप्रशस्त अध्यवसाय धाराएँ असंख्येय रूप धारण कर लेती हैं। प्रज्ञापना सूत्र में गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से नारकों से लेकर वैमानिक देवों तक २४ दण्डकवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थानों के विषय में प्रश्न किया है कि "समस्त संसारी जीवों के कितने अध्यवसाय स्थान हैं? तथा वे प्रशस्त हैं या अप्रशस्त?" उत्तर में भगवान् ने कहा–'गौतम ! वे अध्यवसायस्थान असंख्यात हैं, तथा वे प्रशस्त भी हैं, अप्रशस्त भी हैं।'[1]

शुभाशुभ कर्मों का बन्ध : शुभाशुभ अध्यवसायों पर निर्भर

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के शुभ या अशुभ परिणाम या अध्यवसाय की धाराएँ चाहें तीव्र हों, मंद हों या मध्यम हों, शुभ-अशुभ कर्मबन्ध के मूल स्रोत हैं। शुभाशुभ कर्मबन्ध इन्हीं अध्यवसायों पर निर्भर हैं। जैसे–शुभाशुभ कर्मबन्ध आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसायों पर निर्भर हैं, वैसे ही कर्मों से मुक्ति या क्षय भी आत्मा के शुद्ध अध्यवसाय पर निर्भर है। जीवन-निर्माण में अध्यवसाय का स्थान अति महत्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति का अध्यवसाय शुभ है तो उसका जीवन भी शुभ की ओर बढ़ते-बढ़ते कदाचित् शुद्ध की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है। इसके विपरीत यदि अध्यवसाय अशुद्ध है तो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य उत्तरोत्तर पतन की ओर निःसंकोच प्रवृत्त होता रहता है। जैसे व्यावहारिक जगत् में प्रगति और अवगति अध्यवसायों (संकल्पों, दृढ़ इच्छाशक्ति या परिणामों) पर अवलम्बित है, वैसे ही नैतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में भी आत्मा की प्रगति-अवगति या उत्थान-पतन आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसायों (परिणामों) पर निर्भर है, वे ही शुभाशुभ कर्मबन्धों के प्रेरक हैं।[2]

अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध अध्यवसाय का परिणाम

प्रश्न होता है–शुभ-अशुभ अध्यवसाय कैसे शुभाशुभ कर्मबन्ध का और उसके परिणामस्वरूप कैसे-कैसे ऊर्ध्वगति और अधोगति का कारण बन जाता है। तथा शुभ से शुद्ध अध्यवसाय में कैसे-कैसे व्यक्ति पहुँच जाता है? इसके लिए शास्त्रोक्त प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की जीवनगाथा देखिये–

---

१. णेरइयाणं भन्ते ! केवतिया अज्झवसाणा पण्णत्ता? ते णं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था वा?
गोयमा ! असंखिज्जा पण्णत्ता, पसत्था वि अप्पसत्था वि। एवं जाव वेमाणियाणं।
–प्रज्ञापना ३४वां पद

२. आत्मतत्वविचार से पृ. ३७०-३७१

ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर से देखने वालों को शान्त, समाधिस्थ एवं शुद्ध परिणामलीन दिखाई देते थे; किन्तु सुमुख के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर वे मन ही मन प्रसन्न हुए और कुछ ही क्षणों बाद दुर्मुख के मुख से अपनी निन्दा तथा अपने गृहस्थ पक्षीय पुत्र से मंत्रियों द्वारा राज्य हथिया लेने के षड्यंत्र रचने की बात सुनी तो अध्यवसायों की धारा शुद्ध से एकदम अशुभ पर पहुँच गई। फलतः वे मन ही मन शस्त्र बनाकर घमासान युद्ध करने लगे। मगधनरेश श्रेणिक नृप द्वारा भगवान् से उनकी गति के विषय में पूछा गया तो उन्होंने उस समय उनकी मति-स्थिति में चल रहे अध्यवसाय के अनुसार सप्तम नरक में गमन का बन्ध बताया। किन्तु कुछ ही समय बाद जब राजर्षि ने शत्रु पर मुकुट फेंकने के लिये मस्तक पर हाथ रखा कि उनके क्रोधावेश का पारा उतर गया। वे अपनी वर्तमान पर्याय का विचार करते हुए पश्चात्ताप की धारा में गहरे उतर गए। आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना और शुभभावना की प्रबल धारा में बहने के कारण उनके अध्यवसाय एकदम बदल गये। यही कारण है कि श्रेणिक महाराजा के पुनः उनकी गति के विषय में प्रश्न पूछने पर भगवान् ने उनके शुभ अध्यवसायों के अनुसार सर्वार्थसिद्ध विमान में देवगति के बन्ध की सम्भावना बताई। किन्तु उनके अध्यवसाय उत्तरोत्तर शुद्ध होते गए, और उन्होंने क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर चारों घातिकर्मों का क्षय किया तथा वीतराग केवलज्ञानी बन गए।

निष्कर्ष यह है कि रजोहरण, चादर आदि वेष के पहनने से, साधु बन जाने मात्र से, अथवा अमुक ध्यानादि क्रियाएँ कर लेने मात्र से कर्मबन्ध रुक नहीं जाता, क्योंकि कर्मबन्ध का सम्बन्ध अध्यवसाय से है; परिणाम से है। इसीलिए 'समयसार' में कहा गया है–"कर्मबन्ध जीवों के मारने, न मारने पर नहीं; अपितु अध्यवसायों पर निर्भर है। निश्चयनय के अनुसार यही कर्मबन्ध का निष्कर्ष है। अर्थात्–किसी व्यक्ति का जीवों को मारने का अध्यवसाय (परिणाम) हुआ, फिर जीव मरें या न मरें, उसे हिंसारूप पापकर्म बन्ध हो गया।" "हिंसा की तरह असत्य, चोरी, परधन-हरण, धनादि के प्रति ममत्वभाव, और अब्रह्मचर्य का अध्यवसाय करने मात्र से पाप-कर्मबन्ध हो जाता है। अतः शुभ-अशुभ अध्यवसाय ही पुण्य-पाप बन्ध का कारण है;[1]" और शुद्ध अध्यवसाय कर्मक्षय का।

---

१. अज्झवसिदेण बंधो, सत्ते मारेउ वा न मारेउ ।
एसो बंध-समासो जीवाणं णिच्छय-णयस्स ॥
एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥
तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥ –समयसार गा. २६२, २६३, २६४

कर्मबन्ध वस्तु से नहीं, अध्यवसाय से ही

एक साधु है, वह पांच मंजले भवन में रहता है, निर्दोष भिक्षाचरी से प्राप्त स्वादिष्ट या गरिष्ठ भोजन करता है, इन दोनों स्थितियों में केवल भवन के स्पर्श से या स्वादिष्ट भोजन करने मात्र से–यानी वस्तु से बन्ध नहीं होता, यदि इन वस्तुओं को लेकर राग, ममत्व, मोह, द्वेष, कषाय आदि का अध्यवसाय (परिणाम) आ गया तो उससे कर्मबन्ध होता है। इसीलिए 'समयसार' में स्पष्ट कह दिया है–कर्मबन्ध वस्तु से नहीं, (राग-द्वेष युक्त) अध्यवसाय (परिणाम) से होता है। यह ठीक है कि जीवों के अध्यवसाय किसी न किसी वस्तु या व्यक्ति के निमित्तरूप अवलम्बन को लेकर शुभ या अशुभ हो जाते हैं।[1] जैसे साधु के भव में शिष्य पर क्रोधरूप अशुभ अध्यवसाय के कारण पापकर्मबन्ध के फलस्वरूप मर कर वह चण्डकौशिक सर्प बना, किन्तु चण्डकौशिक सर्प के भव में वात्सल्य मूर्ति भगवान् महावीर के उपदेश के निमित्त से उसका अशुभ अध्यवसाय शुभ में परिणत हो गया। अतः शुभ अध्यवसाय के कारण शुभकर्मबन्ध के फलस्वरूप मर कर वह देवलोक में गया।[2]

भाव से ही कर्मबन्ध द्रव्य से नहीं : द्रव्य-भाव चतुर्भंगी द्वारा स्पष्टीकरण

पंचम श्रुतकेवली चतुर्दशपूर्वविद् आचार्य भद्रबाहु स्वामी-रचित दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में हिंसा के द्रव्य भाव से सम्बन्धित चतुर्भंगी का उल्लेख है। उसमें वे हिंसा के द्रव्यभाव के भेद से चार विकल्पों का संकेत करते हुए कहते हैं– हिंसा की प्रतिपक्षी अहिंसा है। वह द्रव्य और भाव से चार प्रकार की होती है। अहिंसा और अजीवातिपात (अप्राणातिपात) एकार्थक हैं।

उपर्युक्त निर्युक्ति द्वारा निरूपित द्रव्य और भाव की चतुर्भंगी का बहुत ही विस्तृत रूप से महान् श्रुतधर आचार्य जिनदास महत्तर ने दशवैकालिक चूर्णि में, तथा श्री हरिभद्रसूरी ने दशवैकालिक बृहद्वृत्ति में स्पष्टीकरण किया है। दशवैकालिक बृहद्वृत्ति में हिंसा के अतिरिक्त असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से सम्बन्धित द्रव्य-भावयुक्त चतुर्भंगी का समीचीनरूप से स्पष्टीकरण किया है। 'चिन्तन के झरोखे में' इसका सुन्दर विश्लेषण किया है।[3] सबका तात्पर्य एवं मूल स्वर यही रहा है कि भाव से यानी अध्यवसाय से हिंसा आदि होने पर कर्मबन्ध होता है, केवल द्रव्य से हिंसादि होने पर नहीं। पूर्वोक्त आचार्यद्वय ने हिंसा आदि से सम्बन्धित चतुर्भंगी का विश्लेषण इस प्रकार किया है–

---

१. वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
णय वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोऽत्थि ॥ –समयसार गा. २६५

२. देखें–भगवान महावीर : एक अनुशीलन में चण्डकौशिक सर्प का वृत्तान्त

३. (क) हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ ।
दव्वे भावे अ तहा, अहिंसाऽजीवाइवाउ त्ति ॥४५॥ –दशवैकालिक भद्र. निर्युक्ति
(ख) देखें, श्री अमर भारती (अक्टूबर-नवम्बर १९८४) में उपाध्याय अमरमुनिजी का 'द्रव्यभाव-चतुर्भंगी' –शीर्षक लेख पृ.-५

प्रथम भंग में–द्रव्य से हिंसा है, भाव से नहीं। किसी कारणवश ईर्यादि समिति से गमनागमन करते हुए मुनि के द्वारा भी कदाचित् हिंसा हो जाती है, वह स्थूल-द्रव्यरूप से बाह्य द्रव्य हिंसा तो है, परन्तु मुनि के अन्तरंग भाव (अध्यवसाय) में हिंसा नहीं है, हिंसा करने के कोई परिणाम (भाव) नहीं हैं। अतः यह द्रव्यहिंसा कर्मबन्ध की हेतु नहीं है। जैसा कि ओघनिर्युक्ति आदि में कहा गया है–"ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हुए मुनि के पैर के नीचे भी कभी क्षुद्र प्राणी (कीट आदि) दब कर मर जाते हैं, उनकी हिंसा हो जाती है (की नहीं जाती), परन्तु उक्त द्रव्यहिंसा से उस मुनि को सिद्धान्त में सूक्ष्ममात्र भी कर्मबन्ध नहीं बताया है। क्योंकि मुनि अप्रमत्त है, जागृत है अन्तर् में। और हिंसा तो सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रमत्त-योग से प्राणियों का प्राण-नाश करने पर ही निर्दिष्ट है।

दूसरा भंग–भाव से हिंसा है, द्रव्य से नहीं है। जैसे–कोई व्यक्ति कुछ अधिक मंद प्रकाश वाले प्रदेश (स्थान) में टेढ़ी मेढ़ी एवं आड़ी तिरछी पड़ी हुई रस्सी को भ्रान्तिवश सर्प समझकर, 'यह सर्प है' इसे मार डालना चाहिए, इस परिणाम (अध्यवसाय या भाव) से सहसा म्यान से तलवार निकाल कर उसके दो टुकड़े (खण्ड) कर डालता है। वहाँ स्पष्ट है कि सर्परूप प्राणी की हिंसा तो नहीं हुई है, मगर सर्प को मारने का अध्यवसाय (परिणाम) होने से वह भावहिंसा हो गई। अतः प्रस्तुत भंग में प्राणातिपातरूप हिंसा का दोष होने से कर्मबन्ध होता है।[1]

तीसरा भंग–जहाँ द्रव्य से भी हिंसा हो, और भाव से भी। द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से हिंसा होने की स्थिति संकल्पपूर्वक किसी प्राणी की हिंसा कर देने से होती है। जैसे–कोई शिकारी मृग को मारने के भाव (अध्यवसाय) से कान तक धनुष की प्रत्यंचा को जोर से खींच कर लक्ष्य सन्धान पूर्वक बाण छोड़ता है, उस बाण से मृग को बींध डालता है और वह मृग मर भी जाता है। यहाँ मृग को वध करने के भाव से मृग को मारा गया है, अतः यह द्रव्यहिंसा भी है, और भावहिंसा भी। यह उभयमुखी हिंसा कर्मबन्ध की हेतु है, क्योंकि इसमें द्रव्य हिंसा के साथ हिंसा का परिणाम (अध्यवसाय) भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है।[2]

---

१. (क) द्रव्यतो न भावतः। सा खलु ईर्यादिसमितस्य साधोः कारणे गच्छतः इति।
उक्तञ्च –दशवै. हारी वृत्ति
उच्चालियंमि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
जम्हा सो अप्पमत्तो सा उ पमायओ त्ति निद्दिट्ठा ॥ –ओघनिर्युक्ति ७४८-४९
(ख) या पुनर्भावतो न द्रव्यतः। सेयम्–जहा के वि पुरिसे मंद-मंदप्पगासप्पदेसे संठियंईसिवलियकायं रज्जूं पासित्ता। एस आहित्ति तव्वह-परिणामए जिकड्ढियासिपत्ते दुअं दुअं छिंदिज्जा। एसा भावओ हिंसा, न दव्वओ।

२. द्रव्यतो भावतश्चेति। जहा–केइ पुरिसे मियवह-परिणाम-परिणए मियं पासित्ता, आइन्नाइद्धिय-कोदंडजीवे सर णिसिरज्जा। से मिए तेण सरेण विद्धे, मए सिया। एसा दव्वओ हिंसा भावओ वि। –दशवैकालिक हारी. वृत्ति

चतुर्थ भंग–'न द्रव्य से हिंसा और न भाव से हिंसा'। यह भंग शून्य है, केवल शब्दों से उल्लेख कर दिया गया है, क्योंकि इस भंग (विकल्प) में हिंसा की क्रिया न तो द्रव्यात्मक होती है और न ही भावात्मक। हिंसा के मूल में दो ही रूप हैं, द्रव्यात्मक और भावात्मक। तीसरा भंग दोनों के मिलन का है, अतः द्रव्य से तथा भावतः हिंसा से (द्वितीय भंग से) कर्मबन्ध होता है। चतुर्थ भंग दोनों के निषेधरूप में है। अतः हिंसा का इसमें कोई रूप ही नहीं बनता।[1]

असत्य-सत्य सम्बन्धित चतुर्भंगी भी इसी प्रकार है।

प्रथम भंग–द्रव्य से मृषावाद, भाव से नहीं। जैसे–कोई व्यक्ति वन-प्रदेश में स्थित मुनि से पूछता है–"इधर से मृग आदि पशु गये हैं क्या?" मुनि ने मृगादि जाते हुए देखे हैं, फिर भी प्राणिरक्षारूप दया के भाव से कहता है–"नहीं, मैंने नहीं देखे।" यह द्रव्यरूप से शाब्दिक मृषावाद–असत्य है, किन्तु भाव से नहीं है। कारण यह है कि मुनि अपने किसी स्वार्थ, लोभ, क्रोध, हास्य या भय आदि की दृष्टि से असत्य के लिये असत्य नहीं कह रहा है, परन्तु 'सद्भ्यो हितं, सत्यम्'[2] –'प्राणिमात्र का जिससे हित हो, वह सत्य है,' इस परिभाषा के अनुसार शिकारी और मृगादि प्राणी दोनों के हित एवं रक्षण की दृष्टि से यह वचन द्रव्यतः असत्य होते हुए भी भावतः सत्य है। भावतः असत्य न होने से यह वाक्य बाह्य असत्य होते हुए भी अन्तरंग से सत्य की कोटि में आता है। अतः भावों (परिणामों) में असत्य न होने से यह कर्मबन्ध कारक नहीं है। इससे मुनि का सत्यमहाव्रत खण्डित नहीं होता।

वस्तुतः बन्ध और मोक्ष व्यक्ति के अध्यवसाय, परिणाम या भाव की धारा पर ही निर्भर हैं। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इसी सन्दर्भ में प्रतिपादित भगवद्वाक्य–'जाणं वा णो जाणंति वएज्जा'–(प्राणिदया के हेतु मृगादि को किस दिशा में गए हैं, यह) जानता हुआ भी मुनि (उपेक्षा भाव) कह दे कि–"मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम, मैंने नहीं देखे"। इसी तथ्य का स्पष्ट भावबोध है, जो आगमज्ञ चूर्णिकार एवं वृत्तिकार आचार्यों के शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है।

द्वितीय भंग–असत्य बोलने का भाव होते हुए भी सहसा मुख से सत्य बोलना। जैसे किसी व्यक्ति ने अपने स्वार्थ एवं लोभ की पूर्तिवश, दूसरे को धोखा देने का विचार किया, किन्तु सहसा उसके मुख से सत्य बोला गया। ऐसी स्थिति में–भाव से असत्य है, द्रव्य से नहीं। मन में असत्य बोलने का भाव (अध्यवसाय) आते ही भले ही द्रव्य (बाह्य) से सत्य बोला गया हो, परन्तु वह है असत्य ही; इससे कर्मबन्ध का होना सुनिश्चित है।

तृतीय भंग–असत्य बोलने का भाव भी हो, और असत्य बोला भी जाय; यह द्रव्य और भाव से मिश्रित असत्य का तृतीय भंग है। इसमें व्यक्ति पहले ही असत्य

१. चरमभंगस्तु शून्यः।

२. उत्तराध्ययन पाइटीका अ. ६ में निरूपित।

बोलने का विचार करता है और तदनुसार असत्य बोल भी देता है। यह भाव और द्रव्य, अर्थात्–मन और वाणी दोनों से असत्य है। इस भंग में असत्य का भाव होने से यह भी असत्य-आस्रव जनित कर्मबन्ध का कारण है।

चतुर्थ भंग–न द्रव्य से असत्य और न भाव से असत्य ! यह भंग भी हिंसा के पूर्वोक्त चतुर्थ भंग के समान शून्य है, शब्दोल्लेखमात्र है। क्योंकि इस भंग में द्रव्य-भाव दोनों प्रकार से असत्य का निषेध होने से असत्य की जीवन में कोई स्थिति ही नहीं होती। अतः इसमें कर्मबन्ध का सवाल ही नहीं है।[1]

स्तेय–चौर्य–अदत्तादान-सम्बन्धित चतुर्भंगी–(१) प्रथम भंग–राग-द्वेष के भाव से युक्त मुनि किसी प्रयोजन-विशेष से, कहीं पर, किसी की आज्ञा के बिना, जो तृणादि वस्तु ग्रहण कर लेता है, वह द्रव्य से तो अदत्तादान–स्तेय है, किन्तु भाव से नहीं; क्योंकि समभावी मुनि के अन्तर्मन में चौर्यवृत्ति जैसा कोई भाव नहीं है। अतः कर्मबन्ध का हेतु नहीं है। व्यवहार सूत्र में बताया है कि किसी विशेष परिस्थिति में अदत्त-वसति के ग्रहण में अदत्तादान-वृत्ति जैसे किसी भाव के न होने से भाव से अदत्तादान नहीं है।

इसी प्रकार सर्वारम्भ परित्यागी मुनि को श्वास-उच्छ्वास आदि की सहजक्रिया में वायु-काय आदि को ग्रहण करते समय भी इसी प्रथम भंग में परिगणित किया गया है। फलतः द्रव्य से हिंसा और अदत्तादान होते हुए भी भाव से इन दोनों से मुक्त बताया है। अतः ये सहज क्रियाएँ कर्मबन्धहेतुकी नहीं हैं।

(२) द्वितीय भंग–भाव से अदत्तादान, द्रव्य से नहीं। चोरी करने के भाव (अध्यवसाय) से कोई व्यक्ति किसी की वस्तु चुराने या अपहरण करने को उद्यत तो है, किन्तु किसी कारणवश चुरा या अपहरण कर नहीं पाता। यह भाव से अदत्तादान (चौर्य) है, किन्तु द्रव्य से नहीं। भले ही वह व्यक्ति चोरी न कर सका हो, किन्तु मन में चोरी करने का भाव (परिणाम या अध्यवसाय) आने से अदत्तादान का यह भावरूप द्वितीय भंग कर्मबन्ध का हेतु है।

(३) तृतीय भंग–द्रव्य से भी अदत्तादान और भाव से भी। किसी व्यक्ति के मन में चोरी करने का भाव आया, और तदनुसार उसने चोरी भी कर ली। भाव और द्रव्य से अदत्तादान सम्बन्धी यह तृतीय भंग, कर्मबन्ध का कारण है।

---

१. (क) तत्थ कोवि कहिं वि हिंसुज्जुओ भणइ–इओ तए पसु-मिगाइणो दिट्ठंति । सो दयाए दिट्ठा वि भणइ–'ण दिट्ठन्ति' । एस दव्वओ मुसावाओ न भावओ।
(ख) अवरो 'मुसं भणीहामि' त्ति परिणओ, सहसा सच्चं भणइ । एस भावओ, न दव्वओ।
(ग) अवरो 'मुसं भणीहामि' त्ति परिणओ, मुसं चेव भणइ । एस दव्वओ वि, भावओ वि ।
(घ) चउत्थो भंगो पुण सुन्नो । –दशवैकालिक हारी. वृत्ति
(ङ) श्री अमर भारती में उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के 'द्रव्य-भाव चर्तुभंगी' शीर्षक लेख से, पृ. १०

(४) चतुर्थ भंग–न भाव से अदत्तादान, और न द्रव्य से भी। यह भंग भी पूर्वोक्त चतुर्थ भंगों के सदृश शून्य है, केवल शब्दोल्लेखमात्र है। द्रव्य से और भाव से अदत्तादान का निषेध होने से यह भंग कर्मबन्ध का हेतु नहीं है।[1]

अब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित चतुर्भंगी–(१) प्रथम भंग–केवल द्रव्य से मैथुन–अब्रह्मचर्य, भाव से नहीं। राग-द्वेष की भावना से रहित किसी शीलवती महिला पर यदि कोई दुष्ट, अत्याचारी बलात्कार करके उसका शील भंग करता है, तो उक्त महिला का यह द्रव्य से मैथुन–अब्रह्मचर्य है, भाव से नहीं। वस्तुतः उक्त नारी का शीलभंग का किसी प्रकार का भाव न होने से बाहर से द्रव्यतः शीलभंग होने पर भी यह शीलभंग (मैथुन या अब्रह्मचर्य दोष) की कोटि में नहीं आता। तथा उक्त द्रव्यतः शीलभंग से किसी भी प्रकार के पापकर्म का बन्ध उक्त नारी को नहीं होता। यह स्पष्ट है कि भाव, अध्यवसाय या परिणाम के अभाव में केवल जड़ शरीर की क्रिया से कुछ भी अच्छा या बुरा–शुभ का अशुभ नहीं होता। बलात्कारियों के उपद्रव से पवित्र शीलवती नारी की पवित्रता भंग नहीं होती। अतः उसे दूषित नहीं माना जाना चाहिए। किसी शीलवती सती पर बलात्कार होने पर पवित्रता के नाम पर उसके प्रति दुर्भाव फैलाना या दुर्व्यवहार करना उचित नहीं। ऐसा करना पाप है, हिंसा है, असत्याचार है।[2]

(२) द्वितीय भंग–भाव से मैथुन, द्रव्य से नहीं। मन में मैथुन की संज्ञा-विषयवासना की वृत्ति है, किन्तु परिस्थितिविशेष से अवसर न मिलने से उसकी पूर्ति नहीं होती। अर्थात्–अपनी कामवासना को क्रियान्वित करने का मौका नहीं मिलता। यह भाव से मैथुन है, द्रव्य से नहीं। अतः द्वितीय भंगानुसार मन में मैथुन का भाव होने से कर्मबन्ध का हेतु है।

(३) तृतीय भंग–मन में मैथुन की वृत्ति भी, और तदनुरूप क्रियान्विति भी। यह द्रव्य और भाव दोनों से मैथुन-सेवन है। इस भंग के अनुसार व्यक्ति के मन में भी अब्रह्मचर्य का भाव है और क्रिया से भी वह मैथुन-सेवन कर लेता है। इसलिए भावमूलक होने से तृतीय भंग भी कर्मबन्ध का हेतु है।

---

१. (क) अदत्तदुट्ठस्स साहुणो कहिं वि अणणुण्णवेऊणं तणाई गेण्हओ, दव्वओ अदिन्नादाणं, णो भावओ।
(ख) हरामि त्ति अब्भुज्जयस्स तदसंपत्तीए भावओ, न दव्वओ।
(ग) एवं चेव संपत्तीए भावओ वि, दव्वओ वि।
(घ) चरिम भंगो पुण सुन्नो। –दशवै. हारी. वृत्ति

२. (क) अदत्तदुट्ठाए इत्थीयाए बला परिभुंजमाणीए दव्वओ मेहुणं, नो भावओ।
(ख) श्री अमर भारती अक्टूबर-नवंबर १९८४ में प्रकाशित 'द्रव्य-भाव-चतुर्भंगी' शीर्षक लेख से, पृ. १२, १४

(४) चतुर्थ भंग–न द्रव्य से मैथुन है, न ही भाव से। यह भंग केवल शाब्दिक विकल्प है। अतः पूर्वोक्त चतुर्थ भंगों के समान यह भी शून्य है। जीवन में द्रव्य और भाव दोनों के अभाव में अब्रह्मचर्य की कोई स्थिति नहीं होती।[1]

परिग्रह-अपरिग्रह-सम्बन्धी चतुर्भंगी–(१) प्रथम भंग–द्रव्य से परिग्रह, भाव से नहीं। राग-द्वेषभाव से रहित होकर वीतरागचर्यारत साधु-साध्वी के लिए धर्मोपकरण रखना द्रव्य से परिग्रह है, भाव से नहीं। साधु-साध्वीगण धर्मचर्या अथवा जीवदया आदि हेतु से संयम पोषक या धर्मसाधना सहायक आगमविहित धर्मोपकरण रखते हैं, तथा उनका उपयोग करते हैं, वह मूर्च्छा भाव से भोगासक्ति से या रागभाव से नहीं रखते और न ही उपयोग करते हैं तो द्रव्य से परिग्रह भले ही कहें, भाव से परिग्रह नहीं है। फलतः उक्त भंग शुद्ध है, इसमें परिग्रह-मूलक कर्मबन्ध नहीं होता।

(२) द्वितीय भंग–भाव से परिग्रह, द्रव्य से नहीं। किसी अभीष्ट वस्तु के प्रति राग है, मूर्च्छा है, आसक्ति है, वह वस्तु चाहे साधक के पास विद्यमान हो या प्राप्त न हो, फिर भी वहाँ भाव से परिग्रह है, द्रव्य से नहीं। इस प्रकार द्वितीय भंग परिग्रह मूलक कर्मबन्ध का हेतु है; क्योंकि परिग्रह से सम्बन्धित वस्तु पास में न होने या उपलब्ध न होने पर भी उस पर मूर्च्छाभाव होने से परिग्रह है।

आगमों में तथा तत्त्वार्थसूत्र आदि में मूर्च्छा को परिग्रह बताया है, वस्तु को नहीं। वस्तुतः परिग्रह चित्त की राग-मोह-मूर्च्छात्मक वृत्ति है। यदि वह है तो वस्तु के न होते हुए भी परिग्रह है, और यदि वह नहीं हो तो वस्तु के होते हुए भी परिग्रह नहीं है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है–धर्मसाधनोपयोगी वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन, आदि धर्मोकरण परिग्रह नहीं हैं, मूर्च्छा को भगवान् ने परिग्रह कहा है। जहाँ तक रागादि भाव का प्रश्न है–यदि देह में आसक्ति है। जीवन का मोह है, या यश-प्रसिद्धि आदि की कामना है, तो वहाँ भी परिग्रह है। अगर वस्तुओं को परिग्रह कहेंगे तो तीर्थंकरो के छत्र, चामर, सिंहासन, समवसरण, भामण्डल आदि अनेक विभूतियों को भी परिग्रह कहना पड़ेगा, परन्तु तीर्थंकरों के जीवन में निःसंगता तथा वीतरागता होने से उक्त द्रव्यपरिग्रह को भावपरिग्रह तथा कर्मबन्धहेतुक नहीं कहा है।

(३) तीसरा भंग–किसी वस्तु के प्रति आसक्ति या लालसा है, और उसे प्राप्त भी कर लिया है, या वह प्राप्त भी है, तो वहाँ परिग्रह का तीसरा भंग होगा–द्रव्य से भी परिग्रह और भाव से भी परिग्रह। यह द्रव्य-भाव से परिग्रह कर्मबन्ध का हेतु है।

(४) चतुर्थ भंग–न द्रव्य से परिग्रह है और न ही भाव से। यह भंग पूर्वोक्त चतुर्थ

---

१. (क) मेहुण सन्ना-परिणयस्स तदसंपत्तीए भावओ, न दव्वओ।
(ख) एवं चेव संपत्तीए, दव्वओ वि, भावओ वि।
(ग) चरिम भंगो पुण सुन्नो।

भंगों के समान शून्य है, केवल शब्द मात्र है। द्रव्य और भाव दोनों ही तो परिग्रह के रूप हैं। दोनों के अभाव में परिग्रह हो ही नहीं सकता।[1]

अतः कहना होगा कि भाव या अध्यवसाय से ही हिंसा, असत्य आदि कर्मबन्ध के कारण होते हैं, भावरहित केवल द्रव्य से नहीं।

अध्यवसाय बदलते रहते हैं, निमित्त के अवलम्बन से

यह सत्य है कि जीवों के अध्यवसाय बदलते रहते हैं। वे सदा एक-से नहीं रहते। आत्मा किसी समय शुभ अध्यवसाय के और कभी अशुभ अध्यवसाय के प्रवाह में बहता रहता है। शुभ से अशुभ अध्यवसाय में तथा अशुभ से शुभ अध्यवसाय में आने में प्रायः कोई न कोई व्यक्ति, वस्तु या भावात्मक पदार्थ निमित्त बन जाता है। जैसे–प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के अशुभ अध्यवसायों में दुर्मुख, पुत्र के प्रति मोहभाव तथा मंत्रियों के प्रति द्वेषभाव निमित्त बने और बाद में शुभ अध्यवसाय आने में स्वयं का मुण्डित मस्तक तथा मुनित्व का भाव निमित्त बना। फिर तो उत्तरोत्तर शुद्ध अध्यवसाय में आत्मस्वरूप में रमणता, आत्मभावों में तन्मयता निमित्त बनी।

अमनस्क जीवों के अध्यवसाय कैसे ?

कोई कह सकता है कि जिनके मन नहीं होता, ऐसे निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अध्यवसाय कैसे होते होंगे? फिर ऐसे असंज्ञी (अमनस्क) जीवों को अध्यवसाय के बिना कर्मबन्धन नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसी बात नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के द्रव्यमन भले ही न होता हो, परन्तु भावमन तो होता ही है। जैसे–वनस्पतिकायिक जीव एकेन्द्रिय हैं। उनके भावमन होता है, उनका मन सुषुप्त होता है, विकसित नहीं होता है, परन्तु उनकी अन्तश्चेतना जागृत होती है, वे अपने सुख-दुःख को समझते हैं। यद्यपि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हमें इन चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देते, फिर भी उनमें अध्यवसाय होते हैं। वनस्पति, अग्नि, वायु, पृथ्वी,

---

१. (क) अत्त-दुट्ठस्स धम्मोवगरणं दव्वओ परिग्गहो, नो भावओ।
(ख) मुच्छियस्स तदसंपत्तीए, भावओ न दव्वओ।
(ग) जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पाय पुच्छणं।
त पि संजम-लज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥ –दशवैकालिक अ. ६, गा. २०-२१
(घ) मूर्च्छा परिग्रहः। –तत्वार्थसूत्र ७/१२
(ङ) एवं चेव संपत्तीए दव्वओ वि, भावओ वि।
(च) चरम भंगो पुण सुन्नो।
(छ) श्री अमर भारती (अक्टूबर-नवम्बर १९८४) में प्रकाशित श्री उपाध्याय अमरमुनि जी के 'द्रव्य-भाव-चतुर्भंगी' लेख से, पृ. १५, १६

जल आदि के शरीर वाले एकेन्द्रिय जीवों में हमारी तरह हर्ष-शोक, भय, चिन्ता, सुख-दुःख आदि का वेदन होता है और उन्हीं शुभ-अशुभ अध्यवसायों के कारण उन्हें कर्मबन्ध होता है। उन शुभाशुभ अध्यवसायों का उन स्थावर जीवों के जीवन पर अचूक प्रभाव भी पड़ता है। वनस्पतिकायिक जीवों में शुभाशुभ अध्यवसाय होता है, इसे जैनागमों में तो यत्र-तत्र बताया ही है। इसके अतिरिक्त सुप्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस ने तो वनस्पतिकायिक जीवों पर प्रत्यक्ष प्रयोग करके यह प्रमाणित कर दिया कि उन पर निन्दा-प्रशंसा का, भय, चिन्ता आदि का शीघ्र प्रभाव पड़ता है। अध्यवसाय के बिना यह सब सम्भव नहीं है।

निगोद के जीवों में भी अध्यवसाय और कर्मबन्ध

यहाँ तक कि निगोद के जीव, जो जड़प्राय अवस्था में रहते हैं, उनमें भी अध्यवसाय होते हैं। अगर उनमें अध्यवसाय न हों तो उनमें और जड़-पदार्थों में अन्तर ही क्या रहेगा? प्रत्येक आत्मा के आठ रुचक प्रदेश खुले रहते हैं। इसलिए किसी भी जीव का ज्ञान पूर्णतया आवृत नहीं होता। यही कारण है कि एकेन्द्रिय, और उसमें भी निगोद जीव को भी अध्यवसाय होता है, जिससे उनका कर्मबन्ध चालू रहता है। द्वीन्द्रिय से लेकर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों के अध्यवसाय तो होते ही हैं, और उनके कारण शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। केवल वीतराग आत्माओं को संकल्प-विकल्परूप अध्यवसाय नहीं होता।[1]

तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में शुभ अध्यवसाय भी संभव

कई लोग कहते हैं कि तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय में अशुभ अध्यवसाय तो हो सकते हैं, परन्तु शुभ अध्यवसाय की गुंजाइश उनमें कहाँ से हो सकती है? परन्तु जैन कर्म विज्ञानानुसार पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही नहीं, एकेन्द्रिय जीवों में भी शुभ अध्यवसाय होते हैं। कई वनस्पतिकायिक जीव मरकर मनुष्यगति प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों के भी निमित्त मिलने पर शुभ अध्यवसाय जाग्रत हो सकते हैं। उदाहरण के लिए नन्द मणियार को ले लें–

नन्द मणियार भगवान् महावीर का श्रावक था। एक बार वह पौषधशाला में पौषधव्रत में था, तभी पूर्व संस्कारवश अथवा कुसंगवश उसके मन में पिपासाकुल जीवों के लिए बावड़ी, पथिकों के लिए विश्रामशाला, व्यायामशाला, स्नानगृह आदि बनवाने की इच्छा जाग्रत हुई । इन्हीं विचारों की उधेडबुन में लगा रहा। पौषध पारने के बाद उसने बावड़ी आदि बनवाई। लोगों के मुंह से अपनी प्रशंसा सुनकर बावड़ी में उसकी अत्यन्त आसक्ति हो गई। यहाँ तक कि पौषधव्रत में भी बावड़ी में अत्यन्त आसक्ति रही। संयोगवश उसी दौरान उसकी मृत्यु हो गई और वह बावड़ी में अत्यासक्ति के कारण मर कर उसी बावड़ी में मेंढ़क बना। वह अब बावड़ी के किनारे

१. आत्मतत्व विचार, पृ. ३४५

बैठा रहता और पानी भरने वाली पनिहारिनों आदि के मुख से अपनी प्रशंसा सुना करता।

एक बार उसने गुणशीलक चैत्य की ओर जाते बहुत-से लोगों के मुंह से सुना कि श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। यह सुनते ही उसके मन में ऐसा अध्यवसाय जागृत हुआ कि–मैंने यह नाम कहीं सुना है। इस पर पुनः-पुनः ऊहापोह करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। अहो ! मैं पूर्वजन्म में भगवान् महावीर का व्रतधारी श्रमणोपासक था, किन्तु पौषध व्रत में मैंने बावड़ी आदि बनवाने का विचार करके व्रत भंग कर दिया, फिर बावड़ी पर मेरी अत्यन्त आसक्ति के कारण व्रतभ्रष्ट अवस्था में मर कर मैं इसी बावड़ी में मेंढक बना हूँ। कोई बात नहीं, अब मैं भगवान् महावीर के दर्शन करूंगा और पुनः व्रत धारण करूंगा।"

इस प्रकार भगवान् महावीर के दर्शन का और पुनः व्रत ग्रहण करने के शुभ अध्यवसाय के कारण उसके शुभकर्म का बन्ध हुआ। उन शुभ अध्यवसायों के फलस्वरूप उसे शुभसंयोग मिलते गए, मन में अत्यन्त प्रसन्नता और तन में स्फूर्ति आ गई। वह भगवान महावीर के दर्शनार्थ बावड़ी से बाहर निकला और फुदकता-फुदकता उसी राजमार्ग से गुणशीलक उद्यान की ओर भगवान् महावीर के पास जा रहा था। संयोगवश राजा श्रेणिक के घोड़े के पैर के नीचे आकर वह कुचला गया। फिर भी उसने घोड़े पर या घुड़सवार पर किसी प्रकार का रोष या द्वेष नहीं किया। वह धीरे से रास्ते के एक ओर पहुँचा। देखा कि अब मैं थोड़ी ही देर का मेहमान हूँ। अतः मुझे अन्तर्यामी भगवान् की साक्षी से अनशन ग्रहण कर लेना चाहिए। मैं कितना अभागा हूँ कि भगवान् महावीर के इतने निकट होने पर भी मैं उनके दर्शन नहीं कर सका। अब इस भग्न शरीर से तो मैं उनके पास नहीं पहुँच सकता। फिर भी वे अन्तर्यामी हैं, यहीं से मेरी वन्दना और मेरा समाधिमरण का मनोरथ भी स्वीकार करेंगे। "प्रभो ! भव-भव में आपकी शरण हो। मैं अब यावज्जीवन चौविहार अनशन करता हूँ, और अपने व्रतनियम जैसे नंद मणिहार के भव में थे, उसी प्रकार ग्रहण करता हूँ। सभी जीवों से क्षमायाचना करता हूँ।" यों चिन्तन करते-करते शुभ अध्यवसाय में उसने देह आदि पर से ममत्व-त्याग करके देह-विसर्जन किया। शुभ अध्यवसायों के फलस्वरूप मर कर वह दर्दुरांक नामक महान् ऋद्धिमान् वैमानिक देव हुआ।[1]

यह है–तिर्यञ्चभव में भी शुभ अध्यवसाय के कारण शुभकर्मबन्ध का फल।

अध्यवसायों पर चौकसी रखने से अशुभ से बच सकते हैं

अध्यवसाय बदलते रहते हैं। अगर आप अपने अध्यवसायों पर चौकसी रखें तो आप अशुभ अध्यवसायों से बच सकते हैं और शुभ अध्यवसायों में टिके रह सकते

१. देखें, ज्ञाताधर्मकथा सूत्र श्रु. १, अ. १३ में नंद मणियार का जीवन वृत्तान्त

हैं, और कभी आत्मभावों या आत्मगुणों में स्थित होने का शुद्ध अध्यवसाय आ जाए तो कर्म-निर्जरा (कर्म का आंशिक क्षय) भी हो सकती है। किन्तु क्रोधादि के निमित्त मिलते ही आप क्रोध, लोभ, अभिमान आदि कर बैठें तो अशुभबन्ध होते देर नहीं लगती। बिजली का यदि कोई व्यक्ति ठीक से उपयोग करता है, तो वह उससे प्रकाश, ताप आदि का लाभ प्राप्त कर लेता है, परन्तु बिजली को सीधा ही छूने लगता है, या उससे छेड़छाड़ करता है तो तुरंत करेंट मारकर वह उसके प्राण ले सकती है। इसी प्रकार अध्यवसाय को शुभ रखने से व्यक्ति पुण्यबन्ध करके लौकिक लाभ प्राप्त कर लेता है, परन्तु ज्यों ही वह अशुभ अध्यवसाय के प्रवाह में बहा कि उसका आत्मविकास रुक जाएगा। फलतः उसे पाप कर्म का बन्ध होकर उसका कटुफल भोगना पड़ सकता है।[1]

बाहुबली मुनि के अभिमान का अध्यवसाय केवलज्ञान में बाधक था।

बाहुबली मुनि सर्वस्व त्याग कर अडोल ध्यान में बारह महीने तक खड़े रहे, किन्तु उनके मन में अभिमान का अध्यवसाय डेरा डाले पड़ा रहा कि मैं भगवान् ऋषभदेव के पास जाऊंगा तो वहाँ अपने छोटे भाइयों को मुझे वन्दन करना पड़ेगा, जो मुझ से पहले श्रमणधर्म में दीक्षित हुए हैं। किन्तु भगवान् ऋषभदेव ने साध्वी ब्राह्मी और सुन्दरी को उन्हें प्रतिबुद्ध (जागृत) करने के लिए भेजा और उन्होंने बाहुबली मुनि को अभिमान छोड़ने के लिए समझाया तो तुरन्त उन्होंने अभिमान का अशुभ अध्यवसाय छोड़ा और शुद्ध अध्यवसाय पूर्वक भगवान् ऋषभदेव के पास जाने के लिए कदम बढ़ाया कि उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

यदि बाहुबली मुनि में प्रशस्त राग का अध्यवसाय भी होता तो उसके फल-स्वरूप उन्हें पुण्यबन्ध होता, परन्तु बन्ध-मुक्ति न होती। जैसे–गौतम स्वामी की इतनी उच्च साधना होने पर भी उनके मन में भगवान् महावीर के प्रति प्रशस्त राग (भक्तिराग) का अध्यवसाय जब तक रहा, तब तक उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, जबकि उनके द्वारा दीक्षित शिष्य उनसे पहले ही केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वथा सिद्ध-बुद्ध एवं कर्म-मुक्त हो गए थे।

अध्यवसाय–सम्बन्धित तीन निष्कर्ष

अतः पूर्वोक्त कथन पर से तीन निष्कर्ष फलित होते हैं–

(१) आत्मा का अध्यवसाय सदा एक-सा नहीं रहता, वह बदलता रहता है। पुराने अध्यवसायों की जगह नये नये अध्यवसाय पैदा होते रहते हैं। यही कारण है कि प्रज्ञापनासूत्र में संसारस्थ सभी जीवों के असंख्यात अध्यवसाय बताए गए हैं। आकाश के तारों और पृथ्वी के रजकणों की तरह अध्यवसायों की गिनती भी नहीं हो सकती। इसीलिए उनके भेद और स्थान असंख्यात माने गए हैं। यदि अध्यवसाय

१. आत्मतत्व विचार से भावांशग्रहण, पृ. ३४८

नहीं बदलते होते तो जीवों की उन्नति-अवनति का अनुभव ही न होता, तथा कर्मों की स्थिति की विचित्रता भी न दिखाई देती।

(२) आत्मा शुभ (प्रशस्त) अध्यवसाय से, अशुभ (अप्रशस्त) अध्यवसाय में और अशुभ अध्यवसाय से शुभ अध्यवसाय में छलांग लगाया करता है। इसका अनुभव भी आप सब करते ही होंगे। धर्मस्थान में बैठे होते हैं, तब आप प्रायः अभिमान, छल-कपट, क्रोध या लोभ नहीं करते, किन्तु यहाँ से बाहर जाने के बाद थोड़ा-सा अनिष्ट संयोग या प्रतिकूल निमित्त मिलते ही आपका अध्यवसाय बदल जाएगा। मार्ग में चलते समय कोई व्यक्ति आपको जरा-सा छेड़ दे या अपशब्द कह दे तो तुरंत ही बौखला उठेंगे, आपके अहंकार और क्रोध का पारा चढ़ जाएगा, आप मन ही मन तिलमिला उठेंगे, एवं अशुभ अध्यवसायों में बहकर उसे अपशब्द कहने लगेंगे और लड़ने को भी तैयार हो जाएँगे। कई बार व्यक्ति के मन में शुभ अध्यवसाय आते हैं, किन्तु वे प्रायः अधिक देर टिकते नहीं।

प्रवचनसार में कहा गया है कि "यह वीतराग परमात्मा का उपदेश है कि जिस-जिस भाव से जीव विषयागत पदार्थ को देखता है, जानता है, उसी भाव (अध्यवसाय) के कारण वह (रागादि) विकारभाव को प्राप्त होता है, उसी से उसके शुभ-अशुभ कर्मबन्ध होता है।"[1] निष्कर्ष यह है कि आत्मा शुभ अध्यवसाय से अशुभ अध्यवसाय में चला जाता है, उसी प्रकार वह अशुभ अध्यवसाय से शुभ अध्यवसाय में भी जा सकता है। प्रतिक्रमण, उपवास, आलोचना, प्रत्याख्यान, व्रतपालन आदि शुभ आचरण हैं, किन्तु इन्हें भी अशुभ परिणामों से किया जाए तो ये भी अशुभ कर्मबन्ध के कारण बन जाते हैं। इसके विपरीत साधक का चलना, उठना, बैठना, खाना-पीना, सोना आदि क्रियाएँ यद्यपि सूक्ष्महिंसा की कारण हैं, इससे अशुभ (पाप) कर्म का बन्ध होना चाहिए, परन्तु यदि ये ही क्रियाएँ यतनापूर्वक शुभ अध्यवसाय से की जाएँ तो ये ही पुण्यकर्मबन्ध की कारण हो जाएँगी। अज्ञानादि अध्यवसाय अशुभ (रागादिरूप) होने से अशुभ कर्मबन्ध का कारण बन जाता है। वस्तुतः वस्तु या कोई भी क्रिया अपने आप में बन्ध का कारण नहीं, बन्ध का कारण है–जीव का रागादि भाव।

एक मनुष्य क्रोधान्ध होकर अशुभ अध्यवसायों के प्रवाह में बहता चला जा रहा है, किन्तु रास्ते में ही उसे कोई प्रभावशाली साधु या सज्जन मिल गया, उसने उसे हितकारक शब्द कहे, वे उसके हृदय को छू गए, उसका क्रोध शान्त हो गया, अध्यवसाय भी शुभ हो गया।

(३) तीसरा निष्कर्ष है–अध्यवसायों के बदलने में निमित्त भी काम करते हैं, प्रायः अशुभ निमित्त से अशुभ अध्यवसाय और शुभ निमित्त से शुभ अध्यवसाय हो जाते हैं।

---

१. भावेण जेण जीवो पेच्छदि, जाणदि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो, बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो॥ –प्रवचनसार गा. १७६

कोई व्यक्ति अहंकारवश दूसरे को तुच्छ मानकर उसका तिरस्कार करना चाहता है, इतने में ध्यानस्थ बाहुबली मुनि का चित्र उसके मानसपटल पर आ जाए तो अध्यवसाय बदल जाता है। उसके मन में ऐसा अध्यवसाय खड़ा हो जाता है–"रे जीव! बाहुबली मुनि सर्वस्व त्याग करके बारह महीने तक अडोल ध्यान में खड़े रहे, लेकिन अभिमान का तनिक-सा अंश उनके मन में रह जाने के कारण केवलज्ञान प्राप्त न कर सके। जब ब्राह्मी और सुन्दरी साध्वी-बहनों ने बाहुबली मुनि का ध्यान इस ओर खींचा तो तुरंत ही वे संभले और अभिमान छोड़कर भगवान् ऋषभदेव के पास जाने के लिए कदम उठाया कि अध्यवसाय के परमशुद्ध होते ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। परन्तु तू तो अभिमान में गले तक डूब रहा है, तेरी क्या गति-मति होगी?"

जिस प्रकार इस प्रबल निमित्त के मिलते ही अशुभ अध्यवसाय शुभ में परिणत हो गया, वैसे ही सद्गुरु-समागम, धर्म-श्रवण, पर्युषणादि पर्व, उपाश्रय, धर्मस्थान, स्वाध्याय आदि अध्यवसायों को शुभ तथा शुद्ध करने के प्रबल निमित्त हैं। शुभ निमित्त निर्बल होते हैं तो अशुभ अध्यवसाय मनुष्य के मन पर शीघ्र ही हावी होकर उसके जीवन की बाजी बिगाड़ डालते हैं।[1]

शुभ या शुद्ध भावों से शून्य क्रिया सुफलवती नहीं होती

कोई भी क्रिया हो, यदि उसके पीछे शुभ या शुद्ध भाव न हों तो वह क्रिया सुफलवती नहीं होती। चाहे वह दान की क्रिया हो, शीलपालन की क्रिया हो, तपश्चरण की क्रिया हो, शुभ या शुद्ध भाव से शून्य क्रिया उस-उस फल की प्राप्ति नहीं करा सकती। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं–"हे जन-बान्धव प्रभो ! मैंने आपके वचन भी सुने, आपकी अर्चना-पूजा भी की, आपका (आपकी प्रतिमा का) इन नेत्रों से निरीक्षण भी किया, किन्तु मैंने अपने हृदय में भक्तिपूर्वक आपको धारण नहीं किया। इसीलिए मैं दुःख का भाजन बना, क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ कभी प्रतिफलित नहीं होती।"[2]

साधुजीवन में अशुभ और सर्पजीवन में शुभ अध्यवसाय का फल

तात्पर्य यह है कि चाहे साधुवेष पहना हो, साधुजीवन की क्रियाएँ भी करता हो, परन्तु यदि अध्यवसाय शुभ या शुद्ध नहीं हैं तो उससे हानि भी हो सकती है। चण्डकौशिक सर्प के पूर्वभव का जीव साधुवेष में था, साधु जीवन की सब क्रियाएँ करता था, परन्तु शिष्य के द्वारा बार-बार टोकने के कारण वह उत्तेजित हो गया,

---

१. आत्मतत्वविचार से भावांशग्रहण पृ. ३४८

२. आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्या- ॥"
–कल्याणमन्दिर स्तोत्र, काव्य ३८

और क्रोधान्ध होकर शिष्य को मारने दौड़ा, परन्तु बीच में ही खंभा आ जाने से उसका मस्तक जोर से उससे टकराया और वहीं क्रोध के तीव्र अशुभ अध्यवसाय में ही उसका प्राणान्त हो गया। तीव्र अशुभ अध्यवसाय के कारण अशुभ कर्मबन्ध के फलस्वरूप वह चण्डकौशिक सर्प बना। सर्पयोनि में पहले तो क्रूर अध्यवसाय के कारण उसने घोर पापकर्म का बन्ध किया, परन्तु बाद में उसे विश्ववत्सल भगवान् महावीर का समागम मिला। भगवान् के निमित्त से उसका कोप शान्त हो गया। पूर्वजन्म की स्मृति होने से तथा भगवान् का प्रतिबोध पाने से उसके अध्यवसाय शुभ हुए। वह क्रोधमूर्ति से क्षमामूर्ति बन गया। उस तीव्र शुभ अध्यवसाय के फलस्वरूप शुभकर्म का बन्ध हुआ। अतः मर कर वह देव बना।[1]

यह था, प्रबल निमित्त के योग से अशुभ अध्यवसाय का शुभ अध्यवसाय में परिणमन तथा उसके फलस्वरूप शुभकर्मबन्ध और उसके कारण शुभफल की प्राप्ति।

अशुभस्थान में भी शुभ और शुभस्थान में भी अशुभ अध्यवसाय

कभी-कभी निमित्त के बिना भी मनुष्य में अशुभ स्थान में शुभ अध्यवसाय और शुभ स्थान में अशुभ अध्यवसाय उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है–"जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।"[2] "जो आस्रव (बन्ध के हेतु) हैं, वे अध्यवसाय-विशेष से संवर (मोक्ष के हेतु) हो जाते हैं, और जो संवर (मोक्ष के हेतु) हैं, वे अध्यवसाय-विशेष से आस्रव (बन्ध के हेतु) बन जाते हैं।" इसीलिए किसी स्थान विशेष का उतना महत्व नहीं है, जितना महत्त्व शुभ-अशुभ या शुद्ध अध्यवसाय विशेष का महत्व है। मन्दिर जैसे पवित्र स्थान में भी लोग चोरियाँ करते हैं, व्यभिचार लीला चलाते हैं। और सामान्य झौंपड़ी में रहने वाले जापान के संत कागावा शुभ अध्यवसायवश सेवा कार्य के फलस्वरूप शुभ कर्म (पुण्य) बन्ध कर लेते हैं। इसीलिए नीतिशास्त्र में कहा गया है–"राग-द्वेष या कषाय से युक्त मनुष्य को वन के एकान्त शान्त पवित्र स्थान में अशुभ अध्यवसायवश अनेक दोष (अशुभ कर्मबन्ध) आ घेरते हैं, जबकि पवित्रता तथा शुभ अध्यवसाय पूर्वक रहने वाले व्यक्ति के लिए घर में भी पंचेन्द्रियनिग्रहरूप तप हो सकता है।[3]

अध्यवसाय परिवर्तन के लिए एक दृष्टान्त

जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी म. ने एक दृष्टान्त दिया है–दो मित्र थे। उनमें से एक ने विचार प्रकट किया कि हमारे नगर में पवित्र जैन साधु पधारे हैं, मैं तो उनका व्याख्यान सुनने जाऊँगा। दूसरे मित्र ने कहा–"साधुजी के नीरस व्याख्यान में मुझे

१. देखें, 'तीर्थंकर महावीर' में चण्डकौशिक का वृत्तान्त

२. आचारांग सूत्र, श्रु. १, अ. ४, उ. २

३. (क) जापान के एक कर्मठ सेवाभावी संत कागावा।
(ख) वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पंचेन्द्रिय-निग्रहस्तपः। –हितोपदेश

कोई आनन्द नहीं आएगा। मैं तो वेश्या की महफिल में जाऊँगा, जहाँ संगीत, नृत्य, रागरंग में आनन्द आएगा।" फलतः दोनों मित्र अपने-अपने मनोनीत स्थान में गए। परन्तु जो व्यक्ति संत का व्याख्यान सुनने गया था। व्याख्यान सुनते-सुनते उसके अध्यवसाय शुभ से अशुभ हो गए–अरे मैं कहाँ आ फंसा ! यहाँ तो रूखा-सूखा नीरस व्याख्यान है। मेरा मित्र वेश्या की महफिल में राग-रंग का आनन्द लूट रहा होगा। जबकि वेश्या की महफिल में जाने वाले मित्र के अध्यवसाय अशुभ से शुभ में पलटे– "अरे मैं यहाँ कहाँ नीच और अपवित्र स्थान में आ गया ! यहाँ तो यह वेश्या राग-रंग और विषयवासना में फंसा कर सबका जीवन बर्बाद करती है, पैसा लूटती है सो अलग ! मेरा मित्र पवित्र संतों के उत्तम विचार सुनकर अपना जीवन और विचार पवित्र कर रहा होगा ! मैं यहाँ नहीं आता तो अच्छा रहता।"

पहले के अध्यवसाय अच्छे स्थान में रहते हुए भी बुरे हो गए और दूसरे मित्र के अध्यवसाय बुरे स्थान में रहते हुए भी अच्छे हो गए। फलतः पहले को अशुभ कर्मबन्ध और दूसरे को शुभ कर्मबन्ध हुआ। दूसरे को अध्यवसाय की उत्तरोत्तर शुद्धता होने से कोशावेश्या की चित्रशाला में चातुर्मासपर्यन्त रहने वाले स्थूलभद्र मुनि के समान संवर और निर्जरा (कर्मक्षय) का लाभ भी होने का अवकाश था।[1]

निमित्त महत्वपूर्ण नहीं, महत्वपूर्ण है–उपादान

इसलिए किसी वस्तुविशेष, व्यक्तिविशेष या स्थानविशेष का निमित्त मुख्य और महत्वपूर्ण नहीं है; महत्त्वपूर्ण है, व्यक्ति का अपना उपादान (आत्मा)। यही कारण है कि शुभ और अशुभ से ऊपर उठकर शुद्ध अध्यवसायों या भावों में रमण करने वाले साधकों के लिए आगमों में स्थान-स्थान पर कहा गया है–

'संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।'[2]

"अमुक साधु संयम और तपश्चर्या से अपनी आत्मा को भावित करते (आत्मभावों में रमण करते) हुए विचरण करता है।" अतः अध्यवसाय में उपादान की ही महत्ता विशेष है।

अध्यवसायों के आधार पर जीवन का उदय-अस्त

स्थानांग सूत्र में उदित और अस्तमित सूत्र की चतुर्भंगी बताई गई है। उसका भावार्थ इस प्रकार है–कुछ व्यक्ति प्रारम्भ में उदित होते हैं और अन्त तक उदित (उन्नत–उच्च अध्यवसाय के युक्त) रहते हैं, कई व्यक्ति प्रारम्भ में तो उदित रहते हैं, किन्तु अन्त में अध्यवसाय से भ्रष्ट होकर अस्तमित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति प्रारम्भ में अस्त (अध्यवसाय से निम्न) रहते हैं, किन्तु बाद में उदित (अध्यवसाय से उन्नत) हो

---

१. देखें, जवाहर किरणावली में दो मित्रों का दृष्टान्त

२. देखें, अन्तकृद्दशांगसूत्र, भगवतीसूत्र आदि आगमों में

जाते हैं, और कुछ व्यक्ति प्रारम्भ में भी शुभ अध्यवसाय से भ्रष्ट-अस्त होते हैं और जीवन के अन्त तक अस्त ही रहते हैं।

शास्त्रकार ने चारों भंगों के प्रतीक रूप में एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसे–प्रथम भंग उदित-उदित में चातुरन्तचक्रवर्ती भरत महाराज, द्वितीय भंग–उदित–अस्तमित में चातुरन्त चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त राजा, तृतीय भंग–अस्तमित–उदित में हरिकेश बल अनगार और चतुर्थ भंग–अस्तमित–अस्तमित में कालसौकरिक कसाई।

चक्रवर्ती भरत चक्रवर्ती के वैभव, विशाल साम्राज्य तथा समृद्धि के स्वामी होते हुए भी शुभ अध्यवसायवश उससे निर्लिप्त तथा निर्ममत्व रहते थे। वही शुभ अध्यवसाय अन्त में शुद्ध अध्यवसाय में परिणत हुआ और वे केवलज्ञान-केवलदर्शन को और सर्वकर्ममुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त हुए। इसके विपरीत चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त अपने पूर्वभव में संभूत नाम के साधु थे। शुभ और शुद्ध अध्यवसाय के फलस्वरूप शुभ कर्मबन्ध और कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकते थे, किन्तु जीवन के अन्त में उन्होंने अपने तप-संयम के फल की लौकिक फलाकांक्षा के रूप में सौदेबाजी की। चक्रवर्ती पद प्राप्ति का निदान (नियाणा) किया, अपने शुभ और शुद्ध अध्यवसाय को तिलांजलि देकर अशुभ अध्यवसाय किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के भव में अशुभ कर्मबन्ध किया, उन्हें नरकगति का मेहमान बनना पड़ा।[1]

किन्तु तीसरे भंग के अधिकारी हरिकेशबल ने जीवन के प्रारम्भ में पूर्वबद्ध अशुभकर्मोदयवश चाण्डालकुल में जन्म लिया। वहाँ शुभ और शुद्ध अध्ययन करने का कोई निमित्त या वातावरण भी नहीं मिला। अतः प्रारम्भ में उनका उन्नत अध्यवसाय नहीं हुआ। अनुन्नतदशा ही रही, परन्तु बाद में एक पवित्र मुनि के निमित्त से उन्हें शुभ और शुद्ध अध्यवसाय का बल मिला। सकल चारित्र अंगीकार करके वे महामुनि अपने जीवन को तप और संयम के शुद्ध अध्यवसाय से उन्नत बना सके, जो भी शुभाशुभ कर्म बंधे हुए थे, उन्हें सर्वथा क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

चतुर्थ भंग का धनी कालसौकरिक (कसाई) प्रारम्भ में अशुभ अध्यवसायों में पला-पुसा और उन्हीं में जीवन के अन्त तक रचा-पचा रहा। फलतः वह अशुभ (पाप) कर्मबन्ध के कारण नरक का अधिकारी बना।[2]

इसलिए चारों भंगों में निमित्त की अपेक्षा उपादान की प्रबलता और अपने-अपने अध्यवसायों की विशेषता है।

---

१. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा–(१) उदितोदिते णाममेगे, उदितऽत्थमिते णाममेगे, अत्थमितोदिते णाममेगे, अत्थमिताऽत्थमिते णाममेगे।
भरहे राया चाउरंत चक्कवट्टी णं उदितोदिते, बंभदत्ते णं राया चाउरंत चक्कवट्टी उदितऽत्थमिते, हरिएस-बले णं अणगारे अत्थमितोदिते, काले णं सोयरिए अत्थमिताऽत्थमिते।
–स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. ३, सू. ३६३

२. वही, स्थानांगसूत्र स्था, ४, उ. ३, सू. ३६३

निष्कर्ष यह है कि कर्मबन्ध का मुख्य स्रोत व्यक्ति की आत्मा के शुभ-अशुभ अध्यवसाय हैं, न कि कोई वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, स्थानविशेष या क्रिया निमित्त-विशेष !

अध्यवसाय के अनुसार स्थितिबन्ध और रसबन्ध

जहाँ तक शुभ-अशुभ कर्मबन्ध का प्रश्न है, वहाँ उसकी मुख्य स्रोत शुभ-अशुभ अध्यवसायों या परिणामों (भावों) की धारा है। कर्मसिद्धान्त का भी यह नियम है कि जीव के केवल त्रिविध योग होने से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है, किन्तु आत्मा में जब प्रशस्त-अप्रशस्त रागादि अध्यवसाय (परिणाम) होता है, तब अध्यवसाय के अनुसार स्थितिबन्ध और रसबन्ध होता है।[1]

रत्नत्रयरूप भावधर्म के अध्यवसाय शुद्ध हों

अतः चारों प्रकार के कर्मबन्ध से रहित होने के लिए आत्मा को अपने अध्यवसायों या परिणामों को शुद्ध (कर्मक्षयकारक) रखना अनिवार्य है। अध्यवसायों की शुद्धि ही भावधर्म (सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयरूप शुद्ध धर्म) की परिचायिका है। कर्मों से सर्वथा मुक्त होने का मार्ग है।

●●

१. आत्मतत्व-विचार से भावांश ग्रहण, पृ. ३४८-३४९

६

कर्मबन्ध के बीज : राग और द्वेष

कर्मरूप विशाल महावृक्ष के बन्ध के बीज : राग और द्वेष

विशाल महावृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, शाखा-प्रशाखा, मूल एवं स्कन्ध के सहित उत्पन्न होने, अंकुरित एवं विकसित होने का सर्वप्रथम और प्रमुख श्रेय बीज को होता है। बीज ही न हो तो मूल, अंकुर, पत्र, पुष्प, फल, शाखा-प्रशाखा एवं स्कन्ध की कल्पना कोरी शेखचिल्ली की कल्पना है। इसी प्रकार कर्म-महावृक्ष के व्यवस्थित बन्ध होने में राग और द्वेष ये दो बीज न हों तो कर्म की सत्ता, उदय, उदीरणा, निर्जरा, संवर, आस्रव, उत्कर्षण-अपकर्षण, संक्रमण एवं कर्म-मुक्ति की कल्पना भी कोरी निरर्थक कल्पना होती है। परन्तु वीतराग सर्वज्ञ महापुरुषों के समक्ष जब यह प्रश्न आया कि कर्म-महावृक्ष के बन्ध का बीज क्या है ? तो उन्होंने कहा–

रागो य दोसो वि य कम्म-बीयं ?[1]

राग और द्वेष, ये दोनों कर्म (बन्ध) के बीज हैं।

कर्म का बन्ध : हृदयभूमि पर रागादि का बीजारोपण होने पर

जिस प्रकार जमीन पर वृक्ष को भलीभाँति उगाने, अंकुरित करने और जमीन के साथ उसकी जड़ को सुदृढ़ रूप से बाँधने के लिए सर्वप्रथम बीजारोपण आवश्यक है। यदि बीजारोपण नहीं हुआ या बीज को ठीक ढंग से व्यवस्थित रूप से जमीन में बोया नहीं गया तो वृक्ष की जड़ मजबूती से नहीं बँधती और ऐसी स्थिति में वृक्ष का अंकुरित, पुष्पित-फलित आदि होना कठिन है। अशक्य है। इसी प्रकार राग-द्वेषरूप बीजों का रोपण आदि हृदयभूमि पर नहीं होगा तो कर्मरूपी महावृक्ष का अंकुरित, पुष्पित-फलित और विकसित होना तो दूर रहा, उसका मूलबन्ध होना भी अशक्य है। समयसार में इसी तथ्य को संक्षेप में कहा गया है–"रागादि परिणामविशिष्ट जीव ही कर्मों का बन्ध करता है। राग-रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। जीवों के साथ

१. उत्तराध्ययन अ. ३२, गा. ७।

(कर्म-) बन्ध का संक्षेप में यही तात्त्विक दर्शन है।"[1] आशय यह है कि यदि मन-वचन-काया से कोई भी क्रिया की प्रवृत्ति करते समय रागादि से युक्त परिणामों या भावों के बीज हृदयभूमि पर नहीं बोये हैं तो वहाँ किसी भी क्रिया से भले ही कर्म आ सकते हैं, पर वे कर्म ऐर्यापथिक कर्म होंगे, पर वे बन्धकारक (स्थितिबन्ध-अनुभागबन्धकर्त्ता) नहीं होते। वे कर्म प्रथम समय में आए-स्पृष्ट हुए, दूसरे में प्रकृति-प्रदेश से बंधे और तीसरे समय में झड़ जाते (निर्जरा हो जाती) हैं।[2] इसलिए समयसार में इस तथ्य को फिर स्पष्ट रूप से कहा गया–"जो रागादि से युक्त भाव (परिणाम) जीव के द्वारा किया गया हो, वही नवीन कर्म का बन्ध करने वाला कहा गया है, इसके विपरीत जो (कार्य) रागादि भावों से रहित है वह कर्म का अबन्धक (कर्मबन्ध करने वाला नहीं) है, वह केवल उस (क्रिया कार्य या प्रवृत्ति को या उस इन्द्रियादि-विषय) का जानने वाला (ज्ञाता-द्रष्टा) ही है।"[3] आशय यह है कि कर्मबन्ध का बीजारोपण राग-द्वेष से ही होता है। रागादि के अभाव में विभिन्न क्रियाओं या प्रवृत्तियों के होने पर भी कर्मबन्ध नहीं होता।

रागादि होने पर ही कर्मबन्ध होता है, केवल क्रियाओं से नहीं

रागादि से युक्त होने पर ही जीव के कर्मबन्ध क्यों होता है, रागादि से रहित क्रियाएँ करने पर भी कर्मबन्ध क्यों नहीं होता ? इस तथ्य को एक रूपक द्वारा स्पष्ट करते हुए 'समयसार' में कहा गया है–जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर में तेल आदि स्निग्ध-पदार्थ लगाता है, फिर बहुत धूल वाली जगह में जाकर विविध हथियारों से व्यायाम करता है तथा ताड़, केले का वृक्ष एवं बाँस-पिण्ड आदि का छेदन-भेदन करता है। इन क्रियाओं को नानाविध उपकरणों से करते हुए जो धूल उसके शरीर पर चिपकती है, (रजबंध होता है) उसका कारण व्यायाम आदि क्रियाएँ नहीं हैं, अपितु उसका वास्तविक कारण तेल आदि स्निग्ध पदार्थ (भाव) का लगाना है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अनेक चेष्टाओं में प्रवृत्त होता है, वह अपने उपयोग – परिणामों में रागादि भावों को करता है, इस कारण वह कर्मरूपी रज से लिप्त होता है– बँधता है।"[4] "इसके विपरीत वही व्यक्ति जब अपने शरीर पर से तेल आदि स्निग्ध पदार्थ को पोंछकर उसी प्रकार धूलिपूर्ण स्थान में हथियारों द्वारा व्यायाम

---

१. रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि कम्मेहिं राग-रहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ –समयसार गा. १५०

२. जैसे कि उत्तराध्ययन अ.२९ के ३१वें सूत्र में कहा गया है–तं पढम समए बद्धं, बिइयं समये वेइयं, तइय समए निज्जिण्णं, तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिणं सेयाले य अकम्मया च भवइ।

३. भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रायादि-विप्पमुक्को अबंधगो, जाणगो णवरिं ॥ –समयसार गा. १६७

४. देखें–स्नेहाभ्यक्त शरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
राग-द्वेष-क्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥ –प्रशमरति ५५

करता है, तथा वृक्षछेदनादि कार्य करता है। परन्तु अब तेलादि की चिकनाई न होने से उसके शरीर पर धूल नहीं चिपकती और न जमती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अनेकविध योगों–मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रहता है, किन्तु उसके उपयोग (परिणाम) में रागादि का अभाव रहने से वह कर्म रज से लिप्त-बद्ध नहीं होता।"[1]

कर्म राग-द्वेष से बँधते हैं, किसी प्रवृत्ति या क्रियामात्र से नहीं

स्थानांग, भगवती आदि जैनागमों में बताया गया है–कर्म का बन्ध दो ही स्थानों से होता है–इनमें से एक स्थान है राग का और दूसरा स्थान है–द्वेष का। कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं या बँधते हैं–राग और द्वेष से।[2] कोरे ज्ञान से या कोरी मानसिक, वाचिक या कायिक प्रवृत्ति या क्रिया से बन्ध या सम्बन्ध नहीं होता। और न कोरी वासना से, स्मृति से या केवल संस्कार से कर्मबन्ध होता है। जब तक किसी भी प्रवृत्ति या क्रिया की पृष्ठभूमि में राग या द्वेष नहीं होता, तब तक कर्म का बन्ध या सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। किसी भी क्रिया या प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष का, प्रियता-अप्रियता का, इष्ट-अनिष्ट का, आसक्ति और घृणा का संवेदन या परिणाम होता है, तभी कर्मबन्ध या कर्म के साथ संश्लेष, सम्बन्ध होता है।

संसार की समस्त संवेदनाएँ, परिणाम, या अनुभूतियाँ राग और द्वेष अथवा प्रियता-अप्रियता इन दो में समाविष्ट हो जाती हैं। वैसे जैनागमों में किसी भी मानसिक, वाचिक या कायिक प्रवृत्ति के पीछे राग और द्वेष को ही बन्धनरूप कहा गया है। इन्हीं को दूसरे शब्दों में प्रेयबन्ध और द्वेषबन्ध कहा गया है। जीव इन्हीं दो स्थानों से पापकर्म बाँधता है। आचारांगसूत्र में ये ही दो संसार के कारण बताये गए हैं।

राग और द्वेष : दो प्रकार की बिजली की तरह

दो प्रकार की बिजली होती है। एक अपनी ओर खींचती है, जबकि दूसरी झटका देकर आदमी को दूर फेंक देती है। किन्तु दोनों ही प्रकार की बिजलियाँ मारक होती हैं। दोनों का दुष्परिणाम मनुष्य को भोगना पड़ता है। दोनों का स्वरूप घातक है, हानिकारक है। ऐसे ही राग और द्वेष भी होते हैं। राग आपनी ओर प्राणियों को खींचने का काम करता है, जबकि द्वेष झटका देकर दूर फेंकने वाली विद्युत की तरह है। रागभाव चाहें किसी व्यक्ति के प्रति हो, वस्तु के प्रति हो, किसी प्रशंसा, कीर्ति, प्रतिष्ठा या परिस्थिति के प्रति हो, रागाविष्ट व्यक्ति उसकी ओर खिंचता चला जाता

---

१. देखें–समयसार गा. २३७ से २४६ तक का भावार्थ।

२. (क) दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा–पेज्जबंध चेव दोसबंधे चेव। –स्थानांग स्था. २/९१
(ख) जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावकम्मं बंधति, तं जहा–रागेण चेव दोसेण चेव।
–वही स्थान २, उ. ३, सू. ९१
(ग) पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं, रागबंधणेणं, दोसबंधणेणं। –आवश्यक सूत्र

हैं। ज्यों ही किसी सजीव या निर्जीव मनोज्ञ वस्तु या भाव के प्रति रागभाव–आसक्ति, मोह, तृष्णा या लिप्सा का भाव हुआ त्यों ही मनुष्य का आकर्षण उसके प्रति होते ही तथारूप कर्मबंध हो जाता है। अमनोज्ञ वस्तु, व्यक्ति अथवा भावों के प्रति विकर्षण का भाव–घृणामय या द्वेषभाव उत्पन्न होता है।[1] वह भी तथारूप कर्मबन्ध का मूल कारण बनता है।

प्रियता-अप्रियता राग-द्वेषमयी दृष्टि पर निर्भर

संसार में क्या प्रिय है और क्या अप्रिय ? यह व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। जिसकी रागदृष्टि होगी, वह अमुक वस्तु को प्रिय कहेगा, द्वेषदृष्टि होगी वह उसी वस्तु को अप्रिय, अमनोज्ञ, अनिष्ट कहकर उससे घृणा करेगा, उसे ठुकराएगा, उसे अपनी आँखों से दूर हटाएगा। परन्तु जो वस्तु इष्ट, मनोज्ञ, प्रिय या अपनत्वभरी लगेगी, उस पर अपने अहंत्व और ममत्व की छाप वह लगाएगा, उस पर आसक्ति, मूर्च्छा और रागभाव उभरेगा। सांसारिक पदार्थ चाहे वे द्रव्यात्मक हों, चाहे प्रशंसा, प्रसिद्धि, सफलता, कीर्ति आदि के रूप में भावात्मक हों, वे सभी आत्मबाह्य हैं, परभाव हैं, विभाव हैं। जड़ हैं, वस्तुएँ अपने आप में न तो अच्छी हैं, न ही बुरी। वस्तुएँ जैसी हैं, वैसी हैं। पदार्थों के रूप, रंग, गुण और नाम विभिन्न होते हुए भी अन्ततोगत्वा वे निर्जीव हैं, चेतनारहित हैं। उनका बाह्य रूप तो है, पर ऐसा कुछ नहीं, जिसमें वे अच्छी-बुरी भावात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकें। यह तो मनुष्य की अपनी दृष्टि और मान्यता है कि वह रागवश किसी वस्तु पर अच्छेपन की और द्वेषवश, घृणावश, किसी वस्तु पर बुरेपन की छाप लगाता है, एक पर प्रिय और एक पर अप्रिय का आरोपण करता है। धवला में ठीक ही कहा है–जीवों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होने से वस्तु का स्वभाव नहीं बदल जाता है, परन्तु रागद्वेषवश उसी वस्तु को एक अच्छी कहता है, दूसरा बुरी।[2] अपने-पराये की मान्यता के कारण किसी को इष्ट, मनोज्ञ और प्रियपात्र बनाता है और कई बार उसी वस्तु को पराई हो जाने पर या उससे घृणा या ऊब हो जाने पर अनिष्ट, अमनोज्ञ, अप्रिय, अनुपयोगी और घृणापात्र ठहरा देता है।

वस्तु या व्यक्ति पर स्वयं द्वारा ही राग-द्वेषारोपण

मनुष्य का मन जिसे चाहने लगता है, जिससे प्रभावित होता है, उसके साथ राग का और जिसे नहीं चाहता या जिससे घृणा या नफरत हो जाती है, उसके साथ द्वेष का आरोपण कर लेता है। कोई भी वस्तु अपने आप में प्रशंसा या निन्दा के योग्य

---

१. 'सुधर्मा' के अगस्त १९८९ के अंक में प्रकाशित 'राग और द्वेष : कर्म के बीज' से भावांशग्रहण।

२. भिण्णरुचीदो केसिंपि जीवाणममहुरो वि सरो महुरोव्व रुच्चइत्ति तस्स सरस्स महुरत्तं किण्ण इच्छिज्जदि। ण एस दोसो, पुरिसिच्छादो वत्थुपरिणामाणुवलंभा.....।" –धवला ६/१/९/२/६८

नहीं होती। वस्तु वस्तु है, वह और कुछ नहीं। परन्तु मनुष्य की दृष्टि जिस पर जम जाती है, उसकी प्रशंसा करता है, जिस पर से दृष्टि उखड़ जाती है, उसकी निन्दा करता है। आँखों पर जिस रंग का चश्मा लगा लिया जाता है, दृश्यमान वस्तुएँ प्रायः उसी रंग की –इष्ट या अनिष्ट रूप की दिखती हैं। जड़ पदार्थों का वास्तविक स्वरूप जड़-चेतनाहीन होता है। यह राग और द्वेष के परिणाम का ही करिश्मा है कि कभी रागवश अप्रिय अथवा प्रियता-अप्रियता से रहित वस्तु को भी प्रिय मान लेता है, और कभी द्वेषवश उसी प्रिय मानी हुई वस्तु को अप्रिय मान लेता है।[1]

पिंगला रानी पर पहले राग, फिर द्वेष, फिर विराग

ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में इन्हीं दो तत्त्वों के परिणाम या अध्यवसाय से ही कर्मबन्ध का बीजारोपण होता है। भर्तृहरि को एक दिन पिंगला रानी बहुत प्रिय थी। उसके प्रति रागवश मोहान्ध होकर उन्होंने 'शृंगारशतक' लिखा किन्तु जिस दिन उन्होंने पिंगला की ही नहीं, काम की वास्तविकता समझी, उस दिन उन्होंने पिंगला का घृणावश त्याग कर दिया। उन्होंने जिस पर राग किया था, उसके प्रति द्वेषभाव हो गया। परन्तु जिस दिन उन्हें राग और द्वेष से जीवन की कलुषता का भान हुआ, उस दिन उन्होंने इन दोनों से विरक्ति प्राप्त कर ली। मनोज्ञ और अमनोज्ञ लगने वाले विषयभोगों के प्रति उन्हें वैराग्य हो गया। फलतः राग और द्वेष से जो कर्मबन्धन गाढ़ होने वाला था, वह नहीं हो पाया, उसका स्थान विराग और त्याग ने ले लिया।[2]

जड़ पदार्थों की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं, प्रतिक्रिया व्यक्ति की ओर से ही

प्रत्येक मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों से वास्ता पड़ता है, और कई वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध भी रखना पड़ता है। सम्बन्ध होने पर साधारण व्यक्ति किसी के साथ घनिष्ठता जोड़ लेता है और किसी के प्रति उपेक्षा, घृणा या अवज्ञा की दृष्टि बना लेता है। पदार्थों की ओर से तो कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं होती। उन्हें उपयोग में लाने से न तो उन्हें कोई प्रसन्नता होती है और न ही अप्रसन्नता। इसी प्रकार उन्हें उपयोग में न लाने या उनके प्रति उपेक्षा करने से भी उन जड़ पदार्थों की ओर से कोई शिकायत या नाराजगी नहीं होती है। इस दृष्टि से जड़ पदार्थों के प्रति जो ममभाव या ममत्व भाव उस व्यक्ति की ओर से ही जुड़ता है, इसी प्रकार द्वेषभाव, घृणाभाव या उपेक्षाभाव भी होता है या प्रदर्शित किया जाता है, वह भी मात्र उस व्यक्ति की ओर से ही होता या किया जाता है। इसी प्रकार जिस पर व्यक्ति अपनेपन की छाप लगा देता है, उस प्राणी, मनुष्य, मित्र या स्वजन के प्रति रागभाववश ममत्व सम्बन्ध जोड़ लेता है, तथा जिन प्राणियों, व्यक्तियों या अपने से

१. अखण्ड ज्योति, अगस्त १९७८ में प्रकाशित 'आत्मनिरीक्षण और आत्मनियंत्रण' शीर्षक लेख से भावांशग्रहण।

२. जिनवाणी, सितम्बर १९९० में प्रकाशित 'राग में दुःख, त्याग में सुख', लेख से।

भिन्न विचारों, मान्यताओं या विचारधारा या मान्यतावालों, भिन्न जातियों, अन्य सम्प्रदायों, पंथों, धर्मों, देशों, वेषों या भाषा वालों को पराया मानकर उनके प्रति घृणाभाव, द्वेषभाववश विपरीत सम्बन्ध बनाता है। फलतः इन अनुकूल-प्रतिकूल, मनोज्ञ-अमनोज्ञ इष्ट-अनिष्ट के सम्बन्धों से इच्छित प्रतिक्रिया होने पर राग और अनिच्छित प्रतिक्रिया होने पर द्वेष उत्पन्न होने लगता है। अतः व्यक्ति की हृदयभूमि पर जब राग या द्वेष का बीजारोपण होता है, तब कर्मबन्ध हुए बिना नहीं रहता। ये दोनों ही परिस्थितियाँ अन्ततः हानिकारक, भयंकर, तीव्र पापकर्मबन्धक और वैर-परम्परा की वृद्धि करने वाली सिद्ध होती हैं।[1]

राग और द्वेष वस्तु पर निर्भर नहीं, ग्राहक पर निर्भर

इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने कहा है–"जगत् में कोई भी वस्तु या व्यक्ति अपने आप में न तो रम्य, या प्रिय है, न ही अरम्य या अप्रिय। प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक (द्रष्टा) की दृष्टि पर निर्भर है।" "एक व्यक्ति एक समय किसी वस्तु से द्वेष करता है, दूसरे समय उसी वस्तु में लीन हो जाता है। इसलिए किसे इष्ट और किसे अनिष्ट माना जाए ?" रागान्ध व्यक्ति जिस गीत और नाटक को प्रिय और मनोज्ञ मानता है, भोगी-विलासी व्यक्ति को जो काम-भोग मनोज्ञ, सुखद और इष्ट लगते हैं, शरीरासक्त मनुष्य जो आभरण, साजसज्जा, शृंगार प्रिय लगता है, उन्हीं के लिए वीतरागता की दृष्टि वाले राग-द्वेषरहित ज्ञानभाव में रमण करने वाले आध्यात्मिक मुनि कहते हैं–"सभी गीत विलापवत् हैं, सभी नाटक विडम्बनाएँ हैं। सभी आभूषण भाररूप हैं और सभी कामभोग दुःखावह हैं।"[2]

रागी द्वेषी की दृष्टि बदलती रहती है

वस्तुतः रागी या द्वेषी दृष्टि वाले व्यक्ति की दृष्टि बदलती है, वह प्रियता-अप्रियता या इष्ट-अनिष्ट के दायरे में ही चक्कर काटता रहता है, उनसे ऊपर नहीं उठ पाता है।

एक व्यक्ति अभी जीवित है। किसी का सम्बन्धी, कुटुम्बी या प्रियजन भी है। उसके साथ वर्तमान में पूरा सद्भाव या लगाव है तो वह प्रिय लगता है, परन्तु कदाचित् किसी कारणवश अकस्मात् उसकी मृत्यु हो जाए तो मृत शरीर के प्रति

---

१. अखण्डज्योति फरवरी १९७६ में प्रकाशित 'रागद्वेषरहित संतुलित स्नेह सद्भाव' शीर्षक लेख से भावांशग्रहण।

२. (क) न रम्यं नारम्यं प्रकृति-गुणतो वस्तु किमपि।
प्रियत्वं वस्तूनां भवति, खलु ग्राहकवशात्॥
(ख) तानेव अर्थान् द्विषतः तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं, न विद्यते किंचिदिष्टं वा॥ –प्रशमरति ५२
(ग) सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥ –उत्तराध्ययन १३/१६

प्रायः दृष्टिकोण बदलते देर न लगेगी। प्रायः लोग उसे जल्दी हटाने या मिटाने का सोचने लगते हैं। उसे अधिक देर रखना असह्य हो जाएगा। शीघ्र से शीघ्र उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। जो व्यक्ति जीवित रहते कमाऊ, हितैषी एवं प्रिय समझा जाता था, वही व्यक्ति किसी संक्रामक, दुःसाध्य एवं दीर्घकालिक रोग से पीड़ित हो जाए तो घृणास्पद एवं अरुचिकर लगने लगता है। दामाद बहुत ही प्रिय लगता है। वह घर आता है तो उसके स्वागत-सत्कार का सभी लोग पूरा ध्यान रखते हैं। परन्तु यदि पुत्री के साथ उसकी अनबन हो जाए या वह उसे तिरस्कृत-बहिष्कृत कर दे, तलाक हो जाए तो फिर वही दामाद उपेक्षापात्र एवं अपरिचित-सा लगता है। उसके मिलने पर तनिक भी प्रसन्नता नहीं होती। यद्यपि व्यक्ति वही है, उसके गुण-दोष ज्यों के त्यों हैं। परन्तु जब वह सम्बन्धी या अपना था, तब प्रिय था, जब उसके प्रति अपनापन हट गया तो वह उपेक्षणीय समझा जाने लगा। रागवश अपना प्रिय पुत्र कुरूप और उद्दण्ड हो तो भी प्रिय लगता है और पड़ौसी का सुन्दर विनयी लड़का हो तो भी वह उपेक्षणीय लगता है। अतः अपनापन ही प्रिय लगता है।[1] यही राग-द्वेष का प्रभाव है। योगीन्दुदेव ने स्पष्ट कहा है–मोह से जिसे इष्ट समझ लिया जाता है, वही (कालान्तर में) अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है वही इष्ट हो जाता है। क्योंकि निश्चयनय से संसार में कोई भी पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट।[2]

राग द्वेष : चरणसंलग्न कण्टक

राग और द्वेष पैरों में लगे हुए काँटे हैं, जो सदैव साथ रहकर, मित्र-से बन कर, चरणों में लग कर भी मनुष्य को पीड़ा पहुँचाते हैं, दुःखी कर देते हैं।

प्रवृत्त्यात्मक कर्म के साथ राग द्वेष का मिश्रण होते ही बंध

जीव जब भी राग-द्वेष करता है, तभी वह कर्म के बन्धन में जकड़ जाता है। एक व्यक्ति यहाँ बैठा है तो उसका चित्र और उसकी वाणी टेलीविजन में दूर-सुदूर अमेरिका तक पहुँच जाती है। कितनी आकर्षण शक्ति है टेलीविजन में ? इससे भी अधिक आकर्षण शक्ति राग-द्वेष के कैमरे में है। राग-द्वेष के कैमरे के माध्यम से विश्व में व्याप्त कर्मवर्गणाओं में से जिनको चाहता है, वे सारी की सारी कर्मवर्गणाएँ आकर एक समय में उसके पास पहुँच जाती हैं। एक आत्म प्रदेश पर अनन्तानन्त पुद्गलवर्गणाएँ कर्म के रूप में एक समय में चिपक जाती हैं। राग या द्वेष का करेंट लगा कि कर्मवर्गणाएँ आकर चिपकीं। इसका फलितार्थ यह हुआ कि जो रागद्वेष करता है, उसकी आत्मा के कर्मवर्गणाएँ चिपकती हैं। केवल कर्मों के साथ कर्मवर्गणाएँ

---

१. अखण्ड ज्योति, अगस्त ७८ में प्रकाशित–'आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता' लेख से, पृ. ११

२. इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो, भावोऽनिष्टस्तथा परः।
न द्रव्यं तत्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते ॥ –योगसार अ. ५/३६

नहीं चिपकतीं, क्योंकि कर्म की सत्ता के साथ भी बन्ध नहीं होता, और न ही उसके उदय के साथ बन्ध होता है। बीच में रागयुक्त या द्वेषयुक्त परिणाम (उपयोग) मिलता है, उसके साथ ही बन्ध-प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि यदि व्यक्ति किसी भी वस्तु, व्यक्ति या इन्द्रियविषय अथवा भाव पर राग-द्वेष करेगा, तो कर्मवर्गणाएँ आए और चिपके बिना नहीं रहेंगीं। किन्तु यदि वह रागद्वेष नहीं करता है, तटस्थ और ज्ञाता-द्रष्टा रहता है तो वह कहीं भी रहे, भले ही कर्मवर्गणाएँ उसके आसपास रहें, मगर चिपकेंगी नहीं। जैसे–हल्दी और चूना अलग-अलग पड़ा रहे तब तक उन दोनों का लाल रंग नहीं होता, दोनों के मिश्रित होते ही लाल रंग होता है। इसी प्रकार कर्मों के साथ राग-द्वेष का मिश्रण नहीं होगा, तब तक बन्ध या संश्लेष नहीं होता, प्रवृत्त्यात्मक कर्म के साथ रागद्वेष का मिश्रण होते ही बन्ध होने लगता है।[1]

अब प्रश्न यह होता है कि ये राग और द्वेष क्या हैं ? इनका असली रूप और स्वरूप क्या है ? इसे समझ लेने पर ही रागद्वेष से बचा जा सकता है।

राग-द्वेष का लक्षण और विश्लेषण

पंचास्तिकाय वृत्ति में राग-द्वेष का लक्षण इस प्रकार किया गया है–"विचित्र चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उसके रसविपाक के कारण इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में जो प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होता है, उसका नाम क्रमशः राग और द्वेष है।[2]

राग और द्वेष : दोनों ही पापकर्म प्रवर्तक

इसीलिए उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा है–[3] 'रागे दोसे य दो पावे, पावकम्म-पवत्तणे' राग और द्वेष ये दोनों अपने आप में पाप हैं और पापकर्म के प्रवर्त्तक हैं। प्रत्येक प्राणी इन दोनों के कारण ही अनिष्टकारी प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है।

मोहकर्मवश रागादि भावों के चक्कर में पड़ कर किसी भी सजीव निर्जीव पदार्थ को इष्टानिष्ट मान सकता है

आत्मा अपने आप में निर्विकार है, शुद्ध है, राग-द्वेष आदि विकार उसके स्वभाव नहीं हैं, किन्तु मोहनीय कर्मवश वह अपने स्वभाव को भूल कर रागादि विभावों के चक्कर में पड़ कर किसी पदार्थ को एक बार इष्ट, प्रिय और मनोज्ञ मान लेता है, उसी पदार्थ को फिर किसी समय द्वेषवश अनिष्ट, अप्रिय और अमनोज्ञ मान कर ठुकरा देता है। यह सब मोहनीय कर्म की लीला है। मोहनीय कर्म सभी कर्मों का राजा है। यही राग और द्वेष का बुद्धि और हृदय पर रंग (परिणाम) चढ़ाकर कभी एक

१. विद्यासागर (मासिक) में प्रकाशित आ. विद्यासागर जी म. के एक प्रवचन से, पृ. ९
२. विचित्र-चारित्रमोहनीय–विपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ। –पंचास्तिकाय त. प्र. १३१
३. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३१

पदार्थ के प्रति आकर्षित करता है, कभी उसी पदार्थ के प्रति विकर्षित–घृणाभावयुक्त बना देता है। राग-द्वेष की तरतमता से ही मन्द से लेकर तीव्रतम रसबन्ध होता है।[1]

मोहरूपी बीज से राग-द्वेष की उत्पत्ति

यही कारण है कि 'आत्मानुशासन' में मोह का चमत्कार बताते हुए स्पष्ट कहा गया है–"जिस प्रकार बीज से जड़ और अंकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मोहरूपी बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। अतः जो इन दोनों (राग और द्वेष) को जलाना चाहता है, उसे ज्ञानरूप अग्नि द्वारा मोहरूपी बीज को जला देना चाहिए।"[2]

राग और द्वेष : दोनों ही आत्मा के लिए बेड़ियाँ

राग और द्वेष दोनों ही बेड़ियाँ हैं। द्वेष लोहे की बेड़ी है तो राग सोने की बेड़ी है। दोनों ही बेड़ियाँ हैं जो मनुष्य को कर्म के बन्धन में जकड़ कर पराधीन (कर्माधीन) बना देती हैं। जिस प्रकार कुलीन और सज्जन मनुष्य को लोहे की बेड़ी पहना दी जाए, चाहे सोने की, दोनो ही अवस्थाओं में वह स्वयं को अपमानित महसूस करता है, वह प्रसन्न नहीं होता, ठीक उसी प्रकार आत्मार्थी एवं मुमुक्षु मानव राग और द्वेष को बेड़ियाँ मानकर आत्मा को इनके बन्धन से यथाशीघ्र मुक्त करना चाहता है। वह रागद्वेष के प्रभाव से आत्मा को बन्धनग्रस्त मान कर दीनता-हीनता एवं पराधीनता से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह अपने संसार-परिभ्रमण को सीमित कर देता है।[3]

आत्मार्थी साधकों को इसीलिए परमकृपालु तीर्थंकर प्रभु ने स्पष्ट परामर्श दिया है–"इस जन्ममरणादि दुःख बहुल संसार में सुखी (अव्याबाध आत्मसुख से युक्त) तभी होओगे, जब तुम द्वेषभाव को छिन्न-भिन्न कर दोगे और रागभाव को त्याग दोगे।" एक आचार्य ने राग-द्वेष को संसाररूपी महावृक्ष के मूल बताते हुए कहा है–संसार एक महावृक्ष है। राग और द्वेष उसकी जड़ें हैं। आठ कर्मदल उसकी शाखाएँ हैं। किम्पाकफल के समान आपातरमणीय एवं मधुररस से युक्त होने से इन दोनों का परिणाम अतिभयंकर जन्म-मरणादि दुःख रूप है। जो अतीव कटु है। किन्तु मोहकर्मवश इन दोनों के स्वाद की मधुरता और रंग की रमणीयता के कारण आत्मा अपने स्वरूप का भान भूलकर अपने आपको इनके बन्धन में फँसाता है, इन दोनों के रस का लोलुप बनकर अपनी संसारबन्धन की सीमा को बढ़ाता है। इसीलिए राग-द्वेष का स्वरूप बताते हुए प्रवचनसार वृत्ति में कहा गया है–"निर्विकार शुद्ध आत्मा जब

---

१. (क) 'सुधर्मा' अगस्त १९८९ में प्रकाशित–"राग और द्वेष : कर्म के बीज" लेख से उद्धृत।
(ख) वही, 'राग और द्वेष कर्म के बीज' लेख से भावांशग्रहण।

२. मोह-बीजात् रति-द्वेषौ, बीजान्मूलांकुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं, तदेतौ निर्दिधिक्षुणा॥ –आत्मानुशासन १८२

३. सुधर्मा, अगस्त १९८४ में प्रकाशित–"राग और द्वेष : कर्म के बीज' लेख से भावांशग्रहण।

अपने स्वभाव या शुद्धस्वरूप के विपरीत मोहवश इष्ट-अनिष्ट विषयों में हर्ष-विषादरूप परिणाम लाता है, तब चारित्र-मोह नामक राग-द्वेष उत्पन्न होता है।[1]

पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों के प्रति राग-द्वेष कैसे और कब ?

पाँचों इन्द्रियों और मन में राग-द्वेष कब और कैसे जन्म लेता है ? उनका क्या परिणाम आता है ? इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र में विस्तार से वर्णन किया गया है। संक्षेप में इस प्रकार है–चक्षु रूप का ग्राहक है, तथा चक्षु का ग्राह्य विषय रूप है; श्रोत्र (कर्ण) शब्द का ग्राहक है तथा शब्द श्रोत्र का ग्राह्य विषय है; घ्राण (नासिका) गन्ध का ग्राहक है, तथा घ्राण का ग्राह्य विषय गन्ध है। जिह्वा रस की ग्राहक है तथा जिह्वा का ग्राह्य विषय रस है; काया स्पर्श की ग्राहक है, तथा काया का ग्राह्य विषय स्पर्श है; एवं मन भाव का ग्राहक है, मन के ग्राह्य विषय विविध भाव (विचार या चिन्तन) हैं। जो साधक राग-द्वेष को उखाड़कर समाधिस्थ होना चाहता है, उसे इन पाँचों इन्द्रियों और मन के मनोज्ञ विषयों के प्रति रागभाव और अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष (घृणा) भाव का त्याग करना चाहिये।

फलितार्थ यह है कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों तथा मन के भावों के प्रति राग का कारण मनोज्ञ रूपादि और द्वेष का कारण अमनोज्ञ रूपादि कहलाता है। जो प्राणी मनोज्ञ रूपों, शब्दों, गन्धों, रसों, स्पर्शों तथा भावों के प्रति तीव्र राग (आसक्ति या गृद्धि) रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त हो जाता है; तथैव जो अमनोज्ञ रूप-शब्दादि विषयों तथा भावों के प्रति द्वेष करता है, वह भी अपने दुर्दान्त द्वेष के कारण तत्क्षण विनाश को प्राप्त होता है। इन विषयों तथा भावों के प्रति राग और द्वेष करने में उन रूपादि विषयों का अपना कोई दोष नहीं है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि जो प्राणी रमणीय रुचिर रूप, शब्द, गन्धादि के प्रति तीव्र रूप से रक्त (आसक्त) होता है, तथा अरम्य, अरुचिकर रूपादि के प्रति प्रद्वेष करता है, वह अज्ञानी प्राणी नाना दुःखों को प्राप्त होता है। इसीलिए वीतराग (राग-द्वेष से सर्वथा रहित) मुनि रूप-रसादि विषयों में लिप्त नहीं होता। उदाहरणार्थ–प्रकाश के रूप में लोलुप पतंगा, शब्द (गायन) में अतृप्त-मुग्ध हरिण, नागदमनी आदि औषधियों की गंध में आसक्त सर्प, मांस खाने में आसक्त कांटे में लगी आटे की गोली पर मुँह मारने वाला मत्स्य, जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में आसक्त मगरमच्छ का शिकार भैंसा, हथिनी के प्रति आकृष्ट कामगुणों में आसक्त हाथी आदि भोले-भाले अदूरदर्शी अज्ञजीव रागातुर होकर विनाश को प्राप्त होते हैं।

---

१. (क) छिंदाहि दोसं, विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए। –दशवैकालिक २/५
(ख) सुधर्मा, अगस्त १९८९ के अंक में प्रकाशित लेख से भावांशग्रहण।
(ग) निर्विकार–शुद्धात्मनो विपरीतमिष्टामिष्टेन्द्रिय-विषयेषु हर्ष विषादकरं चारित्र-मोहसंज्ञं राग-द्वेषम्। –प्रवचनसार ता. वृ. ८३/१८९/१०

राग-द्वेष के कारण हिंसा-परिग्रहादि और दुःख

इतना ही नहीं मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और विविध भावों की प्राप्ति की लालसा के वशीभूत होकर व्यक्ति अनेक जीवों को संतप्त और पीड़ित करता रहता है। शब्दादि के उत्पादन, संरक्षण, व्यय और वियोग एवं उपभोग के समय व्यक्ति नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है, कर्म बाँधता है और उनके दुःखद फल भोगता रहता है, फिर भी उसे इनसे तृप्ति नहीं होती। अतः फिर वह अतृप्त मानव उनके पुनः पुनः ग्रहण और उपभोग में आसक्त मूर्च्छित एवं रागाविष्ट होता है। न मिलने पर असन्तुष्ट एवं लोभाविष्ट होकर चोरी करता है, असत्याचरण ठगी एवं दम्भ करता है, अनैतिक आचरण करता है। इस प्रकार असत्याचरण से पहले और पीछे वह व्यक्ति दुःखित, अतृप्त एवं आश्रयहीन हो जाता है। जिस प्रकार मनोज्ञ शब्दादि विषयों में अनुरक्त व्यक्ति उनकी प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करने और उनके उपभोग में अतृप्ति के कारण सर्वत्र मानसिक क्लेश और दुःख उठाता है, उसी प्रकार अनमोल शब्दादि विषयों के प्रति द्वेष के कारण भी वह उत्तरोत्तर दुःख परम्परा को बढ़ाता है। राग-द्वेष युक्त चित्त से अनेक कर्मों का बन्ध और संचय कर लेता है। जो बाद में फलभोग के समय दुःख के कारण बनते हैं। अतः शब्दादि विषयों और नानाविध भावों से विरक्त मनुष्य ही दुःख-शोक से रहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी दुःख समूह की परम्परा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार कमलिनी का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता।[1]

कामभोगों का सेवन : राग-द्वेष-मोह का उत्तेजक शत्रु

वस्तुतः कामभोगों को अपनाते ही राग, द्वेष और मोह अवश्य ही आ धमकते हैं। ये तीनों ही मनुष्य के अन्तःप्रविष्ट शत्रु हैं। यहाँ इह-लोक में तो इनसे पूर्वोक्त नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख होते हैं, इनके कारण अशुभकर्मों का बन्ध होने से नरकादि दुर्गतियों में जन्म-मरण-परम्परा का दीर्घकालीन दुःख भोगना पड़ता है। इसी कारण राग और द्वेष और इनके प्रेरणास्रोत मोह आत्मा के शत्रु कहे गये हैं। बाह्य शत्रु तो अवसर देखकर दाँव लगने पर ही प्रहार करते हैं, तथा समय आने पर उनका प्रतीकार भी किया जा सकता है। किन्तु रागद्वेषादि तो 'विषकुम्भं पयोमुखम्' की भाँति मित्रमुख शत्रु हैं। ये प्राणी का इतना अनिष्ट करते हैं, जितना बाह्य शत्रु भी नहीं करता। इसीलिए वीतराग परमात्मा ने साधकों को सावधान करते हुए कहा है– "यदि हम सावधान रहें तो समर्थ होते हुए भी बाह्य शत्रु हमारा उतना अहित नहीं

---

१. (क) देखें, उत्तराध्ययन सूत्र अ.३२, गा. २१ से ९९ तक का भावार्थ
(आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. ५७९ से ५९३

(ख) यस्मिन्निन्द्रिय-विषये शुभमशुभं वा निवेशयति भावम् ।
रक्तो वा दिष्टो वा स, बन्ध हेतुर्भवति तस्य ॥ –प्रशमरति ५/४

कर सकता, जितना अनिगृहीतदशा में रहे हुए राग और द्वेष करते हैं। अतः प्रहार करना है, तो सर्वप्रथम इन अन्तरंग आत्मशत्रुओं पर करो, दमन करना है तो इनका करो, विजय प्राप्त करनी है तो इन पर प्राप्त करो।"[1]

विषयों का त्याग शक्य नहीं, रागद्वेष का त्याग ही इष्ट

विषय अपने आप में अच्छे या बुरे नहीं हैं, साधक की दृष्टि में जब राग और द्वेष का जहर होता है, तो वे विषय अनुकूल हों या प्रतिकूल, साधक के लिए आवश्यक हों या अनावश्यक, उसके लिए आभ्यन्तर परिग्रह बनकर कर्मबन्ध के कारण हो जाते हैं। द्वेष तो विष है ही, जिसका न्यूनाधिक सेवन करने पर भी प्राण-घातक परिणाम आ सकता है। राग भी मीठा जहर है; मधु-मिश्रित विष है। रागभाव हृदय को गुदगुदाता है, मन को मधुर लगता है, किन्तु परिणाम इसका भी विषतुल्य है। इसलिए विषयों का या वस्तु का त्याग उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना विषयों के साथ लगे हुए राग-द्वेष का त्याग करना अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण है। भगवद्गीता में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–

प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ (विषय) के साथ राग और द्वेष विशेष रूप से अवस्थित रहे हुए हैं, साधक उन राग और द्वेष के वशीभूत न हो। दोनों ही साधक के (अन्तरंग) शत्रु हैं।"[2]

आचारांग सूत्र में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–"यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्दों को न सुना जाए, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का परित्याग करना चाहिए।"

"यह शक्य नहीं है कि आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाए। अतः रूप का नहीं, रूप को लेकर जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए।"

"यह शक्य नहीं है कि नाक के समक्ष आया हुआ सुगन्ध या दुर्गन्ध सूंघने में न आए, किन्तु गन्ध का नहीं, गन्ध के प्रति जागने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग किया जाए।"

"यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए। अतः रस का नहीं, रस के प्रति जागृत होने वाले राग-द्वेष का परित्याग किया जाए।"

---

१. (क) न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठु वि य विराहिओ समत्थो वि ।
जं दो वि अणिग्गहिआ, करंति रागो य दोसो य ॥
(ख) सुधर्मा में प्रकाशित "राग और द्वेष : कर्म के बीज" से भावांशग्रहण

२. (क) इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ –भगवद्गीता

"इसी प्रकार यह शक्य नहीं है कि शरीर (त्वचा) से स्पृष्ट होने वाले मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श का त्याग किया जाए, किन्तु स्पर्श के प्रति होने वाले राग-द्वेष के परिणाम या संवेदन का त्याग करना चाहिए।"[1]

निष्कर्ष यह है कि जो अनायास-प्राप्त मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को पाकर गृद्धि (आसक्ति) नहीं करता; तथा अमनोज्ञ पापजन्य अशुभ शब्दादि को पाकर प्रद्वेष नहीं करता, वही साधक पण्डित, दान्त, विरत और अकिंचन है।

राग और द्वेष न करने का व्यापक अर्थ

राग और द्वेष न करने का अर्थ यही न लगाना चाहिए कि राग तो न करे, किन्तु मोह, लालसा, वासना, तृष्णा, गृद्धि, आसक्ति, ममता, कामना, स्मरण, या चिन्तन-मनन करने में कोई हर्ज नहीं है। इसी प्रकार द्वेष न करने का इतना ही अर्थ नहीं है कि द्वेष तो करना नहीं है, रोष, क्रोध, घृणा, नफरत, विद्रोह, धिक्कार, अपमान, मार-पीट, ताड़न-तर्जन, डांट-फटकार आदि भले ही करें। ऐसा करना गलत होगा। इससे शुभाशुभ कर्मबन्ध तो रुकेगा नहीं; एक जहर के बदले दूसरा जहर ले लिया जाए तो उससे जहर का असर कम नहीं होगा। राग और द्वेष ये दोनों प्रधान विष हैं। इनकी सेना एवं संतति बहुत बड़ी है। प्रशमरति में कहा गया है–इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धि, ममत्व, अभिनन्द (प्रसन्नता), अभिलाषा, अहंत्व, इत्यादि अनेक शब्द राग के पर्यायवाचक हैं तथा ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद (निन्दा), मत्सर, असूया, वैर, भण्डन, कलह आदि अनेक शब्द द्वेष के पर्यायवाचक हैं।[2]

इसलिए इन पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों के ग्रहण के प्रति मन से जरा भी चिन्तन-मनन न करे। वह मन को जरा भी चंचल न होने दे, वचन से जरा भी अच्छी बुरी प्रतिक्रिया प्रकट न करे, तथा काया को भी उनके प्रभाव से

---

१. न सक्का न सोउं सद्दा, सोत-विसयमागया ।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
न सक्का रूपमद्दट्ठुं, चक्खू-विसयमागया ।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
न सक्का गंधमग्घाउं, नासा-विसयमागयं ।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
न सक्का रसमस्साउं, जीहा-विसयमागयं ।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
न सक्का फासमवेएउं, फास-विसयमागयं ।
राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ –आचारांग २/३/१५/१३१ से १३५ तक

२. इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो, गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः ।
अभिलाष इत्यनेकानि, राग-पर्याय-वचनानि ॥
ईर्ष्या रोषो दोषो, द्वेषः परिवाद-मत्सरासूयाः ।
वैर-प्रचण्डनाद्या, नैके द्वेषस्य पर्यायाः ॥ –प्रशमरति १८/१९

निश्चेष्ट-शून्य बना दे। मन में शुभ रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श का स्मरण, मनन, रटन न करे, न ही आसक्ति, मोह, लालसा, वासना, लिप्सा आदि करे।[1]

राग और द्वेष के दायरे में कषाय और नोकषाय का समावेश

राग और द्वेष का दायरा बहुत ही विस्तृत है। वे अपने में क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद (कामवासना-त्रय) इन नौ नोकषायों को भी अपने में समाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त कषायों से मिलते-जुलते अभ्याख्यान, पैशुन्य, क्लेश, कलहभाव, रौद्रध्यान, परपरिवाद (परनिन्दा) भाव, संकीर्णता, कट्टरता, पूर्वाग्रहभाव, मायामृषाभाव, मिथ्यादर्शनशल्य आदि मनःपरिणाम भी राग-द्वेष की परिधि में आ जाते हैं।

वस्तुतः ये सब चारित्रमोह के अन्तर्गत आ जाते हैं। बृहद् द्रव्य-संग्रह में तथा धवला एवं समयसार आदि की वृत्तियों में कहा गया है कि माया, लोभ, वेद (काम) त्रय, हास्य और रति, इनका नाम राग है। संक्षेप में–माया, लोभ ये दोनों राग के अंग (भेद) हैं, तथा क्रोध और मान, ये दोनों द्वेष के अंग (भेद) हैं। इसके अतिरिक्त अरति, शोकद्वय, जुगुप्साद्वय (भय) ये नोकषाय भी द्वेष के अंग हैं। प्रज्ञापना तथा विशेषावश्यक भाष्य में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है।[2]

राग और द्वेष, ये दोनों कर्मबन्ध के सामान्य बीज हैं। किन्तु विभिन्न नयों की दृष्टि से विचार करने पर इन दोनों संवेदनों (परिणामों–अध्यवसायों) के इस वर्गीकरण का विस्तार हुआ। संग्रहनय की दृष्टि से दो ही संवेदन हैं–राग और द्वेष। व्यवहार और ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से (स्थानांग सूत्र में) क्रोध और मान को द्वेषात्मक

---

१. (क) जे सद्द-रूव-रस-गंधमागए, फासे य संपप्प मणुण्णपावए।
गेही पओसं न करेज्ज पंडिए, स होति दंते विरए अकिंचणे॥
–उत्तरा. अ. ३२ वृत्ति
(ख) प्रश्नव्याकरण सूत्र सुबोधिनी व्याख्या, अ. १० अपरिग्रहसंवर, पृ. ८४९

२. (क) राग-द्वेषशब्देन तु क्रोधादि-कषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्यः।
–समयसार ता. वृ.–२८१/३६१/१६
(ख) माया-लोभ-वेदत्रय-हास्यरतयोरागः, क्रोध-मानारति-शोक-जुगुप्सा भयानि द्वेषः।
–धवला पु. १२, पृ. २८३
(ग) दोसे दुविहे पण्णत्ते तं.जहा–कोहे य माणे य।
रागे दुविहे पण्णत्ते तं जहा–माया य लोहे य। –प्रज्ञापना पद २३
(घ) कोहं माणं वाऽपीइजाईओ वेइ संगहो दोसं।
माया लोभे य स पीइजाइ–सामन्नओ रागं॥ –विशेषावश्यक गा. २९६९
(ङ) चारित्रमोहशब्देन राग-द्वेषौ कथं भण्येते? इति चेत्–कषायमध्ये क्रोधमान द्वयं द्वेषांगम् माया–लोभद्वयं रागांगम्। नोकषायमध्ये स्त्री-पुं-नपुंसक-वेदत्रय-हास्य- रतिद्वयं च रागांगम्। अरतिशोकद्वयं भयजुगुप्साद्वयं च द्वेषांगमिति। –बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका।

संवेदन में समाविष्ट किया गया; जबकि माया और लोभ को रागात्मक संवेदन में।[1] सामान्यतः यह माना गया कि क्रोध और अभिमान द्वेषात्मक हैं। क्योंकि द्वेष का अर्थ है–अप्रीति, विगर्हणा, स्वपरात्मबाधा, दूसरे के प्रति हीनता के परिणाम। क्रोध तो प्रत्यक्ष ही अप्रीतिरूप परिणाम है। अभिमान भी दूसरों के प्रति असहिष्णुता, घृणा, विगर्हणा आदि का प्रतीक है। इसलिए वह अप्रीत्यात्मक संवेदनरूप है। किन्तु जब अपने उत्कर्ष की–अहंभाव की अनुभूति होती है, उस समय अभिमान प्रीत्यात्मक हो जाता है। अपने उत्कर्ष के परिणाम अप्रीत्यात्मक नहीं, प्रीत्यात्मक होते हैं। इस दृष्टि से मान प्रीत्यात्मक भी है, और अप्रीत्यात्मक भी है।[2]

लोभादि रागात्मक भी, द्वेषात्मक भी

लोभ तो रागात्मक है ही। फिर भी जब लोभ दूसरों का उपघात करने या दूसरों के हक को छीनने, हड़पने या शोषण करने के परिणाम को लेकर वह अप्रीत्यात्मक होने से द्वेषात्मक हो जाता है। माया को वैसे रागात्मक माना गया है। माया, छल-कपट एवं धोखाधड़ी या दम्भ करते समय जो अनुभूति होती है, वह अन्तःकरण को प्रिय लगती है और व्यक्ति यह सोचता है कि मैंने इतनी सिफ्त से काम किया कि वह स्वतः प्रतिहत एवं प्रभावित हो गया। इस प्रकार की सुखद अनुभूति होने से माया प्रीत्यात्मक अथवा रागात्मक प्रतीत होती है। किन्तु जब माया वंचनात्मक होती है, दूसरों को ठगने के लिए माया-प्रयोग किया जाता है, तब वह परोपघातात्मक होने से अप्रीत्यात्मक या द्वेषात्मक होती है।

इसीलिए विशेषावश्यक में कहा गया है–"माया में भी यदि दूसरे का उपघात करने का अध्यवसाय या परिणाम होता है तो वह द्वेषरूप हो जाती है। इसी प्रकार दूसरों का शोषण या अपहरण करने की नीयत से जब मूर्च्छा या लोभ किया जाता है, तब वह भी रागात्मक न होकर द्वेषात्मक हो जाता है। अतः अनेकान्तदृष्टि से विभिन्न अपेक्षाओं को लेकर परिणामवश कषायचतुष्टय को राग या द्वेष में समाविष्ट कर लेना चाहिए।[3]

संसारी प्राणियों में द्विविध चेतना

निष्कर्ष यह है कि संसारी प्राणी की समस्त अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ, चाहे वे कषायचतुष्टयात्मक हों या नवविध नोकषायों से युक्त हों, इन सबके बीज कारण दो

१. दोषवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता तं जहा–कोहो चेव माणं चेवा
पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता तं जहा–माया चेव लोहे चेवा –स्थानांग सूत्र, स्थान २

२. (क) उज्जुसुयनये कोहो, दोसो सेसाण नयमणेगंतो ।
रागो त्ति या दोसोत्ति व परिणामवसेण अवसेसो ॥ –विशेषावश्यक भाष्य २९७१
(ख) चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांशग्रहण पृ. १२७

३. (क) चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांशग्रहण १-१२८
(ख) मायं पि दोसमिच्छइ, ववहारो जं परोवघायाय ।
नाओवादाणे च्चिय मुच्छा लोभोत्ति नो रागे ॥ –विशेषावश्यक भाष्य २९७०

ही हैं–राग और द्वेष। या तो वह चेतना रागात्मक होती है, या फिर वह होती है–द्वेषात्मक। इन दो में इतनी शक्ति है कि ये कर्मों–कर्मवर्गणाओं को आत्मा के साथ सम्बद्ध कर देती हैं। यह एक विषचक्र है, राग-द्वेष का, जो संसारी प्राणियों में निरंतर गतिमान है। रागद्वेष के आधार पर कर्म का प्रवेश और कर्म के आधार पर रागद्वेष का चिरकाल तक जीवित रहना, अर्थात् रागद्वेष से कर्म, और कर्म (मोहनीयकर्म) से फिर राग-द्वेष। जब तक वीतरागचेतना प्राप्त नहीं होती, तब तक राग-द्वेष की चेतना चलती रहती है।[1] मनुष्य के सारे कार्य, क्रियाकलाप या आचरण उससे प्रभावित रहते हैं। मनुष्य की अच्छी या बुरी मान्यताएँ राग-द्वेष से प्रभावित होती हैं। ये स्वनिर्मित पूर्वाग्रहयुक्त मान्यताएँ ही हैं, जो सर्वत्र दृष्टिगोचर होने वाली व्यथाओं की कारण हैं। किन व्यक्तियों या वस्तुओं, अथवा विचारधाराओं या मान्यताओं के प्रति किसी का रागद्वेष कितनी प्रगाढ़ता लिये हुए है, इसकी स्पष्ट झांकी उसके चेहरे पर या आँखों में झांकने पर हो सकती है। क्योंकि मन की प्रसन्नता-अप्रसन्नता, प्रियता-अप्रियता को व्यक्त करने के ये ही दोनों (रागद्वेष) दर्पण की भूमिका निभाते हैं। ये दोनों अपने हावभाव के पीछे गूढ़ रहस्य को छिपाए बैठे रहते हैं। इसलिए राग और द्वेष दोनों ही आत्मा के लिए क्लेशकारक हैं।

पातंजल योग दर्शन में दोनों को आत्मा के लिए क्लेशकर कहा है। वहाँ राग का लक्षण किया है–सुखानुशायी रागः, और द्वेष का लक्षण किया है–दुःखानुशायी द्वेषः। अर्थात्–सुखों की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश राग है और दुःखों की प्रतीति के पीछे रहने वाला द्वेष है। ये दोनों ही क्लेश बढ़ाते हैं। राग में मन पर संयम न होकर पौद्गलिक सुखों की अभिलाषा रहती है। विषयों पर संयम के अभाव में राग भी आत्मा के लिए क्लेशकर है। द्वेष में भी अन्दर ही अन्दर तीव्र आग धधकती रहती है। जैसे आग पर रखे हुए बर्तन में खौलते हुए पानी में कोई अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखना चाहे तो नहीं देख सकता, क्योंकि उस जल में स्थिरता नहीं है। इसी प्रकार राग-द्वेष से धधकते हुए चंचल हृदय में कोई भी साधक आत्मदर्शन करना चाहे तो सर्वथा असम्भव है। वह स्वच्छ अन्तःकरण वाला तभी बन सकता है, जब विषयों में इन्द्रियों को रागद्वेष रहित होकर प्रवृत्त करता है, किसी कार्य, व्यक्ति या वस्तु को रागद्वेष रहित होकर अपनाता है। गीता में भी यही कहा है–"स्वाधीन अन्तःकरण वाला या अपने मन (या आत्मा) को वश में करके चलने वाला पुरुष रागद्वेष से वियुक्त (रहित) होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों का उपभोग करता हुआ भी स्वच्छ या प्रसन्न अन्तःकरण वाला बन कर आत्मशुद्धि या मनःशुद्धि को प्राप्त कर लेता है।"

राग द्वेष दोनों ही अग्नि हैं। द्वेष तो साक्षात् अग्नि है ही, यह सत्त्वशील आत्मगुणों को जलाती है, किन्तु राग भी ठंडी आग है, वह भी जलाने वाली है। शीतकाल में तीव्र शीत लहर चलती है, जिसके प्रभाव से हरे भरे वृक्ष, यहाँ तक कि

१. सुधर्मा, १९८९ में प्रकाशित लेख से भावांश ग्रहण पृ. ६४

सूखे काष्ठ भी जल कर भस्म हो जाते हैं। भिक्षुओं के लिए तीन प्रकार की अग्नि त्याज्य बताई है–रागाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि। चाहे साम्प्रदायिक राग हो, मान्यताओं का राग–पूर्वाग्रह युक्त हठाग्रह हो, चाहे परम्पराओं, रीतिरिवाजों या रूढ़ियों का राग हो, सभी त्याज्य हैं, कर्मबन्धकारक हैं।[1] अपने सम्प्रदाय, परम्परा, मान्यता के प्रति राग होता है, वहाँ पर-सम्प्रदायादि के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक है, क्योंकि राग और द्वेष होनों सापेक्ष हैं।

ज्ञानार्णव में बताया गया है–जहाँ पर राग का पदार्पण होता है, वहाँ निश्चय ही द्वेष भी प्रवर्तमान होता है। इन दोनों का अवलम्बन लेकर मन भी अत्यधिक विकृत होता है। विपक्ष के प्रति अरति (घृणा-द्वेष) स्वपक्ष के प्रति रति (राग) के बिना नहीं होती, इसी प्रकार स्वपक्ष में अरति भी विपक्ष के प्रति रति के बिना नहीं होती।[2] परस्त्रीगामी पुरुष का उदाहरण स्पष्ट है।

राग और द्वेष दोनों में से रागभाव छोड़ना अतिदुष्कर

राग और द्वेष में द्वेष तो भयंकर है ही, इसे पहचाना जा सकता है। पति-पत्नी में परस्पर मनमुटाव हो जाए, कुछ हितैषियों के कहने-सुनने-समझाने से उनमें परस्पर द्वेषभाव दूर भी हो सकता है। किन्तु रागभाव तो इससे अधिक सूक्ष्म एवं भयंकर है। वह शीघ्र पकड़ में नहीं आता। सम्प्रदाय के प्रति कट्टरतापूर्ण राग को व्यक्ति धर्मप्रभावना का रूप देकर उसे धर्म मानने लगता है। रागभाव इतना गूढ़ होता है कि इसे जानना, पहचानना और छोड़ना उतना सरल नहीं। अतः द्वेष भाव को छोड़ना सरल है, किन्तु रागभाव को छोड़ना सरल नहीं। इसलिए केशीश्रमण मुनि ने जब गणधर गौतम से कहा कि इस लोक में बहुत-से जीव पाश से बंधे हुए हैं, फिर आप इस लोक में रहते हुए लघुभूत व पाशमुक्त होकर कैसे विचरते हैं? इस पर उन्होंने कहा–"भगवन् ! राग और द्वेष आदि भयंकर एवं तीव्र स्नेह (गाढ़) पाश (बन्धन) हैं। मैं यथाक्रम से प्रभुवचनों से इनका छेदन करके यथान्याय विचरण करता हूँ।" गौतम गणधर ने राग आदि को 'स्नेहपाश–अत्यन्त गाढ़ बन्धन' कहा है। 'भामिनी विलास' में राग को तीव्र बन्धन बताया है–'संसार में बहुत-से बन्धन हैं, किन्तु प्रेय (राग)

---

१. (क) पातंजलयोगदर्शन २ पाद, सूत्र ७-८
   (ख) रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
   आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥ –गीता
   (ग) सुधर्मा अगस्त १९८९ में प्रकाशित लेख से भावांशग्रहण पृ. ६५
२. (क) यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
   उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिकं मनः ॥ –ज्ञानार्णव २३/२५
   (ख) तद्यथा न रतिः पक्षे, विपक्षेऽप्यरतिंविना।
   नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ –पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ५४९

रूपी रस्सी का बन्धन अनोखा ही है, जिसके वश होकर काष्ट को भेदन करने में निपुण भौंरा भी कमलकोष में बन्द होकर अपने प्राण दे देता है।'[1]

रागान्धता कितनी भयंकर

राग का लक्षण ही "अभीष्ट विषयों के प्रति आसक्ति, मूर्च्छा और पक्षपात है।" राग व्यक्ति को पक्षपाती और अविवेकी बनाता है। रागान्ध व्यक्ति रागभाव के कारण अपने बच्चों के लिए रात-दिन घोड़े की तरह दौड़ते और मशीन की तरह चलते हैं। रहने के लिए सुविधाजनक एक मकान हो, फिर भी पांच-पांच बंगले बनाते हैं। प्रत्येक बड़े शहर में अपनी कम्पनी खोलते हैं, चार-पांच कारें रखना तो सामान्य बात है। एक बार रागान्ध बादशाह ने अपनी बेगम से कहा–प्रिये ! मैं तुम्हारे लिये प्राण देने को तैयार हूँ। तब बेगम ने उसे सरसराता हुआ जवाब दिया–

मुझ पै तुम मरते नहीं, पर मर रहे इन वार पर।
नाज पर, अंदाज पर, रफ्तार पर, गुफ्तार पर॥

यद्यपि राग का परिणाम कर्मबन्ध है, और उससे वर्तमान में भी दुःख होता है, परन्तु रागान्ध व्यक्ति प्रायः मोहप्रेरित होकर दुःख पाता हुआ भी राग भाव को नहीं छोड़ना चाहता। एक रोचक एवं प्रेरक दृष्टान्त पढ़ा था। एक वृद्ध व्यक्ति बीच सड़क पर बैठा रो रहा था। एक वैष्णव साधु ने उसे रोते देख पूछा–"क्यों रो रहे हो?" "मेरा पोता अभी मेरे ही जूते से मेरे सिर पर मारकर गया है" वृद्ध ने कहा। साधु करुणाप्रेरित होकर बोला–"यदि ऐसा है तो चलो, मेरे साथ। मेरे मठ में आनन्द से रहो। वहाँ तुम्हें कोई कुछ न कहेगा। भगवान् का भजन करना और दोनों टाइम भोजन करना।" इस पर बूढ़े ने तमक कर कहा–"तुम्हें पंचायत करने को किसने बुलाया? पोतो म्हारो, माथो म्हारो और जूतो भी म्हारो; तू बीच में बोलण वालो कुण। जा रास्तो पकड़।" यह है रागान्ध मनुष्य की दशा ![2]

वस्तुतः रागभाव इतना गूढ़ है कि लघुभूत होकर विचरने पर भी गौतम स्वामी का भ. महावीर के प्रति हलका-सा रागभाव नहीं छूटा, तब तक उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ।

रागभाव का सर्वथा त्याग वीतरागता के लिये अनिवार्य

जैनसिद्धान्तानुसार ग्यारहवाँ गुणस्थान यद्यपि वीतरागदशा का है, परन्तु उसमें रागभाव उपशान्त होता है, उसका क्षय नहीं होता। अतः मोह का उदय तो नहीं होता, उपशम हो जाता है, परन्तु यह स्थिति अधिक लम्बे समय तक नहीं रहती। अन्तर्मुहूर्त में ही आत्मा वहाँ से पुनः लौटती एवं नीचे गिरती है। वह गिरते-गिरते क्रमशः

१. (क) रागदोसादओ तिव्वा नेहपासा भयंकरा।
ते छिंदित्ता जहानायं विहरामि जहक्कमं॥ –उत्तराध्ययन अ. २३
(ख) बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेम रज्जूकृद् बन्धनमन्यत्।
दारुभेद-निपुणोऽपि षडंघ्रिनिष्क्रियो भवति पंकजकोषे॥

२. जिनवाणी, सितम्बर १९९० में प्रकाशित पृ. ८

मिथ्यात्व गुणस्थान तक पहुँच सकती है; क्योंकि उक्त आत्मा ने रागद्वेष (कषाय या मोह) का सर्वथा क्षय नहीं किया है। अतः क्षपकश्रेणी पर चढ़ने के लिए राग और द्वेष का पूर्णतः क्षय करना अनिवार्य है। द्वेष तो छोड़ दिया परन्तु रागभाव को नहीं छोड़ा तो वीतरागता प्राप्त नहीं हो सकती। वीतरागता के बिना मुक्ति भी नहीं प्राप्त हो सकती। इसीलिए जिनेश्वरदेव को 'वीतद्वेष' न कहकर 'वीतराग' कहा गया है–वह रागभाव के त्याग की दुष्करता बताने के लिए ही। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा–"राग और द्वेष के सर्वथा सम्यक् प्रकार से क्षय से ही जीव एकान्त सौख्यरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।"[1]

साम्प्रदायिक कट्टरता : अप्रशस्तरागान्धता का प्रतीक

राग का त्याग दुष्कर इसलिए है कि उसके तीव्रता-मन्दता, प्रशस्तता-अप्रशस्तता की दृष्टि से अनेक प्रकार हैं। साधक कोटि का व्यक्ति भी इस भुलावे में रहता है कि मैंने घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, तथा सांसारिक उपभोग की चीजें छोड़ दीं, इसलिए मैं रागत्यागी हो गया, परन्तु दूसरे प्रकार से मोहनीय कर्मवश जिन वस्तुओं को छोड़ दिया, उन पर भी अन्तर् में मोह-ममत्व, सूक्ष्म वासना, कामना, नामना, प्रसिद्धि, आडम्बरप्रियता, प्रशंसा आदि के परिणाम उनके प्रति चलते रहते हैं। कभी-कभी तो वह राग उत्कट हो जाता है। देव (अरिहंत और सिद्ध परमात्मा), निर्ग्रन्थ गुरु और धर्म (रत्नत्रयरूप) के प्रति अनुराग को जैनसिद्धान्तानुसार प्रशस्त राग कहा है, परन्तु वह प्रशस्त राग अज्ञानवश जब अपने सम्प्रदायमान्य अमुक नाम के वीतराग देव के सिवाय अन्य नाम के वीतराग देव को देव मानने वालों के प्रति द्वेषभाव युक्त हो जाता है, तब वह अप्रशस्तराग हो जाता है। इसी प्रकार 'नमो लोए सव्वसाहूणं' कहकर अपने मान्य सम्प्रदाय के सिवाय दूसरे सम्प्रदाय, मत या पंथ के सुसाधुओं को द्वेषवश गुरु न मानना भी अप्रशस्तराग का कारण बन जाता है। यही हाल धर्म का है। शुद्ध धर्म को छोड़कर स्वसम्प्रदाय के प्रति रागान्ध होकर अन्य धर्मसंघ या सम्प्रदायों की निन्दा करना, उनसे द्वेष रखना, उनके अनुयायियों पर झूठा लांछन लगाना, उन्हें बरगलाना, आदि सब साम्प्रदायिक कट्टरताएँ अप्रशस्त राग वश द्वेष के कारण घोर पापकर्म बन्धक हैं। राग के दायरे में कामराग या विषयराग, स्नेहराग एवं दृष्टिराग, ये जो तीन भावराग हैं वे अप्रशस्त राग हैं। इनमें जो दृष्टिराग है, वह साम्प्रदायिक कट्टरता का प्रतीक है। वह साधुजनों के लिए भी अत्यन्त कठिनता से दुरुच्छेद्य है।[2]

कामराग, स्नेहराग और दृष्टिराग

कामराग के अन्तर्गत (इच्छा, आशा, तृष्णा, लालसा, लिप्सा आदि) इच्छाकाम और मदनकाम (कामवासना, कामभोग लिप्सा आदि) ये दोनों प्रकार के काम आ जाते हैं। इसी प्रकार स्नेहराग के अन्तर्गत आसक्ति, मूर्च्छा, ममता, अहंता, लोभ,

---

१. (क) सुधर्मा अगस्त १९८९ में प्रकाशित लेख, पृ. ६२ से
(ख) रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ –उत्तराध्ययन ३२/२

२. (क) जं रायवेयणिज्जं, समुइण्णं भावओ तओ राओ ।
सो दिट्ठि-विसय-नेहाणुरायरूवो अभिस्संगो ॥ –विशेषावश्यक गा. २९६४
(ख) दृष्टिरागो हि पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि ॥ –हेमचन्द्राचार्य

गृद्धि, अभिष्वंग, संग आदि का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि रागभाव का सहसा उच्छेद होना बहुत ही दुष्कर है। इसलिए प्रत्येक साधक को विवेकपूर्वक प्रशस्त और अप्रशस्त राग का विश्लेषण करके अप्रशस्त राग से बचना चाहिए।

प्रशस्त और अप्रशस्त राग : राग के चार प्रकार

व्यावहारिक दृष्टि से राग के चार रूप बनते हैं–(१) अशुद्ध राग, (२) अशुभ राग, (३) शुभराग और (४) शुद्ध राग। (१) अशुद्धराग वह है, जिसमें क्रूर, मलिन एवं दोषपूर्ण वृत्तियों के प्रति कषायचतुष्टय की उत्कटतावश आकर्षण होता है। जैसे–चोरों डकैतों आदि का धन के प्रति, कामी का लम्पटता के प्रति, आततायियों या आतंकवादियों का सत्ता आदि के प्रति व्यामोह। इसे गंदे नाले का पानी कहा जा सकता है। (२) अशुभराग वह है, जिसमें पत्नी, बालकों आदि परिवार का मन्द मोह, धन का ममत्व तथा अपने शरीर एवं इन्द्रियों के विषयों के प्रति सामान्यतः आकर्षण आदि होता है। इसे कचरा, मिट्टी आदि मिला हुआ अशुद्ध पानी कहा जा सकता है। ये दोनों प्रकार के राग अप्रशस्तराग के अन्तर्गत हैं। (३) शुभराग है–दान, पुण्यकार्य, परोपकार, सेवा, आदि शुभकार्यों में रुचियुक्त वृत्तियाँ। इसे साफ किया हुआ वाटरवर्क्स का पानी कह सकते हैं। (४) शुद्धराग कहते हैं–प्रभु के प्रति अनन्य समर्पण, गुरुदेव के प्रति अनुरक्ति-भक्ति, धर्म के प्रति अडिग श्रद्धा, रुचि तथा निष्ठा, निष्कामभाव से करुणा, दया, अनुकम्पा, क्षमा, वत्सलता तथा धर्म रक्षा के लिए बलिदान आदि मधुरतापूर्ण निर्मल चित्तवृत्तियाँ। इसे स्वच्छ डिस्टिल्ड वाटर या आकाशीय स्वच्छ जल कहा जा सकता है। शुभराग और शुद्धराग ये दोनों प्रशस्त राग हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा गया है–वर्तमान काल में सराग संयमी साधुओं (अथवा संयमासंयमी श्रावकवर्ग) के लिए अरिहंत भगवन्तों के प्रति, आचार्य, उपाध्याय आदि साधु-साध्वी वर्ग के प्रति तथा ब्रह्मचारियों के प्रति जो राग होता है, वह प्रशस्त राग है।

राग कभी शुद्ध नहीं होता : एक चिन्तन

निश्चय दृष्टिवादी विचारकों का कहना है कि राग कभी शुद्ध नहीं होता, किन्तु यदि प्रभुभक्ति, गुरुसेवा, स्वधर्मीवात्सल्य, धर्मश्रद्धा आदि को शुद्ध राग नहीं मानेंगे तो फिर ये परम्परा से परमात्म प्राप्ति या मुक्ति के साधन कैसे होंगे। श्रद्धालु श्रावकों के लिए आगमों में कहा गया है–'उनकी हड्डी और मज्जा धर्मप्रेम के रंग में रंगी हुई थी' यह विशेषण कैसे सार्थक होगा? शुद्धराग को तीर्थंकर गोत्र के बन्ध का कारण (तीर्थंकरत्व-प्राप्ति) का कारण तो माना ही गया है। अतः यह विचारणीय है। फिर भी आध्यात्मिक पूर्णता के लिए राग और द्वेष दोनों का ही सर्वथा त्याग आवश्यक है, तभी कर्मबन्ध से सर्वथा छुटकारा हो सकेगा।[१] ● ●

१. (क) जिनवाणी सितम्बर १९९० में प्रकाशित 'प्रेम का परमरूप : भक्ति' शीर्षक लेख से पृ. १७
(ख) अरिहंतेसु य रागो, रागो साहुसु बंभयारीसु ।
एस पसत्थो रागो, अज्ज सरागाणं साहूणं ॥१७॥ –विशेषा.
(ग) अट्ठि-मिंज-पेमाणुरागरत्ते –उपासकदशांग

७

कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण : मिथ्यात्व

प्रकाश और अन्धकार

अनन्तकाल से कालचक्र गतिमान् है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन, इस प्रकार काल का चक्र अनवरत घूम रहा है। दिन को सूर्य का प्रकाश रहता है और रात्रि को अन्धकार। जहाँ प्रकाश हो, वहाँ अन्धकार टिक नहीं सकता। इसी प्रकार जहाँ अन्धकार हो, वहाँ आँखें खोलने पर भी प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता।

अन्धकार को प्रकाश मानने वाले जीव

इस समग्र विश्व में दो प्रकार के जीव हैं। अधिकांश जीव तो प्रकाश को ही जीवन मानते हैं; जबकि उल्लू, चमगादड़ आदि दूसरे प्रकार के जीव अन्धकार को ही प्रकाश मान कर जीते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों की प्रवृत्ति और प्रकृति में जमीन-आसमान का अन्तर है। उल्लू आदि प्राणी रात्रि को ही दिन मान कर जीवन-यापन करते हैं, तथा दिन को रात्रि मान कर आँखें बंद करके निद्राधीन हो जाते हैं। यह देखा गया है कि उल्लू आदि जीव रात्रि को ही दिन का प्रकाश मान कर जीवन-निर्वाह के लिये दौड़-धूप करते हैं। वे सूर्य को अन्धकार का पिण्ड और शत्रु समझते हैं। वे सोचते हैं कि "भक्षक प्राणी तो एक ही बार में जीवन का अन्त कर देता है, जबकि सूर्य तो प्रतिदिन लगभग १२-१३ घंटे तक अन्धेरा कर देता है, जिससे हमें उतनी देर (दिन के रहने) तक अंधकारमय काल-कोठरी में बंद होकर, आँखें मूंद कर भूखे-प्यासे सो जाना पड़ता है। हम सूर्य के रहते कुछ भी प्रवृत्ति नहीं कर सकते। कितना दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है। हमारी आधी जिंदगी का सुख तो सूर्य छीन लेता है। यदि रात्रि के अन्धकारमय महाप्रकाश पुंज की हम पर कृपा न होती तो संसार में हमारा अस्तित्व ही नहीं रहता। सदा के लिए हम मर मिटते।" इस प्रकार अंधेरे को उजाला मान कर जीने वाले निशाचारी उल्लू आदि प्राणियों के लिए प्रकाशपुंज सूर्य अभिशाप-समान है और अन्धकार के पिण्ड-समान रात्रि उनके लिए वरदान रूप है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक का समय उनको

अमावस्या की रात्रि के समान गाढ़ अन्धकारमय और शून्य-सा प्रतीत होता है। सूर्योदय होते ही उनके नेत्रों पर अंधेरा छा जाता है। प्रकाश की किरणें उन्हें अंधकार का पिण्ड प्रतीत होती हैं। उनका ऐसा ही जन्मजात स्वभाव है।[१]

संसार के सभी प्राणियों से उनकी स्थिति विपरीत और विचित्र

जगत् के तमाम प्राणियों से उनकी स्थिति विचित्र होती है। इन निशापूजक पक्षियों के पैर आकाश की ओर ऊँचे होते हैं, और उनका सिर नीचे लटकता रहता है। देखने वालों को आश्चर्य होता है कि जीवन-पर्यन्त पैर ऊँचे और सिर नीचे रखना, ये जीव कैसे सहन कर लेते होंगे? दूसरे पशु-पक्षियों को थोड़ी-सी देर भी ऐसी स्थिति में रखा जाए तो उनकी मृत्यु होने की संभावना रहती है। किन्तु इन निशाजीवी प्राणियों के लिए वैसा जीवन सहज और स्वाभाविक है; बल्कि इस प्रकार की उलटी स्थिति से उनकी मृत्यु के बदले, जिंदगी (आयु) में वृद्धि होती रहती है। इन अन्धकार-जीवी प्राणियों की प्रकृति के अनुसार ही इनके शरीर की रचना, आकृति और धारणा ही ऐसी बनी है कि उनके लिए रात्रि के घोर अंधेरे में दौड़ना-भागना, खाना-पीना, भक्ष्य-पदार्थ ढूँढ़ना आदि स्वाभाविक बात है। उन्हें अन्धकार में ही सारा जगत् प्रकाशमय और चैतन्यवत् प्रतीत होता है।

मानव समुदाय में भी अन्धकार को प्रकाश मानने वाले अधिक

तात्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो उक्त दो प्रकार के (प्रकाश-जीवी और अन्धकार-जीवी) प्राणियों की तरह मानव समूह में भी दो प्रकार के मानव हैं। कतिपय मानव ऐसे हैं, जिन्हें अन्धकार ही प्रकाशमय मालूम होता है, और जब प्रकाश होता है, तो उन्हें वह अन्धकार का पुंज प्रतीत होता है। पशु-पक्षियों में तो प्रकाश से प्रेम करने वाले प्राणी अधिक हैं, जबकि अन्धकार-जीवी उल्लू आदि प्राणियों की संख्या बहुत थोड़ी है; किन्तु मानव समुदाय की स्थिति इससे विपरीत है। मानव समुदाय में प्रकाश-पिण्ड को अन्धकार मानने वाले मनुष्यों की संख्या अधिक है, प्रकाश को प्रकाश मानने वाले मानव बहुत ही कम मिलेंगे।

भाव-प्रकाश के बदले भावान्धकार में जीने वाले जीव

बाह्यदृष्टि से देखने पर मानव प्रत्यक्ष में प्रकाश-प्रेमी दिखाई देता है। रात्रि को भी वह बिजली, पेट्रोमेक्स या अन्य प्रकाश के साधनों के प्रकाश में ही काम करता है, इसलिए स्थूल दृष्टि से तो मानव प्रकाशप्रेमी ही प्रतीत होता है। किन्तु अध्यात्मतत्वज्ञों की दृष्टि में वह यथार्थ प्रकाश नहीं है। यथार्थ प्रकाश है—सम्यक्त्व सूर्य का, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का, जो भाव-प्रकाश है। वही अधिकांश मानवों के जीवन में नहीं है। अधिकांश मानवों के जीवन में मिथ्यात्व का, अज्ञान का, अविद्या का तथा

१. आत्मार्थी मुनि श्री मोहनऋषि जी म. की विचारधारा (हस्तलिखित डायरी नं. १ से)

अविवेक का ही भावान्धकार व्याप्त दिखाई देता है। इसी भावान्धकार के फलस्वरूप उनके जीवन में राग, द्वेष, कलह, क्लेश, हिंसादि पाप, तथा अन्धस्वार्थ, अन्धविश्वास, जाति, धर्म, सम्प्रदाय-प्रान्त-भाषादिगत मूढ़ताएँ, देव-गुरु-धर्म के नाम पर नाना प्रचलित कुरूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, तथा आत्मा, परमात्मा आदि के सम्बन्ध में मिथ्या-मान्यताएँ, एकान्त पूर्वाग्रह, कदाग्रह, संशय एवं भ्रान्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं।[1]

मिथ्यात्व का दूरगामी दुष्प्रभाव

यह मिथ्यात्व ही एक ऐसा है, जो घोरातिघोर अन्धकारकूप में प्राणियों को डाले रखता है, उनकी आत्माओं का समग्र विकास ही रोक लेता है, उन्हें गुणस्थान की पहली सीढ़ी से आगे बढ़ने ही नहीं देता। मिथ्यात्व ही प्राणियों के जीवन का महाशत्रु है, जो सम्यक्त्व के सूर्य का प्रकाश देखने नहीं देता। जिसके कारण आत्मा घोर कर्मों के बंधन में जकड़ी रहती है। मिथ्यात्व के कारण ही वह पापकर्मों से विरत नहीं हो पाता। वह जो भी जप, तप, व्रताचरण, धर्म क्रिया आदि मिथ्यात्व के नशे में होकर करता है, उसका कर्मों से मुक्त होने का यथेष्ट लाभ उसे नहीं मिल पाता। मिथ्यात्वयुक्त होकर जो भी शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया जाता है, या जो भी चारित्र का पालन या तपश्चरण किया जाता है, वह मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही रहता है, वह सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र की कोटि में नहीं आता। उसका वह ज्ञान या चारित्र संसार वृद्धि का ही कारण बनता है।

मिथ्यात्व कर्मबन्ध का प्रबल और प्रथम कारण

इसलिए कर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन को कर्मबन्ध का प्रबल और प्रथम कारण बताया है। १८ प्रकार के पापस्थानकों में से मिथ्यादर्शन-शल्य नामक पापस्थान सबसे बढ़कर पापकर्मबन्ध का कारण है। अकेला मिथ्यादर्शनशल्य नामक पापस्थान शेष १७ पापस्थानों को भी मात करने वाला है।

वैसे तो कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच कारण बताए हैं, किन्तु इनमें सबसे प्रबल कारण मिथ्यात्व है, क्योंकि इसके रहते अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के त्याग या मन्दत्व की भावना प्रायः नहीं होती। इन चारों से बचा भी जा सके तो भी मिथ्यात्व का रोग लगा हो तो वह रत्नत्रय (व्यवहार-निश्चय-रत्नत्रय) रूप धर्म या संवर-निर्जारूप धर्म अर्जित करने से वंचित रहता है।

मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप

इसीलिए मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप बताते हुए रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहा गया है–शरीरधारी जीवों के लिए मिथ्यात्व के समान अन्य कोई अकल्याणकारी

१. वही, (डायरी नं. १ से)

नहीं है। क्योंकि "जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभ-अशुभ सभी क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। भले ही कोई व्यक्ति महाव्रत आदि का आलम्बन ले, या समितियों की उत्कृष्टता का आश्रय ले, तथापि वह व्यक्ति मिथ्यात्व नामक पाप से युक्त है।" मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कहा गया है–"मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है।"[1]

वास्तव में जैनदर्शन में मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप माना गया है। जहाँ अठारह पापस्थानों के नाम आते हैं, वहाँ १७ पापस्थान तो अपनी संज्ञा से अभिहित हुए हैं, किन्तु मिथ्यादर्शन के पीछे 'शल्य' शब्द जोड़ कर उसे शल्य (तीखे काँटे) जैसा चुभने वाला माना गया है।[2] बद्धजीव के कर्मों का निमित्त पाकर मिथ्यात्वादि होते हैं और मिथ्यात्वादि के निमित्त से कर्मबंध होता है: इस प्रकार कर्मबन्ध और मिथ्यात्वादि का कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है। निष्कर्ष यह है कि कर्मबन्ध और मिथ्यात्व आदि की यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, जिसे शास्त्रों में बीज-वृक्ष के न्याय से प्रतिपादित किया गया है। इस परम्परा की आदि नहीं है किन्तु अन्त हो सकता है।

मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप मानने का कारण यह भी है कि इसके प्रभाव से जीव निगोद में जाता है; क्षुल्लक अथवा क्षुद्रभव करता है। यद्यपि क्षुल्लकभव का समय अत्यल्प है–'एक श्वासोच्छ्वास में १७$^{9}/_{२}$ बार जन्म-मरण, तथापि निगोद-अवस्था में जीव बहुत लम्बे समय तक रहता है, बार-बार जन्म-मरण करता ही रहता है। वहाँ से कदाचित् ही कोई जीव अकाम निर्जरा के कारण निकल पाता है। निगोद में से किसी ऐसे जीव का निकलना ऐसा ही है, जैसे नदी के प्रवाह में बहते हुए असंख्य छोटे-छोटे कंकड़-पत्थरों में से कोई एक कंकड़ या पत्थर पानी की उत्ताल तरंगों के थपेड़ों से किनारे पर जा गिरे और जल के तीव्र वेग में बहने से बच जाए।

मिथ्यात्व : संसार-परिभ्रमण का जनक

मिथ्यात्व जन्म-मरण के अनन्त-दुःखों की परम्परा को बढ़ाता है। इसीलिए मिथ्यात्व को संसार का मूल बताया गया है। 'सूत्रकृतांग सूत्र' में कहा गया है–मिथ्यादृष्टि अनार्य लोग मिथ्यात्व ज्वर से ग्रस्त होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। इसीलिए पापों में सबसे बड़ा पाप और पाप का बीज मिथ्यात्व को कहा गया है। तथा मिथ्यात्व को भव-वृद्धि का कारण बताया गया है।[3]

---

१. (क) अश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत् तनुभृताम्। –रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३४
(ख) आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽथापि पापा।
आत्माऽनात्मावगम-विरहात् सन्ति सम्यक्त्व-रिक्ताः॥ –समयसार २००/क-१३७
(ग) मोक्षमार्ग प्रकाशक ८/३९३/३
२. सम्यग्दर्शन: एक अनुशीलन (अशोकमुनि)
३. मिच्छत्तं भव-वुड्ढि-कारणं।

मिथ्यात्व के रहते ज्ञान, चारित्र, तप आदि दूषित

मिथ्यात्व के रहते न तो सम्यक्ज्ञान का विकास हो पाता है, न ही सम्यक् चारित्र का और न शुद्ध धर्म का पालन हो सकता है। जिस प्रकार दूध में एक बूंद जहर की पड़ जाने से वह दूध प्राणघातक और दूषित हो जाता है, वैसे ही पवित्र संयम, नियम, त्याग, तप आदि में मिथ्यात्व-विष की एक बूंद भी पड़ जाय तो वे भी दूषित एवं आत्मा के ज्ञानादि प्राणों को नष्ट कर डालते हैं। मिथ्यात्व के कारण व्यक्ति की बुद्धि, श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, विश्वास और क्रिया आदि सभी विपरीत हो जाती हैं। जिस प्रकार पिपासाकुल मृग मृगमरीचिका को जल समझ कर भ्रान्तिवश उसको पाने के लिए बेतहाशा दौड़ता है, परन्तु पास जाने पर कुछ भी नहीं मिलता, वैसे ही संसार-सुख की पिपासा से आकुल व्यक्ति मिथ्यात्व-मोहित होकर भ्रमवश तत्त्व को अतत्त्व और अतत्त्व को तत्त्व समझकर संसार की मोहयुक्त भूलभुलैया में भटकता रहता है, किन्तु उसकी सुख-पिपासा शान्त नहीं हो पाती।[1] इसलिए 'वैराग्यशतक' में कहा गया है–

मिच्छे अणंतदोसा, पयडा दिसंति न वि गुणलेसो ।
तह वि य तं चेव जीवा, हा ! मोहंधा निसेवंति ॥[2]

मिथ्यात्व में अनन्त दोष हैं, यह बात साफ-साफ मालूम होती है। इसमें गुण का लेशमात्र भी नहीं है, खेद है फिर भी मोह में अन्धे होकर जीव उसी का सेवन करते हैं।

बंध के साधक कारणों में मिथ्यात्व को प्रधानता क्यों?

पंचाध्यायी में इस विषय में एक प्रश्न उठाया गया है कि जब सभी भाव जीवमय हैं, तब कहीं पर कोई एक भाव (मिथ्यात्वभाव) व्यापक रूप से बंध का साधक कारण क्यों? उत्तर में कहा गया है कि व्यापक रूप से बन्ध के साधक कारणरूप भावों में भी किन्हीं संज्ञी-प्राणियों के भावों में वस्तुस्वरूप को मिथ्याकार में गृहीत रखने वाला गृहीत नामक मिथ्यात्वभाव प्रचुरमात्रा में बुद्धिपूर्वक पाया जाता है। इसीलिए मिथ्यात्व को बन्ध के कारणों में प्रधानता दी जाती है।[3]

मिथ्यात्व कितनी भयंकर वस्तु है

शास्त्रकारों ने मिथ्यात्व की भयंकरता बताते हुए कहा है–"इस जगत् में बहुत-से शत्रु होते हैं, परन्तु मिथ्यात्व-सा कोई शत्रु नहीं है। अनेक प्रकार के विष होते हैं।

---

१. (क) सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन से भावांशग्रहण, पृ. ४४०
(ख) सूत्रकृतांग
२. वैराग्यशतक
३. पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) १०३७-१०३८

परन्तु मिथ्यात्व जैसा कोई भी घातक लिप्त नहीं है। रोग अनेक प्रकार के होते हैं। किन्तु मिथ्यात्व-सदृश कोई भयंकर रोग नहीं है। अन्धकार अनेक प्रकार का होता है, परन्तु मिथ्यात्व-सरीखा कोई घोर अन्धकार नहीं है।" इससे अनुमान लगाया जा सकता है, कि मिथ्यात्व कितनी भयंकर वस्तु है। इसमें मिथ्यात्व को महाशत्रु, महाविष, महारोग तथा महाअन्धकार की उपमा दी गई है; क्योंकि वह समस्त कर्मों की जड़ है।[1]

भक्त-परिज्ञा प्रकीर्णक में कहा गया है—तीव्र मिथ्यात्व आत्मा का जितना अहित एवं बिगाड़ करता है, उतना बिगाड़ अग्नि, विष और काला सांप भी नहीं करते।[2]

मिथ्यात्वी की कोई प्रवृत्ति मोक्षकारक नहीं

मिथ्यात्व से ग्रस्त व्यक्ति बड़े-बड़े कष्टदायक तप करता है, अपने चारों ओर आग जला कर पंचाग्नि तप करता है, सर्दी के दिनों में घंटों जल में खड़ा होकर जप करता है, लंबे-चौड़े क्रियाकाण्ड करता है, परन्तु वे सब कर्मबन्ध के कारण होकर उसके भवभ्रमण के कारण ही बनते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी—मिथ्याज्ञानी होता है, उसके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं, क्योंकि अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव के सभी भाव, क्रिया आदि बन्ध के कारण होते हैं। वह परद्रव्यों में सदैव रत रहने के कारण कर्मों को बांधता हुआ संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[3]

मिथ्यात्वी का ज्ञान उन्मत्तव्यक्तितुल्य मिथ्याज्ञान

'तत्वार्थ सूत्र' में कहा गया है कि उन्मत्त व्यक्ति जिस प्रकार सत् और असत् (वास्तविक और अवास्तविक) में कोई अन्तर नहीं जानता है, इसलिए उसका जो ज्ञान है, वह भी अज्ञान माना जाता है, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि सोने को सोना, लोहे को लोहा भी कह दे तो भी उसका विवेकशून्य ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि उन्मत्त मनुष्य के अधिक विभूति भी हो जाए, कदाचित् वस्तु का यथार्थ बोध भी हो जाए, तथापि उसका उन्माद ही बढ़ता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि आत्मा, जिसके राग-द्वेष की तीव्रता और आत्मा के विषय में मिथ्याज्ञान होता है, अपनी विशाल ज्ञानराशि का उपयोग केवल सांसारिक वासना के पोषण में ही करता है, इसलिए उक्त मिथ्यात्वी के ज्ञान को अज्ञान या मिथ्याज्ञान ही कहा जाता है। जिस प्रकार उन्मत्त व्यक्ति धर्म-अधर्म को नहीं जानता, इसी प्रकार मिथ्यात्व-मद्य से मत्त जीव भी कभी हिंसायुक्त कार्यों को धर्म मानता है तो कभी अहिंसायुक्त कार्य को भी

---

१. आत्म-तत्त्व-विचार से, पृ. २८४

२. नवि तं करेइ अग्गी, न य विसं किण्हसप्पोऽवा ।
जं कुणइ महादोसं, तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥ —भक्तपरिज्ञा गा. ६१

३. देखें—औपपातिकसूत्र में बालतापसियों का वर्णन ।

धर्म कहने लगता है। कभी सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य को वह धर्म मानता है, कभी अधर्म। उसकी यह मान्यता पागल के प्रलाप के समान होती है,[1] क्योंकि वह शुद्ध तत्व को नहीं जानता है।

मिथ्यात्व : सात ज्वालाओं से युक्त

मिथ्यात्व को जैनकर्म-विज्ञान-विशेषज्ञों ने 'सप्तार्चि'–सप्तज्वालायुक्त कहा है। वे सात ज्वालाएँ ये हैं–अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय। इसलिए मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का आद्य और प्रधान कारण कहा गया है। मिथ्यात्वग्रस्त जीव न तो बंध को जानता-समझता है और न ही उस से मुक्त होने के उपायों को समझता है। इसलिए मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण मानकर इससे मुक्त होने अथवा न बंधने का प्रयत्न करना चाहिए।[2]

मिथ्यात्व का बंधन टूटे बिना अविरति आदि के बंधन नहीं टूटेंगे

मिथ्यात्व का बन्धन इतना जबर्दस्त है कि जब तक इसका बन्धन नहीं टूटता, तब तक अविरति का बन्धन, प्रमाद का बन्धन, कषाय का बन्धन और योग का बन्धन नहीं टूट सकता। यानी मिथ्यात्व का बन्धन रहने की हालत में कर्म का चक्रव्यूह तोड़ा नहीं जा सकता। मिथ्यात्व कर्मबन्ध का मूल है, उसके रहते अविरति आदि बन्धकारणों को हटाया नहीं जा सकेगा।

मिथ्यात्व : परम्परागत मौलिक कारण

मिथ्यात्व-बन्ध के पारम्परिक कारणों की मीमांसा करते हुए भगवान् महावीर से पूछा गया–"भंते ! कर्म का बन्ध कैसे होता है? उसका क्रम क्या है?" इस पर भगवान् ने कहा–"जब व्यक्ति का ज्ञानावरण-कर्म-विशिष्ट (तीव्र) उदयावस्था में होता है, तब दर्शनावरण कर्म का उदय होता है। अर्थात्–जानने और देखने पर आवरण आ जाता है। जब दर्शन पर आवरण आता है, तब दर्शनमोह कर्म का उदय होता है। जब दर्शनमोह कर्म का उदय होता है, तब मिथ्यात्व आता है।[3]

मिथ्यात्व के प्रभाव से सारी चीजें विपरीत दिखाई देती हैं

इसका रहस्यार्थ यह है–किसी व्यक्ति में मिथ्यात्व का अस्तित्व रहेगा तो व्यक्ति उक्त मिथ्यात्व के प्रभाव से नित्य को अनित्य, सुख को दुःख, तथा दुःख के साधनों को सुख के साधन और सुख के साधनों को दुःख के साधन मानने लग जाता है। उल्लू की तरह वह अन्धकार को ही प्रकाश और प्रकाश को अन्धकार मानने, समझने

१. तत्त्वार्थसूत्र १/३३ में–'सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्' की व्याख्या।
२. चारित्र-प्राभृत गा. १७
३. प्रज्ञापना सूत्र पद २३

और तदनुकूल प्रवृत्ति करने लगता है। सारी बातें विपरीत हो जाती हैं। अन्धकार-प्रेमी जीवों के समान मिथ्यात्वग्रस्त का दृष्टिकोण ही विपरीत या मिथ्या हो जाता है। वह खतरा बढ़ाने वाली, पतन की ओर ले जाने वाली, मोहान्धकार में भटकाने वाली वस्तु को अपनाता है, उसी को हितकर, सुखकर और विषयों की प्यास बुझाने वाली मानता है। अर्थात्–खतरनाक वस्तुओं पर उसका विश्वास दृढ़ होता है, और खतरा मिटाने वाली वस्तु को देखकर वह दूर भागता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि वह मिथ्यात्व-ग्रस्त है, उसकी दृष्टि मिथ्या है, उसका मोह प्रबल है, उसकी बुद्धि में विपर्यास है; उसका विश्वास प्रकाश को अन्धकार और अन्धकार को प्रकाश मानने लगता है। उसमें राग-द्वेष, मोह और कषाय का प्राबल्य है। यही कारण है कि कई आदमी तत्त्वज्ञान की बातों को घोट लेते हैं, आत्मा-अनात्मा के विषय में घंटों चर्चा कर लेते हैं, शास्त्रों की बातों को बारीकी से कह सकते हैं; परन्तु अन्तर् में दृष्टि मिथ्या होने से, दर्शन सम्यक् न होने से, तत्त्वज्ञान पर दृढ़निष्ठा और श्रद्धा न होने से सम्यक् श्रुत (शास्त्र) भी उसके लिए मिथ्या हो जाते हैं, इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के लिए तथाकथित मिथ्याश्रुत (मिथ्यात्वप्रेरक शास्त्र) भी सम्यक्श्रुत हो जाते हैं। 'नन्दीसूत्र' में यह बात स्पष्टरूप से प्ररूपित की गई है।[1] 'नयचक्र वृत्ति' में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है कि मिथ्यादृष्टि के तत्त्वविचार, नय, प्रमाण आदि सब दुर्नय, दुष्प्रमाण और अतत्व हो जाते हैं। मिथ्यात्व के कारण उसका तत्त्वज्ञान भी अज्ञानरूप और उसका चारित्र भी कुचारित्र (अविरतिरूप) हो जाता है।[2] 'योगसार' में भी कहा गया है–जिस प्रकार कीचड़ अपने संग से कपड़े को मलिन कर देता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व अपने संग से दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मलिन कर देता है।[3]

मिथ्यात्व रहेगा, तब तक अविरति, प्रमाद, कषाय आदि बने रहेंगे

इतना ही नहीं, जब तक व्यक्ति के अन्तर् में मिथ्यात्व रहेगा, तब तक परभावों को पाने तथा विभावों में प्रवृत्त होने की चंचलता, आकांक्षा, अतृप्ति, इच्छा आदि बनी रहेगी। सांसारिक सुख की प्यास बुझेगी नहीं। परपदार्थों की प्यास बनी रहेगी। प्रमाद भी बार-बार होता रहेगा। सांसारिक पदार्थों का उपभोग करने पर भी अतृप्ति बनी रहेगी। विस्मृति होगी, भ्रान्ति होगी, संशय विपर्यय और अनध्यवसाय होगा। एक बार जान लेने पर भी कि धनादि सांसारिक पदार्थों या विषयों में सुख नहीं है; परन्तु जब दैनन्दिन जीवन व्यवहार के क्षेत्र में उतरेंगे, तब इन बातों को बिलकुल भूल जाएँगे, बुद्धि पर मोह का ऐसा जबर्दस्त पर्दा पड़ जाएगा कि सूझेगा भी नहीं कि धनादि

---

१. एयाइं चेव सम्मद्दिट्ठिस्स सम्मत्त परिग्गहत्तेण सम्मसुयं, एयाइं चेव मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहत्तेण मिच्छासुयं। –नन्दीसूत्र

२. नयचक्रवृत्ति ४१५, पंचास्तिकाय ता. वृ. ४३/६।

३. चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावग्रहण, पृ. १०
योगसार बन्धाधिकार, श्लोक १५

पर-पदार्थ या विषय आदि सुख के साधन नहीं हैं। यह सब इसलिए होता है, कि उसकी तह में मिथ्यात्व आसन जमाए बैठा है। वह सत्य को विपरीत रूप में ग्रहण करने तथा उसे विस्मृत हो जाने को बाध्य करता है। आचार्य पूज्यपाद ने भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त किया है–"मूढ़ आत्मा जिसमें विश्वास करता है, उससे बढ़कर भयास्पद वस्तु संसार में कोई नहीं है, तथैव मूढ़ आत्मा जिससे डरता है, दूर भागता है, उससे बढ़कर शरणदायिनी वस्तु संसार में कोई नहीं है।"[1]

मिथ्यात्व के कारण विपरीत धारणा का गुरुतर प्रभाव

इसलिए मिथ्या दृष्टि अंतर् में बैठी हुई सूक्ष्म, किन्तु विपरीत धारणा का नाम है, जो अतत्त्व में तत्त्व की, तथा तत्त्व में अतत्त्व की ओर, एवं अतथ्य में तथ्य की तथा तथ्य में अतथ्य की ओर कल्पना को दौड़ाती है। सत्य का भाव हृदयंगम ही नहीं होने देती, चेतनतत्त्व का सम्यक् भान नहीं होने देती, प्रत्युत शरीर, इन्द्रिय और मन तथा उनके विषयों में ही मैं और मेरेपन की, अथवा इष्ट-अनिष्ट की या प्रिय-अप्रिय की अथवा मनोज्ञ-अमनोज्ञ की कल्पना बनाये रखती है। इसलिए मिथ्यात्व क्रोध आदि समस्त कषाय-नोकषायों का बीज होने के कारण सब दोषों का गुरु या पिता है। मिथ्यात्व को समस्त कर्मबन्धों में अग्रणी एवं प्रबल कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।[2]

विभिन्न दर्शनों में भी बन्ध का मूल कारण : मिथ्याज्ञान या अविद्या

दार्शनिक क्षेत्र में भी इस प्रश्न को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है कि आत्मा कर्म से क्यों और किस कारण से बंधता है? जैनदर्शन ने जैसे मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण कहा है, वैसे ही वैदिक दर्शनों ने अज्ञान, मिथ्याज्ञान या अविद्या आदि को समस्त दुःखों (कर्मबन्धों) का कारण बताया है। सांख्यदर्शन ने स्पष्ट कहा है–"अज्ञान (ज्ञान के विपर्यय) से बन्ध होता है, ज्ञान से मुक्ति होती है।" ईश्वर-कृष्ण ने सांख्यकारिका में बंध का कारण प्रकृति-पुरुष-विषयक विपर्ययज्ञान को माना है। यही विपर्यय मिथ्याज्ञान है।[3] योगदर्शन ने क्लेश को बन्ध का कारण मान कर क्लेश का कारण अविद्या को माना है। संसार का मूल कारण अविद्या है। संसार कर्मबन्ध के कारण होता है। अविद्या का अर्थ है–मिथ्याज्ञान।[4] वैशेषिक दर्शन ने भी

---

१. मूढात्मा यत्र विश्वस्तः ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥ –सर्वार्थसिद्धि

२. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्रवर्णी) से, पृ. ४४

३. (क) ज्ञानान्मुक्तिः, बन्धो विपर्ययात्। –सांख्यदर्शन अ. ३, सू.२४-२५
(ख) सांख्यकारिका ४४, ४७, ४८

४. (क) योगदर्शन २/३१४
(ख) तस्य हेतुरविद्या, तदभावात् संयोग भावो, तद्दृशेः कैवल्यम्। –योगदर्शन २, २४-२५

मिथ्याज्ञान को बन्ध का कारण बताते हुए कहा है–आत्म-साक्षात्कार होना तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) होता है। क्योंकि यही मिथ्याज्ञान का उन्मूलन करने में सक्षम होता है।[1] वेदान्त दर्शन अविद्या या माया को कर्मबन्ध का कारण मानता है। न्यायदर्शन 'मिथ्याज्ञान' को बन्ध का आद्य कारण मानता है।[2] जैसे जैनदर्शन में संसार (भव) और बन्ध का कारण आस्रव को और आस्रव का आद्य कारण मिथ्यात्व को माना गया है, वैसे ही बौद्ध दर्शन में भी आसव (आस्रव) को भव का हेतु माना गया है, और आस्रव का कारण अविद्या (मिथ्यात्व) को मानकर बताया गया है कि आस्रव से अविद्या और अविद्या से आस्रव की परम्परा परस्पर सापेक्षरूप में चलती रहती है। आसव (आस्रव) की व्याख्या वहाँ की गई है–"जो आसव (मदिरा) के समान ज्ञान का विपर्यय करे अथवा जिससे संसार रूपी दुःख का प्रसव होता हो, वह आस्रव है।"[3]

समयसार में अज्ञान को बन्ध का प्रमुख व प्रबल कारण कहा है

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में वैदिक दर्शनों की तरह 'अज्ञान' को ही बन्ध का प्रमुख एवं प्रबल कारण माना है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि "ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और अज्ञान ही बन्ध का हेतु है।" "इस जगत् में प्रकृतियों के साथ यह (प्रगट) बन्ध होता है, वह वास्तव में अज्ञान की ही गहन महिमा स्फुरित होती है।"[4]

अज्ञान बन्ध का कारण कब है, कब नहीं?

इस सम्बन्ध में 'आप्तमीमांसा' में एक तर्क उठाते हुए कहा गया है–अज्ञान के कारण नियम से बन्ध होता है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करने पर कोई भी व्यक्ति केवलज्ञानी नहीं हो सकेगा। क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं, अनन्त ही ज्ञेयों का बोध नहीं होगा तो जिन ज्ञेयों का ज्ञान नहीं हो सकेगा, वे बन्ध के हेतु होंगे। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञत्व का सद्भाव कैसे होगा? कदाचित् यह कहा जाए कि सम्यक् अल्पज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाएगा; तो अवशिष्ट विशाल अज्ञान के कारण उधर बन्ध भी होता जाएगा। इस प्रकार पूर्णज्ञान की प्राप्ति के अभाव में, किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी।[5]

---

१. तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् । तत्त्वज्ञानमात्मसाक्षात्कार इह विवक्षितः । तस्यैव सर्वानेव मिथ्याज्ञानोन्मूलन-क्षमत्वात् । –वैशेषिकसूत्र, प्रशस्तपादभाष्य पृ. ५३८

२. दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।" –न्यायसूत्र १/१/२

३. (क) देखें–संयुत्तनिकाय ३६/८, ४३/७/३, ४५/५/१०, २१/३/९
(ख) देखें–बौद्धधर्म-दर्शन पृ. २४५
(ग) जैन, बौद्ध, गीता के आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन से भाव ग्रहण पृ. ३६२

४. (क) ज्ञानाज्ञाने मोक्ष-बन्ध-हेतू नियमयति ''''। –समयसार गा. १५३ टीका।
(ख) तथाऽप्यायासौ स्यादिह किल बन्धः प्रकृतिभिः ।
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ –समयसार ३९५/क.१९५

५. अज्ञाना‌च्चेद् ध्रुवो बन्धो, ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ।
ज्ञानस्तोकाद् विमोक्षश्चेदज्ञानाद् बहुतोऽन्यथा ॥ –आप्तमीमांसा ९६

अज्ञान बन्ध का कारण क्यों है?

साख्यकारिका में इसी प्रकार के अपूर्ण बन्ध-मोक्ष के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए प्रतिप्रश्न किया गया है–"आपके (जैनदर्शन के) सिद्धान्त में भी तो अज्ञान को बंध तथा दुःख का कारण बताया गया है।" आचार्य अमृतचन्द ने भी कहा है–"अज्ञान के कारण मृगगण मृगतृष्णा में जल की भ्रान्तिवश पानी पीने के लिए दौड़ते हैं। अज्ञान के कारण लोग रस्सी में सांप की भ्रान्ति के कारण डर कर भागते हैं। जैसे–पवन के वेग से समुद्र में लहरें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अज्ञानवश विविध-विकल्पों की लहरें मन में उठाते हुए स्वयं शुद्ध ज्ञानमय होते हुए भी वे प्राणी स्वयं को कर्त्ता मान कर दुःखी होते हैं।"[1]

ऐसी स्थिति में 'अज्ञान से बन्ध होता है' इस पक्ष का विरोध करने का क्या कारण है?

अज्ञान का अर्थ अल्पज्ञान या ज्ञानाभाव नहीं

इसका समाधान यह है कि यहाँ अज्ञान का अर्थ–अल्पज्ञान या ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु अज्ञान का यहाँ अर्थ है–मिथ्यात्वभाव–विशिष्ट ज्ञान। उपर्युक्त कथन अज्ञान की प्रधानता की विवक्षावश किया गया है। यथार्थ में देखा जाए तो बन्ध का कारण दूसरा है। राग-द्वेषादि विकारों से युक्त अज्ञान ही बन्ध का कारण है। सम्यग्ज्ञान (सम्यग्दर्शन से युक्त) अल्प भी हो तो वह बन्ध का कारण नहीं होता। वीतरागता-सम्पन्न ज्ञान यदि थोड़ा-सा भी हो तो, वह कर्मराशि को विनष्ट करने में समर्थ होता है। जैसे कि परमात्म प्रकाश की टीका में लिखा है–"वैराग्य-सम्पन्न वीर पुरुष अल्पज्ञान द्वारा भी सिद्ध (मुक्त) हो जाते हैं। जब कि समस्त शास्त्रों के पढ़ने पर भी वैराग्य के बिना सिद्ध (मुक्त) नहीं हो पाते।"[2]

इसके प्रमाण के रूप में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा भावपाहुड में प्रस्तुत हैं दो उदाहरण–

(१) भव्यसेन मुनि ने बारह अंग तथा चौदह पूर्वरूप सकल श्रुतज्ञान पढ़ा था, किन्तु उन्हें भाव-श्रमणत्व (भावलिंगी मुनित्व) प्राप्त नहीं हुआ।

---

१. (क) ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः। –साख्यकारिका ५४
(ख) अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगाः।
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाऽध्यासेन रज्जौ जनाः॥
अज्ञानाच्च विकल्पचक्र-करणाद् वातोत्तरंगाब्धिवत्।
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयमभी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः॥ –समयसार कलश ५८

२. (क) महाबंधो भाग १ की प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर), पृ. ६८
(ख) वीरा वेरग्गपरा थोवं पि हु सिक्खिऊण सिज्झंति।
ण हु सिज्झंति विरागेण विणा, पठितेसु वि सव्व-सत्थेसु॥
–परमात्म प्रकाश टीका पृ. २३०

(२) विशुद्ध भाव (निर्मल परिणाम) वाले महाप्रभावशाली शिवभूति मुनिराज ने 'माष-तुष' (उड़द की दाल और छिलका) इस पद को घोटते (रटते हुए) शुद्ध भाव (भेदविज्ञान रूप परिणाम) उड़द और छिलका पृथक् पृथक् है, वैसे मेरा आत्मा भी कर्मरूपी छिलके या कर्मोपाधिक शरीर से भिन्न है, के कारण केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था।[1]

अज्ञान का अर्थ और रहस्य : मोहविशिष्ट मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान

'आप्तमीमांसा' में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है–"मोह-विशिष्ट अर्थात् मिथ्यात्व-युक्त व्यक्ति का ज्ञान अज्ञान है, और उसके बन्ध होता है, किन्तु मोहरहित अथवा मिथ्यात्वरहित व्यक्ति के अल्पज्ञान (थोड़े सम्यग्ज्ञान) से बन्ध नहीं होता। (निष्कर्ष यह है कि) मोहयुक्त व्यक्ति (मिथ्यात्वी) के ज्ञान से बन्ध होता है, इसके विपरीत मोहरहित व्यक्ति को अल्पज्ञान से मोक्ष हो जाता है।"[2]

बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक : सम्यग्ज्ञान की न्यूनाधिकता के साथ नहीं

यहाँ विचारणीय यह है कि बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक (सम्यक्) ज्ञान की न्यूनाधिकता के साथ नहीं है। अतः (सम्यक्) ज्ञान को (मिथ्यात्व रहित ज्ञान को) बन्ध का कारण नहीं माना जा सकता। अतः मोह (मिथ्यात्व) युक्त ज्ञान अज्ञान है, और वही बन्ध का कारण है, मोह (मिथ्यात्व) रहित ज्ञान नहीं। फलितार्थ यही है कि बन्ध का कारण मोहयुक्त अज्ञान है, और मुक्ति का कारण है–मोह का अभावयुक्त ज्ञान; इसके साथ ही अन्वय-व्यतिरेक सुघटित होता है।[3]

मिथ्यात्वमोह-रहित अल्पज्ञान भी अद्भुतशक्तियुक्त

कोई व्यक्ति यदि ज्ञानावरणीय-कर्मोदयवश इतना शास्त्रज्ञ नहीं है, मन्दज्ञानी है, किन्तु विशुद्ध-चारित्री है तो वह मोक्ष का अधिकारी है। सम्यक् चारित्र से समलंकृत मन्दज्ञानी भी केवलज्ञान का अधिकारी हो सकता है बशर्ते कि मोहकर्म का तथा ज्ञान-दर्शनावरणीय कर्म का क्षय हो गया हो। मिथ्यात्व मोह-रहित दशा में यथावश्यक अल्पज्ञान भी अद्भुत-शक्तियुक्त हो जाता है।[4]

---

१. अंगाइं दस य दुण्णिय, चउद्दस-पुव्वाइं सयल-सुयणाणं ।
पढिओ अ भव्वसेणो, ण भाव-समणत्तणं पत्तो ॥
'तुस-मास' घोसंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई, केवलणाणी फुडं जाओ ॥ –भावपाहुड ५२-५३

२. अज्ञानान्मोहिनो बंधो, न ज्ञानाद् वीत-मोहतः ।
ज्ञान-स्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ –आप्तमीमांसा ९८

३. महाबंधो भा. १ की प्रस्तावना पृ. ६९

४. वही, पृ ६८

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान (अज्ञान) ही बंध का आद्य और प्रबल कारण है। कर्मग्रन्थ विज्ञों ने मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का कारण बता कर स्पष्ट कह दिया है, जबकि अज्ञान मिथ्यात्वरूप कारण का कार्य होने से वह अस्पष्ट था, अब स्पष्ट हो गया।

मिथ्यात्व का लक्षण : विविध दृष्टियों से

मिथ्यात्व, अज्ञान (मिथ्याज्ञान), अविद्या, मिथ्यादर्शन, मिथ्यादृष्टि आदि शब्द मिथ्यात्व के ही पर्यायवाची समझने चाहिए। मिथ्यात्व के विषय में जैनाचार्यों ने व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से काफी विश्लेषण और भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है। व्यवहारदृष्टि से मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा–"अदेव (जो देवाधिदेव वीतराग नहीं है उन) में देव-बुद्धि, अगुरु (जो निर्ग्रन्थ गुरु नहीं हैं, उन) में गुरु-बुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि रखना मिथ्यात्व है, क्योंकि वह विपरीत रूप है।"[1] समयसार में मिथ्यात्व का लक्षण किया गया है–"विपरीत अभिनिवेश के उपयोग-विकाररूप जो विपरीतश्रद्धान शुद्ध जीवादि पदार्थों के विषय में होता है, वह मिथ्यात्व है।"[2] कर्मबन्ध की टीका में इसका स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा गया है–जहाँ राग-द्वेष-मोहरूप कलंकों (दोषों) से युक्त होने से जो अदेव हैं, उनके प्रति देवबुद्धि हो, जो धर्मज्ञ, धर्मपरायण, धर्माचरणकर्ता तथा जीवों को धर्मशास्त्र का उपदेशकर्ता हो, वह गुरु है, इसके विपरीत हो वह अगुरु है। ऐसे अगुरु के प्रति गुरुबुद्धि हो, तथा जिसमें अहिंसा, संयम, तप, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य इत्यादि सद्धर्म के तत्त्व न हों, उस अधर्म के प्रति धर्मबुद्धि हो, वहाँ मिथ्यात्व है।[3] 'धर्म संग्रह' में तत्त्वविषयक मिथ्यात्व का लक्षण कहा गया है–"अतत्त्वों आदि के प्रति तत्व आदि का अभिनिवेश (हठाग्रह-दुराग्रह) होना मिथ्यात्व है।"[4] जैसे–सर्वज्ञ वीतराग प्रभु ने जीवादि नौ तत्त्वों, षट्द्रव्यों तथा आत्मवाद, कर्मवाद, क्रियावाद, लोकवाद, मोक्षमार्ग आदि के विषय में व्यवहार-निश्चय दृष्टि से जैसा प्ररूपण-प्रतिपादन किया है, उससे विपरीत, अभिनिवेश एवं दुराग्रहपूर्वक एकान्त एवं प्रमाण-नय-निरपेक्ष कथन एवं श्रद्धान करना मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है। अथवा मूलाचार के शब्दों में–

---

१. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥ –योगशास्त्र २/३

२. विपरीताभिनिवेशोपयोग-विकाररूपं शुद्ध जीवादि पदार्थ विषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वम्।
–समयसार जय. वृ. ९५

३. राग-द्वेष-मोहादिकलंकाङ्कितेऽदेवेऽपि देवबुद्धिः; धर्मज्ञो धर्मकर्ता च सदा धर्म-परायणः।
सत्वानां धर्मशास्त्रोपदेशको गुरूच्यते; इत्यादि-प्रतिपादित-गुरुलक्षण- विलक्षणेऽगुरावपिगुरुबुद्धिः,
संयम-सूनृत-शौच-ब्रह्म-सत्यादि-स्वरूप-धर्म-प्रतिपक्षेऽधर्मे धर्मबुद्धिरिति मिथ्यात्वम्।
–कर्म-विपाक (दे. स्वो. वृ. ९६)

४. मिथ्यात्वं अतत्त्वादिषु तत्त्वार्थाभिनिवेशः। –धर्मसंग्रह (म. वृ.) १५

"सर्वज्ञ-भाषित पदार्थों के प्रति विमोह (मूढता), संशय, विपर्यय, एवं अनध्यवसाय होना मिथ्यात्व है।"[1] तत्त्वार्थ श्रुत-सागरी वृत्ति में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है- दर्शनमोहनीय के उदय से सर्वज्ञ वीतराग-प्रणीत सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप से उपलक्षित मोक्षमार्ग से पराङ्मुख होकर तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रति निरुत्सुक एवं पराङ्मुख आत्मा का अशुद्ध तत्त्वों के परिणामस्वरूप हिताहित-विवेकविकल एवं जड़बुद्धि हो जाना मिथ्यात्व है।[2]

आन्तरिक मिथ्यात्व का लक्षण और स्वरूप

आन्तरिक मिथ्यात्व का लक्षण धवला में इस प्रकार किया गया है-"जिसके उदय से आत्मा, आगम और पदार्थों पर अश्रद्धा होती है, वह मिथ्यात्व है।" युक्त्यनुशासन में कहा गया है-"स्व-धर्म में अभिनिवेश, अथवा एकान्त धर्माभिनिवेश जैसे कि यह सर्वथा नित्य ही है, कथञ्चित् अनित्य नहीं, इत्यादि प्रकार से मिथ्याश्रद्धान मिथ्यादर्शन होता है।" आवश्यकनिर्युक्ति में भी कहा गया है-"मिथ्यात्वमोहनीय कर्म-पुद्गलों के सान्निध्य-विशेष से आत्मा का वैसा (विपरीत) परिणाम होना मिथ्यात्व है।" अविद्यारूप मिथ्यात्व का लक्षण इस प्रकार है-"अनित्य को नित्य, अशुचि (अपवित्र-अशुद्ध) को शुचि (पवित्र या शुद्ध), दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा मानना और कहना ही अविद्यारूप मिथ्यात्व है।[3]

निश्चय दृष्टि से आत्मा तथा आत्मगुणों से भिन्न सजीव-निर्जीव परपदार्थों को विभावों (क्रोधादि) को अपने मानना मिथ्यात्व है। जीव के आत्मश्रद्धान में विपरीत मान्यता-उलटी श्रद्धा अर्थात्-वस्तु का जैसा स्वभाव नहीं है, स्वरूप नहीं है, वैसा मानना, तथा वस्तु जैसी है, उसे वैसी न मानना यही मिथ्यात्व है।[4]

मिथ्यात्व में प्रवृत्त होने के दो प्रमुख कारण

मिथ्यात्व में प्रवृत्त होने के दो मुख्य कारण हैं-(१) अन्तरंग और (२) बहिरंग। मिथ्यात्व का अन्तरंग कारण है-अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का उदय और त्रिविध

---

१. सर्वज्ञ-भाषित-पदार्थेषु विमोह-संशय-विपर्यगमनध्यवसायरूपो मिथ्यात्वम्। -मूलाचार वृ. ५-४०

२. न्यदुदयात् सर्वज्ञ-वीतराग-प्रणीत-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-लक्षणोपलक्षित-मोक्षमार्ग- पराङ्मुखः सन्नात्मा तत्त्वार्थश्रद्धान-निरुत्सुकः तत्त्वार्थश्रद्धान पराङ्मुखः अशुद्ध-तत्व-परिणामः सन् हिताहित-विवेक-विकलः जडादिरूपतयाऽवतिष्ठते तन्मिथ्यात्वं नाम...। -त. वृ. श्रुत. ८/९

३. (क) जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्धुप्पायय कम्मं मिच्छत्तं णाम। -धवला पु. १३, पृ ३५९

(ख) एकान्तधर्मेऽभिनिवेशः एकान्तधर्माभिनिवेशः, नित्यमेव सर्वथा, न कथंचिदनित्यमित्यादि मिथ्यात्वश्रद्धानम्। -युक्त्यनुशासन टी. ५२

(ग) मिथ्यात्वमोहनीय कर्म-पुद्गल-सान्निध्य-विशेषादात्म-परिणामो मिथ्यात्वम्। -आवश्यक नि. हरि. वृ. १२५०

(घ) अनित्याशुचि-दुःखात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्म-ख्यातिरविद्या। -योगदर्शन व्यासभाष्य

४. वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि (डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री), पृ. १३

मोहनीय कर्म (मिथ्यात्वमोह, सम्यक्त्वमोह और मिश्रमोह) का बन्धन। ये सातों सम्यक्त्व के घातक और मिथ्यात्व के उत्पादक और उत्तेजक हैं। इसलिए चारित्र प्राभृत में इन्हें 'सप्तार्घि' कहा है। मिथ्यात्व के दो बहिरंग कारण हैं–अज्ञान और मोह।[1]

विपरीत मान्यता के चार प्रमुख बिन्दु : मिथ्यात्व के आधार

विपरीत मान्यता के चार प्रमुख बिन्दु हैं, जिन पर मिथ्यात्व आधारित है–

(१) स्व-पर की एकत्वबुद्धि, अर्थात्–पर को अपने (आत्मा के) स्वभाव से भिन्न न समझना, दोनों को एक मानना।

(२) अहंबुद्धि या पर-स्वामित्व की बुद्धि। स्पष्ट शब्दों में कहें तो अपने आपको संसार की सजीव-निर्जीव वस्तुओं का मालिक मानना।

(३) 'पर' में कर्तृत्व-बुद्धि, अर्थात्–स्वयं को संसार की वस्तुओं का कर्ता-निर्माता मानना।

(४) 'पर' के भोक्तृत्व भाव की बुद्धि। स्पष्टतः कहें तो परपदार्थों का उपभोक्ता मैं हूँ, ऐसा समझना।[2]

विपरीत दर्शन का फलित दो प्रकार का

विपरीत दर्शन दो प्रकार का फलित होता है–(१) वस्तु-विषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और (२) वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे में इतना ही अन्तर है कि पहला बिलकुल मूढ़दशा में भी हो सकता है, जबकि दूसरा विचारदशा में ही होता है। विचारशक्ति का विकास होने पर भी अभिनिवेशपूर्वक जब किसी एक मान्यता, दृष्टि या आग्रह को पकड़ लिया जाता है, तब अतत्त्व में पक्षपात होने के कारण वह दृष्टि मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व कहलाती है; जो उपदेशजन्य होने से अभिगृहीत कहलाता है। जब तक विचारदशा जागृत नहीं होती, तब तक अनादिकालीन आवरण होने के कारण केवल मूढ़ता होती है। उस स्थिति में न तो तत्त्व का श्रद्धान होता है और न अतत्त्व का। मात्र मूर्च्छित दशा होने से उसे तत्त्व का अश्रद्धान कहा जाता है। वह दशा नैसर्गिक या उपदेश निरपेक्ष होने से अनभिगृहीत मिथ्यात्व दृष्टि कही जाती है।[3]

मिथ्यात्व के उत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रकार : नैसर्गिक एवं परोपदेश निमित्तक

इसलिए एक जैनाचार्य ने उत्पत्ति की दृष्टि से मिथ्यात्व दो प्रकार का बताया है–(१) नैसर्गिक अथवा अनर्जित और (२) परोपदेशपूर्वक या अर्जित मिथ्यात्व। तत्त्वार्थ

१. (क) सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन (अशोकमुनि), पृ. ४४२
(ख) चारित्र प्राभृत गा. १७
२. वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि, पृ. १४
३. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं सुखलालजी), पृ. १९३

राजवार्तिक में इनका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि नैसर्गिक मिथ्यात एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, म्लेच्छ, शबर पुलिन्द आदि स्वामियों के भेद से अनेक प्रकार का है।

परोपदेश निमित्तक के चार और ३६३ भेद

सर्वार्थसिद्धि में परोपदेशनिमित्तक मिथ्यात्व चार प्रकार का बताया गया है। (१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) विनयवादी और (४) अज्ञानवादी। यों तो परोपदेशनिमित्तक मिथ्यात्व के परिणामों की दृष्टि से संख्यात असंख्यात तथा अनुभाग की दृष्टि से अनन्त विकल्प हो सकते हैं। परन्तु इस मिथ्यात्व के पूर्वोक्त मुख्य ४ भेदों के ३६३ उपभेद होते हैं। इन मुख्य चारों के दर्शन को मिथ्यादर्शन इसलिये कहा गया है कि इन्हें एकान्तरूप से अपने मत का हठाग्रह है।[1]

क्रियावादी मिथ्यात्व-क्रियावादी एकान्तरूप से कहते हैं-जीवादि ९ पदार्थ एकान्तरूप से हैं ही। ऐसा एकान्तरूप से कहने का अर्थ होगा—जीवादि ही पदार्थ हैं। ऐसी स्थिति में पर की अपेक्षा से वे सत् नहीं भी हैं; ऐसा नहीं कहा जा सकेगा। ऐसा होने से जगत् के सभी पदार्थ सत् हो जाएँगे। इस क्रियावाद-मिथ्यात्व के नौ तत्त्वों पर स्वतः परतः, फिर नित्य-अनित्य इन दो भेदों की स्थापना ९×२×२=३६ भेद हुए, इन पर काल स्वभाव आदि पांच भेदों परक स्थापना करने से ३६×५=१८० भेद क्रियावाद के हुए।

अक्रियावादी मिथ्यात्व—अक्रियावादी कहते हैं—जीवादि पदार्थ सर्वथा नहीं हैं। यहाँ एकान्तरूप से जीवादि ७ पदार्थों का सर्वथा निषेध किया गया है। उसके बाद स्वतः परतः भेद करने से ७×२=१४ भेद हुए। उस पर काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, ईश्वर और आत्मा इन ६ पदों के साथ गुणा करने से ८४ भेद अक्रियावादी मिथ्यात्व के होते हैं। क्रियावादी आत्मा, कर्मफल आदि को मानते हैं जबकि अक्रियावादी इन्हें बिलकुल नहीं मानते।

विनयवादी मिथ्यात्व-विनयवादी सर्वत्र, सभी अवस्थाओं में सबका विनय करना ही एकान्त एकमात्र धर्म मानते हैं, और इसी से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं। गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी स्थलचर, खेचर, जलचर आदि समस्त प्राणियों को नमस्कार करते रहना ही विनयवाद है। इनके ३२ भेद इस प्रकार हैं-देव, राजा, यति, ज्ञाति, वृद्ध, अधम, माता और पिता, इन आठों का मन, वचन, काया और दान, यों चार प्रकार से विनय करना। यों ८×४=३२ भेद हुए।[2]

अज्ञानवादी मिथ्यात्व—जो अज्ञान को ही एकमात्र श्रेयस्कर मानते हैं, तथा ज्ञान का सर्वथा विरोध करते हैं, वे अज्ञानवादी हैं। इनके ६७ भेद इस प्रकार है,—जीवादि

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद आचार्य), ८/१/३७५/१
(ख) राजवार्तिक ८/१/६, तथा ८/१/१९

२. इनकी विशेष व्याख्या नन्दीसूत्र, सूत्रकृतांग टीका, तथा पंचसंग्रह आदि में देखें।

नौ पदार्थों को सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद्-अवक्तव्य, असद्-अवक्तव्य एवं सद्-असद्-अवक्तव्य, इन सात भंगों से गुणा करने से ९×७=६३ हुए, फिर सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य, इन ४ भेदों को मिलाने से ६३+४=६७ भेद होते हैं।

क्रियावाद आदि चारों को मिथ्यात्व क्यों कहा जाता है?

क्रियावाद को मिथ्यात्व इसलिए कहा गया है कि इनकी एकान्त मान्यता है कि जीव को पाप-पुण्यरूप क्रिया लगती रहती है। इस क्रिया के निमित्त से जीव लोक-परलोक को स्वीकार करता है। क्रियावादी एकमात्र क्रिया की ही उपयोगिता स्वीकारते हैं, ज्ञान और दर्शन की उत्थापना करते हैं।

अक्रियावाद की एकान्त मान्यता है कि जगत् के समस्त पदार्थ, यहाँ तक कि आत्मा भी निष्क्रिय–अस्थिर है। उनमें पुण्य-पाप की क्रिया सम्भव नहीं है। किसी के मतानुसार आत्मा आकाशवत् निराकार होने से पुण्य-पाप-क्रिया नहीं कर सकती। किसी के मत से–यह आत्मा पंचभूतों से समुत्पन्न है। मृत्यु होने पर पाँचों तत्व अपने-अपने में विलीन हो जाते हैं। अतः पंचभूतों से भिन्न न आत्मा है, न ही परमात्मा, न ही स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप क्रिया है। जो इनकी प्ररूपणा करते हैं, वे जगत् को ठगते हैं। अत; इन क्रियाओं के भ्रम में न पड़ो, खाओ-पीओ मौज उड़ाओ। इस एकान्त हठाग्रही मान्यता के कारण अक्रियावाद मिथ्यात्व है।

विनयवाद इसलिए मिथ्यात्व है कि विनय के नाम पर इसमें खुशामदी, चापलूसी, जीहजूरी, ठकुरसुहाती आदि चलते हैं। सबके सामने झुककर, स्वयं को हीन मानकर चलना ही इस वाद का लक्ष्य है। किसी की गलत बात को भी प्रगट न करना, उत्कृष्ट को उत्कृष्ट और निकृष्ट को निकृष्ट भी न कहना, तथाकथित विनयवाद का मिथ्यात्व है।

अज्ञानवाद को मिथ्यात्व इसलिए कहा जाता है कि इसमें अज्ञान को कल्याणकारी और उत्तम माना जाता है। इसका कहना है–ज्ञान ही सब अनर्थों की जड़ है। ज्ञानवान् होगा, वह विवाद, कुतर्क, तनातनी, संघर्ष, वाक्कलह, द्वेष आदि बढ़ाएगा। विरोधी पक्ष का बुरा सोचता है। इससे तो हम अज्ञानी अच्छे ! न जानते हैं, न तानते हैं। हम पुण्य-पाप को जानते समझते भी नहीं, इसलिए हमें दोष भी न लगेगा, द्वेष और संघर्ष भी न होगा।

ये चारों अभिगृहीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत क्यों?

इन चारों एकान्तवादी वादों को अभिगृहीत या आभिग्रहिक मिथ्यात्व इसलिए कहते हैं कि इस मिथ्यात्व से ग्रस्त व्यक्ति एकान्त पूर्वाग्रही या हठाग्रही होते हैं। वे किसी भी निर्दोष देवाधिदेव, निर्ग्रन्थ गुरु या सद्धर्मतत्त्व की बात नहीं मानते। जिनेन्द्रवाणी भी नहीं सुनते। न ही सत्यासत्य का निर्णय करते हैं। वे लकीर के फकीर, रूढ़िग्रस्त लोग बाप-दादों की गलत परम्परा से चिपटे रहते हैं। वे कहते हैं, हमारे माने

हुए सम्प्रदाय, या पंथ में बड़े बड़े विद्वान, धनिक एवं सत्ताधीश हैं, क्या वे सभी मूर्ख हैं? ऐसी मिथ्यात्वग्रस्त आत्माएँ धर्म के नाम पर पाप करने में नहीं हिचकिचातीं।[1]

दृष्टि-विपर्यास की अपेक्षा से मिथ्यात्व के पांच प्रकार

वस्तुतः मिथ्यात्व एक प्रकार का दृष्टि-विपर्यास है। इसके कारण मोहकर्मवश जीव को सारी ही बातें उलटी नजर आती हैं। उसकी मान्यता और बुद्धि भी विपरीत बन जाती है। उसका सोचना, मानना, जानना और आचरण सभी विपरीत हो जाते हैं। इसे लेकर कर्मग्रन्थ में मिथ्यात्व के पांच प्रकार बताये हैं–(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) सांशयिक और (५) अनाभोगिक।[2]

आभिग्रहिक या अभिगृहीत एवं अनभिगृहीत या अनाभिग्रहिक का स्वरूप बता चुके हैं। अभिगृहीत मिथ्यात्व की अपेक्षा अनभिगृहीत मिथ्यात्व अधिक भयंकर होता है। क्योंकि उसमें किसी प्रकार की विचारदशा ही नहीं रहती, सतत मूढ़दशा रहती है। विचारशील व्यक्ति के लिए अभिगृहीत मिथ्यात्व भले ही भयंकर हो, परन्तु उसमें विचार और विकास सीधी (यथार्थ) दिशा में परिवर्तित होने का अवकाश रहता है, मगर अनभिगृहीत मिथ्यात्व में तो ऐसा अवकाश कतई नहीं रहता। इन दोनों की क्रमशः तीव्रज्वर और दीर्घकाल-स्थायी मन्दज्वर से तुलना की जा सकती है।[3]

अभिगृहीत मिथ्यात्व में आत्मा, परमात्मा आदि के स्वरूप के विषय में विपर्यास होता है। जैसे कि सूत्रकृतांगसूत्र में बताया गया है–कई दार्शनिक आत्मा को तो मानते हैं, परन्तु देह को ही आत्मा मानते हैं, कई देह, इन्द्रिय, मन आदि को आत्मा मानते हैं, कई पंचभूतों से आत्मा को उत्पन्न मानते हैं, वे आत्मा को पंचभूतात्मक मानते हैं। कई अकारकवादी सांख्य आत्मा को कर्ता नहीं, केवल भोक्ता मानते हैं, वे प्रकृति को ही कर्त्री मानते हैं। कई आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य मानते हैं, कई क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिक आत्मा को क्षणभंगुर मानते हैं, क्षणस्थायी मानते हैं। कई वैदिक दार्शनिक आत्मा को चार धातुओं से निष्पन्न मानते हैं। इन सबको यहाँ क्रमशः तज्जीव-तच्छरीरवादी, बहिरात्मवादी, भूतचैतन्यवादी, अकारकवादी, क्षणिकवादी, चतुर्धातुकवादी मानकर गृहीतमिथ्यात्व से ग्रस्त कहा गया है।[4]

इसी प्रकार परमात्मा (ईश्वर) के विषय में भी सूत्रकृतांगसूत्र में विभिन्न मिथ्यात्वग्रस्त दर्शनों का निरूपण किया गया है, उनमें कई जगत्कर्तृत्ववादी, कई त्रैराशिक अर्थात् अवतारवादी, कई विष्णु, महेश्वर आदि द्वारा जगत् की विभिन्न प्रकार से रचना का प्रतिपादन करने वाले बताये गए हैं।[5]

---

१. जैनतत्त्वप्रकाश (पूज्य अमोलककृषिजी महाराज) से भावांशग्रहण, पृ. ४१७-४१८
२. अभिग्गहियं अणभिग्गहियं, तह अभिनिवेसियं चेव।
संसइयमणाभोगं मिच्छत्तं पंचहा भणियं ॥
३. सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन
४. देखें–सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध में अ. १, उ. १ में ११ से २७ गाथा तक
५. देखें, सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. १, उ. ३ में गा. ५ से १६ तक

इसके अतिरिक्त कहीं कहीं तत्त्व में अरुचि, अतत्त्वाभिनिवेश और तत्त्व में संशय, ये तीन भेद भी प्रतिपादित किये गए हैं।

हिंसा, असत्य, पशुबलि, मांसाहार, मद्यपान आदि मिथ्योपदेश देने वाले भी आभिग्रहिक मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं। हिंसादि ग्रस्त भी मुक्त हो जाते हैं, ऐसा कहने वाले भी मिथ्यात्वी हैं। स्थानांगसूत्र में मिथ्यात्व के ये दो प्रकार मुख्य रूप से बताए हैं।[1]

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व–इन दो मिथ्यात्वों के पश्चात् तीसरा प्रकार आभिनिवेशिक मिथ्यात्व का है। कई मताग्रही इतने हठवादी होते हैं कि सत्य मार्ग जानने पर भी अपनी मिथ्या मान्यताओं और गलत परम्पराओं तथा अहितकर रूढ़ियों का पल्ला पकड़े रहते हैं। अहंकारवश वे अपनी असत्य बात को पकड़े रहते हैं। कोई हितैषी महात्मा उन्हें न्याय एवं विनयपूर्वक समझाते हैं, फिर भी वे कुतर्क, कुहेतु और कुयुक्तियाँ प्रस्तुत करके अपनी मिथ्यामान्यता को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे उत्सूत्र-प्ररूपणा करने से बिलकुल नहीं हिचकिचाते। ऐसे व्यक्ति आभिनिवेशिक मिथ्यात्व से ग्रस्त रहते हैं।

सांशयिक मिथ्यात्व–अपने अज्ञान एवं मोह के कारण कई जिनवाणी का यथार्थ अर्थ न समझ कर संशय में डूबे रहते हैं। जैनदर्शन की गहन बात को, वे मन्दबुद्धि एवं संशयात्मक मति के कारण समझ में न आने से आधुनिक विज्ञान से सम्मत न होने पर या अन्य धर्म-दर्शन की मान्यताओं से विरुद्ध मालूम होने पर शंका करने लगते हैं। वे कांक्षामोहनीय कर्मवश भगवद्वाणी में इस प्रकार संशय करने लगते हैं– पता नहीं, ऐसी प्ररूपणा क्यों की गई? भगवतीसूत्र में कांक्षामोहनीय से ग्रस्त व्यक्ति को मिथ्यात्व-ग्रस्त बताया गया है। वे जिज्ञासु बुद्धि से किसी तत्त्वज्ञ एवं अनेकान्त रहस्य ज्ञाता महात्मा से निर्णय नहीं कर पाते। ऐसी वृत्ति-प्रवृत्ति सांशयिक मिथ्यात्व है। सूत्रकृतांगसूत्र में हिंसा, साधुचर्या आदि के विषय में भ्रान्ति होना भी सांशयिक मिथ्यात्व माना गया है।[2]

अनाभोग मिथ्यात्व–जो जीव सतत मूढ़दशा में, अज्ञान में पड़े रहते हैं, अथवा तत्त्व-अतत्त्व को न समझने के कारण भोलेपन या अनजान में पड़े रहते हैं, वे अनाभोग मिथ्यात्व से ग्रस्त होते हैं। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय

---

१. (क) सूत्रकृतांग श्रु. १, अ.१, उ.४ सूत्र १ से ४ तक
(ख) मिच्छत्तं दुविहं पण्णता तं जहा–आभिग्गहियं अणाभिग्गहियं च। –स्था.स्थान २ उ.१

२. (क) जैनतत्त्व प्रकाश से भावांशग्रहण पृ. ४२१-४२२
(ख) देखें, भगवतीसूत्र श.१, उ.३, सू.११२ से ११८ तक कांक्षामोहनीय कर्म के सम्बन्ध में।
(ग) देखें, सूत्रकृतांग श्रु.१, अ.१ में गा. १ से ४ तक हिंसादिप्रेरक मिथ्योपदेश
(घ) वही, सूत्रकृतांग श्रु.१, अ.२, उ.१ में
(ङ) आचारांग श्रु.१, अ.१, उ.४, सू.९-१० में अहिंसा तथा साधुचर्या के विषय में भ्रान्तिरूप मिथ्यात्व का कारण

और बहुत-से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को लगता है। पूर्वोक्त चार मिथ्यात्व वाले जीवों की अपेक्षा अनाभोग मिथ्यात्व वाले जीव अधिक हैं।[1]

पूर्वोक्त पांच भेद ही प्रकारान्तर से भी सूचित किये गए हैं–(१) एकान्त, (२) विनय, (३) विपरीत, (४) संशय और (५) अज्ञान। कर्मोपचय एवं कर्मबन्ध का निषेध तथा लोक-अलोक, जीव-अजीव आदि ३२ बातों का सर्वथा निषेध भी एकान्त, विपरीत एवं अज्ञान मिथ्यात्व के अन्तर्गत है।

एक आचार्य ने मिथ्यात्व के सात भेद किये हैं, वे भी इन्हीं पांच में गतार्थ हो जाते हैं–(१) एकान्तिक, (२) सांशयिक, (३) मूढदृष्टि, (४) नैसर्गिक, (अगृहीत मिथ्यात्व), (५) वैनयिक, (६) विपरीत और (७) व्युग्राहित (गृहीत) मिथ्यात्व।[2]

विपरीत मिथ्यात्व की अपेक्षा से मिथ्यात्व के दस भेद

स्थानांगसूत्र में विपरीत-मिथ्यात्व की दृष्टि से मिथ्यात्व के दस प्रकारों का उल्लेख इस प्रकार है–(१) धर्म में अधर्म संज्ञा, (२) अधर्म में धर्म संज्ञा, (३) मार्ग में कुमार्ग-संज्ञा, (४) कुमार्ग में मार्ग-संज्ञा, (५) जीव में अजीव-संज्ञा, (६) अजीव में जीव-संज्ञा, (७) साधु में असाधु-संज्ञा, (८) असाधु में साधु-संज्ञा, (९) मुक्त में अमुक्त संज्ञा और (१०) अमुक्त में मुक्तसंज्ञा।[3]

मिथ्यात्व के दस भेदों में से कतिपय भेदों का विश्लेषण

'संज्ञा' का अर्थ यहाँ समझना, मानना, श्रद्धा रखना अथवा बुद्धि रखना आदि है। जैसे–हिंसा, असत्य आदि अधर्म हैं, पाप हैं, इन्हें धर्म मानना और कहना–यज्ञ, पूजा, होम आदि में होने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है, ब्राह्मण असत्य बोले तो असत्य नहीं है, इत्यादि सब मिथ्यात्व है। अहिंसा आदि में धर्म है, किन्तु अपने सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त, राष्ट्र, पंथ, मार्ग आदि के नाम पर, उसकी उन्नति (अवनति) एवं प्रतिष्ठा के लिए दूसरे धर्म सम्प्रदाय, पंथ, जाति, प्रान्त, राष्ट्र, समाज, आदि के व्यक्तियों को सताने, मारने, मिथ्यादोषारोपण करने, निन्दा-चुगली करने, अपशब्द बोलने, सम्यक्त्व बदलाने, बरगलाने आदि हिंसादिजनक कार्यों में धर्म समझना भी मिथ्यात्व है। इसी प्रकार पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय आदि स्थावर जीवों में जीव (चेतना) होते हुए भी उसे अजीव समझना या मानना मिथ्यात्व है। सूत्रकृतांग में उन लोगों की मिथ्या मान्यताओं को चुनौती दी गई है, जो नदी आदि के जल में स्नानादि करने से शुद्धि या पाप मुक्ति मानते थे। इसी प्रकार उन बौद्धों और हस्तितापसों को भी करारा उत्तर दिया गया है, जो बौद्ध कहते थे–अमुक वध्य प्राणी (पिता या पुत्र) को जड़यक्षु मानने पर हिंसा नहीं होती, अथवा शाक्य भिक्षुओं को अपने लिये मारे हुए पशु का मांस भोजन देने से पुण्य और स्वर्ग मानते थे। जो हस्तितापस एक हाथी को मार कर कई महीनों तक उस पर निर्वाह करने की

१. जैन तत्त्व प्रकाश से भावांश ग्रहण, पृ. ४८३
२. सम्यग्दर्शन: एक अनुशीलन, पृ. ४४७-४४८
३. स्थानांग सूत्र, स्थान १०, सू. ७३४

हेंसा को निर्दोष मानते थे, उन्हें भी सूत्रकृतांग में यथार्थ उत्तर दिया गया है। इसी प्रकार पुण्य को धर्म (कर्मक्षय का कारण) मानकर उससे मोक्षप्राप्ति मानने वालों को मिथ्यात्वी कहकर संवरनिर्जरारूप धर्म को ही कर्म से मुक्त होने का यथार्थ उपाय बताया है।[1]

मिथ्यात्व के शेष १० भेदों का विश्लेषण

इस प्रकार मिथ्यात्व के ५+१०=१५ भेदों का संक्षिप्त वर्णन हुआ। शेष १० भेद इस प्रकार हैं–(१६) लौकिक मिथ्यात्व, (१७) लोकोत्तर-मिथ्यात्व, (१८) कुप्रावचनिक मिथ्यात्व, (१९) न्यून-मिथ्यात्व, (२०) अधिक मिथ्यात्व, (२१) विपरीत मिथ्यात्व, (२२) अक्रिया-मिथ्यात्व, (२३) अज्ञान-मिथ्यात्व, (२४) अविनय-मिथ्यात्व और (२५) आशातना मिथ्यात्व। इस प्रकार पूर्वोक्त १५ और इन दस भेदों को मिलाने से मिथ्यात्व के कुल २५ भेद हो जाते हैं।

लौकिक मिथ्यात्व ४ प्रकार का है–देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता और लोकमूढ़ता। इसी प्रकार लोकोत्तर मिथ्यात्व भी देवगत, गुरुगत, और धर्मगत होते हैं। अर्थात् इन लोकोत्तर पदार्थों से लौकिक या भौतिक वस्तुओं की याचना करना, उसके लिए मनौती, चढ़ावा आदि करना लोकोत्तर मिथ्यात्व है। कुप्रावचनिक मिथ्यात्व भी देवगत, गुरुगत, धर्मगत यों तीन प्रकार के होते हैं। हरि, हर, ब्रह्मा आदि अवीतरागी देवों को मोक्षप्राप्ति के लिए मानना-पूजना, तथैव बाबरा, जोगी, भंगेड़ी, तांत्रिक आदि असद्गुरुओं को सद्गुरु मानकर मोक्ष प्राप्ति के लिए उनकी भक्ति, पूजा, श्रद्धा आदि करना एवं अन्य धर्मसम्प्रदायगत सावद्य क्रियाओं को मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से मानना-स्वीकारना धर्मगत कुप्रावचनिक मिथ्यात्व है। जिन वचनों से न्यून, अधिक या विपरीत प्ररूपणा करना न्यून, अधिक तथा विपरीत मिथ्यात्व है। अक्रिया, अज्ञान, अविनय और आशातना मिथ्यात्व नाम से ही प्रसिद्ध है।[2]

काल की अपेक्षा मिथ्यात्व के तीन प्रकार

इस प्रकार मिथ्यात्व के लम्बे-चौड़े परिवार को कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण समझ कर उसके प्रत्येक पहलू से, प्रत्येक कोण से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह नहीं समझना चाहिए कि मिथ्यात्व का कभी अन्त नहीं हो सकेगा। इसी शंका के निवारणार्थ काल की दृष्टि से मिथ्यात्व के तीन प्रकार बताए हैं (१) अनादि-अनन्त (अभव्य जीवों का), (२) अनादिसान्त (भव्य जीवों का) तथा (३) सादि सान्त (एक बार नष्ट होने पर फिर उत्पन्न हो जाना और यथाकाल नष्ट हो जाना)।[3] ● ●

१. (क) मनुस्मृति अ.२
   (ख) सूत्रकृतांग श्रु.२, अ. ६, उ. १, सू. २७ से ४२ तक तथा श्रु.२, अ.६, उ.१ सू.५३-५५ तक एवं सूत्रकृतांग २/५/उ.१, १२ से २९ गा. तक
   (ग) सूत्रकृतांग श्रु.१, अ.६, उ.१ गा.१ से ५ तक
२. (क) कर्मग्रन्थ भा.२ (मरुधरकेसरी) प्रस्तावना पृ. १५
   (ख) जैन तत्व प्रकाश, पृ. ४१९
३. जैन तत्व प्रकाश, पृ. ४०६

८

कर्मबन्ध के मुख्य कारण : एक अनुचिन्तन

बन्धरूप रोग के कारणों को जानना अनिवार्य : क्यों और कैसे ?

यह सर्वानुभूत तथ्य है कि कोई व्यक्ति केवल अपने रोग को ही जान ले, रोग के कारणों को न जाने, तो उस व्यक्ति का रोग दिनोंदिन बढ़ता जाएगा, इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपने दुःख का ही रोना रोता रहे, वह दुःख किन कारणों से उत्पन्न होता है ? इस बात को न जाने, न ही जानने का प्रयत्न करे, वह भी दुःख को दूर करने के बदले, उसे बढ़ाता ही रहेगा। किसी चिकित्सक के पास कोई रोगी आए, उस समय यदि वह चिकित्सक रोगी के कहने मात्र से ही रोग का निश्चय कर ले और उसकी चिकित्सा प्रारम्भ कर दे तो वह उस रोगी के रोग को मिटाने में सफल हो सके, इसमें सन्देह है। इसलिए कुशल चिकित्सक रोग का निदान करने से पहले उस रोग के कारणों का पता लगाता है। तभी वह उस रोग की सफल चिकित्सा करके रोगी को स्वस्थ कर सकता है।[1] कई बार अनाड़ी वैद्य शारीरिक रोग के मानसिक कारणों का पता लगाये बिना ही दवाइयाँ बदल-बदल कर देता रहता है, परन्तु रोग मिटने के बदले दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है। इसलिए कुशल चिकित्सक रोग के बाह्य और आन्तरिक कारणों का पहले पता लगाता है, तभी वह जान पाता है, कि यह रोग क्या है ? इस रोग की सही चिकित्सा क्या है ? आरोग्य-प्राप्ति का हेतु क्या है ? और आरोग्य-प्राप्ति की स्थिति क्या और कैसी होती है ?

इसी प्रकार अध्यात्म-साधना-कुशल आत्मार्थी साधक बन्ध को (इसे किस कर्म का बन्ध है ? इसे) जानने के बाद शीघ्र ही यह पता लगाता है कि इस कर्मबन्ध के क्या और कौन-कौन से कारण हैं ? इतना जानने के पश्चात् ही वह कर्म-रोग की भली-भाँति चिकित्सा कर सकता है। अर्थात्—कर्मबन्ध रूप रोग को जानने के पश्चात् ही वह उक्त बन्धन से मुक्त होने के कौन-कौन-से यथार्थ उपाय हैं ? और बन्धन-मुक्ति का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसे सम्यक्रूप से जानकर कर्मों से आत्मा को मुक्त कर

---

१ तुलना करें—योगदर्शन में दुःख के सम्बन्ध में चतुर्व्यूह बताया गया है—"हेयः, हेयहेतुः, हानं, हानोपायः।

सकता है। कर्मबन्ध के कारणों को जाने बिना न तो वह उन कारणों से दूर रह सकता है, न ही नये आते हुए कर्मों को सावधानीपूर्वक रोक (संवर कर) सकता है और न ही उन पूर्वबद्ध कर्मों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम (निर्जरा) कर सकता है। इसलिए कर्म या कर्मबन्ध को जानना ही पर्याप्त नहीं है; किन्तु उसके साथ ही कर्मबन्ध या कर्म के हेतुओं-कारणों को जानना भी अत्यावश्यक है। योगीन्दुदेव ने भी कहा है-"जो जीव बन्ध और मोक्ष के कारण को नहीं जानता, वह मोहवश पुण्य और पाप दोनों बन्धों को करता है।"[1] वस्तुतः सामान्य कर्म-बन्ध के हेतुओं पर विचार के पश्चात् ही कर्म-विशेष के पृथक-पृथक हेतुओं पर विचार किया जाना चाहिए।

कर्मबन्ध को जानने मात्र से कर्मबन्ध से मुक्ति नहीं हो पाती

हमने पूर्व प्रकरणों में कर्मबन्ध के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में पर्याप्त चर्चा की है। समयसार का स्पष्ट कथन है कि-कर्मबन्ध के अस्तित्व, स्वरूप तथा बन्धन के तीव्र-मन्द स्वभाव, एवं काल-सीमा को जानता हुआ भी जो व्यक्ति बन्धन को काटने का पुरुषार्थ नहीं करता है, और बन्धन के वश (अधीन) होकर पड़ा रहता है, तथा वह बन्धनों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप भेदों को भी जानता है, फिर भी वह उस कर्म-बन्ध से छुटकारा नहीं पाता। उससे छुटकारा वह तभी पा सकता है, जब वह आत्मा बंध के कारणभूत रागादि को दूर करके शुद्ध होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति बाह्य बन्धन से बद्ध है, वह यदि उन बन्धनों का ही विचार करता रहे तो वह भी उक्त बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता, वैसे ही कर्मबन्ध से बद्ध व्यक्ति भी केवल कर्मबन्ध का विचार ही करता रहे तो, वह भी कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो पाता। जैसे बन्धन से बद्ध व्यक्ति उस बंधन को काटकर ही बन्धन से मुक्त हो पाता है, वैसे ही कर्मबन्ध से बँधा हुआ व्यक्ति भी अपनी प्रज्ञारूपी छैनी से बन्ध को काट कर, यानी आत्मा (जीव) और बन्ध के कारणों पर विचार करके उन्हें पृथक्-पृथक् करके ही, उस कर्मबन्ध से मुक्त हो सकता है।[2] निष्कर्ष यह है कि कर्मबन्ध के कारणों को अपनी प्रज्ञा से जानकर ही व्यक्ति कर्मबन्ध को काटने में समर्थ हो सकता है।

---

१. बंधह मोक्खहँ हेउ, णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहिं करइ, जिय पुण्णुवि पाउ वि दोइ ॥ -परमात्मप्रकाश गा. ५२

२. जह णाम को वि पुरिसो, बंधणयम्मि चिरकाल-पडिबद्धो ।
तिव्वं मंद-सहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥
जइ णवि कुणइ च्छेदं, ण मुच्चए बंदणवसो तं ।
कालेण उ बहुएण वि, ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्म-बंधणाणं, पएस-ठिइ-पयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चइ, मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥
जह बंधो चिंतंतो, बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध कराने वाले कारणों का जानना अनिवार्य

यह निश्चित है कि संसारी जीव जब तक कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, तब तक एक भव (जन्म) से दूसरे भव (जन्मान्तर) में परिभ्रमण करता रहता है। इस संसार-परिभ्रमण का मूल कारण है—आत्मा और कर्म का सम्बन्ध या आत्मा के साथ कर्म का बन्ध।[1] जैन कर्म-विज्ञान की भाषा में यों भी कहा जा सकता है—कर्मवर्गणाओं का आत्मा के साथ श्लेष संयोग-सम्बन्ध। इसीलिए आत्मा के साथ कर्मवर्गणा का सम्बन्ध (बन्ध) कराने वाले कौन-कौन-से कारण हैं ? इस पर विचार करना अनिवार्य बताया है।

दुःखमय संसार जानकर बन्ध के कारणों पर विचार आवश्यक

अतः आत्मार्थी मुमुक्षुओं को कर्मबन्ध रूपी जड़ों को सींचने वाले उन कारणों को जानना चाहिए क्योंकि कर्मबन्ध चाहे वह शुभरूप हो या अशुभरूप, सदैव दुःखरूप है, क्योंकि जन्म, जरा, मरण, रोगादिमय संसार को भगवान् महावीर ने सदैव दुःखरूप बताया है। इस कारण इस दुःखरूप संसार से मुक्त होने के लिए भी कर्ममय संसार के कारणों का जानना आवश्यक है। 'प्रशमरति' में राग-द्वेषादि को भवसन्तति का मूल बताया गया है जिसके विषय में हमने 'कर्मबन्ध के बीज : राग और द्वेष' नामक प्रकरण में विस्तृत चिन्तन प्रस्तुत किया है।[2] परन्तु कर्मबन्ध के कारणों पर विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न कर्मविज्ञान-विशेषज्ञों ने अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है, उसे भी जानना आवश्यक है।

बन्ध व बन्ध के कारणों को जानने पर ही कर्मों को तोड़ना सुशक्य

यही कारण है कि सूत्रकृतांग में सर्वप्रथम इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि "सर्वप्रथम साधक बन्धन (कर्मबन्ध) का परिज्ञान (उसके कारणों आदि का

जह बंधे चिंतेज्ज य, बंधणबद्धं उ जावइ विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतेज्ज य, जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥
बंधाणं च सहावं वियाणिआ, अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जति, सो कम्म-विमोक्खणं कुणई ॥२९३॥
जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णा-छेयणएण उ, छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥ —समयसार मूल

१. (क) जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियट्टइ । —उत्तराध्ययन अ. ३३, गा. १
(ख) कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं । —उत्तराध्ययन अ. ३२, गा. ७

२. (क) दुक्खं च जाई-मरणं वयंति । —उत्तराध्ययन ३२/७
(ख) जन्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो ॥ —उत्तराध्ययन १९/१५
(ग) कर्ममयः संसारः, संसार-निमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद् राग-द्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम् ॥ —प्रशमरति ५७

सम्यक् ज्ञान) करके समझ-बूझ-पूर्वक कर्मों को तोड़े। वीर प्रभु ने बन्धन (कर्मबन्ध तथा बन्ध का हेतु) किसे कहा है ? किसे (कर्मबन्ध) जानकर जीवकर्म को तोड़े।"[1] इस गाथा का भी यही फलितार्थ है कि साधक कर्मबन्ध और कर्मबन्ध के कारणों को भलीभाँति जानकर ही कर्म और आत्मा के परस्पर बन्ध को तोड़ने में समर्थ हो सकता है।

कर्मबन्ध के कारण क्या-क्या हो सकते हैं ?

न्यायशास्त्र का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि कारण के बिना कार्य नहीं होता। इस दृष्टि से शुभ या अशुभ कोई भी कर्मबन्ध हो, उसके पीछे कोई न कोई कारण अवश्यमेव मिलेगा। कई बार मनुष्य मिथ्यात्व, अविद्या, अज्ञानता एवं मूढ़ता से प्रेरित होकर शुभ-अशुभ कर्म करता रहता है। कई बार मनुष्य शक्ति, बुद्धि एवं अनुकूल परिस्थिति होते हुए भी तथा शास्त्रों और ग्रन्थों के द्वारा हिंसादि के स्वरूप और उनके दुष्परिणामों को जानते हुए भी हिंसादि आस्रवों तथा विषयों के प्रति राग-द्वेष, इष्टानिष्ट के प्रति प्रीति-अप्रीति से विरत नहीं होता। कई दफा प्रमाद, गफलत, मोहनिद्रा, असावधानी और अजागृति के कारण निरर्थक एवं अशुभकर्म कर डालते हैं। कुछ लोग क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों तथा हास्यादि नौ नोकषायों से प्रेरित होकर तीव्र रसपूर्वक कुकृत्य कर बैठते हैं। कई बार इन्द्रियों और मन के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों तथा इष्ट-अनिष्ट संयोगों, व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति प्रीति-अप्रीति या राग-द्वेष करके मन-वचन-काया से हठात् कर्मों का बन्ध कर लेते हैं।

आस्रव और बन्ध के मिथ्यात्वादि पाँचों कारण समान हैं, फिर अन्तर क्यों ?

कर्मग्रन्थ, स्थानांगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि में कर्मबन्ध के पाँच कारण इस प्रकार बताए गए हैं–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।[2] प्रश्न होता है कि समवायांगसूत्र, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) आदि ग्रन्थों में मिथ्यात्वादि पाँचों को आस्रव के कारण बताये गए हैं और स्थानांग, तत्त्वार्थ आदि में इन्हीं मिथ्यात्वादि पाँचों को बन्ध के हेतु बताये गए हैं। दोनों में ये पाँचों कारण समान हैं, फिर आस्रव और बन्ध में क्या अन्तर रहा ?

इसका समाधान अनगार धर्मामृत में इस प्रकार किया गया है कि "आस्रव और बन्ध दोनों के समान कारण होते हुए भी प्रथम क्षण में कर्मस्कन्धों का आगमन-आस्रव होता है; आगमन के पश्चात् द्वितीय क्षणादि में कर्मवर्गणाओं की आत्मप्रदेशों में

---

१. बुज्झिज्ज त्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरे, किंवा जाणं तिउट्टइ ? ॥ –सूत्रकृतांग, श्रु.१, अ.१, उ.१, गा.१

२. (क) पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा–मिच्छत्तं, अविरइ, पमाए, कसाया, जोगा ।
–स्थानांग स्था. ५/२/४१८

(ख) मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगाः बन्धहेतवः । –तत्त्वार्थसूत्र ८/१

अवस्थिति होती है, उसे बन्ध कहते हैं। यही आस्रव और बन्ध इन दोनों में अन्तर है।" यही कारण है कि बन्धरूप कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में स्थित आस्रव कारण होता है। अर्थात्-आस्रव को बन्ध का कारण माना गया है।

दूसरी बात यह है कि "आस्रव में योग की प्रमुखता है और बन्ध में कषायादि की। जैसे-राजसभा में अनुग्रह करने योग्य और निग्रह करने योग्य पुरुषों को प्रवेश कराने में राज्यकर्मचारी मुख्य होता है, किन्तु प्रवेश होने के पश्चात् उन व्यक्तियों को सत्कृत करना या दण्डित करना, इसमें राजाज्ञा मुख्य होती है। इसी प्रकार योग की प्रमुखता से कर्मों के आगमन (आस्रव) का द्वार खोल दिया जाता है; किन्तु उन समागत कर्मों का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह होकर संश्लिष्ट होना, न होना या न्यूनाधिकरूप से बद्ध करना कषायादि की प्रमुखता से होता है।"

गोम्मटसार, समयसार तथा अन्य ग्रन्थों में प्रमाद के सिवाय मिथ्यात्व आदि (कर्मबन्ध के) चार कारण बताये गए हैं, वहाँ भी इसी प्रकार आस्रव और बन्ध का अन्तर समझ लेना चाहिए। अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड में भी इस प्रश्न का सुन्दर समाधान करते हुए कहा गया है-"जिस प्रकार अग्नि में दाहकत्व और पाचकत्व दोनों प्रकार की शक्तियाँ पाई जाती हैं, उसी प्रकार आस्रव और बन्ध में हेतुरूप, जो मिथ्यात्वादि चारों कारण बताये गए हैं, उनमें भी दोनों प्रकार (आस्रवत्व और बन्धत्व) की शक्तियां पाई जाती हैं जो मिथ्यात्व आदि प्रथम समय में आस्रव के (कर्मों के आगमन के) कारण होते हैं, उन्हीं से द्वितीय क्षण में बन्ध होता है। इसलिए पूर्वोक्त कथन में अपेक्षाभेद है, किन्तु देशना-भेद नहीं है।"[1]

कर्मबन्ध के हेतुओं की तीन परम्पराएँ और उनमें परस्पर सामंजस्य

कर्मबन्ध के पूर्वोक्त हेतुओं के सम्बन्ध में तीन परम्पराएँ कर्मवैज्ञानिकों ने प्रस्तुत की हैं-(१) योग और कषाय, (२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, और (३)

---

१. (क) प्रथमक्षणे कर्मस्कन्धानामात्मनमास्रवः आगमनानन्तरं द्वितीयक्षणादौ जीव- प्रदेशेष्ववस्थानं बन्ध इति भेदः। -अनगार धर्मामृत पृ. ११२

(ख) जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ३५६

(ग) आस्रवे योगो मुख्यो, बन्धे च कषायादिः। यथा राजसभायामनुग्राह्य-निग्राह्ययोः प्रवेशने राजादिष्टपुरुषो मुख्यः, तयोरनुग्रह-निग्रह-करणे राजादेशः। -अनगार धर्मामृत पृ. ११२

(घ) एकस्यापीह वह्नेर्दहन - पचन - भस्मात्म - शक्तिद्वयाद्वै।
वह्निः स्याद्दाहकश्च स्व-गुण-बलात् पाचकश्चेति सिद्धेः॥
मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवः स्युः।
पश्चात्तत् कर्मबन्धं प्रतिसमय-समये तैः भवेतां कथञ्चित्॥
नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नाऽस्रवः स्यात्।
आयत्यां स्यात् स बन्धः स्थितमिति समय-पर्यन्तभेदोऽनयोर्वित्॥
-अध्यात्मकमलमार्तण्ड परिच्छेद ४

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। किन्तु इस प्रकार से संख्या में अन्तर होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओं में कोई भिन्नता नहीं है। प्रमाद एक प्रकार से असंयम ही है। अतः उसका समावेश कषाय अथवा अविरति में हो जाता है। इस अपेक्षा से कर्मप्रकृति (कम्मपयडी) आदि ग्रन्थों में सिर्फ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार बन्ध-हेतु कहे गए हैं। इन कारणों पर भी और सूक्ष्मता से विचार करें तो मिथ्यात्व और अविरति, ये दोनों कषाय के वास्तविक स्वरूप से पृथक नहीं प्रतीत होते। इसीलिए कषाय और योग, इन दोनों को मुख्य रूप से बन्ध के हेतु माना गया। योग और कषाय इन दोनों को किस अपेक्षा से संक्षेप में कर्मबन्ध के हेतु कहा गया, इस सम्बन्ध में हमने 'कर्म बन्ध के संक्षेप में दृष्टि से दो कारण : योग और कषाय' निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। जो कर्मबन्ध के सर्वांगीण रूप के विषय में मर्मज्ञ हैं, वे दो कारणों की परम्परा से सर्वांगसहित बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः कषाय और योग, इन दो हेतुओं के कथन की परम्परा किसी एक ही कर्म में सम्भावित प्रकृति आदि चारों बन्धांगों के कारण का पृथक्करण करने के लिए है, जबकि चार और पाँच बन्ध हेतुओं की परम्परा में कोई भिन्नता नहीं है, किन्तु इस परम्परा के पीछे एक उद्देश्य तो यह है कि जिज्ञासुजनों को बन्ध-हेतुओं का विस्तृत रूप से ज्ञान हो जाय, दूसरा उद्देश्य है–पृथक्-पृथक् गुणस्थानों में तरतमभाव को प्राप्त होने वाले कर्मबन्ध के कारणों का स्पष्टीकरण करना।[1]

कर्मबन्ध के पाँच कारणों के निर्देश के पीछे स्पष्ट आशय

कर्मबन्ध के मिथ्यात्वादि पाँच कारणों के निर्देश के पीछे कर्म-विज्ञान-मर्मज्ञों का स्पष्ट आशय है–'आध्यात्मिक विकास के उतार-चढ़ाव को प्रदर्शित करने की भूमिकारूप गुणस्थानों में बँधने वाली कर्म-प्रकृतियों के तरतमभाव के कारण को प्रदर्शित करना। जिस गुणस्थान में जितने अधिक बन्ध हेतु होंगे, उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी अधिक होगा। यह क्रम ऊपर के गुणस्थान से सबसे नीचे के गुणस्थान तक समझना चाहिए। जैसे–जिस गुणस्थान में केवल 'योग' होगा, उसमें कषाय, प्रमाद, अव्रत (अविरति) और मिथ्यात्वजनित बन्ध नहीं होंगे। अतः केवल योग से स्थितिबन्ध एवं अनुभागबन्ध नहीं होगा। जिसके कषाय (अतिमंद) और योग, ये दो होंगे; उन गुणस्थानवर्ती जीवों में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद से जनित बन्ध नहीं होगा। तथैव सर्वविरति और देशविरति नामक गुणस्थानों में मिथ्यात्वजनित बन्ध नहीं होगा, किन्तु प्रमादजनित एवं कषाय-योगजनित बन्ध होगा। सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थानवर्ती जीवों में मिथ्यात्व नहीं होगा, किन्तु अविरति आदि ४ कारण होंगे और मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवों में तो बन्ध के पाँचों ही हेतु होंगे।[2]

१. (क) कर्मग्रन्थ प्रथम (मरुधर केसरी) से भावांशग्रहण, पृ. ८।
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन (पं सुखलाल जी) पृ. १९३।
२. तत्त्वार्थ विवेचन (पं सुखलालजी), पृ. १९३-१९४।

उत्तरोत्तर गुणस्थानों में कर्मबन्ध के हेतु समाप्त होते जाते हैं

मिथ्यात्व से लेकर योग तक पाँचों समस्त कर्मों के सामान्य रूप से बन्ध के कारण हैं। मिथ्यात्व से लेकर योग तक पाँचों हेतुओं में जहाँ पूर्व-पूर्व के बन्ध-हेतु होंगे, वहाँ उसके आगे के सभी बन्ध-हेतु होंगे,[1] यह कर्म सिद्धान्त का नियम है। अर्थात्–मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि चार और अविरति के होने पर प्रमाद आदि शेष तीन अवश्य होंगे। इसी प्रकार प्रमाद के होने पर कषाय और योग अवश्य होंगे। परन्तु जब उत्तर बन्धहेतु होगा, तब पूर्व बन्धहेतु हो और न भी हो। जैसे–अविरति के होने पर द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व नहीं रहेगा; मिथ्यात्व रहेगा केवल प्रथम गुणस्थान में। इसी प्रकार अन्य बन्धहेतुओं के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।[2] गुणस्थान की दृष्टि से ही इन पाँच बन्धहेतुओं का क्रम रखा गया है। प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रबल हेतु है। दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शनसहित अविरति है। पाँचवें-छठे में सम्यग्दर्शनसहित विरति है, किन्तु साथ में प्रमाद है। सातवें से बारहवें तक मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद तो नहीं है, किन्तु दसवें गुणस्थान तक कषाय है, ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय उपशान्त है। बारहवें में मिथ्यात्वादि चारों नहीं हैं, किन्तु योग है; तेरहवें में भी योग है। और चौदहवें गुणस्थान में योग भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, पूर्वोक्त चारों तो पहले से नामशेष हो जाते हैं। इस प्रकार पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर मिथ्यात्वादि पाँचों बन्धहेतु क्रमशः हटते जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान तक आते-आते क्रमशः सभी बन्धहेतु लुप्त हो जाते हैं।

वैसे तो इन पाँचों बन्धहेतुओं के स्वरूप और कार्यों के सम्बन्ध में 'कर्मों के आस्रव और संवर' नामक छठे खण्ड में काफी विश्लेषण किया गया है। और मिथ्यात्व के सम्बन्ध में 'कर्मबन्ध के सर्वाधिक प्रबल कारण : मिथ्यात्व' शीर्षक निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, फिर भी बन्ध की दृष्टि से इन पाँचों पर विशेष प्रकाश डालना आवश्यक है।[3]

ये कर्मबन्ध के हेतु कैसे-कैसे बन जाते हैं ?

वैसे आत्मा अपने शुद्ध रूप में ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनन्त गुणों का समूहरूप है। उसका कर्म के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाली मिथ्यात्व आदि चार या पाँच मुख्य शक्तियाँ हैं। ये पाँचों कर्म के सामान्य बन्धहेतु हैं। शुद्ध आत्मा को इन पाँच कारणों से कर्म लग जाते हैं। सर्वप्रथम कर्म के साथ सम्बन्ध जुड़ता है–मिथ्या मान्यता

१. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन, (पं. सुखलालजी), पृ. १९९

२. (क) देखें–कर्मों के आस्रव और संवर नामक छठे खण्ड में 'कर्मों के आने के पाँच आस्रवद्वार' नामक निबन्ध।

(ख) सप्तम खण्ड में 'कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण : मिथ्यात्व' शीर्षक निबन्ध में।

से, मिथ्या भ्रमणा से। तत्पश्चात् सांसारिक विषय-भोगों का, हिंसादि विकारों का बेखटके उपभोग करने से कर्म चिपकते हैं। अर्थात्–इन विषयभोगों के लिए अमर्याद रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह का आसक्तिपूर्वक आचरण करने से कर्मबन्ध होता है।[1]

इसी प्रकार आत्मा प्रमाद से, गफलत और असावधानी से अंधाधुंध प्रवृत्ति करता रहता है, तब भी कर्मों का बन्ध होता है। चौथे नम्बर में आत्मा में प्रादुर्भूत क्रोध, मान, माया और लोभ, इस कषाय-चतुष्टय से या राग-द्वेष से कर्म आत्मा में लगते हैं और यथाकाल स्थित रहते हैं, फिर अपना फल भुगवा कर ही आत्मा से छूटते हैं। इन चारों के साथ मन, वचन और काया की प्रवृत्ति (योग) जुड़ जाती है, तब आत्मा कर्म से आबद्ध-श्लिष्ट होती है।

पाँचों बन्ध-हेतुओं का कार्य क्या है ?

आशय यह है कि आत्मा इन पाँच साधनों से कर्मपुद्गलों को आकर्षित करता है, ग्रहण करता है, और वह कर्मपुद्गल स्कन्ध आत्मा के प्रदेशों के साथ श्लिष्ट हो जाता है, इसी का नाम बन्ध है।

आशय यह है कि ये चारों या पाँचों मिलकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आवृत, कुण्ठित और सुषुप्त कर देते हैं। मिथ्यात्व आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुणों को आवृत और कुण्ठित कर देता है; अविरति आत्मा के सम्यक् चारित्रिक गुण या निराकुलतारूप आत्मिक सुख (आनन्द) रूप गुण को आवृत और मूर्च्छित कर देती है, प्रमाद आत्मा के ज्ञानादि गुणों को कार्यरूप में परिणत नहीं होने देता, वह आत्मा को असावधान, बेसुध या अजागृत करके उसकी ज्ञानादि शक्तियों को सुषुप्त कर देता है। कषाय तो आत्मा के चारित्र, तप और निराकुल सुख-शान्ति रूप गुणों को कुण्ठित कर देता है, शक्तियों को दबा देता है, मोह-ममत्व में भटका कर आत्मा को पराधीन कर देता है। और मन-वचन-काया की प्रवृत्ति-रूप योग से आत्मा स्वभाव में रमण करने के बदले परभावों या विभावों (आत्मबाह्य भावों) में प्रवृत्ति करके स्वयं को कर्म के शिकंजे में फँसा लेती है।

प्रथम बन्धकारण : मिथ्यात्व और उसका कार्य

कर्मबन्ध के इन कारणों में मोहरूपी सेनापति का सर्वप्रथम प्रबल योद्धा बनता है–मिथ्यात्व। मिथ्यात्व के होने पर आत्मा का मुख्य गुण–ज्ञान आवृत हो जाता है। ज्ञान आवृत होने पर प्राणी जानता तो है, किन्तु सम्यक् नहीं जान पाता, बहुत-सा ज्ञान लुप्त भी हो जाता है, जीव दृष्टिमूढ़ बन जाता है, सम्यक् नहीं जान पाता, जो कुछ जानता है, वह भी विपरीत जानता है। मिथ्यात्व के कारण वह दुःखद विषयों को

१. जैनयोग से भावांशग्रहण, पृ. ३२

सुखद और अशाश्वत पदार्थों को शाश्वत मानकर चलता है।[1] सत्य के प्रति विपर्यास अथवा सत्य दर्शन से विपरीत जानना, मानना और श्रद्धा करना मिथ्यात्व है। इसके द्विविध रूप बनते हैं–यथार्थ श्रद्धा का अभाव और अयथार्थ वस्तु के प्रति श्रद्धा। इसके भी पाँच रूप बनते हैं–दूसरों के उपदेश या प्रेरणा से या अपने गलत विचारों के परिणाम से बँध जाना अथवा किसी प्रकार का विवेक-विचार किये बिना मत, पंथ या सम्प्रदाय के कदाग्रह, पूर्वाग्रह, उपदेश के उलटे प्रवाह, और समझ का दुरुपयोग[2]। ये सब अभिगृहीत मिथ्यात्व हैं। किसी भी प्रकार का विचार किये बिना विपरीत मत बाँध लेना, अथवा गुण-दोष का विचार किये बिना सभी धर्मसम्प्रदायों, मतों, पंथों को एक समान मानना-समझना, कहना; न तो सत्य के प्रति और न असत्य के प्रति श्रद्धान हो, यही स्थिति अनभिगृहीत मिथ्यात्व की है। किसी भी सिद्धान्त का या शास्त्र-वाक्य का तोड़-मरोड़ कर अर्थ करना। मनमानी उलटी-सीधी युक्तियों को प्रस्तुत करके अपने खोटे मत या विचार की पुष्टि करना, उसकी प्रशंसा करना और दूसरे सत्योपासक मत-पंथों, या सम्प्रदायों के यथार्थ विचार की निन्दा-आलोचना करना, खोटा और निराधार होते हुए भी अपने मत पर चिपटे रहना, सत्य समझ जाने पर भी अपनी प्रतिष्ठा जाने के भय से उक्त सत्य का स्वीकार ही न करना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। प्रत्येक विचार मत या सत्य के विषय में शंका-कुशंका करते रहना, यह सत्य है या नहीं ? इस प्रकार मन में संशयग्रस्त रहना सांशयिक मिथ्यात्व है। मोह की गाढ़ अवस्थावश विचार-विवेक के अभाव में किसी भी दर्शन, मत या विचार को यथार्थ-अयथार्थ न जान पाना और अनन्त अज्ञान में, या मूढ़दशा में रहना तथा मूर्च्छित प्राणी जैसे मधुर या कटु रस को नहीं परख सकता, वैसी ही प्रवृत्ति करना, अनाभोग मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व का दायरा बहुत व्यापक

इस प्रकार पंचविध मिथ्यात्व में समझ का दुरुपयोग, विचारणा की मन्दता, समझ का अभाव, शंका-कुशंका का जोर अथवा स्वयं ही सच्चा है, ऐसा दुराग्रह आदि सबका समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से मिथ्यात्व के दायरे में अनादि-अज्ञान के कारण अल्पविकास वाले या लगभग विकास-विहीन जीव भी आ जाते हैं; और वे जीव भी आ जाते हैं, जो बौद्धिक दृष्टि से विकसित हैं, आग्रही हैं, ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। संसार के प्रायः सभी कोटि के अधिकतर जीव प्रायः मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं; जो कर्मबन्ध का आद्य कारण है।[3]

कर्मबन्ध का द्वितीय कारण : अविरति

कर्मबन्ध का द्वितीय हेतु अविरति है। जहाँ विरति न हो, वहाँ अविरति कहलाती

---

१. जैनयोग से भावांशग्रहण, पृ. ३३
२. जैनदृष्टिए कर्म (डॉ. मोतीचन्द गिरधरलाल कगाड़िया) से भावांशग्रहण, पृ. ३४
३. जैनदृष्टिए कर्म (डॉ. मो. गि. कापड़िया) से भावांशग्रहण, पृ. ३४

है। विरति का अर्थ व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग, नियम या संयम का स्वीकार तथा आचरण करना है। मनुष्य में एक प्रकार की आकांक्षा, लालसा, लिप्सा या सांसारिक पदार्थों को येन-केन-प्रकारेण पाने की वृत्ति रहती है। उसके कारण वह पदार्थ में आसक्त, अनुरक्त एवं लिप्त होता है। वह उसे प्राप्त करना और भोगना चाहता है। सांसारिक पदार्थों तथा पंचेन्द्रिय और मन के विषयों की प्राप्ति में हिंसा, असत्य, बेईमानी, छल-कपट, अहंकार, परिग्रह-वृत्ति आदि पापकर्मों का बन्ध होता रहता है। पदार्थ और धनादि के प्रति या इष्ट-अनिष्ट के प्रति राग-द्वेष के कारण दुःख, संक्लेश, कष्ट, संघर्ष, संकट आदि को-दुष्परिणामों को जानता हुआ भी जीव इनसे विरत, अनासक्त या निवृत्त नहीं हो पाता।[1]

बारह प्रकार की अविरति

अतः पाँचों इन्द्रियों और मन इन छह का विषय सुखों की तल्लीनतावश तज्जनित दोषों से विरत न होना, उनका संवर न करना, यह ६ प्रकार की अविरति है। इसी प्रकार पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन षट्कायिक जीवों से सम्बन्धित हिंसादि दोषों से विरत-संवृत न होना भी ६ प्रकार की अविरति है। इस प्रकार ६ + ६ = १२ प्रकार की अविरति हुई। इस बारह प्रकार की अविरति में मानसिक, वाचिक एवं कायिक सर्वदोषों का समावेश हो जाता है। यद्यपि अविरति में हिंसा से विरति के अभाव का स्वर मुख्य है, तथापि मृषावाद आदि दोषों का समावेश हिंसा में हो जाने से हिंसादि सभी दोषों से विरत होने का अभाव अविरति नामक बन्धहेतु में समाविष्ट है। इन दोषों या शुभाशुभ भावों से किसी प्रकार का विरति भाव धारण न किया जाए तो कर्मबन्ध होता ही रहता है। अविरति के कारण होने वाले अनिष्ट परिणामों को जानता हुआ भी वह उन्हें ममता-मूर्च्छावश छोड़ नहीं सकता। जीने की लालसा और मृत्यु की भीति भी मन को इन दोषों से विरत नहीं होने देती। सामाजिक, राष्ट्रीय एवं पारिवारिक जीवन में परस्पर संघर्ष, नोक-झोंक, छीना-झपटी, स्वार्थवृत्ति का कारण भी अविरति की मानसिक अवस्था है।[2]

मिथ्यात्व से विरत होने पर भी तदनुसार आचरण में बाधक : अविरति

मिथ्यात्व दशा से निवृत्त होने पर सत्य के प्रति सभान पक्षपात हृदय में जागने पर भी अविरतिदशा होने से सत्य (व्रतादि) का आचरण नहीं हो पाता क्योंकि सत्य का पक्षपात हृदय की वस्तु है, जबकि सत्य का आचरण जीवन की वस्तु है। मिथ्यात्व

१. (क) जैनयोग से भावांशग्रहण, पृ. ३२
   (ख) आत्मतत्व विचार पृ. २८५-२८६
२. (क) जैनदृष्टिए कर्म से भावग्रहण, पृ ३५
   (ख) जैनयोग से भावांशग्रहण, पृ. ३२

से निवृत्त होने पर जीवात्मा की हृदय की स्थिति बदलती है। सद्गुरु के योग, शास्त्र-स्वाध्याय या धर्मश्रवण, एवं वीतरागदेव के प्रति श्रद्धा के कारण वह सत्य-असत्य, दोनों तत्वों के अन्तर को भलीभाँति समझता है। उसके अन्तर्नेत्र खुल जाते हैं। उसके हृदय में पहले जो असत्य के प्रति कट्टर पक्षपात था, उसका जोर नहीं रहकर उसके हृदय में सत्य के प्रति कट्टर पक्षपात जन्म लेता है। यह एक प्रकार से उसका हृदय-परिवर्तन है। हृदय-परिवर्तन का असर उसके जीवन पर पड़ता है। असत्य के आचरण से धीरे-धीरे हटता जाता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हृदय-परिवर्तन होने पर भी जीवन-परिवर्तन न हो सके। सम्यग्दृष्टि देवों का, तथा श्रेणिक नृप, श्रीकृष्ण आदि क्षायिक सम्यक्त्वी मानवों का हृदय-परिवर्तन तो हुआ या होता है, किन्तु चारित्रमोहनीय के उदय के कारण जीवन परिवर्तन (जीवन में व्रतादि धर्माचरण) नहीं होता। जीवन-परिवर्तन न होने के पीछे कई पूर्व संस्कार, पूर्व अशुभकर्म-बन्ध, कई संयोग, कुटेव आदि भी कारण बनते हैं। सत्य के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा जागने पर भी सत्य के जीवन में आचरण में बाधक बनता है—अविरति नामक बन्ध हेतु।[1]

प्रमाद : कर्मबन्ध का तृतीय कारण

मिथ्यात्व और अविरति से जीव कदाचित् बाह्यरूप से निवृत्त हो जाय, फिर भी प्रमाद के कारण वह कई बार गलत्त मार्ग पर चल पड़ता है, यथार्थ आचरण करना भूल जाता है। इसलिए प्रमाद को कर्मबन्ध का तृतीय कारण बताया गया है। प्रमाद का अर्थ है—आत्म-विस्मरण। प्रमाद के कारण मानव आत्मा के स्वभाव—आत्मगुणों को भूलकर परभाव या विभाव में चला जाता है। प्रमादावस्था में मानव-मन इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षित होकर, व्रतबद्ध होते हुए भी परभावों के प्रवाह में बह जाता है। उपशान्त बने हुए क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पुनः पुनः निमित्त मिलने पर अजागृतिवश उभर आते हैं। जागृति लुप्त हो जाती है। कर्त्तव्य-अकर्तव्य का बोध धुँधला पड़ जाता है। फलतः प्रमादवश वह करणीय-अकरणीय का भान भूल जाता है। प्रमाद का एक फलितार्थ है—आत्मा के लिए हितकर कुशलकार्य के प्रति अनुत्साह या आदर का अभाव। प्रमाद दशा में अहिंसा आदि धर्मों या श्रुत-चारित्र धर्मों अथवा क्षमा आदि धर्मों के पालन के प्रति मन में उत्साह नहीं रहता, सत्य के आचरण में शिथिलता आ जाती है। इसमें अहंकार, वासना, लापरवाही, विषयलिप्सा, निन्दा-निद्रा एवं विकथा भी निमित्त बन जाते हैं। इसीलिए आगमों में पाँच प्रकार का प्रमाद बताया है—(१) मद (जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, लाभमद, ज्ञान (श्रुत) मद, तपमद और ऐश्वर्यमद, या अहंकार अथवा अभिमान), (२) विषय अर्थात् शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन पाँच प्रकार के इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति, (३) कषाय-क्रोधादि चार कषाय

१. जैनदर्शन मां कर्मवाद (चन्द्रशेखर विजयजी गणिवर) से, पृ. ३०

एवं नौ नोकषाय; (४) परनिन्दा, निद्रा या आलस्य, एवं (५) विकथा (स्त्री-भोजन-राज-देश-सम्बन्धि विकथा-विचारहीन चर्चा-वार्ता)।[1] अर्थात्-विकथा नामक प्रमाद से वासना, भोजन, गंदी राजनीति आदि की चर्चा में जो रस एवं आकर्षण होता है, वह आध्यात्मिक विकास की चर्चा में नहीं होता।

कषाय : कर्मबन्ध का चतुर्थ कारण : स्वरूप

कर्मबन्ध का चौथा कारण है-कषाय। कषाय का निर्वचन किया गया है-कष यानी संसार की, आय-आमदनी-लाभ जिससे हो, वह 'कषाय' है। अथवा जो आत्मा को मोह के शिकंजे में कषे-कसे, जकड़े या दुःख दे, वह 'कषाय' है। वस्तुतः कषाय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करने वाला है। कषाय का फलितार्थ है-राग-द्वेष, अथवा समभाव का अभाव। राग माया और लोभ की प्रवृत्ति को तथा द्वेष क्रोध और मान की प्रवृत्ति को पैदा करता है।

चारों कषायों का कार्य और तीव्रता-मन्दता

राग-द्वेष से समुत्पन्न होने के कारण क्रोध, मान, माया और लोभ को भी कषाय कहा जाता है। ये चारों कषाय चित्त को काषायिक-कलुषित या राग-द्वेषरंजित बना देते हैं। ये चारों कषाय आत्मिक गुणों के अवरोधक, कर्म-ग्रहण में अग्रभाग लेने वाले, अहित आचरण (प्रवृत्ति) के हेतुभूत एवं हिताचरण के अवरोधक हैं। इसलिए इन्हें शास्त्र में भयंकर अध्यात्मदोष कहा गया है। तथा ये चारों कषाय पूर्णरूप से संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण के मूल का सिंचन करने वाले हैं।[2]

चारों कषायों के प्रत्येक के चार-चार भेद और स्वरूप

इन चारों कषायों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द की अपेक्षा से प्रत्येक के चार-चार भेद किये गए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

१-अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ

२-अप्रत्याख्यानीय-क्रोध, मान, माया और लोभ

३-प्रत्याख्यानीय-क्रोध, मान, माया और लोभ

४-संज्वलन-क्रोध, मान, माया और लोभ

---

१. (क) जैनधर्म और दर्शन (गणेश ललवानी) से, पृ. १००
   (ख) जैनयोग से, पृ. ३२-३३

२. (क) आत्मतत्व विचार से, पृ. २८६
   (ख) जैनयोग से भावांशग्रहण, पृ. ३३
   (ग) कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
   (घ) चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।

जिस कषाय के प्रभाव से जीव को अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करना पड़ता है, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जिस कषाय के उदय से देशविरतिरूप प्रत्याख्यान प्राप्त नहीं होता, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। जिस कषाय के उदय से सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यान प्राप्त नहीं होता, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। जिस कषाय के उत्पन्न होने पर जीव अल्प समय के लिए मात्र अभिभूत होता है, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। इन चार कषायों में प्रत्येक के तीव्रता-मन्दता के आधार पर चार-चार विभाग होने से कुल सोलह विभाग होते हैं।

तीव्र-मन्द कषाय का उदय ही सम्यक्त्वादि में बाधक

मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद, ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं। तीव्रतम कषाय का उदय हो तो सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता, तीव्रतर कषाय का उदय हो तो देशविरति भी प्राप्त नहीं होती, इसी प्रकार तीव्र कषाय का उदय हो, तब तक सर्व-विरति प्राप्त नहीं होती। तथा मन्द कषाय के उदयकाल में वीतरागता उपलब्ध नहीं होती।

नौ नो-कषाय : कषायों के उत्तेजक

इन सोलह कषायों का विशेष विश्लेषण मोहनीय कर्म के निरूपण के दौरान किया जाएगा। कषायों को उत्तेजित करने वाले नौ नोकषाय कहलाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद और (९) नपुंसक-वेद (त्रिविधकाम)।

यों सोलह कषाय और नौ नोकषाय मिलकर २५ बन्धहेतु कषाय के अन्तर्गत आते हैं। कषाय बन्धहेतुओं में महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। यह समभाव की मर्यादा को तोड़ डालता है।[1]

कर्मबन्ध का पंचम कारण : योग और उसका कार्य

इसके पश्चात् कर्मबन्ध का पाँचवाँ कारण है–योग। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद इन तीनों आस्रवों–बन्धहेतुओं के समाप्त हो जाने पर कषाय-आस्रव से कर्म-परमाणुओं का आगमन और बन्ध होता रहता है। कषाय के समाप्त हो जाने पर केवल योग से पुण्यकर्म का आस्रव होता रहता है, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। योग का अर्थ है–प्रवृत्ति, क्रिया, चंचलता या सक्रियता। चूल्हे पर देगची रखी हो, उसमें पानी गर्म होने लगे, तब जैसे उसके प्रदेशों में स्पन्दन, उद्वेलन, और चंचलता तथा हलचल होती है, उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्मविपाक के कारण बाह्य और

---

१. (क) जैनयोग से भावांशग्रहण पृ. ३३
(ख) जैनधर्म और दर्शन से पृ. १०१

आन्तरिक निमित्तों के मिलने पर (आत्मा में) आत्मप्रदेशों में जो स्पन्दन, उद्वेलन, हलचल या चंचलता होती है उसे शास्त्रीय-परिभाषा में 'योग' कहते हैं। यह स्पन्दन संचित कर्म की विभिन्नता के कारण तीन प्रकार का होता है–काययोग, वचनयोग और मनोयोग। कायवर्गणा के कर्मपुद्गलों द्वारा निष्पन्न आत्मा की स्पन्दनजन्य जो शारीरिक प्रवृत्ति होती है, उसे काययोग कहते हैं। वचन-वर्गणा (भाषावर्गणा) के कर्मपरमाणुओं के प्रभाव से आत्मा की स्पन्दनजन्य जो वाचिक प्रवृत्ति होती है, उसे वचनयोग तथा मनोवर्गणा के कर्मपुद्गलों के प्रभाव से आत्मा की स्पन्दनजन्य जो मानसिक प्रवृत्ति होती है, उसे मनोयोग कहते हैं। संक्षेप में–शरीर के विविध व्यापार काययोग हैं, वचन या वाणी के विविध व्यापार वचनयोग हैं और मन के विविध व्यापार मनोयोग हैं। मनुष्य के पास प्रवृत्ति के ये तीन साधन हैं, ये तीनों योग कहलाते हैं।[1]

पूर्ववर्ती हो तो पश्चात्वर्ती बन्धहेतु अवश्य रहता है

इन मिथ्यात्वादि पाँच बन्धहेतुओं में मिथ्यात्व होता है, तो उसके पश्चात्वर्ती अविरति, प्रमाद, कषाय और योग अवश्य ही रहते हैं। अविरति हो तो उसके आगे के प्रमाद, कषाय और योग रहते हैं। प्रमाद हो तो कषाय और योग तथा कषाय हो तो योग अवश्य रहता है। परवर्ती हेतु के समय पूर्ववर्ती हेतु रह भी सकता है,. नहीं भी रह सकता है। इस प्रकार बन्धहेतुओं का क्रम बहुत ही विचारणीय है। मुमुक्षुजनों को कर्मबन्ध के कारणों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।[2]

●●

१. (क) जैनधर्म और दर्शन से पृ. १०१
   (ख) आत्मतत्व विचार, पृ. २८७
२. जैन धर्म और दर्शन, पृ. १०२

१

बन्ध के संक्षेप-दृष्टि से दो कारण : योग और कषाय

कर्मबन्ध के पांच कारणों का दो में समावेश

पिछले निबन्ध में हमने कर्मबन्ध के चार और पांच कारणों का विश्लेषण किया था। जैन कर्म-वैज्ञानिकों में बन्ध के हेतुओं के विषय में मुख्यतः तीन परम्पराएँ प्रतीत होती हैं। एक परम्परा के अनुसार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार बन्ध-हेतु माने गए हैं। दूसरी परम्परा में उक्त चार हेतुओं में प्रमाद को बढ़ा कर पांच बन्ध-हेतुओं का निर्देश है। और तीसरी परम्परा में कषाय और योग, ये दो ही बन्ध के कारण माने गए हैं। संख्या और उसके कारण नामों में अन्तर दिखाई देने पर भी तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर इन परम्पराओं में नहीं है। प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही है, अतः उसका समावेश अविरति या कषाय में हो जाता है। इसी दृष्टि से समयसार, गोम्मटसार, कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में कर्मबन्ध के चार कारण ही प्रतिपादित किये गए हैं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र, स्थानांगसूत्र, कर्मग्रन्थ आदि में पांच कारणों का निर्देश है। जहाँ दो कारण मानने की परम्परा है, वहाँ मिथ्यात्व और अविरति, इन दोनों को, तथा प्रमाद को भी कषाय के अन्तर्गत मान लिया गया है। वास्तव में ये दोनों कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं पड़ते। इसलिए कषाय और योग ये दो ही संक्षेप दृष्टि से कर्मबन्ध के कारण कहे गए हैं।[1]

बन्ध के चार अंगों के निर्माण में ये दो ही आधार

कर्मग्रन्थ आदि में बन्ध के चार अंगों का निरूपण किया गया है–(१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध। इन चारों अंगों के मिलने पर ही बन्ध की परिपूर्णता, सुदृढ़ता और स्थायिता होती है। अतः प्रकृतिबन्ध आदि चारों प्रकार के बन्धांगों के लिए योग और कषाय, इन दो का सद्भाव ही अनिवार्य

१. देखें–तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी कृत विवेचन) नया संस्करण, पृ. १९२

है। योग और कषाय ये दोनों ही उन बन्धांगों के पृथक्-पृथक् कारण हैं। इसीलिए कर्मग्रन्थ आदि में कहा गया है–प्रकृति और प्रदेश बन्धांगों का निर्माण योग से होता है, जबकि स्थिति और अनुभागरूप बन्धांगों का निर्माण होता है–कषाय से। इस प्रकार एक ही कर्म के बन्ध में उत्पन्न होने वाले पूर्वोक्त चारों बन्धांगों के मुख्य कारणों का विश्लेषण करने की अपेक्षा से संक्षेप दृष्टि से योग और कषाय, इन दो बन्ध-हेतुओं का कथन किया गया है।[1]

योग के द्वारा कर्मों का आकर्षण, कषाय के द्वारा बन्ध

जैनकर्म-विज्ञान में जीव की ओर कर्म-परमाणुओं को आकृष्ट करने का कार्य योग–मानसिक वाचिक कायिक प्रवृत्ति का बताया गया है। अर्थात्–जीव की प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति के साथ योग के द्वारा कर्मपरमाणु जीव (आत्मा) की ओर आकृष्ट होते हैं, तत्पश्चात् आत्मा के राग, द्वेष, मोह आदि वैभाविक भावों का, जिन्हें जैनकर्मविज्ञान में कषाय कहा गया है, निमित्त पाकर आत्मा से बंध जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मपरमाणुओं को आत्मा तक लाने का कार्य योग–अर्थात्–जीव की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया या प्रवृत्ति करती है, तथा उसके साथ बन्ध कराने का कार्य कषाय यानी आत्मा के रागद्वेषादि भाव (परिणाम) करते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा की योगशक्ति और कषाय, ये दोनों मिल कर प्रकृतिबन्ध आदि चारों बन्धांगों के कारण हैं।[2] इसीलिए षड्दर्शन-समुच्चय (वृत्ति) में कहा गया है–योग के निमित्त से, कषाययुक्त आत्मा का कर्मवर्गणा के पुद्गलों के साथ विशेष प्रकार का संश्लेष होना–चिपक जाना कर्मबन्ध है।[3] इसी कारण समवायांग सूत्र में कारण में कार्य का उपचार करते हुए ये दो प्रकार के बन्ध कहे गए हैं–योगबन्ध और कषायबंध।[4]

कषाययुक्त सांसारिक जीव के योग द्वारा ग्रहण और आश्लेष बंध है

कर्मविज्ञान के मर्मज्ञों ने यह स्पष्ट बता दिया है कि सांसारिक जीव के साथ प्रवाहरूप से अनादिकाल से कर्म लगा हुआ है, क्योंकि जब तक वह राग-द्वेष से या कषाय से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक कषाययुक्त या रागद्वेषयुक्त जीव के साथ कर्मबन्ध का सिलसिला जारी रहता है। इसीलिए मूलाचार में इसी तथ्य के बारें में कहा गया है–"कषाययुक्त जीव योग के द्वारा कर्मयोग्य जिन पुद्गल-द्रव्यों को ग्रहण

---

१. (क) जोगा पयडि-पएसा, ठिई-अणुभागं कसायओ कुणइ ।
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) से भावांशग्रहण, पृ. १९२-१९३

२. पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री) से भाव ग्रहण, पृ. २०-२१

३. योगनिमित्तः सकषायस्यात्मनः कर्म-वर्गणापुद्गलैः संश्लेष-विशेषो बन्धः ।
–षड्दर्शन समुच्चय, वृ. ४७

४. दुविहो बंधे पण्णत्ते, तं. जहा–जोगबंधे कसायबंधे य । –समवायांग सम.२

करता है, उनका आत्मप्रदेशों से चिपकना बंध समझना चाहिए।"[1] तात्पर्य यह है कि संसारी जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया के पीछे राग-द्वेष या कषाय की प्रेरणा होती है। उससे कर्मवर्गणा के पुद्गल खिंचे चले आते हैं। फिर उन कर्मपुद्गलों को आत्मा के साथ बांधता है—कषाय। अर्थात् प्रवृत्ति, क्रिया या त्रिविध योग से कर्मों का आकर्षण-आगमन होता है, और कषाय उन (कर्मपुद्गलों) को आत्मा से बांध देता है।

संसारी जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति कषाययुक्त होने से कर्मबन्धकारक

सर्वांगपूर्ण कर्मबन्ध में योग और कषाय दोनों का हाथ है। प्रत्येक वैभाविक प्रवृत्ति, चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या कायिक कर्मबन्ध का मूल द्वार है। संसारस्थ जीव की कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं है, जो बन्धन के द्वार न खोलती हो। बन्धन के द्वार पर दस्तक देने वाली त्रिविध प्रवृत्ति को योग कहते हैं। त्रिविध योग के द्वारा कर्म आकर्षित होते हैं, आते हैं, और फिर रागादि भाव या कषायभाव की चिकनाहट के कारण वे कर्म आत्मा से चिपक जाते हैं।

कर्मवैज्ञानिकों ने एक रूपक द्वारा कर्मबन्ध की प्रक्रिया में योग और कषाय का महत्त्व बताते हुए कहा है—"जिस प्रकार दीपक अपनी उष्मा से बत्ती के द्वारा तेल को आकर्षित कर उसे अपने शरीर (लौ) के रूप में परिणत कर लेता है, वैसे ही यह आत्मा-रूपी दीपक अपने रागादि भाव या कषायभाव रूपी ऊष्मा (प्रज्वलित अग्नि) के कारण क्रियाओं-प्रवृत्तियोंरूपी बत्ती के द्वारा कर्म-परमाणुरूपी तेल को आकर्षित कर उसे अपने कर्मशरीर रूपी लौ में बदल देता है।"[2]

जहाँ वैभाविक प्रवृत्ति होती है, वहाँ कर्मबन्ध अवश्य होता है

यही बात हम प्रवृत्ति और कषाय के विषय में कह सकते हैं। जानना-देखना तथा आत्मा के ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध और शक्तिरूप गुणों तथा आत्मभावों में रमण करना स्वाभाविक प्रवृत्ति है, ये निरवद्य योग हैं। परन्तु जहाँ प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं है, वैभाविक है, मन, वचन, काया से प्रेरित होकर होने वाली क्रिया है, वहाँ वह कर्मबन्धकारिणी अवश्य होगी; क्योंकि उस प्रवृत्ति के साथ पहले से ही कुछ न कुछ बाहर से आता है। जो बाहर से आता है, वह आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं होता, वह विजातीय भाव (फॉरेन मैटर-Foreign Matter)-विभाव होता है। उसके आने पर निश्चित ही कर्मबन्ध होता है। अतएव कहा गया है—सांसारिक प्राणी की प्रवृत्ति चाहे शरीर की हो, मन की हो या वचन की हो, उससे बन्धन होगा।

---

१. जीवो कसायजुत्तो, जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा।
गेण्हदि पोग्गलदव्वे, बंधो सो होदि णायव्वो॥ —मूलाचार १२-३८३

२. (क) धवला पु.१५, सू.३४
(ख) तत्त्वानुशासन ६
(ग) तत्त्वार्थसूत्र टीका भा. १ पृ. ३४३

योग का काम है, बाहर से कुछ लाना, कषाय का काम है–चिपका कर रखना

प्रवृत्ति कहें चाहें योग कहें, वह बाहर से कुछ कर्मपुद्गलों की खींच कर लाता है, और वे पुद्गल आते हैं और जीव के साथ जुड़ जाते हैं। प्रवृत्ति या योग का कार्य इतना ही है। उसके पश्चात् भीतर में यदि चेतना की परिणतिरूपी दीवार में कषाय या रागादिरूपी चिकनाहट है तो वह बाहर से आने वाले कर्मयोग्यपुद्गलों को पकड़ लेगी। अर्थात्–चेतना की परिणतिरूपी वह दीवार बाहर से आए हुए पुद्गलों को बांध देती है, चिपका कर रखती है। निष्कर्ष यह है कि प्रवृत्ति (योग) का काम है–बाहर से कुछ लाना, आकर्षित करना और कषाय का काम है–उसे चिपका कर रखना। इसलिए योग और कषाय, ये दोनों कर्मबन्ध होने में कारण हैं।

चेतना की दीवार कषाय से चिकनी होगी तो कर्मरज अवश्य चिपकेगी

एक सूखी दीवार है, उस पर पानी या तेल की चिकनाहट नहीं है, तो उस पर फेंकी हुई या उड़कर आती हुई धूल चिपकेगी नहीं, वह उससे टकरा कर थोड़ी ही देर में झड़ जाएगी या बिखर जाएगी। परन्तु यदि धूल गीली है तो उस दीवार पर थोड़ी देर टिकेगी, फिर स्वयं ही गिर जाएगी। यदि वह दीवार तेल आदि से स्निग्ध है, चिकनी है, तो वह धूल को पकड़ लेगी, चिपका लेगी। इसी प्रकार चेतना की दीवार सूखी है, उस पर कषाय की चिकनाहट नहीं है तो कर्मरज आकर स्पर्श करेगी, लेकिन तुरंत ही वह कर्मपुद्गलरूपी रज झड़ जाएगी, क्योंकि उसके टिकने का कोई कारण शेष नहीं है; लेकिन कषायरूपी चिकनाहट चेतना की दीवार पर होगी तो वहाँ कर्मरज अवश्य ही चिपकेगी, वह चिपका कर रखेगी। यही कर्मबन्ध का रहस्य है।[1]

कर्मरूप ईंधन लाने का काम योग का, आग को भड़काने का काम है–कषाय का

ईंधन और आग का रूपक देकर भी कर्मविज्ञान-विशेषज्ञों ने कर्मबन्ध में योग और कषाय का महत्त्व समझाया है। तत्त्वार्थसूत्र में काया, वचन और मन की प्रवृत्ति को योग और उसी को आस्रव कहा गया है।[2] आस्रव के द्वारा जो पुद्गल खींच कर लाया जाता है, वह है द्रव्यकर्म; और कषाय भावकर्म है। द्रव्यकर्म एक प्रकार का ईंधन है और भावकर्म–कषाय या रागद्वेष आग है। ईंधन इकट्ठा कर दिया जाए, किन्तु अग्नि प्रज्वलित न हो तो ईंधन कुछ भी नहीं कर सकेगा। ईंधन आग को तभी भड़काता है, जब कि आग जल रही हो। बुझी हुई अग्नि के लिए ईंधन बेकार है। केवल द्रव्यकर्म हो, किन्तु कषाय या राग-द्वेष न हो तो उस कर्म का टिकना असम्भव है। कर्म-पुद्गल भीतर आएँगे, वैसे ही चले जाएँगे, क्योंकि वहाँ कषायाग्नि शान्त है या नष्ट है। अतः संसारी जीवों के अन्तर् में कषाय या राग द्वेष की आग प्रज्वलित

---

१. जैनयोग से भाव-ग्रहण, पृ. ३८

२. कायवाङ्-मनः कर्म योगः। स आस्रवः। –तत्त्वार्थसूत्र अ. ६, सू. १-२

हो रही हो, उस अग्नि में ये कर्म-पुद्गल योग (आस्रव) के द्वारा ईंधनरूप में लाकर गिराये जाएँ तो ये उस अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित कर देंगे। इस दृष्टि से जो अग्नि जल रही है, वह भी कर्म है और अग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करने वाले भी कर्म हैं। अर्थात्–जो कर्मपुद्गलों को लाने वाला है, वह योग है, और उन्हें अधिकाधिक उत्तेजित करते हैं, वे कषाय हैं। ये दोनों ही मिलकर कर्म को आत्मा से चिपका कर रखते हैं, बांध देते हैं।[1]

भावबन्ध न हो तो द्रव्यबन्ध कुछ नहीं कर सकता

निष्कर्ष यह है कि प्रवृत्ति के साथ जो पुद्गल खिंचा हुआ आता है, और चिपकता है, वह द्रव्य (कर्म) बन्ध है, तथा रागादि या कषाय का परिणाम (अध्यवसाय) भाव (कर्म) बन्ध है। द्रव्यबन्ध वास्तविक बन्ध नहीं है। यदि भावबन्ध न हो तो द्रव्यबन्ध कुछ नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में–यदि कषाय या रागद्वेष रूप परिणाम न हों तो योग द्वारा लाए हुए कर्मपुद्गल आत्मप्रदेश को स्पर्श करेंगे, किन्तु ठहरेंगे नहीं, चले जाएँगे–स्वतः झड़ जाएँगे। अतः योग का काम है–कर्मपरमाणुओं को आत्मा तक लाने का, किन्तु उसके साथ बन्ध कराने का काम कषाय या राग-द्वेष का है। दोनों मिलकर ही आत्मप्रदेशों के साथ कर्म को बाँधते हैं, अकेला योग नहीं। जिनके रागद्वेष या कषाय नष्ट हो गए हैं, वे योगों द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, कर्मपुद्गल भी आते हैं, किन्तु रुकते और बंधते नहीं, वे आते हैं, और एक-दो समय रहकर चले जाते हैं। क्योंकि उनके स्थितिरूप से टिकने और अनुभागरूप से बंधने का कोई कारण शेष नहीं रहता। कर्मों के आने-जाने का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक वे आठ ही कर्मों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाते।

आत्मारूपी दीवार पर कर्मरज को योगरूप वायु एवं कषायरूप गोंद चिपकाते हैं

आशय यह है कि अकषाय आत्मा के कषाय न होने से केवल योग कर्मबन्ध-कारक कदापि नहीं होते, किन्तु सकषाय आत्मा के लिए योग भी कर्मबन्ध के कारण हैं, और कषाय तो उस कर्मबन्ध को और अधिक सुदृढ़ और चिरस्थायी कर देते हैं। इसीलिए योग और कषाय दोनों को कर्मबन्ध के मुख्य कारण बताए हैं। कर्मविज्ञान मनीषी ने योग को वायु की, कषाय को गोंद की, आत्मा को एक दीवार की और कर्मपरमाणुओं को रज (धूल) की उपमा देकर इस विषय को स्पष्ट रूप से समझाया है। यदि दीवार पर गोंद आदि चिकनी वस्तुएँ लगी हों तो वायु के साथ उड़ने वाली धूल दीवार पर चिपक जाती है। यदि दीवार साफ सूखी और पॉलिस की हुई हो तो वायु के साथ उड़ कर आने वाली धूल दीवार पर चिपकती नहीं, उससे स्पर्श करके तुरंत झड़ जाती है। इसी प्रकार योग रूप वायु के द्वारा लाई हुई कर्मरूपी रज कषायरूप गोंद से युक्त आत्म-प्रदेशरूप दीवार पर चिपक जाती है। यदि वायु तेज

---

१. जैनयोग से भावग्रहण; पृ. ३९

होती है तो धूल भी बहुत उड़ती है और वायु धीमी हो तो वह कम उड़ती है। इसी प्रकार कर्मरज का कम या अधिक मात्रा में आना, योग-वायु के वेग पर आधारित है। यदि दीवार पर पानी पड़ा हो तो उस पर लगी हुई धूल जल्दी झड़ जाती है। यदि उस पर किसी वृक्ष का दूध लगा हो तो कुछ देर में झड़ती है, और कोई गोंद लगा हो तो बहुत दिनों में झड़ती है। यही बात कषायरूप गोंद के विषय में समझिए। योग-वायु द्वारा लाई हुई कर्मरज का कम या अधिक समय तक टिके रहना, उनके द्वारा आत्मगुणों का कुण्ठित, सुषुप्त एवं अवरुद्ध अथवा घात होना कषायरूप गोंद के गाढ़े-पतलेपन (तीव्रता-मन्दता) पर अथवा उसकी न्यूनाधिक मात्रा पर निर्भर है। इसीलिए संसार के समस्त जीवों में न तो कर्म की मात्रा एक समान होती है, और न उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति बराबर होती है। इसीलिए कर्मशास्त्र में प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का आधार योग को बताया है और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का आधार बताया है—कषाय को।

आशय यह है कि यदि योगशक्ति उत्कृष्ट होती है तो कर्मपरमाणुओं का परिमाण भी तदनुसार कम या अधिक हुआ करता है, और योगशक्ति अगर जघन्य या मध्यम दर्जे की हो तो कर्मपरमाणु भी तदनुसार न्यूनाधिक मात्रा में आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। इसी प्रकार कषाय यदि तीव्र-तीव्रतर हो तो कर्मपरमाणु भी आत्मा के साथ अधिक-अधिकतर दिनों तक बंधे रहते हैं और फल भी तीव्र-तीव्रतर देते हैं। यदि कषाय मन्द-मन्दतर हो तो कर्मपरमाणु भी अल्प-अल्पतर समय तक आत्मा से बंधे रहते हैं और फल भी अल्प-अल्पतर देते हैं। सामान्यतया कर्मविज्ञान का यही नियम है।[1] इसमें कतिपय अपवाद भी हैं, उन्हें हम 'बन्ध की विविध अवस्थाओं' के प्रकरण में स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। तत्त्वार्थसूत्र में इसी तथ्य को बहुत स्पष्टता के साथ बताया गया है।

'धवला' और 'तत्त्वार्थ-वार्तिक' में बन्ध के लक्षण में योग और कषाय को प्रमुखता देते हुए कहा गया है—"जिस प्रकार किसी बर्तन में अनेक प्रकार के रस वाले अनेक प्रकार के बीज, फल, फूल आदि का विविधरूप में परिणमित हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का योग और कषाय के कारण कर्मरूप परिणमन होता है, यही 'बन्ध' कहलाता है।[2]

चारों प्रकार के कर्मबन्ध में दो का सद्भाव अनिवार्य

यद्यपि कर्मबन्ध में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पांचों को कारणरूप में माना गया है, किन्तु जब हम संक्षेपदृष्टि से विचार करते हैं तो इनमें से

---

१. कर्मग्रन्थ, पंचम भाग की प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री), पृ. २१

२. (क) तत्त्वार्थ वार्तिक ८/२/९
   (ख) धवला पु. १३/५-५/सू. ८२

बन्ध में योग और कषाय की प्रधानता है। प्रकृति आदि चारों प्रकार के बंध के लिए इन दो का सद्भाव अनिवार्य है।

चारों बन्ध-अवस्थाओं के दो घटक

सारांश यह है कि प्रकृतिबन्ध आदि चारों बंध की अवस्थाओं के घटक सिर्फ दो हैं–एक है चंचलता यानी प्रवृत्ति या योग और दूसरा है–कषाय या रागद्वेष-मोह। चंचलता के द्वारा कर्मपरमाणुओं का आवर्णण होता है और कषाय के द्वारा उन कर्म-परमाणुओं को टिकाया जाता है। दो बातें हैं–जिनसे बन्ध सर्वांगपूर्ण होता है–कर्मपुद्गलों को आकर्षित करना और उन्हें टिका कर रखना।

कर्मों का आकर्षण होता है–मन-वचन-काया की चपलता के द्वारा, जबकि उन्हें बांध कर रखा जाता है कषाय या रागद्वेष द्वारा। अर्थात्–कर्म-परमाणुओं को आकृष्ट करना मन-वचन-काया की चपलता का कार्य है और उन कर्म-परमाणुओं को चिपकाये रखना–बांधे रखना कषाय का कार्य है।

कर्म का सर्वांगीण बंध : योगों की चंचलता और कषाय की तीव्रता-मन्दता पर निर्भर

जैन-कर्म-विज्ञानशास्त्र को आद्योपान्त टटोल कर देखें तो यह तथ्य अतीव स्पष्ट हो जाता है कि कर्म-परमाणु आकर्षित किये जाते हैं योगों की चंचलता के द्वारा और कषाय के द्वारा वे टिके रहते हैं और समय पर अपना फल प्रदान करते हैं। कषाय जितना अधिक तीव्र होगा, उतने ही दीर्घकाल तक कर्म-परमाणु आत्मा से चिपके रहेंगे और समय आने पर फल भी देंगे। आशय यह है कि कर्म का आकर्षण केवल योगों की चपलता के आधार पर तीव्र या मंद वेग से होता है; किन्तु कर्मों के टिके रहने की कालावधि (स्थिति) तथा फलदान-शक्ति, ये दोनों बातें कषाय की तीव्रता-मन्दता पर निर्भर हैं। कषाय के आधार पर दीर्घकालिक या अल्पकालिक स्थिति निर्धारित होती है। तथैव फल की तीव्रता या मन्दता भी तीव्र-मन्द कषाय-रस के अनुपात में होती है। कर्म की स्थिति को बढ़ाना-घटाना भी कषाय पर ही निर्भर है, तथा कर्मफल प्रदान करने की शक्ति में भी तीव्रता-मन्दता लाना कषाय पर ही आधारित है।

कर्मों का आकर्षण और श्लेष : योग एवं कषाय आस्रवों द्वारा

प्रश्न होता है–कर्म-परमाणुओं के आकर्षण और तत्पश्चात् उनका आत्मप्रदेशों से संश्लेष के पीछे हेतु क्या है? ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ मुख्यतया दो आस्रवद्वारों के द्वारा होती हैं–एक को जैनकर्मविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में योग-आस्रव कहते हैं, जबकि दूसरे को कहते हैं–कषाय-आस्रव। योग-आस्रव और कषाय-आस्रव–ये दोनों मिलकर कर्मों का आकर्षण और कर्मों का संश्लेष करके आत्मा के साथ चारों बंधांगों

के रूप में सर्वांगपूर्ण बद्ध हो जाते हैं।[1] यह ठीक है कि मन-वचन-काया के योगों की चपलता तो स्पष्ट प्रतीत होती है, किन्तु कषाय बाहर से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। वह कभी-कभी तीव्र-तीव्रतररूप में भड़कता है, तब तो उसके चिह्नों से प्रकट हो जाता है, किन्तु कभी-कभी वह अत्यन्त सूक्ष्मरूप में, केवल वासना या अमुक कामना के रूप में, अथवा धर्म-प्रभावना के बहाने प्रसिद्धि, प्रशंसा, प्रतिष्ठा आदि के रूप में छिपा रहता है। तब उसे स्थूलदृष्टि जन-समुदाय द्वारा पहचान पाना अत्यन्त कठिन होता है। परन्तु योग और कषाय–इन दोनों की करतूत है कि वे आत्मा को चारों प्रकार के बंधों के रूप में कस कर बांध देते हैं, जिनसे सहसा छुटकारा पाना दुष्कर होता है। अतः कर्मबन्ध-चतुष्टय में योग और कषाय, इन दोनों प्रमुख कारणों पर सांगोपांग विचार करके इनसे बचने और चंचलता एवं कषाय को अल्प-अल्पतर, या मन्द-मन्दतर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

वर्णीजी की दृष्टि में योग और कषाय के बदले योग और उपयोग

वास्तव में देखा जाए तो जीव के भावों का निमित्त पाकर कर्म का सर्वांगपूर्ण बन्धन होता है। जीव के भाव दो प्रकार के हैं–योग और उपयोग। योग का अर्थ है–प्रदेश-परिस्पन्दन या क्रिया। और उपयोग का अर्थ है–शुभ, अशुभ और शुद्ध भाव या परिणाम। दूसरे शब्दों में कहें तो–जीव की द्रव्यात्मक पर्याय को योग कहते हैं, जो प्रदेश-परिस्पन्दन के रूप में या क्रिया के रूप में एक होते हुए भी मन, वचन और काय के निमित्त से तीन प्रकार का कहा जाता है। उपयोग भावात्मक पर्याय को कहते हैं, जो ज्ञान का परिणमनरूप होती है। वह परिणमन शुद्ध रूप भी होता है, अशुद्धरूप भी। अशुद्धरूप परिणमन के दो भेद हैं–शुभरूप, अशुभरूप। शुद्ध परिणमन में तो केवल जानना मात्र होता है; यानी साक्षीभाव से ज्ञाता द्रष्टा बनकर रहना मात्र होता है। जबकि अशुद्ध (शुभाशुभ) परिणमन रागद्वेषादिरूप या प्रशमरति की भाषा में अहंकार-ममकार आदि भावरूप होता है। ये दोनों (शुद्ध-अशुद्ध) ही प्रकार के परिणाम या भाव उपयोग कहलाते हैं। इस प्रकार योग उसकी द्रव्य-पर्याय है, और उपयोग है–भाव-पर्याय। योग से प्रकृति और प्रदेशों में बन्ध होता है, तथा उपयोग से भावों में अर्थात्–अशुद्धोपयोग से स्थिति और अनुभाग में बन्ध होता है। सिद्धान्तानुसार भावात्मक कर्मबन्ध के निमित्त भावात्मक होने चाहिए तथा द्रव्यात्मक कर्मबन्ध के निमित्त द्रव्यात्मक। यही कारण है कि कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, गोम्मटसार आदि कर्मविज्ञान के मूर्धन्य ग्रन्थों में योग से प्रकृति और प्रदेशों तथा उपयोग से स्थिति और अनुभाग-बन्ध बताया है। राग-द्वेषात्मक उपयोग को ही दूसरे शब्दों में 'कषाय' कहते हैं। इसलिए योग और उपयोग कहें या योग और कषाय कहें, दोनों ही मुख्यरूप से सर्वांगीण कर्मबन्ध में निमित्त हैं। रागद्वेषात्मक उपयोग या कषाय कर्म की स्थिति

१. चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांशग्रहण, पृ. १६१

बांधता है, तथा फलदान में शक्ति उत्पन्न करने में कारण बनता है। जबकि परिस्पन्दनरूप योग कर्मों को आकर्षित करने तथा आत्मप्रदेशों तक लाने में निमित्त बनता है। ये दोनों ही मिलकर चारों प्रकार के कर्मबन्धों के कारण बनते हैं।[1]

यहाँ एक प्रश्न 'धवला' में और उठाया गया है कि क्या योग और कषाय दो ही प्रत्यय आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बत्तीस बंधों की कारणता को प्राप्त हो सकते हैं? उत्तर में कहा गया है कि छठे-सातवें गुणस्थान तक ही सात या आठ कर्म का बन्ध होता है, इसलिए वहाँ तक एकान्त बत्तीस बन्धों का अस्तित्व हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, क्योंकि अशुद्ध पर्यायार्थिक ऋजुसूत्रनय में अनन्त शक्तिमान एक द्रव्य (आत्मा) में बत्तीस बन्धों का अस्तित्व तभी हो सकता है जब आयुष्यकर्म का बन्ध हो। आगे के गुणस्थानों में कषाय न होने से बन्ध होता ही नहीं। वे अबन्धक हैं।[2]

●●

१. कर्मसिद्धान्त से भावांशग्रहण, पृ. ८२-८३

२. कथं दो चेव पच्चयो, अट्ठण्णं कम्माणं बत्तीसाए पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधाणं कारणत्तं पडिवज्जते? ण, असुद्ध-पज्जवट्ठिए उजुसुदे अणंत-सत्ति-संजुदेग-दव्वट्ठियत्तं पडिविरोहाभावादो।

–धवला १२/४/२, ८

१८

कर्मबन्ध की मुख्य चार दशाएँ

कर्मबन्ध की डिग्री के चार मुख्य मापक

आधुनिक वैज्ञानिकों ने ताप अथवा ज्वर नापने का यंत्र आविष्कृत किया है; हवा को मापने के लिए बेरोमीटर का आविष्कार किया है, वर्षा और ठंड को नापने के यंत्र भी आविष्कृत हो चुके हैं। इसी प्रकार दूध में पानी का अंश कितना है, कितना नहीं ? इसे नापने या परीक्षण करने का यंत्र भी व्यावसायिक जगत् में आ गया है। इन यंत्रों से ताप, गर्मी, ठंड, हवा, वर्षा, दूध आदि की डिग्री का पता लग जाता है। जैसे इन यंत्रों से सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि की डिग्री की मात्रा का शीघ्र पता लग जाता है, वैसे ही कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने कर्मबन्ध को नापने और उसकी मात्रा अथवा तीव्रता-मन्दता का पता लगाने के लिए चार मुख्य मापक बताए हैं। ये चारों मापक कर्मबन्ध की डिग्री बता देते हैं। ये चारों मापक कर्मविज्ञान के पारिभाषिक शब्द हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- (१) स्पृष्ट, (२) बद्ध, (३) निधत्त और (४) निकाचित। ये चारों मापक कर्मबन्ध की चार मुख्य अवस्थाओं अथवा दशाओं को बताने के लिए कर्मवैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत और परिभाषित किये गये हैं।[1]

कर्मबन्ध की चार अवस्थाओं का चार व्यक्तियों की अपेक्षा से विचार

इन्हीं चारों मुख्य मापकों को हम सरल शब्दों में यों कह सकते हैं—(१) ढीला बन्ध, (२) इससे जरा मजबूत बन्ध, (३) इससे भी अधिक मजबूत बन्ध, (४) इन सबसे भी अत्यन्त पक्का और सुदृढ़ बन्ध, जो कभी खुल न सके।[2]

इस प्रकार कर्मबन्ध की चार अवस्थाएँ हैं। मान लीजिए, चार व्यक्ति विभिन्न प्रकृति के हैं। चारों एक साथ एक ही कर्म का बन्ध करते हैं। परन्तु चारों की कषायिक तथा राग-द्वेषयुक्त परिणाम-धारा में बहु अन्तर है। पहले की आत्मा पर राग-द्वेष की चिकनाई या कषाय की स्निग्धता ब ही कम लगी है, उसने कर्मबन्ध

१. देखें, भगवतीसूत्र खण्ड १, श. १, उ. ६ सू ६ का विवेचन, पृ. ३० (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)
२. कर्म-फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मण सूरीजी), पृ. १९

तो कर लिया तुरन्त उसको पश्चात्ताप हुआ, उसने मिच्छामि दुक्कडं (मेरे द्वारा किया हुआ दुष्कृत-अशुभ कर्म निष्फल हो-मिथ्या हो) कहा, इतने से ही वह कर्म तुरन्त झड़ जाता है। दूसरे व्यक्ति की आत्मा पर पहले व्यक्ति से कषाय तथा राग-द्वेषादि की चिकनाई कुछ अधिक लगी है, उसने भी उसी कर्म का बन्ध किया, किन्तु उसका बन्ध पहले वाले से कुछ अधिक दृढ़ है, इसलिए केवल मिच्छामि दुक्कडं और पश्चात्ताप से यह कर्मबन्ध नहीं छूटता, उसके लिए उसके द्वारा आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना और भावना आदि अपेक्षित हैं। तीसरे व्यक्ति ने भी वही कर्मबन्ध किया, परन्तु पहले और दूसरे व्यक्ति से भी उसका कर्मबन्ध अधिक सुदृढ़ होने से 'मिच्छामि दुक्कडं' या आलोचना आदि करने से भी वह नहीं छूटता। उस अधिकाधिक सुदृढ़ कर्मबन्ध से छूटने के लिए पूर्वोक्त क्रियाओं के अतिरिक्त तीव्र पश्चात्ताप और प्रायश्चित्तग्रहण अपेक्षित है। चौथा व्यक्ति भी उसी कर्म को बाँधता है, परन्तु उसकी आत्मा के साथ कषाय एवं रागद्वेषादि की चिकनाई इतनी ठोस और सुदृढ़ है कि किसी भी हालत में कर्मबन्ध भोगे बिना नहीं छूटता; तीव्र पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त कर लेने पर भी ऐसे कर्मबन्ध का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता। इन चारों व्यक्तियों की आत्मा पर लगे हुए कर्मबन्धों को हम क्रमशः स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित के नाम से पहचान सकते हैं।

चारों बन्ध-अवस्थाओं का वस्त्र के दृष्टान्त से विचार

चार वस्त्रों के दृष्टान्त से हम इन चारों बन्ध-अवस्थाओं को समझ सकते हैं एक जगह पिसी हुई हल्दी का ढेर पड़ा है, उस पर किसी ने कपड़ा रख दिया। हल्दी के रजकण उस वस्त्र पर जरूर लग जाते हैं, परन्तु उसे जरा-सा झटकने से उसके रजकण झड़ जाते हैं। इसी प्रकार स्पृष्ट नामक कर्मबन्ध भी ऐसा है कि जरा-सा पश्चात्तापपूर्वक मिच्छामि दुक्कडं कहने से वे कर्मरज झड़ जाते हैं, चिपके नहीं रहते। एक वस्त्र ऐसा है, जिस पर तेल लगा हुआ है, वह चिकना है, यदि उसे किसी ने पिसी हुई हल्दी के ढेर पर रख दिया तो वह उससे अधिक मजबूती से हल्दी के कण चिपक जायेंगे, इस पर पानी और साबुन लगा कर धोने से वह हल्दी का रंग उतरेगा। इसी प्रकार का बद्ध कर्मबन्ध है, जो आलोचना, निन्दना, गर्हणा, प्रतिक्रमण, क्षमापना एवं भावना के द्वारा छूटता है। एक वस्त्र ऐसा है, जिस पर अलकतरा चिपक गया है। अलकतरे का गाढ़ा लेप साफ करने के लिए साबुन और पानी से काम नहीं चलेगा, उसके लिए उक्त कपड़े को मिट्टी के तेल से धोना पड़ता है, तब जाकर वह अलकतरा निकलता है। इसी प्रकार निधत्त कर्मबन्ध ऐसा है, जो पूर्वोक्त क्रियाओं से दूर नहीं होता, उसके लिए तपस्या, प्रायश्चित्त आदि कठोर अनुष्ठान करना पड़ता है। परन्तु चौथे प्रकार का वस्त्र तेल, अलकतरा, धूल के कण आदि से इतना मलिन हो गया है कि साबुन, मिट्टी के तेल आदि लगाने पर भी उसका मैल नहीं छूटता। वह कपड़ा फट जाएगा, लेकिन मैल नहीं छूटेगा। इसी प्रकार का कर्मबन्ध

है—निकाचित। जो तपश्चर्या, प्रायश्चित्त आदि से भी नहीं छूटता, उसका पूर्ण फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता।

आत्मा के रागद्वेषादि युक्त परिणामों की तरतमता से कर्मबन्ध में तरतमता

वस्तुतः आत्मा अपने आप में शुद्ध है, कर्ममलरहित है, ज्ञानमय है, किन्तु राग-द्वेषादि की तरतमता होती है। राग-द्वेषादि को लेकर ही आत्मा के परिणाम मन्दतम, मन्द, क्लिष्ट और क्लिष्टतम होते हैं, उस पर से बन्ध की डिग्रियों—अवस्थाओं में अन्तर पड़ता है। कोई मनुष्य बालू के ढेर पर बैठता है तो उसके शरीर पर रजकण लगते जरूर हैं, उनका मामूली सा मैल चिपकता है, जरा सा शरीर को झटकाने से वे मैल के रजकण गिर जाते हैं। यदि शरीर पर तेल लगाकर धूल पर बैठता है तो मैलसहित रजकण उससे भी सुदृढ़ रूप से चिपकते हैं, और उस मैल को साफ करने के लिए वह साबुन और पानी का प्रयोग करता है तभी मैल दूर हो पाता है। यही बात बद्ध कर्मबन्ध के विषय में कही जा सकती है। बद्धरूप से बँधा हुआ कर्म विशेष प्रयत्न से छूटता है। किसी के शरीर पर अत्यधिक तेल लगाने से उस पर धूल के रजकण चिपकते हैं, और मैल इतना गाढ़ा जम जाता है कि वह साबुन और पानी से भी साफ नहीं होता। उसके लिए उस मैले वस्त्र को गर्म पानी में डुबो कर उसमें खार डालना पड़ता है। इसी प्रकार का कर्मबन्ध है—निधत्त। आत्मा पर रागद्वेष की इतनी अधिक चिकनाई हो जाती है कि अधिक गाढ़रूप से बद्ध कर्मबन्ध शीघ्र नहीं छूटता। उसके लिए तीव्रतम पश्चात्ताप, उत्कट तप और तीव्र प्रायश्चित्त, के साथ शुद्ध परिणामों की धारा होती है, तभी उस कर्मबन्ध से छुटकारा होता है। परन्तु जिस शरीर पर इतना अधिक मैल गाढ़रूप से चिपककर तद्रूप हो गया हो, वह मैल चाहे जितना धोने, रगड़ने पर भी छूटता नहीं।[1] इसी प्रकार का कर्मबन्ध है—निकाचित। निकाचित रूप से बँधा हुआ कर्मबन्ध अपना फल भुगवाए बिना नहीं छूटता। आत्मा जब कषाय, राग-द्वेषादि के तीव्रतम परिणामों से कोई प्रवृत्ति करता है, तब निकाचित कर्मबन्ध होता है।

शिथिलता और दृढ़ता से कर्मश्लेष होने के कारण

संसार में हम देखते हैं कि जिस वस्तु में चिकनाई अधिक होती है, उस पर दूसरी वस्तु उतनी ही अधिक मजबूती से चिपकती है। गोंद से डाक टिकट चिपकाने पर इतनी सुदृढ़ता से चिपक जाती है कि वह फट भले जाय, उखड़ती नहीं है। परन्तु उसी गोंद में पानी डाल कर फिर डाक टिकट चिपकाने पर नहीं चिपकेगी, क्योंकि उसमें चेप कम हो गया है। इसी प्रकार आत्मा में कषायरूपी स्निग्धता जितनी अधिक होगी, उतनी ही दृढ़ता से कर्म चिपकेगा, इसके विपरीत कषाय की स्निग्धता जितनी कम होगी, उतना ही शिथिल कर्म का श्लेष (बन्ध) होगा।[2]

---

१. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मणसूरीजी) पृ. १९
२. वही, पृ. २३

सुइयों के ढेर के दृष्टान्त के कर्मबन्ध की चारों अवस्थाओं का विश्लेषण

जैनाचार्यों ने सुइयों के ढेर के दृष्टान्त से कर्मबन्ध की चारों दशाओं (अवस्थाओं) को समझाया है। किसी जगह सुइयों का ढेर पड़ा हो, उस पर हाथ लगाने से ही वे अलग-अलग हो जाती हैं। इसी प्रकार जो कर्मों का बन्धन अतिशिथिल हो, तथा जो सामान्य पश्चात्ताप आदि से छूट जाए, उसे स्पृष्ट कर्मबन्ध समझना चाहिए।

किन्तु किसी ने सुइयों के ढेर को सूत के डोरे से बाँध दिया हो, उस गड्डड़ को खोलने में कुछ देर लगती है। इसी प्रकार जिस कर्मबन्धन को तोड़ने में कुछ देर लगे, विशेष आलोचना आदि से छूटे, उसे बद्ध कर्मबन्ध समझना चाहिए।

किसी ने सुइयों के ढेर को लोहे के तार से कस कर बाँध दिया हो तो उस गड्डड़ को खोलने तथा उन्हें अलग करने में काफी देर लगती है, अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार जो कर्मबन्धन गाढ़ हो, जिसे तोड़ने में तीव्र तप, तीव्र शुद्ध परिणाम, प्रायश्चित्त आदि का पुरुषार्थ करना पड़े, उसे निधत्त कर्मबन्ध समझना चाहिए।

परन्तु किसी ने सुइयों के ढेर को आग में अत्यन्त तपा कर लोह-पिण्ड बना दिया हो, उन्हें अलग-अलग करना असम्भव होता है। इसी प्रकार कर्मों का गाढ़तम बन्धन, जो किसी भी उपाय से, तपस्या आदि से न छूटे, जिसका फल भोगे बिना छुटकारा ही न हो, उसे निकाचित कर्मबन्ध जानना चाहिए। "निधत्त किये हुए नये कर्मों का ऐसा सुदृढ़ बन्ध हो जाना, जिससे वे एक-दूसरे से पृथक न हो सकें, जिसमें कोई कारण कुछ भी परिवर्तन कर सके, अर्थात् कर्म जिस रूप में बँधे हैं, उन्हें उसी रूप में भोगने पड़ें, ऐसे कर्मबन्ध को 'निकाचित' कहते हैं।"[1]

संक्षेप में कर्मबन्ध की दो प्रकार की अवस्था : निकाचित, अनिकाचित

संक्षेप में जैनाचार्यों ने बताया कि जीव दो प्रकार से कर्मबन्ध करता है–(१) निकाचित रूप से और (२) अनिकाचित रूप से। कर्म बाँधते समय जीव के कषाय के तीव्र परिणाम हों, और तीव्र लेश्या हो तो निकाचित कर्मबन्ध होता है। अगर मन्द परिणाम और मन्द लेश्या हो तो अनिकाचित बन्ध होता है। अनिकाचित रूप से कर्मबन्धन किया हो, और बाद में जीव के परिणामों की धारा बदल जाए तो व्रत, नियम, तप, त्याग, ध्यान आदि द्वारा पूर्वबद्ध अनिकाचित कर्मों की निर्जरा भी हो सकती है। अनिकाचित कर्म बन्ध तीन प्रकार का बताया गया है–स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त। जो कर्मबन्ध अतिशिथिल हो, वह स्पृष्ट, जो शिथिल हो, वह बद्ध और जो कुछ गाढ़ हो, वह निधत्त कहलाता है।

---

१. (क) आत्मतत्व विचार (विजयलक्ष्मणसूरी जी), पृ. ३१०, ३१९
(ख) भगवतीसूत्र खण्ड १, श.१, उ.१, सू. ७-६ में निकाचित शब्द का विवेचन, पृ. २४ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

अनिकाचित कर्मबन्ध में शुभ अध्यवसायों द्वारा परिवर्तन सम्भव है, परन्तु निकाचित कर्मबन्ध में कोई भी परिवर्तन शक्य नहीं है।[1]

दोनों प्रकार के कर्म चारों अवस्थाओं के रूप में बँधते हैं

कर्म के मुख्यतया दो भेद हैं–शुभकर्म और अशुभकर्म। दोनों प्रकार के कर्म स्पृष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित, इन चारों दशाओं (डिग्रियों) में बँधते हैं।

अशुभकर्मबन्ध की चारों अवस्थाओं पर विचार

पहले हम अशुभकर्मों के बन्ध की इन चारों अवस्थाओं पर विचार करते हैं। जब आत्मा में राग-द्वेष या कषाय के परिणाम मन्द होते हैं, तब कर्म का बन्ध स्पृष्ट रूप से होता है। यह बन्ध शिथिल होता है। इस प्रकार का अशुभ स्पृष्ट कर्मबन्ध आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) एवं गर्हा से नष्ट हो जाता है।

स्पृष्ट की अपेक्षा 'बद्ध' अशुभकर्मबन्ध अधिक सुदृढ़ होता है। क्योंकि इसमें राग-द्वेष के परिणाम अधिक होते हैं। इसकी विशेष आलोचनादि क्रिया से नष्ट किया जा सकता है। अशुभकर्मबन्ध का तीसरा प्रकार है–निधत्त कर्म के विषय का। जिन क्रियाओं में कषायों की परिणति और रस अधिक हो, उनसे निधत्त रूप से कर्मबन्ध होता है। ऐसे बद्धकर्म उत्कट तप और प्रायश्चित्त से क्षय होते हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के कर्मबन्धों में बताये हुए रागद्वेषादि के अध्यवसायों से भी तीव्र अध्यवसाय और तीव्र रस पूर्वक जो क्रियाएँ की जाती हैं और करने के पश्चात् जिनके विषय में कोई खेद या पश्चात्ताप न हो, ऐसी स्थिति में कर्म अत्यन्त तीव्र रूप से बँधते हैं, जिन्हें उसी रूप में भोगना ही पड़ता है। अशुभकर्मों का निकाचित बन्ध हो तो जीव को बहुत प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। ऐसे कर्म हँसते-हँसते बाँधे जाते हैं, परन्तु वे रोते-रोते भी नहीं छूटते। जैनधर्म अंगीकार करने से पूर्व मगध-सम्राट श्रेणिकनृप ने एक हरिणी का शिकार किया था। हरिणी गर्भवती थी। राजा श्रेणिक के बाण से दोनों के प्राणपखेरू उड़ गए। उस समय राजा श्रेणिक मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले–"मैं कितना पराक्रमी हूँ। मैं कितना बलवान् हूँ कि एक ही बाण से दोनों जीवों को बींध डाला।" ऐसे क्रूर तीव्र अध्यवसाय से उन्हें कर्म का निकाचित बंध हुआ, जिसके फलभोग के लिए उन्हें नरकयात्रा करनी पड़ी। निकाचित कर्म प्रदेश और विपाक द्वारा अवश्य फल प्रदान करता है। कुछ आचार्यों का मत है कि ऐसे कर्मों का क्षय अत्यन्त तीव्रतम और अत्यन्त शुद्ध अध्यवसाय हो तो कदाचित् सम्भव है।[2]

शुभकर्मबन्ध की चारों अवस्थाओं पर विचार

शुभकर्म का अर्थ है–पुण्य। जब आत्मा किसी भी प्रकार की धर्मक्रिया करता है, परन्तु करता है बिना मन से, जैसे-तैसे या लोक दिखावे के लिए; उस धर्म-क्रिया के

१. आत्मतत्त्व विचार (विजयलक्ष्मणसूरीजी), पृ. ३१०
२. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मणसूरीजी), पृ. २४-२५

पीछे उसके मन में किसी प्रकार की मजबूत श्रद्धा या स्थिरता न हो, उसके प्रति अनुराग न हो, ऐसी स्थिति में वह जीव जो पुण्यबन्ध करता है, वह पुण्यबन्ध बहुत ही शिथिल अर्थात् स्पृष्ट रूप होता है। किन्तु धर्मक्रिया कुछ दिलचस्पी के साथ करता है, उस धर्मक्रिया के प्रति उसके मन में भक्ति या बहुमान है, ऐसी स्थिति में जो पुण्यबन्ध होता है, वह बद्धरूप होता है। इससे आगे बढ़कर एक व्यक्ति बहुत ही रसपूर्वक एवं उच्च शुभ अध्यवसायों से, तथा अत्यन्त भक्ति और बहुमान के साथ धर्मक्रिया करता है। ऐसी स्थिति में जो पुण्यबन्ध होगा, वह बहुत ही सुदृढ़ होगा, अर्थात्–वह निधत्तरूप पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होगा। परन्तु इससे भी विशेष तीव्रतम शुभ परिणामों से, अत्यन्त रस और उल्लास के साथ, बहुत ही हार्दिक भक्ति और बहुमान से, सिद्धान्तानुसार धर्मक्रिया की जाती है तो पुण्यानुबन्धी पुण्य भी अत्यन्त सुदृढ़ रूप से बंधता है, जिसे शास्त्रीय भाषा में निकाचित पुण्यबन्ध कहा जाता है।[1]

पुण्यानुबन्धी पुण्य कथंचित् उपादेय : क्यों और कैसे ?

पुण्यानुबन्धी पुण्य आत्मा को इतना दुःखी नहीं करता, और न ही वह धर्म का विघातक है। बल्कि वह कई प्रकार से धर्म में सहायक भी बनता है।[2] इसीलिए हमने 'कर्मविज्ञान के आस्रव और संवर' नामक छठे खण्ड में पुण्य को विशेषतः सम्यग्दृष्टि के और पुण्यानुबन्धी पुण्य को कथंचित् उपादेय प्ररूपित किया है।[3]

स्पृष्टरूप से अशुभ कर्मबन्ध व शुभकर्मबन्ध

इस विषय में एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि जिस क्रिया से कर्मबन्ध हुआ हो, उससे विपरीत क्रिया करने से वह कर्म (पुण्यरूप हो चाहे पापरूप) छूट जाता है। जैसे–किसी के पापक्रिया करने से अशुभ कर्मबन्ध हुआ, वह उसके विपरीत धर्मक्रिया करने से छूट जाता है, इसी प्रकार धर्मक्रिया करने से हुआ शुभबन्ध आसक्तिपूर्वक भोगादि क्रिया करने से छूट जाता है। कोई व्यक्ति दया, दान, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, जप, शील-पालन, स्वाध्याय, व्याख्यान-श्रवण आदि तमाम धर्म क्रियाएँ करता है, परन्तु करता है, बिना मन से, बिना रस से, केवल दिखावे के लिए या औपचारिक रूप से। अर्थात्–वह धर्मस्थान में आया, और किसी ने कह दिया–अमुक धर्मक्रिया कर लो, इसलिए। बिना मन से, देखा-देखी करता है, तो उस धर्मक्रिया से उसे स्पृष्ट रूप से पुण्यबन्ध होगा। इसके विपरीत किसी व्यक्ति ने पापक्रिया की, परन्तु लाचारी से, विवश होकर, किसी के दबाव या भय से, बिना मन

---

१. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मणसूरीजी) पृ. २५
२. वही पृ. २६
३. देखें–पुण्य कब और कहाँ तक उपादेय एवं हेय ?'–शीर्षक निबन्ध

से खेदपूर्वक निरुपाय होकर अमुक पाप-क्रिया उसे करनी पड़ी। ऐसी स्थिति में उसे पापबन्ध होगा, वह स्पष्टरूप होगा।[1]

बन्ध क्रिया से होता है। क्रिया शरीर से ही होती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्रिया तन से भी होती है, मन से भी होती है, वचन से भी होती है। इसीलिए कर्मबन्ध मानसिक विचारों से भी होता है और काया तथा वाणी से भी होता है।

पुण्यानुबन्धी पुण्य के कारणरूप धर्मक्रिया से पुण्यबन्ध और निर्जरा भी

कोई यह कहे कि पुण्यानुबन्धी पुण्य भी कर्म है, और उसका कारण धर्मक्रिया है, अतः कर्म तोड़ने की भावना वाले को धर्मक्रिया क्यों करनी चाहिए ? परन्तु ऐसा कथन करने वाले सिद्धान्त-विरुद्ध प्ररूपणा करते हैं। वे जैन सिद्धान्त के अनेकान्तमय रहस्य को समझे ही नहीं हैं। कोई भी जीव धर्मक्रिया किये बिना मुक्ति में नहीं जा सकता। चाहे वह मन से धर्मध्यान की क्रिया करे, चाहे वाणी से स्वाध्याय आदि धर्मक्रिया करे, अथवा काया से वन्दनादि क्रिया करे। शुद्धभाव से धर्मक्रिया करने से भी शास्त्रकारों ने 'धर्म' की प्ररूपणा की है। यह ठीक है कि धर्मक्रिया पुण्य का बन्ध कराती है, परन्तु साथ ही वह निर्जरा अथवा संवररूप धर्म की कारण भी बनती है।

व्रत-नियम-पालन, चारित्र-पालन, बाह्य तप, जप, भगवद्भक्ति, स्तुति आदि क्रियाओं में मन, वचन और काया के योग की प्रवृत्ति होती है, इसलिए पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है। दशवैकालिक सूत्र में यतना से चलने, उठने, बैठने, सोने, खाने-पीने, बोलने आदि क्रियाओं में पापकर्म के बन्ध का निषेध किया है, उससे स्पष्ट ध्वनित होता है, उन क्रियाओं के करने से पुण्यकर्म का बन्ध होता है, साथ ही उन क्रियाओं को करते-करते ढंढणमुनि की तरह उत्कृष्ट शुद्ध परिणाम आएँ तो कर्म-निर्जरा भी हो सकती है। कोई यह समझे कि आज का आज ही शुभ कर्मों के बन्ध को भी टाल दूँ, ऐसा होना प्रायः शक्य नहीं है, क्योंकि धर्मक्रिया उत्कट भावों द्वारा करने से पुण्यबंध कम और निर्जरा अधिक होती है। ऐसी कोई धर्मक्रिया नहीं होती, जिससे केवल निर्जरा ही हो, पुण्यबन्ध न हो।[2]

चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति के पूर्व तक धर्मक्रिया उपादेय : क्यों और कैसे ?

जैसे कोई व्यक्ति अपने मकान से कूड़ा कचरा निकालता है, उस समय हवा से उड़ कर थोड़ा कचरा आ ही जाता है, इसी प्रकार कोई छद्मस्थ व्यक्ति अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी कचरे को सिद्धान्तानुसार धर्मक्रिया रूपी बुहारी से निकालने के लिए उद्यत होता है, प्रयत्नशील होता है, उस समय सरागतावश, पूर्वसंस्कारवश, मन्दकषायवश थोड़ा पुण्यबन्ध तो होता ही है, परन्तु निर्जरा अधिक होती है। मगर जो बन्ध होता है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य का होता है। ऐसे पुण्य का उदय धर्माचरण

१. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मणसूरिजी) पृ. २६, २७।
२. वही, पृ. २७।

में विघ्नकारक नहीं होता। उससे आत्मा भी सुखी और शान्त रहती है। कषाय, परिग्रह, अभिमान, आदि भी मन्दतर हो जाते हैं। ऐसा पुण्य धर्मविघातक नहीं होता। वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक कर्मक्षय करके, उत्तम पुण्यानुबन्धी पुण्य के फलस्वरूप उच्च देवलोकों तथा उनके सुखों को प्राप्त करता है। साथ ही वह पुण्य मुक्ति के कारणों में सहायरूप होता है। आशय यह है कि मुक्ति प्राप्त न हो, वहाँ तक उक्त पुण्यानुबन्धी पुण्य जीव को सद्गति प्राप्त कराता है और मुक्ति के कारणों में पुरुषार्थ करने का ऐसा संयोग उपस्थित कर देता है, जिससे शीघ्र मुक्ति प्राप्त हो सके।[1]

निष्कर्ष यह है कि चौदहवाँ अयोगी केवली गुणस्थान प्राप्त होने से पहले तक कोई भी आत्मा क्रिया किये बिना रह नहीं सकता। चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त न हो, वहाँ तक शुभ या अशुभ क्रिया तो रहेगी ही। और यह बात भी निश्चित है कि तथाप्रकार की सूत्रानुरूप धर्मक्रिया किये बिना चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त हो ही नहीं सकता। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि "सूत्रानुसार गमनादि क्रिया या धर्मचर्या करने वाले साधक को ईर्यापथिकी क्रिया लगती है। इसके विपरीत सूत्रविरुद्ध क्रिया करने वाले व्यक्ति को साम्परायिक क्रिया लगती है।"[2] इस दृष्टि से सूत्रानुसार धर्मक्रिया परम्परा से केवलज्ञान की, चौदहवें गुणस्थान की और मुक्ति की भी कारण है ही। अतः आत्मार्थी और मुमुक्षु साधक को आत्मा को शुद्ध, निष्कलंक और कर्ममुक्त करने के लिए सूत्रानुरूप धर्मक्रिया करनी ही चाहिए।[3]

स्पृष्टरूप से बांधे जाने वाले पुण्य तथा पाप का बन्ध

कर्मबन्ध की दृष्टि से देखा जाय तो जो व्यक्ति धर्मक्रिया करता है, परन्तु नीरसभाव से, बिना मन के केवल काया से जैसे-तैसे करता है, तो उसे स्पृष्टरूप से पुण्यबन्ध होता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह, अब्रह्मचर्य आदि पापक्रिया करता है, परन्तु करता है, बाध्य होकर, लाचारी से, दबाव से, पश्चात्तापपूर्वक आत्मनिन्दा करते हुए; तो उसके भी पापकर्म का बन्ध बहुत ही अल्प, स्पृष्टरूप होता है। पापक्रिया पश्चात्तापपूर्वक करने के बावजूद भी वह अगर गुरुदेव के पास आकर उसकी आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि करता है, प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, आत्मभावों से स्वयं को भावित करता है तो उसके पाप धुल जाते हैं। यह हुआ स्पृष्टरूप से हुए पुण्यबन्ध तथा पापबन्ध का स्वरूप।[4]

---

१. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मणसूरीजी) पृ. २७, २८

२. देखें, भगवतीसूत्र श. ७, उ. १, सू. १६/१ में उक्त-"अहासुत्तं रियं रियमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जति उस्सुत्तं रियमाणस्स संपराइया किरिया कज्जति", सूत्र में अहासुत्तं और उस्सुत्तं की व्याख्या —खण्ड २, पृ. ११९

३. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मणसूरीजी), पृ. २८

४. वही, पृ. २९ से भावांशग्रहण

बद्धरूप से हुए पाप और पुण्य का बन्ध

अब जरा बद्धरूप से होने वाले पापबन्ध तथा पुण्यबन्ध पर विचार कर लें। पहले बताया गया था कि जैसे–सुइयों के ढेर को एक डोरे से कस कर बाँध दिया जाता है तो उन सुइयों के बँधे हुए गट्ठर को खोलने और सुइयों को अलग-अलग करने में जरा देर लगेगी; वैसे ही अच्छी (धर्म) क्रिया या बुरी (पाप) क्रिया स्पृष्टरूप कर्मबन्ध कराने वाली क्रिया की अपेक्षा जिस धर्मक्रिया अथवा पापक्रिया में रुचि, प्रशस्त राग, अनुराग आदि घुले-मिले हैं, ऐसा कर्मबन्ध बद्ध कहलाता है। बद्ध कर्मबन्ध में पापकर्म या पुण्यकर्म करने में गाढ़ रुचि होती है, इसलिए स्पृष्ट की अपेक्षा यह कर्मबन्ध मजबूत होता है। इस कर्म को तोड़ने के लिए खास प्रायश्चित्तादि करना पड़ता है। जैसे–डोरे से बँधे हुए सुइयों के बन्धन को ढीला करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, वैसे ही बद्धरूप से बँधे हुए कर्मों को तोड़ने या ढीला करने के लिए भी खास प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसे प्रयत्न से टूटने वाला कर्मबन्ध बद्ध कहलाता है।[1]

स्पृष्टरूप से बँधा हुआ बन्ध बद्ध, निधत्त और निकाचित भी हो सकता है

यहाँ एक बात ध्यान में रखना जरूरी है कि पहले स्पृष्टरूप से कर्मबन्ध हुआ हो, परन्तु बाद में रुचि, वृत्ति और रागद्वेषादि में उत्तरोत्तर वृद्धि हो जाए तो पीछे से वह बन्ध बद्ध, निधत्त या निकाचित रूप भी हो सकता है। इसका कारण यह है कि उस क्रिया के करने के पश्चात् उसकी अत्यन्त प्रशंसा की हो या अत्यन्त हर्षावेश में आकर नाच उठा हो तो ऐसा होता है। जैसे–एक व्यक्ति ने पहले कोई पाप क्रिया नीरस भाव से की है, परन्तु बाद में उस क्रिया का स्मरण करके वह अत्यन्त हर्षाविष्ट हो गया हो, वह अपने द्वारा कृत पाप की प्रशंसा करने लग गया हो, ऐसी स्थिति में पहले स्पृष्टरूप से बँधा हुआ कर्म बद्धरूप में बँध जाता है। इसी प्रकार पहले बद्धरूप से पाप-कर्म बाँधे हों, परन्तु बाद में उन पापकर्मों के बारे में बार-बार अत्यन्त हर्षाविष्ट हो जाए, अपनी बहादुरी बताए, अपने मुँह से अपने आपको शाबाशी दे तो वह बद्धरूप से बाँधा हुआ पापकर्म निधत्तरूप से बँध जाता है। इसी प्रकार निधत्तरूप से बाँधे हुए पापकर्म की बाद में बार-बार प्रशंसा अत्यन्त हर्षावेश में उन्मत्त हो जाए, अपनी बड़ाई जगह-जगह हांकता फिरे; बार-बार उस पाप-कर्म की अनुमोदना करे तो वह शिथिलरूप से बाँधा हुआ पापकर्म सुदृढ़ निकाचित बंधरूप हो जाता है। इसी प्रकार पहले सुदृढ़ बंधरूप में बाँधे हुए पापकर्म की पीछे से तीव्रभाव से पश्चात्तापपूर्वक आलोचना, निन्दना और गर्हणा करे, जनता द्वारा किये जाते हुए आक्रोश, निन्दा, ताड़ना, तर्जना आदि परीषहों को समभाव से सहे, क्षमादि दशविध धर्माचरण करे, संवरभाव में तत्पर रहे तो वह गाढ़ बंध वाला पापकर्म शिथिल बन्ध वाला हो जाता है। कदाचित् शुद्ध अध्यवसाय होने से उसका क्षय भी हो जाता है।[2]

१. वही, पृ. २९-३०।
२. वही, यांत्किंचिद्ग्रहण पृ. ३०।

जैसे–अर्जुन मालाकार ने कषायादिवश होकर मानवहिंसारूप पापकर्मों का गाढ़बन्ध किया, किन्तु मुनि बनने के पश्चात् उन्होंने आक्रोश आदि परीषहों को समभाव से सहन किया, सभी जीवों पर क्षमाभाव धारण किया, संवरभाव में रहकर नवीन कर्मबन्ध रोका, प्राचीन कर्मबन्ध की आलोचनादिपूर्वक निर्जरा की। इस प्रकार छह महीनों में क्रमशः गाढ़बन्धन से बद्ध उन कर्मों का सर्वथा क्षय कर डाला, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने अशुभ परिणामों की तीव्रता से सातवीं नरक में जाने के कर्म बांध लिये थे, लेकिन कुछ ही देर बाद उन्होंने अपने दुष्ट अध्यवसायों से स्वयं को पीछे खींचा, प्रबल शुभ अध्यवसाय किया, जिससे सर्वार्थसिद्ध देवलोकगमन का शुभकर्मबन्धन गाढ़रूप से बाँधा। बाद में उनके अध्यवसायों में शुद्धि उत्तरोत्तर चालू रही, वे उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए, मोहनीय आदि चारों घातिकर्मों का क्षय किया और उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इस प्रकार सुदृढ़ रूप से बँधे हुए पापकर्म को, शुभ अध्यवसायादि से सुदृढ़ रूप से पुण्यकर्म बन्ध के रूप में भी जीव परिणत कर सकता है, और तीव्र अध्यवसायादि से कदाचित् चारों घातिकर्मों अथवा आठों कर्मों का उदय में आने पर सर्वथा क्षय भी कर सकता है।

निधत्तरूप से शुभ-अशुभ-कर्मबन्ध : एक विश्लेषण

निधत्तरूप से बंधे हुए शुभ-अशुभ कर्मबन्ध के विषय में जैनकर्मविज्ञान ने गहरा प्रकाश डाला है। पहले बताया गया था कि निधत्तबन्ध उन सुइयों के गट्ठर की तरह है, जिनके ढेर को लोहे के तार से कस कर बाँधा गया हो, फिर उन पर जंग लग गया हो। ऐसी सुइयाँ कब अलग होती हैं ? जब उन पर मिट्टी का तेल लगाकर उनको खूब घिसा जाता है, और तब लोहे के तार को खोला जाता है। इस प्रकार की श्रमसाध्य और समयसाध्य प्रक्रिया से सुइयाँ अलग-अलग और साफ हो जाती हैं। निधत्त कर्मबन्ध भी ऐसा ही सुदृढ़ तथा श्रम एवं समय-साध्य है। निधत्त रूप से बंधे हुए अशुभ कर्मों को तोड़ने के लिए दीर्घकाल तक कठोर तपश्चर्या करनी पड़ती है, तीव्र पश्चात्ताप तथा आलोचना-निन्दना-गर्हणा करनी पड़ती है, उच्च प्रकार की भावनाओं तथा शुद्ध अध्यवसायों से आत्मा को भावित करना पड़ता है।[1] तभी निधत्त रूप से बंधे हुए अशुभकर्मों से छुटकारा मिल सकता है। अन्यथा, निधत्तरूप से बाँधे हुए अशुभ कर्म के उदय में आने पर सैकड़ों-हजारों वर्षों तक दुःख भोगना पड़ता है। निधत्तरूप से बद्धकर्म जीव को रुलाते हैं, दुःख देते हैं, पीड़ित करते हैं, संतप्त करते हैं। अपना मनचाहा कुछ भी नहीं होने देते। एक घंटे पहले जहाँ खुशियाँ छा रही थीं, वहीं अचानक खेदजनक या चिन्ता-जनक समाचार मिलते हैं, तब सारे ही पासे उलटे पड़ने लगते हैं। निधत्तरूप से बांधे हुए पापकर्म के उदय में आने पर सभी काम उलटे ही उलटे होते हैं।

१. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) (विजयलक्ष्मणसूरी कृत) पृ. ३१

इसी प्रकार तीव्ररुचि और शुभ अध्यवसायपूर्वक धर्मक्रिया की जाती है तो उससे निधत्तरूप से पुण्यबन्ध होता है। उसके उदयकाल में जीव को मनुष्य-जन्म, आर्यदेश, उत्तमकुल, परिपूर्ण पाँचों इन्द्रियाँ, निरोग-स्वस्थ शरीर, इष्ट-वस्तु का संयोग और धर्म-प्राप्ति के साधन आदि मिलते हैं। ऐसे निधत्तबद्ध पुण्य के उदय से आनन्द का असीम झरना फूट पड़ता है।[1]

यह हुआ निधत्तरूप से बद्ध शुभ-अशुभ कर्म का कार्य और सुफल !

निकाचित रूप से बंधे हुए शुभाशुभ कर्मबन्ध का कार्य

अब रहा निकाचित रूप से बंधे हुए शुभ-अशुभ कर्म का कार्य और फल। पहले बताया जा चुका है कि जैसे-सुइयों के गट्ठर को आग में तपा-तपाकर लोहपिण्ड बना लेने पर उन सुइयों का अलग-अलग होना असम्भव है, यही बात निकाचित रूप से बद्ध कर्म के विषय में समझिए। निकाचित रूप से बद्ध कर्म का फल जीव को भोगना ही पड़ता है। उसे भोगने पर ही छुटकारा होता है, बिना भोगे वे कदापि नहीं छूटते। प्रश्न होता है-ऐसा अतिसुदृढ़ कर्मबन्ध कैसे हो जाता है ? इसका समाधान यह है कि जैसे-किसी व्यक्ति को किसी जीव को मारने की बुद्धि उत्पन्न हुई। मारने से पहले तीव्र इच्छा हुई, कि इसे मारूँ तभी मेरी शान है। फिर मारने के समय में अत्यन्त खुशी हो तथा तीव्रभाव से उछल-उछल कर उस व्यक्ति को मारे और जान से मार डालने के बाद उस हिंसा के पापकार्य को वीरता का कार्य माने तथा अपनी तथाकथित बहादुरी का खूब गुणगान करे। ऐसी पापक्रिया करते समय आत्मा में कषायों की मात्रा बहुत प्रबल होती है, राग-द्वेष भी तीव्र होता है, रौद्र-परिणाम भी उत्कट हों तो उस हिंसाजन्य अशुभ कर्म का निकाचित रूप से बंध हो तो उसका कटु फल समय आने पर भोगना ही पड़ता है। निकाचित बंध हो जाने के पश्चात् चाहे जितनी धर्मक्रिया करो, देव-गुरु-धर्म की सेवा करो, तीव्र तप आदि करो, परन्तु इस प्रकार से बद्ध कर्म के उदय काल में उसका फल तो मिलने ही वाला है। जैसे-कई रोग ऐसे असाध्य होते हैं कि इलाज कराने पर भी मिटते नहीं हैं, कई व्यक्तियों को धन प्राप्त करने के लिए अथक पुरुषार्थ करने पर भी नहीं मिलता, कई व्यक्ति दुःख मिटाने के लिए तनतोड़ प्रयत्न करते हैं, फिर भी नहीं मिटता, ऐसी स्थिति में समझना चाहिए कि निकाचित रूप से बांधे हुए कर्म का उदय है।[2]

निकाचित रूप से बंधे हुए पुण्यकर्म की पहचान

इसी प्रकार अत्यन्त शुभ अध्यवसायों से तीव्र रसपूर्वक की हुई धर्मक्रिया से पुण्य-कर्म भी निकाचित रूप से बंधता है। उसका फल भी उदय आने पर भोगना पड़ता है। पाप की तरह व्यक्तिगत पुण्यानुबंधी पुण्य की स्थिति भी सादि-सान्त है।

---

१. कर्मफिलोसोफी से भावांशग्रहण, पृ. ३१
२. वही, पृ. ३२-३३

पुण्यानुबन्धी पुण्य व्यक्ति को स्वर्गादि सद्गति प्राप्त कराता है, लौकिक सुख-सुविधाएँ तथा तदनुकूल सामग्री भी प्राप्त होती है। परन्तु यदि वह व्यक्ति उनमें आसक्त हो जाता है, या अधिकाधिक भोगविलास की वांछा करता है तो पुण्यानुबन्धी पुण्य के बदले वही बन्ध पापानुबन्धी पुण्य के रूप में भी परिणत हो सकता है। यदि वह व्यक्ति दीर्घदृष्टि से विचार करके प्राप्त सुखसामग्री पर आसक्त नहीं होता और भोग-विलास की वांछा नहीं करता है, तो उसका पुण्यानुबन्धी पुण्य का वह बन्ध उसके उज्ज्वल भविष्य के द्वार खोलने वाला तथा परम्परा से मोक्ष प्राप्त कराने वाला बन जाता है। शालिभद्र को पुण्यानुबन्धी पुण्य के फलस्वरूप अखूट वैभव और सुख सामग्री प्राप्त हुई थी, फिर भी उस पवित्र आत्मा ने इस पर आसक्ति नहीं रखी और उस अपार ऋद्धि सम्पदा एक झटके में त्याग कर दिया।

निकाचित बंधे हुए शुभकर्मों का फल भोगते समय सावधान !

निकाचितरूप से बंधे हुए अशुभ या शुभ कर्मों का फल आत्मा को भोगना ही पड़ता है। परन्तु शुभकर्मों का फल भोगते समय अहंकार, गर्व, मद, आसक्ति, लोभ आदि न आएँ, समभाव रखा जाए तो भोग लेने के बाद वे सर्वथा छूट जाते हैं। परन्तु अशुभकर्मों के निकाचित-बन्ध का फल भोगते समय हाय-हाय करे, विलाप करे आर्तध्यान करे तो नये कर्म और बँध लाते हैं। निकाचित रूप से बद्ध अशुभ (पाप) कर्मों का फल हजारों-लाखों वर्षों तक भोगना पड़ता है, फिर भले ही वह हाय-तोबा मचाए या विलाप करे। लाखों में एकाध व्यक्ति ऐसा निकलता है, जो निकाचित रूप से बँधे हुए पापकर्मों का फल परीषह सहकर, क्षमादि दशविध धर्माचरण करके, कठोर तपश्चर्या करके, धर्मक्रिया भी पवित्र अध्यवसाय से तन्मयतापूर्वक करके, भोग लेता है। इन पवित्र उपायों से कदाचित् निकाचित रूप से बंधे हुए कर्म नष्ट हो जाएँ; परन्तु ऐसा होता है, क्वचित् ही।[1]

कर्मविज्ञान द्वारा साधक को सावधान करने के लिए बन्धचतुष्टयावस्था

बन्ध की इन चारों अवस्थाओं–विशेषों पर विचार करके साधक को प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए। कर्मविज्ञान ने इसीलिए कर्मबन्ध के इन चार मापकों पर इतना सुन्दर चिन्तन दिया है; साथ ही परोक्षरूप से प्रेरणा भी ध्वनित कर दी है कि कर्म बाँधते समय पहले तो खूब विचार करो, तत्पश्चात् यदि लाचारी से कर्म बाँधना ही पड़े तो स्पृष्ट या बद्धरूप से ही बन्ध हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाए। राग-द्वेषादि या कषायादि का रंग जितना भी तीव्र या गाढ़ होगा, उतना ही बन्ध सुदृढ़ से सुदृढ़तर होता जाएगा। इसके विपरीत इनका रंग जितना भी हलका एवं शिथिल होगा, उतना ही बन्ध शिथिल या शिथिलतर होगा। ● ●

---

१. कर्म फिलोसोफी (गुजराती) से भावांशग्रहण पृ. ३३

११

कर्मबन्ध के विभिन्न प्रकार और स्वरूप

व्यक्ति किसी भी चीज को बांधने में मन और काया से बांधता है

लोकव्यवहार में यह देखा जाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी चीज को बांधना चाहता है, तो पहले मन में उसका प्लान बनाता है, विचार करता है कि इसे अमुक-अमुक वस्तुओं से बांधना है, तदनन्तर वह बांधने की क्रिया करता है, कल्पना कीजिए—किसी व्यक्ति को दवा की गोली बांधनी है; तो पहले वह व्यक्ति उस दवा की गोली बनाने में कौन-कौन-चीजें पड़ती हैं? फिर गोलियाँ कैसे बांधी जाती हैं? इसको वह अपने मस्तिष्क में बिठाता है, फिर गोलियाँ बांधता है। एक दृष्टि से वह पहले अपने मस्तिष्क में उस दवा की गोलियाँ भावों से बांध लेता है, तत्पश्चात् उक्त गोली को बांधने का सामान जुटा कर विधि-पूर्वक गोलियाँ बांधता है। पहली मानसिक प्रक्रिया को हम भाव से गोली बाँधना कहते हैं और दूसरी कायिक प्रक्रिया को द्रव्य से गोली बांधना कहते हैं। ठीक यही बात कर्मबन्ध के विषय में समझनी चाहिए। कर्मबन्ध करने वाला पहले राग द्वेष, कषाय आदि भावों से कर्म बांध लेता है, तत्पश्चात् वह द्रव्य से मन-वचन-काया से भी कर्मपुद्गलों को बांधता है। सांसारिक जीव तो प्रायः मन-वचन-काया से द्रव्यकर्म के साथ-साथ ही भावकर्म और भावकर्म के साथ ही द्रव्यकर्म का बंध करता है। कर्मबन्ध का यह द्विविध चक्र तब तक चलता रहता है, जब तक वीतरागता प्राप्त नहीं हो जाती।

सामान्यतया कर्मबन्ध तभी होता है, जब जीव (आत्मा) स्व-भाव को छोड़ कर पर-भाव से संयोग करता है, अथवा राग-द्वेष, कषाय आदि विभावों को अपनाता है।

हाथ से उठाने की तरह भाव से उठाने से भी बन्ध होता है

एक व्यक्ति किसी दूसरे की कीमती चीज को अपने कब्जे में करने के लिये उससे बिना पूछे ही उठा लेता है, क्या वह पकड़ा नहीं जाएगा या बन्धन में नहीं डाला जाएगा? वह पकड़े जाने पर सजा का पात्र होता है, जेल में बंद कर दिया जाता है। यह एक प्रकार का बन्धन हुआ। परन्तु कोई अपनी चीज मान कर भी (जो वास्तव में

अपनी नहीं, पराई है), उस पर राग, मोह, आसक्ति, करता है, इसी प्रकार किसी भी पर-पदार्थ (आत्मा से भिन्न पदार्थ) पर द्वेष, घृणा या दुर्भाव करता है। सजीव या निर्जीव पर-पदार्थों पर कोई राग, द्वेष, कषाय या आसक्तिभाव करता है, वह भी बन्धन का पात्र है। इसी प्रकार जैसे-इन्द्रियों, हाथ, पैर या मन, वचन, काय से आत्मा जब किसी पर-पदार्थ को पकड़ता है, कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है, वह द्रव्यबन्ध है। राग-द्वेष या कषाय के परिणाम या भाव से किसी चीज को पकड़ना भावबन्ध है। अर्थात्-किसी पर-पदार्थ को हाथ से उठा लेना बन्ध है, उसी प्रकार शुभ-अशुभ भाव से किसी सजीव-निर्जीव परपदार्थ को पकड़ लेना भी बन्ध है।[1]

केवल वस्तु को सहजभाव से पकड़ने या स्पर्श करने से बंध नहीं होता

केवल वस्तु को निरपेक्ष और तटस्थरूप से पकड़ने पर बन्ध (द्रव्यबन्ध) नहीं होता, परन्तु उसे पकड़ने के साथ जब कोई प्रियता-अप्रियता या राग-द्वेष का भाव, अध्यवसाय या परिणाम आता है, तब बन्ध होता है। किसी वस्तु को केवल पकड़ने, स्पर्श करने मात्र से यदि बन्ध हो जाता है, तब तो वीतरागी मुनियों को भी बन्ध होने लगेगा; क्योंकि वे भी चलते हैं तो जमीन का स्पर्श होता है, जीना चढ़ते हैं तो डंडे को पकड़ना पड़ता है, लकड़ी का भी सहारा लेना पड़ता है, चटाई या पट्टे पर बैठते हैं, तो उसका भी स्पर्श होता है। फिर आँखों से कई वस्तुएँ देखते हैं, तो उनका भी स्पर्श होता है, कानों में मधुर-कटु शब्द पड़ते हैं, तो उनका भी स्पर्श होता है, नाक में बदबू या खुशबू आती है, उसका भी स्पर्श होता है, दर्शनार्थ आने वाले भाई-बहनों के रूप का भी आँखों से स्पर्श होता है। कोई भी खाद्य या पेय पदार्थ खाते-पीते हैं तो उसके स्वाद का भी जीभ को स्पर्श होता है। इस प्रकार किसी चीज को पकड़ने या स्पर्श करने-ग्रहण करने या इस्तेमाल करने मात्र से यदि कर्मबन्ध हो जाएगा, तब तो कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि वीतरागी मुनिवर भी कर्मबन्ध से छूट नहीं सकेंगे, पद-पद पर पल-पल में कर्मबन्ध होता रहेगा। श्वासोच्छ्वास का, वायु का तथा सूर्य-किरणों का, धूप एवं छाया का स्पर्श तो क्षण-क्षण में होता है। उससे तो जीवित मानव किसी भी तरह बच नहीं सकता। इसीलिए समयसार में कहा गया है केवल क्रिया से या वस्तु से बन्ध नहीं होता, बन्ध होता है-उक्त वस्तु के प्रति या मन-वचन-काया की क्रिया के साथ किये जाने वाले भाव से, अध्यवसाय से या परिणाम से।[2] क्रिया से कर्म आते अवश्य हैं, परन्तु वे अवन्धक होते हैं, उनके साथ कषाय या रागद्वेष न हो तो उनका रसबन्ध एवं स्थितिबन्ध नहीं होता।

दो प्रकार की क्रिया से दो प्रकार का बन्ध

क्रिया दो प्रकार की होती है-हलन-चलनरूप क्रिया और भावरूप क्रिया। जब हलन-चलन या परिस्पन्दनरूप क्रिया होती है, तभी उसके साथ रागद्वेष या कषाय का

---

१. मुक्ति के ये क्षण (ब्र. कु. कौशल) से साभार उद्धृत, पृ. ८३

२. ण य वत्थुदो बंधो,

परिणाम मिलने से कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का आकर्षण एवं ग्रहण होता है, फिर आत्मप्रदेशों के साथ उनका परस्पर मिलन–श्लेष होता है। इसी का नाम बन्ध है।

जीव के द्वारा पुद्गलों को छेड़े जाने से परस्पर बन्धद्वय होता है

संसार में जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं। वैसे तो अजीव में पांच प्रकार के द्रव्य हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गल। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल के साथ जीव नहीं बंधता है। वह जब भी बंधता है, पुद्गल के साथ बंधता है। पूर्वोक्त चार द्रव्य तटस्थ हैं, वे जीव और पुद्गल दोनों को अपने-अपने गुण (स्वभाव) के अनुसार सहयोग की अपेक्षा हो तो सहयोग देते हैं, किन्तु जीव और पुद्गल, ये दोनों ही परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं, क्योंकि जीव पुद्गल को छेड़ता है। छेड़ने के दो ढंग होते हैं। एक होता है–किसी चीज को भाव से उठा लेना, उसका मनमाना उपयोग करना, और दूसरा होता है–किसी चीज को हाथ से उठा लेना, मन के परिणामों से उस पर रागद्वेष, मोह, ममत्व या कषाय करना। चीज को हाथ से (रागादिपूर्वक) उठाने पर भी और भाव से उठाने पर भी, दोनों तरीकों से बन्ध होता है। पहले को द्रव्यबन्ध और दूसरे को भावबन्ध कहा जाता है।[1]

स्पन्दनादि क्रिया धर्मास्तिकाय के निमित्त से, भावरूप क्रिया काल द्रव्य के निमित्त से

जो क्रिया बाह्यरूप से हलन-चलन या स्पन्दन आदि के रूप में की जाती है, वह धर्मास्तिकाय द्रव्य के निमित्त से होती है, तथा भावरूप से करने की क्रिया कालद्रव्य के निमित्त से होती है। वस्तुतः जब मनुष्य भाव से पदार्थ को ग्रहण करता है, तब कर्म से बंध जाता है।

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध का लक्षण

निष्कर्ष यह है कि बन्ध मुख्यतया दो प्रकार होता है–द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। जिन राग, द्वेष, मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्ध होता है, उन भावों को भावबन्ध कहते हैं। कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों के सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है।[2] भगवती सूत्र में मार्कंदिकपुत्र के प्रश्न के उत्तर में भगवान के दो प्रकार के बंध बताए हैं।

---

१. मुक्ति के ये क्षण से भावांश ग्रहण, पृ. ९१-९२

२. (क) मुक्ति के ये क्षण से भावांशग्रहण, पृ. ९२
(ख) मागंदियपुत्ता ! दुविहे बंधे पण्णत्ते, तं जहा–दव्वबंधे य भाव-बंधे य।'
–भगवती. १८/३/१० सू.
(ग) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) से भावग्रहण, पृ. २२४

जीव और पुद्गल का विशिष्ट संयोगसम्बन्ध होता है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं

यह निश्चित है कि दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध के बिना बन्ध नहीं होता। द्रव्यबन्ध में आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध है। प्रश्न यह होता है कि जीव और कर्म-प्रदेशों (कर्मपुद्गलों) का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि जीव अमूर्तिक है, और कर्मपरमाणु-पुद्गल मूर्तिक हैं। वे परस्पर कैसे बंधते हैं? किन्तु द्रव्यबन्ध में आत्मा और कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध है, वह तादात्म्यरूप या एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है, अपितु वह संयोगसम्बन्ध है, अथवा निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध है। तादात्म्य सम्बन्ध या एकत्व सम्बन्ध में दो में से एक की सत्ता मिट कर एक शेष रहता है, अथवा दो मिलकर एक दिखता है; पर यहाँ ऐसा नहीं होता। क्योंकि जीव और कर्म के बन्ध में दोनों की एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीव की पर्याय चेतनरूप होती है, जबकि कर्मपुद्गल की अचेतनरूप। पुद्गल का परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिरूप से होता है, जबकि जीव का परिणमन होता है—चैतन्य के विकास रूप से।[1]

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध भी दो-दो प्रकार का

बन्ध भी कई प्रकार का होता है। सजातीय द्रव्यबन्ध और विजातीय द्रव्यबन्ध, इसी प्रकार सजातीय भावबन्ध और विजातीय भावबन्ध। जैसे—घी और आटे का बन्ध पुद्गल के साथ पुद्गल का सजातीय द्रव्यबन्ध है। किन्तु पुद्गल का जीव के साथ विजातीय बन्ध है। इसी प्रकार जीव का जीव के साथ भी बन्ध होता है। वह होता है—भाव से, अध्यवसाय से, अर्थात् राग, द्वेष या मोह से। उदाहरणार्थ—यह मेरा पुत्र है, यह तो अमुक का नालायक पुत्र है। इस प्रकार एक के प्रति राग और एक के प्रति द्वेष, यह सजातीय भावबन्ध होता है। विजातीय (पुद्गल) के साथ भी जीव का भावबन्ध भी होता है। जैसे—किसी व्यक्ति ने कहा—यह मेरा मकान है, यह मेरी दूकान है, इत्यादि; मोहभाव से विजातीय भावबन्ध है। भावबन्ध आँखों से दिखाई नहीं देता, परन्तु है वह पैरों में पड़ी हुई बेड़ी की तरह बहुत गाढ़ बन्धन। प्रायः प्रत्येक गृहस्थ के मन में अपने घर के प्रति आकर्षण होता है। वह कहीं भी चला जाता है, फिर भी उसे अपने घर की याद आती रहती है। (होम, स्वीट होम—Home, Sweet Home!) घर जैसा मधुर उसे पराया मकान नहीं[2] लगता। वह घर के प्रति रागभाव से बंधा होता है। पुद्गल का पुद्गल के साथ या पुद्गल का जीव के साथ भावबन्ध नहीं होता, इसी प्रकार जीव का जीव के साथ द्रव्यबन्ध नहीं होता। भावबन्ध चाहे इन चर्मचक्षुओं से दिखता न हो, परन्तु है वह बहुत ही गाढ़। एक व्यक्ति के हाथ में पतंग की डोर है। पतंग आकाश में घूमती है, बहुत ऊँची चली जाती है। वह पतंग यों माने कि मैं स्वतंत्र हूँ; तो क्या वह स्वतंत्र है? नहीं, वह उस डोरी से बंधी हुई (पराधीन)

---

१. जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) पृ. २२४

२. मुक्ति के ये क्षण से भावांशग्रहण, पृ.९२

है। इसी प्रकार हम चाहे भौतिक विज्ञान में बहुत दक्ष हों, विज्ञान के शिखर पर पहुँच जाएँ, परन्तु हम ममत्व की–राग मोह की डोरी से–भाव की डोरी से बंधे हुए हैं–कभी मकान से, कभी दूकान से, कभी पुत्र-पौत्रों से, कभी परिवार, राष्ट्र, सम्प्रदाय, जाति आदि से तो वहाँ जीव का पुद्गल से तथा जीव का जीव से भावात्मक बन्ध होगा। जीव का पुद्गल के साथ जैसे भावात्मक बन्ध होता है, उन जड़ चीजों के प्रति राग, द्वेष, मोह के कारण, तथैव जीव का जड़ पुद्गलों के प्रति द्रव्यात्मक बन्ध भी होता है, कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेश से बंधने से।

भावबन्ध कैसे? भावबन्ध के कारण द्रव्यबन्ध कैसे?

एक बीस मंजिली बिल्डिंग है। उसे कोई अन्य बिल्डिंगों के साथ सहजभाव में देखता जा रहा है, तो कोई बात नहीं, वह ज्ञानमय है। परन्तु अगर उस बिल्डिंग को देखकर वह ठिठक जाए और टकटकी लगा कर देखता हुआ कहे–"कितनी अच्छी बिल्डिंग है !" ऐसा भाव करते ही उसका ज्ञान अमूर्तिक के बदले मूर्तिक बन गया। उसने आकृति भी बना दी, अपने अखण्डित ज्ञान को खण्डित सीमित भी कर दिया। और उसके पश्चात् उसने उसमें रंग भी भर दिया। इस प्रकार–'यह बिल्डिंग सर्वोत्कृष्ट है, दूसरे बिल्डिंग इसके सामने कुछ भी नहीं है,' इस प्रकार के रागात्मक व द्वेषात्मकभाव के कारण भावबन्ध हुआ, फिर जीव के अमूर्तिक होते हुए भी मूर्तिक पदार्थ (बिल्डिंग) के आश्रय से उसके भाव मूर्तिक बन जाते हैं। इसी प्रकार से जीव और पुद्गल परस्पर बंध को प्राप्त होते हैं। यह द्रव्यबन्ध हुआ।[1]

सजीव निर्जीव पर-वस्तुओं के प्रति रागादि भाव आते ही ज्ञान खण्डित होता है

कोई व्यक्ति बाजार से होकर जा रहा है। रास्ते में स्टेशनरी की, मनिहारी सामान की, तेल-इत्र आदि की, रेडीमेड वस्त्रों इत्यादि की अनेक दूकाने आती हैं, उसकी आँखों में वे प्रतिबिम्बित होती हैं, पर वह किसी भी वस्तु को देखकर उसके प्रति रागभाव या द्वेषभाव नहीं करता है, तो किसी से बंधता नहीं, क्योंकि वह किसी भी वस्तु को रागादि भाव से पकड़ता नहीं है। चारों ओर वह अखण्डित असीमितरूप से–सहजभाव से देख रहा है। लेकिन जैसे ही किसी वस्तु को देखते ही उस पर राग भाव या द्वेषभाव आ गया, उसका ज्ञान सीमित–खण्डित हो गया। ज्ञान के सीमित-खण्डित होते ही उसके साथ राग या द्वेष आ गया, इस प्रकार वह रागभाव या द्वेषभाव से बंध जाता है। सहज ज्ञान में ज्ञेय प्रतिबिम्बित होता रहता तो अखण्ड को देखने से नहीं बंधता, किन्तु खण्डित रूप में देखने से बंध गया, क्योंकि खण्डित को देखते ही उसके प्रति राग या द्वेष होता है।[2]

---

१. (क) मुक्ति के ये क्षण से भावग्रहण, पृ. ९३
(ख) वही, भावांशग्रहण, पृ. ९३

२. वही, भावांशग्रहण, पृ. ९२

सामान्यापेक्षा से कर्मबन्ध एक : विशेषापेक्षा से दो प्रकार

सामान्य की अपेक्षा से कर्मबन्ध के भेद नहीं किये जा सकते। इस दृष्टि से कर्मबन्ध एक ही प्रकार का है।[1] परन्तु विशेष की अपेक्षा से बन्ध दो प्रकार का है—द्रव्यबन्ध और भावबन्ध।[2]

द्रव्यबन्ध, भावबन्ध का परिष्कृत स्वरूप

कार्मण वर्गणाओं का कार्मण वर्गणाओं के साथ, जीव-प्रदेशों के साथ जो बंध होता है; अर्थात्—ज्ञानावरणीयादि कर्म-पुद्गलों के प्रदेश जीव के साथ मिलते हैं, उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं। इसी प्रकार जीव के (शुभ-अशुभ) भावों का या उसके उपयोग (परिणाम) का बाह्य पदार्थों के साथ जो बंध होता है, उसे भावबन्ध कहते हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के अनुसार "आत्मा के जिस विकारीभाव से (मिथ्यात्व-रागादि की परिणतिरूप या अशुद्ध चेतन-भाव के क्रोधादि परिणामस्वरूप जिस भाव से) कर्म बंधते हैं, वह भावबन्ध है, और भावबन्ध के निमित्त से आत्मप्रदेश और कर्मपरमाणुओं का परस्पर सम्बद्ध होना द्रव्यबन्ध है।" आशय यह है कि "आत्मा के अशुद्ध परिणाम (अध्यवसाय)—मोह, राग-द्वेष और क्रोधादि भाव, जिनसे ज्ञानावरणीयादि कर्म के योग्य पुद्गल-परमाणु आते हैं, भावबन्ध कहलाता है।" प्रवचनसार में भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है कि जो उपयोग-स्वरूप जीव विविध विषयों को प्राप्त कर राग, द्वेष, मोह आदि करता है, वही उससे बंधता है। यह भावबन्धरूप जीवबन्ध है।[3]

भावबन्ध की उत्पत्ति का कारण

भावबन्ध को स्पष्टरूप से समझ लें। इष्ट-अनिष्टरूप या ग्राह्य-त्याज्यरूप द्वन्द्वों से युक्त चित्त का इन पदार्थों (सजीव-निर्जीव पदार्थों) के प्रति जो स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व भाव होता है, वही इसका (भावबन्ध का) स्रोत है। पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सचेतन पदार्थों के प्रति, अथवा धन, धान्य, वस्त्र, गृह, वाहन आदि अचेतन पदार्थों के प्रति चित्त की यह ग्रन्थि (रागद्वेषादि परिणामों की गांठ) इतनी दृढ़ होती है कि इन पदार्थों में हानि, वृद्धि, क्षति, अपहरण, रोग, निरोगता आदि के रूप में कुछ भी परिवर्तन होने पर चित्त में तदनुरूप परिवर्तन होने लगता है। हानि, क्षति, बीमारी, अपहरण तथा चिन्ता आदि प्रसंगों पर शोक; एवं वृद्धि, स्वस्थता, निश्चिन्तता,

---

१. 'एगे बंधे'। —ठाणांगसूत्र, स्थान १

२. तत्त्वार्थ वार्तिक २/१०/२ पृ. १२४

३. (क) आत्म-कर्मणोरन्योन्यानुप्रवेशात्मको (द्रव्य) बन्धः। —सर्वार्थसिद्धि १/४, पृ. १४
(ख) क्रोधादि-परिणाम-वशीकृतो भावबन्धः। —तत्त्वार्थवार्तिक २/१०, पृ. १२४
(ग) बज्झदि कम्मं जेण दु, चेदणभावेण भावबंधो सो। —द्रव्यसंग्रह टीका गा. ३२
(घ) उवओगमओ जीवो, मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये, जीवेहिं पुणो तेहिं संबंधो। —प्रवचनसार २/९३, १७५

सुख-शान्ति आदि प्रसंगों पर हर्ष होता है। जैसे-किसी के द्वारा किसी वस्तु का अपहरण कर लिये जाने पर चित्त भी उस वस्तु के साथ बंधा हुआ उसके पीछे-पीछे चलता है, यही भावबन्ध की उत्पत्ति का कारण है।

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध के दो-दो प्रकार

द्रव्यबन्ध दो प्रकार का होता है–पुद्गल का पुद्गल के साथ, तथा पुद्गल का जीव-प्रदेशों के साथ। इसी प्रकार भावबन्ध भी दो प्रकार का है–भाव का भाव के साथ, और भाव का द्रव्य के साथ। जीव कि क्रोधादि भावों को देखकर भय आदि का होना, भाव का भाव के साथ बन्ध है। इसी प्रकार बाह्य दृश्यमान पदार्थों को देख कर उनके प्रति हर्ष-शोक आदि का होना दूसरा बन्ध है। इसी प्रकार कर्मबन्ध के अन्य अनेकों भेद किये जा सकते हैं।[1]

ज्ञानी और अज्ञानी के देखने के दो ढंग : इसी पर से अबन्ध और बन्ध

एक व्यक्ति अपने छोटे लड़के के साथ पार्केट में शीशा खरीदने जाता है। यदि बालक के कद का (आदमकद) शीशा हो तो अबोध बालक भी शीशे को देखता है, और उसका समझदार पिता भी। परन्तु दोनों के देखने में अन्तर पड़ जाता है। समझदार पिता शीशा खरीदते समय यह देखता है कि शीशे की बनावट व फिनिश कैसी है? स्वच्छता (पालिश) कैसी है? कहीं दाग तो नहीं है? परन्तु छोटा बालक शीशे को न देख कर उस पर प्रतिबिम्बित होने वाली वस्तुएँ तथा आकृतियाँ देखता है। एक मोटर गई, एक रिक्शा आया। वह आदमी आया। मेरा चेहरा कितना सुन्दर है? इत्यादि बातें देखता है। बड़ा आदमी शीशे को देखता है, आकृतियों आदि पर उसकी दृष्टि कतई नहीं जाती। जब कि बालक को शीशे से कोई मतलब नहीं, वह शीशे को देखता हुआ भी नहीं देख पाता। उसे केवल आकृतियाँ ही दिखाई देती हैं।

इसी प्रकार जो ज्ञानी है, वह दर्पणरूप ज्ञान को देखता है, अपने ज्ञानरूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाली वस्तुओं या आकृतियों (ज्ञेय) को नहीं देखता। परन्तु अज्ञानी अपने ज्ञान में जो भी प्रतिबिम्बित होता है, उसे ही देखता है, ज्ञानरूप दर्पण नहीं। अर्थात् वह ज्ञेयरूप चीजों को देखता है, ज्ञान को नहीं। अतः उसका ज्ञान अमूर्तिक होते हुए भी उन चीजों के आश्रय से मूर्तिक हो जाता है। इस प्रकार अज्ञानी व्यक्ति ज्ञानरूप दर्पण को तो भूल जाता है, दर्पण में उठने वाले प्रतिबिम्ब के साथ तन्मय हो जाता है, अर्थात्–ज्ञेयरूप बन जाता है। स्वयं को–जानने वाले को तो वह भूल गया; दूसरे शब्दों में, जिसमें प्रतिबिम्बित होता है, उस ज्ञान को तो भूल गया और ज्ञेय रूप बन बैठा; द्रव्य से नहीं भाव से।[2]

---

१. कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. ८०

२. मुक्ति के ये क्षण से भावांश ग्रहण, पृ. ९६-९७

द्रव्यबन्ध की प्रक्रिया

ज्ञेय को पकड़ने पर फिर वह–यह अच्छा है यह बुरा है; इस प्रकार राग-द्वेष के परिणाम करता है, तो तीसरी बात पैदा हो जाती है। जैसे–ऑक्सीजन और हाईड्रोजन दोनों गैस मिलने पर तीसरा पदार्थ–पानी बन जाता है। इसी प्रकार हल्दी और चूना दोनों को मिलाने पर तीसरी चीज–लाल रंग बन जाती है। ऐसे ही अमूर्तिक जीव जब मूर्तिक पदार्थों का आश्रय लेता है, तो वह मूर्तिक बन जाता है। आशय यह है कि जीव जैसे ही मूर्तिक परिणाम करता है, वैसे ही वह भाव से मूर्तिक पुद्गल बन बैठा। जहाँ मूर्तिक परिणामों का आधार है, वहाँ वह (जीव) एक क्षेत्रावगाह होकर कर्म पुद्गलों के साथ बंध जाता है। यह द्रव्यबन्ध हुआ। दूसरे शब्दों में कहें तो, जीव जिस-जिस ढंग के मूर्तिक परिणाम करता है, पुद्गल द्रव्य भी उस ढंग के भाव से परिणमन करता है। फिर वह (कर्म) पुद्गल आकर आत्मप्रदेशों से चिपट जाएगा, यानी वे कर्म-पुद्गल-परमाणु एक क्षेत्रावगाह होकर बंध जाते हैं। यह हुई द्रव्यबन्ध की प्रक्रिया।

भावबन्ध की प्रक्रिया

भावबन्ध की प्रक्रिया इस प्रकार है–जीव ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने वाले जिस किसी भी पदार्थ–(ज्ञेय) को पकड़ता है; पकड़ने के साथ ही राग-द्वेषरूप परिणाम होंगे। राग-द्वेष चिकनाहट है, इसलिए दोनों (आत्मा और कर्म पुद्गल) पृथक्-पृथक् स्वभाव के होते हुए, बन्धन को प्राप्त हो जाते हैं।[1]

द्रव्यकर्मबन्ध और भावकर्मबन्ध का स्पष्टीकरण

इसे जरा और स्पष्टरूप से समझ लें। कर्म दो प्रकार का है–द्रव्यकर्म और भावकर्म। गमनागमन रूप क्रिया द्रव्यकर्म है और परिणमनरूप क्रिया भावकर्म है। प्रयोजनवशात् पुद्गल को द्रव्यात्मक पदार्थ और जीव को भावात्मक पदार्थ माना गया है। इसलिये पुद्गल की पर्याय द्रव्यकर्म है और जीव की पर्याय भावकर्म है। दूसरे शब्दों में–पुद्गल की क्रिया द्रव्यप्रधान और जीव की भावप्रधान है। इसलिए पुद्गल कर्मवर्गणाओं के पारस्परिक बन्ध से जो स्कन्ध बनते हैं, उसका नाम द्रव्यकर्मबन्ध है, और जीव के उपयोग में रागादि के कारण ज्ञेयों के साथ जो बन्धन होता है, वह भावकर्मबन्ध है।[2]

पुद्गलाणुओं का परस्पर रासायनिक मिश्रण होता है, जीव और कर्म का बंध वैसा नहीं

जब पुद्गलाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं, तब एक विशेष प्रकार के संयोग को प्राप्त होते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक रासायनिक मिश्रण होता

१. मुक्ति के ये क्षण पृ. ९७
२. कर्मसिद्धान्त से पृ. ४२

है, जिसमें उक्त स्कन्ध के अन्तर्गत सभी परमाणुओं की पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थिति में आ जाते हैं कि अमुक समय तक उनकी एक जैसी पर्याय होती रहती है। स्कन्ध अपने आप में कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, अपितु वह अमुक परमाणुओं की एक विशेष अवस्था है और आधारभूत परमाणुओं के अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलों के बन्ध में यही रासायनिकता है, कि उस अवस्था में उनका स्वतंत्र विलक्षण परिणमन न होकर प्रायः एक जैसा परिणमन होता है। किन्तु आत्मा और कर्म-पुद्गलों के बन्ध में ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात अलग है कि कर्मस्कन्ध के आ जाने से आत्मा के परिणमन में विलक्षणता आ जाती है। आत्मा के निमित्त से कर्मस्कन्ध की परिणति विलक्षण हो जाती है, परन्तु इतने मात्र से इन दोनों के सम्बन्ध (बन्ध) को रासायनिक मिश्रण नहीं कह सकते; क्योंकि जीव (आत्मा) और कर्म के बन्ध में दोनों की एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीव की पर्याय चेतन रूप होती है और पुद्गल की होती है—अचेतनरूप। पुद्गल का परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि रूप से होता है और जीव का चैतन्य के विकासरूप में। यदि उनका रासायनिक मिश्रण होता है तो प्राचीन बद्ध कर्मपुद्गलों से नवीन कर्मपुद्गलों का ही होता है, आत्मप्रदेशों से नहीं।[1]

राग और द्वेष पुद्गलों की तरह स्निग्ध-रूक्ष होने से बन्ध होता है

जहाँ राग होता है, वहाँ प्रायः प्रतिपक्षी के प्रति द्वेष भी होता है। भले ही वह द्वेषभाव बहुत सूक्ष्म हो। इसी प्रकार जहाँ द्वेष होता है वहाँ किसी के प्रति राग भी होता है। राग भी सूक्ष्म होता है तो द्वेष भी ईर्ष्या द्वेष, वैर-विरोध घृणा, या अरुचि के रूप में भी होता है। कोई भी चीज तभी जुड़ती है, जब उसमें रूखा और चिकना दोनों पदार्थ हों। दीवार तभी बन पाती है, जब सीमेंट (पानी के साथ मिलाई हुई) की चिकनाई (स्निग्धता) हो, साथ ही रेत का रूखापन (रूक्षता) हो। चिकना और रूखा दोनों पदार्थ जल के साथ मिलने से दीवार आदि जुड़ पाती है। केवल आटा और चीनी हो तो लड्डू नहीं बंधते, उसमें स्निग्ध पदार्थ के रूप में घी की आवश्यकता होती है। दोनों चीजों को मिलाने से ही लड्डू बंध सकते हैं। इसी प्रकार भावरूप में राग और द्वेष इन दोनों के आत्मप्रदेश के साथ मिलने से बन्ध होता है। राग स्निग्धता है, और द्वेष रूक्षता है।[2]

इसी कारण राग की चिकनाई और द्वेष के रूखेपन से बन्ध प्राप्त होता है। ये चिकनाई जैसे जीव में पाई जाती है—राग और द्वेष के रूप में, वैसे ही ये दोनों चीजें पुद्गल में भी पाई जाती हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—'स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः'—स्निग्धता और रूक्षता से बन्ध होता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि जीव और पुद्गल दोनों में जब स्निग्धता और रूक्षता पाई जाए तो दोनों सजातीय हो गए।

१. जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) से पृ. २९५
२. मुक्ति के ये क्षण से, पृ. ९९

सजातीय होने पर दोनों बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि अमूर्तिक जीव अपना ज्ञान-स्वभाव छोड़कर मूर्तिक ज्ञेय के साथ एकात्मता साध लेता है और तन्मय होकर रागद्वेषात्मक परिणाम करता है। राग-द्वेषात्मक परिणाम स्निग्धता-रूक्षतारूप हैं, कर्मपुद्गलों में भी स्निग्ध-रूक्षता रूप पर्यायति हुई। वे उसके क्षेत्र में आकर प्रविष्ट हुए, अपनी विभावशक्ति से सजातीय (मूर्तिक बने हुए) जीव के साथ बन्ध गए। यह द्रव्यबन्ध है।[1]

कर्म और आत्मा का तीन प्रकार का सम्बन्ध

जैन कर्म-विज्ञान का गहराई से चिन्तन करते हैं तो कर्म और आत्मा का तीन प्रकार का सम्बन्ध (बन्ध) परिलक्षित होता है–

(१) आत्मा के अशुद्ध उपयोग रूप परिणमन से कर्म के साथ होने वाला भावबन्ध। यह बन्ध अरूपी के साथ अरूपी का है। आत्मा भी निश्चय दृष्टि से अरूपी है और राग-द्वेषादि या कषायादि परिणाम (भाव) भी अरूपी हैं। दोनों का यह बन्ध (सम्बन्ध) परिणामी और परिणाम का है। जिसमें कर्ता भी आत्मा है और परिणमनरूप कर्म (क्रिया) भी आत्मा है।

परिणामीपन आत्मा का स्वभाव है। सिद्ध परमात्मा सर्वथा कर्ममुक्त होते हुए भी अपने आत्मभावों में परिणमन करते हैं, उनका यह परिणमन आत्मा का स्वभाव-सिद्ध परिणाम है। परन्तु जब आत्मा स्व-द्रव्य में अपना अविशेष-स्वभावसिद्ध परिणमन प्रवर्तन छोड़ कर विशेषतायुक्त प्रवृत्त होता है–(पर द्रव्य में) परिणमन करता है, तब वह विशेष-परिणाम–परभावी-परिणाम ही भावकर्मबन्ध का हेतु है। वस्तुतः यह प्रथम वर्ग का बन्ध अशुद्ध निश्चय से विभावपरिणमन रूप अरूपी (आत्मा) का अरूपी (विभावों) के साथ बन्ध–भावबन्ध है। इसीलिए द्रव्यसंग्रह में कहा गया–आत्मा के जिन विकारी भावों से कर्म बंधते हैं, वह भावबन्ध है और भावबन्ध के निमित्त से आत्मप्रदेश और कर्मपरमाणुओं का परस्पर सम्बद्ध होना द्रव्यबन्ध है। बन्ध की इस परिभाषा के अनुसार आत्मा से नहीं, आत्मा के औपाधिक भाव–अशुद्ध (विकारी) भाव (शुभ-अशुभ भाव) से ही कर्म बंधता है। आत्मा के शुद्ध भाव तो स्व-भावरूप हैं, शेष समस्त अशुद्ध भाव आस्रव एवं बंध के कारण हैं। यहाँ अशुद्ध निश्चयनय से चेतन-परिणाम को 'भाव' कहा गया है।[2] निश्चयबन्ध तो सिर्फ आत्मा का रागद्वेष रूप परिणमन ही है। पुद्गल कर्म से बन्ध तो केवल औपचारिक–व्यावहारिक है। भावनाग्राह्य अरूपी स्वरूप को स्थूल तथा लौकिक भावों में उतारने का प्रयत्नमात्र है।

(२) पुरातन कर्म-पुद्गल के साथ नूतन कर्म (परमाणु पुद्गल) वर्गणा का सम्बन्ध–बन्ध है। सम्बन्ध रूपी के साथ रूपी के बन्ध रूप है। जीव के प्रदेश में एक-

---

१. मुक्ति के ये क्षण से भावांशग्रहण, पृ. १०)
२. कर्म अने आत्मानो संयोग (श्री अध्यायी), पृ. ४२-४३

क्षेत्रावगाहरूप में जो पूर्वबद्ध कर्मवर्गणा है, उसमें नई कर्मवर्गणा का स्निग्ध-रूक्ष भाव से आकर्षित होना द्रव्यबन्ध है।[1]

(३) आत्मा के साथ कर्मवर्गणा का संयोग सम्बन्ध, तीसरे प्रकार का कर्मबन्ध है। यह रूपी और अरूपी का सम्बन्ध है। इसे द्रव्यबन्ध कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्य, भाव तथा उभय, अथवा जीव, पुद्गल तथा उभयबन्ध के भेद से तीन प्रकार का बन्ध है।[2]

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध में किसकी मुख्यता और क्यों?

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध इन दोनों में मुख्यता किसकी है, गौणता किसकी? इसे समझ लेना चाहिए। कर्म सिद्धान्त द्रव्यबन्ध की मुख्यता से कथन करता है और अध्यात्मशास्त्र भावबन्ध की मुख्यता से। परन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है, केवल कथन-पद्धति में अन्तर है। क्योंकि द्रव्यकर्म और भावकर्मों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि किसी भी एक को जान लेने पर दूसरे का ज्ञान स्वतः हो जाता है। फिर भी समझने-समझाने के लिये द्रव्यबन्ध की तरफ से कथन करने में आसानी रहती है; जबकि भावबन्ध का कथन बहुत विस्तृत और जटिल हो जाता है। एक कारण यह भी है कि भाव केवल स्व-संवेदनगम्य होने के कारण भावों के परस्पर बन्ध का कथन दुष्कर हो जाता है। निमित्त की भाषा पराश्रित होने से सम्भव भी है, सुगम्य भी, और सर्वजनपरिचित होने से सरल भी।[3]

बन्ध, उदय, उदीरणा सत्तादि का कथन द्रव्य कर्मबन्ध की अपेक्षा से

इसलिए कर्मविज्ञान में बन्ध-चतुष्टय रूप व्यवस्था की कथन पद्धति में सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को जानने के लिए द्रव्यकर्म का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह, गोम्मटसार, कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में द्रव्यकर्मों की अपेक्षा से बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का कथन किया गया है। उनके निमित्त से होने वाले जीव के भावों का नहीं। जीव-भावों का परिज्ञान स्वयं कर लेना चाहिए। किन्तु जीव के भावकर्म की दिशा में यह बात अवश्यम्भावी है कि उस समय वह जीव उसी प्रकार विकल्प या कषाय अवश्य कर रहा होता है। अन्यथा उस प्रकृति का बन्ध, उदय आदि होना सम्भव नहीं था। उदय भी जिस प्रकृति का होना कहा गया है, वहाँ भी जीव के भावों में उसी प्रकार का विकल्प या कषाय उदित अवश्य होता है और तदनुरूप उसके ज्ञान-दर्शनादि गुण आच्छादित, विकृत या कुण्ठित हो जाते हैं, अन्यथा अमुक कर्म का उदय कहना निष्प्रयोजन हो जाएगा।

---

१. वही, पृ. ४३

२. (क) कर्म अने आत्मानो संयोग
(ख) प्रवचनसार (मूल) १।७७

३. जैनसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ८१

द्रव्यकर्म के बंधादि पर से जीव के भावों का अनुमान

जिस प्रकार थर्मामीटर का पारा देखकर व्यक्ति के ज्वर की तरतमता का ज्ञान स्वतः हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्यकर्म के बन्ध, उदय आदि पर से जीव के भावों का अनुमान स्वतः हो जाता है। इसलिए कर्मसिद्धान्त जीव के भावों को नापने के लिए थर्मामीटर के समान है। चूंकि द्रव्यकर्म एवं जीव के भाव, इन दोनों का साथ-साथ कथन करना बहुत जटिल हो जाता है, इसलिए कर्मसिद्धान्त की शैली में द्रव्यकर्म के बन्ध आदि पर से ही जीव के भावों का अनुमान कर लेना उचित है। अतः जहाँ भी कर्म की प्रकृतियों के बन्ध, उदय आदि का प्रसंग आए, वहाँ द्रव्य कर्मबन्ध की अपेक्षा से समझना, भाव कर्मबन्ध की अपेक्षा से नहीं। उसी पर से भाव कर्मबन्ध का अनुमान स्वयं लगा लेना चाहिए।[1]

दोनों प्रकार के बन्धों में भावबन्ध ही प्रधान, क्यों और कैसे?

वैसे देखा जाए तो, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध में भावबन्ध ही प्रधान है, क्योंकि इसके बिना कर्मों का जीव के साथ बन्ध नहीं हो सकता। समयसार में कहा गया है—ये (अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्र) तथा ऐसे और भी अध्यवसाय जिनके नहीं होते, वे मुनि अशुभ या शुभ कर्म से लिप्त नहीं होते।

रागादि अध्यवसाय के अभाव में बन्ध नहीं, अध्यवसाय निषेध क्यों?

वास्तव में, अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु नहीं। फिर बाह्य वस्तु के आश्रय का निषेध क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह है कि बाह्य वस्तु अध्यवसाय का आश्रयभूत होती है। क्योंकि बाह्य वस्तु का आश्रय लिये बिना, अध्यवसाय अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता, अर्थात्—उत्पन्न नहीं होता। इस दृष्टि से अध्यवसाय के निषेध के लिए बाह्य वस्तु का निषेध किया जाता है।[2]

जीव और कर्म के सम्बन्ध मात्र से द्रव्यबन्ध नहीं, भाव अपेक्षित

सारांश यह है कि जीव और कर्म प्रदेशों के सम्बन्ध मात्र से—या एकक्षेत्रावगाह होने मात्र से द्रव्यबन्ध नहीं हो जाता, अपितु जब आत्मा में रागद्वेषादि या कषायादि विकारीभाव (विभाव) आते हैं, अर्थात्—पहले भावबन्ध होता है; फिर किन्हीं वस्तुओं (सजीव-निर्जीव पदार्थों) के आश्रय से द्रव्यबन्ध होता है। और द्रव्यबन्ध के निमित्त से

---

१. जैन सिद्धान्त पृ. ८१/८२

२. (क) एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ —समयसार मू. २७०

(ख) अध्यवसायमेव बंध हेतुर्नतु बाह्यवस्तु। तर्हि किमर्थो बाह्य-वस्तु-प्रतिषेधः ।
अध्यवसाय-प्रतिषेधार्थः । अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतः नहि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मत्वं लभते । —समयसार (आ.) २६५

भावबन्ध होता है, वह भी अन्तर् में मोह, राग-द्वेषादि के कारण होता है। पंचाध्यायी में भी कहा गया है–"केवल प्रदेशों के सम्बन्ध मात्र से बन्ध (द्रव्यबन्ध) नहीं हो जाता, अपितु जीव के अशुद्ध भावों की अपेक्षा रखने से कर्मों के आकर्षण होने से (भावबन्धपूर्वक) जीव और कर्म दोनों का बन्ध होता है।"[1]

स्निग्ध-रूक्षवत् रागद्वेष से ही बन्ध, अन्यथा नहीं

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दर्शनशास्त्र में 'स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः' प्रसिद्ध है, वैसे ही कर्मशास्त्र में 'रागद्वेषाद् बन्धः' प्रसिद्ध है। राग आकर्षण शक्ति से युक्त होने से स्निग्ध के स्थान पर है, तथा द्वेष विकर्षण शक्ति से युक्त होने के कारण रूक्ष के स्थान पर है। जिस प्रकार परमाणुओं के मिल जाने मात्र से वे बन्धन को प्राप्त नहीं होते, उनमें स्थित स्निग्धत्व और रूक्षत्व के योग से ही वे बन्ध को प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार कर्मों में प्रवृत्ति करने मात्र से चित्त बन्ध को प्राप्त नहीं होता, अपितु उन प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में स्थित राग-द्वेष से ही चित्त बन्ध को प्राप्त होता है। कारण यह है कि राग द्वेष-रहित केवल प्रवृत्ति मात्र से जो संस्कार कार्मणशरीर पर अंकित होता है, वह अगले ही क्षण नष्ट हो जाता है। जबकि रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति से होने वाला संस्कार बहुत काल तक स्थित रहकर चित्त को प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता रहता है।[2]

भावबन्ध का कारण : रागात्मक अध्यवसाय है, वस्तु नहीं

समयसार में उक्त तथ्य का अभिप्राय भी यही है कि केवल वस्तुओं के संयोग-वियोग से या प्रवृत्ति करने, न करने से बन्ध नहीं होता, वह होता है–अध्यवसान से, अर्थात्–राग-द्वेषात्मक कषायों से। भावात्मक होने के कारण इन्हें भावबन्ध कहा जाता है।[3]

भावबन्ध का कारण साम्परायिक बन्ध है, ईर्यापथिक नहीं

यही कारण है कि शास्त्रों में भावबन्ध के सन्दर्भ में बन्ध के दो भेद किये हैं–साम्परायिक और ईर्यापथिक। तत्त्वार्थसूत्र में इनका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है–वह (योग) कषायसहित और कषायरहित होता है। तथा क्रमशः कषायसहित साम्परायिक कर्म का और कषाय-रहित ईर्यापथिक कर्म का बन्धहेतु (आस्रव) होता है। सकषाय का अर्थ है, जो कर्म कषाय से युक्त हो, अर्थात्–जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय और हास्यादि नौ नोकषाय का उदय हो, वह सकषाय है।

---

१. न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्ध मात्रतः।
सोऽभिभावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तादृवद् द्वयोः॥ –पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) ४४

२. कर्मरहस्य (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १३१

३. ण य वत्थुदो दुबंधो, बंधो अज्झवसाण जोएण। –समयसार

और जो कर्म कषाय से रहित हो, अर्थात्-जिसमें क्रोधादि कषाय और हास्यादि नोकषाय न हों, वह अकषाय है। कषाय के अभाव में कर्मपरमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते।

स्वार्थजन्य फलाकांक्षा भी रागद्वेष के समान भावबन्ध का प्रबल हेतु

पहले राग और द्वेष के प्रकरण में क्रोधादि कषायों तथा हास्यादि नौ नोकषायों को हमने आकर्षण और विकर्षण शक्ति से युक्त राग और द्वेष दो में गर्भित करके उनका अध्यवसाय (भाव) के रूप में विश्लेषण किया था। लोकालोकव्यापी सर्वगतज्ञान (आत्मा का अनन्त ज्ञान) जब अपने समग्रग्राही स्वरूप को छोड़कर किसी एक ही पदार्थ में अभिनिविष्ट हो जाता है, तब वह संकीर्ण होकर अहं से अहंकार बन जाता है। इस अवस्था में वह अपने भीतर इष्ट-अनिष्ट रूप विविध द्वन्द्वों का सृजन करता है, जो आगे चलकर राग-द्वेष का रूप धारण कर लेते हैं। इन राग और द्वेष को भी संक्षिप्त करके हम एक शब्द 'स्वार्थ' में समाविष्ट कर सकते हैं। समग्र विश्व को आत्मौपम्य भाव से, वीतराग भाव से, ज्ञाताद्रष्टापूर्वक जानने-देखने वाला विशाल हृदय जब एक को छोड़कर दूसरे के प्रति, और दूसरे को छोड़कर तीसरे के प्रति धावमान होता है तब वह संकीर्ण तुच्छ स्वार्थ कहलाता है। तुच्छ स्वार्थी निःस्वार्थ, निष्प्रयोजन कोई भी कार्य नहीं करता। कार्य करने से पहले वह सोचता है-इस कार्य को करने से मेरे तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि होगी या नहीं? अगर उस कार्य को करने से उसको मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है, तो वह उस कार्य को करेगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार फलाकांक्षा रखकर प्रत्येक अभीष्ट एवं तुच्छ स्वार्थजन्य कार्य को करना ही उसका स्वरूप है। वस्तुतः स्वार्थजन्य फलाकांक्षा ही समस्त कषायों और रागद्वेष की जननी है। अतः स्वार्थजन्य फलाकांक्षा को भी हम राग-द्वेष के बदले बन्ध का हेतु कह सकते हैं। इसे ही भावबन्ध का प्रबल और परिष्कृत लक्षण कहना उपयुक्त होगा।[1]

साम्परायिक सकषाय और ईर्यापथिक अकषायवत् सकाम-निष्काम कर्म

जिनेन्द्र वर्णीजी ने फलाकांक्षायुक्त स्वार्थकृत कर्म को संसार वृद्धि का हेतु होने से साम्परायिक, सकषाय अथवा सकाम कर्म, और उसका हेतु न होने से अकषाय, ईर्यापथिक या निष्काम कर्म कहा है।[2] इस प्रकार के अन्यदर्शन-प्ररूपित सकाम और निष्काम कर्म का विस्तृत वर्णन हम कर्मविज्ञान के तृतीय खण्ड के 'सकाम कर्म और निष्काम कर्म : एक विश्लेषण' शीर्षक निबन्ध में कर आये हैं।

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन, (पं. सुखलालजी), पृ. १५१
   (ख) कर्मरहस्य (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १३२-१३३
२. (क) वही (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १३३
   (ख) देखें, कर्मविज्ञान, तृतीय खण्ड में "सकाम कर्म और निष्काम कर्म : एक विश्लेषण"।

इष्ट-प्राप्ति, अनिष्टनिवृत्ति भी फलाकांक्षारूप भावबन्ध की हेतु

तुच्छ स्वार्थकृत कार्य में सदैव–सतत फलभोग की–इष्टविषयों की प्राप्ति और अनिष्ट से निवृत्ति की ओर आँखें लगी रहती हैं, फलभोग की उपर्युक्त, आकांक्षा से निरपेक्ष होकर काम करना उसने सीखा ही नहीं है। इष्ट-विषयों की प्राप्ति और अनिष्ट विषयों से निवृत्ति होती दिखती है, तभी वह कार्य में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए भावबन्ध का, तथा रागद्वेष का उपर्युक्त समस्त विस्तार फलभोग की पूर्वोक्त प्रकार की आकांक्षा में समाविष्ट हो जाता है।[1]

कषायभाव-अकषायभाव से साम्परायिक एवं ईर्यापथिक बन्ध : एक चिन्तन

कषाय युक्त कर्म से साम्परायिक बन्ध और कषायरहित कर्म से असाम्परायिक बन्ध होता है। पहले से दसवें गुणस्थान तक के सभी जीव न्यूनाधिक प्रमाण में सकषाय होते हैं तथा ग्यारहवें तथा आगे के गुणस्थानवर्ती होते हैं–अकषाय। आशय यह है कि कषायों-सहित जो आस्रव (बन्धहेतु) है, वह साम्परायिक आस्रवोत्तरकालीन बन्ध कहलाता है। अर्थात्–मन-वचन-काय-योगों की क्रियाओं द्वारा आकृष्ट होने वाला जो कर्म कषायोदय के कारण आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर स्थिति को पा लेता है, वह साम्परायिक कर्मबन्ध है। साम्परायिक कर्मबन्ध संसार बन्धन को दृढ़ करने वाला, उसकी वृद्धि करने वाला; आत्मा को पराभूत करने वाला एवं संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। इसके विपरीत जिन जीवों के कषाय नष्ट हो चुके हैं, जो वीतराग हैं या उपशान्तमोह हैं, उनकी गमनागमन, विहार, उपदेशादि सभी चर्याएँ (ईर्या)–क्रियाएँ ईर्यापथिकी हैं। वहाँ असाम्परायिक या ईर्यापथिक बन्ध होता है, जो संसार-परिभ्रमण का कारण नहीं होता। जिस प्रकार सूखी दीवार पर रज-कण अच्छी तरह न चिपक कर केवल उसका स्पर्श करके तुरंत ही अलग हो जाते हैं, झड़ जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में कषाय की आर्द्रता-स्निग्धता न होने से योगों से आकृष्ट कर्म केवल आत्मा के साथ लगकर स्पर्शरूप से बद्ध होकर तुरंत ही छूट जाता है। ईर्यापथ-कर्मबन्ध में स्थिति तो अवश्य ही होती है, किन्तु वह होती है, सिर्फ एक समय की। एक समय मात्र स्थिति को बंधसंज्ञा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि उस समय में तो वह आया ही है, केवल सातावेदनीय के रूप में, अगले समय टिके तो बन्ध कहलाए। अगले समय में तो वह झड़ (नष्ट हो) जाता है। कर्म के आने का नाम बन्ध नहीं, टिकने का नाम है। इसलिए इसे बन्ध कैसे कहा जा सकता है ? निष्कर्ष यह है–रागादि (कषायादि) युक्त भाव (परिणाम या अध्यवसाय) न होने से कर्म वहाँ बंध को प्राप्त नहीं होते। बल्कि अनन्तरवर्ती उत्तरसमय में ही सूखे वस्त्र पर पड़ी हुई रजवत् झड़ जाते हैं। कषायभाव न होने से योग द्वारा उपार्जित कर्म में स्थिति या रस का बन्ध नहीं होता। दूसरी ओर, कषाययुक्त सांसारिक आत्माएँ मन-वचन-काया के शुभ-अशुभ योग द्वारा जो कर्मबन्ध

१. कर्मरहस्य, पृ. १३२

करती हैं, वह कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार अधिक या अल्प स्थिति वाला होता है। यथासंभव रसबन्धानुसार शुभाशुभफलविपाक का कारण भी। इसलिए उसमें वहाँ कषाय भाव होने से आस्रव और उसके साथ बन्ध भी प्राप्त हो जाता है। अर्थात् उसमें वहाँ कुछ काल तक टिके रहने की शक्ति भी प्रगट हो जाती है, अर्थात्–वह स्थितियुक्त हो जाता है। जैसे–चिकने कपड़े पर पड़ी हुई धूल उस पर इस प्रकार जम जाती है कि झाड़ने पर भी नहीं झड़ती; वैसे ही साम्परायिक कर्म के संस्कार जीव के चित्त पर इस प्रकार अंकित होकर बैठ जाते हैं कि पर्याप्त प्रयत्न करने के बावजूद भी दूर नहीं होते।[1]

कषायभाव का व्यापक रूप : भावबन्ध का कारण

कषायभाव के कारण समग्र को युगपत् ग्रहण न करके क्षुद्र अहंकार अपने में मैं-मेरा, तू-तेरा, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, ग्राह्य-त्याज्य, इत्यादि रूप परस्पर विरोधी तथा विषम द्वन्द्वों की सृष्टि कर लेता है। अध्यात्मशास्त्र में अहंकार भाव विषम द्वन्द्वों के नाम से प्रसिद्ध है, उसे ही आचारशास्त्र में राग और द्वेष कहा गया है। इन दो विषम-द्वन्द्वों में मैं, मेरा, इष्ट, मित्र, स्वजन, कर्त्तव्य एवं ग्राह्य आदि एक पक्ष अनुकूल तथा आकर्षक है, तो दूसरा इससे प्रतिकूल तथा विकर्षक पक्ष है–तू, तेरा, अनिष्ट, शत्रु, अकर्त्तव्य, त्याज्य आदि वाला। राग वाला पक्ष आकर्षक है और द्वेष वाला पक्ष विकर्षक। अनुकूल पक्षों के प्रति आकर्षित होना, अर्थात्–उन्हें जानने, प्राप्त करने और भोगने के लिए प्रवृत्त होना राग है, और इनसे प्रतिकूल पक्षों के प्रति विकर्षित होना, अर्थात्–उन्हें अपने से दूर हटाने, तथा त्याग करने के लिए प्रवृत्त होना द्वेष कहलाता है।[2] भावात्मक होने के कारण ये सब भावबन्ध के कारण हैं।

रागद्वेषात्मक भावबन्ध के भी दो प्रकार–पापबन्ध, पुण्यबन्ध

राग और द्वेष के विषय में भेद पड़ जाने के कारण उनके द्वारा होने वाला बन्ध भी दो प्रकार का होता है–(१) पापबन्ध और (२) पुण्यबन्ध। ऐन्द्रियक विषयों के क्षेत्र में होने वाले व्यावहारिक रागद्वेष से अशुभबन्ध या पापबन्ध होता है, जबकि 'अशुभे निवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिः' वाले प्रशस्त या परार्थिक राग-द्वेष से शुभबन्ध या

---

१ (क) जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिन्ना भवंति, तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ। जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा अवोच्छिन्ना भवंति, तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ, नो इरियावहिया। –भगवती श. ७ उ. १ सू. २६७

(ख) सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।' –तत्त्वार्थसूत्र अ.६, सू.५

(ग) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि)

(घ) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी), पृ. १४०-१४१

(ङ) कर्म-रहस्य (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ९४८

२. कर्म रहस्य, पृ. १२९

पुण्यबन्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में शुभ आस्रव को पुण्य-बन्ध का और अशुभ आस्रव को पापबन्ध का हेतु बताया है।[1] इस विषय में आगे प्रकाश डाला जाएगा।

कर्मबन्ध के दो प्रकार : द्रव्यबन्ध भावबन्ध, नो-आगमतः द्रव्यबन्ध

इसीलिए भगवतीसूत्र में कर्मबन्ध के सन्दर्भ में द्रव्यबन्ध और भावबन्ध, ये बन्ध के दो भेद बताकर बाद में भावबन्ध के आगमतः, नो-आगमतः ये दो प्रभेद भी कहे गए हैं। परन्तु यहाँ कर्मबन्ध के प्रसंग में 'नो-आगमतः भावबन्ध' का ग्रहण ही विवक्षित है।

भावबन्ध के दो भेद : मूल प्रकृतिबन्ध, उत्तर प्रकृतिबन्ध

इसी सन्दर्भ में भावबन्ध के दो भेद बताए गए हैं—मूल प्रकृतिबन्ध, और उत्तर-प्रकृतिबन्ध।[2] इस विषय में आगे विशेष विवेचन किया गया है।

विभिन्न पहलुओं से बन्ध के प्रकार

इसी सन्दर्भ में दो प्रकार के बन्धों का निरूपण है—प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध। जीव के प्रयोग से द्रव्यों का बन्ध होना प्रयोगबन्ध है, जबकि अनायास ही स्वाभाविक रूप से दो पदार्थों का बन्ध होना विस्रसाबन्ध है। सर्वार्थसिद्धि में कहा गया—पुरुष-प्रयोग से निरपेक्ष वैस्रसिकबन्ध है, और पुरुष-प्रयोग-सापेक्ष प्रायोगिकबन्ध है। फिर विस्रसाबन्ध दो प्रकार का कहा है—सादि विस्रसाबन्ध और अनादिविस्रसाबन्ध। प्रायोगिकबन्ध के भी दो भेद हैं—शिथिल बन्धनबद्ध और गाढ़बन्धनबद्ध। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के रूप में बंध चार प्रकार का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से पांच प्रकार का है, तथा निक्षेप की दृष्टि से बन्ध के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से ७ प्रकार हैं। ज्ञानावरणीयादि मूल प्रकृतियों के बंधरूप भेद से आठ प्रकार का है। तथा राग, द्वेष, मोह एवं कषाय-चतुष्टय, इन कर्मबन्ध हेतुओं को उपचार से कर्मबन्ध कहने से ७ प्रकार का है। तथा कर्मप्रदेशों अथवा कर्मों के अनुभाग-प्रतिच्छेदों की अपेक्षा से कर्मबन्ध के अनन्त प्रकार हैं। इन सब बंधों पर विवेचन हम यथास्थान करेंगे। संसारी जीवों के पद-पद पर क्षण-क्षण में होने वाले कर्मबन्धों की गणना ही असंभव है।[3] ● ●

---

१. (क) पुण्णं पावासवो तहा। —उत्तरा–२०/१४
(ख) शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य। —तत्त्वार्थ ६/३-४

२. (क) दुविहे बंधे पन्नत्ते तं.-दव्वबंधे य भावबंधे य।
(ख) दुविहे भावबंधे प. तं.—मूलपगडिबंधे य उत्तर-पगडिबंधे य।
—भगवती श.१८, उ.३ सू.१० से १४ तक

३. (क) भगवतीसूत्र, श. १८, उ.३, सू.११, १२, १३
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में बंध शब्द, पृ. १५०
(ग) राजवार्तिक अ.८

१२

कर्मबन्ध के अंगभूत चार रूप

विभिन्न दवाइयों के स्वभाव, परिमाणादि स्वतः काम करते हैं, वैसे ही कर्मबन्ध के चार रूप

एक दवाखाना है। उसमें कई प्रकार के रोगों की दवाइयाँ रखी हैं। उनमें कोई सिरदर्द की दवा है, कोई उदर-पीड़ा की है, तो कोई मलेरिया बुखार की दवा है, कोई टी. बी. की औषधि है, कोई रक्त चाप की दवाई है तो कोई हृदयरोग-निवारण की है, कोई पित्त-शमन की दवा है। इन सब दवाइयों का स्वभाव अलग-अलग है। ये भिन्न-भिन्न जड़ी-बूटियों, सूखे फलों एवं औषधियों को कूट-पीस कर मिश्रण करके बनाई गई हैं, गोलियों के रूप में बाँधी गई हैं। इसके अतिरिक्त इनकी शक्ति में भी न्यूनाधिकता है। इन औषधियों के द्वारा रोग-निवारण की कालावधि भी पृथक्-पृथक् है। कोई दवा सेवन करते ही तत्काल रोग मिटा देती है। कोई एक-दो दिन में, कोई महीने में और कोई छह महीने में जाकर रोग मिटाती है। उनमें से कई दवाइयों की शक्ति बहुत अधिक है, कई दवाइयाँ ऐसी तीव्र असर करने वाली होती हैं कि, एक गोली ही उस रोग को मिटाने में पर्याप्त होती है, दूसरी गोली लेने की जरूरत नहीं रहती। कई दवाइयाँ इतनी तीव्र असर करने वाली नहीं होतीं, वे धीरे-धीरे असर करती हैं, और रोगी उनकी कई गोलियाँ खा लेता है, तथा कई शीशियाँ खाली कर देता है, तब वे असर करती हैं।

परन्तु यदि वे दवाइयाँ अलमारी में ही पड़ी रहें, रोगी उनका यथायोग्य सेवन न करे, दवा गले से नीचे न उतारे तो वे बिल्ली भी रोग का निवारण नहीं कर पातीं।

कर्मग्रहण एवं बन्ध के साथ ही उसके परिमाण, स्वभाव, काल और फलदान का निर्णय

ठीक इसी प्रकार कर्मबन्ध की प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए। कर्मवर्गणा के पुद्गल-परमाणु तो आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं। समग्र लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ कर्म-योग्य-पुद्गल-परमाणु विद्यमान न हों। परन्तु जब प्राणी मन, वचन

अथवा काया से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्मयोग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है। जितने क्षेत्र अर्थात् प्रदेश में उसकी आत्मा विद्यमान रहती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान कर्म परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते हैं, अन्य नहीं।[1] फिर रागद्वेष के कारण बन्ध होता है। यहाँ कर्म के आकर्षित करने तथा बन्ध होने तक तो आत्मा स्वतंत्र है। जिस प्रकार दवा गले से नीचे न उतारने तक जीव स्वतंत्र है, परन्तु दवा निगलने के बाद वह दवा जिस स्वभाव की है, उस स्वभाव के अनुसार काम स्वयं करती है, तथा जितनी मात्रा में ली गई है, या जितनी बार ली गई है, उस अनुपात में वह उस रोग को ठीक करती है। जितने समय में उसे रोग को ठीक करना होता है, तथा तीव्रता-मन्दता के अनुसार काम करना होता है, वह स्वयं करती है। उसी प्रकार कर्मबन्ध होने के साथ ही आत्मा के योग और कषाय के अनुसार स्वतः ही कर्मबन्ध की अंगरूप या अंशरूप चार अवस्थाएँ या व्यवस्थाएँ निष्पन्न होती हैं। वे चार अवस्थाएँ हैं–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।[2]

कर्मग्रन्थ आदि से सम्मत पुरानी परम्परानुसार इन चारों का क्रम पूर्वोक्त प्रकार से ही है, किन्तु वास्तव में क्रम इस प्रकार होना चाहिए–(१) प्रदेशबन्ध, (२) प्रकृतिबन्ध, (३) रसबन्ध और (४) स्थितिबन्ध।

कर्मबन्ध की पहली अवस्था : प्रदेशबन्ध

पहली अवस्था या व्यवस्था है–कर्मपरमाणुओं के आने की तथा उनके संगृहीत होने की। कर्मपुद्गलों के ग्रहण के समय वे अविभक्त होते हैं, ग्रहण के पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत होते हैं। यह एकीभाव की व्यवस्था ही प्रदेशबन्ध है। प्रदेशबन्ध होने के साथ ही कर्मप्रदेशों का आठ कर्मों में यथायोग्य विभाजन होना भी प्रदेशबन्ध का कार्य है। आशय यह है कि प्रवृत्ति (योग) की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा में अधिकता होने पर कर्म-परमाणुओं की संख्या में भी अधिकता होती है, तथा प्रवृत्ति की मात्रा में न्यूनता होने पर कर्म-परमाणुओं की संख्या में भी न्यूनता होती है। अर्थात्–जीव के द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गल-परमाणुओं के समूह (जत्थे) का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध हो जाना, कर्मबन्ध की प्रथम अवस्था या व्यवस्था है। इसे कर्मविज्ञान की भाषा में 'प्रदेशबन्ध' कहते हैं।

कर्मबन्ध की दूसरी अवस्था : प्रकृतिबन्ध

कर्मबन्ध की दूसरी अवस्था या व्यवस्था है–जो कर्मपरमाणु आत्मप्रदेशों के साथ

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४ से भावांशग्रहण, पृ. १४।

२. (क) प्रकृति–स्थित्यनुभाव–प्रदेशास्तद्विधयः। –तत्त्वार्थसूत्र ८/४
(ख) बंधो पयइठिइ-रस-पएस त्ति। –कर्मग्रन्थ पंचमभाग, गा. २१
(ग) चउव्विहे बंधे प. तं.-पगइबंधे, ठिइबंधे, अणुभावबंधे, एएसबंधे। –समवायांग सम. ४

बंधे हैं, उनके स्वभाव-निर्माण की। प्रदेशबन्ध के रूप में जब वे कर्मपरमाणु एकीभूत हो जाते हैं, तत्पश्चात् ही कार्यभेद के अनुसार वे आठ वर्गों में बँट जाते हैं। कौन-सा कर्म, किस स्वभाव का होगा, इस प्रकार की व्यवस्था को प्रकृतिबन्ध कहते हैं। अर्थात्–गृहीत कर्म-परमाणुओं का ज्ञानावरण (जिन कर्मों से आत्मा की ज्ञान शक्ति आवृत होती है) इत्यादि अनेक रूपों में परिणत होना प्रकृति-बन्ध है। प्रदेशबन्ध में कर्म-परमाणुओं के परिमाण का निर्णय होता है, जबकि प्रकृतिबन्ध में गृहीत कर्मपरमाणुओं की प्रकृति यानी स्वभाव का निर्णय होता है। भिन्न भिन्न स्वभाव वाले कर्मों की भिन्न-भिन्न परमाणु-संख्या होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो–भिन्न-भिन्न कर्म-प्रकृतियों के विभिन्न कर्म-प्रदेश होते हैं। जैन कर्मशास्त्रों में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि किस कर्म-प्रकृति के कितने प्रदेश होते हैं और उनका तुलनात्मक अनुपात क्या है ?

कर्मबन्ध की तीसरी अवस्था : रसबन्ध

कर्मबन्ध की तीसरी अवस्था है–कर्मरूप से गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के कर्मफल की रसशक्ति के निर्माण की। कौन-से कर्म में, कितनी रस-शक्ति है, इस व्यवस्था को रसबन्ध या अनुभाग-बन्ध कहते हैं। कर्मफल देने की अर्थात्–कर्म-विपाक की तीव्रता-मन्दता का निश्चय आत्मा के रागद्वेषरूप या कषायरूप अध्यवसाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। बन्ध होने के साथ ही कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार रसबन्ध निर्मित हो जाता है।

कर्मबन्ध की चौथी अवस्था : स्थितिबन्ध

कर्मबन्ध की चौथी अवस्था है–गृहीत कर्मपरमाणुओं के स्थिति-काल की। कौन-सा कर्म, कितने काल तक आत्मा के साथ रह पाएगा, इस काल-सीमा के निर्णय की अवस्था या व्यवस्था को स्थितिबन्ध कहते हैं। बद्धकर्म की आत्मा के साथ कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार स्थिति निर्मित होती है।[1]

कर्मबन्ध के साथ ही चार अवस्थाएँ स्वतः निष्पन्न होती हैं

ये चारों अवस्थाएँ या व्यवस्थाएँ कर्मबन्ध के साथ ही स्वतः निष्पन्न हो जाती हैं। तात्पर्य यही है कि जीव द्वारा कर्मपुद्गल-ग्रहण किये जाने पर वे कर्मबन्ध के रूप में परिणत हो जाते हैं, इसका फलितार्थ यही है कि उसी समय उसमें (बन्ध सम्बन्धित) पूर्वोक्त चारों अंशों या अंगों का निर्माण हो जाता है; और वे चार अंश या अंग ही कर्मबन्ध के चार रूप हैं। उदाहरणार्थ–बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया हुआ घास आदि पदार्थ जब दूध के रूप में परिणत हो जाता है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव

---

१. (क) कर्मवाद से भावांशग्रहण, पृ. ४४
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १२ से भावग्रहण, पृ. १४-१५

निर्मित होता है। वह स्वभाव अमुक समय तक उसी रूप में बना रह सके, ऐसी काल-मर्यादा उसमें स्वतः निर्मित हो जाती है। फिर उस मधुरता में तीव्रता-मन्दता आदि विशेषताएँ भी होती हैं। साथ ही उस दूध में दुग्धतत्व कितनी मात्रा (परिमाण) में है? यह भी स्वतः निर्मित एवं निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार जीव द्वारा गृहीत एवं आत्मप्रदेशों में संश्लेष को प्राप्त कर्मपुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) अनुभाग (रस) बन्ध और (४) स्थितिबन्ध।

बन्ध के चार अंशों का संक्षेप में स्पष्टीकरण

इसे विशेष स्पष्ट रूप से समझ लें—(१) गृहीत कर्मपुद्गलों में से किसी में ज्ञान को आवृत करने का, किसी में दर्शन को आच्छादित करने का, किसी में सुख-दुःख का अनुभव कराने, तथा किसी में चारित्र को कुण्ठित करने आदि का जो स्वभाव बनता है, वह स्वभाव-निर्माण ही प्रकृतिबन्ध है। (२) गृहण किये जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्म-पुद्गल-राशि स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिमाण में बँट जाती है। यह परिमाण-विभाग ही प्रदेशबन्ध है। (३) स्वभाव बनने के साथ ही उसमें तीव्रता, मन्दता आदि रूप में फलानुभव कराने वाली विशेषताएँ बँधती हैं, दूसरे शब्दों में, उन गृहीत कर्मपुद्गलों में न्यूनाधिक फल देने की शक्ति रसबन्ध है; यही अनुभाव बन्ध या अनुभागबन्ध है। (४) स्वभाव-निर्माण के साथ ही उस स्वभाव से अमुक काल तक च्युत न होने की मर्यादा भी कर्मपुद्गलों में स्वतः निर्मित हो जाती है, उस काल-सीमा (स्थिति) का निर्माण ही स्थितिबन्ध है।[1]

प्रकृति-प्रदेशबन्ध योगाश्रित, स्थिति-अनुभागबन्ध कषायाश्रित

कर्म-बन्ध की इन चार अंशरूप अवस्थाओं में प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग के आश्रित हैं। योगों के तरतमभाव पर ही प्रकृति और प्रदेशबन्ध का तारतम्य अवलम्बित है; जबकि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के आश्रित हैं। क्योंकि कषाय की तीव्रता-मन्दता पर ही स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की न्यूनाधिकता अवलम्बित है। कर्मग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है—योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते हैं, जबकि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध (रसबन्ध) कषाय से होते हैं।

बन्ध के चार रूपों का आधार : योग और कषाय

सारांश यह है कि जीव के योग और कषायरूप भावों का निमित्त पाकर जब कार्मण-वर्गणाएँ कर्मरूप में परिणत होती हैं, तो उनमें चार बातें होती हैं—एक उनका स्वभाव दूसरे स्थिति (काल का निर्णय), तीसरे फल देने की शक्ति और चौथे अमुक परिमाण (मात्रा या संख्या) में जीव के साथ उनका सम्बन्ध होना। इन चार बातों को ही चार प्रकार के बंधांश या बन्ध के चार रूप कहते हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. १९४

इनमें से स्वभाव अर्थात्–प्रकृतिबन्ध और कर्मपरमाणुओं का अमुक संख्या में जीव के साथ सम्बद्ध होना अर्थात्–प्रदेशबन्ध तो जीव की योगशक्ति पर निर्भर है। जबकि स्थिति (काल-मर्यादा का निर्णय) तथा फल-प्रदान-शक्ति जीव के कषाय-भावों पर निर्भर है। योगशक्ति तीव्र या मन्द जैसी होगी, बन्ध को प्राप्त कर्म-पुद्गलों का स्वभाव और परिमाण भी वैसा ही तीव्र या मन्द होगा। इसी तरह जीव के कषाय भाव जैसे तीव्र और मन्द होंगे, बन्ध को प्राप्त कर्मपरमाणुओं की स्थिति और फलदायक शक्ति भी वैसी ही तीव्र या मन्द होगी।[1]

जीव की योगशक्ति को हवा, कषाय को चिपकाने वाले गोंद और कर्म-परमाणुओं को रजकण की उपमा दी गई है। जहाँ कोई चिपकाने वाले गोंद या तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगे रहते हैं, वहाँ हवा के चलते ही जैसे धूल के कण उड़-उड़ कर उन स्थानों पर चिपक जाते हैं–जम जाते हैं, वैसे ही जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया या प्रवृत्ति के साथ कर्म-पुद्गलों का आत्मा में आगमन-आस्रव होता है; जीव के राग-द्वेषरूप संक्लेश परिणामों को पाकर वे जीव के साथ बंध जाते हैं। योगशक्तिरूपी वायु जैसी भी तीव्र या मन्द होती है, कर्मरजरूपी धूल भी उसी परिमाण में उड़ती है तथा गोंद वगैरह जितने भी न्यूनाधिक चेप वाले होते हैं, धूल उतनी ही स्थिरता के साथ वहाँ ठहर जाती है। इसी प्रकार योगशक्ति जितनी तीव्र होती है, आगत कर्म-परमाणुओं की संख्या (प्रदेशबन्ध) उतनी ही अधिक होती है। तथा कषाय जितना भी तीव्र होता है, कर्मपरमाणुओं में उतना ही अधिक स्थितिबन्ध और उतना ही तीव्र अनुभावबन्ध होता है।[2]

प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती : क्यों और कैसे ?

इस विषय में 'धवला' में एक प्रश्न उठाया गया है कि प्रकृति अनुभाग क्यों नहीं हो सकती ? इसका समाधान किया गया है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति (बन्ध) योग के निमित्त से होती है, अतएव उसकी कषाय से उत्पत्ति होने में विरोध आता है। भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले कार्यों में एकरूपता नहीं हो सकती, इस प्रकार का निषेध है। दूसरे, अनुभाग की वृद्धि प्रकृति की वृद्धि में निमित्त होती है, क्योंकि उसके महान् होने पर प्रकृति के कार्यरूप अज्ञानादि की वृद्धि देखी जाती है। इस कारण प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती।[3]

---

१. (क) वही, पृ. १९६।
(ख) पयडि-पएसबंधो जोगेहिं, कसायओ इयरे। –पंचसंग्रह २०४
(ग) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. २१ पर भावार्थ (सं. पं. कैलाशचन्द्र जी), पृ. ५९
(घ) जोगा पयडि-पएसा, ठिइ-अणुभागा कसायओ कुणई। –कर्मग्रन्थ पंचम गा. ९६

२. कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. २१ का विवेचन, पृ. ५९-६०

३. पयडी अणुभागो किण्ण होदि ? ण, जोगादो उप्पन्नमाण-पयडीए कसायदो उप्पत्ति-विरहादो। ण च भिण्ण-कारणाणं कज्जाणमेयत्तं, विप्पडिसेहादो। किं च अणुभाग वुड्ढी पयडि-वुड्ढि-णिमित्ता। तीए महंतीए संतीए पयडिकज्जस्स अण्णाणादिसस्स वुड्ढी-दंसणादो। तम्हा ण पयडि अणुभागो त्ति घेत्तव्वो। –धवला १२/४, २, ७/१९९

बन्ध के ये चारों रूप स्वतः कैसे निष्पन्न हो जाते हैं ?

प्रश्न होता है, कर्मबन्ध की पूर्वोक्त चारों अवस्थाएँ या व्यवस्थाएँ जीव या आत्मा के द्वारा निष्पन्न न होकर स्वाभाविक रूप से अपने आप कैसे निष्पन्न हो जाती हैं। इसके लिए हम एक अनुभूत उदाहरण ले लें--हम भोजन करते हैं, उस समय भोज्य एवं पेय पदार्थों को गले से नीचे उतार देते हैं। हमें विश्वास होता है कि पेट में डाला हुआ भोज्य एवं पेय पदार्थ अपने आप हजम होगा। अतः भोजन गले से उतारने के बाद की सारी क्रियाएँ स्वतः संचालित होती हैं। हमारे द्वारा खाना खाने के बाद, पाचक रस उसके साथ स्वतः मिल जाता है। वह फिर शरीर के सभी अवयवों में फैलता है। उसके रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि बनते हैं। आहार में जो सारभूत भाग था, वह विभिन्न अवयवों में स्वतः वितरित हो गया। जो असार भाग था, वह बड़ी आंत में गया। वहाँ से मल, मूत्र, प्रस्वेद आदि के रूप में उत्सर्ग-क्रिया सम्पन्न हुई। ये समस्त क्रियाएँ स्वतः होती चली गईं। हमने न तो उसके लिए कोई प्रयत्न किया और न ही खाये हुए भोजन पर ध्यान दिया कि अब हमें भोजन को पचाना है, अब भोजन का रस बनाना, रक्त बनाना है या उससे ऊर्जा-शक्ति प्राप्त करनी है, या बल-बुद्धि प्राप्त करनी है। जहाँ जो कार्य होना होता है, वह स्वतः होता चला जाता है। यही बात हमारे द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गल-परमाणुओं के विषय में समझ लेनी चाहिए।

जिस प्रकार खाद्य-पेय पदार्थों को ग्रहण करना आहार है, उसी प्रकार हमारी कायिक-वाचिक-मानसिक योग-चंचलता के द्वारा जो भी कर्म-पुद्गल हम खींचते हैं, ग्रहण करते हैं, वह भी आहार (आहरण) है। वे कर्म-पुद्गल आकर हमारे आत्म-प्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह घुल-मिल जाते हैं, चिपक जाते हैं। उनके चिपकने के बाद कर्मों के अपने-अपने स्वभावानुसार जो विभाजन होता है, उनके स्वभाव का पृथक-पृथक निर्माण होता है, तथा वह कर्म-पुद्गल परिमाण में कितना है? इसका निर्णय भी हो जाता है। वह कितने काल तक टिका रहेगा, अपने स्वभाव से च्युत न होगा, एवं कितने तीव्र या मन्द से युक्त फल प्रदान करने की शक्ति वाला है? सब प्रक्रियाएँ आत्मा में स्वतः निष्पन्न होती हैं।

खाये हुए पदार्थों के पचाने, रस बनाने और कमी की पूर्ति करने की प्रक्रिया स्वतः

जिस प्रकार शरीर में खाये गए अनेक प्रकार के पदार्थों का निर्माण और पूर्ति स्वतः होती रहती है। शरीर को चिकनाई की जरूरत है, वह पूरी हो जाती है--स्निग्ध पदार्थों से। शरीर को प्रोटीन की आवश्यकता है। भोज्य पदार्थों में जो प्रोटीन का भाग होता है, वह प्रोटीन की पूर्ति कर देता है। इसी तरह जहाँ-जहाँ जिस विटामिन की आवश्यकता होती है, वह भोजन के माध्यम से स्वतः पहुँच जाता है।

दवा डालते हैं पेट में, परन्तु ठीक करती है, वह रुग्ण अवयव को

दूसरी ओर हम प्रायः प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि रोग मस्तिष्क में है, सिर में दर्द है और हम दवा लेते हैं–पेट में, फिर भी दवा मस्तिष्क-रोग को या सिर दर्द को ठीक कर देती है। इस प्रकार दर्द चाहे शरीर के किसी भी हिस्से में क्यों न हो, पेट में निगली हुई वह दवा वहीं पहुँच जाएगी और उस बीमार अवयव को स्वस्थ कर देगी। अर्थात्–शरीर में जिस किसी हिस्से में जहं दर्द है, वहीं उक्त/ली हुई/दवा शीघ्र ही पहुँच कर अपनी क्रिया करेगी। सवाल होता है, वह दवा ठीक बीमार अवयव तक क्यों पहुँच जाती है ? दूसरे अवयव तक क्यों नहीं पहुँचती ? इसका समाधान यह है कि शरीर में ऐसी स्वाभाविक व्यवस्था है कि शरीर के जिस अंग में, जिस तत्व की कमी है, वह पदार्थ पहले उसी कमी को पूरा करता है। जिस तत्व की वहाँ कमी होती है, वह पदार्थ उसी दिशा में स्वयमेव आकृष्ट होकर जाता है। शरीर में आकर्षण की एक सुचारु व्यवस्था है। शरीर में ही नहीं, सारे संसार में अपने-अपने अनुकूल और स्वजातीय के प्रति आकृष्ट होकर उसे खींच लेने की व्यवस्था है। हमारे कर्मपरमाणु पुद्गलों की भी यही व्यवस्था है। जो कर्म-परमाणु गृहीत होते हैं, वे अपने सजातीय परमाणुओं द्वारा आकर्षित कर लिये जाते हैं। जो कर्मपरमाणु आत्मा द्वारा आकृष्ट होते हैं, उनमें उसी समय एक विशेष प्रवर की क्षमता निर्मित हो जाती है।[1]

योग और कषायों के निमित्त से स्वतः चारों प्रकार के बन्ध होते हैं।

वस्तुतः जीव के रागादि भावों से आत्मप्रदेशों में जो हलचल (योग-प्रवृत्ति) होती है, उससे कर्म-योग्य पुद्गल खिंचते हैं। वे स्थूल शरीर के भीतर से भी खिंचते हैं, बाहर से भी। इस योग से उन कर्मवर्गणाओं में विभिन्न कर्मों की प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों के रूप में अलग-अलग बंध पड़ते हैं, इसी का नाम प्रकृतिबंध है।[2]

यदि वे कर्म-पुद्गल किसी के ज्ञान में बाधा डालने वाली क्रिया से खिंचे हैं, तो उनमें ज्ञान के आवरण करने का स्वभाव पड़ेगा, अर्थात्–ज्ञानावरणीय-कर्म-प्रकृति का बन्ध होगा। यदि वे कर्म-पुद्गल रागादि कषायों से खिंचे हैं तो चारित्र-घातक स्वभाव पड़ेगा, यानी चारित्रमोहनीय कर्म प्रकृति का बन्ध होगा। तात्पर्य यह है कि आगत कर्म-पुद्गलों को आत्म प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाही कर देना तथा उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावों का पृथक्-पृथक् पड़ जाना योग से होता है। इन्हें ही क्रमशः प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहा जाता है। कषायों की तीव्रता या मन्दता के अनुसार उस कर्म-पुद्गल में स्थिति (काल-मर्यादा) और फलप्रदान के निश्चय की शक्ति पड़ती

---

१. कर्मवाद से भावांशग्रहण, पृ. ३५-३६

२. जैन दर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य) से भावग्रहण, पृ. २२६

है, यह क्रमशः स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषाय से होते हैं।[1]

कर्मबन्ध-चतुष्टय विभाग : दो अपेक्षाओं से

इस प्रकार योग और कषाय द्वारा आत्मा के साथ जो कर्मपरमाणु बद्ध होते हैं, वे चार प्रकार से बद्ध होते हैं। यथा–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग-बन्ध या रसबन्ध और प्रदेशबन्ध। कर्मबन्ध का यह विभाग दो प्रकार से किया गया है–(१) कर्म विपाक की दृष्टि से और (२) कर्म-विपाक के काल की दृष्टि से। स्पष्ट है कि कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, उसी वक्त तत्सम्बन्धित चार अंगों का निश्चय हो जाता है।[2]

प्रकृति का अर्थ होता है–स्वभाव (नेचर–Nature)। अर्थात् प्रत्येक ग्रहण किये हुए कर्म का स्वभाव किस प्रकार का होना है, इसका निर्णय बन्ध के समय ही हो जाता है। किसी कर्म का ज्ञान को आवृत करने का स्वभाव होता है, किसी का सुख-दुःख करने का स्वभाव होता है, इत्यादि। अर्थात्–कर्म का असर कैसा होगा ? इस रीति-नीति का नाम प्रकृतिबन्ध है। स्थिति का अर्थ है–कालसीमा (ड्यूरेशन–Duration)। अर्थात्–वह कर्म कितने काल तक रहेगा ? कब फल देना प्रारम्भ करेगा ? और उसके फल की मुद्दत कितने काल तक की रहेगी ? यह स्थितिबन्ध का विषय है। रस का अर्थ है–कर्मफल की तीव्रता-मन्दता (इन्टैन्सिटी–Intensity)। गृहीत कर्म के विपाक की तरतमता-गाढ़ता वता न्यूनाधिक होना रसबन्ध है। रसबन्ध का काम है–फल देने के समय कम या अधिक परिणाम देना, तीव्र, सादा या मध्यम परिणाम अनुभव करना। प्रदेश का अर्थ है–कर्मबन्ध का दलिक (क्वान्टिटी–Quantity) स्थिति या रस की अपेक्षा के बिना जो कर्म होने वाला कर्मवर्गणा के दलिक का जत्था प्रदेशबन्ध है।[3]

बन्ध की चारों अवस्थाओं को समझाने के लिए मोदकों का दृष्टान्त

इन चारों प्रकारों को भलीभाँति समझने के लिए आचार्यों ने मोदक का दृष्टान्त दिया है–एक व्यक्ति ने वातनाशक पदार्थों से लड्डू बनाए। उन लड्डुओं का स्वभाव वात-व्याधि को मिटाने वाला है, दूसरे व्यक्ति ने पित्तनाशक पदार्थों से मोदक बनाए, उनका स्वभाव पित्त को शान्त करने वाला है; तीसरे व्यक्ति ने कफनाशक पदार्थों से लड्डू बनाए, जो कफ को नष्ट करने के स्वभाव वाले हैं। वैसे ही जीव (आत्मा) द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों में से कुछ में आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करने का स्वभाव है, किसी में आत्मा के दर्शनगुण को ढकने का स्वभाव होता है, किसी में आत्मा के

१. जैन दर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार जैन), पृ. २२६
२. जैन धर्म और दर्शन (गणेश ललवानी), पृ. १०१
३. जैनदृष्टिए कर्म (डॉ. मोतीचन्द गि. कापड़िया), पृ. ४०

अनन्त सामर्थ्य को दबाने-कुण्ठित करने का स्वभाव होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गृहीत कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों-स्वभावों के उत्पन्न होने, अथवा वैसी-वैसी शक्ति पैदा हो जाती है-बंध जाती है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। अभिप्राय यह है कि कर्म बांधते समय गृहीत कर्मदलिक आत्मा (जीव) पर पृथक्-पृथक् असर करते हैं, यह प्रकृतिबन्ध का विषय है। कर्मबन्ध होते समय ही इस प्रकृतिबन्ध का निर्णय स्वतः हो जाता है। जो कर्म यश-कीर्ति बढ़ाने की प्रकृति (स्वभाव) और शक्ति वाला होता है-वह यशकीर्ति-नामकर्म का बन्ध होकर जीव का यश बढ़ाता है, जो कर्म मनुष्यगति में ले जाने वाले मनुष्यगति नामकर्म की प्रकृति और शक्ति से युक्त होता है, वह मनुष्यगति में ले जाता है। जो कर्म सुन्दर रूप देने के स्वभाव वाला होता है, वह शुभ वर्णनाम कर्म के बन्धानुसार सुरूप प्रदान करता है। इस प्रकार जो कर्म मूल प्रकृति और उत्तरप्रकृति के रूप में बहुविध स्वभाव वाला होता है, वहाँ प्रकृति-बन्ध होता है।

इस प्रकार कुछ मोदकों का परिमाण दो तोला भार होता है, कोई मोदक एक छटांक का और कोई पावभर आदि का होता है। इसी प्रकार किन्हीं गृहीत कर्मस्कन्धों में परमाणुओं की संख्या अधिक और किन्हीं में कम होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न परमाणु-संख्याओं से युक्त कर्मदलों का आत्मा के साथ सम्बद्ध होना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

जिस प्रकार उक्त लड्डुओं में किन्हीं की एक सप्ताह तक, किन्हीं की एक पक्ष की, किन्हीं मोदकों की एक मास तक स्वभावरूप में रहने की कालमर्यादा या शक्ति होती है। इस कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं। स्थिति के पूर्ण होने पर लड्डू अपने स्वभाव से चलित हो जाते हैं-बिगड़ जाते हैं-विरस हो जाते हैं। अर्थात्-यह लड्डू कितने दिन चलेगा, कब से बिगड़ने लगेगा ? और कब बिलकुल बिगड़ जाएगा ? इसी प्रकार कर्म के टिकने की काल सीमा (स्थिति) का निर्णय स्थितिबन्ध कहलाता है। इसी प्रकार कोई कर्मदल उत्कृष्टतः सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक, कोई बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक, कोई कर्म तीस सागरोपम तक और कोई जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तक आत्मा के साथ रहते हैं। इस प्रकार विभिन्न कर्मदलों का आत्मा के साथ पृथक्-पृथक् काल-सीमा (स्थिति) तक बने रहने, अर्थात्-अपने स्वभाव का त्याग न करके आत्मा के साथ टिके रहने की कालमर्यादा का बन्ध होना, स्थितिबन्ध है। स्थिति के पूर्ण होने पर वे कर्म अपने स्वभाव का परित्याग करके आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। आशय यह है कि आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मदल कितने काल बाद उदय में आयेंगे, उसके बन्ध और उदय के बीच में कितना समय व्यतीत होगा और उदय में आने के बाद वह कर्म कितने समय तक फल-प्रदान करना चालू रखेगा, इन सब बातों का निर्णय स्थितिबन्ध में होता है।

जैसे कुछ लड्डुओं में मधुररस कम होता है, कुछ में अधिक, कुछ में कटुरस कम होता है, कुछ में अधिक, इत्यादि प्रकार से मधुर-कटुक आदि रसों की न्यूनाधिकता देखी जाती है, वैसी ही कुछ कर्मदलों में शुभ या अशुभ रस कम या अधिक होता है। तथा उनमें तीव्रता-मन्दता भी होती है। इसी प्रकार विविध प्रकार के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभ-अशुभ रसों का कर्मपुद्गलों के रूप में बंध जाना यानी उत्पन्न हो जाना, रसबन्ध या अनुभाग-बन्ध कहलाता है।[1]

प्रकृति बन्ध की विशेषता

बन्ध का यह चार अंशों में विभाग कर्मविपाक की दृष्टि से किया गया है। कर्म आत्मा से लिप्त होते समय जीव के मन-वचन-काया के योग की शुभाशुभता, मन्दता-तीव्रता आदि कारणों से विशेष-विशेष प्रकार की परिणति और आत्मा के विशेष-विशेष गुणों को आवृत-कुण्ठित-विकृत करने का स्वभाव लेकर बद्ध होते हैं। इस बन्ध को ही प्रकृतिबन्ध (स्वभाव-निर्णयात्मक बन्ध) कहा जाता है।

आटा, घी, गुड़ आदि वस्तुओं से अलग-अलग प्रकार का बना हुआ कोई लड्डू वायु करता है, कोई पित्त करता है और कोई कफ करता है। यह उक्त मोदकों का अलग-अलग स्वभाव है। इसी प्रकार कर्म भी स्वभावानुसार आत्मा पर अलग-अलग प्रकार से असर डालता है। स्वभावानुसार कोई कर्म ज्ञान को रोकता है, कोई कर्म दर्शन को और कोई कर्म शक्ति को रोकता है। पृथक्-पृथक् स्वभावानुसार कर्म भी अपना पृथक्-पृथक् फल देता है। कर्मबन्ध के समय ही उसके स्वभाव का निश्चय हो जाता है।

स्थितिबन्ध की विशेषता

रागद्वेषादि अध्यवसाय की तीव्रता और मन्दता के कारण दीर्घकाल या अल्पकाल की स्थिति को लेकर आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का जो बन्ध होता है, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। जिस प्रकार अपराधी को कैद की सजा की मुद्दत (कालावधि) अमुक दिवस या अमुक मास तक अथवा अमुक वर्ष आदि तक की है, उसी प्रकार कर्म की भी फल देने की अवधि (कालसीमा) होती है। अथवा जैसे वृक्ष को फल लगने और पकने का समय होता है। कर्म बांधते समय कर्म के पुद्गलों में वह काल नियत हो जाता है। घड़ी में चाबी देने पर उसकी अमुक घंटे या दिवस तक चलने की मर्यादा होती है, वैसे ही कर्मफल-प्रदान करने का काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त का और अधिक से अधिक ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। प्रत्येक बद्ध कर्म का निर्दिष्ट काल अतिक्रान्त (व्यतीत) हो जाने पर वे पुद्गल कर्मफल प्रदान कर आत्मा

१. (क) जैन दृष्टिए कर्म, (डॉ. मोतीचन्द गि. कापड़िया) से भावांशग्रहण, पृ. ४०-४१
(ख) कर्मग्रन्थ प्रथम भाग (मरुधरकेसरी) गा. २ के विवेचन से, पृ. १३-१४

से बहिर्गत हो जाते हैं। यदि स्थितिकाल वह समय दीर्घ हो और जीव की आयु थोड़ी हो, तो वह बद्धकर्म जन्म-जन्मान्तरों तक अवस्थित रहकर फल प्रदान करता रहता है।

रसबन्ध : कब, कैसे, किस प्रकार का ?

इसी प्रकार राग-द्वेषादि अध्यवसाय से आकृष्ट होकर कर्मपुद्गल जिस समय आत्मा के साथ बद्ध होते हैं, उसी समय वे फल-प्रदान करने की शक्ति रूप रसयुक्त होकर बद्ध होते हैं। इसे ही रसबन्ध कहते हैं। कर्म बांधते समय जैसे परिणाम हों, वैसा रस पड़ता है। और जैसा रस पड़ा हो, वैसा ही तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र तथा मन्द, मन्दतर, मन्दतम फल भोगना पड़ता है। रस का अर्थ है—अनुभव करना, कर्म का फल भोगना। कई दफा कर्म का फल बहुत तीव्र रूप में भोगना पड़ता है, जबकि कई बार मन्दरूप में भोगना पड़ता है।[1]

इसे भलीभाँति समझने के लिए सच्ची घटना लीजिए—अहमदाबाद के वी. एस. हॉस्पिटल के जनरल वार्ड में एक व्यक्ति रुग्णशय्या पर बैठा हुआ अपना सिर पकड़कर पछाड़ रहा था और जोर-जोर से चिल्लाता हुआ कह रहा था—हे भगवान ! हाय ! मर गया, मर गया ! उसके पास ही उसके पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि स्व-जन रो-रोकर हमदर्दी प्रकट करते हुए उसे आश्वासन दे रहे थे। दृश्य अत्यन्त करुण था। ऐसा मालूम होता था कि यह व्यक्ति शीघ्र ही मर जायेगा, क्योंकि उसके मुख पर अपार वेदना की झलक थी। लगभग दो घंटे बाद सिरदर्द गायब हो गया। था तो सिरदर्द लेकिन पीड़ा के मारे चैन नहीं पड़ रहा था। यह था असाता वेदनीय कर्म का तीव्र रसबन्ध !

इसके विपरीत किसी के हलका-सा सिरदर्द था। किसी व्यक्ति ने उससे पूछ लिया—भैया ! कैसे हो ? तो वह तपाक से बोल उठेगा—"आनन्द ही आनन्द है ! हल्का-सा सिरदर्द तो चलता है।" और वह अपने कार्य में जुट जाएगा। यद्यपि असातावेदनीय कर्म के उदय से सिरदर्द तो हुआ था, किन्तु रस की तीव्रता नहीं थी।[2]

क्लिष्ट अध्यवसायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार रसबन्ध

इसी प्रकार किसी को एक-सौ एक डिग्री बुखार हो, किसी को एक सौ पाँच डिग्री हो, इसी प्रकार कर्म बांधते समय परिणामों की मन्दता-तीव्रता के अनुसार रसबन्ध होता है और जैसा रस पड़ा हो, उसी प्रकार से भोगना पड़ता है। कर्मपरमाणुओं में जो कटु, तिक्त, कसैला, अम्ल और मधुर रस रहता है, उनमें स्वतः फल-प्रदान करने

१. (क) जैन धर्म और दर्शन (गणेश ललवानी), पृ. १०५-१०६
   (ख) कर्म-फिलोसोफी (व्याख्याता : विजयलक्ष्मणसूरी जी), पृ. ३५
   (ग) आत्मतत्व विचार (विजयलक्ष्मणसूरीश्वर जी). पृ. २८८
२. रे कर्म तेरी गति न्यारी (आ. विजयगुणरत्नसूरी जी), पृ. ५७

की शक्ति नहीं रहती। उनमें एक प्रकार का रस तभी उत्पन्न होता है, जब परमाणु आत्मा के साथ संलिष्ट होते हैं। जिस प्रकार सूखी घास गाय-भैंस आदि के पेट में जाकर उनकी शारीरिक विशिष्टता के कारण स्नेहयुक्त दुग्ध में परिणत हो जाती है। यह रसबन्ध की प्रक्रिया भी करीब-करीब उसी प्रकार की है। बन्ध के समय आत्मा में राग-द्वेषादि-जनित क्लिष्ट अध्यवसाय रहने से अशुभ-प्रकृति-विशिष्ट कर्म में तीव्र और शुभ-प्रकृति-विशिष्ट कर्म में मन्द रसबन्ध होता है। इसके विपरीत आत्मा में शुभ अध्यवसाय रहने से अशुभ-प्रकृति-विशिष्ट कर्म में मन्द रसबंध और शुभप्रकृति-विशिष्ट कर्म में तीव्ररस-बन्ध होता है।

प्रदेश बंध की विशेषता

प्रदेश कहते हैं--जड़ द्रव्य या पुद्गल-क्षुद्रतम अविभाज्य अंश का परमाणु को। आत्मा के अविभाज्य अंश को आत्मप्रदेश कहते हैं। दो या दो से अधिक परमाणु द्वारा निर्मित द्रव्य को स्कन्ध कहते हैं। आत्मा के साथ बद्ध होने के लिए आगत कार्मणवर्गणा के स्कन्ध-समूह, संख्येय, असंख्येय या अनन्त-परमाणुओं से गठित न हो कर अनन्तानन्त परमाणु से गठित होते हैं। वस्तुतः मन-वचन-काया के योग के प्रभाव से जब कर्म-पुद्गल-स्कन्ध जीव के साथ बद्ध होने के लिए आते हैं, तब न्यूनाधिक परिमाण से युक्त कर्म-पुद्गल स्कन्ध के साथ आत्मा के साथ बंध को प्रदेशबन्ध कहते हैं। प्रदेशबन्ध में आत्मा अपने निकटवर्ती कर्मस्कन्धों को योग द्वारा अपनी ओर खींचकर अपने आत्मप्रदेशों में ओतप्रोत कर लेता है। आशय यह है कि आत्मा के साथ कार्मण वर्गणा के स्कन्धों का समूह जितना जुड़ता है, अथवा जीव के द्वारा जितने परिमाण में उन्हें ग्रहण किया जाता है, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।[1]

चतुःश्रेणी कर्मबन्ध : कर्मद्रव्य के द्रव्यादि स्वचतुष्टय

पूर्वोक्त चतुःश्रेणीबन्ध द्रव्यकर्म से सम्बन्धित है। अन्य पदार्थों की भाँति कर्म का बन्ध भी चार अपेक्षाओं से युक्त है। ये चारों अपेक्षाएँ कर्मबन्ध के ही स्व-चतुष्टय हैं--अर्थात्--स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव। कार्मणवर्गणा से निर्मित होने के कारण वह स्व-द्रव्य है। ज्ञान आदि को आवृत, विकृत या कुण्ठित करने का स्व-भाव उसकी प्रकृति है। कार्मण-शरीर के आकार वाला होना उसका स्व-क्षेत्र है, जिसका मान उसके प्रदेशों से किया जाता है। किसी निश्चित काल तक जीव के साथ रहना उसका स्व-काल है; और वही कहलाती है--उसकी स्थिति। उसकी तीव्र या मन्द फलदान-शक्ति भी उसका स्व-भाव है, जिसे अनुभाग कहा जाता है। संक्षेप में, इन विचारों को कर्मबन्ध के स्व-चतुष्टय कह सकते हैं। कार्मण-स्कन्धरूप द्रव्यकर्म का पिण्ड स्व-द्रव्य है। उसमें स्थित प्रदेश उसका क्षेत्र है, उसकी स्थिति काल है और अनुभाग उसका भाव है।

---

१. (क) जैनधर्म और दर्शन, पृ. १०७, ११०
(ख) आत्मतत्वविचार, पृ. २८८

कर्मबन्ध के साथ चतुःश्रेणीबन्ध अवश्यम्भावी

कर्मबन्ध तो हो, परन्तु उसकी कोई प्रकृति, स्वभाव या जाति न हो, यह असम्भव है। जिस प्रकार पुद्गल की प्रकृति रूप-रसादियुक्त होना है, और चेतन की है—ज्ञान। उसी प्रकार कर्म की भी कोई फलदान रूप प्रकृति होनी चाहिए। कर्मबन्ध तो हो, किन्तु उसकी कोई स्थिति, आयु या काल-सीमा न हो, यह असम्भव है। जिस प्रकार सभी पुद्गल-स्कन्धों की तथा शरीरधारी जीव की न्यूनाधिक कुछ न कुछ स्थिति अवश्य होती है, जिसके पूर्ण हो जाने पर वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है या मर (नष्ट हो) जाता है, उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त कर्म की भी कोई स्थिति अवश्य होती है, जिसके पूर्ण होने पर वह शरीर की तरह जीव का साथ छोड़ देता है। शुद्ध द्रव्यों की स्थिति अनादि-अनन्त होती है, क्योंकि उसकी नवीन उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। इसके विपरीत बन्ध को प्राप्त अशुद्ध पुद्गल व अशुद्ध जीव की स्थिति या आयु अवश्य होती है। इसी प्रकार कर्मबन्ध तो हो, परन्तु उसके कर्मफल का तीव्र या मन्द रस या अनुभाग के रूप में अनुभव न हो, यह असम्भव है। प्रकृति तथा अनुभाग इन दोनों में कर्म-फलप्रदान की अपेक्षा से समान बन्ध होते हुए भी अन्तर है। प्रकृति सामान्य है, अनुभाग उसका विशेष है। आम नामक पदार्थ की प्रकृति तो मीठापन है, परन्तु वह कितना कम या अधिक मीठा है ? यह उसका अनुभाग है। दूधरूप से समान प्रकृति वाले होते हुए भी भैंस के दूध में चिकनाहट अधिक होती है, बकरी के दूध में कम। इसी प्रकार कर्म की फलदानशक्ति की तरतमता का नाम अनुभाग है। वर्तमान युग की भाषा में इसे डिग्री कह जा सकता है। अनुभाग भावात्मक होने के कारण इससे कर्मबन्ध को (अविभाग-प्रतिच्छेद से) नापा जाता है। कर्म भी अन्य स्कन्धों की भाँति पुद्गलस्कन्ध माना गया है, भले ही वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, उसमें एक से अधिक परमाणु या प्रदेश अवश्य होने चाहिए, क्योंकि अकेला परमाणु बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकता। इसी दृष्टि से कर्मस्कन्ध के रूप में स्थित परमाणुओं का परिमाण प्रदेशबन्ध माना गया है। स्वचतुष्टय को धारण करने से कर्मबन्ध की यह चतुःश्रेणी एक सत्ताभूत पदार्थ है, काल्पनिक वस्तु नहीं। वीतरागीजनों के सिवाय संसारी प्राणियों में कहीं भी ऐसा नहीं होता कि प्रकृति और प्रदेश तो हों, पर स्थिति और अनुभाग न हों। अतः कर्मबन्ध के साथ ही उसके अंशरूप इस चतुःश्रेणीबन्ध को भलीभाँति जानना आवश्यक है।[1]

●●

---

१. कर्म सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी) से साभार उद्धृत, पृ. ४५ से ४७ तक।

१३

प्रदेशबन्ध : स्वरूप, कार्य और कारण

सूत के धागों की संख्या की तरतमता के अनुसार वस्त्र निर्माण

यह तो सबकी अनुभूत बात है कि चरखे पर सूत कातते समय धागा जितना मोटा होगा, उतना ही अधिक उसका कपड़ा बुना जाएगा, इसके विपरीत सूत का धागा, जितना मध्यम या बारीक होगा, कपड़ा उतना ही कम बुना जाएगा। मोटे सूत से बने हुए धागे से बना हुआ कपड़ा उतनी ही अधिक जगह रोकेगा, जबकि बारीक सूत से बने हुए धागे से बना हुआ कपड़ा उतनी ही कम जगह रोकेगा। फिर सूत के नम्बर भी धागे के अनुसार खादी संस्थानों में तय किये जाते हैं। कता हुआ अमुक सूत ३० नम्बर का होता है, कोई ४० नम्बर का होता है, तो कोई ६० या ८० नम्बर का होता है। सूत के धागों के नम्बरों में सूत के मोटे बारीक के अनुसार भी अन्तर होता है। वैसे ही प्रदेश-बन्ध में कर्म-परमाणु-स्कन्धों के परिमाण के पीछे मन-वचन-काय के योगों की अधिकता-न्यूनता के अनुसार उनका अलग-अलग जत्थों (ग्रुपों) में विभक्त होकर बन्ध होता है।

कर्मवर्गणा के आकर्षण के समय सर्वप्रथम प्रदेशबन्ध होता है

जिस समय कर्मबन्ध होता है, उसमें सर्वप्रथम जीव द्वारा कर्मवर्गणा आकर्षित की जाती है; वह प्रकृति, स्थिति और रस की अपेक्षा के बिना ही ग्रहण की जाती है, क्योंकि प्रदेशबन्ध में सिर्फ कर्मवर्गणाओं का ग्रहण किया जाता है। कर्मवर्गणा के आकर्षण के समय उक्त कर्मदलिक कितने परिमाण का है ? कितनी संख्या में है ? इसका निर्णय जहाँ होता है, वही प्रदेशबन्ध कहलाता है। जैसे-लड्डू बांधते समय कोई लड्डू १०० ग्राम का होता है, कोई ५० ग्राम का, कोई १५० ग्राम का और कोई २०० ग्राम का भी होता है, वैसे ही कर्म बांधते समय ग्रहण किये हुए कोई कर्म-परमाणु-स्कन्ध (कर्म-दलिक) अल्प कर्म-दल वाला होता है, कोई अधिक कर्मदल वाला होता है तो किसी गृहीत कर्म में अत्यधिक कर्मदल होते हैं। इस प्रकार

कर्मपरमाणुओं के स्कन्धों की तरतमता (न्यूनाधिकता) का निर्णय प्रदेशबन्ध द्वारा होता है।[1]

प्रदेश और प्रदेशबन्ध का स्वरूप और कार्य

स्पष्ट शब्दों में कहें तो–कर्मबन्ध के समय आत्मा के साथ कार्मण वर्गणा (कर्मदलिकों) का सम्बन्ध जितनी संख्या या परिमाण के साथ होता है, वह प्रदेशबन्ध कहलाता है।

सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है–इयत्ता (संख्या) का अवधारण करना प्रदेश है। अर्थात्–कर्म रूप से परिणत पुद्गल-स्कन्धों का परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना, प्रदेशबन्ध है। अथवा प्रवचन रूप से दिष्ट-प्ररूपित हैं, उन्हें प्रदेश यानी परमाणु कहते हैं। जड़द्रव्य या पुद्गल का क्षुद्रतम अविभाज्य (निर्भाग) अंश प्रदेश है), इसे परमाणु भी कहते हैं। दूसरे शब्दों में–अविभाज्य आकाशावयव प्रदेश है। एक पुद्गल-परमाणु जितना स्थान घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं। उपचार से पुद्गल परमाणु भी प्रदेश कहलाता है। आत्मा के अविभाज्य अंश को आत्म-(जीव) प्रदेश और पुद्गल के अविभाज्य अंश (परमाणु) को पुद्गल-प्रदेश कहते हैं। अतः प्रदेशबन्ध का अर्थ हुआ–पुद्गल कर्म प्रदेशों का, आत्मा (जीव) के प्रदेशों के साथ बन्ध होना। प्रदेशबन्ध का फलितार्थ हुआ–आत्मा के साथ बंधने वाले कर्मपरमाणुओं के परिमाण या संख्या का निर्धारण-निश्चय करना।[2]

प्रदेशबन्ध : लक्षण, कार्य, स्वरूप

आशय है कि आत्मा के साथ कार्मण-वर्गणा के स्कन्धों का जितना जुड़ना होता है, वही प्रदेशबन्ध कहलाता है। किस जीव ने कार्मण-वर्गणा के कितने स्कन्धों को कितने परिमाण या संख्या में ग्रहण किया है, उसका निर्णय प्रदेशबन्ध से होता है। इसीलिए कई आचार्य-आत्मा के साथ कर्माणुओं के नीर-क्षीरवत् सम्बद्ध होने को प्रदेशबन्ध कहते हैं।[3]

---

१. (क) जैन दृष्टिए कर्म (मोतीचंद गि. कापड़िया) से भावग्रहण पृ. ४२
   (ख) आत्मतत्वविचार से, पृ. २९४
२. (क) इयत्तावधारणं प्रदेशः। कर्मभाव-परिणत-पुद्गल-स्कन्धानां परमाणु-परिच्छेदेनावधारणं प्रदेशः (प्रदेशबन्धः) –सर्वार्थसिद्धि ८/३/३७९
   (ख) प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशाः परमाणवः –वही २/३८
   (ग) निर्भागः आकाशावयवः प्रदेशः –कषायपाहुड २/२१२
   (घ) जनधर्म और दर्शन (गणेश ललवानी), पृ. ११०
   (ङ) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द जैन) से, पृ. २३८
   (च) रे कर्म ! तेरी गति न्यारी (आ. श्री विजययुगुणरत्नसूरीश्वरजी) से भावग्रहण, पृ. ५७
३. (क) रे कर्म तेरी गति न्यारी से पृ. ५८
   (ख) बंध-विहाणे (भूमिका) से, पृ. २२

प्रदेशबंध में योगों की तरतमता के अनुसार कर्मपुद्गल प्रदेशों का बन्ध

सिद्धान्त यह है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्ति अर्थात् इन त्रिविध योगों की चंचलता जितनी अधिक तीव्र होगी, कर्मवर्गणा के स्कन्ध उतने ही अधिक बंधेंगे, जबकि योगों की प्रवृत्ति मन्द होगी तो कर्म-पुद्गलपरमाणुओं की संख्या का बन्ध भी उसी अनुपात में कम होगा। अर्थात्–योगों की चंचलता के अनुसार न्यूनाधिक रूप में जीव कर्म-परमाणु-पुद्गलों को ग्रहण करेगा, उतने ही कर्मवर्गणास्कन्ध आत्मप्रदेशों के साथ जुड़ेंगे। इसे ही आगमिक परिभाषा में प्रदेशबन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध में आत्म-प्रदेशों और कर्मप्रदेशों का जो परस्पर बन्ध–सम्बन्ध होता है, वह योगबल के अनुसार होता है। यों तो संसार में कर्मवर्गणा के पुद्गल सर्वत्र व्याप्त हैं। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल न हों। परन्तु जीव योगबल (मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति) के निमित्त से ही प्रतिसमय, जिन अनन्त कर्म-योग्य परमाणु-पुद्गलों को सब दिशाओं से ग्रहण करता है, आकर्षित करता है, उन्हीं का बन्ध होता है, उसे ही प्रदेशबन्ध कहा जाता है। योगबल के बिना प्रदेशबन्ध नहीं होता। उस समय योगों की अल्पता या मन्दता हो तो कर्मपरमाणुओं का आगमन भी उस प्रमाण में कम होता है। योगों की प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ जितनी अधिक या तीव्र होंगी, उतने ही अति-प्रमाण में कर्मों का ग्रहण अधिक होगा। अर्थात् उतनी अधिक मात्रा में कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होकर अपना सम्बन्ध स्थापित करेंगे, क्योंकि योगबल (क्रिया या प्रवृत्ति) पर से ही कर्म-परमाणुओं की मात्रा (प्रदेश) का निर्धारण होता है। अतः स्पष्ट है कि योगास्रव अल्प प्रमाण में हो तो कर्मप्रदेश की न्यूनता और योगास्रव अधिक प्रमाण में हो तो कर्मप्रदेश का आगमन अधिक मात्रा में होता है।[1]

प्रदेशबंध : आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों का बद्ध हो जाना

पहले कहा गया है कि पुद्गल के एक परमाणु को एक प्रदेश कहते हैं। दो या दो से अधिक परमाणुओं द्वारा निर्मित द्रव्य को स्कन्ध कहते हैं। जैनदर्शन आत्मा में असंख्यात प्रदेश मानता है। अतः आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों का बन्ध होने का नाम ही प्रदेशबन्ध है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो पूर्वोक्त प्रकार से जीव (आत्मा) के प्रदेशों और कर्मपुद्गल के प्रदेशों का परस्पर बद्ध हो जाना प्रदेशबन्ध है।[2]

---

१. (क) धर्म और दर्शन में 'कर्मवाद : पर्यवेक्षण' शीर्षक लेख (आचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. ९०
(ख) प्रदेशाः कर्मपुद्गलाः जीव-प्रदेशेष्वोतप्रोताः तद्रूप कर्म प्रदेशकर्म ।–भगवती वृत्ति १/४/४०
(ग) प्रदेशो दल-संचयः
(घ) नवतत्त्व-साहित्यसंग्रह : अवचूरि, नवतत्त्वप्रकरण गा. ७१ की वृत्ति

२. कर्मवाद : पर्यवेक्षण, पृ. ९०

आत्मा और कर्मपुद्गल एक दूसरे से बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ़ और प्रतिबद्ध कैसे होते हैं ?

प्रदेशबन्ध के इसी तथ्य को भगवती सूत्र में स्पष्ट किया गया है। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा–"भगवन् ! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य–एक दूसरे से बद्ध, एक-दूसरे से स्पृष्ट, एक दूसरे में अवगाढ़, तथा एक दूसरे में स्नेह-प्रतिबद्ध हैं एवं एक दूसरे में एकमेक होकर रहते हैं ?" उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा–"गौतम ! हाँ, वे रहते हैं।"

गौतम–"भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ?"

भगवान्–"गौतम ! जैसे–एक ऐसा ह्रद हो, जो जल से परिपूर्ण, जल से किनारे तक भरा हुआ, जल से लबालब भरा, जल से ऊपर उठा हुआ, और भरे हुए घड़े की तरह स्थित हो; उस ह्रद में यदि कोई व्यक्ति एक बड़ी सौ छिद्रों (सौ आस्रवद्वारों) वाली नौका छोड़े तो वह नौका उन आस्रवद्वारों (छिद्रों) द्वारा भरती-भरती जल से पूर्ण ऊपर तक भरी हुई, बढ़ते हुए जल से आच्छादित होकर, जल-परिपूर्ण घड़े की तरह होगी या नहीं ?"

गौतम–"हाँ, भगवन् ! अवश्य होगी।"

भगवान्–"हे गौतम ! इसी हेतु से मैं कहता हूँ कि (ह्रद और नौका के समान) जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ़ और स्नेह-प्रतिबद्ध हैं, तथा परस्पर एकमेक होकर रहते हैं।"[1]

इसी प्रकार आत्म प्रदेशों और कर्म-पुद्गल-प्रदेशों का सम्बन्ध प्रदेशबन्ध है।

प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध को प्राथमिकता क्यों ?

पहले कहा गया है कि प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध योगों पर आधारित हैं। योगास्रव का प्रथम कार्य कर्मवर्गणा को खींचने का, तथा कर्मपरमाणुओं का जत्था एकत्रित करने का है। तत्पश्चात् उसका दूसरा कार्य है–उन कर्मस्कन्धों को मूल और उत्तर प्रकृतियों में बाँटने का। इसलिए परम्परागत क्रम को छोड़ कर हमने सर्वप्रथम प्रदेशबन्ध, फिर प्रकृतिबन्ध, तदनन्तर रसबन्ध और स्थितिबन्ध; यह क्रम रखा है। क्योंकि योगास्रव से पहले प्रदेशबन्ध और फिर प्रकृतिबन्ध होता है, इनका रसबन्ध और स्थितिबन्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वह बद्धकर्म कितने काल तक उदयमान रहेगा ? उसकी फलदायिनी शक्ति का तारतम्य कितना है? इनके साथ योगास्रव का कोई ताल्लुक नहीं है। यही कारण है कि मात्र प्रदेश बन्ध से जीव को कोई हानि-लाभ नहीं है, क्योंकि प्रदेश कम हों या अधिक, (कर्म) फल तो तीव्र-मन्द रस (अनुभाग) के अनुसार होता है और स्थिति (कर्म के उदय में आने की

---

१. भगवती सूत्र श. १, उ. ६

कालमर्यादा) का निर्णय भी शुभाशुभ-परिणामानुसार होता है। प्रदेशों की संख्या के आधार पर कर्मफलानुभव या कर्म-स्थिति का निर्णय नहीं होता।[1]

अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओं से गठित स्कन्ध ही प्रदेशबन्ध का विषय

कर्म-विज्ञान का यह नियम है कि आत्मा के साथ बद्ध होने के लिए आगत कार्मण-वर्गणा के स्कन्ध समूह संख्येय, असंख्येय या अनन्त परमाणुओं से गठित न होकर अनन्तानन्त परमाणुओं से गठित होते हैं। अर्थात्—जीव जब भी कर्मपरमाणुओं से निर्मित कार्मण-स्कन्ध (कर्मयोग्य-परमाणु पुंज) को ग्रहण करता है, तब अनन्तानन्त परमाणु वाले स्कन्ध को ग्रहण करता है, संख्यात (जिनकी गणना की जा सके), असंख्यात (जिनकी अंकों से गणना न की जा सके) अनन्त (जिनका अन्त न हो, ऐसे) परमाणुओं से निर्मित कार्मण-स्कन्ध को नहीं। ऐसा कर्म विज्ञान का प्रकृतिसिद्ध नियम है।

प्रदेशबन्ध अनन्तानन्त प्रदेशों का ही होता है : क्यों और कैसे ?

यद्यपि कोई भी समय-प्रबद्ध अनन्त-प्रदेशों से कम का नहीं होता, तथापि जघन्य से उत्कृष्ट-पर्यन्त अनन्त भी अनेक प्रकार का होता है; जिसके कारण किसी समय-प्रबद्ध में कम अनन्त-प्रदेश होते हैं और किसी में अधिक अनन्त। समय-प्रबद्ध की तो बात नहीं, एक-एक निषेक में भी अनन्तानन्त प्रदेश हैं।[2] इसलिए एक या संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध कदापि व्यवहार का विषय नहीं हो सकता।

अनन्तानन्त परमाणु-निर्मित स्कन्ध आत्मा के समग्र कार्मण शरीर के साथ मिलित होते हैं

आशय यह है कि मन-वचन-काया से कर्मवर्गणा के अनन्तानन्त-परमाणु-निर्मित स्कन्ध जब आत्मा के साथ मिलित होने आते हैं, तो आत्मा के किसी एक प्रदेश से नहीं, बल्कि आत्मा के समग्र कार्मण शरीर के साथ मिलित होते हैं; क्योंकि जैन दर्शनानुसार आत्मा शरीर के किसी एक अंश में अवस्थित नहीं रहती, अपितु वह समग्र शरीर को व्याप्त कर अवस्थान करती है।

जीव निकटवर्ती कर्मवर्गणाओं को समग्र आत्म प्रदेशों से ग्रहण करता है

यह तो कर्मबन्ध के सन्दर्भ में हम बता आए हैं कि समग्र लोक पुद्गल-द्रव्य से काजल की कुप्पी की तरह ठसाठस भरा हुआ है और वह पुद्गल द्रव्य अनेक

---

१. (क) कर्म अने आत्मानो संयोग (ले.—अध्यायी) से भावग्रहण, पृ. २०, २२
   (ख) कर्मसिद्धान्त, पृ. ८३
२. (क) जैनधर्म और दर्शन (गणेश ललवानी), पृ. १११
   (ख) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी), पृ. ९७
   (ग) कर्म-सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ७७

वर्गणाओं (८ ग्रहणयोग्य और ८ अग्रहणयोग्य वर्गणाओं) में विभाजित है। जब पुद्गल-द्रव्य विभिन्न नाना वर्गणाओं में विभाजित है, और सर्वत्र पाया जाता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि पुद्गल द्रव्य की सभी वर्गणाएँ समस्त लोक में व्याप्त हैं। पूर्वोक्त षोडश वर्गणाओं में कर्मवर्गणा भी है। अतः कर्मवर्गणा भी आकाश में सर्वत्र पाई जाती है; किन्तु प्रत्येक जीव उन्हीं कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है, जो उसके अतिनिकट होती हैं। जैसे—अग्नि में तपाया हुए लोहे के गोले को पानी में डाल देने पर वह उसी जल को ग्रहण करता है, जो उसके गिरने के स्थान पर मौजूद हो, उसे छोड़कर दूर का जल ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार जीव भी जिन आकाश-प्रदेशों[1] में स्थित होता है, उन्हीं आकाश-प्रदेशों में रहने वाली कर्मवर्गणा को ग्रहण करता है। तथैव, जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला जल में गिरने पर चारों ओर से पानी को खींचता है, उसी प्रकार जीव भी सर्व आत्म प्रदेशों से कर्मों को ग्रहण करता है। ऐसा नहीं होता कि जीव आत्मा के अमुक हिस्से से ही कर्मों का ग्रहण करता हो, अपितु आत्मा के समस्त प्रदेशों से कर्मों को ग्रहण करता है।[2]

निष्कर्ष यह है कि जीव कर्मयोग्य पुद्गलों को सभी दिशाओं से ग्रहण करता है। आगमों में स्पष्ट निर्देश है कि एकेन्द्रिय जीव व्याघात न होने पर छहों दिशाओं से कर्म को ग्रहण करते हैं, व्याघात होने पर कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच दिशाओं से ग्रहण करते हैं। शेष जीव सभी दिशाओं से कर्मपुद्गल ग्रहण करते हैं। मगर क्षेत्र के सम्बन्ध में यह मर्यादा है कि जिस क्षेत्र में वह स्थित है, उसी क्षेत्र में स्थित कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है; अन्यत्र स्थित पुद्गलों को नहीं।[3]

---

१. एक परमाणु जितने आकाश में रहता है, उतने आकाश को 'आकाशप्रदेश' कहते हैं। और यह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है। —प्रवचनसार मू. १४०

२. (क) कर्मग्रन्थ भाग ५ (सं. पं. कैलाशचन्द्रजी) में प्रदेशबन्धद्वार के विवेचन से, पृ. २२२-२२३
(ख) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वास, मन और कर्म, इन आठों की ८ ग्रहणयोग्य कर्मवर्गणाएँ होती हैं और ८ होती हैं—अग्रहणयोग्यवर्गणाएँ। ये दोनों मिलकर १६ वर्गणाएँ होती हैं। इनके फिर दो मुख्य विकल्प हैं—जघन्य और उत्कृष्ट। जघन्य से उत्कृष्ट तक अनन्त मध्यम विकल्प होते हैं। दोनों के जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तवें भाग अधिक (अनन्तगुने) होते हैं।

३. (क) सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं॥ —उत्तराध्ययन ३३/१८
(ख) भगवती सूत्र शतक १७, उद्दे. ४
(ग) गेण्हति तज्जोगं चिय रेणुं पुरिसो जहा कयब्भंगो।
एगक्खेत्तोगाढं जीवो सव्वप्पएसेहिं॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा. १९४१, पृ. ११७, द्वि. भा.
(घ) एग-पएसोगाढं, सव्वपएसेहिं कम्मुणो जोगं।
बंधइ जहुत्तहेउं साइयमणाइयं वावि॥ —पंचसंग्रह २८४

प्रदेशबन्ध का परिष्कृत लक्षण

यही कारण है, प्रदेशबन्ध का परिष्कृत लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में इस प्रकार बताया गया है–नाम-प्रत्यय, अर्थात्–कर्म-प्रकृतियों के कारणभूत एवं प्रतिसमय सभी ओर से योग-विशेष (योगों की क्रिया विशेष) के द्वारा अनन्तानन्त प्रदेश वाले (कर्म-) पुद्गल स्कन्ध आत्मा के सभी प्रदेशों में, सूक्ष्मरूप से एवं क्षेत्रावगाहित होकर दृढ़तापूर्वक बंध को प्राप्त होते हैं, यही प्रदेशबन्ध है।[1]

प्रदेशबन्ध के परिष्कृत लक्षण में कर्मस्कन्धों का आत्मप्रदेश से बन्ध कैसा ?

प्रदेशबन्ध का जो परिष्कृत लक्षण बताया गया है, उससे फलित होता है कि प्रदेशबन्ध एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसके दो मुख्य आधार हैं–(१) आत्मा और (2) कर्मस्कन्ध। परन्तु आत्मप्रदेशों के साथ कर्मस्कन्ध का बन्ध रासायनिक नहीं है। आत्मा और कर्मशरीर का एकक्षेत्रावगाह के सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण हो भी नहीं सकता। रासायनिक मिश्रण यदि होता है तो प्राचीन कर्मपुद्गलों से ही नवीन कर्मपुद्गलों का होता है; आत्मप्रदेशों से नहीं। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र के पूर्वोक्त सूत्र में कहा गया है–योग के कारण समस्त आत्मप्रदेशों पर सभी ओर से सूक्ष्म कर्मपुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं, अर्थात्–जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में वे कर्मपुद्गल ठहर जाते हैं। इसी का नाम प्रदेशबन्ध है, द्रव्यबन्ध भी यही है।

वस्तुस्थिति यह है कि नूतन कर्मपुद्गलों का पुराने बँधे हुए कर्मशरीर के साथ रासायनिक मिश्रण हो जाता है और वह नूतन कर्म उन पुराने कर्म-पुद्गलों के साथ बँधकर उसी स्कन्ध में शामिल हो जाते हैं। पुराने कर्म-शरीर से प्रतिक्षण अमुक कर्मपरमाणु झड़ जाते हैं और उनमें कुछ दूसरे नये कर्मपरमाणु शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशों के साथ उनका रासायनिक बंध हर्गिज नहीं है, वह तो मात्र संयोग है।[2]

नई कर्मवर्गणाएँ पुराने कर्मों से क्यों और कैसे चिपकती हैं ?

इसलिए कार्मण वर्गणाएँ ग्रहण करने के साथ ही आत्मप्रदेशों के साथ मिल जाती हैं, और पूर्वबद्ध कर्मों के साथ चिपक जाती हैं। इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जा सकता है कि नयी कर्म-वर्गणाएँ पुराने कर्मों से किस तरह चिपक जाती हैं ? इसका समाधान यह है कि कर्म-परमाणुओं में चिकनाहट होती है, इसी कारण वे पुराने कर्मों से चिपक जाते हैं। इस प्रक्रिया में कार्मण-वर्गणाओं के परमाणुओं का समूह आत्मप्रदेशों के साथ मिश्रित-संयुक्त या बद्ध हो जाता है, किन्तु वह बंध रासायनिक

---

१. नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योग-विशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः
–तत्त्वार्थसूत्र ८/२५

२. (क) तत्त्वार्थसूत्र ८/२५ पर पं. सुखलालजी कृत विवेचन, पृ. २०३
(ख) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य), पृ. ११५
(ग) आत्मतत्त्वविचार, पृ. २२५

नहीं होता, केवल विशिष्ट संयोगमात्र होता है, जिसे कर्मविज्ञान में प्रदेशबन्ध कहा जाता है।[1]

प्रदेशबन्ध के परिष्कृत लक्षण में आठ प्रश्नों के उत्तर समाहित

यही कारण है कि पं. सुखलालजी ने तत्त्वार्थसूत्र के पूर्वोक्त सूत्र के आधार पर कर्मस्कन्ध और आत्मप्रदेशों से सम्बन्धित आठ प्रश्न उठाएँ हैं–(१) जब कर्मस्कन्धों का बन्ध होता है, तब उसमें क्या निर्माण होता है ?(२) इन स्कन्धों का ऊँचे, नीचे या तिरछे किन आत्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण होता है ? (३) सभी जीवों का कर्मबन्ध समान होता है या असमान ? यदि असमान होता है तो क्यों ? (४) वे कर्मस्कन्ध स्थूल होते हैं या सूक्ष्म ? (५) जीव (आत्म)-प्रदेश वाले क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्कन्धों का ही जीव-प्रदेश के साथ बन्ध होता है या उससे भिन्न क्षेत्र में रहे हुए का भी होता है? (६) वे बन्ध के समय गतिशील होते हैं या स्थितिशील? (७) उन कर्मस्कन्धों का सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में बन्ध होता है या कुछ ही आत्मप्रदेशों में ? (८) वे कर्मस्कन्ध संख्यात, असंख्यात, अनन्त या अनन्तानन्त में से कितने प्रदेश वाले होते हैं ?

पूर्वोक्त सूत्र में निहित प्रदेशबन्ध से सम्बन्धित आठ प्रश्नों के उत्तर

पूर्वोक्त आठ प्रश्नों के उत्तर पूर्वोक्त सूत्र से प्रतिफलित होते हैं–(१) आत्मप्रदेशों के साथ बँधने वाले कर्मपुद्गल-स्कन्धों के न्यूनाधिक परिमाण (प्रदेशबन्ध) पर से ही ज्ञानावरणीयादि मूलप्रकृतियों और उनकी उत्तरप्रकृतियों का निर्माण होता है। सारांश यह है कि उन कर्मस्कन्धों पर से उन-उन कर्म-प्रकृतियों की रचना होती है। इसलिए उन कर्मवर्गणास्कन्धों को सभी कर्मप्रकृतियों का कारण कहा जा सकता है। इसी कारण हमने प्रकृति-बन्ध से पहले प्रदेशबन्ध पर विश्लेषण और चिन्तन प्रस्तुत किया है। (२) उन कर्मस्कन्धों का ऊँची, नीची, तिरछी आदि (सभी) छहों दिशाओं में रहे हुए आत्मप्रदेशों द्वारा मन-वचन-काया के योगों की विशेषता (हलन, चलन आदि) से ग्रहण होता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में भी इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है–"समस्त जीवों का एक समय का कर्म-संग्रहण छहों दिशाओं से होता है, और आत्मा के समग्र प्रदेशों में सब प्रकार से (प्रदेश-) बन्ध होता है।" (३) सभी जीवों के कर्मबन्ध के असमान होने का कारण यह है कि सबके शारीरिक, वाचिक और कायिक योग (व्यापार) समान नहीं होते। यही कारण है कि जीवों के योगों के तारतम्य के अनुसार प्रदेशबन्ध में भी तारतम्य आ जाता है। (४) कर्मयोग्य पुद्गल-स्कन्ध स्थूल (बादर) नहीं होते, वे सूक्ष्म ही होते हैं। वैसे सूक्ष्म-स्कन्धों का ही कर्मवर्गणा में से ग्रहण होता है। (५) जीव (आत्मा-) प्रदेश के क्षेत्र में रहे हुए कर्म-स्कन्धों का ही बन्ध होता है, उसके बाहर के क्षेत्रों के कर्मस्कन्धों का नहीं। अर्थात्–प्रदेशबन्ध तभी होता है, जब आत्मप्रदेश और कर्मस्कन्ध एकक्षेत्रावगाह हों। जिन आकाश-प्रदेशों में आत्मा अवस्थित है, उन्हीं में वे गृहीत कर्मस्कन्ध भी उसी प्रकार

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी) विवेचन, पृ. २०३

अवस्थित–प्रविष्ट हो जाते हैं; जिस प्रकार लोह पिण्ड में अग्नि के कण अवस्थित–प्रविष्ट हो जाते हैं। (६) केवल स्थिर होने से ही बन्ध होता है, क्योंकि गतिशील कर्म-स्कन्ध अस्थिर होने से बन्ध को प्राप्त नहीं होते। अर्थात्–कर्मस्कन्ध आत्मप्रदेशों के साथ दृढ़तापूर्वक स्थिर रूप होकर ही बँधते हैं। (७) प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कन्धों का समग्र आत्मप्रदेशों के साथ बन्ध होता है, कुछ ही आत्मप्रदेशों के साथ नहीं। और (८) प्रदेशबन्ध के रूप में बाँधने वाले समस्त कर्मयोग्य स्कन्ध अनन्तानन्त परमाणुओं के ही बने होते हैं; किन्तु कोई भी कर्मयोग्य (प्रदेशबन्धयोग्य) स्कन्ध संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं का बना हुआ नहीं होता, क्योंकि प्रदेशबन्ध अनन्तानन्त कर्मस्कन्धों से ही होता है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है–"सब कर्मों के प्रदेश अनन्त हैं, (अर्थात्–आठों ही कर्मों के (मिलकर) प्रदेश अनन्तानन्त होते हैं)। उनकी संख्या अभव्यराशि से अधिक और भव्यराशि से कम है।"[2]

गृहीत कर्मस्कन्धों का विभाजन, आठ कर्मों में से किसको, कितना, किस क्रम से और क्यों ?

प्रदेशबन्ध की पूर्वोक्त विशेषताओं को जानने के पश्चात् यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि प्रदेशबन्ध तो सामान्यरूप से अनन्तानन्त कर्म-पुद्गल-स्कन्धों से होता है। प्रत्येक जीव प्रतिक्षण सात या आठ कर्मों का बन्ध करता है। केवल एक या दो प्रकार के कर्मों का बन्ध ही नहीं करता। आयुष्य कर्म तो जीवन में एक ही बार बाँधता है। जिस समय आयुष्य कर्म का बन्ध होता है, उस समय एक साथ आठों कर्म बद्ध होते हैं। अवशेष समय में अन्य सातों कर्म एक साथ बद्ध होते रहते हैं। प्रश्न यह है कि ग्रहण किये हुए अनन्तानन्त कर्मस्कन्धों का आठ कर्मों में किस प्रकार, कैसे और किसके अनुसार विभाजन हो जाता है ? अर्थात्–सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि इन गृहीत कर्मस्कन्धों का किस क्रम से विभाग होता है, फिर इनमें से ज्ञानावरणीय आदि कर्म प्रकृतियों की रचना होती है तो आठ कर्म प्रकृतियों में से किस-किस को कितना- कितना भाग मिलता है ? यानी बँधे हुए कर्म-पुद्गलों का कर्म प्रकृतियों में किस प्रकार विभाजन होता है?[3]

बद्धकर्मों का आठ कर्मों में विभाजन क्यों और कैसे होता है ?

इसका समाधान यह है कि कार्मणवर्गणाएँ आत्मप्रदेशों के साथ मिश्रित होती हैं, उस समय यदि कर्मवर्गणाओं का विभाग न हो, और उनका स्वभाव भी पृथक-पृथक

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन (पं. सुखलालजी) से, पृ. २०४
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. ३९७
(ग) सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं॥ –उत्तराध्ययन, ३३/१८

२. सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं।
गंठिय-सत्ताईयं, अंतो सिद्धाणमाहियं॥ –उत्तराध्ययन ३३/१७

३. (क) जैनधर्म और दर्शन, पृ. ११९
(ख) तत्त्वार्थसूत्र (उपाध्याय केवलमुनिजी), पृ. ३२८

निश्चित न हो तो फिर कर्म एक ही प्रकार का रहेगा, और उसका परिणाम भी एक ही प्रकार का होगा; परन्तु कर्मविज्ञान के तथा प्राणिस्वभाव के एवं प्राणियों की विविध योग-प्रवृत्तियों के अनुसार ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए प्रदेशबन्ध के रूप में बँधे हुए अनन्तानन्त पुद्गलों के उसी तरह विभिन्न विभाग हो जाते हैं, और वे कर्म अपने-अपने कर्म-वर्गणा के वस्थे में उसी प्रकार बद्ध-श्लिष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार एक गोदाम में विभिन्न प्रकार की चीजें आती हैं, वे अपने-अपने ग्रुप (समूह) में रख दी जाती हैं। जिस प्रकार उदर में आहार डालने पर वह अपने आप रस, रुधिर आदि में परिणत हो जाता है, तथा आमाशय, मस्तिष्क, हाथ, पैर आदि विभिन्न अवयवों को स्वतः अमुक-अमुक भाग मिल जाता है, उसी प्रकार बद्ध होते समय कर्मों का भी योग-स्थानक के बल के अनुसार यथायोग्य भागों में विभाजन हो जाता है, तथा प्रकृतिबन्ध के रूप में उक्त विभाग के अनुसार उनके कार्यों का नियमन भी हो जाता है। कर्मों का स्वभाव एक-सरीखा न होने से, अर्थात् विविध प्रकार का होने से प्रदेशबन्ध पड़ते समय ही विभिन्न प्रकार की कर्म प्रकृति के रूप में विभाग निर्मित हो जाता है। यानी कर्म भी बद्ध होते समय विभिन्न प्रकार की प्रकृति को लेकर बद्ध होता है।[1]

योगबल के अनुसार ही कर्मों के न्यूनाधिक प्रदेशों का बन्ध

संसार के प्रत्येक जीव में हर समय योगबल (योगस्थानक-बल) समान नहीं होता। उनमें संयोगवशात् कमी-बेशी होती रहती है। इस कमी-बेशी को ही कर्मविज्ञान में 'योग स्थानक' कहा गया है। जैसे किसी मशीन की शक्ति बताना हो तो 'होर्सपावर' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—अमुक मशीन १०० होर्स-पावर की है, अमुक मशीन २०० होर्स पावर की है। इसी प्रकार बिजली की शक्ति बताने के लिए 'वोल्ट' या 'मेगावाट' शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार जीव के द्वारा मन-वचन-काया के योग (प्रवृत्ति या क्रिया) की शक्ति को बताने के लिए 'योग-स्थानक' शब्द का प्रयोग होता है। योगबल का प्रमाण अनन्तानन्त होने के कारण 'योग-स्थानक' भी असंख्य प्रकार के सम्भव हैं। संसारी जीवों में कोई न कोई योग-स्थानक अवश्य होता है, और वह (आत्मा) उस योगस्थानक के परिणाम के अनुसार ही कार्मण-वर्गणाएं ग्रहण करता है। अगर योगस्थानक मंद हो तो आत्मा कम कार्मण वर्गणाएँ ग्रहण करती है, और योगस्थानक तीव्र, तीव्रतर या तीव्रतम हो तो उसी के अनुरूप अधिक, अधिकतर या अधिकतम कर्मदर्गणाएँ ग्रहण करती है। जैसे—करघा धीमे चलता हो तो कपड़ा कम बुना जाता है और तेज चलता हो तो अधिक। अतः कर्मवर्गणाएँ ग्रहण करते ही आत्मप्रदेशों के साथ प्रदेशबन्ध के रूप में मिल जाती—बद्ध हो जाती हैं।[2]

---

१. (क) आत्मतत्त्व विचार, पृ. २९५
   (ख) जैनधर्म और दर्शन, पृ. ११२
२. आत्मतत्त्व-विचार से भावग्रहण, पृ. २९६।

प्रदेशरूप से बद्ध कर्मपुद्गलों में से किस कर्म को कितना भाग मिलता है ?

कर्मग्रन्थ के पंचम भाग में प्रदेशबन्ध के सन्दर्भ में बताया गया है कि प्रदेशरूप से बद्ध होते समय उन बद्ध कर्मपुद्गलों का आठों कर्म-प्रकृतियों के रूप में विभाग हो जाता है–

प्रदेशबन्ध द्वारा बँधे हुए अनन्तानन्त कर्मपुद्गलों में आयुकर्म का हिस्सा सबसे थोड़ा है। नाम और गोत्रकर्म का हिस्सा परस्पर समान है, किन्तु आयुकर्म के हिस्से से अधिक है। इसी प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म का हिस्सा आपस में समान है, किन्तु नाम और गोत्रकर्म के हिस्से से अधिक है। इनसे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म को प्राप्त होता है, और सबसे अधिक भाग वेदनीयकर्म को मिलता है।[1]

आठ कर्मों में इस प्रकार के विभाजन का रहस्य

इस प्रकार के विभाजन का रहस्य इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पर निर्भर है। सिर्फ वेदनीय कर्म को प्राप्त होने वाला सर्वाधिक भाग इसका अपवाद है। इसका कारण यह है कि जीव को वेदनीय कर्म का ही सुख-दुःख रूप वेदन अधिक और प्रतिसमय स्पष्टरूप से होता रहता है; जब कि आयुकर्म का वेदन तो नहींवत् होता है, दूसरे, आयुकर्म का बन्ध सर्वदा नहीं होता, जीवन में एक बार ही बंध होता है, और जब होता है, तब अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है, उसके बाद नहीं होता। अन्य कर्मों के फल की अनुभूति भी जीव उतनी तीव्रता से नहीं करता, जितनी तीव्रता से वेदनीय कर्म के फल की अनुभूति करता है; इसी कारण वेदनीय कर्म का भाग सर्वाधिक है। यद्यपि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति से वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बहुत कम है; तथापि मोहनीय कर्म के भाग से वेदनीय कर्म का भाग अधिक है; क्योंकि बहुत द्रव्य के बिना वेदनीय कर्म के सुख-दुःखादि का अनुभव स्पष्ट नहीं होता। वेदनीय को अधिक पुद्गल मिलने पर ही वह अपना कार्य करने में समर्थ होता है। थोड़े कर्मदलिक मिलने पर वेदनीय कर्म प्रकट ही नहीं होता; इसी से थोड़ी स्थिति होने पर भी सर्वाधिक भाग मिलता है। तथा वेदनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण होने से उसकी निर्जरा भी अधिक होती है, द्रव्य भी सर्वाधिक होता है।[2]

---

१. (क) थोवो आउ तदंसो, नामे गोए समो अहिओ ।
विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीय जेणप्पे ॥ ७९ ॥
तस्स फुडत्तं न हवई, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥ –कर्मग्रन्थ पंचम भाग गा. ७९-८०
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. २२३-२२४

२. (क) कमसो बुड्ढ-ठिईणं भागो दलियस्स होइ सविसेसो ।
तइयस्स सव्वजेट्ठो तस्स फुडत्तं जओणप्पे ॥ –पंचसंग्रह (प्रा.) २८५ गा.
(ख) कर्मग्रन्थ, पंचम भाग विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. २२४
(ग) सुह-दुक्ख-णिमित्तादो, बहुणिज्जरणो त्ति वेयणीयस्स ।
सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदि त्ति णिद्दिट्ठं ॥ –गोम्मटसार (कर्म.) १९३

आशय है कि वेदनीय के सिवाय शेष सात कर्मों को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार भाग मिलता है। अर्थात्-जिस कर्म की जितनी अधिक स्थिति है, उसे अधिक भाग मिलता है और जिस कर्म की न्यून स्थिति है, उसे कम भाग मिलता है।

गृहीत कर्मदलों का विभाजन किस क्रम से और क्यों होता है ?

जैसे–आयुकर्म का भाग सबसे कम है; क्योंकि दूसरे कर्मों से उसकी स्थिति थोड़ी है। आयुकर्म से नाम और गोत्र, इन दोनों कर्मों का भाग अधिक है, क्योंकि आयुकर्म की स्थिति तेतीस सागरोपम की है, जबकि नाम और गोत्रकर्म की स्थिति बीस कोटाकोटी सागर है। अतः नाम और गोत्रकर्म की स्थिति समान होने से उन्हें बराबर-बराबर हिस्सा मिलता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म की स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम है। अतः नाम और गोत्रकर्म से इन तीनों कर्मों का भाग अधिक है, तथा इन तीनों की स्थिति बराबर होने से इनका भाग भी बराबर-बराबर है। इन तीनों कर्मों से मोहनीय कर्म का भाग अधिक है, क्योंकि उसकी स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम है। परन्तु वेदनीय कर्म की स्थिति कम होने पर भी उसका भाग सबसे अधिक है, जिसका कारण हम पहले बता चुके हैं।[1]

गृहीत कर्मदलों के बंध के अनुसार कर्मों में प्रदेशों का विभाजन

आशय यह है कि जिस समय जीव आयुकर्म का बन्ध करता है, उस समय जो कर्मदल ग्रहण किये जाते हैं, उसके आठ भाग हो जाते हैं। जिस समय आयुकर्म का बन्ध नहीं करता, उस समय जो कर्मदल ग्रहण करता है, उनका बँटवारा आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों में हो जाता है। जब दसवें गुणस्थान में आयु और मोहनीय कर्म के सिवाय शेष छह कर्मों का बन्ध करता है, उस समय गृहीत कर्मदल के ६ भाग हो जाते हैं। और जिस समय एक ही कर्म का बन्ध करता है, उस समय गृहीत कर्मदल उस एक कर्मरूप ही हो जाते हैं। इसीलिए गृहीत कर्मदल का आठ कर्मों में विभाजित होने का क्रम ऊपर बताया है।[2]

प्रदेशबन्ध से अनन्तानन्त कर्म प्रदेशों का आठ कर्मों में विभाजन

जिस प्रकार कोई पुस्तक १०० पृष्ठ की होती है, कोई २००, ३०० या ४००पृष्ठ की होती है, उसी पृष्ठ संख्या के अनुसार उसकी जिल्दबंदी होगी। तथा उस एक ही पुस्तक में अलग-अलग विषयों के अनुसार पृथक्-पृथक् अध्यायों में उसका विभाजन किया जाता है। इसी प्रकार मन-वचन-काया के योगों की तीव्रता-मन्दता या न्यूनाधिकता के अनुसार उतने ही कर्मस्कन्धों (प्रदेशों) का आकर्षण या ग्रहण होकर उनका एक जत्थे में बन्ध होता है; साथ ही अनन्तानन्त-कर्म-प्रदेशों का योगस्थानक के बल के अनुसार पूर्वोक्त प्रकार से विभिन्न भागों में, एवं विभिन्न प्रकृतियों में विभाजन हो जाता है। यही प्रदेशबन्ध का स्वरूप और कार्य है। ● ●

---

१. कर्मग्रन्थ पंचम भाग, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी), पृ. २२४-२२५
२. वही, पृ. २२४

१४

प्रकृतिबन्ध : मूल प्रकृतियाँ और स्वरूप

अनन्त संसारी जीवों के पृथक्-पृथक् स्वभाव पर से उनकी विशेषता का निर्णय

इस संसार में अनन्त जीव हैं, और उनका स्वभाव भी पृथक्-पृथक् है। चार गति के जीवों का भी स्वभाव पृथक्-पृथक् है। देवों का स्वभाव अलग है, नारकों का स्वभाव इनसे बिलकुल पृथक् है; तिर्यञ्चों का स्वभाव भी इन दोनों से विलक्षण है और मनुष्यों का स्वभाव भी इन सबसे भिन्न है। इन चारों गतियों के जीवों में भी प्रत्येक गति के, विभिन्न जातियों, तथा योनियों का स्वभाव भी एक दूसरे से पृथक् है। एक मनुष्य जाति को ही लीजिए। उसमें भी अगणित प्रकार, विभिन्न रूप, रंग, आकृति और प्रकृति के मनुष्य प्रतीत होते हैं। कोई क्रूर होते हैं, कोई शान्त, कोई बुद्धिमान होते हैं, और कोई मन्दबुद्धि। कोई अहंकारी होते हैं, तो कोई नम्र, निरभिमानी। कोई अतिलोभी होते हैं, तो कोई अल्पलोभी या निर्लोभी। कोई ठग, कपटी और धूर्त होते हैं, तो कोई सरल, ईमानदार और निश्छल। इस प्रकार एक मनुष्य जाति में ही नहीं, मनुष्य के एक परिवार, धर्म-संघ, ज्ञाति, प्रान्त और राष्ट्र में भी पृथक्-पृथक् स्वभाव के नर-नारी होते हैं। मनुष्यों के ही नहीं, प्राणिमात्र के स्वभाव पर से उनकी जाति, गुण, शक्ति और प्रकृति का प्रायः अनुमान लगाया जाता है कि यह अमुक जाति या अमुक गति-योनि या समूह का प्राणी है। स्वभाव प्राणी के जीवन को परखने और नापने का एक थर्मामीटर है। स्वभाव से ही मनुष्य के गुणों और उसकी शक्तियों का आकलन किया जाता है। स्वभाव पर से ही स्त्री-पुरुषों का प्रायः वैवाहिक सम्बन्ध बांधा जाता है। स्वभाव पर से व्यक्ति अपने यहाँ कर्मचारी, नौकर, सेवक या मुनीम-गुमाश्ते की नियुक्ति करता है। स्वभाव जीवन की विशेषताओं को प्रगट करने का विशिष्ट आधार है।

कर्मों के पृथक्-पृथक् स्वभाव से उनका पृथक्करण

जैसे प्राणियों के स्वभाव पर से उनका पृथक्करण या विभाजन किया जाता है, वैसे ही कर्मों के स्वभाव पर से उनका पृथक्करण या विभाजन किया जाता है। आत्मा के साथ कर्म का बन्ध या श्लेष होने के साथ ही उस कर्म के स्वभाव (नेचर-

Nature) का विश्लेषण (एनेलाइसिस-Analysis) स्वतः हो जाता है। कर्म को यथार्थरूप से पहचानने के लिए सर्वप्रथम कर्म का स्वभाव जाना जाता है। आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म का स्वभाव कैसा है? या कैसा होगा? इसका निर्णय कर्म बन्ध के समय ही हो जाता है। बांधा हुआ कर्म किस प्रकार का फल देगा? इसका निर्णय कर्म की प्रकृति (स्वभाव) से हो जाता है। प्रकृति-बन्ध अर्थात्–कर्म की प्रकृति का निर्णय आत्मा के द्वारा गृहीत वर्गपुद्गलों के बन्ध के साथ ही हो जाता है। प्रकृतिबन्ध स्वयं ही उक्त कर्म के स्वभाव का विश्लेषण, निर्णय और फल देने की शक्ति का हिसाब-किताब करता-रखता है।[1]

प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में प्रकृति के अर्थ और लक्षण

प्रकृतिबन्ध कर्म की प्रकृति बताता है। उसके द्वारा यह निर्णय हो जाता है, कि कौन-सा कर्म किस प्रकृति का है? गोम्मटसार (क) में कर्मबन्ध के सन्दर्भ में प्रकृति को शील, मूल, पुण्य-पापकर्म और स्वभाव का पर्यायवाची कहा गया है। पंचाध्यायी (पू.) में कहा गया है–शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, शील और प्रकृति ये एकार्थवाचक हैं। आचार्य पूज्यपाद ने प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' बतलाकर उदाहरण देकर समझाया है कि जैसे–"नीम की प्रकृति कटुआपन है, गुड़ की प्रकृति मीठापन है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति है–ज्ञान को आवृत करना, अथवा पदार्थ का ज्ञान न होना।" धवला में 'प्रकृति' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है–जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादिरूप फल प्रदान किया जाता है, वह प्रकृति है। प्रकृति का लक्षण बताते हुए वहाँ कहा गया है–"जो कर्मस्कन्ध वर्तमान में फल देता है, और जो भविष्य में फल देगा, इन दोनों ही कर्मस्कन्धों की प्रकृति संज्ञा सिद्ध है।" इसका आशय यह है कि कौन-सा कर्म किस प्रकार का और कब फल देगा? इसका निर्माण बद्ध कर्म-स्कन्धों पर से प्रकृतिबन्ध करता है। यह प्रकृतिबन्ध का विषय है।[2]

बद्धकर्मों की प्रकृति पर से मानव व्यक्तित्व का ज्ञान

वर्तमान मनोविज्ञान ने मानवीय प्रकृतियों का गहराई से विश्लेषण किया है; और उसका दावा है कि प्रकृति पर से मनुष्य के व्यक्तित्व का विश्लेषण हो सकता है, परन्तु जैन कर्म वैज्ञानिकों का कहना है कि मानव द्वारा बद्ध कर्म की प्रकृति पर से

---

१. जैन दृष्टिए कर्म (डॉ. मोतीचंद गि. कापड़िया) से भावांशग्रहण, पृ. ४३

२. (क) गोम्मटसार (क.) गा. २ एवं ५२
(ख) पंचाध्यायी (पूर्वार्ध) का. ४८
(ग) पयडी सील सहावो इच्चेयट्ठो । –धवला पु.१२, खं.४, गा.२
(घ) प्रकृतिः शील कारणं ..... स्वभाववचनो वा ।
(ङ) प्रकृतिः स्वभावः । –सर्वार्थसिद्धि ८/३
(च) प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मनः इति प्रकृतिशब्द-व्युत्पत्तेः ।
–धवला पु. १२ पृ. ३०३

उस मनुष्य के व्यक्तित्व का पता लगाया जा सकता है। कर्मविज्ञानवेत्ताओं का मन्तव्य है कि मनुष्य के यथार्थ व्यक्तित्व की जानकारी उसके कर्म-व्यक्तित्व से ही लग सकती है। वस्तुतः आम आदमी कर्म के व्यक्तित्व (स्वभाव) के बारे में बहुत कम सोचता है। अशुभ कर्म का उदय होने पर जब दुःख, संकट या विपत्ति सिर पर आती है, तब वह कर्म के व्यक्तित्व पर ध्यान न देकर, निमित्तों को कोसता है, निमित्तों पर दोषारोपण करता है। यदि उस समय वह अपने कर्म के व्यक्तित्व पर विचार करे तो कर्मबन्ध की उत्तरप्रकृति को, उसकी स्थिति और रस को बदल सकता है, कदाचित् क्षय भी कर सकता है। प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति कर्म की प्रकृति (व्यक्तित्व) को जानकर अपने स्वभाव का विश्लेषण कर सकता है और उसे शुभ में परिवर्तित कर सकता है। जो व्यक्ति कर्म की प्रकृति को नहीं जानता, वह अपनी प्रकृति को कैसे जानेगा? अपने कर्म के स्वभाव को जो नहीं जानता, वह अपने स्वभाव को भी नहीं बदल सकता। वस्तुतः मनुष्य का जो स्वभाव बनता है, उसको बनाने वाली सत्ता उसके ही भीतर है। उसे जाने बिना, न तो कर्म की उत्तरप्रकृति को बदला जा सकता है, और न ही उसकी निर्जरा के लिए पुरुषार्थ किया जा सकता है। मानव के परिवर्तन के लिए उसके स्वभाव (प्रकृति) का परिवर्तन आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि कर्म-प्रकृति को बदलने का फलितार्थ है—स्वभाव परिवर्तन, जीवनदृष्टि का परिवर्तन।[1]

कर्म-प्रकृति को जानने से स्वभाव और जीवन में परिवर्तन

अतः सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि व्यक्ति कर्म की प्रकृति को जाने, क्योंकि उसी के आधार पर जीवन का भव्य महल खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में मानव कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को केवल जानने के लिए ही न जाने, किन्तु उसे अपने जीवन के दैनन्दिन व्यवहार से जोड़ने के लिए जाने। तभी वह कर्म की प्रकृति (उत्तर-प्रकृति) में परिवर्तन कर सकता है, कर्म की स्थिति, अनुभाग और प्रदेश में परिवर्तन भी तभी शक्य होगा। कर्मप्रकृति को जानकर ही सत्ता में पड़े हुए कर्म की निर्जरा, उदीरणा और संक्रमण किया जा सकता है। और तभी स्वभाव-परिवर्तन की बात शक्य हो सकेगी। अतः स्वभाव-परिवर्तन, जीवन की दिशा में परिवर्तन, तथा अपने व्यक्तित्व को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ने के लिए प्रकृतिबन्ध के सिलसिले में कर्म-प्रकृति को जानना अनिवार्य है।

कर्म-प्रकृतियों से अज्ञ : दोहरे व्यक्तित्व से संत्रस्त

आज अधिकांश व्यक्ति धन और साधनों की प्रचुरता होते हुए भी, अथवा सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं के होते हुए भी मानसिक चिन्ता, तनाव, आधि, व्याधि, उपाधि आदि दुःखों से संतप्त हैं, संत्रस्त हैं। इन दुःखों का मूल कारण है—कर्म-

१. जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावग्रहण, पृ. ७२

प्रकृतियों को नहीं समझना। जो व्यक्ति कर्म की प्रकृति, शक्ति, स्वभाव या आकृति को नहीं जानता, वह दुःखों से बचाव के मार्ग को नहीं समझ सकता। किन्तु आज अधिकांशतः व्यक्ति भौतिकता की चकाचौंध में जीता है। अन्दर से दुःखी और संत्रस्त होते हुए भी बाहर से सुखी और सम्पन्न दिखाने की चेष्टा करता है। उसका व्यक्तित्व घर और बाहर में अलग-अलग है। घर में उसका चेहरा क्रूर, लड़ाकू और स्वार्थी बना रहता है, और बाहर में, समाज में, नगर में और राष्ट्र में वह शरीफ, सज्जन, समाजसेवी और उदार बना रहता है। कभी-कभी वह मन में कुछ और सोचता है, वचन से बहुत मधुरभाषी दिखता है, और व्यवहार से वह बिलकुल ही विपरीत होता है। उसकी बाहरी प्रकृति अलग प्रतीत होती है और भीतरी अलग। बाह्य रूप भिन्न होता है, आन्तरिक रूप भिन्न। ऊपर से सज्जन चेहरा लिये फिरता है, किन्तु भीतर में दुःखों की ज्वाला धधक रही होती है। इसका कारण वह स्वयं नहीं समझ पाता; क्योंकि उसकी बाहरी प्रकृति समाज के साथ जुड़ी हुई होती है और भीतरी प्रकृति कर्मों के साथ जुड़ी हुई है, जिसे वह पहचान नहीं पाता; न ही जानने-समझने का प्रयत्न करता है। यदि वह कर्म-प्रकृति को भली-भाँति जान-समझ ले, तो अपने इस दोहरे व्यक्तित्व से छुटकारा पा सकता है, अपने असली और शुभ व्यक्तित्व को उभार सकता है; प्रकृतिबन्ध को समझ कर ही इस अन्तर-को, बाह्य भिन्नता को दूर किया जा सकता है।[1]

कर्मप्रकृतियाँ : आत्मा के मूल स्वभाव की आवारक, सुषुप्तिकारक, मूर्च्छाकारक और प्रतिरोधक

आत्मा के मूल स्वभाव चार हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) अव्याबाध सुख (आनन्द) और आत्मशक्ति (वीर्य)। दूसरे शब्दों में इन चारों को यों कहा जा सकता है—(१) प्रकाश, (२) जागृति, (३) अनाकुलता और (४) शक्ति का अस्खलन। इसके विपरीत कर्म की प्रकृतियाँ भी चार हैं—(१) आवारक, (२) सुषुप्तिकारक, (३) मूर्च्छा-कारक या विकारक और (४) शक्ति-प्रतिरोधक।

आवारक का अर्थ है—आवृत करने वाला, दबाने वाला। जिस प्रकार बादल सूर्य को आवृत कर देते हैं, उसकी रोशनी को दबा देते हैं। उसी प्रकार प्राणी की चेतना के अखण्ड सूर्य को कुछ कर्म-मेघ ऐसे हैं, जो ढक देते हैं। इस प्रकार कर्म की एक प्रकृति है—आवृत करने या आच्छादित करने की। वे हैं—ज्ञानावरण और दर्शनावरण। चेतना का कार्य है—प्रकाशित रहना, स्व-पर को यथार्थ-रूप से और पूर्णरूप से जानना; परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति है—ज्ञान को आवृत कर देने की, ज्ञान की—अनन्तज्ञान की अभिव्यक्ति में बाधा डालने की।

---

१. जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांशग्रहण पृ. २२१-२२२

कर्म की एक प्रकृति है–सुषुप्ति-कारक। आत्मा की एक प्रकृति है–सदैव जागृत-जागरूक रहने, देखने की; परन्तु सुषुप्ति या अजागृति पैदा करने के स्वभाव वाला कर्म उसमें बाधक बनता है। ऐसे स्वभाव वाला कर्म है–दर्शनावरणीय। इस कर्म की प्रकृति, कार्य या स्वभाव है–दर्शन की–जागृति की शक्ति पर आवरण डालना, अनन्त दर्शन की अभिव्यक्ति में बाधा डालना।

आत्मा में अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख है–आनन्द है। वह उसका मूल स्वभाव है। किन्तु मूर्च्छाकारक प्रकृति वाला या विकारक स्वभाव वाला मोहनीय कर्म आत्मा के उस असीम आनन्द को विकृत कर देता है। जीव पर मोह का पर्दा डाल कर कठिन परिस्थिति में अनाकुल रहने की उसकी आनन्द-प्रकृति को कुण्ठित, विकृत और ध्वस्त कर डालता है। किसी ने अपमान कर दिया तो अहंकार हुंकार करेगा–प्रतीकार करने लगेगा, कषाय पर विजय पाना दुष्कर हो जाएगा। मोहनीय कर्म जरा-सी कठिन परिस्थिति में व्यक्ति को भयभीत, चिन्तित और विचलित करके चारित्र से स्खलित, कुण्ठित कर देता है।

कर्म की एक प्रकृति है–शक्ति-प्रतिरोधक। वह आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (तपःशक्ति, परीषह-उपसर्ग-सहनशक्ति, तितिक्षाशक्ति तथा त्याग-प्रत्याख्यान एवं संयम की शक्ति) को कुण्ठित प्रतिरुद्ध एवं संदिग्ध कर देती है। आत्मा की अनन्त शक्ति भय, विषाद, क्रोधादि कषाय, हास्य-काम आदि नौ नोकषाय, राग, द्वेष, मोह, आसक्ति आदि से दब जाती है। कर्म की इसी प्रतिरोधक प्रकृति या शक्ति के कारण व्यक्ति स्खलित हो जाता है।[1]

कर्म की चार घाति-प्रकृतियों में प्रबल : मोहनीय कर्म

कर्म की इन चारों प्रकार की प्रकृतियों में सबसे प्रबल है–विकारक या मूर्च्छाकारक प्रकृति। यह शक्ति मोहनीय कर्म से सम्बन्धित है। इसकी प्रकृति चेतना को विकृत करने की, बिगाड़ने की और मूर्च्छित करने की है। मोहनीयकर्म चेतना को सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र दोनों ओर से मूर्च्छित और दिङ्मूढ़ बना देता है। मूर्च्छा एवं मूढ़ता के कारण व्यक्ति जीवन की सत्यता तथा आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों से अपरिचित रहता है। मूर्च्छा का घेरा इतना सघन होता है, कि प्राणी की कई जिंदगियाँ बीत जाती हैं, फिर भी उसे सत्य का बोध नहीं हो पाता। जहाँ सत्य का ही बोध न हो, वहाँ चारित्र-साधना के लिये रुचि, पराक्रम, साहस और संकल्प कैसे हो सकता है? अतः मोहनीय कर्म आत्मा के निज स्वभाव के प्रति भ्रान्त धारणा उत्पन्न करके परवस्तु के प्राप्ति अहंत्व-ममत्व या मोहभाव उत्पन्न करता है। सत्यज्ञान उत्पन्न होने पर भी यह कर्म तदनुरूप सम्यक् आचरण में बाधा पैदा करता है।[2]

---

१. वही, भावांशग्रहण, पृ. २१८, २२०

२ (क) जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ, से भावांशग्रहण, पृ. २२१
(ख) जैनधर्म और दर्शन (गणेश ललवानी) से भावांशग्रहण, पृ. १०५

यह हुआ चारों घातिकर्मों के स्वभाव (प्रकृति) का विवेचन। ये चारों घातिकर्म आत्मा के पूर्वोक्त चारों गुणों का प्रबलरूप से घात करते हैं, इसलिए घातिकर्म कहलाते हैं। एक बात का ध्यान रखना है कि ज्ञानावरणीय आदि चारों घातिकर्म आत्मगुणों का पूर्णरूपेण सर्वथा घात नहीं कर पाते।

आत्मा के ८ गुणों की बाधक : आठ कर्म प्रकृतियाँ

अब हम आत्मा के अवशिष्ट चार गुणों को अघाति कर्म की चार प्रकृतियाँ कैसे और कौन-कौन से गुण को दबा देती हैं, प्रगट नहीं होने देती हैं– इस पर विचार करलें। यद्यपि आत्मा के अनन्त गुण हैं, फिर भी प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा मुख्य आठ गुण बताए गए हैं, चार गुणों या स्वभावों का उल्लेख हम इससे पूर्व कर चुके हैं। आशय यह है कि जब कर्मपरमाणुओं का आत्मा के साथ बन्ध (श्लेष–संयोगसम्बन्ध) होता है, तब अन्य तीन वस्तुओं का निर्णय होता है–(१) जिन कर्मपरमाणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध हुआ, उन कर्माणुओं में से कौन-कौन से कर्मपरमाणु आत्मा के किस-किस गुण को दबायेंगे? (२) वे आत्मा पर क्या-क्या प्रभाव डालेंगे? तथा (३) किन-किन शक्तियों को आवृत या कुण्ठित करेंगे? इन तीनों बातों पर से कर्म की प्रकृति (स्वभाव) नियत होती है। इसे ही जैन कर्म-विज्ञान में प्रकृतिबन्ध कहा जाता है। अमुक कर्माणुओं में आत्मा के ज्ञान और दर्शन के गुणों का अभिभव करने का स्वभाव निश्चित होता है, उन्हें क्रमशः ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कहते हैं। अमुक कर्माणुओं में आत्मिक सुख को दबाने का स्वभाव निश्चित होता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा के वीर्य (आत्मशक्ति) गुण को दबाने का स्वभाव नियत होता है, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

आत्मा के शेष चार गुण इस प्रकार हैं–(१) अव्याबाध आत्मसुख, (२) अक्षय स्थिति, या शाश्वतता (३) अरूपित्व और (४) अगुरुलघुत्व। इन चारों गुणों को बाधित करने का स्वभाव[1] क्रमशः वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म का है। वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को रोक कर बाह्य सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव कराता है। आयुष्यकर्म आत्मा के अक्षय स्थिति (अजरामरता) गुण को रोक कर जन्ममरणादि का अनुभव कराता है। नामकर्म आत्मा के अरूपित्व गुण को दबा कर मनुष्यादि रूप ग्रहण करने को बाध्य करता है, तथा जीव को पूर्ण या विकल अंग-प्रत्यंगादि, शरीर, यश-अपयश, वर्ण-गन्धादि नाना प्रकार की विकारजनित विभिन्नताएँ प्राप्त करवाता है। गोत्रकर्म आत्मा के अगुरुलघुत्व गुण को दबा या आवृत कर उच्च या नीच कुल का व्यवहार कराता है।[2]

१. बंधविहाणे (भूमिका) (आचार्य श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी) से, पृ. ३६
२. बंध विहाणे (भूमिका) से भावग्रहण, पृ. ३७

आठकर्म-प्रकृतियों का आत्मा के आठ गुणों पर असर

पूर्वोक्त आठों कर्मों (प्रकृतियों) का आत्मा के गुणों पर असर होने से आत्मा की कैसी स्थिति होती है? इसे समझ लें।

आत्मा में निहित ज्ञान और दर्शन ये दो मुख्य गुण हैं। ज्ञान का अर्थ है–वस्तु का विशेषरूप से बोध, और दर्शन का अर्थ है–सामान्य-रूप से बोध। आशय यह है कि ज्ञान और दर्शन, ये दोनों ही ज्ञान (बोध) स्वरूप हैं, फिर भी वस्तु के विशेष बोध को ज्ञान और सामान्य बोध को दर्शन कहा जाता है। ज्ञान और दर्शन के कारण आत्मा में तीनों काल की समस्त वस्तुओं का विशेष और सामान्यरूप से सम्यक् बोध करने की शक्ति है। फिर भी आज छद्मस्थ और परोक्षज्ञानी जीवों को भूत और भविष्यकाल की वस्तुओं को जानने की बात तो दूर रही, वर्तमान काल की वस्तुओं में भी अमुक ही वस्तुओं का सामान्य-विशेषरूप से बोध होता है, वह भी इन्द्रियों और मन की सहायता से। इसका क्या कारण है? इसका कारण है–ज्ञानावरणीय और दर्शनावरण कर्म-प्रकृति। ये दोनों प्रकार के कर्म आत्मा के ज्ञान-दर्शनगुण को प्रकट नहीं होने देते। ये आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति को दबा देते हैं, ढक देते हैं। फिर भी ये दोनों कर्म आत्मा के ज्ञान-दर्शन-गुण को सर्वथा दबा नहीं सकते। जिस प्रकार सूर्य बादलों से आवृत होने पर भी बादलों के छिद्रों से थोड़ा प्रकाश पड़ता है, उसी प्रकार आत्मारूपी सूर्य पर कर्मरूपी बादलों का आवरण होने पर भी क्षयोपशमरूपी छिद्रों द्वारा स्वल्पमात्रा में ज्ञान-दर्शनगुणरूप प्रकाश प्रगट होता है।

आत्मा का तीसरा गुण है–अनन्त अव्याबाध सुख। इस गुण के प्रताप से किसी भी भौतिक वस्तु की अपेक्षा के बिना आत्मा में स्वाभाविक सहज सुख रहा हुआ है, फिर भी संसारी जीव वास्तविक आत्म-सुख से वंचित हैं, अतएव सच्चे माने में दुःखी रहते हैं। जो यत्किंचित् सुख प्राप्त होता है, वह भी भौतिक वस्तुओं द्वारा इसमें कारण है–वेदनीय कर्म प्रकृति।

आत्मा में चौथा गुण है–स्वभाव-रमणता रूप अनन्त चारित्र। आत्मा में केवल अपने स्व-भाव में रमण करने का गुण है। मोहनीय कर्म द्वारा इस गुण का अभिभव हो गया है, जिससे आत्मा भौतिक वस्तुएँ प्राप्त करना, सुरक्षा करना, सजीव-निर्जीव परभावों पर अहंकार-ममकार से ग्रस्त होकर रागद्वेष या कषाय करता रहता है। अतः स्वभावरमणता से कोसों दूर हो जाता है।

आत्मा का पाँचवाँ गुण अक्षय स्थिति या अविनाशित्व है। इस गुण के कारण आत्मा के जन्म, जरा, मृत्यु आदि नहीं हैं, फिर भी आयुष्यकर्म के कारण आत्मा को जन्म-मरण करना पड़ता है।

आत्मा का छठा गुण–अरूपित्व है। आत्मा में इस गुण के कारण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं हैं, फिर भी आत्मा अभी शरीरधारी होने से उसमें जो कृष्ण, श्वेत

वगैरह रूप, तथा मनुष्य आदि गति, यश-अपयश, दुःस्वर-सुस्वर आदि जो विकार दिखाई देते हैं, वह नामकर्म के कारण है।

आत्मा का सातवाँ गुण अगुरुलघुत्व है। इसी गुण के कारण आत्मा न तो उच्च है, न ही नीच है, फिर भी हम देखते हैं, अमुक व्यक्ति उच्च कुल में, और अमुक व्यक्ति नीच कुल में जन्म लेता है। इस प्रकार उच्च-नीच-कुल का जो व्यवहार होता है, वह गोत्रकर्म के कारण है।

आत्मा का आठवाँ गुण अनन्तवीर्य है। इस गुण के कारण आत्मा अनन्त अतुल शक्तिमान् है। फिर भी इस समय उस अतुलशक्ति का अनुभव क्यों नहीं होता? अन्तराय कर्म इस शक्ति को दबा देता है।

इस प्रकार आठों ही कर्म आत्मा के आठ गुणों को क्रमशः दबा कर आत्मा को विकृत करने के स्वभाव वाले हैं।[1]

एक ही कर्म : अनेक विध स्वभाव, प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में

वैसे तो कर्म एक ही प्रकार का है, परन्तु अध्यवसाय-विशेष से जीव द्वारा एक ही बार में गृहीत कर्मपुद्गल-राशि में एक साथ अध्यवसायिक शक्ति की विविधता के अनुरूप अनेक स्वभाव निर्मित होते हैं। यद्यपि वे स्वभाव अदृश्य होते हैं, तथापि उनका परिणमन उनके कार्य-प्रभाव को देखकर किया जा सकता है। एक या अनेक जीवों पर होने वाले कर्म के असंख्य प्रभाव एवं फल अनुभव में आते हैं। वास्तव में इन प्रभावों के उत्पादक स्वभाव भी असंख्यात हैं। फिर भी संक्षेप में वर्गीकरण करके उन सभी को मुख्यतया आठ भागों में विभक्त किया गया है।[2] प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में इन आठों को मूल-प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है।

गृहीत कर्मपुद्गल-परमाणुओं का आठ प्रकृतियों में परिणमन कैसे?

दूसरे प्रकार से भी प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में कर्मपुद्गल परमाणुओं के एक जत्थे (स्कन्ध) का आठ प्रकृतियों में पृथक्-पृथक् बंध जाने का कारण बताते हुए कहा गया है कि आहाररूप में ग्रहण किये हुए पुद्गल-परमाणु रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र आदि विभिन्न धातुओं के रूप में परिणमित हो जाते हैं, वैसे ही मन-वचन-काया की क्रिया, प्रवृत्ति या चंचलता के योग से आकर्षित कर्म-वर्गणाएँ उन-उन वर्गणाओं के स्वभावानुसार मूल एवं उत्तर प्रकृति के रूप में परिणमित हो जाती हैं। जैसे, कितनी ही विशिष्ट खाद्य पदार्थों में विशेषतया रक्तरूप में परिणमन करने का, कितने ही भोज्य-पदार्थों में शुक्ररूप में परिणमन करने का विशिष्ट स्वभाव होता है; वैसे यहाँ भी गृहीत कर्मवर्गणाओं में से किसी का विशिष्ट स्वभाव एक विशेष प्रकृति के रूप में

---

१. बंध विज्ञाणे, (भूमिका) से भावग्रहण, पृ. ३७-३८

२. तत्त्वार्थ-सूत्र, विवेचन (पं. सुखलालजी), पृ. १९६-१९६

अधिकांशतया परिणमन करने का होता है। किसी का स्वभाव अन्य प्रकृति के रूप में परिणमन करने का होता है।

इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि विभिन्न बद्ध कर्मवर्गणाओं के एक सरीखे सात या आठ विभाग हो जाते हैं; अपितु उस बद्ध कर्मवर्गणा में जो विशिष्ट स्वभाव होता है, प्रायः तद्रूप (उस प्रकृति के रूप) में परिणमन होता है। शेष प्रकृतियों में सिर्फ न्यून अंश मिल जाता है। जैसे–बादाम में वैद्यक दृष्टि से विशेषतया मस्तिष्क को पोषण करने का गुण है; केवल थोड़ा-सा भाग रक्त, मांस आदि का पोषण करता है। इसी प्रकार बद्ध कर्मवर्गणा भी अधिकांशतया किसी विशिष्ट प्रकृतिरूप में परिणमित होती है, शेष प्रकृतियों के हिस्से में उसका थोड़ा-सा भाग जाता है।[1]

युगल कर्मप्रकृतियों में दो में से एक के हिस्से में प्रकृति परिणमन

इसमें इतना विशेष समझना चाहिए कि जो कर्मप्रकृतियाँ युगलरूप हैं, उन दोनों में से एक के ही हिस्से में विशिष्ट प्रकृति-परिणमन होता है। जैसे–कोई भी कर्म एक साथ हास्य और शोक, अथवा रति और अरति, इन दोनों में परिणत नहीं होता। तीन वेद (स्त्री-पुरुष-नपुंसक-वेद–काम) में से मात्र एक वेद के रूप में ही परिणमन होता है।[2]

जीव के योग-उपयोग द्वारा चित्र विचित्र कर्म कर्मप्रकृतियों की कर्मशरीर में निष्पत्ति

जिनेन्द्र वर्णीजी के अनुसार–जीव जैसा-वैसा चित्र-विचित्र योग और उपयोग करता है, उसके निमित्त से वैसी-वैसी ही चित्र-विचित्र शक्तियाँ या प्रकृतियाँ उस कार्मण-शरीर में पड़ जाती हैं। कुछ कर्मवर्गणाएँ किसी एक प्रकृति को और दूसरी किसी प्रकृति को धारण कर लेती हैं। जिस प्रकार एक ही वृक्ष काष्ठ, पत्र, पुष्प, फल आदि के रूप में अनेक जातीयता को प्राप्त हो जाता है, अथवा जिस प्रकार एक ही यह स्थूल शरीर, हाथ, पैर, जीभ, कान आदि के रूप में चलने-फिरने, ग्रहण करने, बोलने, सुनने, देखने आदि रूप अनेक शक्तियों या प्रकृतियों को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार एक ही यह कार्मणशरीर विभिन्न प्रकृतियों को प्राप्त होकर अनेक अंगों या भेदों वाला हो जाता है।

अदृश्य कर्म के कार्य–विशेष से तत्कारणभूता प्रकृति का अनुमान

यद्यपि कर्म तथा उनके प्रकृति, स्थिति आदि बन्धविशेष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं हैं, तथापि उनके निमित्त से होने वाले कार्य अर्थात्–अपने अन्तरंग भाव, शरीर तथा संयोग-वियोग आदि सभी के प्रत्यक्ष हैं। इन पर से उनकी कारणभूता प्रकृतियों का

१. कर्म अने आत्मानो संयोग (अध्यायी) से, पृ. २०-२१
२. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. २०

अनुमान लगाया जा सकता है। न्यायशास्त्रानुसार कार्य पर से कारण का अनुमान करना न्यायोचित है। जैसे-जैसे तथा जितने कुछ भी भाव या संयोग आदि हैं, वैसी-वैसी उतनी ही मुख्य या मूल प्रकृतियाँ होनी चाहिए। अतएव उन कर्म-प्रकृतियों को जानने से पहले हमें उन कार्यों तथा भावों को जानना चाहिए। आत्मा के पूर्वोक्त आठ मूल गुणों या स्वभावों को आवृत या विकृत करने वाले आठ ही प्रधान भाव या कार्य प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से द्रव्यकर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतियाँ १४८ या १५८ मानी गई हैं।[1]

कर्म के इतने भेद-प्रभेद क्यों? एक ही कर्म का प्रतिपादन क्यों नहीं?

कुछ लोगों का तर्क है कि कर्म-प्रकृतियों के इतने भेद-प्रभेद करने से व्यक्ति मूल वस्तु को पकड़ नहीं पाता और भेद-प्रभेदों की गणना और उन्हें समझने में ही उलझ जाता है; अतः भेद-प्रभेद न करके मूल कर्म का ही उपदेश किया जाए, क्योंकि हमें कर्म का क्षय ही तो करना है। अतः केवल कर्मबन्ध का विश्लेषण किया जाय तो क्या हर्ज है?

इसका समाधान यह है कि किसी रोगी को केवल यह कह दिया जाए कि तुम्हें रोग है, इतना कहने से उसका समाधान या रोगनिवारण नहीं हो सकता या नहीं किया जा सकता, उसे यह बताना भी अपेक्षित होगा, कि तुम्हारा रोग इस किस्म का है, उसका स्वभाव इस प्रकार का है, उसकी उत्पत्ति का अमुक-अमुक कारण है, और उसके सही इलाज के लिए अमुक-अमुक दवा, पथ्य और उपचार लेना ठीक होगा। साथ ही चिकित्सक को भी जानना होगा कि अमुक-अमुक रोगी का रोग किस-किस प्रकार है? इस रोग का लक्षण या स्वभाव कैसा है? यह रोग किन कारणों से होता है? इसी प्रकार मुमुक्षु या आत्मार्थी को केवल यह कहने से काम नहीं चलेगा कि तुम्हें कर्म-रोग लगा है। परन्तु उसे यह बताना पड़ेगा कि कर्म से सम्बन्धित रोग, उनकी अलग-अलग प्रकृति के अनुसार इतने प्रकार के हैं, इनमें से अमुक लक्षणों या स्वभाव के अनुसार तुम्हें लगा हुआ कर्मरोग अमुक प्रकार का है। उसकी उत्पत्ति के कारण अमुक-अमुक हैं और उसकी प्रकृति इस प्रकार की है, उस कर्म का फल इस प्रकार का है। इस प्रकार जब तक उस साधक को अमुक विशिष्ट कर्म का, उसकी प्रकृति का स्वरूप आदि नहीं बताया जाएगा, तब तक उक्त कर्म का क्षय, क्षयोपशम या परिवर्तन भी नहीं किया जा सकेगा।[2] अतः कर्म की भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ, उनका स्वरूप तथा उनके कारण, फल आदि का जानना अनिवार्य होने से कर्म की प्रकृतियों के अनुसार उनके मूल और उत्तर दो प्रकार तथा उनके क्रमशः आठ और एक सौ

---

१. कर्म-सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी), पृ. ५४-५६

२. आत्म-तत्व-विचार से भावांश-ग्रहण, पृ. ३०७-३०८

अड़ावन या एक सौ अड़तालीस भेद बताये गए हैं। धवला में यह भी कहा गया है कि बद्ध, उदीर्ण और उपशान्त के भेद से स्थित सभी कर्म प्रकृतिरूप हैं।[1]

आठ ही कर्म सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित : नौवाँ नहीं

इससे सम्बन्धित एक प्रश्न और है—जैन कर्मविज्ञान ने प्रकृतियों के अनुसार कर्मसमूह को आठ विभागों में विभक्त किया है। उसका कारण हम पहले ही बता चुके हैं कि आत्मा के मौलिक गुण आठ हैं, उन आठों ही गुणों को बाधित, कुण्ठित और आवृत करने के लिए एक-एक प्रकार की प्रकृति वाले आठ कर्म हैं। इस अनन्त वैचित्र्यपूर्ण संसार में एक भी ऐसी आत्मा या आत्म-स्थिति नहीं है, जिसका समावेश इन आठ कर्मों में से एक या दूसरे में हुए बिना न रहे। जैनदर्शन सर्वज्ञ वीतराग पुरुषों द्वारा उपदिष्ट है, इसलिए उन्होंने अपने केवलज्ञान के प्रकाश में आत्मा के गुणों, स्वभावों और उन्हें दबाने या प्रतिरुद्ध करने वाले जो आठ प्रकार बताए हैं, इसमें सन्देह को कोई अवकाश ही नहीं है। छद्मस्थ मनुष्य की बुद्धि आत्मा पर हावी होने वाले ऐसे एक भी अतिरिक्त भाव को नहीं खोज सकती, जो इस अष्ट कर्मवर्गणा के अन्तर्गत न हो। आठ कर्मों के सिवाय नौवां कर्म ढूंढने की अल्पज्ञ मनुष्य की बुद्धि चाहे जितना बौद्धिक व्यायाम कर ले, आखिर वह परास्त ही होगी।[2] इन अष्ट कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों के अनुसार इनका नाम इस प्रकार रखा गया है—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[3]

आठ मूलकर्मप्रकृतियों का यह क्रम क्यों?

कई लोग प्रकृतिबन्ध से सम्बन्धित एक प्रश्न उठाया करते हैं कि कर्म की पूर्वोक्त आठ मूल प्रकृतियों का यह क्रम क्यों? इस क्रम के पीछे क्या आधार या कारण है? इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार रवि के बाद सोम, सोम के बाद मंगल, मंगल के पश्चात् बुध; इत्यादि प्रकार से दिनों का क्रम विश्व के सभी ज्योतिर्विदों या खगोलवेत्ताओं द्वारा मान्य है, क्योंकि उसके पीछे एक आधारपूर्ण अनुभूत हेतु है; इसी

१. जैनसिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्रजी) में उद्धृत, पृ. ९८
२. कर्म अने आत्मानो संयोग, पृ. ५
३. (क) नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र अ.३३, गा.२-३
(ख) आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुष्क नाम-गोत्रान्तरायाः ।
—तत्त्वार्थसूत्र अ.८, सू.५
(ग) कर्मग्रन्थ भाग १, गाथा ३
(घ) "अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ, तं.—
नाणावरणिज्जं ..... अंतराइयं ।" —प्रज्ञापना पद २१, उ.१, सू.२२८

प्रकार भारतीय ज्योतिषियों के अनुसार चैत्र के बाद वैशाख, वैशाख के बाद ज्येष्ठ, इस प्रकार बारह महीनों के क्रम के निर्धारण के पीछे भी एक हेतु है। छह ऋतुओं का क्रम भी विचारपूर्वक निर्धारित है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय के बाद दर्शनावरणीय, दर्शनावरणीय के अनन्तर वेदनीय, वेदनीय के पश्चात् मोहनीय, मोहनीय के बाद आयुष्य, आयुष्य के बाद क्रमशः नाम, गोत्र और अन्तराय, यों अष्टविध कर्म का प्रकृतियों के अनुसार क्रम रखने के पीछे भी आधारपूर्ण हेतु है।

आत्मा के समस्त गुणों में ज्ञान प्रमुख है। ज्ञान और आत्मा का एक दृष्टि से तादात्म्य है। आत्मा की पहचान उसके मुख्य गुण-ज्ञान के द्वारा कराई जाती है। इसलिए उसका (ज्ञान का) अवरोध-आवरण करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म को सर्वप्रथम रखा गया है। उसके पश्चात् दर्शनावरणीय कर्म का स्थान है, जो आत्मा के दर्शनगुण को आवृत एवं सुषुप्त करता है। ये दोनों कर्म अपना फल दिखाने के लिए सांसारिक सुख-दुःख को वेदन कराने के हेतु बनते हैं, इसलिए दर्शनावरणीय कर्म के बाद वेदनीय कर्म को रखा गया है। सुख-दुःख का वेदन कषाय या राग-द्वेषादि होने पर ही होता है। कषाय या राग-द्वेषादि मोहनीय कर्म के अंग हैं। इसलिए वेदनीय कर्म के बाद मोहनीय कर्म का स्थान है। मोहनीय कर्म से संत्रस्त, ग्रस्त या मूढ़ बना हुआ जीव अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ या हिंसादि का आचरण करता है, जिससे वह नरक, तिर्यंच आदि का आयुष्य बांधता है। इस कारण मोहनीय कर्म के बाद आयुष्य कर्म को रखा गया है। आयुष्य कर्म गति, जाति, शरीर आदि के बिना भोगा नहीं जा सकता। इसलिए आयुष्यकर्म के बाद नामकर्म रखा गया है। नामकर्म का उदय होने पर उच्च-नीच गोत्र का उदय अवश्य होता है, इस दृष्टि से नामकर्म के बाद गोत्रकर्म को स्थान दिया गया है। उच्च-नीच गोत्र के उदय होने पर क्रमशः दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य आदि शक्तियाँ न्यूनाधिकरूप से बाधित एवं कुण्ठित होती हैं। इसलिए गोत्र कर्म के बाद अन्तरायकर्म को स्थान दिया गया है। आठों ही मूल कर्म-प्रकृतियों का अपने-अपने स्वभावानुसार उचित क्रम रखा गया है।[1]

कर्म-प्रकृति को पहचानना सर्वप्रथम आवश्यक

अतः किसी भी कर्म को यथार्थरूप से पहचानने के लिए सर्वप्रथम उक्त कर्म की प्रकृति कैसी है? कर्मबन्ध के समय उक्त कर्मस्कन्धों में किस-किस प्रकार की विविधता होती है, इसे जानना आवश्यक है। कर्म के स्वभाव को जाने बिना उसके विविध स्थानों में होने वाले असर और उसकी गाढ़ता, शिथिलता या शक्ति का पता लगना कठिन है। वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में जैसे ऑक्सीजन और हाईड्रोजन को देखकर उनका स्वभाव सर्वप्रथम जान लेता है, तभी प्रयोग करता है, वैसे ही आत्मा की प्रयोगशाला में आत्मार्थी को कर्मों के विविध स्वभाव को जानना आवश्यक है। प्रकृतिबन्ध का कार्य कर्मों के विभिन्न स्वभाव और शक्ति को बताना है।[2] ●●

१. आत्म तत्त्व विचार, पृ. ३०८
२. जैन दृष्टिए कर्म, पृ. ४५

१५

मूल कर्म प्रकृति-बंध : स्वभाव, स्वरूप और कारण

प्रकृतिबन्ध : गृहीत कर्म पुद्गलों का आठ प्रकृतियों में विभाजन

आत्मा प्रतिसमय अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म-स्कन्धों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इन कर्मस्कन्धों में मिथ्यात्व, कषाय आदि अध्यवसाय-विशेष के कारण एक प्रकार की हलचल-सी पैदा होती है। जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए उन कर्म पुद्गलों–स्कन्धों-दलिकों या कार्मण-वर्गणाओं के आत्मा के साथ जुड़ते ही, उनमें विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार उन कर्मों में विभिन्न स्वभाव या शक्ति उत्पन्न हो जाने को प्रकृतिबन्ध कहा गया है।

कर्मविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार उन स्वभावों की अपेक्षा ही कर्म प्रकृतियों की रचना होती है। उक्त स्वभाव-निर्माण को ही शास्त्रीय भाषा में प्रकृतिबन्ध कहा गया है। वे प्रकृतियाँ दो प्रकार की होती हैं–मूल-प्रकृतियाँ और उत्तर-प्रकृतियाँ। कर्म की मूलप्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय आदि आठ हैं। प्रकृतिबन्ध में कर्मदलिक मुख्यतया आठ भिन्न-भिन्न स्वभावानुसार इन मूल आठ कर्म प्रकृतियों के रूप में अवस्थित हो जाते हैं।

कर्मवर्गणा-स्कन्धों में विविध फलदान के स्वभाव की उत्पत्ति

आशय यह है कि उन गृहीत कार्मणवर्गणा के कुछ स्कन्धों में ज्ञान को रोकने का स्वभाव होता है, कितने ही स्कन्धों में दर्शन को रोकने का स्वभाव, कई स्कन्धों में सुख-दुःख का वेदन कराने का स्वभाव, तो कुछ में क्रोधादि करवाकर वीतरागता को रोकने का स्वभाव होता है। इसी प्रकार कितने ही कर्मों में विभिन्न भवों में रोके रखने का स्वभाव, कुछ कर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शरीर-रचना का स्वभाव तथा कितनों में उच्च-नीच कुलों में उत्पन्न कराने का स्वभाव एवं कितने ही कर्मवर्गणा-स्कन्धों में

शक्ति आदि में विघ्न डालने का स्वभाव निर्मित होता है, या यों कहें कि स्वतः उत्पन्न हो जाता है; इस प्रकार की व्यवस्था या अवस्था को प्रकृतिबन्ध कहा जाता है।[1]

कर्मवर्गणा के स्कन्धों का आठ भागों में विभाजन कैसे ?

इस तथ्य को असत्कल्पना से समझना चाहें तो इस प्रकार समझ सकते हैं—मानलो कर्मवर्गणा के किसी ने ८००० स्कन्ध ग्रहण किये, उनमें से एक हजार स्कन्धों में ज्ञानावरण का स्वभाव उत्पन्न हुआ, दूसरे हजार स्कन्धों में दर्शनावरण-स्वभाव उत्पन्न हुआ; इस प्रकार प्रत्येक कर्म के एक-एक हजार स्कन्धों में पृथक-पृथक स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो इन कर्मस्कन्धों में जो स्वभाव उत्पन्न होते हैं, वे बराबर ही होते हैं, ऐसा कुछ नहीं है; वे विशेषाधिक ही उत्पन्न होते हैं। किसी जत्थे में कम तो किसी में अधिक। यहाँ तो स्थूल दृष्टि से असत्कल्पना के माध्यम से कर्मप्रकृतियों के पृथक-पृथक विभाजन को समझाया गया है।[2]

आठ कर्मों की प्रकृति का उपमा द्वारा निरूपण

गोम्मटसार, पंचसंग्रह (प्रा.) आदि में ज्ञानावरण कर्म की उपमा पर्दे से दी गई है। जैसे पर्दे से ढकी चीज का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ज्ञानावरणीय के उदय से पदार्थों का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता। कुछ ग्रन्थों में ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव आँखों पर बाँधी हुई पट्टी के समान बताया है, जो आत्मा के अनन्तज्ञान को रोकता है।

दर्शनावरणीय कर्म का स्वभाव द्वारपाल के समान बताया गया है। जैसे राजा का दर्शन चाहने वालों को द्वारपाल रोक देता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शनगुण को रोक देता है।

वेदनीय कर्म का स्वभाव शहद लिपटी हुई तलवार की धार के समान है। जिस प्रकार तलवार की धार में लगे हुए शहद को चाटने से वह मीठा लगता है किन्तु उसकी धार से जीभ कट जाती है; इसी प्रकार वेदनीय कर्म आत्मा के अनन्त अव्याबाध सुख के गुण को रोककर सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख-दुःख का अनुभव कराता है।

मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य के नशे के समान है। जैसे—मद्य के नशे में चूर व्यक्ति होश में नहीं रहता, अपने हिताहित का विचार नहीं कर सकता; वैसे ही मोहनीय कर्म के प्रभाव से (उदय से) आत्मा अपने धर्म-अधर्म, हिताहित को नहीं सोच सकता, कदाचित् सत्य को जानते हुए भी मोह के नशे में सम्यक् आचरण नहीं कर पाता। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण को स्वरूपरमणतारूप गुण को दबा देता है।

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र (उपाध्याय केवलमुनि) से पृ. ३५५
(ख) रे कर्म ! तेरी गति न्यारी ! से, पृ. ४६
२. रे कर्म तेरी गति न्यारी ! से, पृ. ४८

आयुष्यकर्म का स्वभाव कारागृह के समान है। यह कर्म आत्मा के अविनाशित्व गुण को रोक देता है। गोम्मटसार में इसे पैर में पड़ी हुई बेड़ी के समान बताया है। जैसे पैर में बेड़ी पड़ जाने पर मनुष्य एक ही स्थान पर पड़ा रहता है, वैसे ही आयुकर्म जीव को अमुक भव में ही रोके रखता है, उसके उदय रहते उस भव से छुटकारा नहीं होता। अथवा जैसे जेल में पड़ा हुआ मनुष्य उससे निकलना चाहता है, परन्तु सजा पूर्ण हुए बिना नहीं निकल सकता। वैसे ही नरकादि गतियों में पड़ा हुआ जीव आयुष्य पूर्ण हुए बिना उस गति या योनि से छूट नहीं सकता।

नामकर्म का स्वभाव चित्रकार के समान है। जैसे–चित्रकार अच्छे-बुरे नाना प्रकार के चित्र बनाता है, वैसे ही नामकर्म जीव के अरूपित्व गुण को रोक कर, नाना प्रकार के शरीर, गति, जाति, रूप, रंग आदि की रचना करता है। वह विभिन्न गतियों में देव, नारक आदि बनाता रहता है।

गोत्रकर्म को कुम्हार की उपमा दी है। जैसे–कुम्हार घी के और मद्य रखने के, अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्रकर्म आत्मा के अगुरुलघुत्व गुण को दबाकर, उच्चकुल-नीचकुल का या अच्छे-बुरे का व्यवहार कराता है।

अन्तराय कर्म का स्वभाव भण्डारी के सरीखा है। जैसे–शासक किसी को कुछ देना चाहता है, आदेश भी दे देता है, परन्तु दुष्ट भण्डारी मना करता है, देता नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का गुण अनन्त शक्ति युक्त होते हुए भी अन्तराय कर्म वीर्य (तप, संयम, साधना में शक्ति) गुण को तथा दानादि लब्धियों को रोक देता है। इस कर्म के उदय से आत्मा दानादि नहीं कर सकता और न ही अपनी शक्ति का विकास कर सकता है; उसे अभीष्ट वस्तु का लाभ नहीं हो पाता।[1]

आठ कर्मों का लक्षण और उनके बन्ध के कारण

ज्ञानावरणीय कर्म का लक्षण है–जो कर्म ज्ञान का अर्थात्–विशेष बोध का आच्छादन–आवरण करता है, अर्थात् जो कर्म आत्मा के ज्ञान स्वभाव को उसी प्रकार ढक देता है, जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढक देता है, वह ज्ञानावरणीय है।

ज्ञानावरण-कर्मवर्गणाएँ आत्मा के द्वारा सहज ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं। ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध मुख्यतः मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के कारण होता है। इसके कारण आत्मा के ज्ञान के जाज्वल्यमान प्रकाश पर एक, दो, चार, पांच, पचास, सौ या उससे अधिक गाढ़े पर्दे ज्यों-ज्यों पड़ते जाते हैं, त्यों-त्यों आत्मा के अन्दर ज्ञान का प्रकाश होते हुए भी बाहर प्रगट नहीं होने पाता, अथवा बहुत ही कम

---

१. (क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. सू. २१/१५
(ख) प्रशमरति (वाचकवर्य श्री उमास्वाति) गा. ३४ का विवेचन, पृ. १३-१४
(ग) पड-पडिहा रसि मज्जा हडि-चित्तकुलाल-भंडयारीणं
जह एदेसिं भावा, तह वि य कम्मा मुणेयव्वा। –पंचसंग्रह (प्रा. २/३)

प्रगट होता है। अर्थात्–आत्मा में सब कुछ जानने की शक्ति होते हुए भी वह ज्ञानावरणीय कर्म के कारण जान नहीं पाता। ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम होगा, आत्मा को उतना ही ज्ञान होगा, उससे अधिक नहीं।

किसी व्यक्ति को किसी वस्तु का पहले ज्ञान था, और अब वह उसे स्मरण करना चाहता है, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी वह वस्तु याद नहीं आती, दो दिन बाद अकस्मात् ही उसका स्मरण एवं स्फुरण हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विस्मृति के समय आत्मा में ज्ञान नहीं था, ज्ञान तो मौजूद था, अन्यथा दो दिन बाद वह वस्तु कैसे याद आती ? विस्मृति का कारण था–ज्ञान पर आवरण। ज्ञान को रोकने वाली वस्तु वहाँ मौजूद थी। जैसे–दीपक कपड़े से ढका हो तो प्रकाश नहीं आता, उसे हटा देने पर तुरन्त प्रकाश प्रगट हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान के आवृत होने और प्रकाशित होने की बात समझनी चाहिए।[1]

ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के मुख्य कारण

ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के मुख्यतया ६ कारण हैं–(१) **प्रदोष**–सम्यग्ज्ञान अथवा ज्ञानी का अवर्णवाद (निन्दा करना), उनके दोष निकालना, विरोध प्रकट करते रहना अथवा सम्यग्ज्ञान एवं उसके वक्ता के प्रति द्वेषभाव रखना, सम्यग्ज्ञान के जो साधन हैं, जो सम्यग्ज्ञान प्रदान करते हैं, उनके प्रति रोष, द्वेष और ईर्ष्या करना।

(२) **निह्नव**–कोई किसी से पूछे या ज्ञान के साधन की माँग करे, तब ज्ञान एवं ज्ञान के साधन पास में होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि मैं नहीं जानता, अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं, ज्ञान-निह्नव है। ज्ञानी या ज्ञानदाता का अथवा ज्ञान जिस ग्रन्थ से या विद्वान् से प्राप्त हुआ हो, उनका उपकार न मानना, नाम छिपाना ज्ञान-निह्नव है। अथवा वीतराग सर्वज्ञ अर्हत् प्रभु के द्वारा प्ररूपित तत्वस्वरूप के विपरीत स्व-कल्पित मत-प्ररूपणा करना भी निह्नव कहलाता है। जमाली आदि नौ निह्नव आगमों में प्रसिद्ध हैं।

(३) **मात्सर्य**–ज्ञान और ज्ञानी के प्रति डाह, जलन एवं ईर्ष्या रखना ज्ञान-मात्सर्य है। अथवा ज्ञान अभ्यस्त एवं परिपक्व हो, तथा ज्ञान को ग्रहण करने वाला योग्य अधिकारी हो, फिर भी मात्सर्यवश उसे न देने की कलुषित वृत्ति रखना भी ज्ञान-मात्सर्य है।

(४) **अन्तराय**–कलुषित भाव से किसी की ज्ञान-प्राप्ति में बाधा पहुँचाना, ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना, पुस्तक आदि ज्ञान के साधनों को छिपा देना ज्ञानान्तराय है। दूसरा कोई ज्ञान दे रहा हो, तत्वज्ञान सिखा रहा हो, तब वाणी या कायचेष्टा के संकेत से उसे रोक देना, ज्ञानप्राप्ति में बाधक बनना, अथवा कह देना–यह मंदबुद्धि है, कुछ सीख नहीं सकता, व्यर्थ समय बर्बाद करना है, यह भी ज्ञानान्तराय है।

---

१. (क) आत्मतत्व विचार से, पृ. ३१०
(ख) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ४६

(५) ज्ञानासादन–ज्ञानासादन है–ज्ञान, ज्ञानी अथवा ज्ञान के साधनों की अविनय-आशातना करना, ज्ञानी को दुःखी या पीड़ित करना, उनका अपमान करना। ज्ञान के साधनों को ठुकराना, जला देना, फाड़ देना, फैंक देना आदि चेष्टाएँ भी ज्ञानासादन है।

(६) उपघात–ज्ञानी, ज्ञान या ज्ञान के साधनों को नष्ट करना, या विद्वानों के साथ मिथ्याग्रह या पूर्वाग्रहवश व्यर्थ विवाद करना अथवा कलुषित भाव से सत्य को असत्य सिद्ध करने का प्रयास करना, अपने मिथ्यामत को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना भी ज्ञानोपघात है।[1]

ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण : आगमों के अनुसार

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भगवान् से गौतम गणधर ने प्रश्न किया–भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्म (कार्मणशरीर) का प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है ?

इसके उत्तर में उन्होंने कहा–गौतम ! ज्ञानी की प्रत्यनीकता–शत्रुता करने से, ज्ञान को छिपाने से, ज्ञान में दोष निकालने से, ज्ञान एवं ज्ञानी का अविनय करने से, ज्ञान एवं ज्ञानी के प्रति व्यर्थ विसंवाद करने से ज्ञानावरणीय कर्म का आस्रव एवं बन्ध होता है।[2]

ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के दुष्परिणाम

एक आचार्य ने ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध का दुष्परिणाम बताते हुए कहा है–"जो मूढमति मन, वचन और काया से ज्ञान एवं ज्ञानी की विराधना–आशातना करते हैं, शून्यमनस्क और विवेकहीन होते हैं। वे दुर्बुद्धि, गूंगे तथा मुख-रोगी आदि दोषों से ग्रस्त होते हैं। उपयोगहीन कायचेष्टा द्वारा ज्ञान की विराधना करने से उनके निन्द्य शरीर में कोढ़ आदि रोग होते हैं। जो स्वयं तथा दूसरों से सदा ज्ञान की आशातना करते हैं, परभव में उनके पुत्र, स्त्री एवं मित्रों का क्षय होता है, धन-धान्य का विनाश होता है, आधि-व्याधि उत्पन्न होती हैं।"

वरदत्त-गुणमंजरी की कथा में आता है कि गुणमंजरी ने सुन्दरी के पूर्वभव में बालकों को पढ़ने (ज्ञान) के साधन जला डाले थे, इसके फलस्वरूप वह इस भव में गूँगी और रुग्ण हुई।

---

१. (क) तत्प्रदोष निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।
–तत्त्वार्थसूत्र ६/११

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र, विवेचन (पं. सुखलाल जी) से, पृ. १५८

(ग) तत्त्वार्थ सूत्र, विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. २७१-२७२

२. णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओग-बंधणं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ?
गोयमा ! नाणपडिणीययाए, णाण-निण्हयणयाए, णाणंतराएणं णाणप्पदोसेणं णाणव्वासायणयाए, णाण-विसंवादणाजोगेणं, ...एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसण नाम घेतव्वं।'
–व्याख्याप्रज्ञप्ति, श. ८, उ. ९, सू. ७५-७६

कई लोग बार-बार पढ़ते हैं, कठोर परिश्रम करते हैं, रटते हैं, पढ़ने बिठाओ तो उन्हें नींद आती है, ज्ञान सीखने में रुचि ही नहीं होती, पन्द्रह दिन रटने पर भी एक गाथा याद नहीं होती, याद किया हुआ भी कई लोग शीघ्र भूल जाते हैं, इसे ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध का फल समझना चाहिए। इन और ऐसे ही कारणों से ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध होता है।[1]

ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव : उपमा द्वारा निरूपण

ज्ञानावरणीय कर्म को पट्टी की उपमा दी गई है। जैसे–किसी व्यक्ति की आँखों पर अनेक पट वाली कपड़े की पट्टी बाँध दी जाये तो आँखों के रहते भी वह अन्धा-सा रहता है, कुछ भी देख नहीं पाता। इसी प्रकार आत्मा भी अनन्त ज्ञान से सम्पन्न है, फिर भी संसारी जीव के ज्ञानचक्षु पर कर्म की पट्टी बँधी होने से जगत् के पदार्थों को सम्यक् रूप से जान-देख नहीं पाता। आत्मा अनन्तज्ञान से सम्पन्न है, फिर भी जगत् के सभी पदार्थों को तो क्या, पीठ पीछे रखी हुई वस्तु को भी नहीं जान पाता। कारण है–ज्ञानावरणीय कर्म द्वारा ज्ञान को आवृत करने का स्वभाव ! जैसे–आँखों के ऊपर की पट्टी ज्यों-ज्यों खुलती जाती है, त्यों-त्यों दृश्य का ज्ञान उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है; वैसे ही ज्यों-ज्यों ज्ञानावरण कर्म हटता जाता है, त्यों-त्यों व्यक्ति का ज्ञान बढ़ता जाता है। एक दिन ज्ञान पर आया हुआ सम्पूर्ण आवरण हट जाता है, तब उस व्यक्ति को सारे विश्व का त्रैकालिक ज्ञान हो जाता है।[2]

ज्ञानावरणीय कर्म : कुछ शंका-समाधान

ज्ञानावरणीय कर्म के बदले 'ज्ञान-विनाशक' नाम न देने का कारण यह है कि आत्मा का मूल गुण ज्ञान है। उसका कभी विनाश नहीं होता। ज्ञान पर कितना ही आवरण आ जाए, फिर भी अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है। इससे सिद्ध है कि समस्त जीवों में ज्ञान का अस्तित्व रहता है। आवृत ज्ञान और अनावृत ज्ञान भी एक ही है; जैसे–सूर्य और चन्द्र मेघ और राहु द्वारा ढके जाने

---

१. (क) आत्मतत्वविचार से पृ. ३१०
(ख) विराधयन्ति ये ज्ञानं, मनसा ते भवान्तरे ।
स्युः शून्यमनसोमर्त्या, विवेक-परिवर्जिताः ॥
विराधयन्ति ये ज्ञानं वचसाऽपि दुर्धियः ।
मूकत्व-मुखरोगित्व-दोषास्तेषामसंशयम् ॥
विराधयन्ति ये ज्ञानं कायेनायत्नवर्तिनो ।
दुष्ट-कुष्ठादि-रोगाः स्युस्तेषां देहे निगद्यते ॥
मनोवाक्काययोगैर्ये, ज्ञानस्याशातनां तदा ।
कुर्वते मूढमतयः, कारयन्ति परानपि ॥
तेषां पर भवे पुत्र-कलत्र-सुहृदां क्षयः ।
धन-धान्य-विनाशश्च तथाऽऽधि-व्याधि-सम्भवः ॥ –आत्मतत्व विचार पृ. ३११

२. रे कर्म तेरी गति न्यारी से, पृ. ६४

पर भी उनके आवृत-अनावृत भागों में एकरूपता होती है। आवृत ज्ञान में भी उतना ज्ञान तो आत्मा में है ही, सिर्फ वह प्रगट नहीं है।[1]

ज्ञानावरणीय कर्म के स्वभाव का निर्णय

ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव ज्ञान को आवृत करना है, इसका प्रभाव बहुत बार हम प्रत्यक्ष देखते हैं। कई विद्यार्थी किसी के विद्याभ्यास करने तथा ज्ञानोपार्जन करने में, स्वाध्याय करने में अन्तराय डाला करते हैं, पास में ही कोई सामायिक लेकर बैठा हो या जप अथवा ध्यान कर रहा हो, स्वाध्याय कर रहा हो, वहाँ जोर-जोर से बातें करते हैं, चीखते-चिल्लाते हैं, या ऊँची आवाज में टी. वी. या रेडियो चालू कर देते हैं। इससे ज्ञानावरणीय कर्म का तुरंत बन्ध हो जाता है, जिसका फल उन्हें देर-सबेर से मिलता है। कई विद्यार्थियों की ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण स्मरणशक्ति लुप्त हो जाती है। कई साधकों के पूर्वजन्म में बाँधे हुए ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आ जाने पर सहसा स्मृति लुप्त हो जाती है।

ज्ञानावरण का प्रभाव : मुनिश्री समर्थमलजी म. पर

इस सम्बन्ध में एक ताजा उदाहरण लीजिए। स्थानकवासी सम्प्रदाय में पं. समर्थमलजी महाराज बहुश्रुत एवं शास्त्रज्ञ माने जाते थे। वे शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन प्रायः करते रहते थे। उनकी स्मरणशक्ति एवं प्रतिभाशक्ति भी तीव्र थी। एक बार जब वे गुजरात में विचरण कर रहे थे, उस समय शास्त्र की वाचना देते-देते एकाएक उनकी स्मृति लुप्त हो गयी। मस्तिष्क पर बहुत जोर डालने पर भी उन्हें कुछ भी याद नहीं आ रहा था। यहाँ तक कि वे अपने शिष्यों तथा श्रावकों के नाम तथा अपने विचरण करने के क्षेत्र आदि भी सर्वथा विस्मृत हो गए थे। यह स्थिति पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण हुई थी। बाद में कुछ औषधोपचार के अनन्तर उनकी स्मृति वापस लौटी। परन्तु पहले जैसी तीव्र स्मरणशक्ति नहीं हो पाई।

माष-तुष मुनि का उदाहरण : ज्ञानावरणीय का प्रभाव

जैनजगत् में माष-तुष मुनि का उदाहरण प्रसिद्ध है। उन्हें गुरुदेव ने एक गाथा याद करने के लिए दी, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी वे उसे याद करने में बिलकुल असफल रहे। तब उनके गुरुदेव ने कहा—अच्छा लो, सिर्फ इस वाक्य को कण्ठस्थ कर लो—"मारुष, मातुष।" (अर्थात्—किसी पर रोष-द्वेष मत करो, न किसी पर तोष-राग करो।) परन्तु उनके पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय के कारण इतना-सा वाक्य भी वे भूल जाते। दूसरे साधु याद दिलाते, फिर भी भूल जाते और याद आता तो 'मास-तुस' रटते थे। गुरु पर अपार श्रद्धा थी, उनकी मंदबुद्धि पर

१. जैन-सिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्रजी जैन) से, भावांश ग्रहण, पृ. ९९

लोग हँसते, तो भी वे समभाव-पूर्वक सहते थे। शुद्ध भाव से अशुद्ध रूप में भी गुरु-प्रदत्त वाक्य को उन्होंने बारह वर्ष तक रटा। वे श्रद्धापूर्वक उद्वेग एवं क्षोभ से रहित होकर रटते रहते। अतः ज्ञानावरण कर्म कटने लगा और बारहवें साल में उन्हें माष–उड़द और तुस–छिलके के पृथकत्व की तरह शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान सिद्ध हो गया। फलतः केवलज्ञान प्रगट हो गया। यह था ज्ञानावरणीय कर्म के स्वभाव का प्रत्यक्ष प्रभाव और उससे सर्वथा मुक्त होने का प्रभाव।[1]

दर्शनावरणीय कर्म का लक्षण और कारण

दर्शनावरणीय कर्म–जो आत्मा के दर्शन-गुण, अर्थात्–वस्तु के सामान्य बोध को आवृत करता है, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। इस कर्म का जितने परिमाण में क्षयोपशम होता है, उतने ही परिमाण में आत्मा वस्तु का सामान्य बोध कर सकती है, उससे अधिक नहीं। जब आत्मा इस कर्म का पूर्णतया क्षय कर देती है, तब केवलदर्शन की प्राप्ति होती है।

जिन पूर्वोक्त ६ कारणों तथा अन्य आगमोक्त कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है उन्हीं ६ कारणों तथा आगमोक्त कारणों से दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रति प्रद्वेषादि से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है, वहाँ दर्शन, दर्शनी और दर्शन के पंचेन्द्रिय आदि साधनों से प्रद्वेष दुरुपयोग आदि से दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध समझना चाहिए। 'कुछ है' ऐसा सामान्य ज्ञान दर्शन है और 'यह वृक्ष या मनुष्य है,' ऐसा विशेष ज्ञान, ज्ञान है। आत्मा के अनन्तदर्शन नामक गुण को रोकने वाला दर्शनावरणीय कर्म है।

एक कर्म विज्ञान-मनीषी ने दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा–बहरे, गूँगे, अंधे, लूले-लंगड़े आदि अंगविकल व्यक्तियों को देखकर उनका तिरस्कार करने, उन्हें धक्का देकर निकालने, उन्हें यथाशक्ति सहायता न करने, उनका उपहास करने, उनके प्रति दयाभाव न रखने तथा मिले हुए नेत्र, कान, नाक, जीभ तथा स्पर्शेन्द्रिय आदि इन्द्रियों का सदुपयोग न करके दुरुपयोग करना भी दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण हैं। इसके फलस्वरूप जो कार्मिक स्कन्ध जीवात्मा के चिपकता है, उसका स्वभाव होता है–जीव को बहरा, अन्धा, गूँगा आदि बना देना; घोर निद्रा, आलस्य आदि दुष्फल प्राप्त कराना।

ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के विपाक के प्रकार

नव-पदार्थज्ञानसार में ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के विपाक के दस प्रकार बताये हैं–(१) सुनने की शक्ति का अभाव, (२) सुनने से प्राप्त होने वाले

---

१. रे कर्म तेरी गति न्यारी ! से भावांश ग्रहण, पृ. ६४-६५

ज्ञान की अनुपलब्धि, (३) दृष्टिशक्ति का अभाव, (४) दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, (५) गन्ध ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, (६) गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, (७) स्वाद-ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, (८) स्वाद-सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, (९) स्पर्श-सम्बन्धी क्षमता का अभाव, और (१०) स्पर्श-सम्बन्धी ज्ञान की उपलब्धि का अभाव।

कर्मग्रन्थ में प्रतिपादित दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के हेतु

कर्मग्रन्थ प्रथम भाग में दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–(१) सम्यक्दृष्टि की निन्दा करना, दोषदर्शन करना तथा उसके प्रति अकृतज्ञ होना, (२) मिथ्या मान्यताओं तथा मिथ्यात्व-पोषक तत्वों का प्रतिपादन करना, (३) शुद्ध सम्यग्दृष्टि की उपलब्धि में बाधा डालना, विपरीत मत के चक्कर में डालना, (४) सम्यग्दृष्टि की समुचित विनय एवं बहुमान नहीं करना, (५) सम्यग्दृष्टि पर द्वेष रखना, वैर-विरोध व ईर्ष्या करना, (६) सम्यग्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह पूर्वक वाद-विवाद करना। ये और इस प्रकार के कारण दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण हैं, जिनसे दर्शन-शक्ति कुण्ठित होती है।[1]

वेदनीय कर्म का लक्षण और बन्ध के कारण

वेदनीय कर्म–जो कर्म (उदय के समय) आत्मा को सुख-दुःख का वेदन कराए, अनुभव कराए, वह वेदनीय कर्म कहलाता है। आत्मा का स्वभाव अव्याबाध सुखमय, आनन्दघन है, परन्तु इस कर्मबन्ध के कारण जिन्हें व्यवहारदृष्टि से काल्पनिक सुख-दुःख माना जाता है, उनका अनुभव कराता है। माने हुए पौद्गलिक सुख भोगते समय मीठे लगते हैं, परन्तु परिणाम में ये जीव को रुलाते हैं, खेद पैदा करते हैं, संक्लेश उत्पन्न करते हैं; और ऐसा सुख नहीं मिलता है, इस प्रकार क्षोभ, विरह का दुःख वगैरह प्राप्त होता है। आत्मा अव्याबाध सुख को छोड़ कर इस काल्पनिक स्थूल वैषयिक सुख-दुःख में रचा-पचा रहता है, इसी कर्म के कारण। इस कर्म के प्रभाव से जीवात्मा जिस भौतिक सुख को प्राप्त करता है, उसके प्रति गाढ़ राग और वह न मिले तो हृदय में धधक उठता द्वेष, अत्यधिक स्वार्थवृत्ति आदि सब वेदनीय कर्मबन्ध के फल हैं। सातावेदनीय कर्म के उदय से सुख तो मिलता है, मगर वह कृत्रिम कर्मजन्य सुख होता है, वह क्षणिक होता है। ज्यों ही पूर्वबद्ध आसातावेदनीय कर्म उदय में आता है, त्यों ही दुःख का अनुभव (फलभोग) प्रारम्भ हो जाता है। निष्कर्ष

---

१. (क) तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम-समन्वय (आ. आत्मारामजी म.) से, पृ. १४७
(ख) जैनदर्शनमां कर्मवाद (श्री चन्द्रशेखर विजयजी गणिवर) से, पृ. ४१
(ग) नवपदार्थ–ज्ञान-सार से, पृ. २३७
(घ) कर्मग्रन्थ भा. १ गा. ५४
(ङ) तत्त्वार्थ सूत्र ६/११

यह है कि वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा में भौतिक एवं अल्पस्थायी सुख-दुःख की अनुभूति रूप विकृति पैदा होती है।

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय।

असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार असातावेदनीय कर्मबन्ध के ६ कारण हैं-(१) दुःख—आकुलता-व्याकुलता, भय या पीड़ा का अनुभव होना, (२) शोक—इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग और अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग होने पर चिन्ता, क्षोभ, व्यग्रता होना। तथा वह कैसे दूर हो ? इस प्रकार का भाव शोक है। (३) ताप—निन्दा, अपमान आदि से मन में संताप होना। (४) आक्रन्दन—दुःख, भीति, विपत्ति या विपरीत परिस्थिति से प्रताड़ित, पीड़ित या परितप्त होकर रोना, चिल्लाना, विलाप करना, आंसू बहाना, उच्च स्वर से रोना, छाती-माथा कूटना। (५) वध—अन्य जीवों के इन्द्रिय आदि दस प्राणों में से किसी भी प्राण को पीड़ित करना, ताड़ना, तर्जना, डांटना-फटकारना, मारा-पीटना, कटु वचन बोलना इत्यादि प्रकार से संताप देना वध है। (६) परिदेवन—ऐसा दीनताभरा विलाप करना कि सुनने वाले के मन में दया उत्पन्न हो जाए, गिड़गिड़ाना, दीनता प्रदर्शित करना, अपनी हीनता आंसू बहाकर प्रगट करना आदि परिदेवन है। इन ६ कारणों से असातावेदनीय कर्मबन्ध होता है। इन ६ क्रियाओं की मन्दता-तीव्रता के आधार पर इनके १२ प्रकार हो जाते हैं।[1]

भगवतीसूत्र में असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—"दूसरों को दुःख देने से, दूसरों को शोक उत्पन्न कराने से, दूसरों को झुराने से, दूसरों को रुदन कराने से, दूसरों को मारने-पीटने और सताने से तथा दूसरों को संताप देने से, एवं बहुत-से प्राणियों और जीवों को दुःख देने तथा शोक उत्पन्न कराने से यावत् परिताप देने से जीव असातावेदनीय कर्मों का बन्ध (आस्रव-हेतु) करते हैं।"[2]

असातावेदनीय कर्मबन्ध के ये ही ६ कारण 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से १२ प्रकार के हो जाते हैं। 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण यहाँ अधिक संगत प्रतीत होता है।

कर्मग्रन्थ में उक्त असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण

कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय कर्मबन्ध के कारणों से विपरीत असातावेदनीय कर्मबन्ध के ८ कारण बताए गये हैं—(१) गुरुजनों की अभक्ति—माता, पिता, अध्यापक,

---

१. (क) दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/११
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, (पं. सुखलालजी) से, पृ. १५९
(ग) तत्त्वार्थ विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. २७३

२. परदुक्खणयाए परसोयणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परियावणयाए बहूणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति। —भगवतीसूत्र श. ७, उ. ६, सू. २८६

कलाचार्य, शिक्षक, धर्माचार्य या धर्मगुरु आदि के प्रति अविनय, अभक्ति आदि करना, (२) अक्षमा–क्षमाशीलता न होना, जरा-जरा-सी बात पर क्रोध, रोष, आवेश, कलह आदि करना, क्षमा न करना, (३) क्रूरता–मन में क्रूरता करना, दीन-दुःखी, पीड़ित को देखकर भी दया, करुणा एवं अनुकम्पा न लाना, (४) अव्रत–अविरति–व्रत, प्रत्याख्यान या त्याग न करना, (५) अयोग-प्रवृत्ति–संयम-योग में प्रवृत न होना, शुभयोग मे प्रवृत न होना, (६) कषाय युक्त होना–क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों की मन्दता न होना, तीव्रता ही अधिक-अधिकतर होते जाना, (७) दानवृत्ति का अभाव–कृपणता, और (८) धर्म पर दृढ़ता न रखना, बात-बात में धर्म से डिग (फिसल) जाना।[1]

जीवन में अशान्ति का कारण–असातावेदनीय बन्ध

आज अधिकांश मनुष्यों के जीवन में अशान्ति, असाता तथा मानसिक चिन्ता अधिक मालूम होती है। गहराई से उसका कारण सोचें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि या तो गुरुजनों के प्रति विनय, भक्ति एवं श्रद्धा का अभाव है, क्षमा को तो प्रायः ताक में रख दिया है, हृदय में दया, करुणा सूख गई है, स्वार्थान्धता का बोलबाला है। व्रत संयम, नियम और कषायविजय में तो बहुत ही पीछे हैं। व्रत-नियम का तो नाम ही सुहाता नहीं है। निःस्वार्थ भाव से दान भी करने की रुचि नहीं होती। थोड़ा-सा देकर बदले में नामना-कामना एवं कीर्ति तथा प्रतिष्ठा की आशा लगी रहती है। धर्म पर दृढ़ता नहीं रहती। अन्याय-अनीति से या अनैतिक मार्गों से धन कमाने के लिए जितनी दौड़-धूप की जाती है, उसका शतांश पुरुषार्थ भी धर्माचरण, आत्मशान्ति, आत्मविकास एवं आत्मशुद्धि के लिए नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रायः असातावेदनीय का बन्ध होता है।[2]

असातावेदनीय बन्ध का विपाक आठ दुःखद संवेदनाओं के रूप में

असातावेदनीय कर्म-बन्ध के पूर्वोक्त कारणों में से किसी भी कारणभूत क्रिया के विपाक (फल) के रूप में आठ प्रकार की दुःखद-संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं–(१) कर्ण-कटु कर्कश स्वर अपने या दूसरे लोगों के सुनने को मिलते हैं, (२) स्व-पर का अमनोज्ञ या सुन्दरतारहित रूप देखने को मिलता है, (३) अमनोज्ञ गन्धों की किसी भी निमित्त से प्राप्ति होती है, (४) बेस्वाद, रूक्षा सूखा या अत्यन्त खट्टा, खारा, नीरस या बासी भोजनादि प्राप्त होता है, (५) अमनोज्ञ, कठोर, कर्कश (खुर्दरा) और दुःखद संवेदना उत्पन्न करने वाले स्पर्श की प्राप्ति होती है। (६) अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियाँ, चिन्ताएँ, तनाव, उद्विग्नता आदि होती हैं। (७) निन्दा, गाली, अपमानजक

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. १, गा. ५५
   (ख) आत्मतत्व विचार पृ. ३१५
२. आत्मतत्त्व विचार से पृ. ३१५

शब्द, अपशब्द या अप्रिय वचन सुनने को मिलते हैं, और (८) शरीर में विविध रोग, पीड़ा, अस्वस्थता, अंगभंग, अंग वैकल्य आदि दुःखद शारीरिक संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।[1]

संक्षेप में, आधि, व्याधि और उपाधि, इनमें से किसी एक, दो या तीनों से घिरे हुए जीव को जो दुःख का अनुभव (वेदन) होता है उसे असातावेदनीय कर्म का उदय समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति में दुःख का वेदन-अनुभव होता है, उसी का नाम असाता-वेदनीय कर्म है। 'जीवप्राभृत' में बताया गया है कि असाता वेदनीय कर्म के विपाक वेदन के लिए अरतिमोहनीय कर्म का उदय आवश्यक है। अरतिमोहनीय कर्म के उदय के साथ असातावेदनीय कर्म दुःख के कारणभूत इन्द्रिय-विषयों का अनुभव कराता है; दुःख के संयोगों को मिलाता है।[2]

सातावेदनीय : लक्षण, स्वभाव और बन्धकारण

जिस कर्म के उदय से आत्मा को इन्द्रिय-विषय-जन्य सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं। यह ध्यान रहे कि सातावेदनीय कर्म के द्वारा जो सुख का अनुभव होता है, वह इन्द्रियविषयजन्य सुख का होता है। आत्मा को जो स्वरूप के सुख की अनुभूति होती है, वह किसी कर्म के उदय से नहीं होती। वैषयिक सुख दुःख-मिश्रित या दुःख-बीज होता है, उसमें अनाकुलता नहीं होती। उसका अनुभव क्षणिक, परिणाम कटुक और वह संसारवृद्धि का हेतु होता है।

सातावेदनीय कर्म का स्वभाव मधुलिप्त तलवार की धार में लगे शहद को चाटने से समान है। शहद चाटने का सुख क्षणिक है; उसमें जीभ कटने का दुःख छिपा हुआ है।[3]

ये सातावेदनीय के कर्म से प्राप्त होते हैं

स्वस्थ शरीर, साधन-सुविधाओं की अनुकूलता; चिन्ता, तनाव, भय, विपत्ति आदि का कोई कारण न हो तथा कुटुम्ब आपने अनुकूल हो, ऐसे अनुकूल संयोगों के कारण इन्द्रिय-विषय-जन्य सुखानुभव सातावेदनीय कर्म के उदय से होता है।[4]

---

१. जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से उद्धृत, पृ. ३७०

२. (क) आत्मतत्व-विचार से, पृ. ३१४
   (ख) कर्म-प्रकृति (आचार्य जयन्तसेन विजयजी म.) से, पृ. १७
   (ग) रतिमोहनीयोदय-बलेन जीवस्य सुख-कारणेन्द्रिय-विषयानुभवनं व्यापारयति तत् साता अरतिमोहनीयोदयबलेन तु..... असातावेदनीयम् । —जीव-प्राभृत २५/१७/८

३. कर्मविपाक (प्रथम कर्मग्रन्थ गुरुधर केसरीजी) से, पृ. ६६

४. आत्मतत्वविचार से, पृ. ३१६

सातावेदनीय कर्मबन्ध के ६ प्रमुख कारण

सातावेदनीय कर्मबन्ध के तत्त्वार्थ सूत्र में ६ प्रमुख कारण बताये गये हैं–(१) भूतानुकम्पा–चारों गतियों के सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा, दया, करुणा रखना, अर्थात् दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानना अनुकम्पा है। (२) व्रती-अनुकम्पा–जिन व्यक्तियों ने व्रत, नियम, त्याग आदि ग्रहण कर लिये हैं, उनके प्रति दयाभाव–सहानुभूति रखना। यहाँ दयाभाव का फलितार्थ है–जो सर्वविरत साधुवर्ग है, तथा देशविरत श्रावकवर्ग है, उन्हें सहयोग देना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उन पर पूज्य भाव या श्रद्धाभाव रखकर उन्हें कल्पनीय-एषणीय आहार-पानी आदि से साता पहुँचाना; ताकि वे अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप-संयम में वृद्धि–उन्नति कर सकें, आत्म साधना में दृढ़ रह सकें। (३) दान–आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान देना, वह भी निष्काम भाव से, विनम्रतापूर्वक दान है। संक्षेप में, अपनी वस्तु दूसरों (जरूरतमंदों, अभाव-पीड़ितों, दीन-दुखियों अथवा सुपात्रों) को नम्रभाव से अर्पित करना दान है। (४) सराग-संयमादि योग–इसके अन्तर्गत चार बातें समाविष्ट हैं–(१) सराग-संयम (साधु वर्ग का वह संयम, जिसके साथ रागभाव मिश्रित हो), (२) संयमासंयम (गृहस्थवर्ग का धर्म, जिसमें संयम और असंयम का मिला-जुला रूप हो), (३) अकामनिर्जरा–(वह निर्जरा जिसमें परवशता से, अनिच्छा से, भयादि प्रेरित होकर तप, त्याग या कष्ट सहन किया जाए), (४) बालतप–(तत्त्वज्ञान से रहित, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि से प्रेरित कायाकष्ट आदि तप) इन चारों का मन-वचन-काया के योग से सम्पृक्त होना। (५) क्षान्ति–अर्थात् –क्षमा, सहिष्णुता, या सहनशीलता (क्रोधादि कषाय पर विजय प्राप्त करना। कषाय की उपशान्ति से वास्तविक क्षमा हो सकती है। (६) शौच का अर्थ है–पवित्रता। यहाँ आभ्यन्तर शौच अभीष्ट है। शौच तभी चरितार्थ होता है, जब आन्तरिक पवित्रता हो, निर्लोभ वृत्ति हो।[1]

कर्मग्रन्थानुसार आठ कारण

कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय कर्मबन्ध के ८ कारण बताये गए हैं–(१) गुरुजनों की भक्ति, (२) क्षमा, (३) करुणावृत्ति, (४) व्रत-पालन की भावना, (५) संयम-योग का पालन या योग-साधना (त्रिविध योगों की सत्कृत्यों में प्रवृत्ति), (६) कषाय-विजय, (७) दान और (८) धर्म पर दृढ़ता अथवा दृढ़ श्रद्धा।[2]

भगवतीसूत्र–प्रतिपादित सातावेदनीय कर्म के कारण

भगवतीसूत्र में सातावेदनीय कर्मबन्ध के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है–"प्राणियों पर अनुकम्पा करने से, भूतों (वनस्पतिकायिक जीवों) पर अनुकम्पा

---

१. भूत-व्रत्यनुकम्पा-दानं सराग संयमादि योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।
–तत्त्वार्थसूत्र, ग्रैवेयक (उपाध्याय केवलमुनि) से ६/१३ पृ. २७५

२. गुरुभत्ति-खंति-करुणा-वय-जोग-कसायविजय-दाणजुओ।
दढधम्माइ अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ॥ –कर्मग्रन्थ भा. १, गा. ५५

करने से, जीवों पर अनुकम्पा करने से, सत्त्वों पर अनुकम्पा[1] करने से, बहुत से प्राण, भूत, जीव और सत्वों को दुःख न देने से, उन्हें शोक न कराने से, न झुराने से, न रुलाने से, न मारने-पीटने से, और न परिताप देने से जीव सातावेदनीय कर्मबन्ध करते हैं।"[2]

सातावेदनीय के प्रभाव से आठ प्रकार की सुखद संवेदना

सातावेदनीय के प्रभाव (उदय) से प्राणी निम्नोक्त सुखद-संवेदना प्राप्त करता है– (१) कर्णप्रिय, मनोज्ञ, सुखद स्वर श्रवण करने की उपलब्धि, (२) मनोज्ञ सुखद सुन्दर रूप दर्शन की प्राप्ति, (३) सुखद मनोज्ञ सुगन्ध की प्राप्ति, (४) सुस्वादु भोजनादि की उपलब्धि, (५) मनोज्ञ कोमल सुखद स्पर्श एवं मृदु स्पर्श वाले पदार्थों की उपलब्धि, (६) वांछित सुखों की प्राप्ति, (७) शुभवचन, प्रशंसादि श्रवण के अवसर की प्राप्ति, (८) शारीरिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति।[3]

कर्मग्रन्थवर्णित कारणों का उदाहरणसहित प्रस्तुतीकरण

कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय कर्मबन्ध के जिन कारणों का उल्लेख किया है, उनमें सर्वप्रथम कारण है–(१) गुरुभक्ति–धर्मगुरुओं, अथवा गुरुजनों आदि की भक्ति। गुरुभक्ति से मतलब है–गुरुजनों के प्रति सम्मान-बहुमान आदि। जैसे–गणधर गौतम स्वामी ने अपने परम गुरु भगवान महावीर देव के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखी थी। (२) दूसरा कारण क्षमा है। कोई व्यक्ति आक्रोश करे, पत्थर, लाठी आदि से मारे, गाली दे, अपमान करे, तो भी क्षमा रखने से, समभावपूर्वक सहन करने से सातावेदनीय कर्मबन्ध होता है। भगवान् महावीर के कान में कील ठोकी गई, चण्डकौशिक सर्प ने पैरों में डसा, चिलातीपुत्र एवं दृढ़प्रहारी जब समता-साधना के पथ पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो गए तो नगरजनों ने कायोत्सर्गस्थ मुनियों को बहुत ही यातनाएँ दीं, झांझरिया मुनिवर का गला राजा ने कटवा दिया, तब भी वे क्षमाशील रहे। (३) तीसरा कारण दया है। मेघकुमार मुनि के जीव ने हाथी के भव में २० पहर तक पैर को ऊँचा रखकर एक खरगोश की दया की। सातावेदनीय कर्म बांधा, जिसके फलस्वरूप आगामी भव में श्रेणिकनृप का पुत्र मेघकुमार हुआ। (४) चौथा कारण व्रतपालन है। महाबल राजा ने महाव्रतों का सुचारु रूप से पालन किया, जिसके

---

१. प्राण–तीन विकलेन्द्रिय जीव, भूत–वनस्पतिकायिक जीव, जीव–पंचेन्द्रिय जीव, सत्त्व–वनस्पति को छोड़कर शेष स्थावर जीव।

२. पाणाणुकंपाए, भूयाणुकंपाए, जीवाणुकंपाए, सत्ताणुकंपाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए, असोयणाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए, अपरियावणयाए, एवं खलु गोयमा ! जीवा णं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जति। —भगवतीसूत्र ७/३, सू. २८६

३. (क) नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ. २३७
(ख) जैन बौद्ध गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. २६९

फलस्वरूप वह सातावेदनीय कर्म बांध कर देवलोक में ग...। (५) पांचवाँ कारण–शुभयोग है। प्रतिलेखनादि में शुभयोगों से सातावेदनीय का बन्ध होता है। जैसे–वल्कलचीरी को प्रतिलेखन शुभयोगपूर्वक करने से जातिस्मरण ज्ञान हुआ, सातावेदनीय का बन्ध हुआ और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान भी प्राप्त हुआ। (६) छठा कारण है–क्रोधादि कषायों पर विजय पाना–क्रोध आदि आन्तरिक शत्रु हैं। उन पर विजय पाने से अवन्ति सुकुमाल की तरह जीव सातावेदनीय का बन्ध करता है। (७) सातवाँ कारण–दान है। दान से मनुष्य की वृत्तियाँ कोमल, कृपालु, नम्र, निरभिमानी होती हैं। शालिभद्र के जीव संगम ने मुनि को निर्दोष आहारदान देकर सातावेदनीय कर्म बाँधा, जिसके फलस्वरूप उसे शालिभद्र के रूप में सुख सुविधाएँ मिलीं तथा उन्हीं सांसारिक सुखों में लुब्ध न होकर वे मोक्ष सुख की आराधना में तल्लीन हो गए। (८) आठवाँ कारण है–धर्म में दृढ़ता–जिसकी धर्म पर दृढ़ आस्था, निष्ठा एवं तल्लीनता होती है, वह सातावेदनीय कर्म बाँधता है। राजगृह के सुदर्शन श्रमणोपासक की धर्म पर दृढ़ आस्था थी। इस कारण अर्जुनमाली के घोर उपसर्ग के रहते भी सुदर्शन धर्म-श्रद्धा से जरा भी विचलित नहीं हुआ। फलतः उसने असातावेदनीय के प्रसंग पर सातावेदनीय बाँधा। (९) नौवां कारण है–अकामनिर्जरा। अकामनिर्जरा का अर्थ है–अनिच्छा से भी क्षमभावपूर्वक कष्ट सहन करना। ऐसा करने से भी सातावेदनीय कर्म बंधता है। धन्ना बैल ने चाबुक की मार सहन की। जिसके फलस्वरूप मरकर शूलपाणि यक्ष बना। देवयोनि पाकर कई प्रकार के सुख प्राप्त किये। (१०) दसवाँ कारण बताया गया है–माता-पिता के प्रति विनय (नमस्कार आदि) करना। संतान के प्रति माता-पिता के असीम उपकार हैं, उनके प्रति विनय करने से, उनकी सेवा-शुश्रूषा करने से, उनके धर्म में अबाधक आज्ञाओं का पालन करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

सातावेदनीय के हेतुओं से ठीक विपरीत असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण हैं। जैसे–गुरुजनों का तिरस्कार, द्वेष, क्रोधादि कषाय, व्रत का खण्डन, अशुभ योग, कषायों की परवशता, कृपणता, माता-पिता का अविनय आदि।[1]

वस्तुतः वेदनीय कर्म के दो कार्य हैं–विषय भोगों का संयोग वियोग कराना, तथा उस संयोग-वियोग के निमित्त से दुःख-सुख की प्रतीति या वेदन कराना। बहुधा वेदन वाला कार्य मोह के साथ रहने पर होता है।[2]

वेदनीय कर्म प्रभाव से जीव को कभी सुख तथा कभी दुःख की अनुभूति

दूसरी बात यह है कि वेदनीय कर्म के प्रभाव से ही जीव को कभी सुख की, कभी दुःख की और कभी दोनों की उपलब्धि होती है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का

१. रे कर्म तेरी गति न्यारी से, पृ. ११२ से ११६ तक
२. कर्म सिद्धान्त (वर्णीजी) से, पृ. ५८

आरोह-अवरोह, आशा-निराशा, इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग आदि का क्रम चलता रहता है; उसे भी वेदनीय कर्म का प्रभाव समझना चाहिए।

वेदनीय-कर्मोदय से चारों गतियों के जीवन सुख-दुःख मिश्रित

निष्कर्ष यह है कि संसारी जीव वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रियविषयजन्य सुख-दुःख का अनुभव करते रहते हैं। वे न तो एकान्तरूप से सुख ही सुख का वेदन करते हैं और न ही एकान्ततः दुःख ही दुःख का। उनका जीवन सुख-दुःख से मिश्रित होता है। फिर भी देवगति और मनुष्यगति में प्रायः सातावेदनीय का और तिर्यञ्चगति और नरकगति में प्रायः असातावेदनीय का उदय रहता है। प्रायः शब्द से यह सूचित किया गया है कि देवों और मनुष्यों के सातावेदनीय के अलावा असातावेदनीय का और तिर्यञ्चों और नारकों के असातावेदनीय के अलावा सातावेदनीय का उदय भी सम्भव है; फिर चाहे वह अल्पांश में ही हो।[1]

वेदनीय कर्मबन्ध : एक ज्वलन्त प्रश्न और समाधान

वेदनीय कर्मबन्ध के सम्बन्ध में एक ज्वलन्त प्रश्न यह है कि यदि दुःख आदि के पूर्वोक्त निमित्त अपने या दूसरे में उत्पन्न करने से असातावेदनीय कर्म बन्ध के हेतु होते हैं तो फिर उपवास, लोच, रस-परित्याग, व्रत-नियम पालन आदि संयम नियम भी दुःखद होने से क्या असातावेदनीय के बन्ध हेतु होंगे ?

इसका समाधान यह है कि ये और ऐसे ही दुःख के निमित्त जब क्रोधादि आवेश से उत्पन्न होते हैं या किये जाते हैं, तब वे असातावेदनीय बन्ध के हेतु होते हैं, किन्तु सामान्य रूप से दुःखद होने से तथा स्वेच्छा से समभावपूर्वक धर्म पालन के लिए सकाम-निर्जरा के हेतु से कष्ट सहने से या तथाविध संयम की प्रेरणा देने से वे असातावेदनीय कर्म बन्ध के हेतु नहीं होते। सच्चा त्यागी आतापना, उपवास आदि कठोर व्रतों का क्रोध या वैसे ही अन्य दुर्भावों से नहीं, बल्कि सद्वृत्ति और सद्बुद्धि से प्रेरित होकर चाहे जितना दुःख उठाता है, कष्ट सहता है, परन्तु वह उसके असातावेदनीय कर्मबन्ध का नहीं, कर्मक्षय का हेतु बनता है। सच्चे त्यागी को चाहे जैसे दुःखद प्रसंगों पर क्रोध, संताप आदि कषाय की मन्दता होने से असातावेदनीय कर्मबन्ध का हेतु नहीं बनता। बल्कि बहुधा ऐसे त्यागियों को कठोरतम व्रत-नियमों आदि का पालन करने में हार्दिक प्रसन्नता महसूस होती है, क्योंकि ऐसे दुःखद प्रसंगों को वे सुखरूप मानते हैं। मानसिक रुचि भी उन्हें ऐसे दुःखद प्रसंगों में दुःख की अनुभूति नहीं होने देती। जैसे-कोई दयालु चिकित्सक चीर-फाड़ के द्वारा किसी रोगी को दुःख देने का निमित्त बनने पर भी करुणावृत्ति से प्रेरित होने से असातावेदनीय

(क) कर्मप्रकृति (आचार्य जयन्तसेन विजयजी म.) से भावांशग्रहण, पृ. १७-१८

(ख) ओसन्नं सुर मणुए सायमसायं तु तिरिय-णरएसु ॥ —कर्मग्रन्थ भा. १, गा. १३

रूप अशुभ कर्मबन्ध का भागी नहीं होता, वैसे ही सांसारिक दुःख या कर्मजन्यदुःख दूर करने के उपायों को प्रसन्नतापूर्वक करता हुआ त्यागनिष्ठ साधक भी सद्वृत्ति तथा शुभ अध्यवसाय के कारण असातावेदनीय का बन्ध नहीं करता।[1]

मोहनीय कर्म : लक्षण, स्वभाव और बन्ध कारण

जिस प्रकार मदिरा आदि नशीली वस्तुओं के सेवन से विवेकशक्ति तथा सोचने-विचारने की बुद्धि कुण्ठित एवं अवरुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार जिन कर्म-पुद्गल-परमाणुओं से आत्मा की विवेकशक्ति, विचार-आचार की कार्यक्षमता कुण्ठित, मन्द और अवरुद्ध हो जाती है, और अकृत्य-दुष्कृत्य में प्रवृत्ति होती है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

'सर्वार्थसिद्धि' में मोहनीय कर्म का निर्वचन करते हुए कहा गया है–'जो मोहित करता है, या जिसके द्वारा मोहा जाता है, वह मोहनीय कर्म है।'

प्रश्न होता है इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो जीव भी मोहनीय सिद्ध होता है। इसका समाधान यों समझना चाहिए कि जीव से अभिन्न और कर्म-संज्ञा वाले पुद्गल द्रव्य में उपचार से कर्तृत्व का आरोप करके मोहनीय कर्म की इस प्रकार की व्युत्पत्ति की गई है।

'जो मोहित करे, वह मोहनीय कर्म है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार धतूरा, मदिरा, सुन्दरी, भार्या आदि को भी मोहनीय-संज्ञा प्राप्त हो जाती है; इसका समाधान यह है, यहाँ प्रसंगानुसार तथा विवक्षानुसार मोहनीय नामक द्रव्यकर्म का विवेचन हो रहा है, इसलिए धतूरा आदि को मोहनीय कहना ठीक नहीं।[2]

मोहनीय कर्म : सभी कर्मों से प्रबल

वस्तुतः जो कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करता है, वह मोहनीय कर्म है। आठ कर्मों में यह सर्वाधिक शक्तिशाली है। सात कर्म यदि प्रजा हैं तो मोहनीय कर्म राजा है। इसके प्रभाव से वीतरागता प्रकट नहीं हो पाती। प्राणियों के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित करता है–मोहनीय कर्म। दूसरे कर्म जीव की एक-एक शक्ति को आवृत करते हैं, जबकि मोहनीय कर्म अनेक प्रकार की शक्तियों को आवृत ही नहीं; विकृत, मूर्च्छित और कुण्ठित भी कर देता है। ज्ञानावरण के कारण जीव सम्यक् रूप से नहीं जान पाता, दर्शनावरण के कारण यथार्थ नहीं देख पाता, और अन्तरायकर्म

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन (पं. सुखलालजी) से, पृ. १४।

२. (क) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से भावांश ग्रहण, पृ. ३७
(ख) मोहयति मोह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्। –सर्वार्थसिद्धि ८/४/२६०
(ग) धवला १/९, १/८/११/५
(घ) जैन सिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १८१

के कारण विविध शक्तियों का उपयोग नहीं कर पाता; जबकि मोहनीय कर्म के कारण जानते-देखते हुए भी तथा अपनी शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग कर सकने योग्य होते हुए भी परभावों और विभावों में इतना फँस जाता है कि वह उनका यथार्थ आचरण नहीं कर पाता क्योंकि मोहनीय कर्म दृष्टि में भी विकार उत्पन्न करता है और आचरण में भी। यह आत्मा के शुद्ध स्वभाव–वास्तविक स्वरूप–वीतराग-स्वरूप को विकृत कर देता है, जिससे आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान भाव–(ज्ञाता-द्रष्टाभाव) को भूलकर राग-द्वेष में फँस जाता है, इसी कर्म के कारण आत्मा को अपने स्वरूपरमण में, स्व-पर-विवेक में, आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान में बाधा समुपस्थित होती है।[1]

सर्वकर्मों में मोहकर्म की प्रधानता

इसीलिए मोहनीय कर्म को आत्मा का 'अरि' (शत्रु) कहा है, क्योंकि वह समस्त दुःखों की प्राप्ति में निमित्त कारण है। एक तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि केवल मोहनीय को ही अरि मान लेने पर, शेष समस्त कर्मों का व्यापार निष्फल हो जाएगा; किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि बाकी के समस्त कर्म मोहनीय के ही अधीन हैं। मोहनीय कर्म के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्यों की उत्पत्ति में व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं, जिससे कि वे स्वतंत्र समझे जाएँ। इसलिए आत्मा का सच्चा अरि मोहनीय ही है। वही केन्द्रीय कर्म है। शेष कर्म उसके अधीन हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट होने पर भी कितने ही काल तक शेष अघाती कर्मों की सत्ता रहती है, इसलिए उनको मोहकर्म के अधीन मानना उचित नहीं है; इसका समाधान यह है कि ऐसा समझना ठीक नहीं, क्योंकि मोहरूप अरि के नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण-परम्परारूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहने से उन कर्मों की सत्ता असत्ता (सत्ता न रहने) के समान हो जाती है। यही कारण है कि मोहनीय कर्म को जन्म-मरणादि दुःख-रूप संसार का मूल कहा है। मोहनीय कर्म को आगमों में सेनापति कहा है। जिस प्रकार सेनापति के चल बसने पर सेना में भगदड़ मच जाती है, वैसे ही मोहकर्म के नष्ट हो जाने पर शेष सारे घातिकर्म टूट जाते हैं, शेष रहे चार अघातिकर्म भी आयुष्यकर्म की समाप्ति होते ही समाप्त हो जाते हैं।[2]

ज्ञानावरण कर्म से मोहनीय कर्म में अन्तर

प्रश्न होता है–मोह के होने पर हिताहित का विवेक (ज्ञान) नहीं रहता और ज्ञानावरण कर्म भी ज्ञान पर आवरण कर देता है; तब फिर मोहनीय कर्म को

---

१. (क) कर्मवाद से, पृ. ६०
   (ख) धर्म और दर्शन (आचार्य देवेन्द्रमुनि) से, पृ. ७२
   (ग) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से, पृ. २०४
   (घ) अष्टकर्मनो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
२. (क) धवला १, १, १/४३
   (ख) कर्मवाद, पृ. ६०

ज्ञानावरण से अलग क्यों कहा गया ? ज्ञानावरण के अन्तर्गत ही गतार्थ कर लेना चाहिए; ऐसा कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि पदार्थ का यथार्थ बोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थ का अश्रद्धान (दर्शन) मोह है, परन्तु ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का भी ग्रहण करता है, अज्ञान का भी। वह अन्यथा ग्रहण नहीं करता, यही दोनों में अन्तर है। जैसे–अंकुर रूप कार्य के भेद से कारणभूत बीजों में भिन्नता होती है, इसी तरह अज्ञान और चारित्रभूत इन दोनों में अन्तर समझना चाहिए।[1]

मोहनीय कर्म का दोहरा कार्य : ज्ञानादि शक्तियों को विकृत और कुण्ठित करने का

फिर मोहनीय कर्म के दो रूप हैं–श्रद्धा (दर्शन) रूप और चारित्र (प्रवृत्ति) रूप। श्रद्धा अंदर में रहने वाली किसी धारणा (मान्यता) विशेष का नाम है; जिससे व्यक्ति की प्रवृत्ति (आचरण चारित्र) में अन्तर पड़ा करता है; जबकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण या अन्तराय कर्म, इन तीनों कर्मों के प्रभाव से जीव की तीनों शक्तियाँ (ज्ञान, दर्शन और वीर्य) कम हो जाती हैं, परन्तु विकृत नहीं होतीं। मोहनीय कर्म आत्मा की इन शक्तियों को रागादि भावों के कारण विकृत कर देता है; क्योंकि रागद्वेषादि भाव ही बंधन में डालने वाले तथा स्वतः विकाररूप हैं। मोहनीय कर्म ज्ञानादि को विकृत करके उनके अन्तरंग यथार्थ तत्वों (भावों) के दर्शन नहीं होने देता है, इन्हीं रागादि भावों को मूर्च्छा, मोह, अविद्या या अज्ञान कहा जाता है। रागादि की उत्पत्ति का मूल कारण श्रद्धा, धारणा अथवा दृष्टि है; क्योंकि इसी के कारण जीव पांचों इन्द्रियों और मन के विषयों (बाह्य भौतिक विषयों) को सुख-दुःख का कारण मान लेता है। जैसे–'भोगों में सुख है'; ऐसी श्रद्धा वाले मनुष्य का धर्म-सम्मुख होना अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञान, दर्शन और वीर्य की कमी से जीव को कोई विशेष बाधा नहीं होती, या हानि नहीं होती, क्योंकि जीव में इतना ज्ञान, दर्शन, वीर्य बना रहता है, जितने से वह अपना लौकिक-लोकोत्तर प्रयोजन सिद्ध कर सकता है।[2]

मोहनीय कर्म का स्वभाव : मद्यपान से तुलना

मोहनीय कर्म का स्वभाव (प्रकृति) मद्य-(पान) के समान बताया गया है। जैसे–मदिरा पान किया हुआ मनुष्य जहाँ तहाँ गिर जाता है, पड़ता है, इधर-उधर लोटता है, समझ में न आये, ऐसे-ऐसे कार्य करता है, अपने पर कंट्रोल (नियंत्रण) नहीं कर पाता है। वह अपने हिताहित का भान भूल जाता है। ठीक वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव अपने हिताहित को नहीं समझ पाता। इसमें स्व-पर को परखने की विवेकबुद्धि भी नष्ट हो जाती है।[3] 'स्थानांगसूत्र' की टीका में कहा गया है कि "जैसे

---

१. राजवार्तिक ८/४-५/५६८

२. कर्म सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से, पृ. ६०-६१

३. मोहनीयस्य का प्रकृतिः ? मद्यपानवद्धेयोपादेय-विचार-विकलता । –द्रव्यसंग्रह टीका ३३/९२/११

मद्य पीने से व्यक्ति अपने भले-बुरे का विवेक-भान खो बैठता है, तथा परवश होकर अपने अच्छे-बुरे को नहीं समझता, वैसे ही मोहनीय-कर्म के उदय से जीव मोहविमूढ़ एवं परवश होकर अपने सत्-असत् के विवेक से रहित हो जाता है।" मोहनीय कर्म आत्मा के आनन्दमय शुद्ध स्वरूप को आवृत कर देता है जिससे वह इन्द्रियों के क्षणिक वैषयिक सुखों को सुख समझता है। अभिमान, दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष और कपट आदि अनेक प्रकार के मनोविकार मोहनीय कर्म के विविध परिणाम और आविष्कार हैं। वेदनीय कर्म तो जीव के स्थूल सुख-दुःख पर असर करता है, जबकि मोहनीय कर्म सारी आंतरिक आनन्दसृष्टि को रोक देता है। मन की अनेकविध तरंगें, आवेश, अस्थिरताएँ और परिवर्तन मोहनीय के ही विपाक हैं। प्रणय-सम्बन्ध, यौनाकर्षण, परदारागमन, वेश्यागमन, बलात्कार, प्रेम-लीलाएं आदि सब मोहनीय कर्म के ही विविध नाटक हैं। जीव को संसार की ओर खींचकर रखने वाला, पौद्गलिक दशा के साथ तादात्म्य कर देने वाला और अपने आप (आत्मा) को बिलकुल विस्मृत करके परभाव को स्वभाव जैसा बना देने वाला, यही मोहनीय कर्म है।[1]

मोहनीय कर्म के दो रूप : दर्शनमोह और चारित्रमोह

मोहनीय कर्म के दो रूप हैं—श्रद्धारूप और प्रवृत्तिरूप। प्रवृत्तियाँ तो बाहर में दिखाई देती हैं, पर मूलभूत श्रद्धा अदृष्ट रहती है जिसका अनुमान प्रवृत्तियों से हो जाता है। अर्थात्—कदाचित् हिताहित परखने की दृष्टि या बुद्धि भी आ जाए, तो भी तदनुसार आचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त नहीं होती। श्रद्धा को दर्शन और प्रवृत्ति को चारित्र कहते हैं, इसीलिए मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय।[2]

मोहनीय कर्मबन्ध के सामान्यतया छह कारण

सामान्यतया मोहनीय कर्म का बन्ध छह कारणों से होता है—(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान (अहंकार), (३) तीव्र माया (कपट), (४) तीव्र लोभ, (५) अशुभाचरण और (६) विमूढ़ता (विवेकाभाव)। यों वर्गीकरण करें तो प्रथम के पाँच से चारित्रमोह का और अन्तिम से दर्शनमोह का बन्ध होता है। भगवतीसूत्र में सामान्यतया मोहनीय कर्म-शरीर का प्रयोग-बन्ध भी छह प्रकार से बताया गया है—(१) तीव्र क्रोध करने से,

---

१. (क) मज्जंव मोहणीयं —कर्मग्रन्थ भाग. १, गा. १३
   (ख) कर्मग्रन्थ भाग १ (मरुधरकेसरी) से, पृ. ६८
   (ग) जह मज्जपाणमूढो, लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
   तह मोहेणविमूढो, जीवो उ परव्वसो होइ॥ —स्थानांग टीका २/४/१०५
   (घ) कर्मप्रकृति (आ. जयंतसेनविजयजी म.) से, पृ. १९
   (ङ) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ५७
२. कर्मसिद्धान्त से, पृ. ६१

(२) तीव्र मान करने से, (३) तीव्र माया करने से, (४) तीव्र लोभ करने से, (५) तीव्र दर्शनमोहनीय से और (६) तीव्र चारित्र-मोहनीय से।[1]

महामोहनीय कर्मबन्ध के ३० कारण

समवायांगसूत्र में महामोहनीय (तीव्रतम मोहनीय) कर्म बन्ध के ३० कारण बताये गए हैं–(१) जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबा कर मारता है, (२) जो किसी त्रस जीव को मस्तक पर गीला चमड़ा बाँधकर तीव्रतर अशुभ अध्यवसाय पूर्वक मारता है, (३) जो किसी त्रस जीव को मुँह बाँध कर मारता है, (४) जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि का धुँआ देकर मारता है; (५) जो किसी त्रस जीव का मस्तक काट कर मारता है, (६) जो किसी त्रस प्राणी को छल से मार कर हँसता है, (७) जो मायाचार करके या दम्भ दिखावा करके असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है, (८) जो अपना अनाचार छिपाकर दूसरे पर कलंक लगाता है, (९) जो कलह बढ़ाने के लिये जान-बूझ कर मिश्र भाषा बोलता है, (१०) जो पति-पत्नी में मनमुटाव पैदा करता है, उन्हें मार्मिक वचन बोलकर झेंपा देता है, (११) स्त्री में अत्यासक्त होते हुए भी जो स्वयं को कुंआरा कहता है, (१२) जो कामुक व्यक्ति ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को ब्रह्मचारी या बाल-ब्रह्मचारी कहता है, (१३) जो चापलूसी करके अपने स्वामी (मालिक) को ठगता है, धोखा देता है, (१४) जिनकी कृपा से समृद्ध बना हो, उनसे ईर्ष्या करके उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है, (१५) जो अपने उपकारी की हत्या करता है, (१६) जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है, (१७) जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है, (१८) जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है, (१९) जो महान् पुरुषों की निन्दा करता है, (२०) जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है, झुठलाता है, (२१) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है, (२२) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है, (२३) जो अबहुश्रुत होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत कहता है, (२४) जो तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को तपस्वी कहता है, (२५) जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता, (२६) जो आचार्य आदि कुशास्त्र की प्रेरणा करते हैं, (२७) जो आचार्यादि अपनी प्रशंसा और प्रसिद्धि के लिए हिंसाकारी अनिष्ट मंत्र-तंत्र आदि का प्रयोग करते हैं, (२८) जो इहलौकिक पारलौकिक भोगोपभोग की प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा (निदान) करता है, (२९) जो देवी देवों की निन्दा करता या बदनाम करता है, और (३०) जो असर्वज्ञ (छद्मस्थ) होते हुए भी स्वयं को सर्वज्ञ कहता है। ये और इस प्रकार के दुष्कृत्य क्रूर अध्यवसाय या तीव्रकषायपूर्वक करने से महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है।[2]

---

१. (क) जैन, बौद्ध, गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ३७०
   (ख) भगवतीसूत्र श. ८, उ. ९, सू. ३५१
   (ग) नवपदार्थ ज्ञानसार, पृ. २३७
२. (क) समवायांग, ३०वाँ समवाय
   (ख) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ३७१

आयुष्यकर्म : लक्षण, स्वभाव और बन्धकारण

जिस कर्म के उदय से जीव देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य रूप से जीता है और उसके क्षय होने पर उन-उन रूपों (पर्यायों) का त्याग करता है, यानी मर जाता है, उस शरीर को छोड़ जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। जीवों के जीवन धारण करने की अवधि का नियामक आयुष्यकर्म है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु का आलिंगन करता है।

देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, इन चार गतियों में किस जीव को कितने काल तक अपना जीवन बिताना है, उस शरीर से बद्ध रहना है, इसका निर्णय आयुकर्म करता है। जिस-जिस गति में जाना होता है, उस-उस गति में कितने काल तक रहना, प्रत्येक भव में कितना समय बिताना, अर्थात्–आत्मा को किस शरीर में कितनी समयावधि तक रहना, इसका निश्चय पहले से हो जाता है; यही कर्म इसका निर्णय करता है।[1]

आयुकर्म का स्वभाव

आयुष्यकर्म का स्वभाव कारागृह या हड़ि (खोड़ा-बेड़ी) के समान बताया गया है। जैसे अपराधी अपराध के अनुसार अमुक काल तक कारागृह में रखा जाता है, अपराधी उस अवधि से पहले छूटना चाहता है, किन्तु अवधि पूरी हुए बिना छूट नहीं सकता, उसे निश्चित समय तक वहाँ रहना पड़ता है। वैसे ही आयुकर्म के कारण जीव को निश्चित अवधि तक नरकादि गतियों में रहना पड़ता है, जब वह बाँधी हुई आयु (कर्म-स्थिति) भोग लेता है, तभी उस-उस शरीर से छुटकारा मिलता है। आयुष्यकर्म का कार्य जीव को सुख या दुःख देना नहीं है, परन्तु नियत अवधि तक किसी एक भव या शरीर में बनाये रहने का है।[2]

सर्वार्थसिद्धि में भवधारण करना आयुकर्म की प्रकृति बताया गया है, अर्थात्–जिस कर्म के द्वारा जीव नरकादि भवों (जन्मों) में शरीर धारण हेतु जाता है, वही आयुकर्म है। जन्म का कारण भी गतिबन्ध नहीं, आयुबन्ध है। जिस गति की आयु बांधी गई है, जीव निश्चय से उसी गति में जन्म लेता है।

कर्मग्रन्थ में आयुष्कर्म का स्वभाव हड़ि (खोड़ा-बेड़ी–चेन–Chain) के समान बताया गया है। प्राणी को खोड़ा-बेड़ी में डालने पर वह वहाँ से अन्यत्र नहीं जा

---

१. (क) जैनदृष्टिए कर्म से, पृष्ठ ६७
(ख) धर्म और दर्शन से, पृ. ७७
(ग) यद्भावाभाययोर्जीवितमरणं तदायुः । –राजवार्तिक ८/१०/२
(घ) प्रज्ञापना २३/१

२. (क) धर्म और दर्शन से ७८
(ख) ठाणांग २/४/१०५ टीका

सकता। मनुष्य हो तो मनुष्यरूप में, पशु-पक्षी या मत्स्य आदि हो तो उस रूप में अपना आयुष्य काल पूर्ण करता है। वह उसे करना ही पड़ता है। वहाँ तक वह अन्यत्र जा नहीं सकता। आयुष्य में वृद्धि करना या कमी करना उसके हाथ में नहीं होता। जिस प्रकार बेड़ी कैदी की स्वतंत्रता में बाधक है, उसी प्रकार जो कर्म-परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्कर्म कहते हैं। आयुष्कर्म का स्वभाव आत्मा के अविनाशी गुण या अक्षय स्थिति को रोकने का है।[1]

आयुष्कर्म का उदय चल रहा हो, तब तक आत्मा अन्य भव में या मोक्ष तक में जा नहीं सकती। आयुष्कर्म के उदय से जन्म, मृत्यु तथा बाल्य, युवकत्व, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ या विकृतियाँ पैदा होती हैं। जीव को अमुक स्थानों में रहने की इच्छा न होने पर भी आयुष्य कर्म के बल से स्थिति (आयु) पूरी न हो, तब तक अनिच्छा से भी रहना पड़ता है। जैसे-नरक का जीव पल-पल में मौत की इच्छा करता है, परन्तु आयुष्यकर्म पूरा न हो, वहाँ तक वह मर नहीं सकता। इसी प्रकार देवलोक में या मनुष्यलोक में अपार सुख-समृद्धि के स्थानों को छोड़ने की इच्छा न होते हुए भी आयुष्यकर्म पूर्ण होने पर बरबस छोड़ना पड़ता है। कई लोग अपार वेदना से छुटकारा पाने के लिए शीघ्र मृत्यु चाहते हैं, परन्तु आयुष्य पूर्ण न हो, तब तक मौत आ नहीं सकती।[2]

नागश्री ब्राह्मणी ने महातपस्वी धर्मरुचि अनगार को कड़वे-विषाक्त तूम्बे का साग भिक्षा में दिया-अशुभ भाव से। मुनि ने दया की भावना से वह आहार पूरा का पूरा खा लिया। विष का परिणाम जो होना था, वही हुआ। मुनि तो समभाव से वेदना सहकर आयुष्य पूर्ण होते ही तेतीस सागरोपम आयु वाले सर्वार्थसिद्ध नामक देवलोक में शुभदीर्घायु वाले देव बने, जबकि नागश्री अशुभ परिणामों से मर कर बाईस सागरोपम वाली अशुभ दीर्घायुप्रयुक्त भयंकर दुःखपूर्ण छठी नरक में गई। जहाँ वह क्षण-क्षण में भयंकर वेदना से त्रस्त होकर प्रतिपल मौत चाहती थी, परन्तु पूर्ण आयुष्य भोगे बिना वहाँ उसे मौत नहीं मिल सकी।

आयुष्यकर्म समाप्त होने को आता है, तब दुनिया की कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती। बड़े बड़े मंत्र-तंत्रवादी भी यहाँ आकर फेल हो जाते हैं। इसका रहस्य नहीं समझ पाते। मनुष्य भोजन कर रहा हो, हाथ में कौर हो, आयु की समाप्ति हो गई हो तो ग्रास हाथ में ही रह जाता है। जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

फगवाड़े की एक घटना है। पति घर में आते ही पत्नी से पानी लाने को कहता है। पत्नी पानी का गिलास लेकर आती है किन्तु पानी पीने वाला पानी आने से पहले ही चल देता है। नवांशहर की घटना है। पति ने पत्नी से चाय तैयार करके लाने को

१. जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ६७
२. कर्मग्रन्थ भाग १ (गुरुधर केसरी)

कहा और स्वयं नवकारमंत्र की माला फेरने बैठा। माला हाथ में है और उसकी आत्मा शरीर छोड़कर अगले लोक के लिए प्रस्थान कर चुकी है। पत्नी चाय तैयार करके लाई तो देखती है-पतिदेव अपना आयुष्य पूर्ण कर चुके हैं। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं, मनुष्य किसी दशा में हो, समय पूरा होते ही आयुष्यकर्म उसे छोड़कर भाग जाता है।[1]

आयुष्य कर्म बन्ध के सामान्य कारण

यों तो स्थानांग सूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र आदि में देवायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु एवं नरकायु के बन्ध होने के पृथक-पृथक् कारण बताए हैं। अर्थात् किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उनका निर्देश उक्त आगमों में है, जिसका निरूपण हम अगले खण्ड में करेंगे, परन्तु सभी प्रकार के आयुष्य के बन्ध का कारण बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है-शील और व्रतों से रहित होना चारों प्रकार के आयुष्यों का सामान्य बन्ध हेतु है। व्रत का अर्थ है-अहिंसा, सत्यादि पाँच मुख्य नियम, तथा शील का अर्थ है-व्रतों की पुष्टि के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत आदि उपव्रतों का पालन, जिनसे क्रोध, लोभ, मोह आदि का त्याग हो। अतः व्रत का न होना (निर्व्रतत्व) और शील का न होना (निःशीलत्व), तीनों प्रकार के आयुष्यों (नरक-तिर्यक्-मनुष्यायु) के सामान्य बन्ध हेतु हैं।[2]

अल्पायु और दीर्घायु-बन्ध के कारण

भगवतीसूत्र में कहा गया है कि तीन कारणों से जीव अल्पायु वाले कर्म बाँधते हैं। यथा-प्राणियों की हिंसा करने से, झूठ बोलने से, तथारूप (श्रमण-माहन के अनुरूप क्षमादि धर्म वाले) श्रमण और माहन को अप्रासुक (सचित्त), अनैषणीय (अकल्पनीय) अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चतुर्विध आहार देने से। भगवती आराधना में कहा गया है जो प्राणी सदैव दूसरे जीवों का घात करके उनके प्रिय जीवन का नाश करता है, वह प्रायः अल्पायुषी होता है। इसके विपरीत तीन कारणों से जीव दीर्घायु वाले कर्म बाँधते हैं। यथा-प्राणियों की हिंसा न करने से, झूठ न बोलने से और तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक, एषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चतुर्विध आहार देने (बहराने) से। इसी शास्त्र में अशुभ दीर्घायु कर्म बाँधने के विषय में कहा गया है-"तीन कारणों से जीव अशुभ दीर्घायु फल वाले कर्म बाँधते हैं। यथा-प्राणियों की हिंसा करके, झूठ बोलकर, तथारूप श्रमण या माहन की हीलना (अवहेलना-उपेक्षा), निन्दा, लोगों के समक्ष गर्हा (बुराई करना, झिड़कना)

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भाग १ (मरुधर केसरी) पृ. ९४-९५
(ख) ज्ञान का अमृत से पृ. ३०६

२. निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम्। -तत्त्वार्थसूत्र ६/१९ (पं. सुखलाल जी का विवेचन)

द्वारा अपमान करके अमनोज्ञ अप्रीतिकर या ऐसा ही खराब अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चार प्रकार का आहार देने (बहराने) से।[1]

शुभ दीर्घायु वाले कर्म भी जीव तीन कारणों से बाँधते हैं। यथा–प्राणियों की हिंसा न करने से, झूठ न बोलने से तथा तथारूप श्रमणों और माहनों को वन्दना नमस्कार करके, आदर-सम्मान-बहुमान करके यावत् पर्युपासना व वैयावृत्य करके तथा मनोज्ञ एवं प्रीतिकारक अशन, पान, खादिम, स्वादिमरूप चतुर्विध आहार देने (बहराने से)।[2]

जीव आयुष्यकर्म कब बाँधता है ? एक धारणा

प्रश्न होता है कि जीव आयुष्यकर्म कब बाँधता है ? संसार में चार प्रकार के जीव हैं–देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च। देवों और नारकों का अगले भव का आयुष्य छह महीने की आयु शेष रहने पर ही बँध जाता है। पञ्चेन्द्रिय संज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्च की आयु निम्नोक्त रूप से बँधती है–वर्तमान भव की निश्चित आयु को तीन भागों में बाँटने पर, उनमें से दो भाग बीत जाने पर शेष रहे एक भाग में अगले भव (जन्म) की आयु बँध सकती है। यदि उस समय आयु न बँधे, या वैसे परिणाम न हों तो शेष रहे एक भाग को भी तीन हिस्सों में बाँट दीजिए। उनमें से भी दो भाग (हिस्से) बीत जाने पर शेष बचे एक हिस्से में आयु बँधती है। यों करते-करते अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त में तो आयु अवश्य बँधेगी ही।

कल्पना करो, एक व्यक्ति का वर्तमान भव का आयुष्य ९० वर्ष का है, तो ६० वर्ष व्यतीत हो जाने पर नये-आगामी भव (जन्म) का आयुष्य बँध सकता है। यदि उस समय न बँधे तो शेष तीस वर्ष के दो भाग यानी बीस साल बीत जाने पर शेष १/३ भाग यानी १० वर्ष में आयुष्य बँध सकता है। अर्थात्–पूर्ण आयु ९० वर्ष की हो तो ८० साल बीत जाने पर आयुष्य बँधता है। उस वक्त भी न बँधे तो दस वर्ष के भी दो भाग बीत जाने पर बँधता है। यों करते-करते अन्तिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर आयुष्य अवश्यमेव बँधेगा।[3]

मध्यम परिणामों में ही आयुष्य का बन्ध होता है

अति जघन्य परिणाम आयुबन्ध के अयोग्य होता है। अत्यन्त महान् परिणाम भी आयुबन्ध के अयोग्य है, क्योंकि ऐसा ही स्वभाव है; किन्तु इन दोनों के मध्य में

---

१. (क) भगवतीसूत्र श. ५, उ. ६
   (ख) भगवतीसूत्र श. ५, उ. ६
   (ग) भगवतीसूत्र श. ५, उ. ६
   (घ) भगवतीसूत्र श. ५, उ. ६
२. भगवतीसूत्र श. ५, उ. ६ से
३. (क) रे कर्म तेरी गति न्यारी से, पृ. ७७
   (ख) धवला १०/४, २४/३९

अवस्थित परिणाम परिवर्तमान मध्यम परिणाम कहलाते हैं, उनमें यथायोग्य परिणामों से आयुबन्ध होता है। अर्थात्–छहों लेश्याओं के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से १८ अंश हैं।.....उनमें से आयुकर्म के बंध योग्य आठ अंश जानने चाहिए।[1]

आयुष्कर्म के दो प्रकार : अपवर्त्य, अनपवर्त्य

यों तो प्रत्येक जीव अपने जीवनकाल में प्रतिक्षण आयुकर्म को भोग रहा है, और प्रतिक्षण आयुकर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहते हैं। जिस समय वर्तमान जीवन के पूर्वबद्ध आयुकर्म के समस्त परमाणु क्षीण होकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोड़ना पड़ता है। वर्तमान शरीर को छोड़ने से पूर्व ही भावी नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है; यह उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट प्रतीत होता है। किन्तु यदि आयुष्यकर्म की कालावधि इस प्रकार से नियत है, तो अकालमरण या आकस्मिक क्यों होता है ? इसी के समाधान के लिये जैनकर्म-वैज्ञानिकों ने दो प्रकार का आयुष्य माना है--(१) अपवर्तनीय (अपवर्त्य) और (२) अनपवर्तनीय (अनपवर्त्य)। अनपवर्तनीय आयु यह है, जो आयु किसी भी कारण से कम नहीं होती, बीच में टूटती नहीं; अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त (क्षय) होती है, जितने काल के लिये बाँधी गई है, उतने काल तक भोगी जाए, वह अनपवर्तनीय आयु है। क्रमिक भोग में आयुकर्म का भोग स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे होता रहता है।[2]

अपवर्तनीय और अवपर्तनीय आयुष्य वाले कौन-कौन ?

उपपातरूप से जन्म लेने वाले (देव और नारक) चरम शरीरी (तद्भव-मोक्षगामी), उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि) और असंख्यात वर्षजीवी (देवकुरु उत्तरकुरु) (तीस अकर्मभूमियों, छप्पन अन्तर्द्वीपों और कर्मभूमि) आदि क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य (यौगलिक मानव) और तिर्यञ्च (जो कि उक्त क्षेत्रों के अलावा ढाई द्वीप के बाहर द्वीप-समुद्रों में भी पाये जाते हैं) अनपवर्तनीय आयुष्य वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष मनुष्य और तिर्यञ्च अपवर्तनीय आयुष्य वाले हैं।

अपवर्त्य और अनपवर्त्य आयुष्य : लक्षण और स्पष्टीकरण

अपवर्तनीय आयु वह है, जो आयु किसी शस्त्र आदि का निमित्त पाकर बाँधे गए समय से पहले ही भोग ली जाती है। तात्पर्य यह है कि जल में डूबने, शस्त्रपात, विषपान आदि बाह्य कारणों से सौ पचास आदि वर्षों के लिए बाँधी गई आयु को

१. धवला १२/४, २, ७, ३२/२७, गोम्मटसार (कर्म.) मू. ५१८

२. (क) कर्मप्रकृति (आचार्य विजयजयन्तसेनजी म.) से,
(ख) बाह्यस्योपघात-निमित्तस्य विष-शस्त्रादेः सतिसन्निधाने ह्रस्वं भवतीत्यपवर्त्यम्।
सर्वार्थसिद्धि २/५३

अन्तर्मुहूर्त में ही अथवा स्थिति पूर्ण होने से पहले ही शीघ्रता से एक साथ ही भोग ली जाती है, उसे अपवर्तनीय आयु (आयु का आकस्मिक भोग) कहते हैं। इसे व्यावहारिक भाषा में अकाल मृत्यु अथवा आकस्मिक मरण भी कहते हैं।

अकाल में आयुभेद (मृत्यु) के ७ कारण

स्थानांगसूत्र में ऐसे आयुभेद (बाँधी हुई आयु पूर्ण किये बिना बीच में ही मृत्यु हो जाना) के ७ कारण बताये गये हैं–(१) अध्यवसाय (हर्ष, शोक, राग-मोह एवं भय आदि के अतिरेक से प्रबल मानसिक आघात।(२) निमित्त–विष, शस्त्र, दण्ड आदि के प्रयोग के निमित्त से, (३) आहार (आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा अभाव), (४) वेदना (शूल, पीड़ा, तनाव, चिन्ता तथा व्याधिजनित असह्य वेदना), (५) पराघात (गड्ढे में गिरना आदि बाह्य आघात)।(६) स्पर्श (सर्पदंश आदि से या ऐसी वस्तु, जिसके छूने से ही सारे शरीर में विष फैल जाए और (७) श्वास-निरोध (हार्टफेल, हृदयगति अवरुद्ध हो जाना, अथवा श्वास की गति बंद हो जाना)। ये सातों ही कारण अपवर्तनीय आयु के हैं।[1] आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार की है। सोपक्रम आयु वाले व्यक्ति को अकाल-मृत्यु योग्य विष, शस्त्र आदि का संयोग अवश्य होता है। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है। इसमें विष, शस्त्र आदि का निमित्त अवश्य प्राप्त होता है, और उस निमित्त के कारण जीव नियत समय से पूर्व ही मर जाता है। परन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार की होती है। अर्थात्–उस आयु में अकाल मृत्यु का सन्निधान (उपक्रम) होता भी है और नहीं भी होता। किन्तु उन निमित्तों (उपक्रमों–विषशस्त्रादि) का संयोग होने पर भी अनपवर्तनीय आयु नियत काल (सीमा) के पहले पूर्ण नहीं होती। अपवर्तनीय आयु वाले प्राणियों को शस्त्रादि कोई न कोई निमित्त मिल ही जाते हैं, जिससे वे अकाल में ही मर जाते हैं, किन्तु अनपवर्तनीय आयु वालों को कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले मगर अकाल में वे नहीं मरते।[2]

अपवर्तनीय-अनपवर्तनीय आयुबन्ध परिणाम के वातावरण पर निर्भर

यद्यपि अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बन्ध परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। इन दोनों प्रकार की आयु का बन्ध स्वाभाविक नहीं पड़ता। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में बाँधी जाती है। आयुबन्ध के समय यदि परिणाम मन्द हों तो आयु का बन्ध शिथिल पड़ता है। इस कारण निमित्त मिलने पर बन्धकाल की

---

१. (क) औपपातिक–चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। –तत्त्वार्थसूत्र २/५२
(ख) स्थानांगसूत्र स्थान ७
(ग) कर्मप्रकृति, पृ. ४६

२. (क) प्रथम कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधरकेशरीजी) से, पृ. ९५
(ख) कर्म-प्रकृति (आ. जयंतसेनजी म.) से, पृ. ४१;

कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि आयुबन्ध के समय परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ़ होता है। बंध के गाढ़ होने से निमित्त मिलने पर भी बन्धकालीन मर्यादा कम नहीं होती और आयु एक साथ भोगी नहीं जा सकती। अतः तीव्र परिणाम से बाँधी गई आयु शस्त्र, विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत काल मर्यादा से पहले पूरी नहीं होती, जबकि मन्द-परिणामजन्य शिथिल बंधन वाली आयु शस्त्रादि के प्रयोगों के होते ही स्व-नियत-काल-सीमा समाप्त होने से पूर्व ही अन्तर्मुहूर्त में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग का नाम अपवर्तनीय या अकालमृत्यु है और नियत कालिक भोग को अनपवर्तनीय या काल-मृत्यु कहते हैं।[1]

अपवर्तनीय आयु के सम्बन्ध में एक प्रश्न और समाधान

प्रश्न होता है–अपवर्तनीय आयु में यदि नियतकाल मर्यादा से पूर्व ही आयु का भोग हो जाता है, तो कृतनाश, अकृताग्म और निष्फलता दोषों का प्रसंग उपस्थित होता है। अर्थात्–यदि आयु के अवशिष्ट रहते हुए जीव मर जाता है, कृत (बद्ध) आयुकर्म का फल न भोगने से कृतनाश दोष उपस्थित होता है, और मरणयोग्य कर्म के न होने पर भी मृत्यु के आ जाने (आयुष्य कालावधि से पूर्व ही समाप्त हो जाने) से अकृतागम दोष उपस्थित होता है, तथा अवशिष्ट बंधी हुई आयु का भोग न होने से निष्फलता दोष का प्रसंग आता है। इन दोषों से निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि अपवर्तनीय आयु में पूर्वोक्त दोषों की सम्भावना बिलकुल नहीं है, क्योंकि इस आयु में भी बँधी हुई आयु पूरी की पूरी ही भोगी जाती है, बद्धायु का कोई भी अंश ऐसा नहीं बचता, जो भोगा न जाता हो यानी विपाकानुभव किये बिना बद्धायु का कोई भी भाग नहीं छूटता। यह अवश्य है कि इसमें बँधी हुई आयु काल-मर्यादा के अनुसार न भोगी जाकर, एक साथ शीघ्र ही भोग ली जाती है। अपवर्तन का अर्थ ही है–शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त में अवशिष्ट कर्म भोग लेना। इसलिए इस आयु में न तो कृतकर्म का नाश है, और न बद्ध आयुकर्म की निष्फलता है, तथैव बद्ध आयुकर्मानुसार आने वाली मृत्यु होने से अकृतकर्म का आगम भी नहीं है।[2]

दीर्घकालमर्यादा वाले कर्म अल्पकाल में ही भोग लेने का विश्लेषण

दीर्घकालिक मर्यादा (स्थिति) वाले कर्म अल्प (अन्तर्मुहूर्त) काल में ही कैसे भोग लिये जाते हैं ? इसे समझाने के लिए तीन दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं–जैसे–सूखी घास के सघन ढेर में एक तरफ से छोटी-सी चिनगारी छोड़ दी जाती है तो वह उस तृणराशि के एक-एक तिनके को क्रमशः जलाते-जलाते उस सारे ढेर को बहुत अधिक समय में जला पाती है। किन्तु कोई उस घास के ढेर को ढीला करके उसमें चारों

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३०७-३०८
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. १ (मरुधर केशरी जी) पृ. ९६
२. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३०८

ओर से चिनगारी छोड़ देता है और वायु अनुकूल हो तो एक साथ शीघ्र ही वह उस सारे घास को जला डालती है। इसी प्रकार अपवर्तनीय आयु के भोगने में सिर्फ देरी और जल्दी का ही अन्तर पड़ता है, और कुछ नहीं।

दूसरा उदाहरण—गणित के एक जटिल प्रश्न को हल करने के लिए एक सामान्य व्यक्ति गुणा भाग की लंबी रीति का आश्रय लेता है, जबकि दूसरा गणितशास्त्री उसी प्रश्न को हल करने के लिए संक्षिप्त रीति का आश्रय लेता है। मगर दोनों का उत्तर एक समान होता है।

तीसरा उदाहरण-एक तुरंत धोया हुआ कपड़ा जल से भीगा ही इकट्ठा करके रख दिया जाए तो वह बहुत देर से सूखता है, परन्तु उसी भीगे कपड़े को खूब निचोड़कर धूप में फैला दिया जाता है तो वह तत्काल सूख जाता है। इसी तरह अपवर्तनीय आयु में शस्त्र आदि का निमित्त मिलते ही आयुकर्म के समस्त दलिक एक साथ भोगे जाते हैं, मगर भोगे जाते हैं वे शीघ्रता के साथ। भोगना तो बँधा हुआ आयुष्यकर्म पूरा का पूरा ही होता है।[1]

सत्ता की अपेक्षा आयु के दो प्रकार

सत्ता की अपेक्षा से आयु के दो प्रकार हैं—(१) भुज्यमान और (२) बध्यमान। विद्यमान जिस आयु का भोग किया जा रहा है, वह भुज्यमान और आगामी भव के लिए जिस आयु का बन्ध किया गया है, वह बध्यमान है।[2]

सामान्यरूप से आयु के दो प्रकार : भवायु और अद्धायु

सामान्यरूप से आयु के दो प्रकार हैं—अद्धायु और भवायु। अद्धा शब्द का अर्थ है—काल, और आयु शब्द से द्रव्य की स्थिति समझना। अर्थात् द्रव्य का जो त्रैकालिक स्थितिकाल है, उसे अद्धायु कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्यों की अद्धायु अनादिअनिधन है। न उसकी आदि है, न उसका अन्त। किन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अद्धायु के चार भेद होते हैं—अनादि-अनिधन, सादि-अनिधन, सनिधन-अनादि और सादि-सनिधन। भवायु का अर्थ है—भव यानी शरीर का धारण करना। अर्थात्—भव धारण कराने में समर्थ आयुकर्म को भवायु कहते हैं। अथवा भवस्थिति (उसी भव से मर कर पुनः उसी भव में उत्पन्न होकर रहना) को कायस्थिति (एक काय में मरकर पुनः उसी में जन्म ग्रहण करने की स्थिति) को अद्धायु कहते हैं। अद्धायु निरुपक्रम होती है, भवायु सोपक्रम।[3]

---

१. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३०९
२. कर्मप्रकृति (आ. जयन्तसेनविजयजी म.) से, पृ. ४८
३. कर्म प्रकृति से, पृ. ४८-४९

आयुबन्ध के छह प्रकार

आगामी भव में उत्पन्न होने के लिए गति और जाति आदि का बांधना आयु-बन्ध कहलाता है। इसके ६ प्रकार होते हैं-(१) जाति, (२) गति, (३) स्थिति, (४) अवगाहना, (५) प्रदेश और (६) अनुभाग। जाति-एकेन्द्रियादि पाँच जातियाँ हैं। जीव को जिस जाति में उत्पन्न होना होता है, मरने से पूर्व वह उस जाति का बन्ध कर लेता है। गति-मरने से पूर्व वह प्राप्तव्य गति का बन्ध कर लेता है। स्थिति-उक्त भव में ठहरने की जितनी काल-मर्यादा है, मरने से पहले जीव उसे बांध लेता है। अवगाहना-शरीर की ऊँचाई-नीचाई यानी अवगाहना कहते हैं, मरने से पूर्व जीव इसका भी बन्ध कर लेता है। प्रदेश-जिन-जिन आत्म-प्रदेशों पर जीव को सुख-दुख का भोग (वेदन) करना होता है, उसका बन्ध (प्रदेशबन्ध) भी मृत्यु से पूर्व हो जाता है। और अनुभाग-अनुभाग का अर्थ है-फलभोग। फल तीव्र, तीव्रतर या तीव्रतम भोगना है, अथवा मन्द, मन्दतर या मन्दतम; यह सब मृत्यु से पूर्व जीव बाँध लेता है।[1] पुण्य-पाप की दृष्टि से आयुष्य कर्म के दो विभाग कर सकते हैं-शुभायु और अशुभायु।

नामकर्म : स्वरूप, स्वभाव, बन्धकारण एवं प्रकार

जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव नामों से पुकारा जाता है; अथवा जो कर्म जीव को नरकगति आदि अच्छी-बुरी पर्यायों या अवस्थाओं का अनुभव करने के लिए बाध्य करता है, या उन्मुख करता है, वह नामकर्म है। शरीर और शरीर से सम्बद्ध अंग-प्रत्यंग, डीलडौल, रचना (ढाँचा), इन्द्रियाँ, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शुभ, अशुभ, यश, नामवरी, अपयश, सुस्वर, दुस्वर, सुभग-दुर्भग आदि शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं के कण-कण की रचना करने वाला नामकर्म है।[2]

नामकर्म को चित्रकार की उपमा दी गई है। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के रंगों से विभिन्न प्रकार के अच्छे-बुरे चित्र रचना देता है। वैसे ही नामकर्म भी जीव के अच्छे-बुरे विभिन्न प्रकार के रूप बना डालता है।[3]

---

१. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३११

२. (क) नामयति-गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रतिप्रवणयति जीवमिति नाम। -प्रज्ञापना २३/१ टीका
(ख) विचित्रैः पर्यायैर्नमयति परिणमयति जन्तुजीवतत्त्वम्। -ठाणांग २/४/१०५ टीका
(ग) कर्मप्रकृति से, पृ. ५१

३. जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं।
सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं॥
तह नामपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं जीवस्स॥ -ठाणांग २/४/१०५ टीका

यह देखा जाता है कि कोई मनुष्य काला कलूटा, बैडौल, बीभत्स और भद्दी आकृति वाला होता है, जबकि कोई मनुष्य गुलाब के फूल जैसा सुन्दर और चित्ताकर्षक होता है, यह सब नामकर्म का ही प्रभाव है।

चाण्डालपुत्र मुनिश्री हरिकेशबल के बीभत्स शरीर का तथा ऋषिवर अष्टावक्र की शरीरगत वक्रता का कारण नामकर्म ही था। इसी कर्म के कारण किसी जीव में सुन्दरता और किसी में असुन्दरता के दर्शन होते हैं।[1]

नामकर्म : व्यक्तित्व का निर्धारक

मनोविज्ञान की अपेक्षा से नामकर्म जीव के व्यक्तित्व का परिचायक या निर्धारक तत्व कहा जा सकता है। जैनकर्म विज्ञान नामकर्म की प्रकृतियों को व्यक्तित्व निर्धारक तत्व के रूप में प्रस्तुत करता है।[2]

नामकर्म के दो भेद और उनके बन्धकारण व विपाक प्रकार

नामकर्म के दो भेद मुख्यतया किए गए हैं—शुभनाम और अशुभनाम। शास्त्रोक्त शुभनामकर्म के बन्ध के कारण ये हैं—(१) शरीर की सरलता, (२) वाणी की सरलता, (३) मन की या मनन-चिन्तन की सरलता (४) अहंकार और मात्सर्य से रहित होना या सामञ्जस्य से परिपूर्ण जीवन। इसी प्रकार अशुभ नाम के बन्ध के भी इनसे विपरीत चार कारण हैं। यथा—काया की वक्रता, वाणी की वक्रता, मन की वक्रता तथा अहंकार एवं मात्सर्य की वृत्ति या असामंजस्यपूर्ण जीवन।[3]

शुभ-अशुभ नामकर्म के विपाक के १४-१४ प्रकार

शुभ नामकर्म के विपाक (फलभोग) के १४ प्रकार यों हैं—(१) इष्ट शब्द (आदेय और प्रभावक वचन), (२) इष्ट रूप (सुन्दर गठा हुआ शरीर) (३) इष्ट गन्ध (शरीर से निःसृत होने वाले मल-मूत्र, पसीना आदि में सुगन्ध), (४) इष्ट रस (जैवीय रसों की समुचितता), (५) इष्ट स्पर्श (त्वचा आदि का कोमल एवं मनोज्ञ स्पर्श होना), (६) इष्ट गति (चंचलता एवं उद्विग्नता से रहित योग्य चाल-ढाल), (७) इष्ट स्थिति (स्थिर एवं सुशोभन बैठना-उठना, खड़े होना आदि अथवा अंगोपांगों का यथास्थान होना), (८) उत्थानादि पाँच का होना (योग्य शारीरिक शक्ति), (९) लावण्य (शारीरिक

---

१. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१५

२. जैन, बौद्ध, गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. ३७४

३. (क) योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्यनाम्नः, तद्विपरीतं शुभस्य । तत्त्वार्थसूत्र ६/२१-२२

(ख) कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवायणाजोगेणं सुभनामकम्मासरीर जाव पयोगबंधे। कायअणुज्जुययाए जाव विसंवायणाजोगेणं असुभनामकम्मा जाव पयोगबंधे।

—भगवती श. ८, उ. ९

(ग) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. ३७४

कान्ति एवं तेजस्विता), (१०) इष्ट यशःकीर्ति (चारों ओर प्रतिष्ठा और प्रशंसा का होना), (११) सुस्वर (रुचिकर स्वर), (१२) कान्त स्वर, (१३) प्रिय स्वर, और (१४) मनोज्ञ स्वर। अशुभनामकर्म के विपाक (फलभोग) के भी १४ प्रकार हैं, जो इनसे विपरीत हैं-(१) अनिष्ट शब्द, (२) अनिष्ट रूप, (३) अनिष्ट गन्ध, (४) अनिष्ट रस, (५) अनिष्ट स्पर्श, (६) अनिष्ट गति, (७) अनिष्ट स्थिति, (८) असुन्दरता (लावण्यहीनता), (९) अपयश-अपकीर्ति, (१०) उत्थानादि पांच पुरुषार्थ की शक्ति की हीनता, (११) अकान्त स्वर (हीन स्वर), (१२) दीन स्वर, (१३) अप्रिय स्वर और (१४) अमनोज्ञ स्वर।[1]

नामकर्म की देन

आत्मा का जो छठा गुण है—अरूपित्व, नामकर्म उस गुण को ढक देता है और जीव को रूपी शरीर और उससे सम्बन्धित अंगोपांगादि पकड़ा देता है। यह नामकर्म का ही चमत्कार है कि वह किसी की आकृति नीग्रो की-सी बना देता है, तो किसी की चीना (चाइनीज) जैसी। नामकर्म के अनुसार प्रकृतियाँ, चाल-ढाल, रूप-रसादि, अमुक स्वभावादि भी विभिन्न प्रकार के मिलते हैं। शुभ और अशुभ नामकर्म का यह फल स्वतः और परतः दोनों प्रकार से अनुभव किया (भोगा) जाता है। इनके शुभफल के अनुभव में इष्ट वस्तुओं, पुद्गलों, जीवों आदि का संयोग और अशुभ फल के अनुभव में अनिष्ट पुद्गलों, वस्तुओं और जीवों आदि का संयोग (निमित्त) कारण है।[2]

गोत्रकर्म : स्वरूप, प्रभाव, स्वभाव और बन्धकारण

जब तक जीव संसार के जन्म-मरणादि के चक्र से नहीं छूटता, तब तक उसे किसी न किसी गति, जाति एवं योनि में जन्म लेना ही पड़ता है। मनुष्यों या तिर्यञ्चों में ही नहीं, देवों और नारकों में किसी न किसी प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित कुल, या परिवार में जन्म लेना पड़ता है। उनमें भी उच्च और नीच, आदरणीय-अनादरणीय, पूज्य-अपूज्य, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित आदि व्यवहार होता है। कोशकारों ने गोत्र शब्द कुल, वंश-परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त किया है, परन्तु जैनकर्मविज्ञान की दृष्टि गोत्रकर्म में जीव के अपने-अपने व्यक्तिगत सदाचरणयुक्त एवं दुराचरणयुक्त (कार्यों या शुभाशुभ योगों) या सद्गुणों दुर्गुणों के आधार पर उच्च-नीच गोत्र का व्यवहार होता है। अतः गोत्रकर्म का अर्थ हुआ—जिस कर्म के उदय से जीव के प्रति कुलीन-अकुलीन, पूज्य-अपूज्य, आदरणीय-अनादरणीय, उच्च-नीच, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित आदि के भाव उत्पन्न हों, इसी प्रकार के दो परस्पर विरोधी शब्दों में से किसी एक शब्द का व्यवहार

---

१. (क) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ३७४
   (ख) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३३८-३३९
२. रे कर्म तेरी गति न्यारी से, पृ. ८१

हो, अथवा जिस कर्म के उदय से जीव उच्चगोत्र (उच्च-नीच) कहलाता है, वह गोत्रकर्म है।[1]

गोत्रकर्म बन्ध का मूल कारण : निरहंकारता-अहंकारता

गोत्रकर्म में उच्च-नीच गोत्रबन्ध का आधार धनादि साधनों का नहीं, किन्तु निरहंकारता-अहंकारता के आधार पर है। पूर्वबद्ध अमुक कर्मवश जीव अच्छे-बुरे गोत्र में उत्पन्न होता है। गोत्रकर्म में अच्छे प्रतिष्ठित कुटुम्ब या कुल में जन्म लेने अथवा अधम, दुराचरणी कुल में उत्पन्न होने की बात ही महत्वपूर्ण है। उच्च कुल में रक्त के संस्कार तथा खानदानी एवं कुलीनता, सभ्यता, संस्कृति और महत्ता तथा भव्यता के संस्कार प्रायः मिलते हैं; जबकि नीच कुल में हिंसाचरण, ठगी, कलह-क्लेश, मारामारी, कलुषित वातावरण, पापाचरण, स्वभाव की मलिनता, आतंक, बेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि के कुटिल कुसंस्कार विरासत में मिलते हैं। गोत्रकर्म का प्रभाव केवल मनुष्यलोक में ही हो, ऐसा नहीं है; पशुओं और पक्षियों में भी गाय, घोड़ा, हाथी आदि कई जातिमान अजातिमान होते हैं, पक्षियों में भी मोर, तोता आदि पक्षियों में भी स्वभाव एवं गुणों में अन्तर पाया जाता है। आम, केला आदि फलों में भी उत्कृष्ट-निकृष्ट का अन्तर दिखाई देता है, ककड़ी आदि सब्जियों में अच्छी-बुरी जाति का अन्तर होता है। इस दृष्टि से गोत्र का आधार प्रायः स्थान और बीज होता है। अच्छा बीज मिलना या अच्छे स्थान में पैदा होना अथवा इसके विपरीत बुरे (खराब) बीज या स्थान का मिलना गोत्रकर्म पर निर्भर है।[2]

गोत्रकर्म का स्वभाव

गोत्रकर्म का स्वभाव सुघट और दुर्घट (अच्छे-बुरे घड़े) के समान है। इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गई है। कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें से कई घड़े ऐसे होते हैं जिन्हें लोग रंगीन रूलश बनाकर अक्षत चंदन आदि से चर्चित करके पूजा करते हैं। कई घड़े ऐसे होते हैं, जो मदिरा आदि रखने के काम में आते हैं, इस कारण निम्न माने जाते हैं, उसी प्रकार गोत्रकर्म के कारण जीव श्लाघ्य-अश्लाघ्य बनता है।[3]

---

१. (क) कर्मणोऽपादानविवक्षया यूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्कर्मण उदयात्-गोत्रम्।
—प्रज्ञापना २३/१ टीका

(ख) कर्मप्रकृति से, पृ. १२३
(ग) धर्म और दर्शन से, पृ. ८६
(घ) उच्चैर्गोत्रं देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कारैश्वर्यगुल्कर्ष-निवर्तकम् ।
विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डाल-मुष्टिक-व्याध-मत्स्यबंध-दास्यादि-नियर्तकम्॥
—तत्त्वार्थसूत्र ८/१३ भाष्य

२. (क) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ७०
(ख) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. ३७५

३. (क) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ७०
(ख) धर्म और दर्शन से, पृ. ८६

नीचकुल-उच्चकुल : आचरण-अनाचरण पर निर्भर

अधर्म, पापाचरण एवं अन्याय अनीति का आचरण करके जिस कुल ने बदनामी, अपकीर्ति एवं कुसंस्कारिता प्राप्त की हो, वह नीच कुल है। जैसे–कसाई, वेश्या, चोर, डाकू, कलाल आदि कुल। इसके विपरीत जिस कुल ने धर्म, नीति, न्याय का आचरण किया हो, अन्याय-अत्याचार पीड़ितों की रक्षा की हो, तदनुसार कीर्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त हो, वह उच्चगोत्र है। जैसे–इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, सूर्यवंश आदि। गोत्रकर्म के दो भेद हैं-उच्चगोत्र, नीचगोत्र।[1]

नीचगोत्र-उच्चगोत्र कर्मबन्ध के हेतु

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार परनिन्दा, स्वात्मप्रशंसा, दूसरे के सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन, ये नीच गोत्र के बन्ध हेतु हैं, इसके विपरीत आत्मनिन्दा, पर(गुण) प्रशंसा, दूसरे के सद्गुणों का प्रकाशन और असद्गुणों का गोपन, तथा नम्रवृत्ति एवं निरभिमानता उच्चगोत्र के बन्धहेतु हैं।

भगवतीसूत्र के अनुसार–जाति, कुल, बल (शारीरिक शक्ति), रूप (सौन्दर्य), तपस्या (साधना), ज्ञान (श्रुत), लाभ (उपलब्धियाँ-सिद्धियाँ) और ऐश्वर्य (वैभव, प्रभुत्व या सत्ता व स्वामित्व–अधिकार) का मद (अहंकार) न करने वाला उच्चगोत्र कर्म (कि शरीर आदि) का बन्ध करता है, इसके विपरीत जो व्यक्ति उपर्युक्त आठ प्रकार का मद (अहंकार) करता है, वह नीचगोत्रकर्म का बन्ध करता है। कर्मग्रन्थ के अनुसार–अहंकाररहित गुणग्राही दृष्टि वाला, अध्ययन-अध्यापन में रुचि रखने वाला, तथा देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्तिमान उच्चगोत्र को और इसके विपरीत आचरण करने वाला नीचगोत्र को प्राप्त करता है।[2]

उच्चगोत्री और नीचगोत्री को स्वकर्मफल

वस्तुतः उच्चगोत्री के समस्त क्रियाकलापों में निरभिमानता, बड़ों के समक्ष विनम्रवृत्ति, गुणों का ढिंढोरा न पीटना। (अनुत्सेक) आदि होने से वह ऊँचा उठता है, तथा आत्मा की प्रवृत्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाता है; जबकि नीचगोत्री के समस्त

---

१. कर्म प्रकृति से, पृ. १२४

२. (क) परात्मनिन्दा-प्रशंसेसदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य । तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य । –तत्त्वार्थसूत्र ६/२४-२५

(ख) जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयाकम्मासरीर जाव पयोगबंधे। जाति-अमदेणं, कुल-अमदेणं, बल-अमदेणं, रूव-अमदेणं, तव-अमदेणं, सुय-अमदेणं, लाभ-अमदेणं, इस्सरिय-अमदेणं उच्चागोयाकम्मासरीर जाव पयोगबंधे ।

–भगवती श. ८, उ. ६

(ग) कर्मग्रन्थ १/६०

(घ) नवपदार्थज्ञानसार, पृ. २४०

क्रियाकलापों में अहंकारवृत्ति, स्वप्रशंसा-परनिन्दा की वृत्ति होती है। वह अपनी गुणहीनता को छिपाने और झूठा बड़प्पन दिखाने का प्रयत्न करता है, दम्भ और दिखावा करता है। इसका फल उसे भविष्य में नीचगोत्र कर्म के रूप में मिलता है।[1]

उच्चगोत्र और नीचगोत्र के विविध अधिकारी

उच्चगोत्र कर्म के उदय से प्राणी लोकप्रतिष्ठित उच्चकुल आदि में जन्म लेता है, जबकि नीचगोत्रकर्म के उदय से प्राणी का जन्म अप्रतिष्ठित, असंस्कारी एवं नीच कुल में होता है। गोत्रकर्म के विपाक (फलभोग) की दृष्टि से आठ-आठ उपभेद बताये गए हैं—जाति, कुल आदि पूर्वोक्त आठ का मद न करने से आठ के पूर्व उच्च शब्द लग जाता है। यथा—उच्च-जाति गोत्र आदि। इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ का मद करने से आठ के पूर्व नीच शब्द लग जाता है। यथा—नीच जाति गोत्र, नीच कुल गोत्र आदि। अर्थात्—जो व्यक्ति अपनी मानसिक-वाचिक-कायिक किसी भी प्रवृत्ति में अहंकार नहीं करता, वह प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर पूर्वोक्त आठ क्षमताओं से युक्त होता है—(१) निष्कलंक मातृपक्ष, (२) प्रतिष्ठित पितृपक्ष (कुल), (३) सशक्त शरीर, (४) सौन्दर्ययुक्त अंगोपांग, (५) तपःशक्ति एवं उच्च साधनाशक्ति, (६) तीव्र प्रतिभा एवं प्रज्ञा तथा विपुल ज्ञान पर अधिकार, (७) विविध उपलब्धियों सिद्धियों (लाभ), (८) अधिकार, स्वामित्व एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति। इसके विपरीत अहंकारी जीव नीच कुल में जन्म लेकर इन आठ क्षमताओं से वंचित रहता है।[2]

उच्चगोत्रकर्म की निष्फलता अथवा सफलता ? : समाधान

षट्खण्डागम के अन्तर्गत प्रकृति-अनुयोगद्वार में गोत्रकर्म को लेकर कुछ शंका-समाधान प्रस्तुत किये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—प्रश्न यह है कि उच्चगोत्र का काम क्या है ? राज्यादि सम्पदा की प्राप्ति तो सातावेदनीय कर्म के निमित्त से होती है। पांच महाव्रतों को ग्रहण करने की योग्यता भी उसका कार्य नहीं हो सकता, ऐसा माना जाएगा तो जो जीव महाव्रत ग्रहण नहीं कर सकते, उनमें उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त हो जाएगा। इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति भी उसका काम नहीं हो सकता, क्योंकि वे काल्पनिक हैं, परमार्थ से इनका अस्तित्व नहीं है। फिर वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुजनों में भी उच्चगोत्र का उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनों से उत्पत्ति को उच्चगोत्र का कार्य मानने पर पापकर्मी अनार्य म्लेच्छराज से उत्पन्न बालक के भी उच्चगोत्र के उदय का प्रसंग प्राप्त होगा। अणुव्रती व्यक्तियों से जन्म होना भी उच्च गोत्र का कार्य नहीं है। वैसा मानने से ब्रह्मों में उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होगा, नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर भी नीच गोत्री ठहरेंगे। अतः उच्चगोत्र निष्फल है। उसमें कर्मत्व घटित नहीं होता। उसके अभाव में नीचगोत्र भी नहीं रहता। अतः गोत्र नामक कर्म की ही क्या आवश्यकता है ?

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (उपाध्याय केवलमुनि संपादित) से, पृ. २८८, २८९
२. जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. ३७५

गोत्रकर्म कभी निष्फल नहीं होता

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं–वीतराग सर्वज्ञ आप्तपुरुषों का वचन असत्य नहीं होता। छद्मस्थों को उनके द्वारा कथित वचन समझ में नहीं आता, इसलिए असत्य नहीं हो सकता। गोत्रकर्म कदापि निष्फल नहीं होता, क्योंकि जिनका साधुदीक्षायोग्य साध्वाचार है तथा साधु-आचार वालों के जो उपासक हैं, या जिन्होंने उनसे सम्बन्ध स्थापित किया है, जो आर्य-व्यवहार के पात्र हैं, उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहते हैं और उनमें उत्पत्ति का कारण उच्चगोत्रकर्म है। इससे विपरीत कर्म नीचगोत्रकर्म है।[1]

अन्तराय कर्म : स्वरूप, स्वभाव, बन्धकारण और प्रभाव

कर्मों की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। उनमें अन्तराय कर्म आठवाँ है। अन्तराय घातिकर्म है। आत्मा में अनन्तशक्ति है। उस आत्मशक्ति को प्रगट करने में जो वीर्य-शक्ति चाहिए, उसमें रोड़ा अटकाने वाला है–अन्तराय कर्म। जीव के पास या सामने सम्पत्ति या भोग्य-उपभोग्य सामग्री पड़ी है, परन्तु उसमें भावपूर्वक ममत्व-त्याग करके देने की शक्ति या त्याग करने का उत्साह जागृत नहीं होता। एक व्यक्ति को अमुक वस्तु प्राप्त होने वाली है, किन्तु अन्तराय कर्म के कारण बहुत मेहनत करने के बावजूद भी नहीं मिल पाती। इसके कारण खाने-पीने-पहनने आदि की भोग्य-उपभोग्य वस्तुएँ अपने पास होते हुए भी वह उनका भोग या उपभोग नहीं कर पाता। उसमें अरुचि, अस्वस्थता, शोक, चिन्ता आदि अन्तराय देने वाले कारण उपस्थित हो जाते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से–अनन्त शक्ति होते हुए भी उस जीव में अपंगता, व्याधि, सुस्ती, आलस्य, भीति, पराधीनता, अशक्ति, चिन्ता, अरुचि, मानसिक विक्षिप्तता, तीव्र लुब्धता, अशक्ति आदि के कारण उसकी शक्ति इस कर्म के कारण रुक जाती है या उसकी वीरता कुण्ठित हो जाती है। अतः अन्तरायकर्म आत्मा की सभी शक्तियों पर, दानादि क्षमताओं पर अंकुश लगाने वाला घातिकर्म है। अन्तराय का अर्थ है–विघ्न, बाधा, रुकावट, अड़चन आदि।

इसका स्वभाव दुष्ट भण्डारी के समान है। जैसे–राजा के द्वारा आदेश देने पर भी भंडारी अर्थ प्रदान करने में आनाकानी करता है; टालमटूल करता है, उसी प्रकार अन्तरायकर्म जीवरूपी राजा के लिए वीतराग-परमात्मा द्वारा अनन्तशक्तियाँ प्राप्त करने का आदेश (उपदेश) होने पर भी अन्तरायकर्मरूपी भंडारी दान, लाभ, भोग, उपभोग की इच्छा प्राप्ति में अथवा दान, लाभ, तप, संयम, प्रत्याख्यान, त्याग आदि प्रकट करने में रुकावट डालता है, क्षमता को कुण्ठित कर देता है। अन्तराय कर्म बनते हुए या सफल होते हुए कार्य को बिगाड़ देता है, असफल बना देता है। व्यवहार

१. (क) षट्खण्डागम पंचम खण्ड वर्गणा ६ठ अन्तर्गत अनुयोगद्वार, सू. १३, पृ. ३८८
(ख) जैनसिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री) से, पृ. १०७

दृष्टि से जीव के दान, लाभ आदि की प्राप्ति में, शुभकार्यों को करने की क्षमता में, सामर्थ्य में रुकावट डालना, अवरोध पैदा कर देना अन्तराय कर्म का कार्य है। यह जीव की आशाओं पर पानी फेर देता है।

तत्त्वार्थसूत्र में अन्तराय कर्मबन्ध का एक ही कारण बताया है–शुभ कार्यों या धर्मकार्यों में विघ्न उत्पन्न करना। भगवतीसूत्र में इसके ५ कारण बताए गये हैं–दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय (विघ्न) करने से अन्तराय कर्म शरीर प्रयोग बन्ध (अन्तरायकर्मबन्ध) होता है।

कर्मग्रन्थ में अन्तराय कर्मबन्ध करने के ३ कारण बताए हैं–जिनेन्द्र (वीतराग अर्हन्तदेव) की भाव-पूजा, भक्ति, श्रद्धा आदि में (उनके अवर्णवाद बोल कर या निषेध करके अश्रद्धा प्रगट करके) विघ्न डालने, तथा हिंसादि पापों में परायण रहने वाले जीव पापकर्म का बन्ध करते हैं। अपना कोई लौकिक या लोकोत्तर कार्य न बनने पर वीतराग प्रभु के प्रति अश्रद्धा-अभक्ति प्रगट करके उनकी भावपूजा-भक्ति-स्तुति बन्द कर देना तथा हिंसा, असत्य, अब्रह्मचर्य, चोरी तथा ममत्वपूर्वक परिग्रहवृद्धि स्वयं करने-कराने तथा अनुमोदन करने, इसके विपरीत अहिंसादि कार्यों में अनुत्साह अश्रद्धा एवं असम्भावना प्रगट करके बाधा उत्पन्न करने, दानादि कार्यों में रुकावट डालने आदि से अन्तरायकर्मबन्ध होता है।

अन्तराय अपना प्रभाव दो प्रकार से दिखाता है–(१) प्रत्युत्पन्न-विनाशी और (२) पिहितागामी पथ। प्रत्युत्पन्न-विनाशी अन्तराय कर्म के उदय से प्राप्त वस्तुओं का भी विनाश या लोप हो जाता है और पिहितागामी पथ अन्तराय कर्म के उदय से भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति में अवरोध या विघ्न आ जाता है अथवा विघ्न पैदा कर दिया जाता है।

फलितार्थ यह है कि अन्तराय कर्म का वीर्य दो प्रकार का है–अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग न कर पाना, और किसी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग शक्ति के उपयोग में बाधक बनना। जैसे–किसी दाता को दान प्राप्त करने वाले व्यक्ति या संस्था के बारे में गलत सूचना देता है, अथवा भोजन करते या उपभोग करते हुए व्यक्ति को भोजन या उपभोग नहीं करने देता, उसकी उपलब्धियों में बाधा उत्पन्न करता है, वह भी अन्तराय कर्म बन्ध करता है। जिसके कारण भविष्य में वह उन उपलब्धियों से वंचित रहता है।[1]

---

१. (क) कर्मप्रकृति से, पृ. १२५
(ख) रे कर्म ! तेरी गति न्यारी से, पृ. ८५
(ग) जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण, पृ. ७१
(घ) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३६३
(ङ) विघ्नकरणमन्तरायस्य। –तत्त्वार्थसूत्र ६/२६

उपसंहार

इस प्रकार कर्म की आठ मूल प्रकृतियों के स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव एवं बन्धकारण इत्यादि को भलीभाँति समझ कर उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मों के संवर और निर्जरा (आंशिक क्षय) से ही आत्मा का उत्तरोत्तर विकास होता है।

●●

(च) अस्ति जीवस्य वीर्याख्योऽन्त्येकस्तदौदयात्।
तदन्तरायलीहेदमन्तरायं हि कर्म तत्॥ —पंचाध्यायी २/१००७

(छ) जीवं चार्थसाधनं चान्तरा एति-पतजीत्यन्तरायम्। इदं चैवं-
जह राया दाणाइं च कुणइ, भंडारिए विकूलंमि।
एवं जेणं जीवो कम्मं तं अंतरायंति॥ —ठाणांग २/४/१०५ टीका

(ज) दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगंतराएणं उवभोगंतराएणं वीरियंतराएणं अंतरायकम्मा-सरीरप्पयोग बंधे। —भगवतीसूत्र श. ८, उ. ९, सू. ३५१

(झ) जिणपूजा-विग्घकरो हिंसाइ-परायणो जयइ विग्घं। —कर्मग्रन्थ भा. १, गा. ६१

(ट) जैन, बौद्ध, गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से भावांशग्रहण, पृ. ३७६

१६

उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण—१

समुद्र से उठने वाली बड़ी-छोटी लहरों की तरह मूल-उत्तर प्रकृतियां

समुद्र में जिस प्रकार एक साथ सात-आठ लहरें उठती हैं, वे समाप्त नहीं होतीं, उससे पहले उन्हीं लहरों में से दूसरी, तीसरी, चौथी, यों एक के बाद एक अगणित लहरें उठती रहती हैं, और विलीन होती रहती हैं। लहरों का यह सिलसिला एक के बाद एक चलता रहता है। इसी प्रकार जीव रूपी समुद्र से मूल-प्रकृतिरूपी सात या आठ लहरें प्रतिक्षण उठती रहती हैं, साथ ही, वे समाप्त नहीं होतीं, उससे पहले ही एक-एक बड़ी लहर के साथ छोटी-छोटी सजातीय उत्तर कर्मप्रकृतियों की लहरें उठती रहती हैं और विलीन होती रहती हैं। इसका सिलसिला एक के बाद एक चलता रहता है। अर्थात्—मूल प्रकृतिबन्ध के साथ-साथ उनकी सजातीय उत्तर-प्रकृतियों का बन्ध भी चलता रहता है।

तत्त्वार्थ वार्तिक में एक रूपक के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"जिस प्रकार विभिन्न बादलों का जल विभिन्न पात्रों में गिरकर भिन्न-भिन्न रसों में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार आठ मूल प्रकृति रूपी मेघों में से ज्ञानावरणीय कर्म सामान्यतः एक होकर भी अपने सजातीय श्रुतज्ञानावरणीय आदि विभिन्न रूपों में, दर्शनावरणीय भी एक होकर अपने सजातीय निद्रादि पांच तथा चक्षुदर्शनावरणीय आदि चार मिलकर नौ रूपों में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार शेष छहों कर्म (मूल कर्म प्रकृतियाँ) भी अपने-अपने सजातीय विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं।" इसके अतिरिक्त निम्नोक्त कारणों से एक ही कर्मपुद्गल वर्गणा विभिन्न रूप हो जाती है—"जिस प्रकार एक ही अग्नि में जलाने, पकाने, ठंड मिटाने, भस्म करने, पानी गर्म करने आदि विभिन्न प्रकार की शक्ति होती है, उसी प्रकार (ज्ञानावरणीय आदि) एक ही प्रकार के कर्मपुद्गल में सुख-दुःखादि रूप होने, श्रुतज्ञानादि को आवृत करने, चक्षु आदि दर्शनों को आवृत करने, क्रोधादि कषाय-नोकषाय आदि के रूप में

मोहमूढ करने की शक्ति होती है।'' ''यद्यपि द्रव्यदृष्टि से कर्म एक ही प्रकार का होता है, तथापि पर्यायों की अपेक्षा उसके मूल और उत्तर प्रकृतियों के रूप में अनेक प्रकार होने में कोई विरोध नहीं है।''[1]

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ : स्वरूप, प्रकार और भेद

आठ मूलप्रकृतियों में सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म है। जिसके द्वारा वस्तु का विशेष बोध यानी साकार उपयोग हो, उसे ज्ञान कहते हैं। यानी नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि सहित जगत् के समस्त पदार्थों का विशेष बोध जिसके द्वारा हो, उसे ज्ञान कहते हैं, उसका जिसके (मिथ्यात्वादि हेतुओं) द्वारा आच्छादन हो, उसे ज्ञानावरणीय कहा गया है। ज्ञानावरणीय कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियाँ हैं–[2] (१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय और (५) केवलज्ञानावरणीय। वैसे तो आत्मा की ज्ञानशक्ति अनन्त है, परन्तु समस्त संसारी जीवों में वह अनन्त (असीम) ज्ञान नहीं होता है। किसी जीव का ज्ञान अत्यधिक आवृत होता है, किसी का कम। पूर्णरूप से ज्ञान का आवरण जब हट जाता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है, वह ज्ञान अनन्त होता है। संसार के प्रत्येक जीव में ज्ञान की तरतमता (न्यूनाधिकता) रहती है। एक ही मनुष्य जाति को लें–उसमें किसी के ज्ञान का आवरण कम, किसी के अधिक, किसी के सर्वाधिक होता है। इसी तरतमता की अपेक्षा से ज्ञान के निश्चित भेद नहीं किये जा सकते, किन्तु उन सबका सामान्य रूपों में वर्गीकरण करके आगमों और ग्रन्थों में ज्ञान के मुख्य पांच भेद माने गए हैं–(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान। अतः ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ पांच हैं।[3] इन पांच ज्ञानों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है–(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।[4] पांचों इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है या दूसरों को ज्ञान (बोध) कराया जाता है, उसे परोक्ष कहते हैं। परोक्ष ज्ञान के दो प्रकार हैं–मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकार हैं–अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान।

---

१. (क) तत्त्वार्थवार्तिक (अकलंकभट्ट) से, ८/४/७
   (ख) धवला पु. १२, खण्ड ४, भा. ८ सू. ११
   (ग) वही, ८/४/९–१४
   (घ) सर्वार्थसिद्धि ८/४

२. (क) णाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
   ओहिनाणं च तइयं मणनाणं च केवलं ॥ –उत्तराध्ययन ३३/४
   (ख) मति-श्रुतावधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम् । –तत्त्वार्थ ८/४
   (ग) कर्मग्रन्थ भा. १, गा. ४

३. मइ-सुय-ओहि-मण-केवलाण आवरण भवे पयमं। –पंचसंग्रह (श्वे) बन्धक प्ररूपणा गा. ३

४. (क) आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् । –तत्त्वार्थसूत्र १/११-१२
   (ख) दुविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा–पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव । –स्थानांग, ठा. २, उ. १

मतिज्ञान : स्वरूप, भेद और बोधग्रहणविधि

यद्यपि श्रोत्रेन्द्रिय (कान), चक्षुरिन्द्रिय (आँख), घ्राणेन्द्रिय (नाक), रसनेन्द्रिय (जीभ) और स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) एवं मन (मन, बुद्धि, चित्त और हृदय) से जो ज्ञान होता है, उसे व्यावहारिक जगत् में प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जैनदर्शन ने प्रत्यक्ष ज्ञान उसी को माना है—जो इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना सीधा (डायरेक्ट-Direct) आत्मा से हो। यद्यपि निश्चय दृष्टि से ज्ञान तो आत्मा का प्रमुख अनुजीवी गुण है। अतः जो भी ज्ञान होता है, वह आत्मा से ही होता है, किन्तु आत्मा से जो ज्ञान होता है, वह अव्यक्त होता है, वह प्रगट होता है—विभिन्न इन्द्रियों और मन से ही। यही कारण है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है।

मतिज्ञान का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिसमें मनन हो, अथवा जो मनन करे, वह मतिज्ञान। पांचों इन्द्रियों और मन द्वारा जिसमें वस्तु का निश्चित बोध हो, या उसका मनन हो, वह मतिज्ञान है। इसका दूसरा नाम आभिनिबोधिक भी है। अभिमुख अर्थात्—योग्य देश में व्यवस्थित नियत पदार्थों को आत्मा इन्द्रिय और मन के द्वारा जिस परिणाम विशेष को जानता है—अवबोध करता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। मतिज्ञान का शास्त्रीय लक्षण है—मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम[1] तथा इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से द्रव्य का एकदेश रूप से होने वाला अवबोध—ज्ञान। मतिज्ञान होने में मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है, और बाह्य कारण है—इन्द्रिय और मन के माध्यम से वस्तु के साथ सन्निकर्ष।[2]

मतिज्ञान के अपेक्षा से अनेक भेद शास्त्रों और ग्रन्थों में बताये हैं। उनमें एक अपेक्षा से ३३६ भेद होते हैं, उनमें औत्पातिकी आदि चार बुद्धियों को मिलाने से ३४० भेद होते हैं।

मतिज्ञान के ३४० भेदों का विवरण

मतिज्ञान के ३४० भेद इस प्रकार होते हैं—मतिज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय (कान), चक्षुरिन्द्रिय (नेत्र), घ्राणेन्द्रिय (नाक), रसनेन्द्रिय (जीभ) और स्पर्शेन्द्रिय (शरीरगत त्वचा) इन पांच इन्द्रियों तथा मन (मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि अन्तःकरण) से होता है। इसलिए इन छह कारणों से जन्य होने से मतिज्ञान के ५+१=६ भेद हुए। फिर इनके प्रत्येक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के रूप में चार-चार भेद होने से मतिज्ञान के २४ भेद हुए।

---

१. उदय में आये हुए कर्म का क्षय और अनुदीर्ण अंश का विपाक की अपेक्षा उपशम होना, उदय में न आना क्षयोपशम कहलाता है। —सं.

२. (क) पंचमिंदिएहिं मनसा च यदर्थ-ग्रहणं तन्मतिज्ञानं। —धवला
(ख) अभिमुख-योग्यदेशे व्यवस्थितं, नियतमर्थमिन्द्रियद्वारेण बुध्यते-परिच्छिनत्ति आत्मा येन परिणाम-विशेषेण, स परिणाम-विशेषो ज्ञानावरणक्षयोपशमाय आभिनिबोधिकम्।
(ग) कर्मप्रकृति (आ. जयन्तसेनविजयजी म.) की पृ. ५
(घ) मननं मतिः, मन्यतेऽनेन वा मतिः।

अवग्रह आदि पदों का अर्थ और विश्लेषण

अवग्रह आदि पदों का अर्थ इस प्रकार है–नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित जो सामान्य मात्र का ज्ञान हो, वह अवग्रह है। जैसे–गाढ़ अंधकार में पैर से कुछ छू जाने पर, 'यह कुछ है' सर्वप्रथम ऐसा अव्यक्त बोध होना, अवग्रह है। इस बोध में वस्तु क्या है? यह स्पष्ट या व्यक्त मालूम नहीं देता। अवग्रह द्वारा ग्रहण किये हुए विषय को विशेष रूप से निश्चित करने हेतु जो सम्भावनात्मक विचार चलता है, वह ईहा है। जैसे–पैर से किसी वस्तु का स्पर्श हो जाने पर विचार करना कि 'यह रस्सी का स्पर्श है या सर्प का?' रस्सी का स्पर्श होना चाहिए; क्योंकि सर्प का स्पर्श होता तो स्पर्श होते ही डंक मारता या फुफकारता। इस तरह सम्भावना या संशयात्मक विचारणा ईहा है। ईहा के द्वारा ग्रहण किये हुए विशेष का कुछ अधिक अवधान–एकाग्रतापूर्वक निश्चय होता है, वह अवाय कहलाता है। ईहा और अवाय का समय अन्तर्मुहूर्त है। जैसे–पैर में किसी वस्तु का स्पर्श होने पर ईहा द्वारा की गई सम्भावना कुछ समय तक चलती है, फिर ऐसा संस्कार छोड़ जाती है कि योग्य निमित्त मिलते ही कुछ क्षणों बाद ही ऐसा निश्चय हो जाता है कि यह रस्सी का ही स्पर्श है। सर्प का नहीं, ऐसा निश्चय अवाय है। अवाय द्वारा कृत निश्चय की यह सतत धारा, तज्जन्य संस्कार, और संस्कारजन्य निश्चित वस्तु का योग्य निमित्त मिलने पर स्मरण होना, उस स्मरण का कायम रहना यह सब मतिव्यापार धारणा है। ये चारों क्रमभावी मतिज्ञान हैं।[1]

पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुरूप मतिज्ञान का भी क्रम संगत है

अवग्रहादि द्वारा मतिज्ञान की उत्पत्ति का क्रम निर्देश किया गया है। यह तो निश्चित है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है। 'अंधेरे में पुस्तक पड़ी है' इसका सामान्य बोध होने के पश्चात् उसका विशेष बोध करने (जानने) की तत्परता होती है। सर्वप्रथम तो 'यह वस्तु है' ऐसा ही ख्याल आता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र (Logic) में ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन परिस्थितियाँ बताई गई हैं– (Conception—कान्सेप्सन) (Perception—परसेप्सन) (Knowledge—नालेज)। सर्वप्रथम Conception में सिर्फ सामान्य बोध होता है, इसी अत्यन्त सामान्य बोध को जैनदर्शन में 'दर्शन' और 'अवग्रह' की दशा में रखा जा सकता है। उसके पश्चात् Perception होता है, उसमें ईहा और अवाय का समावेश होता है, तत्पश्चात् Knowledge में धारणा का समावेश होता है। इन शब्दों को हम ध्यान में

---

१. (क) अवग्रहेहावाय धारणाः। –तत्त्वार्थसूत्र १/१५
(ख) तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम्। वही, १/१४
(ग) ज्ञान का अमृत से, पृ. १५५
(घ) अणुगाह-ईहावाय-धारणा करण-माणसेहिं छहा।
इय अट्ठवीसभेय.....॥ –कर्मग्रन्थ भा. १, गा. ५ (विवेचन)

रखकर मतिज्ञान-प्राप्ति के जैन पारिभाषिक शब्दों से समझने का प्रयत्न करेंगे तो इनकी संगति अपने आप बैठ जाएगी।[1]

द्रव्य पर्याय से अपृथक् होने से वस्तु का ज्ञान पर्याय से होता है

किसी भी वस्तु को जानने का अर्थ है-वस्तु को उसके पर्याय से जानना। पर्याय वस्तु के क्रमभावी धर्म होते हैं, वे वस्तु (द्रव्य) से अलग (पृथक्) नहीं होते। सामने पड़ी हुई वस्तु को जानने के लिए उस वस्तु के रंग, रूप, आकार आदि पर्यायों को जानने से उस वस्तु का आंशिक बोध हो जाता है। पर्याय को छोड़कर द्रव्य नहीं रह सकता अथवा पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता। इसलिए पर्याय को लेकर द्रव्य का ज्ञान होता है। निष्कर्ष यह है कि[2] सामने पड़ी हुई वस्तु के आकार-प्रकार, रंग-रूप और स्पर्श आदि का ज्ञान पर्यायों द्वारा ही होता है।

अतः सबसे पहले हम अवग्रह पर विचार करें। अवग्रह दो प्रकार का होता है-व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। अर्थावग्रह पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को कहते हैं। इसमें पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का सामान्य ज्ञान होता है। इसकी स्थिति एक समय की होती है। आँखें मूंद कर खोलें इतने में असंख्य समय हो जाते हैं। परन्तु ज्ञान की शुरुआत के एक समय में ऐसा अवग्रह होता है। लेकिन अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान व्यंजनावग्रह कहलाता है। यह नेत्र और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। इसकी जघन्य स्थिति आवलिका के असंख्यात भाग की और उत्कृष्ट २ से ९ श्वासोच्छ्वास तक है।[3] सारांश यह है कि जब इन्द्रियों का पदार्थ के साथ, प्रथम सम्बन्ध होता है तब 'यह कुछ है,' ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं। एक तरह से व्यंजनावग्रह के पुष्ट अंश को अर्थावग्रह कहा जा सकता है, क्योंकि व्यंजनावग्रह अर्थावग्रह से पहले होता है, और अत्यन्त अस्पष्ट होता है, उसे ही व्यंजनावग्रह कहते हैं, जो पदार्थ की सत्ता को ग्रहण करने पर ही होता है। अर्थात् पहले सत्ता की प्रतीति होती है, तत्पश्चात् व्यंजनावग्रह होता है। अतः अर्थावग्रह का फलितार्थ हुआ- इन्द्रियों का वस्तु के साथ सम्बन्ध होने से होने वाला अव्यक्त ग्रहण-परिच्छेदन।

वस्तु का सामान्य बोध होने में दो क्रम : पटुक्रम और मन्दक्रम

बात यह है कि वस्तु के सामान्य बोध होने में दो मुख्य क्रम होते हैं-एक पटुक्रम और दूसरा मन्दक्रम। मन्दक्रम में वस्तु का संयोग इन्द्रिय के साथ अवश्यम्भावी है।

---

१. जैनदृष्टिए कर्म से पृ. ७७
२. वही, पृ. ७७
३. (क) ज्ञान का अमृत से
(ख) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ७७, ७८
वंजणोवग्गहकालो आवलियाऽसंखभाग तुल्लो उ।
थोवा उक्कोसा पुण आणपाणु पुहुत्त ति ॥ -नन्दीसूत्र टीका

अर्थावग्रह पटुक्रम है; क्योंकि उसमें इन्द्रियों और मन के साथ पदार्थ-संयोग की जरूरत नहीं रहती। अर्थावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय से होता है। ये दोनों पदार्थों से अलग दूर रहकर ही उनको ग्रहण करते हैं। ये दोनों अप्राप्यकारी हैं। अर्थात्-पदार्थों के साथ संयोग किये बिना ही उनका ज्ञान कर लेते हैं। जैसे-पेटी का विचार करने के लिए मन का पेटी के साथ संयोग करने की जरूरत नहीं रहती। इसी प्रकार हजारों मील दूर आकाश में अवस्थित चन्द्रमा या तारों को जानने के लिए आँखों को उनके पास ले जाने या उनसे संयोग कराने की जरूरत नहीं रहती। यह पटुक्रम है। दूसरा मन्दक्रम है, वह है-व्यञ्जनावग्रह। व्यंजन का अर्थ ही है-संयोग, या सम्बन्ध (कान्टेक्ट-Contact)। इसलिए व्यंजनावग्रह में इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग-सम्बन्ध या स्पर्श होना जरूरी है। स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र, ये चारों इन्द्रियाँ पदार्थों के साथ संयोग करके ही उसका ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं, ये प्राप्यकारी कहलाती हैं। अतः व्यंजनावग्रह प्राप्यकारी चार इन्द्रियों से होने के कारण उसके ४ भेद होते हैं-(१) स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह और (४) श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह। पहले अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा को लेकर प्रत्येक के छह-छह प्रकार होने से ६×४=२४ भेद मतिज्ञान के बताये गए थे। व्यंजनावग्रह के पूर्वोक्त ४ भेद मिल कर २८ भेद मतिज्ञान के हुए।[1]

इन्हें स्पष्ट रूप से यों समझिए-अर्थावग्रह के ६ भेद-(१) स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, (४) चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, (५) श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह और (६) मन-अर्थावग्रह। ये ६ भेद तथा इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों के नामों तथा मन के साथ क्रमशः ईहा, अवाय और धारणा को जोड़ने से इनके भी ६+६+६=१८ भेद, पहले के ६ भेद के साथ मिलाने से २४ भेद हुए और व्यंजनावग्रह के ४ मिलकर २८ भेद मतिज्ञान के हुए।

पूर्वोक्त २८ प्रकार का मतिज्ञान बारह-बारह प्रकार से

ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है। क्षयोपशम की तरतमता के कारण कभी वह एक प्रकार के पदार्थों को तो कभी अनेक प्रकार के पदार्थों को जानता है। कभी पदार्थ का शीघ्र ज्ञान हो जाता है, तो कभी विलम्ब से होता है इत्यादि। अतः पांचों इन्द्रियों और मन, इन ६ साधनों (करणों) से होने वाले मतिज्ञान के अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के रूप से जो २४ भेद कहे हैं, वे क्षयोपशम तथा विषय की विचित्रता के कारण बारह-बारह प्रकार के होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-(१) बहु, (२) बहुविध, (३) क्षिप्र, (४) अनिश्रित, (५) असंदिग्ध और (६) ध्रुव तथा

---

१. (क) जैनदृष्टिए कर्म से पृ.-७७, ७९
(ख) जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण-आचार्य देवेन्द्र मुनि

(७) अल्प, (८) अल्पविध, (९) अक्षिप्र (चिर), (१०) निश्रित, (११) संदिग्ध और (१२) अध्रुव।[1]

बहु-बहुविध आदि के अर्थ और विश्लेषण

बहु का अर्थ है–अनेक और अल्प का आशय है–एक। जैसे–दो से अधिक (बहु) तथा दो (अल्प) पुस्तकों को जानना, ये ही बहुग्राही और अल्पग्राही है। बहुत-सी पुस्तकों को जानने के बहुग्राही अवग्रह से धारणा-पर्यन्त ६ भेद होते हैं, इसी प्रकार अल्पग्राही (एक) पुस्तक को जानने के भी। इसी प्रकार धारणापर्यन्त ६ भेद समझ लेने चाहिए। इसी प्रकार बहुविध का आशय अनेक प्रकार से और एकविध का अर्थ–एक प्रकार से। इनका मतलब किस्म या जाति से है। इनके भी अर्थावग्रह से धारणा पर्यन्त ६+६ भेद समझ लेने चाहिए। क्षिप्र का अर्थ शीघ्र और अक्षिप्र का अर्थ–विलम्ब से है। इन क्षिप्रग्राही और अक्षिप्रग्राही के भी अवग्रह से लेकर धारणा तक ६+६=१२ भेद होते हैं। अनिश्रित का अर्थ–हेतु द्वारा असिद्ध और निश्रित का अर्थ है, हेतु द्वारा सिद्ध वस्तु। जैसे पूर्व में अनुभूत शीतल, कोमल और स्निग्ध स्पर्श रूप हेतु से जूही के फूलों को जानने वाले अवग्रहादि चारों ज्ञान निश्रितग्राही तथा उक्त हेतु के बिना ही उन फूलों को जानने वाले अनिश्रितग्राही अवग्रहादि कहलाते हैं। तत्पश्चात् असंदिग्ध का अर्थ–निश्चित और संदिग्ध का अर्थ–अनिश्चित है। जैसे–यह चंदन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं, यह असंदिग्ध और यह चंदन का स्पर्श होगा या फूल का; यह संदिग्ध ग्राही अवग्रहादि है। पहले हुआ था, वैसा ही बाद में होना ध्रुवग्रहण तथा पहले और पीछे होने वाले ज्ञान में न्यूनाधिक रूप से अन्तर आ जाना अध्रुव-ग्रहण है। जैसे कोई मनुष्य साधन-सामग्री होने पर उस विषय को पूर्ववत् अवश्य जान लेता है और दूसरा कभी उसे जान लेता है, कभी नहीं; दोनों के अवग्रहादि ज्ञान क्रमशः[2] ध्रुवग्राही और अध्रुवग्राही कहलाते हैं। क्षयोपशम की तीव्रता के कारण विषय को अवश्य ग्रहण करने वाले ध्रुवग्राही अवग्रहादि, तथा क्षयोपशम की मन्दता के कारण विषय को कभी ग्रहण करने वाले तथा कभी नहीं करने वाले अध्रुवग्राही अवग्रहादि कहलाते हैं।

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव इन ६ से होने वाले ज्ञान में विशिष्ट क्षयोपशम, उपयोग की एकाग्रता, अभ्यस्तता, ये असाधारण कारण हैं तथा अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव इन ६ से होने वाले ज्ञान में

---

१. (क) कर्मग्रन्थ प्रथम भाग, विवेचन (मरुधर केसरीजी) से, पृ. २६
(ख) बहु-बहुविध-क्षिप्रानिश्रितानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्। –तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. १६

२. (क) कर्मग्रन्थ प्रथम भाग (मरुधर केसरीजी) से पृ. २७ से ३० तक
(ख) छव्विहा उग्गहमती पण्णत्ता·····खिप्पमीहति बहुमीहति जाव असंदिद्धमीहति।·····छव्विहा धारणा प.तं.–बहुं धारेइ बहुविहं धारेइ पोराणं धारेइ, दुद्धरं धारेइ अणिस्सियं धारेइ, असंदिद्धं धारेइ। –स्थानांग सूत्र ८ स्था. सू. ५१२

क्षयोपशम की मंदता, उपयोग की व्यग्रता या विक्षिप्तता और अनभ्यस्तता, ये अन्तरंग असाधारण कारण हैं।

पूर्वोक्त १२ प्रकारों में से बहु, अल्प, बहुविध और अल्पविध, ये चार भेद विषय की विविधता पर तथा क्षिप्र आदि शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर आधारित हैं।[1]

मतिज्ञान के ३३६ भेदों का विश्लेषण

इस प्रकार पांच इन्द्रियों और मन इन ६ के माध्यम से मतिज्ञान होता है, इन दोनों प्रकारों को इन्द्रियनिमित्त और अनिन्द्रियनिमित्त कहा गया है। इन छहों को अर्थ-अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के साथ जोड़ने से २४ भेद बन जाते हैं, तथा चक्षु और मन के अलावा शेष ४ इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह भी होता है, अतः २४ के साथ इन ४ को जोड़ने से २४+४=२८ भेद मतिज्ञान के हुए। इन अट्ठाइस भेदों को प्रत्येक को बहु, बहुविध आदि १२ भेदों से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८×१२=३३६ भेद हो जाते हैं।

मतिज्ञान के ३४०-३४१ भेदों का विवरण

प्रकारान्तर से ३३६ भेद इस प्रकार से भी होते हैं। अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों में से प्रत्येक के ५ इन्द्रियों और मन से होने के कारण ४×६=२४ भेद हुए, फिर २४ को बहु आदि १२ के साथ गुणा करने से २४×१२=२८८ भेद हुए। तथा व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के सिवाय शेष ४ इन्द्रियों से होने के कारण चार प्रकार के व्यंजनावग्रह का पूर्वोक्त बहु आदि १२ के साथ गुणा करने से ४×१२=४८ भेद हुए। २८८ और ४८ को जोड़ने पर मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं। ये ३३६ भेद श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के होते हैं, इनके साथ औत्पातिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी, इन अश्रुतनिश्रित चार बुद्धियों को मिलाने से ३४० भेद हुए। जातिस्मरण ज्ञान को मिलाने से ३४१ भेद हो जाते हैं।[2]

चारों बुद्धियों का स्वरूप

(१) जिस बुद्धि के द्वारा पहले बिना सुने, बिना जाने हुए पदार्थों के यथार्थ अर्थ और अभिप्राय को तत्काल ग्रहण करके कार्य को सिद्ध कर लेना वह औत्पात्तिकी बुद्धि है। इसमें स्फुरणा शक्ति तथा प्रतिभा की प्रबलता होती है। नन्दीसूत्र में नटपुत्र रोहक की बुद्धि का दृष्टान्त है। (२) संतजनों, वृद्धजनों तथा गुरुजनों की सेवाशुश्रूषा

---

१. कर्मग्रन्थ भा. १ (मरुधर केशरी जी) गा. ६ विवेचन से, पृ. ३१

२. (क) वही, भा. १, पृ. ३१, ३२

(ख) जं बहु-बहुविह-खिप्पा अणिस्सिय-निच्छिय-धुवेयरविभिन्ना। पुणरोग्गहादओ तो तं छत्तीसत्तिसयभेदं ॥ —इसिभासियारेण (भाष्यकारेण)

तथा विनयभक्ति से प्राप्त होने वाली बुद्धि वैनयिकी है। (३) कर्म अर्थात् सतत अभ्यास और विचार से, आनुवंशिकता से वृद्धिंगत होने वाली बुद्धि कार्मिकी या कर्मजा है। (४) पारिणामिकी-अतिदीर्घकाल तक पूर्वापर पदार्थों को देखने आदि, अवस्था के अनुसार अनुभव की परिपक्वता से होने वाला आत्मा का जो परिणाम है, उससे पैदा होने वाली बुद्धि पारिणामिकी होती है।[1]

मतिज्ञानावरणीय कर्म का परिष्कृत एवं सामान्य स्वरूप

अतः मतिज्ञान के इन सब भेदों के रूप में आवरण करने वाले कर्मों को मतिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। अर्थात्-मतिज्ञान के जितने भी भेद हैं, उन सब भिन्न-भिन्न नाम वाले मतिज्ञानों का आवरण करने वाले कर्म मतिज्ञानावरण कहे जाएंगे। चूंकि वे सब मतिज्ञान के प्रकार होने के नाते सामान्यरूप से उन सबका मतिज्ञान शब्द से और उन-उनका आवरण करने वाले कर्मों को मतिज्ञानावरणीय शब्द से ग्रहण करना चाहिए।[2]

मतिज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण

मतिज्ञानावरणीय कर्मबन्ध पांचों इन्द्रियों और मन से विषयों या पर-पदार्थों के प्रति राग, द्वेष, मोह, आसक्ति या घृणा करने से, इन इन्द्रियों में से किसी जीव के किसी इन्द्रिय की विकलता हो, मन्दता हो, या मन से यथार्थ मननादि करने का सामर्थ्य न हो, अथवा पांचों इन्द्रियों का दुरुपयोग किया जा रहा हो, अशुभ विषयों में उस-उस इन्द्रिय को या मन को प्रवृत्त किया जा रहा हो, वहाँ मतिज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है।[3]

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द तथा मतिज्ञानावरणीय का प्रभाव

मतिज्ञान के मति (बुद्धि), स्मृति, संज्ञा, चिन्ता (चिन्तन) और अभिनिबोध, ये पर्यायवाची (समानार्थक) हैं, मतिज्ञान में ही इनका समावेश हो जाता है। नंदीसूत्र में आभिनिबोधिक ज्ञान के अन्तर्गत ये नाम भी बताए हैं-ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), स्मृति, मति और प्रज्ञा। मतिज्ञानावरणीय के उदय से अथवा प्रभाव से बुद्धिमन्दता, स्मृतिमन्दता अथवा स्मृतिलुप्तता, चिन्तनशक्ति की अक्षमता, यथार्थ चिन्तन का अभाव, ऐन्द्रिय एवं मानसिक ज्ञान क्षमता का अभाव या मन्दता

---

१. (क) असुयनिस्सियं चउव्विहं प. तं.-उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मिया, परिणामिया। बुद्धी चउविहा-वुत्ता, पंचमी नोवलब्भई। -नन्दीसूत्र ३६
(ख) देखें इन चारों बुद्धियों के लक्षण, नन्दीसूत्र गा. ६९, ७६, ७३, ७८।
(ग) ठाणांग स्था. ४/४/३६४

२. कर्मप्रकृति सं. पृ. ९

३. रे कर्म तेरी गति न्यारी से भावांश ग्रहण, पृ. ९२१

आदि होते हैं। 'नव पदार्थ ज्ञान सार' में विपाक की दृष्टि से इनके १० भेद बताये हैं–(१) श्रवण-शक्ति का अभाव, (२) सुनने से प्राप्त होने वाले ज्ञान की अनुपलब्धि, (३) दृष्टिशक्ति का अभाव, (४) दृश्यज्ञान की अनुपलब्धि, (५) गन्ध-ग्रहणशक्ति का अभाव, (६) गन्ध सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, (७) स्वाद-ग्रहण करने की शक्ति का अभाव, (८) स्वाद सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि, (९) स्पर्श-ग्रहण क्षमता का अभाव और (१०) स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान की अनुपलब्धि।[1]

मतिज्ञान : सम्यग् और मिथ्या; बन्धकारण समान

यद्यपि पांचों इन्द्रियों और मन से जो ज्ञान सम्यक्त्व युक्त एवं यथार्थ रूप से होता है, उसे ही मतिज्ञान कहा जाता है, इसके विपरीत जो ज्ञान इन्हीं से अयथार्थ रूप से सम्यक्त्व-रहित यानी मिथ्यात्वयुक्त होने से होता है, उसे मति-अज्ञान कहा जाता है। यह अन्तर समझ लेना चाहिए। बन्ध का कारण दोनों में समान है।[2]

श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानावरणीय : स्वरूप और लक्षण

शब्द को सुनकर जो अर्थ का ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं, अथवा इन्द्रिय और मन की सहायता से शास्त्रों को पढ़ने और सुनने से जो बोध होता है, उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान के अनन्तर शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से यह ज्ञान होता है। द्रव्यसंग्रह के अनुसार–श्रुतज्ञान का लक्षण है–श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो मूर्तिक-अमूर्तिक वस्तु को लोक तथा अलोक की व्याप्ति-ज्ञानरूप से अस्पष्ट जानता है; अथवा वाच्य-वाचक भावसम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण करने वाला इन्द्रिय-मन-कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे–घट शब्द को सुनने या आँख से देखने पर उसके बनाने वाले तथा उसके रंग-रूप आदि तत्सम्बन्धित विभिन्न विषयों की विचारणा श्रुतज्ञान से की जाती है। श्रुतज्ञान के १४ या २० भेद आगमों एवं ग्रन्थों में बताये गए हैं। सामान्यतया श्रुतज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं। विशेषतः श्रुतज्ञान के जो १४ या २० भेद कहे हैं, उनको आवृत करने वाले कर्मों को भी सामान्यरूप से श्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं।[3]

---

१. (क) मति-स्मृतिः संज्ञा चिन्ता इत्यनर्थान्तरम्। –तत्त्वार्थसूत्र
(ख) ईहा-अपोह-वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई, मई पन्ना, सव्वं आभिणिबोहिअं॥ –नंदीसूत्र ८०
(ग) नवपदार्थज्ञानसार से पृ. २३६

२. कर्मप्रकृति से भावांशग्रहण, पृ. ५

३. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ (मरुधर केशरीजी) से पृ. १६-१७
(ख) कर्मप्रकृति से पृ. ६
(ग) श्रुतज्ञानावरण-क्षयोपशमात् ..... मूर्तामूर्तेषु लोकालोक व्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत् श्रुताज्ञानं भण्यते। –द्रव्य संग्रह टीका गा. ५

मतिज्ञान से श्रुतज्ञान की विशेषता

मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी इन्द्रियों और मन की सहायता अपेक्षित होती है, फिर दोनों में क्या अन्तर है?[1] इन दोनों के अन्तर का एक कारण तत्त्वार्थसूत्र में बताया कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। किसी भी विषय का श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले उसका मतिज्ञान होना आवश्यक है। अमुक शब्दों को सुनकर श्रवणेन्द्रिय से जो शब्दमात्र का ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। जो व्यक्ति किसी भाषा को नहीं जानता है, वह भी यह God (गॉड) शब्द है, इतना मतिज्ञान से जान लेता है, परन्तु God शब्द का अर्थ भगवान् होता है, यह उस भाषा का जानकार ही जान सकता है। अतः अमुक शब्द का यह अर्थ है, इस प्रकार का जो ज्ञान उक्त भाषा के ज्ञाता को होता है, वह श्रुतज्ञान है; जोकि मतिज्ञान के पश्चात् ही हुआ करता है। इस दृष्टि से मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य; क्योंकि मतिज्ञान होने के कारण श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है, किन्तु वह बहिरंग कारण है। अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। यही कारण है कि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता। जबकि मतिज्ञान के लिये मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है।

इसके सिवाय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में विषयकृत अन्तर भी है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है, जबकि श्रुतज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान, इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। मतिज्ञान मूक है, उसमें शब्दोल्लेख नहीं होता, जबकि श्रुतज्ञान शब्दोल्लेख सहित है। दोनों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समान होने पर भी मति की अपेक्षा श्रुत का विषय अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है। श्रुतज्ञान में मनोव्यापार की प्रधानता होने से विचारांश अधिक और स्पष्ट होता है, तथा पूर्वापर क्रम भी बना रहता है। अर्थात्—इन्द्रिय-मनोजन्य दीर्घ ज्ञान व्यापार का पूर्ववर्ती अपरिपक्व अंश मतिज्ञान है और उत्तरवर्ती परिपक्व अंश है—श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान भाषा में अवतरित किया जा सकता है—मतिज्ञान नहीं।[1]

शास्त्रज्ञान की अपेक्षा से श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंग-प्रविष्ट के आचारांग आदि १२ (अंगशास्त्र) भेद हैं, जबकि अंगबाह्य के औपपातिक आदि १२ उपांग, ४ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र (उत्तराध्ययनादि) और षड्आवश्यक, १० प्रकीर्णक आदि अनेक भेद हैं।[2]

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन, (पं.-सुखलालजी) से, पृ. २५
(ख) रे कर्म तेरी गति न्यारी से
(ग) श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् । तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम् । —तत्त्वार्थसूत्र

२. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलालजी) देखें, अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट की व्याख्या
(ख) कर्मप्रकृति से पृ. ६

दूसरी दृष्टि से श्रुतज्ञान के १४ और २० भेद हैं। चौदह भेद इस प्रकार हैं–(१) अक्षरश्रुत–अक्षरज्ञानरूपश्रुत, (२) संज्ञीश्रुत–द्रव्यमन वाले संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों का श्रुत, (३) सम्यक्श्रुत–सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत, (४) सादि श्रुत–जिसकी आदि हो, ऐसा शास्त्र या ग्रन्थ आदि, (५) सपर्यवसितश्रुत–जिसका अन्त हो, ऐसा शास्त्र या ग्रन्थ और (६) गमिकश्रुत–आदि, मध्य और अन्त में कुछ विशेषता के साथ उसी सूत्र को बार-बार कहना, (७) अंग-प्रविष्टश्रुत–आचारांग से लेकर दृष्टिवाद तक १२ अंग, जो साक्षात् भगवान् द्वारा अर्थरूप में भाषित, गणधरों द्वारा रचित हैं। सात इनके प्रतिपक्षी हैं–(८) अनक्षरश्रुत,[1] (९) असंज्ञीश्रुत, (१०) मिथ्याश्रुत, (११) अनादिश्रुत, (१२) अपर्यवसितश्रुत, (१३) अगमिकश्रुत, (१४) अंगबाह्यश्रुत। पहले के जो सात भेद बताए थे, उनसे ये विपरीत हैं, इसलिए उनसे विपरीत अर्थ समझना।

श्रुतज्ञान के बीस भेद : स्वरूप और निमित्त

श्रुतज्ञान के बीस भेद इस प्रकार से समझने चाहिए–

(१) पर्यायश्रुत–उत्पत्ति के समय लब्धपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के होने वाले कुश्रुत के अंश से दूसरे समय में ज्ञान का जितना अंश बढ़ता है, वह पर्यायश्रुत है।

(२) पर्यायसमासश्रुत–उक्त पर्यायश्रुत का समुदाय अथवा दो-तीन आदि संख्याएँ।

(३) अक्षरश्रुत–अकारादि लब्ध्यक्षरों में से किसी एक अक्षर का ज्ञान।

(४) अक्षरसमासश्रुत–लब्ध्यक्षरों का समूह, एक दो आदि संख्याओं का ज्ञान।

(५) पदश्रुत–अर्थावबोधक अक्षरों के समुदाय–पद का ज्ञान।

(६) पदसमासश्रुत–पदों के समुदाय का ज्ञान।

(७) संघातश्रुत–गति आदि १४ मार्गणाओं में से एक मार्गणा का आंशिक (एकदेशिक) ज्ञान।

(८) संघात-समासश्रुत–किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान।

(९) प्रतिपत्तिश्रुत–गति, इन्द्रिय आदि द्वारों में से किसी एक द्वार के जरिये समग्र संसार के जीवों को जानना।

(१०) प्रतिपत्तिसमासश्रुत–गति आदि दो चार द्वारों के जरिये जीवों को जानना।

(११) अनुयोगश्रुत–'संतपय-परूवणा-दव्वप्पमाणं च' इस गाथा में उक्त अनुयोग द्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना।

---

१. ऊससियं नीससियं निच्छुढं खासियं च छीयं च।
निस्सिंधियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं॥ –नंदीसूत्र गा. ८८

(१२) अनुयोगसमासश्रुत–एक से अधिक दो-तीन अनुयोगद्वारों का ज्ञान।

(१३) प्राभृत-प्राभृतश्रुत–दृष्टिवाद अंग के २४ प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार में से किसी एक का ज्ञान होना।

(१४) प्राभृत-प्राभृत-समासश्रुत–दो चार प्राभृत-प्राभृतों का ज्ञान होना।

(१५) प्राभृतश्रुत–कई प्राभृत-प्राभृतों का एक प्राभृत होता है, उस एक का ज्ञान होना।

(१६) प्राभृत-समासश्रुत–एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान होना।

(१७) वस्तु-श्रुत–कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है, उसमें से एक का ज्ञान।

(१८) वस्तु-समासश्रुत–दो चार वस्तु-अधिकारों का ज्ञान होना।

(१९) पूर्वश्रुत–अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है। उसमें से एक का ज्ञान होना।

(२०) पूर्व-समास-श्रुत–दो चार आदि चौदह पूर्वों तक का ज्ञान होना।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। शास्त्रज्ञान के बल से श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों को जानते हैं।[1]

श्रुतज्ञान के इन सब भेदों के आवरण करने वाले कर्मों को भी सामान्यापेक्षया श्रुत ज्ञानावरणीय कहते हैं। मतिज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के जो कारण बताये थे, प्रायः वे ही श्रुतज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण हैं।

मतिश्रुत दोनों सहचारी ज्ञान हैं

प्रत्येक संसारी जीव में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों होते हैं, दोनों ही ज्ञान सहचारी हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं, उनमें ये दोनों ज्ञान मिथ्यारूप में रहते हैं, और सम्यग्दृष्टि में सम्यक्‌रूप में।

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का परिष्कृत लक्षण और कार्य

निष्कर्ष यह है कि श्रुतज्ञानरूप आत्मशक्ति या आत्मगुण को जो कर्मशक्ति आच्छादित कर देती है, दबा देती है या ग्रहण बनकर उसे ग्रस लेती है, उसे श्रुतज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। स्पष्ट है कि श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के उदय से बौद्धिक ज्ञान या पूर्वोक्त श्रुतज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। अथवा अत्यन्त मन्द होती है। विस्मृति आदि कारणों से दब जाती है।[2]

---

१. (क) अक्खर-सन्नी-सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥
पज्जय-अक्खर-पय-संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो।
पाहुड-पाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य ससमासा ॥
–कर्मग्रन्थ भा. १, गा. ६-७, विवेचन (मरुधर केसरी) पृ. ३४

(ख) नन्दीसूत्र में देखें–सुयनाणं परोक्खं चोद्दसविहं पण्णत्तं तं. अक्खरसुयं ..... अणंगपविट्ठं।

२. ज्ञान का अमृत से पृ. १९१

अवधिज्ञान, अवधिज्ञानावरणीय : स्वरूप और प्रकार

मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त्त पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है। अवधि का अर्थ सीमा या मर्यादा है। वह रूपी पदार्थों को ही प्रत्यक्ष करता है, अरूपी को नहीं, यह एक मर्यादा है। वह अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा (सीमा) में ही रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, यह दूसरी मर्यादा है। अथवा अधः शब्द नीचे (अधो) अर्थ का वाचक है। जो ज्ञान अधोऽधो विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की क्षमता रखता है, वह अवधिज्ञान है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आँखें बंद कर लेने पर भी हजारों माइल दूर रहे हुए सजीव निर्जीव पदार्थों या घटना को उसी तरह जान-देख लेता है, जिस प्रकार खुली आँखों वाला जानता-देखता है।[1]

अवधिज्ञान के मूल दो भेद : स्वरूप और अधिकारी

अवधिज्ञान के मूल भेद दो हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय या क्षयोपशमजन्य। भव का अर्थ है—जन्म, वही (जिस गति बंधने के लिए) प्रत्यय—कारण है, वह भव-प्रत्यय अवधिज्ञान है। अर्थात्—जो अवधिज्ञान इस-उस गति में जन्म लेने से ही प्रगट होता है, उसके लिए तप, संयम, व्रत आदि अनुष्ठान नहीं करने पड़ते, वह भव-प्रत्यय अवधिज्ञान है। ऐसा अवधिज्ञान नारकों और देवों को अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार जन्म से ही होता है, जो सम्यग्दृष्टि होता है, उसे सम्यक् अवधिज्ञान होता है, और जो मिथ्यादृष्टि होता है, उसे मिथ्या अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) प्राप्त होता है। गुणप्रत्यय या क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान मनुष्यों और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में से किसी-किसी को तप-जप व्रतादि कारणों से प्रबल आध्यात्मिक साधना से तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से होता है। उसे गुणप्रत्यय या क्षयोपशम-जन्य अवधिज्ञान कहते हैं। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिज्ञान जन्म से मृत्यु-पर्यन्त देव-नारकों को होता है, फिर भी उसमें क्षयोपशम तो अपेक्षित है ही।[2]

---

१. (क) ज्ञान का अमृत, पृ. १९१
   (ख) कर्मप्रकृति से, पृ. ७
   (ग) अव—अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, अथवा अवधि-मर्यादा रूपिष्वेव। ... यद्वा अवधानं आत्मनोऽर्थं साक्षात्करण-व्यापारोऽवधिः। अवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानम्। —नन्दीसूत्र टीका
   (घ) रूपिष्ववधेः। —तत्त्वार्थ सूत्र १/२८
   (ङ) द्विविधोऽवधिः। —तत्त्वार्थसूत्र १/२०
२. (क) ओहिनाण-पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भव पच्चइयं खाओवसमियं च। —नंदीसूत्र ६
   (ख) तं च ओहिनाणं दुविहं—भवपच्चइयं गुणपच्चइयं चेव। —षट्खण्डागम १३
   (ग) दोण्हं भवपच्चइए पण्णत्ते तं.—देवाणं चेव नेरइयाणं चेव।—ठाणांग, स्थान २ उ. १ सू. ६१
   (घ) भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्। —तत्त्वार्थसूत्र १/२१
   (ङ) दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते, तं.—मणुस्साणं चेव पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं चेव।
   —स्थानांग, स्था. २, उ. १ सू. ७१

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह प्रकार

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान भी जिन मनुष्यों या पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों को होता है, वह भी सबको एक सरीखा नहीं होता, अपनी-अपनी स्थिति तथा क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के अनुसार न्यूनाधिक रूप में होता है। इसीलिए गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के वृद्धि-हानि की अपेक्षा से ६ भेद बताए हैं–अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अप्रतिपाती।

अनुगामी–जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी विद्यमान रहता है, वहाँ भी उतने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा में जानता है।

अननुगामी–जो अवधिज्ञान साथ न चले, जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ, उसी स्थान में स्थित होकर पदार्थों को जानता है, उसे अननुगामी कहते हैं।

वर्धमान–जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अल्पविषय वाला होने पर भी परिणाम विशुद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए दिनों-दिन अधिकाधिक बढ़े, अधिकाधिक विषय वाला हो।

हीयमान–जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणामों की अशुद्धि के कारण दिनोंदिन क्रमशः अल्प, अल्पतर और अल्पतम विषय वाला हो।

प्रतिपाती–प्रतिपाती का अर्थ है–गिर जाना, पतन होना। जो अवधिज्ञान प्रतिपाती–अर्थात् गिर जाने वाला हो। वायु के झोंके से जलते हुए दीपक के सहसा बुझ जाने के समान, जीवन के किसी भी क्षण में अकस्मात् लुप्त हो जाए, फिर उत्पन्न हो और लुप्त हो जाए।

अप्रतिपाती–अवधिज्ञान एक बार प्राप्त होने पर फिर कदापि लुप्त न हो, स्वभावतः अपतनशील हो। केवलज्ञान होने पर भी यह ज्ञान लुप्त न होकर केवलज्ञान में समा जाता है। कहीं कहीं प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्थान पर अनवस्थित और अवस्थित ये दो नाम हैं। इन दोनों का तात्पर्य भी। प्रायः प्रतिपाती-अप्रतिपाती के समान है।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा अवधिज्ञान का निरूपण

द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवधिज्ञान का वर्णन इस प्रकार है–

---

१. (क) छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते तंजहा–
अणुगामिते, अणाणुगामिते, वड्ढमाणते, हीयमाणते, पडिवाती, अपडिवाती।
–स्थानांग, स्थान ६ सू. ५२६

(ख) नंदीसूत्र ८

(ग) अणुगामि वड्ढमाण पडिवाइयर विहा छहा ओहिंमे। –कर्मग्रन्थ भा. १, गा. ८

द्रव्य से–अवधिज्ञानी कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों को और अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

क्षेत्र से–अवधिज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यों को तथा उत्कृष्टतः लोक के क्षेत्रगत रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है। अलोक के भी असंख्यात खण्ड करके जान-देख सकता है।

काल से–अवधिज्ञानी जघन्यतः आवलिका के असंख्यातवें भाग में आगत रूपी-द्रव्यों को जानता-देखता है; उत्कृष्टतः असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण अतीत अनागत काल के रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

भाव से–जघन्यतः वह रूपी द्रव्य की अनन्त पर्यायों को तथा उत्कृष्टतः भी अनन्त पर्यायों को जानता-देखता है। आनन्द, महाशतक आदि श्रावकों को ऐसा ही मर्यादित अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था।[1]

प्रतिपाती अवधिज्ञान : एक दृष्टान्त

प्रतिपाती अवधिज्ञान को एक उदाहरण से समझिए–एक मुनि कायोत्सर्ग में खड़े थे। परिणाम विशुद्धि इतनी बढ़ी कि उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। अवधिज्ञान से उन्होंने देवलोक में उपयोग किया। वहाँ उन्होंने एक विचित्र दृश्य देखा। इन्द्र अपनी इन्द्राणी के साथ शय्या पर बैठा है। मानिनी इन्द्राणी ने किसी कारण वश रुष्ट होकर इन्द्र के लात मार दी। फिर भी इन्द्र ने मोहवश इन्द्राणी के पैर को सहलाते हुए पूछा–"कहीं तुम्हारे पैर में चोट तो नहीं लगी।" इन्द्र का मोहजनित व्यवहार देखकर मुनिजी को जरा-सी हंसी आ गई। मुनि ज्यों ही हंसे कि आया हुआ उनका अवधिज्ञान तुरंत चला गया। इसी प्रकार कुतूहल, आश्चर्य, हास्य आदि कारणों से आया हुआ अवधिज्ञान फौरन चला जाता है।[2]

अवधिज्ञानावरणीय कर्मबन्ध : स्वरूप और कारण

इन सभी भेद वाले अवधिज्ञान के आवरक कर्मों को अवधिज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। अवधिज्ञानावरण कर्म के उदय (प्रभाव) से आत्मा की अतीन्द्रिय ज्ञान क्षमता का अभाव हो जाता है। अवधिज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारण हैं–आत्मा की अतीन्द्रिय ज्ञान शक्ति का अपलाप, उसके प्रति अश्रद्धा, आत्मा की ज्ञानशक्ति का निरर्थक एवं अनर्थकर कार्यों में व्यय करना, आत्मज्ञानी पुरुषों की अविनय आशातना करना, आत्मज्ञान प्राप्ति में रोड़ा अटकाना आदि।[3]

---

१. कर्मग्रन्थ भा. १ विवेचन (मरुधर केशरीजी) से पृ. ५१, ५२
२. रे कर्म तेरी गति न्यारी से पृ. ९६
३. कर्मप्रकृति से पृ. ७

मनःपर्यायज्ञान, मनःपर्यायज्ञानावरण : स्वरूप और कार्य

इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से मर्यादापूर्वक जो ज्ञान संज्ञी (समनस्क) जीवों के मनोगत पर्यायों (भावों) को जानता है, वह मनःपर्यायज्ञान कहलाता है। संज्ञी (मन वाला) जीव जब मन में किसी वस्तु का चिन्तन-मनन करता है, तब मन चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार भिन्न भिन्न आकृतियाँ धारण करता है। ये आकृतियां ही मन के पर्याय हैं। मन की इन पर्यायों (आकृतियों) को आत्मा से साक्षात् (Direct) जानने वाला ज्ञान मनःपर्यायज्ञान कहलाता है। अथवा दूसरे के मनोगत अर्थ (मनोभाव) को मन कहते हैं, उसके मन के सम्बन्ध से उस पदार्थ के पर्ययण जानने को या मनःपर्याय-ज्ञानावरण के क्षयोपशम आदि रूप सामग्री के निमित्त से परकीय मनोगत अर्थ के जानने को मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं। मनःपर्याय ज्ञान का आवरण-आच्छादन करने वाला कर्म मनःपर्याय ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।[1]

इस ज्ञान के बल से मनन की जाने वाली वस्तुएं नहीं जानी जातीं, किन्तु मन की आकृतियाँ (पर्यायें) जानी जाती हैं। मनन की जाने वाली वस्तुओं का बोध तो बाद में अनुमान के द्वारा होता है। जैसे–मानसशास्त्रवेत्ता व्यक्ति किसी का चेहरा या हाव-भाव देखकर उसके आधार पर उस व्यक्ति के मनोगत भावों का ज्ञान अनुमान से कर लेता है, वैसे ही मनःपर्यायज्ञानी मनःपर्यायज्ञान से मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष करके फिर अभ्यासवश ऐसा अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया है, क्योंकि इसका मन इस वस्तु के चिन्तन से होने वाली आकृति से युक्त है।

मानसशास्त्रियों का कहना है–हमारे मानस में जो भी संकल्प-विकल्प चलता है, या जो भी विचारों की लहरें उठती हैं, मानस-पटल पर उनके चित्र उतर आते हैं, मनःपर्यायज्ञानी इन चित्रों को देखता है, जान लेता है, चित्रों के आधार पर जिन विचारों को लेकर मन में वे चित्र बने हैं, उन विचारों का भी अनुमान लगा लेता है। फलतः वह मन की सोची हुई बात तत्काल बता देता है।[2]

मनःपर्यायज्ञान और अवधिज्ञान में क्या अन्तर है?

मनःपर्यायज्ञान और अवधिज्ञान में क्या अन्तर है? यह भी जान लेना आवश्यक है। अवधिज्ञान में घड़ा, पैंसिल, हाथी, ऐरोप्लेन आदि रूपी द्रव्य दिखाई देते हैं परन्तु घड़ों के लाने वाले, या पैंसिल से लिखने वाले के मन में क्या चिन्तन चल रहा है? या ऐरोप्लेन चलाने वाला मन में उसे कहाँ ले जाने की योजना बना रहा है? अथवा हाथी क्या करना चाहता है? इसका पता अवधिज्ञान-युक्त जीव को नहीं चलता। अवधिज्ञान

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलालजी) से पृ. २१.
(ख) ज्ञान का अमृत से पृ. २१४

२. ज्ञान का अमृत, पृ. २१४-२१६

से वह वस्तु को जाती-आती या नष्ट होती देख सकता है, परन्तु उस वस्तु के विषय में प्राणी के मन में चल रहे विचार या उनमें होने वाले परिवर्तनों, उतार-चढ़ावों को वह नहीं जान सकता। जबकि मनःपर्यायज्ञानी संज्ञी पंचेन्द्रिय समनस्क प्राणी के मन में उठते एवं बदलते हुए भावों-परिणामों और विचारों को, उनके रूपी होने के कारण जान-देख सकता है। यही अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में अन्तर है।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में अन्तर

'तत्त्वार्थसूत्र' में अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान का अन्तर बताते हुए कहा गया है-इन दोनों में विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामिकृत और विषयकृत अन्तर पाया जाता है। मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा विशुद्धतर है; यानी अन्तर्विशुद्धि अवधिज्ञानी से अधिक होती है। क्योंकि मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत गहराई से, विशदरूप से जानता है। अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर समग्र लोक है, जबकि मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त ही है। अवधिज्ञान के स्वामी चारों गतियों के जीव हो सकते हैं, जबकि मनःपर्यायज्ञान के स्वामी केवल संयत (संयमी) मानव ही हो सकते हैं। अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय-सहित रूपी द्रव्य है, पर मनःपर्यायज्ञान का विषय तो केवल उसका अनन्तवाँ भाग है, वह भी संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जान सकता है। अर्थात्-अवधिज्ञान के द्वारा सब प्रकार के पुद्गल द्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं, परन्तु मनःपर्यायज्ञान के द्वारा केवल मनरूप बने हुए मूर्तद्रव्यों (पुद्गलों) और उसमें भी मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण किये जा सकते हैं। यानी मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान के बराबर मूर्तद्रव्यों का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी कारण मनःपर्यायज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवां भाग है। मनःपर्यायज्ञान अपने विषय की सूक्ष्मताओं को भली-भाँति जानता है, इसलिए विशुद्धतर कहा गया है, फिर भी वह अपने ग्राह्य द्रव्यों के सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकता। अर्थात्-अवधिज्ञान का दर्शन होता है, मनःपर्याय ज्ञान का नहीं; क्योंकि मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की तरह वस्तु का सामान्यरूप ग्रहण नहीं करता, वह विशेषरूप को ही अपना विषय बनाता है।[2] यद्यपि मनःपर्यायज्ञान द्वारा साक्षात्कार तो केवल चिन्तन प्रवृत्त मूर्त मन का ही होता है, किन्तु बाद में होने वाले अनुमान से उस मन के द्वारा चिन्तन किये गये मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं।

---

१. जैनदृष्टिए कर्म से पृ. १०७

२. (क) विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनःपर्याययोः। -तत्त्वार्थसूत्र १/२६
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, व्याख्या (उपाध्याय केवलमुनि) से पृ. ६१
(ग) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी) से, पृ. २१७
(घ) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलालजी) से, पृ. ३०

अवधिज्ञान विपरीत यानी कु-अवधि-विभंग भी हो सकता है, जबकि मनःपर्याय-ज्ञान कभी विपरीत नहीं होता, यहाँ तक कि मनःपर्यायज्ञान की विद्यमानता में मिथ्यात्व का उदय भी संभव नहीं है। अवधिज्ञान आत्मा के साथ अगले जन्म में भी जा सकता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान नहीं जा सकता, वह इहभविक है, मगर अवधिज्ञान उभयभविक भी हो सकता है। क्योंकि मनःपर्यायज्ञान संयम-सापेक्ष है, संयम के अभाव में वह टिक नहीं सकता, किन्तु अवधिज्ञान को संयम की अपेक्षा नहीं है। वह देवों और नारकों को तो जन्म से ही बिना संयम के भी होता है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है।

मनःपर्यायज्ञान के लिए नौ बातें अनिवार्य

मनःपर्यायज्ञान केवल उन्हीं मनुष्यों को होता है, जो ऋद्धिप्राप्त हों, गर्भज हों, कर्मभूमिज हों, संख्यातवर्ष की आयु वाले हों, आहारादि छह पर्याप्तियों से पर्याप्त हों, सम्यग्दृष्टि हों, संयत हों, सप्तम गुणस्थान वाले अप्रमत्त संयत हों।[1]

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से मनःपर्यायज्ञान का विषय

मनःपर्यायज्ञान का विषय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन भेदों से चार प्रकार का होता है। द्रव्य की अपेक्षा से यह ज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के (काययोग से ग्रहण करके मनोयोग द्वारा मन के रूप में परिणत हुए) मनोद्रव्य को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा से यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्र में रहे हुए संज्ञी जीवों के उक्त मनोद्रव्य को जानता है। काल की अपेक्षा से यह मनोद्रव्य की भूत और भविष्यकालीन पर्यायों को पल्योपम के असंख्यातवें भाग तक जानता है। भाव की अपेक्षा से यह ज्ञान द्रव्यमन की चिन्तन-मनन-परिणत रूपादि अनन्त पर्यायों को जानता है। परन्तु भावमन की पर्याय मनःपर्याय ज्ञान का विषय नहीं है, क्योंकि भावमन ज्ञानरूप होता है। और ज्ञान अमूर्त है। अतः वह छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं बनता।[2]

मनःपर्यायज्ञान के दो भेद : ऋजुमति और विपुलमति

मनःपर्यायज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।[3] ऋजुमति दूसरे के मन में सोचे हुए भावों (पर्यायों) को सामान्यरूप से जानता है, जबकि विपुलमति विशेषरूप से जानता है। जैसे किसी व्यक्ति के मन में घड़ा लाने का विचार किया, मात्र इतना जानना ऋजुमतिज्ञान है, जबकि वह (मनश्चिन्तित) घड़ा ताँबे का है,

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से पृ. २१८
(ख) इड्ढीपत्त-अपमत्त-संजय-सम्मदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमिअ-गब्भवक्कंतिअ-मणुस्साणं मणपज्जव-नाणं समुप्पज्जइ। —नन्दीसूत्र (मनःपर्यायज्ञानाधिकार)
(ग) ऋद्धिप्राप्त संयत वह होता है—जो अतिशायिनी बुद्धि से युक्त हो, अर्थात्—जो कोष्ठकबुद्धि, पदानुसारिणी लब्धि और बीजबुद्धि से सम्पन्न हो।—सं.

२. ज्ञान का अमृत से पृ. २१६

३. मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं.—उज्जुमति चेव विपुलमति चेव। —ठाणांग ठा.२ उ १

पीतल का है, या मिट्टी का है? उसका रंग लाल है या वह बनारस का बना हुआ है, उसमें २० किलो पानी आ सकता है; इत्यादि ब्यौरा (विशेष रूप से) अधिक स्पष्टता के साथ विपुलमति जानता है। ऋजुमति ज्ञान सामान्यग्राही है, जबकि विपुलमति विशेषग्राही है। ऋजुमति को जो सामान्यग्राही कहा है, उसका मतलब इतना ही है कि वह विशेषों को जानता है, परन्तु विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता। ऋजुमति के ज्ञान में सामान्य स्पष्टता होती है, जबकि विपुलमति के ज्ञान में विशेष स्पष्टता होती है।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा से दोनों का विश्लेषण

इन दोनों की द्रव्यादि की अपेक्षा विशेषता इस प्रकार है–द्रव्य से–ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त-अनन्त प्रदेशों वाले स्कन्धों को जानता-देखता है; जबकि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशों वाले स्कन्धों को विशुद्धता और अधिक स्पष्टता से जानता-देखता है। क्षेत्र से–ऋजुमति जघन्य से अंगुल के असंख्यातभाग क्षेत्र को, तथा उत्कृष्ट से नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी (नरकभूमि) के नीचे क्षुल्लकप्रतर तक को और ऊपर ज्योतिष-चक्र के उपरितल तक, तिरछे ढाई द्वीप पर्यन्त के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है, जबकि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा ढाई अंगुल अधिक तिरछी दिशा में मनुष्यक्षेत्र के संज्ञी जीवों के मनोभावों को जानता देखता है। काल से–ऋजुमति जघन्यतः एवं उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग भूत-भविष्यत् काल के मनोभावों को जानता-देखता है, जबकि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के मनश्चिन्तित एवं जिनवत चिन्तन होगा, उक्त पदार्थों को वह विशुद्ध तथा भ्रमरहित जानता देखता है। भाव से–ऋजुमति मनोगत भावों की असंख्यात पर्यायों को जानता-देखता है। लेकिन सब भावों के अनन्तवें भाग को जानता देखता है। जबकि विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को विशुद्ध रूप से भ्रान्तिरहित जानता देखता है।[2]

इसके सिवाय भी इन दोनों में कुछ विशेषताएँ और हैं। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यायज्ञान सूक्ष्मतर, विपुलतर, विशुद्धतर और वितिमिररूप से जानता देखता है। अर्थात्–वह अधिक विशेषों को स्फुटरूप से जानता-देखता है। ऋजुमति उत्पन्न होने के पश्चात् कदाचित् चला भी जाता है, लेकिन विपुलमति एक बार प्राप्त होने पर कभी नहीं जाता। केवलज्ञान होने पर उसी में परिणत हो जाता है, और तब उसकी सत्ता अकिंचित्कर हो जाती है। विपुलमति मनःपर्यायज्ञानी आत्मा उसी भव में

---

१. (क) जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण पृ. ३१७
(ख) ज्ञान का अमृत से पृ. २१७
(ग) विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। –तत्त्वार्थसूत्र १/३१

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ (मरुधर केसरीजी) से, पृ. ५३, ५४
(ख) उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए, विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ ..... । –नंदीसूत्र १८

क्षपक-श्रेणी पर आरोहण करके केवलज्ञानी हो जाता है और संसार से मुक्त भी हो जाता है।

स्पष्ट शब्दों में कहें तो जैसे-किसी व्यक्ति ने मन में घड़े का चिन्तन किया, ऐसी स्थिति में ऋजुमति इतना ही जानता है कि इसने घड़े का चिन्तन किया। जबकि विपुलमति उस घड़े के सम्बन्ध में विशेष स्पष्ट जानता है कि वह घड़ा तांबे का है, उसका रंग लाल है, वह अमुक नगर में बना हुआ है, उसमें ४० किलो पानी आ सकता है, इस प्रकार विपुलमति अधिक स्पष्टता से जान लेता है। अर्थात्-ऋजुमति के ज्ञान में सामान्य स्पष्टता होती है, जबकि विपुलमति के ज्ञान में विशेष स्पष्टता होती है। विपुलमति में पर्यायों की गणना भी अधिक होती है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का क्षेत्र भी ढाई अंगुल अधिक होता है।[1]

इन सभी प्रकार के मनःपर्यायज्ञानों को आवृत-आच्छादित करने वाला कर्म मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।

महामहिम अनगार गणधर इन्द्रभूति गौतम मनःपर्यायज्ञानी थे। राजप्रश्नीय सूत्र में वर्णित मुनिराज केशीश्रमण मनःपर्यायज्ञानी थे, जिन्होंने श्वेतम्बिकानरेश घोर नास्तिक प्रदेशी राजा को मनःपर्यायज्ञान के बल से उसके मन में चल रहे विचारों को जानकर, उसके प्रश्नों का यथोचित समाधान करके आस्तिक एवं रमणीय बनाया। मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम होने पर इन्हें मनःपर्यायज्ञान प्राप्त हुआ था।[2]

मनोविज्ञान, मनोविज्ञानी तथा मनःपर्यायज्ञान-मनःपर्यायज्ञानी में महान् अन्तर

याद रखें-मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक तथा मनःपर्यायज्ञान और मनःपर्यायज्ञानी में जमीन-आसमान का सा अन्तर है। मनोविज्ञान श्रुतज्ञान पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक सामने वाले व्यक्ति के जीवन की घटना सुनकर, उसकी मुखमुद्रा, हावभाव मुख एवं आँख की चेष्टाओं तथा शरीर और मुख आदि पर आये तनावों, या परिवर्तनों आदि पर से उसके मनोगत भावों का अनुमान लगाता है। कहा भी है-

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन।
नेत्र-वक्त्र-विकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥

आकृति, इंगित, गति (चाल-ढाल), चेष्टा, भाषण तथा नेत्र और मुख के विकारों से अन्तर्गत मन परिलक्षित हो जाता है, यानी मनोभाव जाने जा सकते हैं।

जो मनोवैज्ञानिक जितना अनुभवी और अभ्यासी होगा, उसका अनुमान उतना ही सच्चा निकलेगा। एक प्रकार से यह कर्मजा बुद्धि का परिणाम है। मनःपर्यायज्ञान

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ विवेचन (मरुधर केशरीजी) से पृ. ५४
(ख) जैनदृष्टिए कर्म से पृ. १०७
२. ज्ञान का अमृत से भावांशग्रहण, पृ. २२८

मनोविज्ञान से बिलकुल अलग है। मनःपर्यायज्ञानी अनुमान नहीं लगाता, वह प्रत्यक्ष जानता है। मनोवैज्ञानिक मिथ्यादृष्टि भी हो सकता है, लेकिन मनःपर्यायज्ञानी निश्चित रूप से सम्यक्त्वी और संयमी (मुनि) ही होता है। अतः इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है।[1]

केवलज्ञान तथा केवलज्ञानावरणीय कर्म : स्वरूप, कार्य, स्वामी

ज्ञानावरणीय कर्म की ५ उत्तर प्रकृतियों में केवलज्ञानावरणीय अन्तिम उत्तर प्रकृति है। जो शक्ति (कर्म) केवलज्ञान की ज्योति को आवृत कर लेती है, पर्दा बनकर आत्मा पर छा जाती है, उसे केवलज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। यह ज्ञानावरणीय कर्म का पांचवाँ और अन्तिम भेद है। "केवलज्ञान वह है, जो ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त मूर्त-अमूर्त ज्ञेय पदार्थों को एक साथ हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानने की शक्ति रखता है।"[2] अथवा त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त चराचर वस्तुओं को युगपत् जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। "यह ज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, निरावरण, प्रतिपक्ष-रहित और सर्वपदार्थगत होता है।"[3] केवल-ज्ञान अन्य सभी ज्ञानों से विलक्षण, प्रधान, उत्तम और परिपूर्ण होता है। यह समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानता है। केवलज्ञान के सामने अन्य सब ज्ञान नगण्य हैं। केवलज्ञान एक समुद्र है, जिसमें मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय-ये सब ज्ञान समा जाते हैं। केवलज्ञान आत्मा की सर्वोच्च महत्तम ज्योति है। अनन्तसूर्य भी एकत्रित हो जाएँ, तब भी उन सबकी ज्योति केवलज्ञान की ज्योति की समानता नहीं कर सकती। जैसे-हजार पावर के बल्ब के सामने २५, ६० या १०० वाट के बल्बों का कोई मूल्य नहीं होता, इसी प्रकार केवलज्ञान के सामने मति आदि ज्ञानों की ज्योति का कोई मूल्य या महत्व नहीं होता। मतिज्ञान से लेकर मनःपर्याय चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, अतः ये विशुद्ध हो सकते हैं, किन्तु विशुद्धतम नहीं हो सकते, जबकि केवलज्ञान क्षायिक और विशुद्धतम होता है। केवलज्ञान केवल (अकेला), नित्य, निरावृत, शाश्वत और अनन्त होता है, जबकि शेष क्षायोपशमिक मतिज्ञान आदि वैसे नहीं हैं। मतिज्ञान आदि चारों क्षायोपशमिक ज्ञानों के अवान्तर भेद होते हैं, किन्तु केवलज्ञान का कोई भी अवान्तर भेद नहीं होता। वह अकेला एक ही होता है। केवलज्ञान के द्वारा केवलज्ञानी महापुरुष घट-घट के ज्ञाता होते हैं। संसार का छोटा-बड़ा कोई भी पदार्थ समस्त पर्यायसहित उनके ज्ञान से ओझल नहीं रह पाता। मोहनीय कर्म के क्षय होने पर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के निःशेष हो जाने पर केवलज्ञान प्रकट होता है।[4] केवलज्ञानी सम्पूर्ण रूपी-अरूपी द्रव्य,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. ६०

२. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । —तत्त्वार्थ सूत्र १/३०

३. संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं ।
लोयालोयं वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं ॥ —कर्मप्रकृति ४२

४. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलं । —तत्त्वार्थसूत्र १०/१

उनके समस्त गुणों और पर्यायों सहित, तथा सर्व प्रकार के भावों को एक समय में (युगपत्) जान लेता है। भूत, भविष्य और वर्तमान के त्रिकाल विषय तथा कोई भी परिवर्तन उससे छिपे नहीं रहते। केवलज्ञान का कोई भेद-प्रभेद नहीं है, न ही इसमें विशेषता-न्यूनता, तरतमता तथा घट्टता या कनिष्ठता है। इसकी उज्ज्वलता या स्पष्टता में कोई अन्तर नहीं, और न ही समय या स्थान का संकोच या वृद्धि-हानि है। इसलिए इसका एक ही प्रकार है।[1]

केवलज्ञानी भगवान् के दस अनुत्तर

दूसरी कोई भी वस्तु जिससे बढ़कर न हो, अथवा जो सबसे बढ़कर हो, उसे अनुत्तर कहते हैं। केवलज्ञानसम्पन्न भगवान् की दस बातें अनुत्तर होती हैं–(१) अनुत्तर ज्ञान–ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, जिससे बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है। (२) अनुत्तरदर्शन–दर्शनावरणीय या दर्शनमोहनीय का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से केवलदर्शन प्रकट होता है, वह अनन्त दर्शन होने से अनुत्तर दर्शन है। (३) अनुत्तर चारित्र–चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से इसकी (क्षायिक व यथाख्यात चारित्र की) उत्पत्ति होती है, इस दृष्टि से उनका चारित्र भी अनुत्तर है। (४) अनुत्तर तप–केवलज्ञानी के शुक्लध्यानादि रूप सर्वोत्कृष्ट तप होता है, जो अनुत्तर है। (५) अनुत्तर वीर्य–वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उन्हें अनन्तवीर्य प्राप्त होता है, जो अनुत्तर है। (६) अनुत्तर क्षान्ति–उनकी क्षमा एवं सहिष्णुता अनुत्तर होती है। (७) अनुत्तर मुक्ति–केवलज्ञान सम्पन्न के सब प्रकार के लोभों से मुक्ति–सर्वथा उन्मुक्ति होती है, जो अनुत्तर होती है। (८) अनुत्तर आर्जव–केवलज्ञानी की ऋजुता–सरलता अनुत्तर होती है। (९) अनुत्तर मार्दव–केवलज्ञानी की मृदुता और निरभिमानता अनुत्तर होती है। (१०) अनुत्तर लाघव–केवलज्ञानी का लाघव (हलकापन) अनुत्तर माना जाता है, क्योंकि ज्ञानावरणीय आदि चार आत्म-गुणघाती कर्मों का क्षय हो जाने के कारण इनपर जन्म-मरणरूप संसार का बोझ नहीं रहता।[2]

केवलज्ञान सर्वोत्तम लब्धि है

शुभ अध्यवसाय तथा उत्कृष्ट तप, संयम के आचरण से उस-उस कर्म का क्षय या क्षयोपशम होने से आत्मा में जो विशेष शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लब्धि कहते हैं। ये लब्धियाँ[3] आगमों में २८ प्रकार की बताई गई हैं। उनमें से कुछ लब्धियाँ इस प्रकार हैं। जैसे–आमर्शौषधि लब्धि, विप्रुडौषधिलब्धि, खेलौषधि-लब्धि, जल्लौषधि-लब्धि, सर्वौषधि लब्धि, संभिन्नश्रोतो-लब्धि, अवधि-(ज्ञान) लब्धि, ऋजुमति (ज्ञान)

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. २२९
   (ख) कर्मप्रकृति से, पृ. १
२. ज्ञान का अमृत से पृ. २२९-२३०
३. २८ लब्धियों का विशद स्वरूप जानने के लिए, देखें–जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह छठा भाग

लब्धि, विपुलमति (ज्ञान)-लब्धि, चारणलब्धि (जंघाचरण-विद्याचरणलब्धि), आशीविष और केवलीलब्धि (अथवा केवलज्ञान-लब्धि)। इन और ऐसी ही अन्य लब्धियों में सर्वोत्कृष्ट, निर्दोष तथा विशुद्धतम लब्धि केवलज्ञान-लब्धि है। जो केवलज्ञान की उत्कृष्ट आराधना से तथा चार घातिकर्मों के क्षय से ही प्राप्त होती है। यह लब्धि आत्मिक जीवन की सर्वोच्चता का समुज्ज्वल प्रतीक है। इस लब्धि के प्रभाव से केवलज्ञानी त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जान और देख सकता है।[1]

केवली द्वारा केवलीसमुद्घात क्यों और उसकी प्रक्रिया कैसी ?

जब केवलज्ञानी भगवान् की आयु स्वल्प होती है, और वेदनीयादि तीन कर्मों (भवोपग्राही कर्मों) के भोगकाल की अवधि अधिक होती है, और अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करना होता है, तब केवलज्ञानी पूर्वोक्त तीन कर्मों की स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिए समुद्घात करता है, जिसे केवली-समुद्घात कहते हैं। वेदना आदि के साथ एकाकार हुए आत्मा का कालान्तर में उदय में आने वाले वेदनीयादि कर्म-परमाणुओं को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर उसकी प्रबलतापूर्वक निर्जरा (कर्मक्षय) करता है, उसे समुद्घात कहते हैं। 'समुद्घात' जैनकर्मविज्ञान का पारिभाषिक शब्द है। ऐसे समुद्घात सात प्रकार के हैं।[2] उनमें से सातवां केवली-समुद्घात है। अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली भगवान् के द्वारा किये जाने वाले समुद्घात को केवली-समुद्घात कहते हैं।

केवलि-समुद्घात की प्रक्रिया इस प्रकार है-केवलिसमुद्घात में कुल ८ समय लगते हैं। प्रथम समय में केवली भगवान् आत्मप्रदेशों की रचना दण्डाकार करते हैं, जो मोटाई में शरीर प्रमाण और लम्बाई में ऊपर और नीचे से लोकान्त-पर्यन्त विस्तृत होता है। दूसरे समय में, वे उसी दण्ड को पूर्व और पश्चिम तथा उत्तर और दक्षिण में फैलाते हैं। फिर उस दण्ड का लोकपर्यन्त विस्तृत एक कपाट बनाते हैं। तीसरे समय में, दक्षिण और उत्तर, अथवा पूर्व और पश्चिम दिशा में लोकान्तपर्यन्त आत्म-प्रदेशों को फैला कर उसी कपाट को मथानी के रूप में ले आता है। ऐसा करने से लोक का अधिकांश भाग केवली के आत्म-प्रदेशों से व्याप्त हो जाता है, फिर भी मथानी की तरह अन्तराल-प्रदेश खाली रहते हैं। चौथे समय में, मथानी के अन्तराल प्रदेशों को पूर्ण करता हुआ समग्र लोकाकाश को आत्म-प्रदेशों से व्याप्त कर डालता है। अब लोकाकाश और आत्म-प्रदेश बराबर हो जाते हैं, फलतः आत्मप्रदेशों के फैलाव से सारा लोकाकाश पूर्ण हो जाता है। फिर पांचवें, छठे, सातवें और आठवें समय में विपरीत क्रम से वह केवलज्ञानी प्रभु अपने आत्मप्रदेशों का संकोच करते (सिकोड़ते)

---

१. ज्ञान का अमृत से, सारांशग्रहण पृ. २३०-२३२

२. सातों समुद्घातों का विशेष स्वरूपादि जानने के लिए देखें-जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भा. २

हैं। इस क्रम से आठवें समय में समस्त आत्मप्रदेश पुनः शरीरस्थ हो जाते हैं। यही केवलिसमुद्घात की प्रक्रिया है। इससे वेदनीय कर्म का भोग-काल आयुष्यकर्म के भोगकाल के समानकालिक बन जाता है। वेदनीयादि तीन कर्मों के भोगसमय को आयुष्यकर्म के भोग-समय के समान बनाने की क्षमता सिर्फ केवली भगवान् में ही पाई जाती है।[1]

केवलज्ञान की उपस्थिति में अन्य ज्ञानों का सद्भाव या असद्भाव ?

कुछ आचार्यों का कथन है कि केवलज्ञान के समय भी मति आदि चारों ज्ञानशक्तियाँ होती हैं, पर वे सूर्यप्रकाश के समक्ष ग्रह, नक्षत्र आदि के प्रकाश की तरह केवलज्ञान के प्रकाश से अभिभूत (निस्तेज या फीके) हो जाती हैं। अतः अपना-अपना ज्ञानरूप कार्य नहीं कर सकतीं। इसलिए शक्तियाँ होने पर भी केवलज्ञान के प्रकट हो जाने पर मति आदि ज्ञानपर्याय नहीं होते। तत्त्वार्थसूत्रकार के मतानुसार—केवलज्ञान अकेला ही रहता है। वस्तुतः केवलज्ञान आत्मा का सम्पूर्ण ज्ञान है और ये मति आदि चारों ज्ञान इस सम्पूर्ण के अंशमात्र हैं। भाव यह है कि केवलज्ञान में ये चारों ज्ञान उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार महासागर में नदियाँ विलीन हो जाती हैं।

कुछ आचार्यों का कथन है कि मतिज्ञान आदि चार शक्तियाँ आत्मा में स्वाभाविक नहीं[2] हैं, किन्तु कर्म-क्षयोपशमरूप होने से औपाधिक अर्थात् कर्म-सापेक्ष हैं। इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव (क्षय) हो जाने पर, जबकि क्षायिकरूप केवलज्ञान प्रकट होता है—वे मति आदि औपाधिक शक्तियाँ संभव ही नहीं हैं। इसलिए केवलज्ञान के समय कैवल्यशक्ति के सिवाय न तो कोई अन्य ज्ञान शक्तियाँ रहती हैं, और न उनका मतिज्ञान पर्यायरूप कार्य ही रहता है।[3]

एक साथ एक आत्मा में कितने ज्ञान और कौन-से संभव ?

तत्त्वार्थसूत्रकार एवं जीवाभिगमसूत्र के अनुसार एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक भजना से—अनियतरूप से पाये जा सकते हैं। किसी आत्मा में एक साथ एक, किसी आत्मा में एक साथ दो, किसी आत्मा में एक साथ तीन और किसी आत्मा में एक साथ चार ज्ञान तक सम्भव हैं। परन्तु पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में भी नहीं होते। जब एक होता है तो सिर्फ केवलज्ञान समझना चाहिए। यदि दो होते हैं तो मति और श्रुतज्ञान, क्योंकि पांच ज्ञानों में से नियत सहचारी ये दो ज्ञान

---

१. ज्ञान का अमृत से, पृ. २३३-२३४

२. (क) ज्ञान का अमृत से पृ. २३५
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन १/३१ (उपाध्याय केवलमुनि) से पृ. ६४/६५

३. (क) ज्ञान का अमृत से पृ. २३५
   (ख) जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण

ही होते हैं। शेष तीनों ज्ञान एक दूसरे को छोड़ कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान हों तो मति, श्रुत और अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यायज्ञान होते हैं; क्योंकि तीन ज्ञानों का सम्भव अपूर्ण अवस्था में ही होता है; चाहे उस समय अवधिज्ञान हो या मनःपर्यायज्ञान, पर मति, श्रुत ये दो ज्ञान तो अवश्य होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं, तब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान होंगे, क्योंकि ये चार ज्ञान अपूर्ण-अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं. जैसे गौतमस्वामी में, तथा केशीश्रमण में चार ज्ञान थे। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्ण-अवस्थाभावी है, जबकि शेष ज्ञान अपूर्ण-अवस्थाभावी हैं। पूर्णता और अपूर्णता का परस्पर विरोध होने से ये दो अवस्थाएँ आत्मा में नहीं होतीं। दो, तीन या चार ज्ञानों का एक साथ एक आत्मा में रहना संभव कहा गया, वह भी शक्ति की अपेक्षा से, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं। निष्कर्ष यह है कि एक साथ एक आत्मा में अधिक से अधिक चार ज्ञान शक्तियाँ हों, तब भी एक समय में कोई एक ही शक्ति अपना जानने का काम करती है, अन्य शक्तियाँ उस समय निष्क्रिय-सी रहती हैं।[1]

ज्ञानावरणीय कर्म के पांच ही भेद क्यों?

प्रश्न होता है, ज्ञान के ५ भेदों के अलावा अज्ञान के भी तीन भेद हैं, इस अपेक्षा से ज्ञानावरण कर्म के आठ भेद होने चाहिए, पांच ही क्यों? धवला में इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है कि मतिज्ञान आदि ५ ज्ञानों के अलावा ज्ञान के अन्य भेद नहीं होते; इसलिए उनके आवरण करने वाले कर्म भी पांच प्रकार से अधिक नहीं होते। जो तीन अज्ञान (मिथ्याज्ञानरूप) कुमतिज्ञान (मतिअज्ञान), कुश्रुतज्ञान (श्रुत-अज्ञान) और विभंगज्ञान (कु-अवधिज्ञान) हैं, उनका अन्तर्भाव क्रमशः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में हो जाता है। क्योंकि इन तीनों की विपरीतता या अज्ञान लौकिक दृष्टि की अपेक्षा नहीं माना गया है; अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से ही है। लौकिक दृष्टि से तो विशेष ज्ञानी या विशेषज्ञ (स्पेशलिष्ट–Specialists) भी आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञानी या मिथ्याज्ञानी हो सकते हैं।[2]

ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के विशिष्ट कारण

यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के कारणों का सामान्यरूप से इसी खण्ड के १५वें लेख में उल्लेख किया गया है, तथापि विशदरूप से ६ कारणों पर विवेचन यहाँ दे रहे हैं–

---

१. (क) एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः। —तत्त्वार्थसूत्र १/३१
(ख) ज्ञान का अमृत से साभार ग्रहण पृ. २३४
(ग) जीवाभिगम, प्रतिपत्ति १ सू. ४१

२. (क) धवला पु. ७, खं. २, भा. १ सू. ४५
(ख) तत्त्वार्थसूत्र सू. १/३३ पर विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से पृ. ६५-६६

(१) ज्ञान का अपमान–ज्ञान या विद्या की आशातना या अवमानना=अवज्ञा करना, उसकी महत्ता के प्रति विद्रोह करना ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध का प्रथम कारण है। ३६३ पाषण्ड मतों में अज्ञानवादियों का स्वरूप भी इसी प्रकार का था। वे एकान्तरूप से अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते थे।

संसार में कतिपय व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिनकी यह आस्था और निष्ठा बन गई है कि पढ़े-लिखे व्यक्ति ही झगड़ों के मूल हैं, वे ही व्यर्थ विवाद और विघटन पैदा करते हैं। जहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं होता, वहाँ किसी प्रकार का झंझट या वादविवाद नहीं होता। पहले के स्त्री-पुरुष कम पढ़े-लिखे होते थे, इसलिए वे बड़े सुखी थे, परस्पर प्रेमभाव काफी था, आपसी वैर-विरोध और झगड़े बहुत कम थे। न इतने वकील थे, न इतने स्कूल थे। ज्यों-ज्यों विद्या बढ़ी, त्यों-त्यों विषमताएँ और कठिनाइयाँ बढ़ती गईं। विद्या और ज्ञान के प्रति विद्रोह गृहस्थों में ही नहीं, कतिपय साधु-सन्तों में भी यह भ्रान्ति जड़ जमाई हुई है।

जैन धर्म दिवाकर पू. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज एक बार एक साधु-आश्रम में पहुँचे। वहाँ के मुख्य सन्त से विद्याध्ययन-सम्बन्धी बात चली तो उन्होंने आवेशपूर्ण स्वर में इस बात का डटकर विरोध किया कि "विद्या बड़ी खराब वस्तु है। हम तो उसे आश्रम के निकट भी नहीं आने देते। विद्या जैसी हानिप्रद कोई अन्य वस्तु नहीं है। धर्म-सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र, जाति, वर्ण आदि को लेकर आपसी सिरफुटौव्वल इसी विद्या के कारण होते हैं इत्यादि।" आचार्य श्री ने उन्हें शान्ति से, प्रेम से समझाया कि विद्या या ज्ञान तो जीवन का दीपक है, अज्ञानान्धकार का नाशक एवं परमज्योति है। विद्या या सम्यक्ज्ञान तो वैर विरोध को नष्ट करके समभाव और आत्मौपम्य भाव के उच्च सोपानों पर चढ़ने की प्रेरणा देता है। दुरुपयोग-सदुपयोग तो व्यक्ति पर निर्भर है, किन्तु सच्चा ज्ञान परस्पर संघर्ष या विवाद नहीं सिखाता, वह व्यक्ति को विनयी, नम्र, सरल और समन्वयी बनाता है। अतः जो विद्या या ज्ञान के प्रति विद्रोह एवं विरोध की भावना रखते हैं, ज्ञानवान हो जाने से अमुक व्यक्ति हमारी गुलामी नहीं करेंगे, इस दृष्टि से विद्यालय ज्ञानशाला या ज्ञान केन्द्र बंद करा देते हैं, या खुलने नहीं देते, विरोध करते हैं, वे ज्ञानद्रोही ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन करते हैं, भविष्य में इसके फलस्वरूप वे ज्ञान सम्पदा से बिलकुल खाली रह जाते हैं।

(२) ज्ञानवान् का अपमान करना–इस संसार में कई लोग ऐसे भी हैं, जो श्रुतसम्पदा, ज्ञान की थोड़ी-सी पूंजी या विद्याधन पाकर गर्वोन्मत्त हो जाते हैं, उनके दिमाग में यह भूत सवार हो जाता है कि हमारे पास जितना ज्ञान है, उतना किसी के पास नहीं, ऐसे लोग ज्ञानवान् व्यक्ति को देखकर या ज्ञानी व्यक्ति की प्रशंसा या प्रसिद्धि सुनकर मन ही मन कुढ़ते-जलते हैं, वे अपनी उच्चता या शास्त्रज्ञता का ढिंढोरा पीट कर अन्य विद्वानों या ज्ञानीजनों का अपमान करते हैं, उन्हें बदनाम

करते हैं, ईर्ष्यावश उन्हें तिरष्कृत और बहिष्कृत करने का प्रयास करते हैं। उनके प्रति द्वेष, और रोष रखते हैं, उनकी निन्दा करते रहते हैं, ऐसे लोग ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करके अपने लिये भविष्य में ज्ञानप्राप्ति के द्वार बन्द कर लेते हैं, वे विद्या या ज्ञान के प्रकाश से वंचित ही रह जाते हैं, वर्तमान में भी, और भविष्य में भी।[1]

(३) ज्ञान को छिपाना–विद्या के क्षेत्र में कई व्यक्ति ऐसे मिलते हैं, जिनके दिमागों में इतनी संकीर्णता तथा हृदय की इतनी तुच्छता होती है कि वे किसी दूसरे धर्म-सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त या राष्ट्र या प्रतिद्वन्द्वी के बालक या जिज्ञासु व्यक्ति को जिज्ञासाबुद्धि से कुछ पूछना-जानना चाहता है, तो वे यह बालक या जिज्ञासु मेरे प्रतिद्वन्द्वी का है या अन्य सम्प्रदाय का है, पढ़-लिखकर अच्छे अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण हो जाएगा, या तरक्की कर लेगा, अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लेगा तो हमारी जाति, धर्मसम्प्रदाय या अपने प्रान्त, भाषा, परिवार के व्यक्ति को कोई नहीं पूछेगा, यह जानकर उसे पढ़ाने या पढ़ने देने से टालमटूल कर देते हैं, अपने ज्ञान को छिपा लेते हैं हमें यह नहीं आता, यह कहकर। शिक्षण संस्थाओं में तो यह है ही, साधुसंस्था जैसी पवित्र संस्थाओं में भी कई ऐसे सम्प्रदायान्ध कट्टर साधु मिलते हैं, जिनसे किसी शास्त्र के किसी स्थल या प्रसंग के बारे में पूछा जाता है तो जानते-बूझते हुए भी अपनी ज्ञानसम्पदा को छिपा लेते हैं। शास्त्र का ज्ञाता होते हुए भी अनजान बनकर जिज्ञासु व्यक्ति को ईर्ष्यावश, तेजोद्वेषवश। नहीं बताया जाता। इस प्रकार के व्यक्ति ज्ञान का खुले हाथों दान न करके छिपाने का प्रयत्न करते हैं तो ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कर लेते हैं।

(४) गुरुदेव या ज्ञानदाता के नाम को छिपाना–अध्यात्मजगत् में ज्ञानदाता या गुरुदेव का महत्वपूर्ण स्थान है। जो गुरुदेव शिष्यवर्ग को ज्ञान की ज्योति देकर जीवन को आलोकित करते हैं, उनके अन्तर्नेत्रों को ज्ञान का प्रकाश प्रदान करते हैं, उन ज्ञानदाता या गुरु के नाम का गोपन करना महापाप है। जिन गुरुओं की कृपा से ज्ञानादि में उन्नति के सोपान पार करते हुए एक दिन जो व्यक्ति अपने गुरु से भी आगे बढ़ जाते हैं, जनता उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करती है, श्रद्धा से उनके चरणों में नतमस्तक होती है, ऐसे व्यक्तियों को अपनी बढ़ी हुई प्रतिष्ठा को देखकर अहंकर (श्रुतमद) का नशा इतना चढ़ जाता है, वे अपने गुरु मानने से जी चुराते हैं, गुरुदेव का नाम पूछने पर वे उनका नाम बताने से कतराते हैं, इधर-उधर की बात बनाकर उपकारी गुरुदेव का नाम छिपा लेते हैं, मन में लज्जानुभूति करते हैं। ऐसे व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कर लेते हैं। अपने हाथों से वे ज्ञान ज्योति को बुझा देते हैं।

(५) ज्ञानप्राप्ति में विघ्न उपस्थित करना–कतिपय व्यक्तियों की बौद्धिक संकीर्णता इतनी अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है कि वे दूसरों की उन्नति, प्रगति और अभिवृद्धि को

१. ज्ञान का अमृत से सारांश उद्धृत पृ. २३६-२४०

किसी भी हालत में सहन नहीं कर पाते, उनके पेट में दर्द होने लगता है। फलतः जब तक वे दूसरों को हानि न पहुँचा दें, उनकी बढ़ती हुई प्रगति की बेल को जड़ से काट न दें, उनके प्रगतिमूलक साधनों को समाप्त न कर दें, उनके कार्यों को ठप्प न कर दें, तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ता। यह दशा मानवजीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में है। परन्तु यहाँ तो ज्ञान के क्षेत्र की संकीर्णता का प्रसंग है। विद्या-ज्ञान के क्षेत्र में देखा जाता है कि कई व्यक्ति न तो स्वयं अच्छा पढ़-लिख सकते हैं, परन्तु जब कोई दूसरे परिवार, धर्मसम्प्रदाय, वर्ग-जाति का व्यक्ति विद्या के क्षेत्र में उन्नति-प्रगति करना चाहता है, ज्ञान के अनमोल मोती उपलब्ध करने का प्रयास करता है, तो उन्हें वह असह्य हो जाता है, वे ऐसा वातावरण बनाने या उसे बरगलाने का प्रयास करते हैं, जिससे अध्ययनशील या ज्ञान-पिपासु व्यक्ति उस क्षेत्र में सफल न हो सके, वह सर्वथा अपठित या ज्ञानहीन रह जाए।

एक विधवा का इकलौता बालक अपनी बौद्धिक विलक्षणता से एक अध्यापक का कृपापात्र था। अध्यापक भी उसे उदारतापूर्वक पढ़ाता, फीस भी माफ करवा देता था, पाठ्य पुस्तकें भी अपने पास से भी दे रहा था। यहाँ तक कि जिस विषय में वह कमजोर था, उस विषय में एक घंटा अधिक पढ़ा कर उसकी कमी को दूर करता[1] था। इस बालक की सफलता और उन्नति एक पड़ौसी से देखी नहीं गई। उसने उक्त अध्यापक को बरगलाया-"मास्टरजी ! आप जिस बालक को फ्री पढ़ाते हैं, प्रत्येक दृष्टि से उसकी सहायता करते हैं, उसकी माँ आपको गाली देती है कि मास्टरजी 'पढ़ाई के बहाने मेरे बच्चे से सारे दिन घर का काम करवाते हैं, उसे नौकर बना रखा है।' प्रतिदिन गालियाँ सुनते-सुनते मैं तो तंग आ गया। पर आप इतने भले हैं कि व्यर्थ में ये गालियाँ सहते हैं।" पड़ौसी के बहकाने से अध्यापकजी उसकी बातों में आ गए। दूसरे दिन से ही उसे पढ़ाना और सहायता देना बंद कर दिया। फलतः विधवा पुत्र के ज्ञानवृद्धि के क्षेत्र में अंधेरा छा गया। जीवन की उन्नति के सब द्वार बन्द हो गए।

कई मकान-मालिक लोग अपने किरायेदार के अध्ययनशील बालकों की विद्यासाधना देखकर उनके अध्ययन में यह सोचकर विघ्न डालने का प्रयास करते हैं, कि अगर किरायेदार के लड़के पढ़-लिख गए तो अच्छे-अच्छे कार्यों में लग जाएँगे, इनका पिता मेरे से आर्थिक दृष्टि से आगे निकल जाएगा। कितने घृणास्पद संकीर्ण विचार हैं ये ! उसने रात्रि को उन बालकों को पढ़ने में सहायक बिजली बंद कर दी। बिजली बंद हो जाने से वे बालक ज्ञानसाधना में तीव्रता से आगे नहीं बढ़ सके।

इस प्रकार जो व्यक्ति किसी की ज्ञानसाधना में बाधक बनते हैं, रोड़े अटकाते हैं, ज्ञानप्राप्ति के साधनों को समाप्त करने या बिगाड़ने का प्रयास करते हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करते हैं।

---

१. ज्ञान का अमृत, पृ. २४१ से २४८

(६) ज्ञान का दुरुपयोग करना—वर्तमान वैज्ञानिक युग में एक से एक बढ़कर नित नये आविष्कार हो रहे हैं। विज्ञान विलक्षण बौद्धिक विकास का एक रूप है। यदि विज्ञान हिंसा से सम्बद्ध एटम बम, हाईड्रोजन बम आदि नरसंहार धन-जन हानिकारक शस्त्रों का उत्पादक बन जाता है, तो संसार पर कहर बरसा देता है, किन्तु यदि वही विज्ञान जब अहिंसा, दया और परोपकार से सम्बद्ध होकर प्राणिजगत् के रोग, दुःख, संकट, विपदाएँ दूर करता है, ऐसे साधनों का उत्पादक होकर सृष्टि को सुख-शान्ति पहुँचा सकता है। इसी प्रकार विद्या और ज्ञान प्राप्त करके, शास्त्रज्ञान प्राप्त करके जो उससे लोगों को अन्धविश्वास, कुरूढ़ि, कैषयिक सुखों की मृगमरीचिका की ओर प्रेरित करता है, जनता से धन और यश बटोरने का प्रयास करता है, अपने मौज-शौक में वृद्धि करता है, ठगता है, तो यह विद्या, ज्ञान या शास्त्रज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञान की शक्ति का दुरुपयोग करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। फलतः भविष्य में सम्यक् ज्ञान की ज्योति से उत्कृष्टतः ३० कोटा-कोटि सागरोपम काल तक सर्वथा वञ्चित रहना पड़ सकता है।[1]

बद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव (फल भोग)

जैन कर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने बताया है कि ज्ञानावरणीय कर्म बंध जाने के बाद जब उदय में आता है, तब वह अपना फल उस जीव को दस प्रकार से भुगवाता-अनुभव कराता है—(१) श्रोत्रावरण—कानों से सुनने की शक्ति का आवृत हो जाना, (२) श्रोत्रविज्ञानावरण—श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान का ह्रास होना, सुना हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाना, (३) नेत्रावरण—नेत्ररूप ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति का आवृत हो जाना, (४) नेत्रविज्ञानावरण—नेत्रेन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का ह्रास होना, नेत्रविज्ञान से वंचित हो जाना, (५) घ्राणावरण—घ्राणेन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का आवृत होना, (६) घ्राणविज्ञानावरण—नासिकेन्द्रिय से प्राप्त होने वाली दुर्गन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाना (७) रसनावरण, (८) रसनाविज्ञानावरण, (९) स्पर्शनावरण और (१०) स्पर्शविज्ञानावरण। इनका अर्थ स्पष्ट है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म जब उदयाभिमुख होता है, तब प्राणी की श्रोत्रादि पांचों इन्द्रियाँ अपनी शक्ति खो बैठती हैं। ज्ञानप्राप्ति के द्वार बंद हो जाते हैं। इन शक्तियों के द्वारा होने वाला बोध रुक जाता है।[2]

बद्ध ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव (फलभोग) स्वतः या परतः ?

ज्ञानावरणीय का जो दस प्रकार का अनुभाव (फलभोग) बताया गया है, वह स्वतः और परतः, अर्थात्—निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों तरह से होता है। पुद्गल और

१. ज्ञान का अमृत से सारांशग्रहण, पृ. २४९-२५१
२. वही, सारांशग्रहण, पृ. २५१-२५३

पुद्गल-परिणाम की अपेक्षा से प्राप्त फल संक्लेश यानी परतः है। कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुँचाने के लिए मस्तक पर पत्थर, ढेले या लाठी से प्रहार करता है, जिससे उसकी उपयोगरूप ज्ञानपरिणति का घात होता है, वह मूर्च्छित हो जाता है, यह पुद्गल की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय कर्म का अनुभाव समझना चाहिए। किसी व्यक्ति को अमुक खाद्य वस्तु के सेवन से अथवा पेय वस्तु के सेवन से दुःख हुआ, दुःख की अधिकता से ज्ञानशक्ति कुण्ठित हो गई। यह पुद्गल-परिणाम की अपेक्षा से अनुभाव समझना चाहिए। अत्यधिक शीत, उष्ण या धूप आदि स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का ह्रास परतः समझना चाहिए। ये तीनों परतः अनुभाव हैं।

बाह्यनिमित्त के बिना भी जीव ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जानना चाहते हुए भी ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता, उपार्जित ज्ञान विस्मृत हो जाता है, उसकी ज्ञान-शक्तियाँ आवृत-कुण्ठित हो जाती हैं, यह ज्ञानावरणीय कर्म का स्वतः (निरपेक्ष) अनुभाव है।[1]

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ : सर्वघाती भी, देशघाती भी

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती दोनों प्रकार की हैं। जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञानगुण का पूर्णतया घात करे, वह सर्वघाती है और जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञानगुण का आंशिक रूप से घात करे, वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, ये चार प्रकृतियाँ देशघाती हैं। जबकि केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। सर्वघाती कहने का तात्पर्य है-प्रबलतमरूप से ज्ञानगुण को आवृत एवं कुण्ठित करने वाला। अतः केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नहीं करता; अपितु वह केवलज्ञान का सर्वथा निरोध करता है। यद्यपि निगोदस्थ जीवों में उत्कटरूप से ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है, तथापि उनमें ज्ञान पूर्णरूप से तिरोहित नहीं होता। यदि पूर्णरूप से जीव में ज्ञान समाप्त हो जाए तो जीव (आत्मा) अजीव हो जाएगा।

वस्तुतः ज्ञान तो सूर्य है, आत्मा का मूल गुण है। किन्तु उस के स्वयं-प्रकाशित गुण पर कर्मवर्गणाओं का आवरण आ जाने के कारण उसका प्रकाश फीका पड़ जाता है। जैसे-किसी बल्ब पर कपड़े का पर्दा डाल दिया जाय तो प्रकाश कम दिखाई देगा। अगर उस बल्ब पर चार-पांच कपड़े लपेट दिये जाते हैं, तो प्रकाश मंद, मंदतर या मन्दतम हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश पर कर्मों का आवरण जितना न्यूनाधिक गाढ़ होगा, उतना ही ज्ञान का प्रकाश मन्द, मन्दतर, मन्दतम होगा, किन्तु

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से सारांशग्रहण, पृ. २५४-२५५
(ख) प्रज्ञापना पद २३

ज्ञान का पूर्ण अभाव नहीं होगा। इसीलिए तो इसे ज्ञानावरण कहा है।[1]

फिर भी एक बात ध्यान में रखनी है, ज्ञान पर चाहे जितने आवरण आ जाएँ, फिर भी अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान तो नित्य उद्घाटित ही रहता है, इसीलिए तो इसे ज्ञानावरण कहा जाता है, ज्ञान-विनाशक नहीं। पिटारे में गाढ़ अन्धकार हो, फिर भी छिद्र में से जरा प्रकाश तो आता ही है। जैसे कंबल के छिद्र में से सूक्ष्म प्रकाश तो आता ही है। इसी प्रकार अतिगाढ़ अज्ञान में भी थोड़ा-सा ज्ञान का प्रकाश तो प्रत्येक चेतन के लिए खुला रहता है।[2]

दूसरी बात यह है कि ज्ञान पर आवरण चाहे जितने गाढ़ हों या मंद, परन्तु उसी समय अंदर जाज्वल्यमान ज्ञानरूपी सूर्य तो जगमगा रहा है। प्रत्येक आत्मा सत्ता की दृष्टि से अनन्तज्ञान से युक्त है, स्वयं ज्ञानमय है, ज्ञानगुण वाला है, ज्ञान ही आत्मा है। इसलिए ज्ञान को कहीं बाहर से लाने या पाने हेतु जाना नहीं पड़ता, वह तो अंदर भरा ही हुआ है। इस पर जो आवरण-आच्छादन पड़े हुए हैं, वे हटाने हैं और यथोचित प्रयास से उन्हें दूर करना शक्य है। वास्तव में देखा जाए तो ज्ञान बाहर से सीखने-पढ़ने या प्राप्त करने जाना नहीं पड़ता, वह तो आत्मा में ही पड़ा है। उस पर पड़े हुए आवरणों को हटा कर इसे प्रकट करना है। अंग्रेजी में जो एजूकेशन ('Education') शब्द है, उसका व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ है–E=out, and duco–lead; अर्थात् अंदर से बाहर निकालना। अर्थात्–ज्ञान जो अंदर में पड़ा है,-सुषुप्त है, उसे जागृत करके बाहर प्रकट करना है। इससे ज्ञान की स्वयं की महत्ता और आत्मा के साथ उसकी तादात्म्यता समझी जा सकती है।

इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों से सम्बन्धित विस्तृत चर्चा की है। वास्तव में, जितने भी ज्ञान के प्रकार हैं, और उनमें जितनी-जितनी तरतमता है, उतने ही उसके आवरण हैं। ज्ञान अपने आप में आत्मस्वरूप है, जबकि आवरण कार्मिक हैं, पौद्गलिक हैं, आवारक हैं।

●●

---

१. (क) नाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे प. तं.–देसनाणावरणिज्जे चेव सव्वनाणावरणिज्जे चेव ।
–स्थानांग २/४/१०५

(ख) वही, २/४/१०५ टीका।

(ग) कर्मवाद : पर्यवेक्षण (आचार्य देवेन्द्रमुनि(से, पृष्ठ ६७

(घ) जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण, पृ. १८९

२. (क) सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतागमो णिच्चुग्घाडिओ हवई ।
जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा ॥

(ख) जैनदृष्टिए कर्म (डॉ. मो. गि. कापड़िया (से, पृ. ११०

१७

उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण—२

दर्शनावरणीय कर्म : उत्तर प्रकृतियाँ, स्वरूप और बन्ध के कारण

ज्ञानावरणीय के पश्चात् दर्शनावरणीय कर्म का क्रम है। वैसे देखा जाए तो ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दोनों कर्म सगे भाई जैसे हैं। ज्ञानावरणीय प्राणियों के विशेष ज्ञान को रोकता-ढकता है, जबकि दर्शनावरणीय कर्म प्राणियों के सामान्य ज्ञान को रोकता-ढकता है। ज्ञान जिस प्रकार आत्मा का अनुजीवी निजी गुण है, दर्शन भी आत्मा का अनुजीवी निजी गुण है।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म में अन्तर

प्रश्न होता है—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दोनों एक-सा ही कार्य करते हैं, दोनों ही आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करते हैं; फिर दो भेद करने की आवश्यकता क्या थी? एक से ही काम चल जाता, क्योंकि दोनों के बन्ध के कारण तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने समान ही बताए हैं; एकमात्र ज्ञानावरणीय कर्म को ही रखा जाता तो क्या हानि थी? इसका समाधान यह है कि दर्शन न हो, तो ज्ञान कैसे होगा? पहले वस्तु का सामान्य बोध होता है, तत्पश्चात् वस्तु का विशेष बोध, इसलिए दोनों दो प्रकार के कार्य करते हैं। दूसरी बात, इनकी उत्तर-प्रकृतियों के भेदों में अन्तर है। ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ मतिज्ञानावरणीय आदि पांच हैं, जबकि दर्शनावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ नौ हैं, और वे ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृतियों से भिन्न कार्य करती हैं। तीसरी बात, ज्ञानावरणीय कर्म के भेदों में मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म है जबकि दर्शनावरणीय कर्म के भेदों में मनःपर्यायदर्शनावरणीय कर्म नहीं है, क्योंकि मनः पर्यायज्ञान में दर्शन नहीं होता, ज्ञान ही होता है, वह सामान्य को ग्रहण नहीं करता, विशेष को ही ग्रहण करता है। इन कारणों से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दो भिन्न-भिन्न कर्मों की योजना है।

दर्शन शब्द का पारिभाषिक अर्थ, दर्शनावरणीय कर्म-स्वरूप

दर्शनावरणीय कर्म में जो 'दर्शन' शब्द है, उसके शब्दकोष में अनेकों अर्थ होते हुए भी यहाँ वह पारिभाषिक शब्द है। वह यहाँ सामान्य बोध–निराकार ज्ञान का परिचायक है। पंचसंग्रह के अनुसार–'पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होता है। अतः पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण न करके जो केवल सामान्य अंश का निर्विकल्प रूप से ग्रहण करता है, उसे जैन सिद्धान्त में दर्शन कहा गया है।' अथवा 'कम्मपयडी' के अनुसार–'बाह्य पदार्थों के विशेष रूप का ग्रहण न करके, तथा पदार्थ के जाति, गुण, क्रियादि प्रकार का विकल्प न करके केवल उसके स्वरूप की सत्ता का अवभास (बोध) होना दर्शन है।' आत्मा की इस दर्शनगुणशक्ति (सामान्यबोधरूप शक्ति) को आच्छादित करने वाले कर्मों को दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है।[1]

सामान्यरूप से देखना दर्शन है। जानने और देखने में अन्तर है। वस्तु को जानने से पहले देखना होता है। देखने के पश्चात् जानना होता है। नाक से सूंघने से, जीभ से स्वाद लेने से, कान से सुनने से और त्वचा से वस्तु के स्पर्श से वस्तु को जानने से पहले सामान्य रूप से देखना होता है। सारांश यह है कि इन पांचों इन्द्रियों से वस्तु को (विशेष रूप से) जानने से पहले सामान्यरूप से देखना ही 'दर्शन' है।

बोध के सामान्य और विशेष दो रूप होते हैं। पदार्थों के विशेष धर्मों की–उसकी जाति, गुण, क्रिया आदि की जानकारी विशेष बोध है और पदार्थों का सामान्य-सा, जरा-सा ('यह कुछ है या यह धड़ा, गाज, घोड़ा आदि है, इतना-सा) बोध सामान्य बोध है। विशेष बोध को शास्त्रीय भाषा में ज्ञान और सामान्य बोध को 'दर्शन' कहते हैं। उपयोग के साकार और अनाकार दो विभाग किये जाते हैं, जो बोध ग्राह्य वस्तु को विशेष रूप से जानता है, वह साकार और सामान्य रूप से जानता है, वह निराकार, अनाकार या निर्विकल्प बोध कहलाता है। अतः 'दर्शन' का यहाँ अर्थ है–जो ग्राह्य वस्तु को सामान्य रूप से ग्रहण करता है उसे निराकार, अनाकार या निर्विकल्प भी कहा जाता है। स्पष्ट रूप से कहें तो–वस्तु के सामान्य बोध का यहाँ अर्थ है–पदार्थों की सभी अवस्थाओं का बोध न होकर किसी एक अवस्था का बोध होना। एक उदाहरण द्वारा इसे समझिये–मान लो, सामने हीराचन्द नाम का व्यक्ति खड़ा है, कुछ दूरी पर। सर्वप्रथम बोध होगा कि यह मनुष्य है। यही सामान्य बोध दर्शन है। फिर उस व्यक्ति के आकार, रूप, रंग, पहनावे आदि से उसके हीराचंद होने

---

१. (क) जं सामण्णग्गहणं भावाणं नेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिदि वुच्चए समए॥ –पंचसंग्रह १/१३८

(ख) बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जाति-क्रिया-गुण-प्रकारैरविकल्प्य स्वरूप-सत्ताऽवभासनं दर्शनमित्यर्थः। –कम्मपयडी, टीका ४३

(ग) दर्शनमावृणोति, आत्मनः दर्शनगुणं आवृयतेऽनेनेति वा दर्शनावरणीयम्।
–तत्त्वार्थसूत्र भाष्य ८/६

का बोध होना, यह विशेष बोध (ज्ञान) है। इसी प्रकार सामने घड़ी पड़ी है, सर्वप्रथम इसका बोध होगा-यह घड़ी है। उसके आकार, प्रकार, रंग, क्वालिटी, निर्माणस्थान आदि बातों की जानकारी उस समय नहीं होती। अतः केवल इतना ही जानना कि यह घड़ी है, सामान्यबोध (दर्शन) है, फिर वह बोध विशाल रूप धारण कर ले, विशेष रूप से जान ले तो यह बोध दर्शन न होकर ज्ञान कहलाएगा।[1]

अतः जो कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण डालकर, उसे प्रकट होने से रोकता है, सामान्य बोध पर पर्दा बनकर छा जाता है, जीव को पदार्थों की साधारण जानकारी भी नहीं होने देता, वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म की उपमा द्वारपाल से दी गई है। जिस प्रकार शासक के दर्शन के लिये उत्सुक व्यक्ति को द्वारपाल रोक देता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण डाल कर वस्तु के सामान्य धर्म का दर्शन (बोध) होने से रोक देता है, दर्शन शक्ति को प्रकट नहीं होने देता, वह दर्शनावरणीय कर्म है।[2]

दर्शनावरणीय कर्म का समस्त कथन प्रायः ज्ञानावरणीय कर्म के तुल्य

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शनशक्ति को कैसे आच्छादित करता है? दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कौन-कौन से कारण हैं? दर्शनावरणीय कर्म का फलभोग (अनुभव) कैसे-कैसे होता है? इत्यादि सब बातों की जानकारी ज्ञानावरणीय कर्म के प्रकरण में दी जा चुकी है। क्योंकि दोनों ही कर्म ज्ञान को आवृत-आच्छादित करते हैं। ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही आत्मा के गुण हैं। एक विशेष बोध कराने वाला है, दूसरा सामान्य बोध। इसलिए दोनों की सभी बातें प्रायः समान हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वहाँ ज्ञान शब्द का प्रयोग है, यहाँ दर्शन शब्द का। दोनों की उत्तर-प्रकृतियों के भेदों में अन्तर अवश्य है। वैसे दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारणों के विषय में हमने इसी खण्ड के १५वें लेख में विश्लेषण किया है।[3]

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ और उनका स्वरूप

यों तो ज्ञानावरणीय कर्म की तरह दर्शनावरणीय कर्म के असंख्यात भेद हो सकते हैं। किन्तु सुगमता से उन असंख्यात भेदों को समझने और उनका समावेश संक्षेप में करने हेतु निम्नलिखित नौ भेद किये हैं। अर्थात्-दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

---

१. (क) जैनदृष्टिए कर्म से भावांश ग्रहण, पृ. ११२
   (ख) ज्ञान का अमृत से, पृ. २५९, २६०
२. (क) ज्ञान का अमृत पृ. २६०
   (ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. २१
   (ग) सर्वार्थसिद्धि ८/३
३. (क) ज्ञान का अमृत से भावांश ग्रहण, पृ. २६०
   (ख) दर्शनावरण कर्मबन्ध आदि के विषय में देखें-मूल प्रकृतियों के स्वभाव, स्वरूप और कारण, लेख में

नी हैं। उनमें से दर्शनावरण की उत्तरप्रकृतियों के मुख्य चार प्रकार हैं–(१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म, (२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म, (३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म और (४) केवलदर्शनावरणीय कर्म। शेष पांच प्रकृतियाँ दर्शन के आवरणरूप निद्रा की हैं–(१) निद्रा, (२) निद्रा-निद्रा, (३) प्रचला, (४) प्रचला-प्रचला और (५) स्त्यानर्द्धि या स्त्यानगृद्धि।[1]

(१) **चक्षुदर्शनावरण**–चक्षु (नेत्र) दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से, चक्षु-इन्द्रिय के अवलम्बन से (आँख के द्वारा) मूर्त पदार्थ का सामान्य दर्शन होता है, सामान्य अंश जाना जाता है, अवबोध होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। चक्षु के द्वारा होने वाले मूर्त वस्तु के सामान्य धर्म के ग्रहण (बोध) को रोकने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। अर्थात्–आँख के द्वारा जो घट, पट आदि पदार्थों का सामान्य हल्का सा बोध होता है, उसे जो कर्म आच्छादित कर देता है, रोक देता है, वह चक्षुदर्शनावरण है।

(२) **अचक्षुदर्शनावरण**–अचक्षु का अर्थ है–चक्षुरिन्द्रिय को छोड़ कर शेष श्रोत्र, नासिका (घ्राण), रसना और स्पर्शन ये चार इन्द्रियाँ एवं मन। अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से चक्षु के सिवाय शेष पूर्वोक्त चार इन्द्रियों और मन से मूर्त शब्दादि पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास (दर्शन–ग्रहण) होना अचक्षुदर्शन है। ऐसे अचक्षुदर्शन को आक्रान्त–आवरित करने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा त्रीन्द्रिय जीवों के चक्षुदर्शन के आवरण होते ही हैं। उनके चक्षुरिन्द्रिय होती ही नहीं है। चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों के चक्षु होने पर भी चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के योग (उदय) से वे अन्ध या रतान्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जिस जीव के बाकी की इन्द्रियाँ हों, अथवा मन न हो, अगर ये इन्द्रियाँ और मन हो तो भी इनकी शक्ति या क्षमता का क्षय, नाश या ह्रास हो गया हो, ये बिल्कुल काम न देते हों, वहाँ, अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म का उदय समझना चाहिए। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, ये दोनों परोक्षज्ञान की कोटि में आते हैं, और मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से पहले होने वाले सामान्य बोध (ज्ञान) हैं। इन दोनों प्रकार के दर्शनावरणीय कर्मों के उदय से (आवरणों से) सभी इन्द्रियों और मन से होने वाला वस्तु का सामान्य बोध नहीं होता।

(३) **अवधिदर्शनावरणीय कर्म**–अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रोत्र आदि इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा को सीधा (Direct) रूपी (वर्ण

---

१. (क) जैनदृष्टिए कर्म से सारांश ग्रहण, पृ. ३१४
(ख) कर्म-प्रकृति से भावांश ग्रहण, पृ. ११
(ग) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला- स्त्यानगृद्धयश्च।
–तत्त्वार्थ. ८/६
(घ) स्थानांग ९/६६८
(ङ) उत्तराध्ययन ३३/५, ६
(च) कर्मग्रंथ ४७/४८

न्ध, रस और स्पर्श वाले) पदार्थों का कुछ मर्यादा को लिये हुए, जो सामान्य बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। दूसरे शब्दों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा में आत्मा द्वारा रूपी द्रव्यों का सामान्य अवबोध, अवधिदर्शन है। जो कर्म अवधिदर्शन को आच्छादित कर देता है, उसे अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

(४) **केवलदर्शनावरणीय कर्म**–केवलदर्शनावरण कर्म के क्षय होने पर आत्मा द्वारा जगत् के समस्त त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती पदार्थों का एक साथ (युगपत्) जो सामान्य बोध होता है, वह केवलदर्शन है। संक्षेप में, सर्वद्रव्यों के सामान्य अंश का अवबोध केवलदर्शन है। इस केवलदर्शन को आवृत करने, रोकने वाली कर्मशक्ति का नाम केवलदर्शनावरणीय कर्म है। यह कर्म जीव की केवलदर्शनशक्ति को पर्दा बनकर ढक देता है।[1]

मनः पर्याय–दर्शनावरण कर्म क्यों नहीं?

अवधिदर्शन की तरह मनःपर्यायदर्शन न मानने का कारण यह है कि मनः पर्यायज्ञान क्षयोपशम के प्रभाव से पदार्थों के विशेष धर्मों को ही ग्रहण करते हुए उत्पन्न होता है, सामान्य धर्म को ग्रहण करते हुए नहीं। अर्थात्–मनःपर्यायज्ञान पदार्थों के सामान्य धर्मों को अपना विषय नहीं बनाता। यह सत्य है कि मनःपर्यायज्ञान का ऋजुमति नामक भेद मनोगत सामान्य भावों को जानता है, किन्तु ऋजुमति के सामान्यग्राही होने का इतना ही मतलब है कि वह जानता तो वस्तुगत विशेष धर्मों को है, परन्तु मनःपर्यायज्ञान के दूसरे भेद विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता है। इसलिए दर्शन मनःपर्यायज्ञान का न होने से मनःपर्यायदर्शनावरण नामक भेद की आवश्यकता नहीं रहती।[2]

दर्शन के आवरणरूप निद्रा के पांच प्रकार

प्राणी निद्राधीन होता है, तब दर्शन अवश्य रुक जाता है। सोया हुआ मानव सामान्य बोध नहीं प्राप्त कर सकता, यह हम सभी जानते हैं, क्योंकि निद्रा से इन्द्रियों के विषय रुक जाते हैं और इसी से समस्त दर्शन का घात हो जाता है। इसी कारण निद्रा आदि पांच दर्शनावरणीय कर्म के अंग के रूप में माने गए हैं।

निद्रा के पांच प्रकार हैं–(१) **निद्रा**–जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी नींद आए कि सोये हुए मनुष्य को आसानी से जगाया जा सके, जो हल्की सी आवाज देने पर जाग जाए अथवा कोई नाम से बुलाए या पास में आवाज आए तो तुरंत जाग

---

१. (क) कर्म प्रकृति से पृ. १२
   (ख) जैनदृष्टिए कर्म से पृ. ११५ भावांश ग्रहण
   (ग) ज्ञान का अमृत से पृ. २६१
२. (क) कर्मप्रकृति, पृ. १२
   (ख) ज्ञान का अमृत से पृ. २६१-२६२

उठे, ऐसी निद्रा[1] 'निद्रा' कहलाती है। जिस कर्म के उदय (प्रभाव) से ऐसे प्रकार की, दर्शन को रोकने वाली नींद आए, उसे निद्रा-दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। (२) निद्रा-निद्रा–जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आए कि सोये हुए मनुष्य को ऐसी पक्की नींद आ जाए कि सोने वाला बड़ी मुश्किल से जागे, उसे जगाने के लिए हाथ पकड़कर हिलाना पड़े, जोर से चिल्लाना पड़े, दरवाजा जोर-जोर से खटखटाना पड़े, ऐसी नींद को निद्रा निद्रा कहते हैं। यह निद्रा जिस कर्म के प्रभाव से आती है, उसे निद्रा-निद्रा-दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। (३) प्रचला–खड़े-खड़े या बैठे-बैठे ही नींद आ जाने को 'प्रचला' कहते हैं। किसी-किसी मनुष्य को इस प्रकार की नींद आती है। बैल, घोड़े आदि को भी खड़े-खड़े नींद लेते हम देखते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी निद्रा आती है, उसे प्रचला-दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। (४) प्रचला-प्रचला–जो निद्रा चलते-फिरते आती है, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। पशु चलते-फिरते भी सो जाते हैं। जिस कर्म के प्रभाव से जीव को ऐसी निद्रा आती है, उसे प्रचला-प्रचला-दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।[2] (५) स्त्यानर्द्धि या स्त्यानगृद्धि–यह निद्रा

---

१. (क) सुह-पडिबोहा निद्दा,
(ख) सुखेन ..... जागरणं स्वपतुर्यायां स्वप्नावस्थायां सा सुख-प्रतिबोधा।
–कर्मग्रन्थ भा. १, गा. १० टीका
(ग) जैनदृष्टिए कर्म से भावग्रहण, पृ. ११६

२. (क) पयला ठिओवविट्ठस्स। पयलापयला धंकमओ। –कर्मग्रन्थ प्रथम गा. १०
(ख) कर्मप्रकृति से, पृ. १३-१४
(ग) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ११६-११७।
(घ) ज्ञान का अमृत से पृ. २६३
(ङ) दिगम्बर परम्परा में निद्रादि पंचक के विभिन्न अर्थ किये गए हैं–मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावट को दूर करने के लिए नींद लेना निद्रा है।
–सर्वार्थसिद्धि ८/७ पृ. ३८३
निद्रा कर्म के उदय से जीव हल्की नींद सोता है, उठाये जाने पर जल्दी उठ जाता है और हल्की आवाज करने पर सचेत हो जाता है; निद्रावस्था में गिरता हुआ व्यक्ति अपने आपको संभाल लेता है, थोड़ा-थोड़ा कांपता है और सावधान होकर सोता है।
–धवला ६/१/९-११/सू. १६
निद्रा के उदय से चलता-चलता मनुष्य खड़ा हो जाता है, और खड़ा बैठ जाता है अथवा गिर जाता है। –गोम्मटसार(क) गा.२४
निद्रा की अधिक प्रवृत्ति का होना निद्रा-निद्रा है।–सर्वार्थसिद्धि ८/७/३८३; इस (निद्रानिद्रा) कर्म उदय से जीव वृक्ष के शिखर पर, विषम भूमि पर अथवा किसी भी प्रदेश पर 'घुर-घुर' आवाज करता हुआ अतिनिर्भय होकर गाढ़ी निद्रा में सोता है। दूसरों के द्वारा उठाये जाने पर भी नहीं उठता है।–६/१/९-११/सू. १६। निद्रानिद्रा कर्म के उदय से जीव सोने में सावधान रहता है। लेकिन नेत्र खोलने में सार्थक नहीं होता।
–गोम्मटसार गा. २४
जिस कर्म के उदय से आधे सोते हुए व्यक्ति का सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है, उसे प्रचला कहते हैं।–धवला १/३/५ सू. ७५; प्रचला के उदय से जीव किंचित् नेत्र को खोल कर सोता है। सोता हुआ कुछ जानता रहता है, बार-बार मंद-मंद सोता है।
–गोम्मटसार (क) २५

अत्यन्त भयंकर है। इस निद्रा में मनुष्य (जाग्रत अवस्था में) दिन या रात में सोचे हुए कार्य को निद्रित अवस्था में ही कर डालता है। इस निद्रा के प्रभाव से रात्रि में सोया हुआ व्यक्ति निद्रित दशा में उठ खड़ा होता है। दूकान से बाहर गेहूँ की ५०० बोरियाँ पड़ी हों तो अकेला ही उठा कर अंदर रख देता है। कभी दूकान खोल कर माल को तितर-बितर कर डालता है। दुश्मन की हत्या भी कर डालता है। यह सब दुष्कृत्य करके वापस अपने स्थान पर आकर सो जाता है। कहते हैं–स्त्यानर्द्धि निद्रा का यदि वज्रऋषभनाराच संहनन वाले मनुष्य में उदय हो तो निद्रित दशा में वासुदेव का आधा बल आ जाता है। त्रिखण्डाधिपति वासुदेव हजारों व्यक्तियों को अकेला ही पछाड़ सकता है। ऐसे वासुदेव की आधी शक्ति (राक्षसी शक्ति) जिस मानव में आ जाती है, वह व्यक्ति अपने पर नियंत्रण खो बैठता है और इस भयंकर निद्रा के परवश बना हुआ वह प्राणी न करने योग्य दुष्कृत्य कर बैठता है। करता है, वह नींद ही नींद में। अगर इस निद्रा वाला व्यक्ति निद्रितदशा में ही मर जाए तो वह मर कर नरक गति का मेहमान बनता है। स्त्यान का अर्थ है–एकत्रित हुई बर्फ तरह जमी हुई, ऋद्धि यानी आत्मा की ऋद्धि-शक्ति या गृद्धि यानी मन की। एकत्रित हुई विकृत इच्छाएँ। इसी कारण इसे स्त्यानर्द्धि या स्त्यानगृद्धि कहते हैं। जिस कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है, उसे स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। स्त्यानगृद्धि निद्रा की तीन परिभाषाएँ सर्वार्थसिद्धिकार ने प्रतिपादित की हैं--(१) जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष बल प्रकट हो जाए; (२) अथवा जिसके उदय से जीव सुप्त अवस्था में रौद्रकर्म करता है। (३) जिस निद्रा में दिन में चिन्तित अर्थ और साधन-विषयक आकांक्षा का एकीकरण (संघातीकरण) हो जाए, उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं।[1]

निद्रादि दर्शनावरणीयपंचक के दो-दो अर्थ सम्भव

दर्शनावरणीय कर्म के निद्रा, निद्रा-निद्रा आदि पांच भेदों के शब्दों के अर्थों पर गम्भीरता से विचार करते हैं तो इन पांचों पदों के दो-दो अर्थ सम्पन्न हो सकते हैं--(१) निद्रा (आदि) के कारण दर्शन (सामान्य बोध) का आवरण/आच्छादन करने

प्रचला की बार-बार प्रवृत्ति प्रचला-प्रचला है।–सर्वार्थसिद्धि ८/७, पृ. ३८३। जिस कर्म के उदय से बैठा हुआ व्यक्ति सो जाता है, सिर घूमता है, लता के समान चारों ओर लोटता है, वह प्रचला-प्रचला कर्म है। –धवला १३/५/५ सू. ८५

१. (क) स्त्याने स्वप्ने यथा वीर्य-विशेष प्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः। –सर्वार्थसिद्धि ८/७
(ख) दिण चिंति अत्थ करणी थीणद्धी। अद्धचक्कि अद्धबला। –कर्मग्रन्थ प्रथम गा.१०
(ग) स्त्याने स्वप्ने गृद्धयति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः। –सर्वार्थसिद्धि ८/७
(घ) स्त्याना संघातीभूता गृद्धिर्दिन-चिन्तितार्थ-साधन-विषयाऽभिकांक्षा यस्यां सा स्त्यानगृद्धिः। –वही ८/७

वाला कर्म निद्रा (आदि) दर्शनावरणीय कर्म होता है, और (२) निद्रा (आदि) के उत्पन्न करने वाला कर्म भी निद्रा (आदि) दर्शनावरणीय कर्म कहलाएगा। प्रथम अर्थ में निद्रा (आदि पांच) दर्शनशक्ति की घातिका प्रमाणित होती है। क्योंकि सुप्त-अवस्था में व्यक्ति दिखाई देने वाली वस्तुओं भावों या पदार्थों को देख (सामान्यरूप से जान) नहीं सकता। दूसरे अर्थ में दर्शनावरणीय कर्म निद्रा (आदि) का जनक सिद्ध होता है। कर्म-परमाणुओं की विचित्रता के कारण दर्शनशक्ति को आवृत करने वाले कर्मपरमाणु भी निद्रा, निद्रानिद्रा आदि निद्राओं की उत्पत्ति के कारण (जनक) बन जाते हैं। क्योंकि इस दूसरे अर्थ के आधार पर ही–"दर्शनावरणीय कर्म के प्रभाव से प्राणियों को निद्रा आती है।" ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। निद्रा की तरह ही निद्रा-निद्रा-दर्शनावरणीय, प्रचला-दर्शनावरणीय आदि पदों के भी दो-दो अर्थ समझ लेने चाहिए। तत्त्वं केवलिगम्यम्।[1]

दर्शनावरणीय कर्म : देशघाती भी, सर्वघाती भी

दर्शनावरणीय कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप में दो प्रकार का है। दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तरप्रकृतियों में चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय और अवधिदर्शनावरणीय कर्म देशघाती हैं, तथा शेष रही छह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। सर्वघाती प्रकृतियों में केवलदर्शनावरणीय कर्म मुख्य है।[2]

दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के प्रमुख कारण

तत्त्वार्थसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म दोनों के बन्ध के समान कारण ६-६ बताए हैं। जिनकी चर्चा हम इसी खण्ड के पूर्व लेख में कर चुके हैं। फिर भी धर्म विज्ञानमनीषी पं. ज्ञानमुनिजी के अनुसार दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के ६ कारण प्रस्तुत कर रहे हैं–(१) दर्शन की आशातना–बेअदबी या अपमान करना, (२) दर्शनशक्ति को प्राप्त करने वाले जीवों से ईर्ष्या, द्वेष, वैरविरोध करना, उनके दोष निकालना, (३) दर्शनगुण का स्वामी होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार करना, दर्शनशक्ति को छिपाना, (४) दर्शन की प्राप्ति में विघ्न उपस्थित करना, (५) जिस व्यक्ति से दर्शनशक्ति प्राप्त की है, उनके नाम को छिपाना, और (६) दर्शन-शक्ति का दुरुपयोग करना। दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के ये ६ कारण ज्ञानावरणीय कर्म को बांधने के समान ही हैं, जिनका विवेचन पिछले पृष्ठों में किया गया है।[3]

---

१. (क) कर्मप्रकृति से पृ. १५
   (ख) ज्ञान का अमृत से पृ. २६४-२६६
२. कर्मग्रन्थ प्रथम भाग विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से
३. ज्ञान का अमृत से पृ. २६५

दर्शनावरणीय कर्म का फल-भोग किस प्रकार?

दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव (फल का अनुभवन) वैसे तो ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही है, परन्तु इसके नौ भेद हैं, तथा इनमें चक्षुदर्शनावरणीय मुख्य व प्रथम है। अतः चक्षु-अचक्षु (श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय और मन) इन ६ इन्द्रिय-नोइन्द्रियों से घट-पटादि पदार्थों का जो दर्शन-सामान्य बोध पैदा होता है, दर्शनावरणीय कर्म उदय में आने पर वह शक्ति कुण्ठित हो जाती है। जो कार्य जिस करण को करना चाहिए, वह नहीं कर पाता। चक्षु-अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म उसे आच्छादित-आवृत कर देता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों को जन्म से ही आँखें प्राप्त नहीं होतीं। इसी कर्म के उदय में आने पर चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की आँखें या तो नष्ट हो जाती हैं, या अत्यन्त कम दिखने लगता है, मोतियाबिन्दु उतर आता है या रतौंधी आदि नेत्ररोग हो जाते हैं। शेष इन्द्रियों और मन वाले जीवों को अचक्षुदर्शनावरणीय के उदय से वे इन्द्रियाँ या तो नष्ट हो जाती हैं, अथवा वे मूक, बधिर, अपंग, आदि हो जाते हैं। अथवा उनकी इन्द्रियों से उन्हें सामान्य बोध भी स्पष्ट नहीं होता। या तो उन्हें जन्म से ही मन नहीं मिलता, या मन मिलता है तो भी मनन-शक्ति, विचारशक्ति, स्मरणशक्ति आदि भी अतीव मन्द हो जाती है, अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय से। इसके अतिरिक्त निद्रादि दर्शनावरणीय कर्म के उदय में आने पर जीव को निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि (थीणद्धी) ये पांच प्रकार की निद्राओं में से स्व-स्व-कर्मानुसार प्राप्त निद्रा आती है, जिसके कारण वस्तु का सामान्य बोध भी निद्रादि दशा में उन्हें नहीं हो पाता। इस प्रकार संसारी जीव को दर्शनावरणीय कर्म का नवविध फलभोग पूर्वोक्त प्रकार करना पड़ता है।[1]

दर्शनावरणीय कर्मफलानुभाव स्वतः या परतः

ज्ञानावरणीय कर्म के फलानुभाव की तरह दर्शनावरणीय कर्म का नवविध (फलभोग) भी स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है। जब परतः फलानुभाव होता है, तब पुद्गल, पुद्गल-परिणाम एवं स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम उसमें सहायक निमित्त बन जाते हैं। जैसे-ज्ञानावरणीय कर्मफलानुभाव में दूसरे के द्वारा पत्थर आदि के प्रहार से आँख आदि इन्द्रियों पर चोट आने से नेत्रादि द्वारा ज्ञानशक्ति का नाश या ह्रास हो जाता है, उसी प्रकार दर्शनशक्ति का भी ह्रास या नाश समझ लेना चाहिए। पुद्गलों के परिणमन से भी दर्शनशक्ति का ह्रास या नाश होता है, जैसे भैंस के दही आदि के सेवन से निद्रा की अधिकता होना, मदिरा आदि के पीने से मन की मननशक्ति, सामान्य दर्शनशक्ति दब जाती है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से भावांश ग्रहण, पृ. २६६
(ख) प्रज्ञापना सूत्र पद २३

भी निद्रा में निमित्त बन जाते हैं। जैसे–आकाश बादलों की घटा से घिर गया हो, वर्षा की झड़ी लगी हो, या अत्यधिक ठंड का प्रकोप हो, तब ये कारण निद्रा में सहायक हो जाते हैं। इस प्रकार के तीनों कारण परस्पर फलानुभाव हैं।

स्वतः अनुभाव की रूपरेखा इस प्रकार है–दर्शनावरणीय कर्मपुद्गलों के उदय से जीव दर्शन योग्य वस्तु देख नहीं पाता, सामान्य बोध नहीं कर पाता, नेत्रादि द्वारा सामान्य बोध करने की इच्छा होते हुए भी दर्शन नहीं कर पाता, पूर्वदृष्ट भी विस्मृत हो जाता है।[1]

इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों का विश्लेषण समझना चाहिए।

वेदनीय कर्म : उत्तर प्रकृतियाँ, स्वरूप और बन्धकारण

वेदनीय कर्म अष्टविध कर्मों में तीसरा कर्म है। सांसारिक प्राणियों का जीवन न ही एकान्त सुखभोगमय है और न एकान्त दुःख-वेदनरूप। वेदनीय कर्म सांसारिक सुख-दुःखों का वेदन–अनुभव कराता है। सामान्यरूप से 'वेदनीय' का शब्दशः व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है–जिसके द्वारा वेदन अर्थात् अनुभव होता है। 'सर्वार्थसिद्धि' में इसका लक्षण किया गया है–वेदनीय कर्म की प्रकृति सुख-दुःख का संवेदन कराना है। 'धवला' में भी 'जीव' के सुख-दुःख के उत्पादक कर्म को 'वेदनीय कर्म' कहा है।[2]

वेदनीय कर्म से सुख और दुःख का जो अनुभव होता है, वह सांसारिक, पौद्गलिक, भौतिक या पार्थिव होता है। वह क्षणिक होता है। शाश्वत नहीं। आत्मा के अक्षय, अनन्त, अव्याबाध, मोक्षरूप सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मिक सुख से उसका कोई वास्ता नहीं होता। यह वैषयिक सुख-प्रधान सुख है, सुखाभास है, मन का माना हुआ सुख है, जिसमें दुःख मिश्रित है। इसलिए यह सुख-दुःख का लक्षण प्राणियों के मन से विशेष सम्बन्धित है–'अनुकूल-वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूल-वेदनीयं दुःखम्' अर्थात्–जिस मनोऽनुकूल वस्तु की प्राप्ति से अनुकूल वेदन–अनुभव किया जाए वह सुख है, और जिससे प्रतिकूल वेदन किया जाए, वह दुःख है।[3] इसीलिए वेदनीय कर्म की तुलना शहद लिपटी हुई तलवार से की गई है। जिस प्रकार तलवार की धार पर लगे हुए शहद को चाटने से सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार सातावेदनीय कर्म के उदय से सुख का अनुभव होता है, परन्तु साथ ही, मधुलिप्त तलवार के चाटने से जिह्वा के

---

१. ज्ञान का अमृत से, पृ. २६९
२. (क) सर्वार्थसिद्धि (आ. पूज्यपाद) से ८/३, पृ. ३७९
   (ख) धवला पु. १ खं. १, भा. १, सू. १९
३. (क) जैनदृष्टिए कर्म से भावांश ग्रहण पृ. ११८
   (ख) मनुस्मृति

कट जाने पर कुछ ही देर बाद दुःख का अनुभव होता है, उसी प्रकार असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख का अनुभव भी होता है। यही कारण है कि कर्मशास्त्रमर्मज्ञों ने प्राणियों की असंख्य अनुभवधारा होने से असंख्य भेदों की संभावना होने पर भी वेदनीय कर्म को सातावेदनीय और असातावेदनीय, इन दो उत्तरप्रकृतियों में समाविष्ट कर दिया है। सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव को शरीर और मन से सम्बन्धित सुखानुभव होता है, जबकि असातावेदनीय कर्म के उदय से जीव को नरकादि गतियों में अनेक प्रकार की कायिक, वाचिक, मानसिक तथा जन्म, जरा, मृत्यु, प्रिय-वियोग, अप्रियसंयोग, आधि, व्याधि वध, बन्धन, चिंता आदि से उत्पन्न दुःख का वेदन-अनुभव होता है।[1] मुख्यतया सातावेदनीय का सुख वस्तुनिष्ठ या वैषयिक या पौद्गलिक होता है, जिसका अधिकांश अनुभव देवगति और मनुष्यगति में होता है, जबकि असातावेदनीय के उदय से प्राप्त दुःख का अनुभव अधिकांशतः नरकगति और तिर्यञ्चगति में होता है। वेदनीय कर्म का सारा सुख-दुःखात्मक व्यवहार मुख्यतया बहिर्मुखी होता है। सातावेदनीय को पुण्यप्रकृति में और असातावेदनीय को पाप प्रकृति में माना गया है।[2]

अतः वेदनीय कर्म का परिष्कृत लक्षण है–मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के वश, कर्मरूप पर्याय से परिणत और जीव के साथ सम्बद्ध जो पुद्गलस्कन्ध जीव के सुख और दुःख के अनुभवन–वेदन में निमित्त होता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

यदि सातावेदनीय का उदय होता है तो जीव को शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव और निर्जीव पदार्थों या शुभ, इष्ट, मनोवांछित भावों के इष्टसंयोग से सुख का वेदन-अनुभव होता है, और असातावेदनीय का उदय होने पर इन्हीं पदार्थों या भावों के अनिष्ट–मनःप्रतिकूल संयोग के कारण दुःख का वेदन–अनुभव होता है। परन्तु एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए कि सुख का मन्तव्य गति, स्थान, संयोग और परिस्थिति के अनुसार जीवों में पृथक्-पृथक् प्रकार का होता है। एक प्राणी एक वस्तु में सुख का अनुभव करता है, जबकि दूसरा प्राणी उसी की प्राप्ति में दुःखानुभव एवं अरुचि महसूस करता है। सूअर को विष्टा खाने में सुखानुभव होता है, जबकि मनुष्य को उसके देखते ही अरुचि और घृणा होती है, खाने को कहें तो दुःखानुभव होता है। इसी प्रकार सर्दी के मौसम में ऊनी वस्त्रों के धारण करने में सुखानुभव होता है, गर्मी के मौसम में उनसे दुःखानुभव। एक शासक को राजवैभव में सुखानुभव होता है, परन्तु त्यागी साधु की राजवैभव में कोई रुचि ही नहीं होती, जबरन देने पर दुःखानुभव होगा। इसी कारण एक व्यक्ति को स्वेच्छा से दीर्घतपस्या करने में, त्याग

१. (क) गोम्मटसार (क.) गा. २१
   (ख) सर्वार्थसिद्धि ८/८
   (ग) तत्वार्थ वार्तिक ८/८/१-२
२. जैनदृष्टिए कर्म से भावांश ग्रहण, पृष्ठ ११९

करने में सुखानुभव होता है, दूसरे व्यक्ति को दीर्घतपस्या या अमुक प्रिय वस्तु का त्याग करने में दुःखानुभव होता है। भोगी को पंचेन्द्रिय विषयभोगों में सुखानुभव होता है, रोगी को उन्हीं विषयभोगों में दुःखानुभव। इसलिए सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म उदय और पूर्वकाल में कृतबन्ध का चिह्न प्राणी की अनुभूति के आधार पर समझना चाहिए। कई लोग कहते हैं–धन, पुत्र, स्त्री, मित्र, स्वर्ण तथा साधनों की प्राप्ति में सुख का अनुभव होता है, वह सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त हुआ है, परन्तु अगर वह चोरी या आयकर चोरी से प्राप्त धन है, पुत्र अगर कुपुत्र एवं उद्दण्ड है, स्त्री अगर कर्कशा है, स्वर्णप्राप्ति अन्याय-अत्याचार से हुई है, और बंगला, कोठी अगर भूतहा है, कार अगर दुर्घटना का कारण बनी है, तो क्या ऐसी स्थिति में भी वे धनादि सुख के कारण होंगे? या उन्हें उसके सातावेदनीय का उदय समझा जाएगा? निष्कर्ष यह है कि कैसे भी अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में, अथवा इष्ट-अनिष्ट संयोगों में, परिस्थिति में अगर सुख का वेदन होता है तो पूर्वबद्ध सातावेदनीय का उदय और यदि दुःख का वेदन होता है तो पूर्वबद्ध असातावेदनीय का उदय समझना चाहिए। कोई भी सजीव-निर्जीव वस्तु या भाव अपने-आप में सुख-दुःख का कारण नहीं, व्यक्ति के शुभाशुभ वेदन के भाव ही कारण हैं।[1]

वेदनीय कर्म और उसमें भी उसकी मुख्य दो उत्तरप्रकृतियों के बन्ध के क्या-क्या कारण हैं? उन्हें कैसे-कैसे भोगा जाता है? वेदनीयद्वय का अनुभाव स्वतः या परतः कैसे-कैसे होता है? इत्यादि सब तथ्यों का स्पष्टीकरण हम इससे पूर्व के लेख में कर आए हैं। यहाँ तो सिर्फ संकेत कर देते हैं। सातावेदनीय बन्ध के १० कारण हैं- (१) प्राणानुकम्पा, (२) भूतानुकम्पा, (३) जीवानुकम्पा, (४) सत्त्वानुकम्पा, (५) प्राणादि को दुःख न देना, (६) प्राणादि को शोक न पहुँचाना, (७) प्राणादि को ताप न पहुँचाना, (८) प्राणादि को आक्रन्दित न करना (विलाप न कराना, न रुलाना), (९) प्राणादि का वध न करना, और (१०) प्राणादि को परिताप न पहुँचाना। इसके विपरीत असातावेदनीय कर्मबन्ध के १२ कारण हैं-(१) प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को दुःख देना, (२) प्राणादि को शोक कराना, (३) प्राणादि को संतप्त करना, (४) इनसे आक्रन्दन (रुदनादि) कराना, (५) इनको मारना-पीटना (६) इनको परिताप देना, (७) इनको बहुत दुःख देना, (८) इनको अत्यन्त शोकग्रस्त करना, (९) इनको अतिसंतप्त करना, (१०) इनको बहुत रुलाना, (११) इनको बहुत मारना-पीटना और (१२) इनको अत्यधिक परिताप पहुँचाना।[2]

---

१. (क) जैन सिद्धान्त (सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी) से. पृ. १००
   (ख) जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण, पृ. ६१८
२. (क) साता-असातावेदनीय कर्मबन्ध के कारणों, अनुभावों आदि के विषय में देखें, इसी खण्ड का लेख नं. १५
   (ख) ज्ञान का अमृत से सारांश ग्रहण, पृ. २७० से २७५

साता-असाता-वेदनीय का फलानुभव कैसे-कैसे?

सातावेदनीय कर्म जब फलोन्मुख होता है तब आठ प्रकार से जीव को फलभोग कराता है—(१) मनोहर शब्द-प्राप्ति, (२) मनोहर रूप-प्राप्ति, (३) मनोरम्य गन्ध-प्राप्ति, (४) मनोज्ञ रस प्राप्ति, (५) मनोज्ञ स्पर्श-प्राप्ति, (६) इष्ट सुखों की उपलब्धि, (७) सुखमय वचन-प्राप्ति, (८) शारीरिक सुख-प्राप्ति। इसके विपरीत असातावेदनीय कर्म जब उदय में आकर फलोन्मुख होता है, तब भी आठ प्रकार से उस जीव के द्वारा पहले बांधे हुए असातावेदनीय कर्म का फल भुगवाता है—(१) अमनोज्ञ शब्द-प्राप्ति, (२) अप्रिय रूप प्राप्ति, (३) अप्रिय गन्ध-प्राप्ति, (४) अमनोज्ञ रस-प्राप्ति, (५) अप्रिय स्पर्श-प्राप्ति, (६) दुर्भावयुक्त मन की प्राप्ति, (७) अप्रिय कर्णकटु वचन-प्राप्ति, और (८) अमनोज्ञ (अस्वस्थ अशक्त) शरीर-प्राप्ति। असातावेदनीय कर्म के प्रकोप से जीवन में जो गति चक्र चलता है, वह दुःख, शोक, तनाव, चिन्ता, क्लेश, विलाप और परिताप का कारण बनता है।[1]

साता-असाता वेदनीय कर्मों का फलभोग स्वतः भी, परतः भी

वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों का अनुभाव (फलभोग) भी स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है। बाह्य निमित्तों के न होते हुए भी जीव को सातावेदनीय या असातावेदनीय कर्म के उदय से जो सुख तथा दुःख का अनुभव होता है, या वैसा फलभोग करना पड़ता है, उसे स्वतः अनुभाव समझना चाहिए। परतः अनुभाव पुद्गलों, पुद्गल-परिणामों तथा स्वाभाविक पुद्गलपरिणामों के निमित्त से होता है। माला, चन्दन आदि के या अनेक मनोज्ञ पुद्गलों का उपभोग करके जीव का सुखानुभव करना सातावेदनीय का परतः अनुभाव है। देश, काल, वय और स्थिति के अनुरूप आहार के परिणमनरूप पुद्गल-परिणाम से जीव सातावेदनीय का परतः सुखानुभव करता है। वेदना के प्रतिकाररूप शीतोष्णादि का निमित्त पाकर जीव का सुखानुभव करना भी स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम के निमित्त से सातावेदनीय का परतः अनुभाव है। मनोज्ञ शब्दादि विषयों के बिना भी सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुखोपभोग करता है, वह सातावेदनीय कर्म का निरपेक्ष (स्वतः) अनुभाव है। जैसे—तीर्थंकर भगवान् के जन्मादि के समय नारकों को होने वाला सुख निरपेक्ष अनुभाव होता है। असातावेदनीय कर्म का परतः अनुभाव इस प्रकार है—विष, शब्द, कण्टकादि पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव दुःख भोगता है, वह पुद्गल निमित्तक परतः अनुभाव है। अपथ्य आहार से जो दुःख भोग होता है, वह पुद्गल-परिणाम-निमित्तक परतः अनुभाव है। इसी प्रकार अकाल में अनिष्ट शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम के निमित्त से जीव के मन में जो दुःख, अशान्ति या असमाधि होती है, वह भी परतः अनुभाव है।[2]

---

१. ज्ञान का अमृत से सारांश ग्रहण, पृ. २७४-२७५
२. ज्ञान का अमृत से भावांशग्रहण, पृ. २७७

सुख और दुःख स्वकृतकर्मों का ही फल

जीवों को जो भी सुख या दुःख मिलते हैं, उन्हें न तो कोई ईश्वर या खुदा देता है, न ही कोई देवी-देव शक्ति या मानव देता है, न ही दे सकता है, जो भी सुख या दुःख के रूप में फल मिलते हैं, वे सब अपने ही द्वारा इस भव में या पूर्वभव में पहले (बांधे) किये हुए साता-असातावेदनीय रूप कर्मबीज के फल हैं। सुखों के बीज बोने पर जीवन की वाटिका सुखशान्ति के सुगन्धित पुष्पों से महकती मिलती है और दुःखों के बीज बोने पर दुःख, शोक, अशान्ति, चिन्ता, अस्वस्थता, तनाव आदि असातावेदनीय कर्म के फल प्राप्त होते हैं। अतः जो मनुष्य सुखों के झूले पर झूलना चाहता है, उसे खेद-खिन्न, पीड़ित, दुःखी और अशान्त जीवों के दुःखों को अपना दुःख समझ कर सुखों के बीज बोने चाहिए। दुःखों के बीज हर्गिज नहीं बोने चाहिए, तभी मनुष्य सुखानुभव कर सकता है और दुःख से बच सकता है तथा अपने और दूसरों के जीवन को सन्तुष्ट, सुखी और शान्त बना सकता है।[1]

●●

---

१. ज्ञान का अमृत से भावांशग्रहण, पृ. २७७

१८

उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वभाव और कारण—३

मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ : स्वरूप, बन्धकारण और फलभोग

कर्म की आठ मूल प्रकृतियों में मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। जीव के संसार-परिभ्रमण का मूल कारण मोहनीय कर्म ही है। यह समग्र संसार मोह की ही लीला है।

मोहकर्म के आगे बड़े-बड़े पराजित हो गए

बड़े-बड़े महान् पुरुष मोहकर्म के आगे पराजित हो गए। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े तपस्वी महापुरुष भी मोहकर्म की भीष्म शक्ति के आगे नतमस्तक हो जाते हैं। चार ज्ञान के धनी, सर्वाक्षरसन्निपाती, अनेक-लब्धि-निधान तपोधन श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर भी (प्रशस्त) मोह के कारण भगवान् महावीर की अवस्थिति में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सके। अपार समृद्धि के त्यागी, तपोनिष्ठ भी शालिभद्रमुनि को जरा-से मोह के कारण एक जन्म और लेना पड़ेगा। भागवतपुराण के अनुसार गृहत्यागी, विपिनवासी निःस्पृह जड़भरत को एक मृगशिशु के मोह के कारण अपनी साधना से विचलित होने के कारण मृगयोनि में जन्म लेना पड़ा। रामायण के अनुसार दशरथ का अपनी पत्नी कैकेयी में मोह के कारण ही श्रीराम को चौदह वर्ष का वनवास स्वीकारना पड़ा।[1]

मोहनीय कर्म सब कर्मों से प्रबल क्यों है ?

वेदनीय कर्म अपने-आप में किसी को सुखी या दुःखी नहीं करता। सांसारिक लोगों द्वारा माने गए सुख एवं दुःख के निमित्त एवं संयोग वेदनीय कर्म के द्वारा प्रस्तुत हो जाते हैं, किन्तु उन पर रागद्वेष करके एक को अच्छा, एक को बुरा, एक

---

१. ज्ञान का अमृत से भावांशग्रहण, पृ. २७९, २८०

पर प्रीति दूसरे पर अप्रीति, एक पर मनोज्ञता और दूसरे पदार्थ पर अमनोज्ञता, एक पर इष्ट की, दूसरे पर अनिष्ट की छाप मोहनीय कर्म के वशीभूत होकर ही जीव लगाता है। इसलिए सांसारिक सुख-दुःखों के करेंट का पावर हाउस मोहनीय कर्म है। इसीलिए मोहकर्मवश कामवासना में माने हुए सुख के लिए कहा गया है– 'खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा.'[1] क्षणमात्र का सुख चिरकाल तक दुःखों का सृजन करता है। राग-द्वेषादि भावकर्मों का मूल स्रोत मोहकर्म है। राग-द्वेषादि विकार मोहनीय कर्म के ही अंग हैं। ज्ञान और दर्शन को विकृत करने वाला मोहकर्म ही है। ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण से ज्ञान और दर्शन की कमी–हीनता से जीव को इतनी हानि नहीं होती, इसी प्रकार अन्तरायकर्म से आत्मा की शक्ति कुण्ठित हो जाने पर भी विशेष बाधा नहीं आती, क्योंकि इतना ज्ञान, दर्शन और आत्मबल (वीर्य) फिर भी जीव में बना रहता है, जिनसे वह अपना लौकिक और पारमार्थिक प्रयोजन सिद्ध कर सके। दूसरी बात यह है कि आत्मा की उक्त तीनों शक्तियां ज्ञानावरणीयादि तीन कर्मों के प्रभाव से कम तो अवश्य हो जाती हैं, किन्तु विकृत नहीं होतीं। कर्मबन्धन के मूल बीज तो राग-द्वेष हैं, जो कषायरूप मोहकर्म के ही पुत्र हैं, वे हरी झंडी दिखाते हैं, तभी कर्म का स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। अन्यथा, कर्म आते अवश्य हैं, लेकिन राग-द्वेष और कषाय के न रहने पर केवल सातावेदनीय का प्रदेशोदय होकर दूसरे क्षण ही निर्जरण हो जाता है। लेकिन जब उसके साथ मोह के अंगभूत राग-द्वेष या कषाय जुड़ जाते हैं, तब वे ज्ञानादि को विकृत करके आत्मा को उन अन्तरंग तत्वों के दर्शन नहीं करने देते।[2]

मोहनीय कर्म क्या करता है ?

मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा मूढ़ बनकर अपने हिताहित का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का, सत्य-असत्य का, कल्याण-अकल्याण का भान भूल जाता है। यदि हिताहित आदि को कदाचित् जान-समझ भी जाय, तो भी इस कर्म के उदय से आचरण नहीं कर पाता। जैसे-मद्यपान करके मनुष्य भले-बुरे का विवेक खो बैठता है, परवश होकर अपने हिताहित को नहीं समझता, वैसे ही मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव सत्-असत् के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है। मोहनीय कर्म आत्मा को स्वभाव का भान नहीं होने देता, वह अनाकुलतारूप आनन्द (आत्मसुख) तथा स्वरूपरमण रूप चारित्र को भी कुण्ठित, दूषित और विकृत कर डालता है, इसी कारण मनुष्य राग, द्वेष, काम, क्रोधादि कषाय एवं नोकषाय आदि विकारों में–विभावों में उलझा रहता है, इसी वैषयिक सुखाभास को वास्तविक सुख मानता है।[3]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र
२. कर्म-सिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से भावांशग्रहण, पृ. ६०
३. (क) कर्मप्रकृति से भावांशग्रहण, पृ. '६९
   (ख) मज्जं व मोहणियं। –कर्मग्रन्थ भा.१, गा. १३

मोहनीय कर्म क्या है ? इसका वास्तविक लक्षण और स्वरूप और स्वभाव क्या है ? सामान्य मोहनीय कर्मबन्ध के कितने कारण हैं ? इसके मुख्य कितने भेद हैं ? इस विषय में हमने इसी खण्ड के १५वें लेख में प्रकाश डाला है। अतः अब हम मोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ और उनके स्वरूप व कार्य का विश्लेषण करेंगे।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद

मोहनीय कर्म दोहरा कार्य करता है–एक ओर से वह आत्मा के दर्शन (श्रद्धा–दृष्टि–सम्यक्त्व, रुचि) को विकृत और भ्रष्ट करता है, तो दूसरी ओर से चारित्र को विकृत और कुण्ठित करता है। इसीलिए कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने मोहनीय कर्म के कार्य और स्वभाव को यथार्थ रूप से समझने के लिए इसके दो भेद किये हैं–(१) दर्शनमोह और (२) चारित्रमोह।[1]

दर्शनमोहनीय कर्म : स्वरूप और स्वभाव

जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में समझना, यानी तत्त्वों पर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति करना दर्शन है। यह आत्मा का निजी गुण है। इसका घात करने वाले या इसे आवृत, मोहित या विकृत करने वाले कर्म को दर्शन-मोहनीय कर्म कहते हैं। अथवा आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करने वाले कर्म को दर्शन-मोहनीय कहते हैं। दर्शन का अर्थ यहाँ श्रद्धा, प्रतीति, रुचि या सम्यक्त्व है। यह ध्यान रहे कि दर्शनावरण कर्म का दर्शन सामान्य-ज्ञान (उपयोग) रूप दर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के दर्शन शब्द के अर्थ से बिलकुल भिन्न है। धवला के अनुसार–'आप्त या आत्मा, आगम और पदार्थों (तत्वों) में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं और दर्शन को जो मोहित या विपरीत करता है, वह दर्शन-मोहनीय कर्म है।' पंचाध्यायी के अनुसार "दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से जीव अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय, और धर्म को अधर्म समझने लगता है।" वस्तुतः इस कर्म के उदय से आत्मा का विवेक मदोन्मत्त पुरुष की बुद्धि की तरह नष्ट हो जाता है।[2]

दर्शनमोहनीय कर्म का स्वरूप और कार्य

जैसे–किसी मनुष्य को बुखार चढ़ा हो, उस समय उसे कोई भी पथ्यकारक या पौष्टिक वस्तु रुचिकर नहीं होती, उसे उन चीजों से नफरत हो जाती है, भाती भी

---

१. (क) पुण दुवियप्पं मोहं दंसण-चारित्तमोहमिदं । –कर्मप्रकृति ५२
(ख) दुविहं दंसणचरण-मोहा । –कर्मग्रन्थ प्रथम गा. १३
(ग) प्रज्ञापना पद २३, उ.२

२. (क) एवं च सति सम्यक्त्वे, गुणे जीवस्य सर्वतः।।
तं मोहयति यत्कर्म, सम्यङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥ –पंचाध्यायी, (उत्त.) १००५
(ख) धवला ६/१/९-११, सू. २१
(ग) तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुट्टक् ॥ –पंचाध्यायी २/९९०

नहीं; वैसे ही मिथ्यात्व की प्रबलता के कारण शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध सद्धर्म के प्रति रुचि नहीं होती, न ही उन पर श्रद्धा होती है, उसे उस समय रुचि और श्रद्धा होती है—चमत्कारी लौकिक और सांसारिक लाभ वाले देवों के प्रति, आडम्बर और प्रदर्शन करने वाले, भाषणबाजी से लोगों को प्रभावित तथा सांसारिक विषयभोगों में धर्म बताने वाले गुरु के प्रति तथा पुद्गलानन्द अथवा भोग-उपभोग की ओर प्रेरित करने वाले धर्म के प्रति रुचि और श्रद्धा हो, ऐसा जिस कर्म के उदय से हो, उस कर्म को दर्शनमोहनीय कहा जाता है।[1]

दर्शनमोहनीय का प्रभाव : अनेक रूपों में

दूसरी दृष्टि से दर्शनमोहनीय कर्म का स्वरूप ऐसा है कि वस्तु जिस प्रकार की हो, उसका तात्त्विक दृष्टि से यथार्थ मूल्यांकन करके, अथवा हेय, ज्ञेय, उपादेय का विश्लेषण करके, उसे वैसी ही अभ्यास से, या विश्वासपूर्वक जानना 'दर्शन' कहलाता है। ऐसा परिपूर्ण, शुद्ध दर्शन न होने दे, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से वस्तु के यथार्थ वस्तुस्वरूप का दर्शन क्यों नहीं होता ? इसके मुख्य कारण होते हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, मूढ़ता आदि। जहाँ यथार्थ (सत्य) जानने का प्रसंग हो, वहाँ विपरीत जानना विपर्यय है। जहाँ तत्त्व को जानने-देखने तथा श्रद्धेय त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा करने का प्रश्न हो, वहाँ अनेक प्रकार की शंका-कुशंका करना, संशय है। अथवा शोधकबुद्धि या जिज्ञासाबुद्धि से नहीं, किन्तु अपना पाण्डित्य या चातुर्य बताने के लिए वादविवाद, वितण्डावाद करने हेतु कुशंका उठाना भी संशय है। किसी भी तत्त्व या त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा का दृढ़ न होना, निश्चयात्मक स्थिति का न होना अनध्यवसाय है। इसी प्रकार गतानुगतिकता, अन्धविश्वास, रूढ़ि-प्रियता, लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता आदि सब मूढ़ताएँ भी दर्शनमोहनीय के प्रभाव से पैदा होती हैं। इस प्रकार दर्शनमोह अनेक प्रकार और विविध रूपों में जीवों के जीवन में आता है।[2]

अन्य दर्शनों ने जिसे 'अविद्या' या 'माया' कहा है, उसे ही जैनदर्शन ने मोह कहा है, मिथ्यात्व कहा है। दर्शनमोहनीय का सीधा-सा अर्थ है—दृष्टिकोण पर मूढ़ता छा जाना। दर्शनमोह के कारण प्राणी में सम्यक् दृष्टिकोण लुप्त-सा हो जाता है। वह मिथ्या धारणाओं और विचारधाराओं का शिकार होता रहता है। उसकी विवेकबुद्धि असंतुलित हो जाती है। इसी दर्शन-मोहनीय कर्म के प्रभाव को व्यक्त करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—"जितने भी अविद्यावान् पुरुष हैं, वे सब अपने लिये दुःख पैदा करते हैं, वे मूढ़ बनकर अनन्त जन्ममरणरूप संसार भटकते रहते हैं।" "विविध प्रकार की भाषाएँ उनका त्राण नहीं कर सकतीं, तब फिर अनेक

---

१. जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण, पृ. ५८

२. वही, पृ. ५९

भौतिक विद्याएँ और शिक्षाएँ कैसे उनकी आत्मा को कर्मबन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दुःखों से बचा सकती हैं ?[1]

सम्यग्दर्शन के बदले दर्शनमोहनीय के शिकार

दर्शन-मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव को श्रद्धा अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय मानने लगती है, जैसे यह दृष्ट शरीर मैं हूँ। परपदार्थों में ही रुचि रखता है, जैसे-स्त्री पुत्रादि मेरे हैं, ये धन-धान्यादि मेरी सम्पत्ति हैं, इनके बिना मेरी स्थिति सम्भव नहीं। शरीर, आयु और भोगों में ही मैं और मेरेपन की कल्पना करता है, उनमें ही इष्टानिष्ट बुद्धि रखता है। उनका उपभोग करने में सुख मानता है, उनके वियोग में दुःख। मैं कौन हूँ ? चेतन-आत्मा या जीव क्या स्वरूप क्या है ? उसका अनुभवगम्य भावात्मक रूप क्या है ? ये और ऐसे तात्त्विक विवेक एवं श्रद्धा से शून्य संसारी जीव अन्तर् में प्रकाशमान परम पवित्र, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यात्मक उस आत्मतत्व का वेदन न होने के कारण उन्हीं आत्म बाह्य परपदार्थों में उनकी बुद्धि उलझी रहती है। उन्हीं की प्राप्ति के लिए वे अपना सर्व पुरुषार्थ उँड़ेलते हैं। उसके पीछे सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय का विवेक भी खो बैठते हैं।[2] तत्त्वोपदेश मिलने पर भी उनकी बुद्धि तथा पुरुषार्थ की लगन उधर से हटकर अन्तर्मुखी नहीं होती। वे उन्हीं का महिमागान करते हैं। दर्शनमोह से ग्रस्त वे लोग परमतृप्तिकर अन्तरंग चैतन्य विलास के प्रति नहीं झुकते। भले ही वे मुख से उस उपदेश को सत्य व कल्याणमय कहते रहें। उनकी वह (मिथ्या) श्रद्धा इतनी अटल होती है, कि चौबीस घंटों की अपनी प्रवृत्ति में तनिक भी परिवर्तन करने को तैयार नहीं। वे सामायिक, प्रतिक्रमण, देवपूजा तथा बाह्य तप-जप आदि धार्मिक क्रियाएँ भी करते हैं, परन्तु उसके पीछे उनकी आन्तरिक श्रद्धा, आत्मचिन्तन, आत्मविकास, आत्मस्वरूपरमण, आत्मतत्व पर पूर्ण निष्ठा प्रायः नहीं रहती। आगामी भवों में उन्हीं सुखों की प्राप्ति के लिए इस भव में भी धनादि पदार्थों तथा शारीरिक सुखभोगों की प्राप्ति की ओर प्रायः उनका झुकाव रहता है। कई पण्डित या विद्वान धर्मस्थानों या मन्दिरों में शास्त्र भी पढ़ते हैं, उपदेश भी देते हैं, परन्तु उनका झुकाव प्रायः उन्हीं पूर्वोक्त परपदार्थों की प्राप्ति की ओर या प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि पाने की ओर रहता है।

बहिर्मुखी व्यक्ति दर्शनमोहनीय के प्रभाव में

इस दर्शनमोहनीय का इतना प्रबल प्रभाव है कि कदाचित् किसी के कहने-सुनने से या समझाने से क्षणिक वैराग्य भी आया, भोगों आदि का त्याग भी किया, वनवासी

---

१. जावंतऽविज्जा-पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुंपंति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ. ६, गा. १

२. (क) मद्यपानवद्धेयोपादेय-विवेक-विकलता। —द्रव्यसंग्रह टीका गा. ३३
(ख) कर्मसिद्धान्त से भावांशग्रहण, पृ. ६१-६२

या संन्यासी साधु भी बन गया, कठोर तपश्चरण भी करने लगा, फिर भी अन्तरंग अन्तर्मुखी होकर आत्मतत्व की ओर प्रायः नहीं झुकता। या तो त्यागी का वेश पहन लेने से या विद्वत्ता प्राप्त हो जाने से, या लच्छेदार भाषण देने की कला आ जाने से वह अपने-आप को आध्यात्मिक समझ बैठता है, आत्मार्थी मानने की या प्रसिद्धि पाने की धुन लग जाती है, अथवा क्रियाकाण्डों की उत्कृष्टता या क्रियापात्रता की डींग हांक कर वह दूसरों को निम्नकोटि का, शिथिलाचारी मान कर स्वयं उच्चाचारी होने का दावा करता है, इससे अष्टविध मदों में से कई मद बढ़ जाते हैं, जो सम्यक्त्व के ही घातक बन जाते हैं। परन्तु आत्मा के गुरुगुण समता या शमता की ओर उसका झुकाव प्रायः नहीं होता। आडम्बर, प्रचार, प्रदर्शन और अधिकाधिक भीड़ जुटाने की लालसा बलवती हो जाती है। दर्शनमोहनीय के प्रभाव से उसका झुकाव आत्मा के तात्त्विक निरीक्षण-परीक्षण-आलोचन में न लग कर दूसरे सम्प्रदाय, पंथ, मत, मार्ग आदि की निन्दा या कटु-आलोचना करने में ही अपनी शक्ति को लगाने में होता है। देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता और शास्त्रमूढ़ता तथा लोकमूढ़ता को जैनाचार्यों ने सम्यक्त्व में बाधक, मिथ्यात्व की परिपोषक मानी है। परन्तु दर्शनमोहनीय के प्रभाव से उस पर मोह का नशा ऐसा चढ़ता है कि वह प्रायः इस प्रकार का विधान करता है कि–"मेरे पन्थ, मत, सम्प्रदाय या मार्ग में आने से ही, या हमारे गुरु को मानने से ही मोक्ष होगा, अन्यथा नहीं, अन्य मत, पन्थ, मार्ग या सम्प्रदाय सब झूठे हैं, मेरा मत, पंथ, मार्ग या सम्प्रदाय ही सच्चा है।" उसकी वृत्ति प्रायः यही रहती है कि अधिक से अधिक अमुक जप, तप या क्रियाकाण्ड कर लूँ, जिससे लोग अधिकाधिक आकर्षित हों, प्रसिद्धि प्राप्त हो, सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, परन्तु अनाकुलतारूप आत्मिक सुख (आनन्द), आत्मचिन्तन-मनन या बिना किसी विज्ञापन के आध्यात्मिक विकास कैसे प्राप्त करूँ ? इस ओर प्रायः उसका रुझान नहीं होता। निज आत्मस्वरूप के प्रति मूर्च्छित-मूढ़ताग्रस्त होने के कारण दर्शनमोह उस पर कब्जा कर लेता है। मिथ्या श्रद्धा रूप मोह को दर्शनमोह कहा गया, और उसकी निमित्तभूता प्रकृति को दर्शनमोहनीय कहा गया है।[1]

दर्शनमोहनीय के तीन भेद कैसे और क्यों ?

प्रज्ञापनासूत्र तथा कर्मग्रन्थ में दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद बताए गए हैं–(१) सम्यक्त्व-मोहनीय, (२) मिथ्यात्व-मोहनीय और (३) मिश्र-मोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय)। कर्मग्रन्थ में इन तीनों को क्रमशः शुद्ध, अशुद्ध और अर्धशुद्ध कहा गया है।

बन्ध की अपेक्षा दर्शनमोहनीय कर्म मिथ्यात्वरूप ही है, अर्थात्–आत्मा के साथ केवल मिथ्यात्व-मोहनीय रूप कर्म-पुद्गलों का बन्ध होता है, किन्तु उदय और सत्ता

---

१. कर्मसिद्धान्त से, पृ. ६२

की अपेक्षा से आत्मपरिणामों के द्वारा वह सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन तीन भागों में परिणत हो जाता है।[1]

इसका मुख्य कारण यह है कि मिथ्यात्व के दलिक कितनी ही बार विशुद्ध होते हैं, कितनी दफा वे कर्मदलिक अर्धविशुद्ध होते हैं और बहुत-सी दफा तो अशुद्ध होते हैं। समस्त अज्ञान या मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त न हुई हो, वहाँ तक पूर्ण शुद्ध अंश का ग्रहण नहीं हो सकता। जहाँ दर्शन-मोहनीय कर्मवर्गणा के शुद्ध दलिक ही होते हैं, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कर्म वर्गणा समझना। इसमें दर्शनमोह के दलों का रस बहुत अल्प होता है। अर्धविशुद्ध मिश्र-मोहनीय में आधा रास्ता तो ठीक है, शेष में तो अव्यवस्था ही होती है। मिथ्यात्व-मोहनीय के अशुद्ध कर्मदल में तो बिलकुल ही उलटी बुद्धि होती है। मिश्रमोहनीय में तो तत्त्वरुचि भी नहीं होती, अरुचि भी नहीं होती, किन्तु मिथ्यात्वमोहनीय में तो सच्चा हो; वह भी खोटा प्रतीत होता है, सफेद हो तो भी लाल मालूम होता है।[2]

इन तीनों में से मिथ्यात्व-मोहनीय त्रिस्थान सत्ता प्रकृति है, जबकि सम्यक्त्व-मोहनीय एवं मिश्रमोहनीय, ये दोनों प्रकृतियाँ उत्पन्न-सत्ता वाली प्रकृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त बन्धकाल में मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म-प्रकृति एक प्रकार की होने पर भी इनमें रसशक्ति न्यूनाधिक होने से तीन प्रकार की हो जाती है।[3] जैसे कोद्रव (कोदों, एक प्रकार का) धान्य एक ही प्रकार का होता है। उसके खाने से नशा होता है। परन्तु जब उन कोदों के अन्नकणों का छिलका निकाल दिया जाए और छाछ आदि से धोकर शोध लिया जाए तो उसमें मादक शक्ति बहुत कम रह जाती है। अर्थात्–जैसे कोद्रव नामक धान्य एक प्रकार का होते हुए प्रक्रियाविशेष से तीन प्रकार का (चावल, आधा चावल और शुद्ध कोद्रव) तीन अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही असली कोदों के समान हिताहित की परीक्षा में विफल बनाने वाले अशुद्ध मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के पुद्गल होते हैं। उनमें सर्वघाती रस होता है। किन्तु जब कोदों की मादक शक्ति को

---

१. (क) दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥
–कर्मग्रन्थ १/१४ विवेचन (मरुधर केशरी), पृ. ६९

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र ३३/९

(ग) दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ता ?
गोयमा ! तिविहे प. तं.-सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे ।
–प्रज्ञापना पद २३, उ.२

(घ) जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण पृ. ५९

(ङ) बंधादेकं मिच्छं उदयं सत्तं पडुच्च तिविहं खु ।
दंसणमोहं मिच्छं मिस्स सम्मत्तमिदि जाणे ॥ –कम्मपयडी ५३

२. जैनदृष्टिए कर्म से, भावांशग्रहण, पृ. ५९

३. कर्मप्रकृति से, पृ.२१

अत्यन्त कम कर देने के समान, जब जीव अपने विशुद्ध परिणामों के बल से उन कर्मपुद्गलों की सर्वघाती रसशक्ति को घटा देता है, और सिर्फ एकस्थानक रस शेष रह जाता है, तब एक-स्थानक शक्ति वाले मिथ्यात्व-मोहनीय के शुद्ध पुद्गलों को सम्यक्त्व-मोहनीय कहा जाता है। और जब कुछ भाग शुद्ध और कुछ भाग अशुद्ध, ऐसे कोदों के समान स्थिति होती है, यानि मिथ्यात्वमोहनीय के कुछ पुद्गल शुद्ध और कुछ अशुद्ध होते हैं, तब उसे मिश्र-मोहनीय कहा जाता है। इन कर्म-पुद्गलों में द्विस्थानक रस होता है। इस प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म भी जीव के परिणाम-विशेष के द्वारा मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्-मिथ्यात्वरूप तीन भागों (प्रकारों) में परिणत हो जाता है।[1]

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के पुद्गल अपनी स्वयं की हित-अहित-परीक्षा में विफल करने वाले होते हैं; जिसका रस तीव्रतम और सर्वघाती होता है। किन्तु इसमें तत्त्वरुचि बिलकुल नहीं होती। जबकि सम्यक्त्व-मोहनीय में तत्त्वरुचि तो होती है, किन्तु अन्दर ही अन्दर अरुचि के कारण वह दबी हुई रहती है। दूसरे शब्दों में कहें तो मिथ्यात्वमोहनीय का शिकार जीव असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझता है, अथवा शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ समझता है। सम्यग्-मिथ्यात्वमोहकर्मग्रस्त प्राणी सत्य-असत्य या शुभ-अशुभ के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नहीं कर पाता, अनिश्चयात्मक स्थिति में रहता है। सम्यक्त्वमोहनीय में दृष्टिकोण की आंशिक विशुद्धता अवश्य है, पर वह क्षायिक या औपशमिक सम्यक्त्व की उपलब्धि में बाधक है। मिश्रमोहनीय वाले की न तो तत्व में रुचि होती है और न अरुचि।[2]

इन तीनों प्रकारों में हीनाधिकता का प्रमाण

यही कारण है कि कर्मशास्त्रियों ने इन तीनों के अनुभवों में न्यूनाधिकता इस प्रकार बताई है—मिथ्यात्व-मोहनीय का अनुभाव सर्वाधिक होता है। मिथ्यात्व-मोहनीय से सम्यग् मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का अनुभाव अनन्तगुणाहीन, तथा सम्यग्-मिथ्यात्व-मोहनीय से सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म का अनुभाव अनन्तगुणाहीन होता है।[3]

इन तीनों में सर्वघातित्व देशघातित्व का स्पष्टीकरण

इसका स्पष्टीकरण कर्मग्रन्थकारों ने इस प्रकार किया है—दर्शनमोहनीय के पूर्वोक्त तीन भेदों में से मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के पुद्गल सर्वघाती रस वाले होते हैं। उस रस

---

१. कर्मग्रन्थ भा. १, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से, पृ. ७१, ७२

२. (क) जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण, पृ. १८०
   (ख) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. १ से, पृ. ३७१

३. कर्मग्रन्थ भा. १ विवेचन (मरुधरकेसरी) से, पृ. ६९

के एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक, यों चार प्रकार होते हैं। स्वाभाविक रस को एकस्थानक कहते हैं। उसी रस के स्वाद में तीव्रता लाने के लिए अग्नि पर तपाकर उसका आधा भाग जला दिया जाता है तो शेष बचा हुआ आधा भाग द्वि-स्थानक कहलाएगा। इसी प्रकार स्वाभाविक रस के तीन भाग करके दो भाग जला दिये जाएँ तो अवशिष्ट एक भाग को त्रिस्थानक और उक्त रस के बराबर चार भाग करके तीन भाग जला दिये जाते हैं तो शेष रहे एक भाग को चतुःस्थानक कहा जाएगा। अर्थात्–चतुःस्थानक को चौथाई, त्रिस्थानक को तिहाई, द्विस्थानक को आधा, और एकस्थानक को स्वाभाविक कह सकते हैं। उदाहरणार्थ–नीम या ईख का एक-एक किलो रस लिया जाए उन-उनका मूल रस स्वाभाविक एकस्थानक कहलाएगा। किन्तु इसी एक किलो रस को अग्नि से उबालकर आधा कर लिया जाए तो उसे द्विस्थानक और दो भाग कम करके एक भाग शेष रखें तो त्रिस्थानक और चतुर्थांश शेष रखा जाएगा तो चतुःस्थानक कहा जाएगा। दर्शनमोहनीय कर्म की शुभ-अशुभ फल देने वाली तीव्रतम शक्ति को चतुःस्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्रशक्ति को द्विस्थानक और मन्दशक्ति को एकस्थानक समझना चाहिए। इन चार प्रकारों में द्वि-त्रि-चतुःस्थानक रसशक्ति (फलदानशक्ति) को सर्वघाती कहते हैं।

मिथ्यात्वमोहनीय में चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक, यों तीनों प्रकार की सर्वघाती रसशक्ति होती है। मिश्र-मोहनीय कर्म में द्विस्थानक और सम्यक्त्व-मोहनीय में एकस्थानक रसशक्ति होती है। इस कारण सम्यक्त्व-मोहनीय कर्मप्रकृति देशघाती कहलाती है। सर्वघाती प्रकृति के सभी स्पर्द्धक सर्वघाती हैं, किन्तु देशघाती के कुछ स्पर्द्धक सर्वघाती और कुछ देशघाती होते हैं। जो स्पर्द्धक त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस वाले हैं, वे नियमतः सर्वघाती होते हैं और जो स्पर्द्धक द्विस्थानक रस वाले हैं, वे देशघाती भी होते हैं, और सर्वघाती भी, किन्तु एकस्थानक रस वाले स्पर्द्धक देशघाती होते हैं।[1]

मिथ्यात्व-मोहनीय : स्वभाव और कार्य

दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेदों में मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। यह आत्मा के दर्शन (सम्यक्त्व) गुण की घात करता है। मिथ्यात्व-मोहनीय वह है–'जिस कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के प्रति रुचि ही न हो।' वह अशुद्ध दर्शन-मोहनीय है। इसके प्रभाव से जीव को सच्चे तत्त्व, देव और गुरु के प्रति शंका-कुशंका होती है। मिथ्या अभिनिवेश होता है, झूठा पूर्वाग्रह पकड़े रखता है, स्वयं को सच्ची बात सूझती है, फिर भी स्वत्व-मोह-कालमोह-वश सच्ची बात को

---

१. (क) कर्मप्रकृति (आ. जयन्तसेनसूरिजी म.) से, पृ. २६-२७
(ख) निंबुच्चुरसो सहजो, दु-ति-चउभाग-कड्ढिद-इक भागंतो ।
इग ठणाई असुहो असुहाण, सुहो सुहाणं तु ॥ –पंचम कर्मग्रन्थ ६५

स्वीकारता नहीं, अपने मिथ्याग्रह को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर उसे छोड़ता नहीं। ये सब अशुद्ध दर्शन-मोहनीय रूप मिथ्यात्वमोहनीय के दाँवपेच हैं। सचमुच, मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि तत्त्वों के स्वरूप, लक्षण तथा जिन (वीतराग देव)-प्ररूपित सद्धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होती। मिथ्यात्वमोहनीय के प्रभाव से जीव सर्वज्ञ आप्त वीतरागदेव के द्वारा उपदिष्ट या प्ररूपित पथ पर न चल कर, विपरीत पथ का अनुसरण करता है। उसे इस कर्म के प्रभाव से अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि और कुगुरु में गुरुबुद्धि होती है।[1] कभी-कभी वह मूढ़तावश सच्चे देव, गुरु, धर्म और तत्व के प्रति द्वेष, द्रोह और प्रबल विरोध करने लगता है, वह स्वयं तो सन्मार्ग से विमुख रहता ही है, दूसरों को भी सन्मार्ग से विमुख करने का प्रयास करता है, सन्मार्ग पर चलने वालों को उलटे-सीधे तर्क देकर चलने से रोक देता है। मिथ्यात्वमोहग्रस्त जीव की हित में अहित बुद्धि और अहित में हित बुद्धि होती है। जिस प्रकार रोगी को पथ्य-कारक वस्तुएँ अच्छी नहीं लगतीं, कुपथ्य की वस्तुएँ ही रुचिकर प्रतीत होती हैं, वैसे ही जब मिथ्यात्व-मोह का उदय होता है, तब सदेव, सद्गुरु, सद्धर्म और सतत्त्व रुचिकर नहीं लगते, वह मिथ्याभिनिवेशवश उलटा ही मार्ग अपनाता है।[2]

मिथ्यात्व : स्वरूप और दस प्रकार

मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म में मिथ्यात्व की प्रबलता होती है। मिथ्यात्व का अर्थ ही है—जीव द्वारा पदार्थ के प्रति उलटे रूप में श्रद्धा-रुचि होना, उसके प्रति यथार्थ रूप में न तो श्रद्धा करना, न ही रुचि रखना। मिथ्यात्व के दस भेदों के लक्षण और स्वरूप को समझने से स्वयमेव ज्ञात हो जाता है, कि मिथ्यात्व एक रूप वाला नहीं है, अनेक रूप का है। 'स्थानांगसूत्र' में मिथ्यात्व के इस प्रकार इस क्रम से दिये गये हैं—

(१) **अधर्म को धर्म समझना**—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहवृत्ति आदि तथा जुआ, तस्करी, मद्यपान, शिकार, मांसाहार, वेश्यागमन तथा परस्त्रीगमन तथा आगजनी आदि अधर्म पापयुक्त कार्यों को धर्म समझना, पशुबलि, नरबलि, मारण-उच्चाटन-मोहन आदि हिंसोत्तेजक यंत्र-मंत्र-तंत्र, तथा कर्मबन्ध कारक कार्यों को धर्म समझना। जिन कृत्यों या विचारों से जीव की अधोगति या दुर्गति होती हो, ऐसे अधर्मयुक्त कार्यों को अन्धविश्वास, कुरूढ़ि और कुपरम्परावश धर्म समझना।

---

१. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्॥ —योगशास्त्र २/३

२. (क) कर्मप्रकृति से भावांशग्रहण, पृ. २४
(ख) मिच्छं जिणधम्म-विवरीयं —कर्मग्रन्थ प्रथम १६
(ग) ज्ञान का अमृत से भावांशग्रहण, पृ. २७७
(घ) जैनदृष्टिए कर्म से भावांशग्रहण, पृ. ६६

(२) धर्म को अधर्म समझना-अहिंसा-सत्यादि धर्म, क्षमादि दशविध धर्म, सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप धर्म को या श्रुत-चारित्ररूप धर्म को अधर्म समझना और चमत्कार, आडम्बर, थोथे प्रदर्शन से रहित त्याग-तपरूप धर्म को कष्टकर होने से अधर्म समझ लेना।

(३) अजीव को जीव मानना-शरीर, इन्द्रिय, मन, पाषाण, पुतला, फोटो आदि अजीव (चेतनारहित-जड़) पदार्थ को जीव मानना, शरीरादि को आत्मा समझना।

(४) जीव को अजीव मानना-समझना-जैसे कई मतवादी हरी वनस्पति, सचित्त पानी, सचेतन पृथ्वी, अग्नि तथा वायु आदि एक इन्द्रिय वाले जीवों में जीव नहीं मानते और इनका मनमाना उपयोग और प्रयोग करके इन जीवों को त्रास पहुँचाते हैं। आज तो वनस्पति, पानी, पृथ्वी, अग्नि आदि में जैन-वैज्ञानिकों द्वारा चेतना-जीवत्व सिद्ध किया जा चुका है। कई मतवादी, मांसलोलुप जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों को जीव न मान कर मारने-पीटने, सताने, जलाने और नष्ट करने में ही अपनी शान समझते हैं। कई लोग गाय, बकरी, मुर्गा, भैंसा, मछली आदि पंचेन्द्रिय अबोल प्राणियों को जीव न मानकर, उनका वध, मांस खाने, चमड़े का उपयोग करने, फैशन और सौन्दर्य-प्रसाधक वस्तुएँ बनाने, दवाइयाँ बनाने, दांत-हड्डी, मृगचर्म आदि के रूप में उपयोग करने, देवी-देवों के नाम पर पशु-पक्षी की बलि देने आदि में अपना गौरव समझते हैं। Cow has no soul (गाय में आत्मा नहीं है), यह ऐसे लोगों की मान्यता का निदर्शन है। अंडे में जीव होते हुए भी उसे भ्रान्तिवश निर्जीव मानकर कई लोग धड़ल्ले से उपयोग करते हैं। यह मिथ्यात्व है।

(५) उन्मार्ग (कुमार्ग) को (संसार के मार्ग को) सन्मार्ग-मोक्ष का मार्ग समझना-आत्मा को संसार परिभ्रमण कराने वाले भोगविलास, स्वच्छन्दाचार, अनैतिक प्रवृत्ति, विषयासक्ति, सौन्दर्य-प्रतिस्पर्धा, खोटे रीतिरिवाज, दहेज आदि कुप्रथाएँ, हिंसक एवं कामवर्द्धक मार्गों को सुखशान्तिकारक सन्मार्ग समझना; इन्हीं कुमार्गों को प्राचीनता या नवीनता के नाम पर सन्मार्ग-मुक्तिमार्ग मानना-समझना।

(६) सुमार्ग को उन्मार्ग समझना-जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का, आत्मस्वरूप-रमणता का, आत्मशुद्धि-साधनरूप धर्म का और परम्परा से मोक्ष (कर्ममुक्ति) का सुमार्ग है, उसे उन्मार्ग समझना। अर्थात्-संसार भ्रमण कराने वाले कार्यों, सुखसुविधाजनक कार्यों को अच्छा मार्ग समझना और जो सुमार्ग हैं, मोक्ष के कारण हैं, उन्हें कष्टकर मानकर उन्हें संसार के बन्ध का कारण मानना।

(७) सच्चे त्यागी, स्व-परकल्याणकर्ता साधु को असाधु (साधु न) मानना।

(८) जो सच्चे माने में साधु नहीं हैं, विषय-विलासी, प्रपंची, शराबी, भंगेड़ी, गंजेड़ी या बाह्य चमत्कारी वेषधारी असाधु हैं, उन्हें साधु मानना।

(९) **कर्मरहित को कर्मसहित मानना**। जैसे–परमात्मा वीतराग एवं कर्मरहित हैं, किन्तु उन्हें कर्मयुक्त मानकर संतान, धन, सुख-शान्ति, रक्षा, विजय प्रदान करेंगे, ऐसा मानना।

(१०) **कर्मसहित को कर्मरहित मानना-कहना**–जो देवी, देव आदि कर्म सहित हैं, उन्हें कर्मरहित मानकर उनसे वरदान मांगना, वे शत्रुओं का नाश करेंगे, अपने भक्त, चाहें कैसे भी अन्यायी-अत्याचारी, व्यभिचारी हों, उनके प्रति मोहवश उनकी रक्षा करेंगे, वे भगवान् हैं, इत्यादि मानना। भगवान् सब कुछ करते हुए भी अलिप्त हैं, ऐसे मानना।[1]

मिथ्यात्व के इन १० भेदों के अलावा ५ और २५ भेद भी बताए गए हैं। इन भेदों के सिवाय भिन्न भिन्न दृष्टियों, प्रकारों और अपेक्षाओं से और भी अनेक भेद हो सकते हैं।

मिथ्यात्व के पाँच भेद

मिथ्यात्व का लक्षण है–तत्वों से विपरीत या अयथार्थ श्रद्धानरूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्या मान्यताओं, धारणाओं, कुआग्रहों, नासमझी, विचार शैथिल्य, बहकावे आदि के कारण भी जीव मिथ्यात्वदोषग्रस्त बन जाता है। इस अपेक्षा से शास्त्रकारों ने मिथ्यात्व के पाँच मुख्य भेद बताए हैं–)१) **आभिग्रहिक मिथ्यात्व**–तत्त्व की परीक्षा किये बिना, जाँचे-परखे बिना ही पक्षपात या पूर्वाग्रह पूर्वक एक ही सिद्धान्त या मान्यता का आग्रह रखना। अन्य पक्ष या मत का खण्डन करना, द्वेषपूर्वक उसका विरोध करना। (२) **अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व**–गुणदोष की परीक्षा किये बिना ही सब मतों-पक्षों या सिद्धान्तों को बराबर समझना। (३) **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व**–अपने पक्ष या मत को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिए दुरभिनिवेश-दुराग्रह करना, (४) **सांशयिक मिथ्यात्व**–देव, गुरु या धर्म का ऐसा स्वरूप है या दूसरा कोई स्वरूप है ? इस प्रकार संदेहशील बने रहना, निर्णय न करना। (५) **अनाभोगिक मिथ्यात्व**–ऐसा मिथ्यात्व, जो विचार-शून्य एकेन्द्रियादि जीवों तथा ज्ञानविकल जीवों में पाया जाता है।[2]

---

१. (क) दसविहे मिच्छत्ते प. तं.–अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, उम्मग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। –स्थानांग. १०, सू. ७३४

(ख) कर्मग्रन्थ, विवेचन प्रथम भाग (मरुधरकेसरी) से, पृ. ८०

(ग) कर्मप्रकृति से, पृ. २५

२. आभिग्गहियमणाभिग्गहं च, तह अभिनिवेसियं चेव।
संसइयमणाभोगं, मिच्छत्तं पंचहा एअं॥ –धर्मसंग्रह २

इस प्रकार 'मिथ्यात्व' में अनेक प्रकार की तरतमता होती है, उसे अनेक पहलुओं से जानना-समझना और सम्यक्त्व को सुदृढ़ करना, प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु का कर्त्तव्य है।[1]

मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव का मिथ्या-असफल जीवन

मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से जीव इस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त रहता है। उसमें तत्त्व के प्रति रुचि या श्रद्धा नहीं होती। या तो उसमें विचारशक्ति, जिज्ञासा या सूझबूझ ही नहीं होती, या फिर पकड़ी हुई बात को मिथ्या होते हुए भी, दूसरों के द्वारा भलीभाँति युक्तिपूर्वक समझाने पर भी न छोड़ने का दुराग्रह होता है, अथवा मिथ्या अभिनिवेश होता है। मिथ्यात्व-मोहनीय जिस छाया जिस पर पड़ जाती है, वह व्यक्ति विशुद्ध धर्म की हँसी उड़ाता है; क्षमा, ऋजुता, मृदुता आदि धर्मों को कायरता समझ कर उनके प्रति उसकी जरा भी रुचि नहीं होती। वह धर्माचरण करने वालों को व्यंगपूर्वक भगत कहकर मजाक करता है, अथवा सद्धर्म का अनुसरण करने वालों की अवज्ञा करता है। अपने माने हुए, परम्परागत देव या गुरु की जांच-परख नहीं करता, अन्धविश्वासपूर्वक मानता है और उन्हीं का पक्ष लेता है। आदर्श देव-वीतराग सर्वज्ञ देव को नहीं पहचानता, सांसारिक लौकिक लाभ वाले देव की सेवाभक्ति करता है। सचमुच, मिथ्यात्वमोहनीय के साथ अज्ञान, अन्धविश्वास, भ्रम आदि मिल जाएँ तब तो उसका नशा अधिकाधिक चढ़ता जाता है और भवभ्रमण में वृद्धि करने का द्वार खोल देता है।

व्यवहारसूत्र भाष्य में मिथ्यात्व-ग्रस्त होने के ४ मुख्य कारण बताए गये हैं। वे इस प्रकार हैं-(१) मतिभेद, (२) पूर्वव्युद्ग्रह, (३) (मिथ्यात्वी का) संसर्ग, और (४) अभिनिवेश। इन चारों के ४ उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं-मतिभेद से जमाली मुनि, पूर्व-व्युद्ग्रहवश गोविन्द, (३) संसर्ग से श्रावक भिक्षु और (४) अभिनिवेश से गोष्ठामाहिल मिथ्यादृष्टि बन गया।[2]

मिश्रमोहनीय कर्म : स्वरूप और कार्य

इसका दूसरा नाम सम्यग्-मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव में न तो तत्त्व के प्रति रुचि या श्रद्धा होती है, न ही अतत्त्व के प्रति रुचि या श्रद्धा; किन्तु जीव की डाँवाडोल स्थिति बनी रहती है। उसे मिश्रमोहनीय कर्म कहते हैं। इस

---

१. मिथ्यात्व के विषय में विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें, इसी खण्ड का पाँचवाँ लेख; कर्मबन्ध का सर्वाधिक प्रबल कारण : मिथ्यात्व।

२. मति भेया १, पुव्वुग्गह २, संसग्गीए य ३, अभिनिवेसेणं ४।
गोविंदे य २ जमाली १, सव्वग तवस्सिए ३ गोट्ठे ४ ॥ २६८ ॥
मतिभेएण जमाली, पुव्वुगहिएण होइ गोविंदो।
संसग्गि सावगभिक्खू, गोट्ठामाहिल अभिनिवेसे ॥२६९॥ —व्यवहार भाष्य उ. ६

कर्म के उदय से जीव को शुद्ध दर्शन की ओर रुचि भी नहीं होती, तो अरुचि भी नहीं होती। मिश्रमोहनीयकर्म को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया गया है। जैसे–नारिकेल द्वीप (जहाँ नारियल के सिवाय अन्य खाद्यान्न पैदा नहीं होता) में उत्पन्न व्यक्ति ने अन्न के बारे में न तो देखा हो और न सुना हो तो उसे अन्न के प्रति न तो रुचि (राग) होती है, और न अरुचि (द्वेष); किन्तु वह तटस्थ रहता है; इसी प्रकार जिस जीव के मिश्रमोहनीय कर्म का उदय होता है, उसे वीतराग-प्ररूपित धर्म पर न तो रुचि (राग) होती है और न अरुचि-अश्रद्धा (द्वेष)। अर्थात्–उसे ऐसी दृढ़ श्रद्धा नहीं होती है कि वीतराग ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है, विश्वसनीय है, और न अश्रद्धा ही होती है कि वह असत्य है, अविश्वसनीय है। वीतराग और सरागी, इन दोनों को तथा इन दोनों के कथन को वह समान रूप से ग्राह्य मानता है। मिश्रमोहनीयग्रस्त जीव न तो सत्य धर्म की गवेषणा करता है, और न ही उसके प्रति आकर्षण होता है, न ही विकर्षण। उसकी स्थिति दोलायमान रहती है। वह किसी भी बात पर दृढ़तापूर्वक विश्वास नहीं करता और न अविश्वास ही प्रगट करता है। उसकी बुद्धि में ऐसी दुर्बलता होती है।[1]

यद्यपि इस मिश्रदशा में अज्ञान (मिथ्याज्ञान) का समावेश नहीं होता, परन्तु इस कर्म में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहने से आत्मा में कुछ शुद्धता और मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होने से कुछ अशुद्धता रहती है। इसीलिए मिश्रमोहनीय कर्म के पुद्गल अर्धविशुद्ध माने गए हैं। वे ऐसे मादक द्रव्य के समान होते हैं, जिसका कुछ भाग शुद्ध और कुछ अशुद्ध होता है। जैसे–दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनों को पृथक् न किया जा सके, तब उस गुड़ मिले दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा आता है। वैसे ही मिश्रमोहनीय के परिणाम केवल सम्यक्त्वरूप या केवल मिथ्यात्वरूप न होकर दोनों के मिले-जुले होते हैं। अर्थात्–एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिश्रित परिणाम रहते हैं। इस दशा वाले जीव की श्रद्धा कुछ सच्ची और कुछ मिथ्या पाई जाती है। यद्यपि मिश्रदशा का उदयकाल बहुत थोड़ा–अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण होता है। शुद्ध दशा में से पतित होने पर थोड़ा जो बीच का समय होता है, उसे ही मिश्रमोहनीय-अवस्था कही जाती है। मिश्रमोहनीय का उदयकाल समाप्त होते ही या तो वह जीव मिश्र में से शुद्ध दशा में आ जाता है, अथवा अशुद्ध दशा में चला जाता है। यही मिश्रमोहनीय का स्वरूप और कार्य है।[2]

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से, भावांशग्रहण पृ. २८९
   (ख) कर्म प्रकृति से पृ. २३
   (ग) मीसा ण रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहुत्तजहा अन्ने।
   नालियर-दीव-मणुणो ..... ॥ –कर्मग्रन्थ प्रथम गा. १६

२. (क) ज्ञान का अमृत से पृ. २८९
   (ख) दहि-गुडमिव वा मिस्सं पुहभावे नेव कारिदुं सक्कं।
   एवं मिस्सयभावो सम्मा-मिच्छोत्ति णादव्वो ॥ –गोम्मटसार (जी.) २२
   (ग) जैनदृष्टिए कर्म से पृ. ६३

सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म : स्वरूप और कार्य

जिस कर्म के उदय से तत्त्वरुचिरूप सम्यक्त्व में बाधा उत्पन्न न होने पर भी औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता; तथा सूक्ष्म पदार्थों का विचार करने में शंकाएँ-कांक्षाएँ हुआ करती हैं, जिससे सम्यक्त्व में चल-मल अगाढ-दोषरूप मलिनता आ जाती है, उसे सम्यक्त्व-मोहनीय कहते हैं। सम्यक्त्व-मोहनीय में मिथ्यात्व के कर्मदलों में से कितने ही कर्मदलों का क्षय कर दिया जाता है, और कितनों को उपशान्त कर (दबा) दिया जाता है; उस समय व्यवहार से शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म का स्वीकार किया जाता है, उसका नाम व्यवहार-सम्यक्त्व है। इसमें अन्दर मिथ्यात्व के दल जितने अंश में दब रहे हों, उतने अंश में सम्यक्त्व-मोहनीय समझना। इसे यथार्थरूप से समझने के लिए चश्मे का दृष्टान्त बहुत ही उपयुक्त है। चश्मा नेत्र की दृष्टि पर आवरणरूप होने पर भी बारीक छोटे अक्षरों पर नजर को स्थिर करता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय आवरणरूप होने पर भी तत्त्वरुचि को स्थिर कर देता है। आशय यह है कि यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचिरूप सम्यक्त्व में व्याघात नहीं पहुँचाता है; तात्त्विक रुचि का निमित्त भी है; तथापि आत्मस्वभाव-रमणरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक भी है, उन्हें नहीं होने देता है। जैसे—चश्मा आँखों का आच्छादक होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता है, वैसे ही शुद्ध दलिकरूप होने से सम्यक्त्वमोहनीय भी तत्त्वार्थ-श्रद्धान में रुकावट नहीं करता; फिर भी वह चश्मे की तरह आवरणरूप तो है ही। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व-मोहनीय शुद्धदलिकरूप होने पर भी वह औपशमिक तथा क्षायिक दर्शन (सम्यक्त्व) के लिए मोह के रूप में बाधक तो है ही। शुद्ध दर्शनमोहनीय रूप होने से सम्यक्त्वमोहनीय में प्राणी तत्त्व-सुरुचि करता है, तो भी उसमें अनेक प्रकार से मिथ्यात्व के अंश तो रह ही जाते हैं। प्राणी यथाप्रवृत्ति करे तो उसके पश्चात् वह सच्चे मार्ग पर आ जाता है, फिर भी उसमें विषय-रुचि, कषाय-प्रवृत्ति और योगों की अशुद्धि कमोवेश रह ही जाती है। इस कारण उसमें सम्यक्त्व के अतिचारों और दोषों की सम्भावना भी है, तथा चल-मल अगाढ़ दोष भी होने सम्भव हैं। फिर भी ज्यों-ज्यों इसमें शुद्धि बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसका दर्शनमोहनीय का शुद्ध पुंज भी कम होता जाता है। परन्तु इसका सर्वथा नाश तो बहुत आगे बढ़ने के बाद होता है। आगे जाने पर दूसरे दो करण और गुणस्थान के आगे के सोपान तक पहुंचा जाएगा, तब इस शुद्ध पुंज का स्थान यथार्थरूप से समझ में आएगा। यहाँ इतना अवश्य ध्यान में रखना है कि ज्यों-ज्यों तत्त्वश्रद्धा सुदृढ़ होती जाएगी, त्यों-त्यों दर्शनमोहनीय का किनारा आता जाता है और इसका पक्का अन्त तो बहुत आगे जाने पर आता है, और उसके लिए सम्यक्त्व की शुद्धि अनिवार्य है।[1]

---

१. (क) कर्मप्रकृति से, पृ. २२
(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ गा. १४ का विवेचन (मरुधर केसरी) पृ. ६९
(ग) जैनदृष्टिए कर्म, से पृ. १२०, ६३
(घ) जिय-अजिय-पुण्ण-पावासव-संवर-बंध-मुक्ख-णिज्जरणा।
जेणं सद्दहइयं तयं सम्मं, खइगाइ-बहुभेयं ॥५८॥ —विवेचन (मरुधर केसरी) पृ. ७२

कर्मग्रन्थोक्त तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्वमोहनीय

कर्मग्रन्थ में सम्यक्त्वमोहनीय का लक्षण इस प्रकार है–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ तत्त्वों पर जिस कर्म से जीव श्रद्धा-रुचि करता है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। उस सम्यक्त्व के क्षायिक आदि बहुत-से भेद होते हैं। अर्थात्–जिस कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि नौ तत्त्वों पर श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्व-मोहनीय कहते हैं। इसे सम्यक्त्व कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चश्मा आँखों का आच्छादक होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म आवरणरूप होने पर भी आत्मा को तत्त्वार्थ-श्रद्धान करने में व्याघात नहीं पहुँचाता है।

नौ तत्त्वों के नाम और स्वरूप तथा प्रकार

नौ तत्त्व ये हैं–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में उनका स्वरूप इस प्रकार है–(१) जीव (आत्मा) तत्त्व–निश्चयनय से 'समयसार' और 'आचारांग' में आत्मा (जीव) का लक्षण किया है–जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श-रहित हो, अव्यक्त (अमूर्त–इन्द्रिय-अगोचर) हो, चेतनागुण वाला और शब्द-रहित हो, उसे जीव (आत्मा) जानो। उसका अपना कोई आकार न होने से, वह अनिर्दिष्ट आकार वाला है। फिर भी स्व-संवेदन के बल से नित्य आत्मा का प्रत्यक्ष होने पर आत्मा केवल अनुमेयमात्र है।[1] 'पंचास्तिकाय' में संसारी जीव के उपाधि-सहित और उपाधि-रहित स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है–"यह जीव नामक पदार्थ चेतयिता (चेतना वाला) है, उपयोग से विशिष्ट (युक्त) है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, अपने शरीर-मात्र-प्रमाण वाला है, मूर्त नहीं है, किन्तु कर्म से संयुक्त है।"

जीवत्व-गुण की व्याख्या करते हुए कहा गया है–"जो प्राणों से (प्राण धारण करके) वर्तमान में जीता है, भविष्य में जियेगा और अतीतकाल में जिया था, वह जीव है।" अर्थात्–जो द्रव्य-भाव-प्राणों को धारण करे, वह जीव है। प्राण के दो भेद हैं–द्रव्य-प्राण और भाव-प्राण। इनमें से द्रव्यप्राण के दस भेद हैं–पांच इन्द्रियाँ, तीन बल (मन-वचन-कायबल), उच्छ्वास-निःश्वास और आयु। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये चार आत्मा के स्वाभाविक गुण भावप्राण कहलाते हैं। भावप्राण सिद्ध जीवों में भी होते हैं।

---

१. (क) नव सब्भाव-पयत्था पण्णत्ते, तं.–जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो। –स्थानांग स्थान ९ सू. ६६५

(ख) नौ तत्त्वों का विशेष विशद वर्णन देवेन्द्रसूरिरचित नवतत्व प्रकरण स्वोपज्ञटीका गा. १५ में देखिए। –सं.

(ग) अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदनागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ –समयसार गा. ४९

(घ) आचारांग श्रु. १, अ. ६ उ. १/३३१ से ३३३

जीव के दो भेद हैं–सिद्ध (मुक्त) और संसारी। मुक्त जीव वे हैं, जो सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके तथा समस्त दुःखों से रहित होकर ज्ञान-दर्शनादि भाव-प्राणों से युक्त हैं। संसारी जीव वे हैं, जो अपने यथायोग्य द्रव्यप्राणों और ज्ञानादि भावप्राणों से युक्त होकर नरकादि-चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करते हैं। जीव तत्त्व के १४ भेद हैं।[1]

अजीवतत्त्व–जिसमें प्राण न हों, चेतना न हो, अर्थात्–जड़ हो, उसे अजीव कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल, ये अजीव हैं। इनमें पुद्गलास्तिकय रूपी है, अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं, शेष चारों अरूपी हैं। अजीव तत्त्व के भी १४ भेद हैं।

पुण्यतत्त्व–जिसके उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य दो प्रकार का है–द्रव्यपुण्य, भावपुण्य। जिस कर्म के उदय से जीव को सुखानुभव (सुखोपभोग) होता है, उसे द्रव्य पुण्य तथा जीव के दया, करुणा, दान, शुभभावना आदि शुभ परिणामों (अध्यवसायों) को भावपुण्य कहते हैं। पुण्य शुभयोग से बंधता है। यह शुभ प्रकृतिरूप है। पुण्य-प्रकृति के ४२ भेद हैं।

पापतत्त्व–जिसके उदय से दुःख, मनस्ताप एवं कष्ट का अनुभव हो, उसे पाप कहते हैं। पाप के दो प्रकार हैं–द्रव्यपाप और भावपाप। जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करता है, वह द्रव्यपाप है, तथा जीव का अशुभ परिणाम भाव-पाप है। पाप अशुभ- प्रकृति रूप है और यह बंधता भी अशुभ योग से है। पाप प्रकृति के ८२ भेद हैं।

आस्रवतत्त्व–शुभाशुभ कर्मों के आगमनद्वार को आस्रव कहते हैं। आस्रव के भी दो प्रकार हैं–शुभ आस्रव और अशुभ-आस्रव। शुभास्रव को पुण्य और अशुभ-आस्रव को पाप कहा जाता है। प्रकारान्तर से आस्रव के दो रूप हैं–द्रव्यास्रव और भावास्रव। त्रिविध योगों द्वारा शुभाशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभाशुभ परिणामों से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रकृतियों को द्रव्यास्रव और कर्मों के आने के द्वार रूप जीव के शुभाशुभ परिणामों को भावास्रव कहते हैं। आस्रवतत्त्व के ४२ भेद हैं।[2]

संवरतत्त्व–आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। आस्रव के ४२ भेद हैं। उनका जितने-जितने अंशों में निरोध होगा, उतने-उतने अंशों में संवर कहलायेगा। यह संवर (अनास्रव या आस्रव-निरोध) गुप्ति, समिति, क्षमादि धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदि से होता है। उत्तराध्ययन के अनुसार 'पंच समिति और तीन गुप्ति से युक्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय, अगौरव (गौरवत्रयरहित) एवं निःशल्य (तीन शल्यों से

---

१. (क) जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओग-विसेसिदो पहुःकत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो, ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥ –पंचास्तिकाय २७
(ख) जैनसिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. ६१;
(ग) कर्मग्रन्थ प्रथम गा. १५ विवेचन (मरुधर केशरीजी) पृ. ७३

२. कर्मग्रन्थ भाग प्रथम विवेचन (मरुधर केसरी जी), पृष्ठ ७३–७४

रहित) जीव अनास्रव (संवरधर्मी) होता है।' संवर के दो भेद हैं–भावसंवर और द्रव्यसंवर। आते हुए नये कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणामों (शुद्ध अध्यवसायों) को भावसंवर और कर्मपुद्गलों के आगमन के रुक जाने को द्रव्यसंवर कहते हैं। संवर के ५७ भेद हैं।

निर्जरातत्त्व–आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह परस्पर मिले हुए कर्मपुद्गलों के एकदेश से (आंशिक रूप से) क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो प्रकार हैं– (१) द्रव्य-निर्जरा और (२) भाव-निर्जरा। आत्मप्रदेशों से कर्मों का एकदेश (अंशतः) पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्य-निर्जराजन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम को भाव-निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के १२ भेद हैं।

बन्धतत्त्व–आस्रव के द्वारा आगत (आकर्षित) कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ क्षीर-नीर की तरह परस्पर श्लिष्ट हो जाना–मिल जाना 'बन्ध' कहलाता है। जीव जब कषाययुक्त होकर कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तभी बंध होता है। अथवा राग-द्वेष-युक्त होकर आत्मा जब शुभ-अशुभ योगों में परिणमन करता है, तब ज्ञानावरणीय आदि विविध भावों से कर्मरज उसमें प्रविष्ट होती है। अनादि काल से प्रवाहरूप से यह क्रम चालू है कि राग, द्वेष, कषाय आदि के सम्बन्ध से जीव कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण-आकर्षित करता है, और उन कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध से पुनः कषायवान् होता है। योग और कषाय, ये दो ही कर्मबन्ध के प्रमुख कारण हैं। बन्ध दो प्रकार का है–द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। आत्मा के जिन परिणामों से कर्मबन्ध होता है, अथवा कर्मबन्ध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के उन परिणामों को भावबन्ध कहते हैं। तथा कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों के साथ दूध और पानी की तरह आपस में मिलना द्रव्यबन्ध कहलाता है। बन्ध के यों तो असंख्य भेद हैं। किसी अपेक्षा से ४ भेद हैं। मूलकर्मप्रकृतिबन्ध के ८ और उत्तरप्रकृतिबन्ध के १४८ या १५८ भेद हैं।

मोक्षतत्त्व–समस्त कर्मों का क्षय होना मोक्ष कहलाता है। मोक्ष के दो प्रकार हैं– द्रव्य-मोक्ष और भावमोक्ष। समस्त कर्मपुद्गलों का आत्म प्रदेशों से सर्वथा सदा के लिए पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है। और द्रव्यमोक्षजनक अथवा द्रव्यमोक्षजन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामों को भावमोक्ष कहा जाता है। मोक्ष के नौ और पन्द्रह भेद हैं।

पूर्वोक्त नौ तत्त्वों में से जीव और अजीव तत्त्व ज्ञेय हैं। पुण्य कथञ्चित् हेय है, कथंचित् उपादेय है। पाप, आस्रव और बन्ध हेय तत्त्व हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये ३ तत्त्व उपादेय हैं।[1]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ प्रथम, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से, पृ. ७३-७५
(ख) आस्रवनिरोधः संवरः। स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः। –तत्त्वार्थसूत्र
(ग) पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो हवइ अणासवो॥ –उत्तराध्ययन ३/३०
(घ) सकषायत्वात् कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। –तत्त्वार्थ ८/२-३
(ङ) कृत्स्न-कर्मक्षयो मोक्षः। –वही, १०/३

इन नौ तत्त्वों में जीव (आत्मा) के उत्कर्ष-अपकर्ष की, उत्क्रान्ति-अपक्रान्ति की, सृष्टि कर्तृत्ववाद की, पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की, इहलोक-परलोक की, कर्म के बन्ध-मोक्ष, आस्रव-संवर की, जड़-चेतन के धर्मों की; ऐसे अनेक जीवन सम्बन्धी-तत्वों की विचारणा आ जाती है। इसीलिए नौ तत्त्वों का बोध हो, इन्हें जानना रुचिकर लगे, उनमें हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान हो, श्रद्धान हो, तभी उसे सम्यक्त्व कहा गया है।

सम्यक्त्व : उसके भेद तथा उनका लक्षण

पूर्वोक्त जीवादि नौ तत्त्वों के प्रति श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है। वैसे प्राणियों की विभिन्न रुचि, दृष्टि, श्रद्धा और निष्ठा के अनुसार सम्यक्त्व में तारतम्य के अनुसार कई भेद होते हैं। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं-व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व। संक्षेप में इनके लक्षण इस प्रकार हैं-**व्यवहार सम्यक्त्व**-कुदेव, कुगुरु और कुमार्ग (कुधर्म) को छोड़कर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग (सद्धर्म) का स्वीकार करना, इनकी श्रद्धा-भक्ति करना व्यवहार-सम्यक्त्व है। **निश्चय सम्यक्त्व**-जीवादि तत्त्व जिस रूप में आप्त पुरुषों (सर्वज्ञों) द्वारा प्ररूपित हैं, उन्हें यथार्थरूप से मानना और उन तत्त्वों के अर्थ पर श्रद्धान करना भी निश्चय सम्यक्त्व है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप स्वभाव पर श्रद्धा करना भी निश्चय सम्यक्त्व है।

अन्य अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के-क्षायिक सम्यक्त्व, औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, सास्वादन सम्यक्त्व तथा कारक, रोचक और दीपक सम्यक्त्व इत्यादि भेद हैं। इनके लक्षण, क्रमशः इस प्रकार हैं-**क्षायिक सम्यक्त्व**-मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, इन तीन प्रकृतियों के क्षय होने पर आत्मा में जो परिणाम-विशेष होता है, उसे क्षायिक-सम्यक्त्व कहते हैं। **औपशमिक सम्यक्त्व**-दर्शनमोहनीय की उक्त तीनों कर्म-प्रकृतियों के उपशम से आत्मा में जो परिणाम-विशेष होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व**-मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से तथा सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। उदय में आए हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों का क्षय तथा जो उदय को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन पुद्गलों का उपशम, ये दोनों मिलकर मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है। यहाँ जो मिथ्यात्व का उदय कहा गया है, वह प्रदेशोदय की अपेक्षा से समझना चाहिए, रसोदय की अपेक्षा से नहीं। औपशमिक सम्यक्त्व में तो मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का रसोदय और प्रदेशोदय दोनों प्रकार का उदय नहीं होता है। कर्म-सिद्धान्त में प्रदेशोदय को ही उदयाभावी क्षय कहते हैं। जिसके उदय से आत्मा पर कुछ भी असर नहीं होता, वह प्रदेशोदय है और जिसका उदय आत्मा पर प्रभाव डालता है, वह रसोदय है।

सम्यक्त्वमोहनीय से सम्बन्धित होने से सम्यक्त्व का यह विश्लेषण करना यथोचित है।[1]

वेदक-सम्यक्त्व–क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान जीव जब सम्यक्त्वमोहनीय के अन्तिम पुद्गल के रस का वेदन (अनुभव) करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादन-सम्यक्त्व–उपशम-सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता, तब तक के उसके परिणाम-विशेष को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादन का दूसरा नाम सासादन भी है। कारक-सम्यक्त्व–जिनोक्त क्रियाओं–सामायिक, प्रतिक्रमण, गुरुवन्दन, आदि श्रद्धापूर्वक करना कारक-सम्यक्त्व है। रोचक सम्यक्त्व–जिनोक्त क्रियाओं में रुचि रखना रोचक सम्यक्त्व है। दीपक-सम्यक्त्व–जिनोक्त क्रियाओं से होने वाले लाभ का समर्थन एवं प्रचार-प्रसार करना दीपक-सम्यक्त्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के अन्य भेदों के लक्षण भी समझ लेने चाहिए।[2]

सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व का जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। सम्यक्त्व न हो, वहाँ तक प्राणी घोर अज्ञानान्धकार में पड़ा रहता है, सच्ची दृष्टि और सच्ची तत्त्वश्रद्धा-रुचि के बिना व्यक्ति या तो सम्प्रदायवादी या गतानुगतिक बन जाता है, वही मिथ्यात्व है। ऐसी मिथ्यात्वदशा में व्यक्ति उलटे मार्ग पर चल पड़ता है। विपरीतदशा में आत्मा के सम्बन्ध में भी विपरीत दर्शनी (दृष्टि) बन जाता है। ऐसा विपरीत दर्शन होना ही दर्शनमोहनीय है। दर्शन विपरीत हुआ तो ज्ञान, क्रिया, चारित्र, तप सभी मिथ्या–विपरीत होंगे, संसारमार्ग की ओर ले जाने वाले होंगे।

इसलिए दर्शनमोहनीय को यथार्थ रूप से पहचानना, उसके तीन पुंजों को भी जानना-समझना और तत्त्व श्रद्धा करके आगे बढ़ना ही मोक्षमार्ग के प्रथम सोपान–सम्यक्त्व पर चरण रखना है।[3]

चारित्रमोहनीय : उत्तरप्रकृतियाँ, स्वरूप और स्वभाव

चारित्र के लक्षण और कार्य

मोहनीय कर्म का दूसरा भेद चारित्र-मोहनीय है। आत्मा को अपने स्वभाव की प्राप्ति या अपने आत्मस्वरूप में रमणता चारित्र है। यह निश्चय चारित्र है। व्यवहार

---

१. (क) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । –तत्त्वार्थसूत्र १/२
(ख) भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पावं य ।
आसव-संवर-णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ –समयसार १३
(ग) कर्मग्रन्थ प्रथम भाग, विवेचन (मरुधरकेसरी), से साभार उद्धृत पृ. ७६, ७७

२. कर्मग्रन्थ भा. १, विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. ७८

३. जैनदृष्टिए कर्म से पृ. ६२

चारित्र का लक्षण है--अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति। व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, बाह्य-आभ्यन्तर तप, समिति, गुप्ति आदि सब चारित्र के नाम से प्रसिद्ध हैं, कषायविजय, विषयासक्तित्याग आदि भी चारित्र के नाम से जाने जाते हैं, परन्तु ये सब व्यवहार चारित्र की कोटि में हैं, ये निश्चय चारित्र को प्राप्त करने के लिए साधन हैं, साध्य निश्चय चारित्र है, जिसका लक्षण इस प्रकार किया गया है--

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो ति णिद्दिट्ठो ।
मोह-क्खोह-विहीणो-परिणामो अप्पणो हु समो ॥

चारित्र आत्मा का धर्म है। जिसे शास्त्रों में समता, शमता, वीतरागता, शुद्धोपयोग, शुद्धपरिणाम, ज्ञाताद्रष्टाभाव, भेदविज्ञान आदि संज्ञाओं से धर्म नाम से निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुतः मोह और क्षोभ से विहीन समता और शमता (उपशान्ति) युक्त परिणाम ही परमार्थतः सम्यक्चारित्र है। जो कि आत्मा का ही परिणाम है। भगवती सूत्र में सामायिक, त्याग, प्रत्याख्यान, संवर आदि को आत्मा और उनका अर्थ-प्रयोजन भी आत्मा-आत्म-स्वभाव में अवस्थिति बताई गई है।[1]

बाह्य त्याग, तप, व्रत आदि का आचरण कर लेने पर भी अन्तर में मोह और क्षोभ विद्यमान हैं तो वह चारित्र नहीं, चारित्राभास है। बाह्य विषयों में मैं, मेरा, तू, तेरा अथवा इष्ट-अनिष्ट, ग्राह्य-त्याज्य, प्रीति-अप्रीति, प्रियता-अप्रियता आदि द्वन्द्व या विकल्प रहे तो यह मोह है। यही परमार्थतः मिथ्यादर्शन है। भगवती सूत्र में मायी को मिथ्यादृष्टि और अमायी को सम्यग्दृष्टि कहा गया है। परन्तु पूर्वोक्त या ऐसे ही अन्य विकल्पों और बाह्य प्रवृत्ति-निवृत्तियों की उधेड़बुन में लगे रहने के कारण अन्तरंग में सतत विकल्पों और कषायों-नोकषायों की भगदड़ मची रहती है। अन्तरंग की यह भगदड़ ही क्षोभ शब्द का वाचक है। जिसे आकुलता या चित्तगत अशान्ति कहना चाहिए। आत्मा के स्व-भाव से विपरीत होने के कारण यही मिथ्या-चारित्र है। मोह के अभाव से समता प्रादुर्भूत होती है, जिससे तेरे-मेरे, इष्ट-अनिष्ट, ग्राह्य-त्याज्य, प्रिय-अप्रिय के द्वन्द्व या विकल्प नहीं होते। इसी प्रकार क्षोभ के अभाव से शमता (उपशमभाव-शान्ति) प्रगट होती है। चित्तविश्रान्ति या अनाकुलता उसका स्वरूप है। मोह और क्षोभ से विहीन समता या शमता से युक्त परिणाम आत्मा का स्वभाव है, उसे प्राप्त करना पूर्वोक्त सम्यक् चारित्र का उद्देश्य है।[2]

---

१. (क) कर्म-सिद्धान्त से पृ. ६२
   (ख) कर्मप्रकृति से पृ. २०
   (ग) असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं ।

२. (क) कर्मसिद्धान्त से भावांशग्रहण
   (ख) मायी मिच्छादिट्ठी अमायी सम्मदिट्ठी । --भगवती सूत्र

व्यवहार चारित्र, निश्चयचारित्र का साधन

इस स्थिति को हस्तगत करने के लिए व्रत-महाव्रत, समिति, गुप्ति, त्याग, तप, प्रत्याख्यान, बाह्य विषयों तथा वासनाओं का त्याग, त्याग के लिए नियम-उपनियम आदि बाह्य चारित्र–व्यवहार चारित्र साधक की प्राथमिक भूमिका में अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यह ध्यान रहे, यह चारित्र वास्तविक (निश्चय) चारित्र नहीं, चारित्र का साधन है। जिस प्रकार औषधि स्वास्थ्य नहीं, स्वास्थ्य-प्राप्ति का साधन है; उसी प्रकार बाह्य चारित्र के ये सब प्रकार भी आत्मिक स्वस्थता–स्वरूप-रमणता के साधन हैं।

इसीलिए आगमों में इसी व्यवहारचारित्र का ही विशेष उल्लेख किया है, और उसके पांच भेद बताए हैं–(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनिक चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्म सम्परायचारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र। ये पांचों प्रकार के चारित्र उत्तरोत्तर उच्च भूमिका वाले साधकों के लिए हैं।

वैसे चारित्र के दो भेद भी किये हैं–सर्व विरति और देशविरति। मन-वचन- काया से त्रिकरण त्रियोग से हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रहवृत्ति का सर्वथा त्याग करना सर्वविरति है और हिंसादि पांच पापों का देशतः (अंशतः) त्याग करना देशविरति चारित्र है। इसीलिए 'धवला' में पाप क्रियाओं से निवृत्ति को चारित्र कहा है। अथवा चारित्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया गया है–जो कर्मों के चय–संचय को रिक्त–खाली करता है, अथवा नष्ट करता है, उस अनुष्ठान को चारित्र कहते[1] हैं। वस्तुतः पहले कहे अनुसार चारित्र आत्मा का गुण है, आत्मा का शुद्ध उपयोग या परिणाम है। आत्मा के इस चारित्र गुण का घात करने वाले कर्म को अथवा आत्मा के स्वरूपरमणता की शक्ति या स्वभाव-स्थिति को विकृत-मोहित-कुण्ठित कर देने वाले कर्म को चारित्र-मोहनीय कहते हैं। अथवा पूर्वोक्त पंच-चारित्र या द्विविध चारित्र का घात करने वाले कर्म को चारित्र-मोहनीय कर्म कहते हैं। जो भी हो, चारित्रमोहनीय आत्मा के पूर्वोक्त निश्चयचारित्र के समतादि गुणों पर आक्रमण करता है। पालन करना चाहते हुए भी यह कर्म उसकी कर्तृत्व शक्ति, आचरण शक्ति या पालन के उत्साह को कुण्ठित, विकृत बना देता है।[2]

---

१. (क) कर्मसिद्धान्त से
   (ख) स्थानांग सूत्र स्थान ५
   (ग) ज्ञान का अमृत से पृ. २९०
   (घ) पाप क्रिया निवृत्तिश्चारित्रम्। –धवला ६/१, ९-१
   (ङ) कर्मणां चयं रिक्तं करोति इति चारित्रम्।
२. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. २९०
   (ख) कर्मप्रकृति से पृ. २१

सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्र में अन्तर

कई बार साधक बाह्य त्याग, तप क्रियाएँ खूब ऊँची और कठोर कर लेता है, स्थूलदृष्टि वाले लोगों से भी वह वाहवाही, प्रसिद्धि और प्रशंसा पा जाता है, परन्तु अन्तरंग में आत्मा के गुणरूप निश्चय चारित्र, स्वभावस्थिति, कषायोपशान्तता, समता-शमता की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। इस प्रकार के तथाकथित चारित्र के पीछे दृष्टि या श्रद्धा सम्यक् न होने से उस साधक की समस्त कठोर क्रियाएँ, तपस्या, त्याग आदि विकल्पों तथा कषायों से युक्त होने के कारण मिथ्याचारित्र की कोटि में आ जाती हैं। पूर्वोक्त प्रकार की मिथ्यादृष्टि होने के कारण वह साधक अपने तप, त्याग के विकल्पों से पीछे न हटकर अन्तरंग समता-शमता की ओर नहीं झुक पाता। परन्तु सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी अपनी भूमिका के अनुसार तप, त्याग, क्रिया करता है, किन्तु उसके पीछे विकल्प, क्षोभ, निन्दा, टीका-टिप्पणी, अहंवृत्तिपोषण आदि नहीं होता, वह समता-शमता की प्राप्ति के लक्ष्य को सामने रखकर ही सब कुछ प्रवृत्ति करता है।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि या व्यवहार चारित्री साधक साधकदशा में पूर्ण वीतराग, पूर्ण समभावी, पूर्णतः कषायत्यागी नहीं हो पाता, भूमिकानुसार उसमें भी क्रोधादि कषाय तथा इष्टानिष्ट पदार्थों या विषयों के प्रति राग-द्वेषभाव आ जाता है, परन्तु उसके सामने लक्ष्य एवं दृष्टि स्पष्ट होने के कारण देर-सवेर उनका नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है। सम्यग्दृष्टि अपने इस आचरित बाह्य त्याग-तप-प्रत्याख्यानादि को प्रदर्शन, आडम्बर या प्रसिद्धि का साधन नहीं बनाता, क्योंकि उसके सामने समता या शमता-प्राप्ति का लक्ष्य स्पष्ट रहता है। इसलिए विकारयुक्त अल्प चारित्र को भी उपचार से सम्यक्चारित्र कहा जाता है, जबकि मिथ्यादृष्टि की उपर्युक्त कठोर-त्याग-तप-वैराग्यपूर्ण प्रवृत्ति भी मिथ्याचारित्र नाम पाती है। क्योंकि उसके समक्ष लक्ष्य स्पष्ट नहीं, उसकी दृष्टि स्पष्ट नहीं है। इसलिए[1] अव्यक्तरूप में स्थित कषायादि विकार नष्ट नहीं हो पाते। चारित्र के विकार हैं—कषाय, नोकषाय, राग, द्वेष, मोह आदि। चारित्र के उपर्युक्त विकारों को उद्भावित करके आत्मा के स्वभाव को विकृत करने वाली कर्मप्रकृति का नाम चारित्रमोहनीय है। इसीलिए आत्मा के गुणों का घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं। चारित्रमोहनीय के उदय से जीव अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमादि दशविध श्रमणधर्म तथा श्रावक धर्म आदि के मार्ग पर नहीं चल पाता, अथवा चलता है, तब भी लड़खड़ा जाता है। जैसे—नन्दीषेण मुनि लड़खड़ा गए थे, अर्हन्नक (अरणक) मुनि लड़खड़ा गए थे। चारित्रमोहनीय में आचरण को विकृत-विपरीत या कुण्ठित करने की बात है।

अहितकर आचरण की प्रवृत्ति के हेतुभूत मानसिक विकार तथा हिताचरण के अवरोधक मनोविकारों तथा कामविकारों के स्रोत वेदत्रय को उत्तेजित करने की बात

---

१. कर्म सिद्धान्त से पृ. ६५

चारित्र-मोहनीय कर्म के कार्य हैं। उसके शस्त्र हैं–कषाय, नोकषाय आदि जिनसे वह बड़े-बड़े त्यागी, वैरागी, महात्माओं, विरक्तात्माओं, महाव्रतियों को भी अपनी लपेट में ले लेता है। अनन्त चारित्र आत्मा का मूल गुण है, उसे यह चारित्रमोहनीय रोकता है, विकृत कर देता है। चारित्र में रमण कराने के बदले चारित्रमोहनीय कर्म पौद्गलिक भावों (परभावों) तथा विभावों में रमणता कराता है। वह प्राणी को इतना पराधीन या मूढ़ बना देता है कि वह परभाव को स्व-भाव मान बैठता है। प्रायः उसकी वृत्ति प्रवृत्ति को देखते हुए ऐसा लगता है, मानो उस व्यक्ति का स्वभाव ही ऐसे मनोविकारों में रमण करने का हो। इतनी विपरीतता ला देने की शक्ति इस चारित्रमोहनीय कर्म में है। श्री सिद्धर्षि गणि ने उपमितिभवप्रपंच कथा के चतुर्थ प्रस्ताव में मोह महाराजा की विशाल सेना का परिचय दिया है, उस पर से स्पष्ट समझ में आ जाता है कि चारित्रमोह कितना भयंकर है।[1]

चारित्रमोहनीय कर्म को दो भागों में विभक्त किया गया है–(१) कषाय-वेदनीय और नोकषाय-वेदनीय।[2]

कषायमोहनीय : कषायवेदनीय क्या है ?

कषायवेदनीय–कषाय का अर्थ है–जो आत्मा के शान्ति, मृदुता, ऋजुता और समता आदि गुणों को, अथवा आत्मा के स्वाभाविक रूप को कषे–नष्ट करे, उसे कषाय कहते हैं। अथवा कष यानी–जन्म-मरणरूप संसार और उसकी आय अर्थात् आमदनी–प्राप्ति जिस कर्म से हो, वह कषायवेदनीय है। अथवा क्रोध, मान, माया, लोभरूप आत्मा के वैभाविक परिणाम विशेष जो सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं, वे कषाय कहलाते हैं। अथवा जिन क्रोधादि परिणामों द्वारा आत्मा के साथ कर्म संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन क्रोधादि परिणामों को कषाय कहते हैं। और जिस कर्म के उदय से जीव कषाय का वेदन करता है, उसे कषायवेदनीय कर्म कहते हैं। अथवा जिस कर्म के कारण क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति हो उसे कषाय-मोहनीय कहते हैं।[3]

---

१. जैन दृष्टिए कर्म से भावांश ग्रहण,

२. (क) चरित्तमोहणं कम्मं दुविहं तु वियाहियं ।
कसाय-मोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव यं ॥ –उत्तराध्ययन ३३/१०
(ख) दुविह चरित्त-मोहं–कसायवेयणीयं नोकसायमिदि । –कम्मपयडी ५५
(ग) प्रज्ञापना २३/२

३. (क) कषः संसारस्तस्य आयो लाभ इति कषायः ।
(ख) चारित्र परिणामकषणात् कषायः । –तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९/७
(ग) कष्यन्ते हिंस्यन्ते परस्परस्मिन् प्राणिन इति कषः । कषमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तवः इति कषायाः । –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका गा. १७
(घ) सम्यक्त्व तत्त्वार्थश्रद्धान ..... चारित्र एवंविधमात्मविशुद्धि-परिणामान् कषंतिहिंसन्तिभनन्तीतिकृत्वा कषायाः । –क. प्र. ६१
(ङ) जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसाए वेदयति तं कम्मं कसायवेदनीयं । –धवला १३/५

अतः कषायमोहनीय वह है, जिससे संसार-परिभ्रमण की वृद्धि हो, क्योंकि कषाय ही कर्मबन्ध का विशिष्ट हेतु है। कषाय के कारण ही कर्मों का स्थितिबन्ध और रसबन्ध होता है और जब तक बन्ध है, तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं।

कषाय का विनाशक रूप

वस्तुतः कषाय संसार के साथ तादात्म्य कराने, एकत्व कराने में, तथा आत्मधर्म एवं आत्मा के मूल गुणों से दूर रखने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–

क्रोधादि चारों कषाय संसाररूपी वृक्ष (पुनः पुनः जन्म-मरणरूपी तरु) के मूल का सिंचन करते हैं। क्योंकि रसबन्ध (कर्मों का अनुभागबन्ध) का सबसे बड़ा आधार अगर कोई है तो कषाय ही हैं। कषायों की तरतमता पर कर्म की तीव्रता-मन्दता निर्भर है। और कर्मों के अत्यधिक संचय हो जाने पर जन्म-मरण अवश्यम्भावी है। क्रोधादि चारों कषाय प्राणियों के जीवन का कितना अनिष्ट करते हैं? यह दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है–"क्रोध प्रीति का नाश कर देता है, मान विनय का और माया (कपट) मित्रता का नाश करती है, किन्तु लोभ तो[1] समस्त गुणों का विनाश करने वाला है।" वाल्मीकि रामायण में भी कहा है–क्रुद्ध व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं कर डालता? क्रोधी गुरुजनों का भी वध कर डालता है।[2]

कषाय के चार प्रकार : स्वरूप और स्वभाव

यों तो कषायवेदनीय की सोलह और नोकषाय-वेदनीय की नौ, दोनों मिल कर पच्चीस उत्तर-प्रकृतियाँ चारित्र-मोहनीय की बताई गई हैं। परन्तु यहाँ मूल रूप में कषाय के चार भेद और उनकी तीव्रता-मन्दता के आधार पर प्रत्येक के चार-चार भेद बता कर कषाय के कुल १६ भेद प्ररूपित किये गए हैं। कषाय के मूल चार भेद ये हैं–(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

क्रोध–समभाव या प्रशमभाव को भूल कर आक्रोश से भर जाना, दूसरे पर रोष करना, आवेश में आ जाना; अपने और दूसरे के अपकार या उपघात आदि करने के क्रूर परिणाम लाना क्रोध कहलाता है। कोप, तर्जना, घात आदि इसी के प्रकार हैं।

---

१. (क) कम्मंकसो भवो वा कसमातोसिं कसायातो।
कसमायंति व जतो, गमयंति कसं कसायत्ति।। –विशेषावश्यक भाष्य गा. १२२७
(ख) चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाणि पुणब्भवस्स। –दशवैकालिक ८/४०
(ग) कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-णासणो।
माया मित्ताणि णासेइ, लोभो सव्व-विणासणो॥ –दशवैकालिक ८/३८
(घ) जैनदृष्टिए कर्म से भावांश ग्रहण, पृ. ६४

२. क्रुद्धो पापं न कुर्यात् कः ? क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि। –वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड ५५/४

मान–गर्व, अभिमान, अहंकार, बड़ाई, मगरूरी (प्राइड–Pride), उद्दण्डता और स्व-उत्कर्ष कथन या आत्म-प्रदर्शन को मान कहते हैं। अथवा जातिमद आदि आठ मदों के कारण दूसरों के प्रति नम्रता, या नम्रता-वृत्ति, मृदुता या कोमलता का भाव न होना अथवा उद्धतता रूप जीव का परिणाम भी मान कहलाता है। माया–कपट, छल, ठगी, वंचना, धूर्तता, दम्भ, दिखावा, दगा, गबन माया है। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति में वक्रता या सरलता का अभाव माया है। विचार, उच्चारण और व्यवहार में एकता का न होना भी माया कहलाती है। लोभ–ममता, संग्रहवृत्ति, मूर्च्छा, गृद्धि, लालसा, तृष्णा, वासना, कामना आदि सब लोभ के अन्तर्गत हैं। बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व (मेरापन) एवं तृष्णा की बुद्धि लोभ है। परवस्तु में आसक्ति, स्वामित्व-स्थापन, मालिकी स्थापन करने की ईहा, अपनेपन का अधिकार अथवा अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा, लोभ के प्रकार हैं। ये चारों कषाय संसार के साथ चिपकाये रखने वाले और बहुत ही कठोर हैं। ये चारों कषाय प्राणी के चित्त को रंगीन या कसैला बना देते हैं।[1]

चारों मूल कषायों के प्रत्येक के चार-चार भेद : उनकी संज्ञा, स्वभाव और कार्य

इन चारों कषायों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द स्थिति के कारण प्रत्येक के चार-चार प्रकार बताये गए हैं। जो क्रमशः अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम स्थिति), अप्रत्याख्यानी या अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति), प्रत्याख्यानी या प्रत्याख्यानावरण (तीव्र स्थिति) और संज्वलन (मंदस्थिति) के नाम से प्ररूपित किये गए हैं। संक्षेप में इन्हें यों भी कहा जा सकता है–'तीव्रतम कषाय (प्रबलतम क्रोध, मान, माया, लोभ) को अनन्तानुबन्धी, तीव्रतर कषाय (अति क्रोध, मान, माया, लोभ) को अप्रत्याख्यानी, तीव्र कषाय (साधारण क्रोध, मान, माया और लोभ) को प्रत्याख्यानी, और मंद कषाय (अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ) को संज्वलन कहा जाता है। इन चारों कषायों में से प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का, अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशविरत चारित्र का, प्रत्याख्यानावरणीय कषाय सर्वविरत चारित्र[2] का, और संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का बाधक=घातक है।[3]

इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं–

---

१. (क) कर्मप्रकृति से भावांश ग्रहण, पृ. ३११
   (ख) जैनदृष्टिए कर्म से पृ. ६५

२. कषायों के सर्वथा अभाव से आत्मा का जैसा शुद्ध स्वभाव है तदवस्थारूप जो चारित्र हो, वह यथाख्यातचारित्र कहलाता है।–सं.

३. (क) जैनयोग से पृ. ३३
   (ख) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. ३७२
   (ग) पढमो दंसणघाई, बिदिओ तह घाइ देसविरइ त्ति।
   तइओ संजमघाई, चउत्थो जहक्खायघाई य॥ –पंचसंग्रह १/११५

अनन्तानुबन्धी कषाय : स्वरूप, स्वभाव, कार्य

अनन्तानुबन्धी–जो कषायभाव अनन्त-संसार का अनुबन्ध कराने वाले हैं, उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं। अथवा जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है, उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। आशय यह है कि यह कषाय आत्मा के साथ अनन्तकाल तक कर्मों का अनुबन्ध कराता है। अर्थात्–यह आत्मा के साथ अनन्तकाल से लगा हुआ है और सम्यक्त्व प्राप्त न हो तो अनन्तकाल तक लगा रहता है। चूंकि मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है, इसलिए मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते हैं। अतः जो कषाय उसका (अनन्त मिथ्यात्व का) अनुबन्धी है, इसलिए भी इसे अनन्तानुबन्धी कहा जाता है। अथवा जिन क्रोध, मान, माया और लोभ के साथ जीव अनन्तभवों में भ्रमण करता है, उन्हें अनन्तानुबन्धी कहा जाता है। यह आत्मा के स्व-संवेदन तथा स्वानुभूति में बाधक बनता है। इसी अपेक्षा से यह सम्यक्त्व का घातक है, मिथ्यात्व का परिपोषक है। क्योंकि निज चैतन्य तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सजीव-निर्जीव परपदार्थों (परभावों) तथा विभावों में अहंत्व-ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व या प्रियत्व-अप्रियत्व भावों की दृढ़ ग्रन्थि ही मिथ्यात्व का रूप है। जब तक श्रद्धा-प्रतीति-रुचि या दृष्टि मिथ्या है, तब तक उसके साथ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होगा। इसीलिए इसका एक लक्षण यह भी किया गया–जो जीव के सम्यक्त्व गुण का घात करता है, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। इस कषाय के उदय के कारण सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता, पहले उत्पन्न हुआ हो तो भी उसका पतन (नाश) हो जाता है।[1] अनन्तानुबन्धी वर्ग के चारों कषाय अत्यन्त गाढ़ होते हैं और जीव के साथ गहरे प्रविष्ट हो जाते हैं, ये परभाव में क्षात रमण कराने वाले होते हैं, स्वभाव में रमण नहीं होने देते। इसीलिए सम्यक्त्व प्रकट होने में पहली शर्त रखी गई है, दर्शनमोहनीय की त्रिपुटी, और अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्त्व का सूर्योदय हो सकता है, उससे पूर्व तक मिथ्यात्व का घोर घनान्धकार होता है। इन चारों अनन्तानुबन्धी कषायों में कोई एक कषाय विद्यमान रहता है, तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति हर्गिज नहीं होती। अनन्तानुबन्धी कषाय यावज्जीवन तक छूटता नहीं है। बल्कि जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है।

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) पृ. ३७०
(ख) कर्मप्रकृति से पृ. ३१
(ग) जैनदृष्टिए कर्म से पृ. १२२
(घ) तथाऽप्यवश्य-अनन्तसंसार-मौलकारण मिथ्यात्वोदयाक्षेपकत्वादेषामे यानन्तानुबन्धित्व-व्यपदेशः। –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका २७
(ङ) अनन्तसंसार-कारणत्वात् अनन्तमिथ्यात्वं अनन्तभव-संस्कारकाले वा अनुबध्नन्ति संघटयन्तीत्यनन्तानुबन्धितम्। न इति निरुक्ति सामर्थ्यात्। –गोम्मटसार (जी.) २८३
(च) अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शन नोत्पद्यते, पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। –तत्त्वार्थसूत्र ८/१० भाष्य

जैसे सोमल ब्राह्मण के जीव के साथ गजसुकुमाल के जीव का अनन्तानुबन्धी कषाय ९९ लाख भवों तक चलता रहा। प्रायः ऐसे कषाय आत्मा को नरकगति की ओर घसीट ले जाते हैं।

इस सम्बन्ध में एक शंका उपस्थित होती है कि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषायों का उदयकाल अन्तर्मुहूर्त कहा गया है और स्थिति कही गई है चालीस कोटा-कोटी सागर प्रमाण; ऐसी स्थिति में ये अनन्त भवानुबन्धी या अनन्तकालस्थायी कैसे हुए? इसका समाधान यह है कि इन कषायों के संस्कार अनन्तभव तक बने रहते हैं। ये चारों अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व के भी विरोधी हैं ही, चारित्र के भी विरोधी हैं; क्योंकि इनमें दोनों का ही घात करने की दो प्रकार की शक्ति पाई जाती है। यह बात युक्ति से भी समझी जा सकती है—युक्ति यह है कि दर्शनमोहनीय की त्रिविध प्रकृति के विद्यमान रहते, सम्यक्त्व प्रगट नहीं हो सकता, और चारित्रमोहनीय के अन्तर्गत अनन्तानुबन्धी कषायों के रहते चारित्र भी नहीं आ सकता। यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय चारित्रमोहनीय की प्रकृतियाँ हैं, किन्तु वे चारित्र के साथ सम्यक्त्व की घातक भी इसलिए मानी गई हैं कि मिथ्यात्व के बन्ध, उदय और सत्ता (सत्त्व) के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का अविनाभावी सम्बन्ध है। इसलिए मिथ्यात्व के साथ उदय होने वाला कषाय सम्यक्त्व का घात करता है, और सम्यक्त्व के साथ चारित्र का घात भी अनन्तानुबन्धी के द्वारा हो जाता है।[1]

अनन्तानुबन्धी का रहस्यार्थ

जिनेन्द्रवर्णीजी ने अनन्तानुबन्धी कषाय का रहस्यार्थ इस प्रकार खोला है—"तीव्र कषाय का नाम अनन्तानुबन्धी नहीं है, बल्कि उस सूक्ष्म (तीव्रतम) वासना का नाम है, जो हजार बार समझाने पर भी नष्ट नहीं होती है। इस भाव (वासना) से शून्य सम्यग्दृष्टि में भी कदाचित् तीव्र कषाय देखा जा सकता है, और इस भाव (वासना) से युक्त मिथ्यादृष्टि में कदाचित् मन्दकषाय पाया जाना सम्भव है। कषाय की तीव्रता-मन्दता के भाव को आगम में 'लेश्या' (भी) कहा गया है। अनन्तानुबन्धी आदि (कषायों) के चार (चार) भेद वासनाकाल को दृष्टि में रखकर किये गये हैं। बाहर में कषायरूप कार्य हो या न हो; वासना अंदर में बनी रहती है; कुछ अत्यन्त दृढ़ होती है और कुछ अल्पकाल-स्थायी। ऐसी दृढ़ वासना, जो अनन्तकाल में भी न टूट पावे, (वह) अनन्तानुबन्धी कहलाती है। यही कारण है कि एक बार उत्पन्न हुई भोगासक्ति

---

१. (क) अनन्तान्यनुबन्धीनि ततोऽजस्राणि भूतये।
ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्या क्रोधादेषु निर्जिताः॥
(ख) जैन सिद्धान्त से पृ. १०२
(ग) कर्मप्रकृति से
(घ) सत्यं तत्राविनाभावि-बन्धं सत्त्वोदयं प्रति।
द्वयोरन्यतरस्यात्तो विवक्षायां न दूषणम्। —पंचाध्यायी (उत्त.) १/४७
(ङ) मिथ्यात्वेन सहोदीयमानाः कषायाः सम्यक्त्वं घ्नन्ति। अनन्तानुबन्धिता च सम्यक्त्व-संयमौ।

या क्रोधादि कषाय (वासना) मिथ्यादृष्टि की भव-भवान्तरों तक बनी रहती है। भोगादि का त्याग कर देने पर भी उसकी वासना का त्याग नहीं हो पाता। इसकी निमित्तभूता कर्म-प्रकृति अनन्तानुबन्धी है।"[1]

अप्रत्याख्यानावरण कषाय–जिस कषाय के उदय से देशविरति–आंशिक त्यागरूप अल्प-प्रत्याख्यान भी न हो सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। अर्थात्–जिसके उदय से जीव संयम (देशविरति चारित्र) को स्वल्प मात्रा में भी करने के लिए उत्साहित नहीं होता। अर्थात् श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती, वह अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय कहलाता है। यह कषाय जीव को पापों से किंचित् भी विरत नहीं होने देता। इस कषाय की अवधि अधिक से अधिक एक वर्ष की है। यदि एक वर्ष से अधिक रह जाए तो अनन्तानुबन्धी में परिणत हो जाता है। अविरति के जाने के पश्चात् त्यागभाव आता है। त्यागभाव आने के पश्चात् यदि अंशतः त्याग किया जाए तो देशविरति गुण स्थान प्राप्त होता है। सर्वविरति साधु के त्याग की अपेक्षा देशविरति श्रावक का त्याग आंशिक होता है। अप्रत्याख्यानी वर्ग का कोई भी कषाय देशविरति गुण को रोक सकता है। इस कषाय के परिणामस्वरूप प्राणी भवान्तर में निर्यञ्चगति में भटक सकता है।[2]

प्रत्याख्यानावरण कषाय–प्रत्याख्यान, संयम, महाव्रत, सर्वविरति चारित्र, ये सब एकार्थक हैं। जिस कषाय के उदय से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात्–श्रमण (साधु) धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इस कषाय के उदय होने पर एकदेश त्यागरूप देशविरति, श्रावकाचार, श्रावकधर्म के पालन करने में तो बाधा नहीं आती, किन्तु सर्वविरति पूर्ण चारित्र रूप श्रमण धर्म या महाव्रतपालन नहीं हो सकता। इसके प्रभाव से जीव साधुव्रतों को अंगीकार नहीं कर सकता। प्रत्याख्यानावरण के चारों कषाय पूर्वोक्त दोनों कषायों के प्रमाण में कम कठोर होते हैं। फिर भी वे संसार के सन्मुख होते हैं। सर्वसंगत्याग को जैनदृष्टि से सर्वविरति कहा जाता है। सांसारिक सम्बन्धों और प्रपंचों से अलग रहने वाले साधुत्व या साधु जीवन को, साधु के सर्वविरति गुण को ये प्रत्याख्यानी कषाय रोकते हैं। सामान्यतया प्रत्याख्यानी कषाय की अधिक से अधिक अवधि ४ मास की

---

१. कर्म-सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णीजी) से साभार उद्धृत, पृ. ६६-६७

२. (क) न वेद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयादतोऽप्रत्याख्यानान्तः।
यदाणि–
स्वल्पमप्युत्सहेयेषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात्।।
अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका १७

(ख) अप्रत्याख्यान-कषायोदयाद् विरतिर्नभवति। –तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ८/१०

(ग) यदुदयाद्देशविरतिं–देश-प्रत्याख्यानकर्मावरणवन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोध-मान-माया-लोभाः। –सर्वार्थसिद्धि ८/९

(घ) जैनदृष्टिए कर्म से पृ. १२३

है। इस कषाय के वशीभूत जीव संसार-परिभ्रमण में मनुष्यगति में जाने योग्य कर्मों को ग्रहण करता है।[1]

संज्वलन-कषाय--जिस कषाय का उदय आत्मा को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न होने दे; अर्थात्--जो कषाय यथाख्यातचारित्र का घात करता है। केवलज्ञान की उत्पत्ति में बाधक बनता है। जो कषाय परीषहों और उपसर्गों के आने पर साधु के चित्त में समाधि और शान्ति नहीं रहने देता और दशविध श्रमणधर्म, महाव्रत, या सर्वविरति चारित्र को प्रभावित करता है; उसके सर्वविरति चारित्र को फीका कर देता है, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। यद्यपि संज्वलन-कषाय सर्वविरतिरूप श्रमणधर्म के पालन में बाधक नहीं है, किन्तु उसमें मलिनता लाकर सर्वोच्च यथाख्यातचारित्र की उत्पत्ति (प्राप्ति) में बाधा पहुँचाता है। इस कारण इसे चारित्र-मोहनीय कर्म की प्रकृति मानने में कोई विरोध नहीं है।

संज्वलन कषाय का अन्तिम प्रकार है। संज्वलन के कषायचतुष्क के उदय होने पर आत्मा थोड़ा-सा उद्दीप्त-उत्तेजित हो जाता है, जरा-सा आवेश में आ जाता है। यह आवेश भी बहुत सादा होता है, थोड़ी-सी झलक दिखाता है, जरा-सा परवश हो जाता है, फिर तुरंत ही स्वभाव में आ जाता है। ये चारों प्रकार के मनोविकार संज्वलनकषाय में ऊपर-ऊपर से असर करते हैं। यह असर भी लम्बे समय तक नहीं चलता, तुरंत उस विकार को भूल जाता है, और आया हुआ क्षणिक विकार भी लुप्त हो जाता है। संज्वलन कषाय की स्थिति अधिक से अधिक १५ दिन की है। इस कषाय के वशीभूत हुआ जीव देवगति में जाने योग्य कर्मों को ग्रहण करता है।[2]

अनन्तानुबन्धी से संज्वलन तक का प्रतिफल

अनन्तानुबन्धी कषाय में जिनेन्द्र वर्णीजी के अनुसार वासना दृढ़ीभूत होकर अनन्तकाल तक टूटती नहीं है। एक बार उत्पन्न हुई भोगासक्ति या क्रोधादि कषायवासना मिथ्यादृष्टि के जन्म-जन्मान्तर तक बनी रहती है। भोगादि का बाह्य त्याग कर दिये जाने पर भी, तथा कषाय मन्द हो जाने पर भी उनकी वासना का त्याग नहीं हो पाता।

---

१. (क) सर्व-सावद्य-विरतिः प्रत्याख्यानमिहोच्यते ।
तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥ --प्रथम कर्मग्रन्थ टीका १७

२. (क) संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति । --तत्त्वार्थ भाष्य ८/१०
(ख) संज्वलनास्ते यथाख्यात-चारित्र-परिणामं कषन्ति । --गोम्मटसार (जी.) २८९
(ग) परीषहोपसर्गनिपाते यतिमप्यमी।
समीषद ज्वलयन्त्येव तेन संज्वलनाः स्मृताः ॥ --प्रथम कर्मग्रन्थ टीका १७
(घ) संजलणम्मि मलपुव्वाइय जहाक्खाद चारित्तपडिबंधयाणं चारित्तावरणत्ता विरोहा।
--धवला ६/१/९-१

इस वासना का क्षय भी एकदम नहीं हो पाता, प्रत्युत क्रमशः होता है। वासनाक्षय का प्रतिफल दो रूपों में प्रकट होता है—(१) वासनाकाल में कमी पड़ जाने पर, (२) कषायों की तीव्रता में कमी पड़ जाने पर। सम्यक्त्व प्रगट हो जाने पर अनन्तानुबन्धी स्वतः टल जाता है, तब वासनाकाल अनन्तकाल से घट कर सिर्फ बारह महीने शेष रह जाता है। इससे अधिक नहीं। दूसरी ओर, यद्यपि भोगों (की वासना) का सर्वथा त्याग नहीं हो पाता, परन्तु अपनी प्रवृत्ति के प्रति आलोचना-निन्दना-गर्हणा-क्षमापना और भावना निरन्तर बनी रहती है। इतनी मात्रा में वैराग्य या चारित्र (नैतिकता-धार्मिकता रूप) उसमें प्रकट हो जाता है। भोगों का त्याग या प्रत्याख्यान (व्यक्तरूप से) किंचित्मात्र भी न हो सकने के कारण सम्यग्दृष्टि के इस चारित्र को 'अप्रत्याख्यान' कहा जाता है। इसकी कारणभूता प्रकृति ईषत् मात्र भी प्रत्याख्यान या त्याग को आवृत किये रखने के कारण अप्रत्याख्यानावरण कहलाती है।

अप्रत्याख्यानावरण के हट जाने पर उस साधक का त्याग-वैराग्य किंचित् मात्रा में व्यक्त होता है और वह आंशिक त्याग को अपना लेता है। परन्तु पूर्ण त्याग नहीं कर पाता। उसकी उक्त वासना का काल घट कर सिर्फ ४ मास का रह जाता है। पूर्ण (सर्वसावद्यविरतिरूप) त्याग को आवृत किये रखने के कारण इसकी निमित्तभूता प्रकृति को प्रत्याख्यानावरण कहा है।

इसका भी अभाव हो जाने पर साधक की वासनाशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। अब उसका वैराग्य इतना वृद्धिंगत हो जाता है कि वह अनगार बनकर साधुत्व का अंगीकार कर लेता है। उसका वासनाकाल अधिक से अधिक सिर्फ १५ दिन का रह जाता है। जघन्य वासनाकाल तो अन्तर्मुहूर्तमात्र रह जता है। जिसके कारण कोई भी कषाय बाहर में प्रगट नहीं हो पाती। भीतर में कदाचित् स्फुटित होती प्रतीत भी होती है तो वह तुरन्त उसे समाहित करके शान्त हो जाता है। यद्यपि बाह्य त्याग तो वह पूर्णरूप से अंगीकार कर लेता है, फिर भी अन्तरंग में अब भी संकल्प-विकल्प जागृत होकर उसकी समता में विघ्न डालते रहते हैं। स्वरूप के इस अन्तरंग ज्वलन में निमित्त होने वाली कर्मप्रकृति संज्वलन कहलाती है। इसके टल जाने पर वासना का पूर्ण क्षय हो जाता है। तब सूक्ष्म संकल्प-विकल्पों का भी अभाव हो जाता है। वासनाकाल निःशेष हो जाता है, यथाख्यात चारित्र की प्राणभूत समता-शमता प्रगट हो जाती है और वह साधक अब वीतराग और भासक सिद्ध हो जाता है।[1]

अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों को पहचानने के लक्षण

अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों के साथ कषाय के मूल भेदों-क्रोध, मान, माया और लोभ को जोड़ने से कषाय-मोहनीय के सोलह भेद हो जाते हैं। उक्त चारों प्रकार को चार-चार कषायों के साथ संक्षेप में कहने के लिए 'चतुष्क' या 'चौकड़ी'

१. जैनसिद्धान्त से, पृ. ६७-६८

शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'चतुष्क' कहने से चारों ही कषायों का ग्रहण हो जाता है, इसे सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

(१) अनन्तानुबन्धी-चतुष्क : उपमा और फलपूर्वक लक्षण—जिन क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणामों से आत्मा को अनन्त संसार का बन्ध होता है, उन्हें अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चतुष्क के परिणामों को बताने के लिए कर्मग्रन्थ आदि में क्रमशः पर्वतभेद, पाषाण-स्तम्भ, वंशमूल-ग्रन्थी एवं कृमिराग (किरमिची रंग) की उपमा दी गई है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत में पड़ी हुई दरार के समान है। जैसे, पर्वत के फटने से पड़ी हुई दरार का जुड़ना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध अथक परिश्रम और अनेक उपाय करने पर भी शान्त नहीं हो पाता। ऐसे कठोर वचन, जिंदगी भर परस्पर वैर, अबोला, हत्या का वैर, इत्यादि किसी भी कारण से उत्पन्न क्रोध ऐसा भयंकर होता है, जो एक जिंदगी में नहीं, अनेक जन्मों तक वैर-परम्परा के रूप में चलता है। जैसे—अग्निशर्मा तापस का गुणसेन राजा के साथ चला।

अनन्तानुबन्धी मान—पाषाण के स्तम्भ (खम्भे) के समान है। अथवा वज्रस्तम्भ के समान है। ऐसा स्तम्भ टूट जाता है, मगर किसी भी तरह नमता नहीं, वैसे ही यह मान भी विगलित नहीं हो पाता। इस प्रकार के अभिमान वाले की अकड़, अहमिन्द्रता, अहंता ऐसी कठोर होती है कि जिंदगीभर तक जरा भी नम्रता नहीं आती, यथापूर्व चालू रहती है।

अनन्तानुबन्धी माया उसी प्रकार वक्र होती है, जैसे बांस के मूल की गांठ। जैसे यह गांठ किसी भी उपाय से सीधी या सरल नहीं हो पाती, वैसे ही इस प्रकार की माया (कपट) जिंदगीभर बनी रहती है, किसी भी उपाय से उसमें सरलता नहीं आती।

अनन्तानुबन्धी लोभ इसे किरमिची रंग की उपमा दी गई है। जैसे किरमिची रंग लग जाने पर हजार बार वस्त्र को धोने पर, चाहे जितना साबुन लगाने पर भी छूटता नहीं, वैसे ही अनन्तानुबन्धी लोभ का परिणाम उपाय करने पर भी नहीं छूटता। अनन्तानुबन्धी लोभ का धारक मनोज्ञ, अभीष्ट वस्तु के प्रति स्वामित्व, ममत्व, लोभ या लालसा जिंदगी भर छोड़ता नहीं।

अनन्तानुबन्धी कषाय एक जन्म तक ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरों तक भी साथ-साथ चलती है। अर्थात्—इनकी वासना संख्यात, असंख्यात और अनन्तभवों तक भी रह सकती है। और इनके सद्भाव में नरकगति के योग्य कर्मों का बन्ध होता है।[1]

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से पृ. २९३
(ख) कर्म प्रकृति से पृ. ३५
(ग) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. १२३ से १२५
(घ) कर्मग्रन्थ प्रथम भाग विवेचन से गा. १७ से २० तक, पृ. ८१ से ८९

(२) अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क : उपमान और फलपूर्वक लक्षण–जिन क्रोध-मानादि परिणामों के उदय से जीव देशविरति (श्रावकाचार) को ग्रहण करने में असमर्थ होता है उसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि कहते हैं। इस प्रकार के क्रोधादि के परिणामों के लिए प्रतीकरूप में क्रमशः पृथ्वीभेद, अस्थि (हड्डी), मेषशृंग और चक्र-मल की उपमा दी गई है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध–सूखे तालाब में पड़ी हुई मिट्टी की दरार पानी के संयोग से पुनः मिट जाती है, वैसे ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध भी अधिक परिश्रम और उपाय से शान्त हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण मान–हड्डी के समान बताया गया है। हड्डी को नमाना हो, या मुड़ी हुई हड्डी को सीधी करनी हो तो लगभग एक वर्ष तक तेल आदि के मर्दन से वह झुक जाती है या सीधी हो जाती है। उसी प्रकार अप्रत्याख्यानी मान का धनी अधिक से अधिक एक वर्ष तक अकड़ा रहता है, आखिर नम जाता है। अप्रत्याख्यानावरण माया–मेंढे के सींग से उपमित की गई है। जैसे मेंढे के सींग में रही हुई वक्रता कठिन परिश्रम और अनेक उपायों से दूर होती है, वैसे ही अप्रत्याख्यानी माया के परिणाम भी अतिपरिश्रम और उपाय से सरलता में परिणत होते हैं। अप्रत्याख्यानावरण लोभ–गाड़ी के पहिये में लगा हुआ कीचड़ वस्त्र में लग जाए तो अत्यधिक परिश्रम से साफ किया जा सकता है, वैसे ही परिणाम अप्रत्याख्यानी वर्ग के लोभ के होते हैं। जो बड़ी कठिनाई से छूटता है।

इन चारों का वासनाकाल, कालमर्यादा एक वर्ष का है। इनके उदय से तिर्यंचगति का बन्ध होता है। यहाँ अधिक परिश्रम, उपाय और प्रयोग का अभिप्राय–आत्मा द्वारा धर्मचिन्तन, गुरुवन्दन, उपदेशश्रवण आदि शुभ क्रियाएँ हैं। मनुष्यता, कर्तव्यपालन, नैतिकता, शिष्टाचार आदि लाभ भी हैं।

(३) प्रत्याख्यानावरण चतुष्क : उपमान और फलपूर्वक लक्षण–प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मानादि के परिणामों के उदय से जीव सर्वविरति चारित्र ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। इसीलिए इनकी प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि संज्ञाएँ हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि परिणामों को क्रमशः धूलि-रेखा, सूखी लकड़ी, गोमूत्र-रेखा और काजल के रंग (अथवा खंजन–गाड़ी के पहिये की कीट, सकोरे पर लगी चिकनाई) के सदृश बताया गया है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध–जैसे धूल पर खींची हुई लकीर हवा आदि के द्वारा कुछ ही समय में मिट जाती है, वैसे ही प्रत्याख्यानावरण क्रोध भी कुछ उपायों से शान्त हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण मान–जैसे–सूखी लकड़ी तेल-पानी आदि के प्रयोग से नरम हो जाती है, मोड़ी जा सकती है, वैसे ही प्रत्याख्यानावरण मान आत्मा के अल्प प्रयास से समाप्त और नम्र हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण-माया–जैसे चलते हुए बैल के मूत्र से पड़ने वाली टेढ़ी-मेढ़ी रेखा हवा आदि से सूख जाने पर मिट जाती है, वैसे ही इस परिणाम वाले की माया (वक्रता) भी अल्प प्रयास से सरलता में परिवर्तित हो जाती

है। प्रत्याख्यानावरण-लोभ–जैसे–काजल का रंग, सकोरे पर लगी हुई चिकनाई, अथवा गाड़ी के पहिये का कीट थोड़े से प्रयास से छूट जाता है, वैसे ही प्रत्याख्यानावरण लोभ के परिणाम भी कुछ प्रयत्न से छूट सकते हैं। प्रत्याख्यानवरण क्रोधादि कषायों की काल-मर्यादा चार माह की बताई गई है। इसके उदय से जीव मनुष्यगति के योग्य कर्मों का बन्ध करता है।

(४) संज्वलन-कषाय चतुष्क : उपमान और फलपूर्वक लक्षण–जो क्रोधादि परिणाम जीव को यथाख्यात-चारित्र प्राप्त नहीं होने दें, उन्हें संज्वलन क्रोध आदि कहते हैं। इनके परिणाम क्रमशः जलरेखा, वेत्र-लता, बांस के छिलके तथा हल्दी के रंग के समान बताये गए हैं।[1]

संज्वलन क्रोध–पानी में खींची हुई लकीर के समान जो क्रोध अनायास ही शान्त हो जाता है। यह क्रोध अत्यन्त सामान्य होता है, स्फुरित होते ही तुरन्त शान्त हो जाता है। संज्वलन मान–जैसे–वेंत की लता अथवा खली, घास का तिनका अपने आप ही मुड़ते ही सीधा हो जाता है अथवा नम जाता है, वैसे ही संज्वलन मान आते ही क्षणमात्र में अपना आग्रह छोड़कर स्वयमेव नम जाता है, विनम्रता में परिणत हो जाता है। संज्वलन माया–अवलेखिका यानी बांस के छिलके में रहने वाली वक्रता/टेढ़ापन अनायास ही सीधा हो जाता है, वैसे ही संज्वलन–माया के परिणाम आसानी से दूर हो जाते हैं। संज्वलन लोभ–सहज ही छूट जाने वाले हल्दी के रंग के समान संज्वलन-लोभ के परिणाम स्वतः मिट जाते हैं। संज्वलन कषाय की कालमर्यादा (उत्कृष्टतः) एक पक्ष की है। संज्वलन कषायों की अवस्थिति में जीव के देवगति-योग्य कर्मों का बन्ध होता है।[2]

इससे पूर्व अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि कषायों की काल-मर्यादा का जो कथन किया गया है, वह व्यवहारनय की अपेक्षा से समझना चाहिए; क्योंकि बाहुबलि मुनि आदि के संज्वलन कषाय एक वर्ष तक रहे और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय एक अन्तर्मुहूर्त तक के लिए ही रहा था। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय रहते हुए भी कुछ मिथ्यादृष्टियों को नव-ग्रैवेयक तक में उत्पन्न होने का वर्णन मिलता है। तत्त्वं केवलिगम्यम्।[3]

पूर्वोक्त सोलह ही कषायों का विहंगावलोकन करने से इस प्रकार का रेखाचित्र निष्पन्न होता है–

१. तीव्रतम क्रोध–अनन्तानुबन्धी, पर्वत की दरार के समान,–स्थिरतम।
२. तीव्रतम क्रोध–अप्रत्याख्यानी; तालाब की मिट्टी में पड़ी दरार के सदृश–स्थिरतर।

---

१. वे ही, पूर्वोक्त ग्रन्थ।
२. वे ही पूर्वोक्त ग्रन्थ।
३. कर्मप्रकृति से, पृ. ३८

३. तीव्र क्रोध–प्रत्याख्यानी, धूल पर खींची रेखा के समान–स्थिर।
४. मन्द क्रोध संज्वलन–जल में खींची रेखा के समान–अस्थिर-तात्कालिक।
५. तीव्रतम मान–अनन्तानुबन्धी–पत्थर के खंभे के समान- दृढ़तम।
६. तीव्रतर मान–अप्रत्याख्यानी–हड्डी के खंभे के समान–दृढ़तर।
७. तीव्र मान–प्रत्याख्यानी–काष्ठ के खंभे के समान–दृढ़।
८. मन्द मान–संज्वलन–लता के समान–लचीला।
९. तीव्रतम माया–अनन्तानुबन्धी–बांस की गड़ (गांठ) के समान–वक्रतम।
१०. तीव्रतर माया–अप्रत्याख्यानी–मेंढे के सींग के समान–वक्रतर।
११. तीव्र माया–प्रत्याख्यानी–चलते बैल की मूत्रधारा के समान–वक्र।
१२. मंद माया–संज्वलन–छिलते बांस की छाल के समान–स्वल्पवक्र।
१३. तीव्रतम लोभ–अनन्तानुबन्धी–किरमिची रंग के समान–गाढ़तम रंग।
१४. तीव्रतर लोभ–अप्रत्याख्यानी–कीचड़ के समान–गाढ़तर रंग।
१५. तीव्र लोभ–प्रत्याख्यानी–खंजन के समान–गाढ़ रंग।
१६. मन्द लोभ–संज्वलन–हल्दी के रंग के समान–तत्काल उड़ने वाला रंग।[1]

अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की शुभाशुभ वर्ण प्रकृतियों से होने वाला रसबन्ध

अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव से अशुभ अध्यवसाय के कारण जब कर्म-पुद्गलों का बन्ध होता है, तो वह अत्यन्त तीव्र अर्थात्–चतुःस्थानिक तिक्त या कष्टदायक फलप्रदायक रसयुक्त होकर बद्ध होता है। परन्तु जो पुद्गल शुभ–प्रकृति लेकर बद्ध होते हैं, वे मधुरतर, अर्थात्–द्विस्थानिक सुखदायक फल प्रदानकारी रस लेकर होते हैं। अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय से कर्मबन्ध के समय अशुभ-प्रकृति-विशिष्ट कर्म तीव्रतम या त्रिस्थानिक तिक्त या कष्टदायक फलप्रदानकारी रस लेकर बद्ध होता है, एवं शुभ प्रकृति-विशिष्ट कर्म तीव्रतम या त्रिस्थानिक मधुर यानी सुखदायक फल-प्रदानकारी रस लेकर बद्ध होता है। प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदयकाल में कर्मबन्ध के समय अशुभ-प्रकृतिविशिष्ट कर्म तीव्रतर या द्विस्थानिक कष्टदायक-फलप्रदानकारी रसबन्ध होता है। तथा शुभ-प्रकृति-विशिष्ट कर्म अत्यन्त तीव्र या चतुःस्थानिक सुखदायक फलप्रदानकारी रस लेकर बद्ध होते हैं। संज्वलन-कषाय के उदय से अशुभ प्रकृति विशिष्ट कर्म तीव्र या एकस्थानिक कष्टदायक फलप्रदानकारी रस लेकर, तथा शुभप्रकृतिविशिष्ट कर्म अत्यन्त तीव्र या चतुःस्थानिक सुखदायक फलप्रदानकारी रस लेकर बद्ध होता है।[2]

---

१. जैनयोग से पृ. ३३
२. जैन धर्म और दर्शन से पृ. १०९

नोकषाय-वेदनीय : प्रकृतियाँ, लक्षण, स्वभाव और कार्य

यह चारित्र-मोहनीय का दूसरा प्रकार है। इसे नोकषाय-वेदनीय अथवा नोकषाय-मोहनीय भी कहते हैं। 'नो' का अर्थ ईषत्, अल्प अथवा सहायक है। अतः नोकषाय का अर्थ हुआ—अल्प अथवा छोटे कषाय अथवा सहायक कषाय। वस्तुतः नो-कषाय प्रधान कषायों के साथ उत्पन्न होते हैं, और उन्हें उत्तेजित भी करते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान में इन्हें मूलप्रवृत्ति (इन्सटिंक्ट्स—Instincts) कहा है। कर्मग्रन्थ के अनुसार—जो कषाय तो न हों, किन्तु कषाय के सहवर्ती हों, कषाय के उदय के साथ जिनका उदय होता हो, कषायों को उत्पन्न करने में, तथा उद्दीपन करने में जो सहायक हों, उन्हें 'नोकषाय' कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव हास्यादि नोकषाय का वेदन करता है, उसे नोकषाय-वेदनीय कहते हैं।

नोकषाय वेदनीय के भेद—नोकषाय के ९ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद और (९) नपुंसकवेद। उत्तराध्ययन सूत्र में नोकषाय को 'सप्तविध' या 'नवविध' कहा गया है, वह अभेद (तीनों वेदों का एक में समावेश होने की) विवक्षा से सात और भेदविवक्षा (तीनों वेदों को अलग-अलग मानने से) नौ भेद समझने चाहिए। साधारणतया शास्त्रों में नोकषाय के नौ भेद की प्रसिद्धि है।[1]

नौ भेदों के लक्षण—(१) हास्य—जिस कर्म के उदय से सकारण (भांड, विदूषक आदि की चेष्टाएँ देखकर या अकारण (मानसिक विचार, तथा किसी का मजाक उड़ाने, मश्करी करने या ठहाका मार कर हंसने की नीयत से) हंसी आए उसे हास्य-मोहनीय कर्म कहते हैं। अथवा हास्योत्पादक कर्म हास्यमोहनीय कहलाता है।

(२-३) रति, अरति—जिस कर्म के उदय से सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति सकारण या अकारण रागभाव, प्रीति, आसक्ति, रुचि या रति भावना का प्रादुर्भाव हो, उसे रति और इसके विपरीत किन्हीं सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति सकारण या अकारण द्वेषभाव, घृणा, अप्रीति, अरुचि, नफरत, अरति आदि भावों का प्रादुर्भाव हो, उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं। अथवा सांसारिकता की ओर अभिरुचि और संयम के प्रति अरुचि भी रति-अरति है।

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र ८/१० विवेचन (उपाध्याय केवलमुनिजी) से पृ. ३७२
   (ख) स्थानांग स्थान ९/५००
   (ग) प्रज्ञापना २३/२
   (घ) कर्मप्रकृति ६२
   (ङ) कषाय-सहवर्तित्वात् कषाय-प्रेरणादपि।
   हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषाय-कषायता॥ —प्रथम कर्मग्रन्थ टीका १७
   (च) जस्स कम्मस्स उदएण जीवो णोकसाए वेदयादे तं णोकसाय-वेदणीयं णाम। —धवला १३/५

(४) शोक–सकारण या अकारण ही जिस कर्म के उदय से शोक, चिन्ता, तनाव तथा इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग के कारण होने वाला मानसिक क्लेश हो, उसे शोक मोहनीय कर्म कहते हैं।

(५) भय–जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण ही सात भयों में से किसी प्रकार भय, डर, उद्वेग उत्पन्न हो, उसे भयमोहनीय कर्म कहते हैं। भय सात कारणों से होता है–(१) इहलोकभय (अपनी जाति के प्राणी से भय), (२) परलोकभय (अन्य जाति के प्राणी से भय), (३) आदान (अत्राण) भय (धनादि की रक्षा के लिए चोर, डाकू, आदि से डरना), (४) अकस्मात् भय (एक्सीडेंट आदि होने से या बिना कारण के डरना), (५) आजीविका भय (अपनी जीविका चली जाने का डर, अथवा वेदनाभय-रोगादि की पीड़ा से भयभीत होना), (६) अपयशभय (अपकीर्ति, निन्दा, बदनामी से डरना), तथा (७) मरणभय (मृत्यु का डर, मरने से डरना)।

(६) जुगुप्सा–जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण बीभत्स, अंगविकलतादि या घृणाजनक सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति ग्लानि, घृणा, नफरत, द्वेष, ईर्ष्यादि भाव उत्पन्न हों, उसे जुगुप्सा-मोहनीय कर्म कहते हैं।

(७, ८, ९) स्त्री-पुं-नपुंसकवेद–जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण की इच्छा हो, उसे स्त्रीवेद, पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे पुरुषवेद, तथा स्त्री-पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे नपुंसकवेद कहते हैं। तीनों वेद दो-दो प्रकार के होते हैं। द्रव्यवेद और भाववेद। प्रकट बाह्य चिह्न विशेष को द्रव्यवेद तथा तदनुरूप अभिलाषा को भाववेद कहते हैं। द्रव्यवेद तो नामकर्मजन्य पौद्गलिक आकृतिविशेष है, जबकि भाववेद एक प्रकार का मनोजनित कामविकार है, जो मोहनीय कर्म के उदय का फल है। भाववेद कषायविशेष होने से परिवर्तित भी हो सकता है।[1]

चारित्रमोहनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ सर्वघाती, कितनी देशघाती ?

इस प्रकार चारित्रमोहनीय कर्म की १६ कषाय और ९ नोकषाय, यों कुल २५ प्रकृतियाँ हुईं। चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोधादि सोलह कषायों तथा नोकषाय मोहनीय के नौ भेदों में से संज्वलन-कषाय-चतुष्क और नौ नोकषाय के अतिरिक्त शेष बारह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। संज्वलनकषायचतुष्क और नौ नोकषाय ये १३ प्रकृतियाँ देशघाती हैं।[2]

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. ३७२-३७३
(ख) कर्मप्रकृति से भावांशग्रहण, पृ. ३९-४३
(ग) सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता तं.–इहलोक भए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, वेयणभए, असिलोगभए, मरणभए। –स्थानांग स्था. ७/५४९
(घ) समवायांग, ७ समवाय

२. कर्मग्रन्थ प्रथम, विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से, पृ. ९३

मोहनीय कर्मबन्ध के कारण

यद्यपि मोहनीय कर्म के बन्ध-हेतुओं का अंगुलिनिर्देश हमने 'मूल कर्मप्रकृतियों के स्वभाव, स्वरूप एवं कारण' शीर्षक लेख में किया है। इसलिए यहाँ उसका पिष्ट-पेषण नहीं करना चाहते। यहाँ तो मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियों की अपेक्षा से दर्शन-मोहनीय तथा चारित्र-मोहनीय कर्म के जो पृथक्-पृथक् बन्धहेतु बताए गए हैं, उनकी चर्चा करना अभीष्ट है। स्थानांग सूत्र में दुर्लभबोधिकर्म का उपार्जन करने के जो पांच कारण बताये गए हैं, वे ही वास्तव में दर्शन-मोहनीय (दुर्लभबोधि) कर्म के बन्ध के कारण हैं। वहाँ कहा गया है–पांच स्थानों (कारणों) से जीव दुर्लभबोधि (दर्शनमोहनीय) कर्म का उपार्जन (बन्ध) करता है। जैसे कि–(१) अर्हन्त का अवर्णवाद करने से, (२) अर्हन्त-प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद (निन्दा) करने से, (३) आचार्य-उपाध्याय का अवर्णवाद करने से, (४) चतुर्विध (धर्म) (श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकारूप) संघ का अवर्णवाद करने से तथा (५) परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य के धारक, जो जीव देव हुए हैं, उनका अवर्णवाद (उनमें जो दोष नहीं हैं, वे दोष बताकर निन्दा) करने से।

इसी तथ्य का समर्थन करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है–(१) केवली (केवलज्ञानी अर्हत् सर्वज्ञ), (२) श्रुत (सर्वज्ञकथित शास्त्र) (३) संघ (चतुर्विध धर्मसंघ), (४) धर्म (अहिंसा-सत्यादिमय) और (५) देव (पूर्वोक्त देव अथवा धर्मदेव-आचार्य-उपाध्याय-साधु) का अवर्णवाद बोलना दर्शनमोहनीय के आस्रव (उत्तरक्षण में बन्ध) के कारण हैं। इन पांचों का अवर्णवाद कैसे-कैसे होता है? यह विचारणीय है। (१) केवली (अवर्णवाद)–पूर्णज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग आप्त आत्माओं के प्रति भ्रामक प्रचार करना। यथा–कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता, इत्यादि। (२) श्रुत–केवली (सर्वज्ञ) भगवान् द्वारा कथित अंग आदि श्रुत, गणिपिटक आदि की निन्दा करना। यह सब भगवान् की वाणी नहीं है। उनकी निन्दा-आलोचना करना। (३) संघ–चतुर्विध संघ पर व्यर्थ के आक्षेप, दोषारोपण, निन्दा आदि करना. (४) धर्म–अहिंसादिमय धर्म को कायरों का धर्म बताना। सद्धर्म की निन्दा करना। (५) देव–देवों की निन्दा-आशातना करना, सब्बे देवों को मांस-मदिरा सेवी बताना आदि। निन्दा या अवर्णवाद अपने आप में द्वेषभाव, ईर्ष्या, तेजोद्वेष आदि से प्रायः प्रेरित होता है, इसलिए झूठ का पिटारा है। निन्दा को सूत्रकृतांग सूत्र में 'खिंखिणी' बता कर उसका सख्त निषेध किया है, साधक एवं आत्मार्थी जनों के लिए। निन्दक व्यक्ति दोषदर्शी होता है, वह आत्मा को कलुषित बनाकर दर्शनमोहनीय कर्म बांध लेता है, जिससे भविष्य में उसे सत्य-सम्यक्बोधि की प्राप्ति नहीं होती। उत्तराध्ययन में कहा गया है–'बोही होई सुदुल्लहा तेसिं'–ऐसे व्यक्तियों को बोधिप्राप्ति बहुत ही दुर्लभ होती है।[1]

---

१. (क) पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभ-बोहियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं.–अरिहंताणं अवण्णं वदमाणे, अरहंत-पन्नत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे, आयरिय-उवज्झायाणं अवण्णं वदमाणे, चउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे, विवक्क-तव-बंभचेराणं देवाणं अवण्णं वदमाणे। –स्थानांग ५/३/४५६

कर्मग्रन्थ में दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध के जो ६ कारण बताए हैं, उनमें एक दो को छोड़कर शेष कारण तत्त्वार्थसूत्र और स्थानांग में प्रतिपादित कारणों से मिलते जुलते हैं। वे इस प्रकार हैं–(१) उन्मार्ग-देशना–(संसार के कारणों तथा सांसारिक कार्यों का मोक्ष के कारणों, कर्ममुक्ति के कारणों के रूप में उपदेश देना। (२) सन्मार्ग का अपलाप (लोप) करना (संसारनिवृत्ति और मुक्तिप्राप्ति के मार्ग का अपलाप करना कि न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, जो कुछ सुख है, इसी जीवन में है, खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ आदि), (३) देवद्रव्य-हरण–(इसके दो अर्थ हैं–लौकिक दृष्टि से-देवों–धर्मदेवों–अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी आदि के नाम से स्थापित संस्थाओं–धर्मस्थान, उपाश्रय, मन्दिर, ज्ञानशाला, विद्यापीठ, सिद्धान्तशाला आदि के लिए अर्पित द्रव्य को हड़प जाना, उसमें गबन करना, भ्रष्टाचार करना, अपने उपयोग में लेना, उसकी व्यवस्था करने में गड़बड़ करना, प्रमाद करना, दूसरा दुरुपयोग करता हो तो चुप्पी साधना आदि देवद्रव्यहरण के प्रकार हैं। लोकोत्तर दृष्टि से–देव–परमात्मा या ज्ञानादि गुणयुक्त शुद्ध आत्मा देव है, आत्मा को अपने पूर्व पुण्य से, तथा वीतराग जिनेन्द्रदेव से जो द्रव्य–ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति और आनन्दरूपी आध्यात्मिक धन मिला है, उसको व्यर्थ ही नष्ट करना, उसका दुरुपयोग करना, उस आध्यात्मिक धन को प्रमाद, कषाय, निन्दा-विकथा, अज्ञानता आदि में लुटा देना, उस द्रव्य का हरण करना–उड़ाना है।) (४-५-६-७) जिनेन्द्र, मुनिवर्ग, एवं चैत्य (ज्ञानदर्शन सम्पन्न तपस्वी आदि लौकिक दृष्टि से) की तथा चतुर्विध संघ की निन्दा करना, उनके प्रतिकूल बनकर उनका विरोध करना ये ७ दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध के कारण हैं।[1]

चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध के कारण

चारित्रमोहनीय के मुख्य दो भेद हैं–कषाय-मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। क्रोधादि कषायों और हास्यादि नौ नोकषायों तथा विषयों में आसक्त जीव दोनों प्रकार के चारित्रमोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं। यह सामुच्चय में चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार–कषायों (तथा उपलक्षण से नोकषायों) के उदय से होने वाले आत्मा के तीव्र परिणाम अर्थात्–कषायों के वशीभूत होकर आत्मा जब एकदम उद्वेलित हो जाता है, तब आत्मा के तीव्र कलुषित (उत्कट) भाव चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रवद्वार (बन्धहेतु) हो जाते हैं। पृथक्-पृथक् कषायों के बन्ध के बारे में इस प्रकार समझना चाहिए–'अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के

(ख) केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । –तत्त्वार्थसूत्र ६/१४

(ग) तत्त्वार्थ–विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से पृ. २७६

(घ) सर्वार्थसिद्धि ६/१४

१. (क) उम्मग्गदेसणा-मग्गनासणा, देव-दव्व-हरणेहिं ।
दंसणमोहं जिण-मुणि-चेइय-संघाइ-पडिणीओ ॥ –कर्मग्रन्थ प्रथम ५६

(ख) कर्मग्रन्थ प्रथम गा. ५६, विवेचन (मरुधरकेसरी) से पृ. १६० से १६२

उदय से व्याकुल मन वाला जीव अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायों के १६ भेदों का बन्ध करता है। अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधादिचतुष्क के उदय से पराधीन हुआ जीव अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि १२ कषायों को बांधता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के उदय से ग्रस्त जीव प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन क्रोधादि ८ कषायों का बंध करता है। संज्वलन क्रोधादि युक्त जीव सिर्फ संज्वलन क्रोधादि चार कषायों का बन्ध करता है।[1]

कषायमोहनीय कर्मबन्ध के विषय में आवश्यक सूचना

यहाँ यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का एक साथ उदय नहीं होता, अपितु चारों में से किसी एक का उदय होता है। साथ ही अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के कषायों में से जिस प्रकार के कषाय का उदय होगा, उस सहित आगे के प्रकार भी साथ में रहेंगे, किन्तु उससे पूर्व का कषाय नहीं रहेगा। जैसे-अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने पर अप्रत्याख्यानावरण सहित आगे के दोनों प्रकार के कषायों (प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन) का भी उदय रहेगा। किन्तु अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का उदय नहीं रहेगा।[2]

नौ नोकषाय-मोहनीय कर्मबन्ध के कारण

हास्यादि नोकषायों से व्याकुल जीव हास्यादि ६ नोकषायों का पृथक्-पृथक् इन कारणों से कर्मबन्ध करता है-(१) हास्य-त्यागी या सत्यव्रतियों या तपस्वियों का उपहास करना, दीन, निर्धन या अंगविकल, अभावपीड़ित का मजाक उड़ाना, अथवा दूसरों की हंसी उड़ाने, दूसरों को हंसाने के लिए भाण्ड, विदूषक आदि जैसी चेष्टाएं करने से हास्यमोहनीय कर्म का बन्ध करता है। (२) रति-विविध प्रकार की क्रीड़ाओं में, चित्रविचित्र दृश्यों को देखने में रस लेने, कामभोगों में तीव्र रुचि रखने, असंयम एवं पाप के कार्यों में दिलचस्पी लेने तथा नीति-धर्मयुक्त विचारों एवं कार्यों में अरुचि-अप्रीति रखने आदि कारणों से रतिमोहनीय कर्मबन्ध होता है। (३) अरति-ईर्ष्यालु, पापी, दूसरों को उद्विग्न, भयभीत एवं दुःखी करने वाला तथा बुरे कर्मों एवं दुष्कृत्यों के लिए दूसरों को उकसाने वाला तथा संयम में अरुचि और असंयम में तीव्र रुचि भाव करने वाला जीव अरतिमोहनीय कर्मबन्ध करता है। (४) शोक-स्वयं शोक-संतप्त रहना। दूसरों को भी शोक उपजाना आदि कार्यों से शोकमोहनीय कर्म का बन्ध होता है। (५) भय-स्वयं भयभीत रहने तथा दूसरों को विविध कारणों से भयभीत करने से भयमोहनीय कर्म का बन्ध होता है। भय के मुख्य कारण ये हैं- १.

---

१. (क) दुविहंपि चरणमोहं कसाय-हासाइं विसय-विवसमणो । बंधइ ..... । -वही, गा. ५६
(ख) कर्मग्रन्थ प्रथम गा. ५६ विवेचन (गुरुधरकेसरी) से पृ. १६३

२. कर्मग्रन्थ प्रथम विवेचन (गुरुधरकेसरी) से, पृ. १६४

स्वयं की तथा अन्य की शक्तिहीनता, २. भयभीत करने वाले भयानक दृश्य देखना-दिखाना, ३. भयजनक बातें सुनना-सुनाना, ४. मन में शंका-कुशंका करके सप्तविध भयों को बार-बार याद करके स्वयं को तथा दूसरों को भयभीत रखना, भय उत्पन्न करना-कराना। (६) जुगुप्सा—चतुर्विध संघ की, साधु-साध्वियों, धर्मात्माओं, धर्म तथा सदाचार आदि की निन्दा करना, उनसे घृणा करना, उनकी बदनामी करके उनके प्रति लोगों में घृणाभाव फैलाना आदि जुगुप्सा-मोहनीय कर्मबन्ध के कारण हैं। **तीन प्रकार के वेदों के बन्ध के कारण**—ईर्ष्यालु, विषयों में अत्यासक्त, अतिकुटिल, स्त्रीलम्पट, कपटाचरण तथा परच्छिद्रान्वेषण करने वाला जीव स्त्रीवेद को बांधता है। स्वदारसन्तोषी, मन्दकषायी, सरल, शीलव्रती जीव पुरुषवेद का बन्ध करता है। तीव्र विषयाभिलाषी, नैतिकता की मर्यादा को भंग करने वाला तथा स्त्री एवं पुरुष दोनों की काम-वासना भड़काने वाली शारीरिक-वाचिक एवं मानसिक चेष्टा करने वाला जीव नपुंसक वेद का बंध करता है।[1]

इस प्रकार चारित्रमोहनीय की २५ प्रकृतियों के बन्ध के कारणों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। आत्मार्थी मुमुक्षुओं को इन कर्मबन्ध के कारणों से बचने का सावधानीपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। महामोहनीय कर्मबन्ध के ३० कारणों की चर्चा हम 'मूल कर्म-प्रकृतियों के स्वभाव, स्वरूप और कारण' लेख में कर चुके हैं।

मोहनीय कर्म के अनुभाव (फलभोग) कैसे-कैसे होते हैं ?

मोहनीय कर्म सभी कर्मों में प्रबलतम और भयंकर है, इसका बन्ध किन-किन कारणों से होता है? इस विषय में जो लोग असावधान रहते हैं, उनको उस-उस मोहनीय कर्म का बन्ध होता रहता है। बन्ध के बाद जब बद्ध कर्म उदय में आते हैं, उस-उस कर्म का फल भुगवाते हैं, उसे ही अनुभाव कहते हैं। मोहनीय कर्म का अनुभाव (फलभुगतान) पांच प्रकार का होता है—(१) सम्यक्त्व मोहनीय का फलभोग—सम्यक्त्व प्राप्त न होना, (२) मिथ्यात्व-मोहनीय का फलभोग—तत्त्वों का अयथार्थ (विपरीत) श्रद्धान होना, (३) सम्यग्-मिथ्यात्व-मोहनीय का अनुभाव—तात्त्विक श्रद्धान का डांवाडोल होना, (४) कषाय-मोहनीय का अनुभाव—क्रोध आदि कषायों का उत्पन्न होना और (५) नो-कषाय-मोहनीय का अनुभाव—हास्यादि (जैसा जिसने जो कर्म बांधा है, तदनुसार) नोकषायों का उत्पन्न होना।[2]

स्पष्टरूप से मोहनीय कर्म की २८ उत्तरप्रकृतियों का फल-भोग-निर्देश

इस निरूपण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म की जो २८ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं, उन २८ प्रकारों से अपने-अपने द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों के उदयानुसार

---

१. (क) वही, पृ. १६४
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से पृ. २७७-२७८
२. (क) ज्ञान का अमृत से पृ. ३०४
   (ख) प्रज्ञापना, २३/२

यह कर्म जीव को अपने अपने फल का भुगतान करवा डालता है, अनुभाव कराता है। जैसे कि—सम्यक्त्व-मोहनीय के उदय से क्षायिक सम्यक्त्व का घात होता है, मिथ्यात्व-मोहनीय के उदय से देव-गुरु-धर्म के प्रति तथा तत्त्वों के प्रति विपरीत श्रद्धान होता है। मिश्र-मोहनीय का उदय जीव के तात्त्विक श्रद्धान को डाँवाडोल कर देता है। कषाय-मोहनीय के उदय से अपने-अपने पूर्वबद्ध कषाय तथा उसकी डिग्री के प्रकार के अनुसार उदय में आने पर अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलनरूप क्रोध, मान, माया या लोभ की उत्पत्ति होती है। पुरुषवेद-मोहनीय, स्त्रीवेद-मोहनीय, नपुंसकवेद मोहनीय के स्व-स्वबद्धानुसार क्रमशः पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद जाग उठता है, कामोत्पत्ति तदनुसार होती रहती है। हास्यमोहनीय के उदय से हास्य का, रति-अरतिमोहनीय के उदय से रति-अरति का, भयमोहनीय के उदय से भय का, शोकमोहनीय के उदय से शोक का, जुगुप्सामोहनीय के उदय से जुगुप्सा का मनोभाव प्रादुर्भाव होता रहता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म जीव को अपनी-अपनी बद्ध-कर्म प्रकृति के अनुसार अपने-अपने फल का भुगतान कराता रहता है।[1]

मोहनीय कर्म पर विजय कैसे प्राप्त हो ?

मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियों के स्वरूप, स्वभाव, कार्य तथा उनके बन्ध के कारणों और बन्धानुसार उदय में आने पर फलभोग को यथार्थ रूप से समझ कर इस प्रबलतम कर्म पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, तथा जिन कारणों से इन प्रकृतियों का आगमन (आस्रव) और बन्ध होता है, उनसे बचने का अर्थात्—नये आते हुए कर्मों को रोकने का और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा (क्षय) करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

●●

---

१. ज्ञान का अमृत से पृ. ३०४-३०५

१९

उत्तर-प्रकृति-बन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण—४

आठ कर्म-प्रकृतियों में चार मूल कर्म-प्रकृतियों से सम्बन्धित उत्तर-कर्म-प्रकृतियों के बन्ध की विवेचना की जा चुकी है। अब शेष चार मूल प्रकृतियों की उत्तर कर्म-प्रकृतियों का विश्लेषण किया जा रहा है।

आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ : प्रकार, स्वरूप और बन्ध कारण

जिसके कारण जीव भव-विशेष में, गति-विशेष में, योनि विशेष में तथा नियत शरीर में नियत कालावधि तक रुका रहे, उसे आयुकर्म कहते हैं। जिस प्रकार कारागृह में कैदी अमुक अवधि तक बंद रहता है, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा को विभिन्न शरीरों, गतियों, योनि-विशेषों में कैद रखता है, वह आयुष्यकर्म है। जीवों के जीवन-अस्तित्व का नियामक आयुकर्म है। इस कर्म का अस्तित्व रहने तक जीव लोक व्यवहार में जीवित और क्षय होने पर मृत कहलाता है। अथवा जिस कर्म के प्रभाव से जीव एक गति, भव, योनि और शरीर को छोड़कर दूसरी गति, भव, योनि और शरीर ग्रहण करता है, पुनर्जन्म के चक्र में भ्रमण करता रहता है, वह आयुकर्म है। आयुष्यकर्म निश्चय करता है कि किस आत्मा को किस शरीर में कितनी अवधि तक रहना है।[1]

आयुष्यकर्म का स्वभाव और कार्य

आयुकर्म का कार्य जीव को सुख या दुःख देना नहीं है, अपितु नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों और योनियों में से किसी एक नियत गति तथा योनि में

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. १०६
(ख) कर्म-प्रकृति से, पृ. ४४
(ग) तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक ६/१४
(घ) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. ३७२

नियत अवधि तक बनाये रखना है।[1] जब बाँधी हुई आयु का भोग कर लिया जाता है, तभी उस शरीर से छुटकारा मिलता है। चाहे कितनी भी दुःख की स्थिति हो, या चाहे जितने सुख के साधन उपलब्ध हों, उन दोनों ही स्थितियों में क्रमशः मरने या जीने की इच्छा की जाए, किन्तु आयुकर्म के अस्तित्व (सत्ता) तक उनको भोगना अनिवार्य है। जैसे कि–नरकों में जीव ज्ञानी भयंकर दारुण वेदनाएँ, पीड़ाएँ और यातनाएँ भोगते हैं कि वे जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझते हैं, किन्तु आयुकर्म के विद्यमान रहते उनकी इच्छा पूरी नहीं होती। देव और मनुष्य, जिन्हें सुख के सभी साधन प्राप्त हैं, जीने की उत्कट आकांक्षा भी रखते हैं, किन्तु बंधे हुए आयुष्यकर्म के शीघ्र पूर्ण होने पर सब कुछ छोड़छाड़ कर परलोक जाना और दूसरा स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है। जिस प्रकार अपराधी की इच्छा होने पर भी अवधि पूर्ण होने से पहले वह नहीं छूटता अथवा सुखी मानव की इच्छा अधिक जीने की होने पर भी उसे आयु की अवधि पूर्ण होते ही उस शरीर से छूट जाना पड़ता है, इसी प्रकार आयुकर्म जीव को नियत अवधि तक शरीर से मुक्त नहीं होने देता।[2] जैसे–दण्ड प्राप्त मानव को हडिबंधन में उतने काल तक रोके रखा जाता है, इसी प्रकार आयुष्यकर्म जीव को नियत अवधि तक उस देह में, या भव में रोके रखता है।[3]

अतः समुच्चय रूप में आयुकर्म का लक्षण हुआ–जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकरूप से जीता है और उसके क्षय होने पर उन-उन रूपों का त्याग करता है, यानी मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं।[4]

आयुष्य बन्ध के छह प्रकार

आगामी भव में उत्पन्न होने के लिए गति और जाति आदि का बाँधना आयुबन्ध कहलाता है। इसके ६ प्रकार होते हैं–(१) जाति–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, ये पाँच जातियाँ हैं। जीव को जिस जाति में पैदा होना होता है, मरने से पहले उसका बन्ध कर लेता है। (२) गति–नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, ये चार गतियाँ हैं। मरने से पहले जीव प्राप्तव्य गति का बन्ध कर लेता है। (३) स्थिति–जिस भव (जन्म) में ठहरने की जितनी कालावधि होती है, उतनी कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं। मृत्यु से पूर्व जीव अपनी स्थिति बाँध लेता है। (४)

---

१. दुक्खं न देइ आउं, न वि सुहं देइ चउसु गईसु।
दुक्ख सुहाणाहारं, धरेइ देहट्ठियं जीयं॥ –ठाणांग २/४/१०५ टीका

२. (क) कर्मप्रकृति से, पृ. ४४-४५
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ८/१०
(ग) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से, पृ. २०६

३. जीवस्स अवट्ठाणं करेदि, आऊ हडिव्व णरं। –गोम्मटसार कर्मकाण्ड ११

४. कर्मग्रन्थ भा. १ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से, पृ. ९४

अवगाहना-शरीर की ऊँचाई-नीचाई को अवगाहना कहते हैं। मरण से पूर्व जीव इसका भी बन्ध कर लेता है। (५) प्रदेश-जिन-जिन आत्मप्रदेशों पर जीव को सुख-दुःख का भोग करना होता है, उसका बन्ध भी मरने से पहले हो जाता है। (६) अनुभाग-अनुभाग का अर्थ है-फलप्रदान का सामर्थ्य। जीव के द्वारा बद्ध कर्म का फल उसे तीव्र भोगना है, या तीव्रतर, तीव्रतम, अथवा मन्द, मन्दतर या मन्दतम; यह सब मरने से पहले जीव बाँध लेता है।[1]

आयुकर्म के मुख्य चार भेद : चार उत्तर प्रकृतियाँ

यद्यपि कर्म के उदयरूप विकल्प असंख्यात लोकमात्र होने से पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन लेने पर तो आयुकर्म की प्रकृतियाँ भी असंख्यात लोकमात्र हैं; किन्तु सरलता से समझने के लिए आयुकर्म के चार भेद हैं, अर्थात्-आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ चार हैं-(१) नरकायु, (२) तिर्यञ्चायु, (३) मनुष्यायु और (४) देवायु। विश्व में जितने भी संसारी जीव हैं, इन्हें नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चार विभागों में बाँटा गया है। समस्त संसारी जीव आयुष्यकर्म से युक्त होते हैं। इसलिए आयुष्यकर्म के भी चार भेद सम्पन्न हो जाते हैं।[2]

नरकादि आयुकर्म चतुष्टय के लक्षण

नरकायुष्यकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक काल तक अमुक नरक में ही रहना पड़े, अर्थात्-जिसके उदय से जीव को तीव्र उष्ण, शीत, वेदना एवं यातना वाले सात नरकों में से किसी एक नरक में-नारकगति में जीवन बिताना पड़े, वह जीव वहाँ से निकल भागने की बहुत इच्छा करता है, परन्तु भाग नहीं पाता। पल-पल मौत की अभिलाषा करता है, परन्तु मौत उससे कोसों दूर भागती है। वहाँ की नियत आयु (कालावधि) पूर्ण होने पर ही वहाँ से छूट सकता है, उसे नरकायु कहते हैं। नरक सात हैं। इनमें अवस्थित जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद होने से नारकों के १४ प्रकार होते हैं। अतः जिस कर्म के उदय से नरक में अमुक स्थिति तक जीवन बिताना पड़ता है, उसे नरकायु कर्म कहते हैं।[3]

---

१. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३११
२. (क) कर्म-प्रकृति से, पृ. ४९
   (ख) सुर-नर-तिरि नरयाऊ। -कर्मग्रन्थ भा. १, गा. २३
   (ग) प्रज्ञापना पद २३, उ. २
   (घ) नेरइय तिरिक्खाउ मणुस्साउ तहेव य।
   देवाउ च चउत्थ तु आउकम्मं चउव्विहं॥ -उत्तराध्ययन ३३/१२
३. (क) रे कर्म तेरी गति न्यारी से, पृ. १३४
   (ख) कर्मप्रकृति से, पृ. ५०
   (ग) कर्मग्रन्थ भा. १ विवेचन (मरुधरकेसरीजी) से, पृ. ९७
   (घ) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३०८

तिर्यञ्चायु कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को तिर्यञ्च (अमनुष्य) योनि में जीवन बिताना पड़े, तिर्यञ्चगति में, तिर्यञ्चयोनि में तथा तिर्यञ्च शरीर में उत्पन्न होकर रहना पड़े, अथवा तिर्यञ्चगति का जीवन बिताना पड़े, उसे तिर्यञ्चायु कर्म कहते हैं। तिर्यञ्चगति में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तो निश्चित ही होते हैं, पंचेन्द्रियजाति में देव, मनुष्य और नारक को छोड़कर शेष तिर्यञ्च- पंचेन्द्रिय होते हैं। अर्थात्–एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जितने-जितने भेद हैं, वे सब तिर्यञ्चयोनि के अन्तर्गत हैं। एकेन्द्रिय जीव २२ प्रकार के होते हैं। यथा–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय, इन चारों के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्तक, यों प्रत्येक के ४-४ भेद होने से ४ × ४ = १६ भेद हुए। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक, इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ३ × २ = ६ भेद होते हैं। यों एकेन्द्रिय के १६ + ६ = २२ भेद हुए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद होने से ३ × २ = ६ भेद हुए। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के मुख्य ५ भेद–जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, ये पाँचों संज्ञी और असंज्ञी होने से १० भेद हुए, फिर इन १० के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, ये दो-दो भेद होने से १० × २ = २० भेद हुए। इस प्रकार तिर्यञ्चों के कुल ४८ भेद होते हैं। तिर्यञ्च जीवों के इन ४८ भेदों में से तिर्यञ्चगति की किसी भी जाति में किसी भी योनि में जन्म लेकर उसकी काल मर्यादा (आयु का काल) क्षय होने तक उसी शरीर में रहना तिर्यञ्चायु कर्म है।

मनुष्यायु कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्यगति में जीवन व्यतीत करना पड़ता है, जिसके उदय से मनुष्यगति में जन्म हो, वह मनुष्यायु कर्म कहलाता है। मनुष्यों के ३०३ प्रकार हैं। जैसे–१५ कर्मभूमिज, ३० अकर्मभूमिज और ५६ अन्त-द्वीपज, ये सब मिलकर १०१ हुए। इनके पर्याप्तक-अपर्याप्तक ये दो दो भेद होने से २०२ भेद हुए। इन २०२ में १०१ अपर्याप्त सम्मूर्छिम मनुष्य मिल जाने से ३०३ भेद मनुष्यजाति के होते हैं। इन ३०३ भेदों में से कर्मानुसार किसी भी मनुष्ययोनि में जन्म प्राप्त कराना, मनुष्यायु कर्म का कार्य है।

देवायुकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक समय तक देवगति में रहना पड़ता है, देवगति में जीवन व्यतीत करना पड़ता है, अथवा जिसके उदय से देवगति में जन्म हो, उसे देवायु कहते हैं। देवभव की निश्चित आयु पूरी होने पर वे चाहकर एक क्षण भी अधिक नहीं रह सकते। देव १९८ प्रकार के होते हैं। जैसे–१० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ व्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिष्क, ३ किल्विषिक, ९ लोकान्तिक, १२ कल्पवासी, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर-वैमानिक, यों सब मिलाकर ९९ भेद हुए। इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो भेद कर लेने पर

देवों के कुल १९८ भेद होते हैं। देवों के इन १९८ प्रकारों में से किसी भी देवयोनि में जन्म प्राप्त कराना देवायुकर्म का कार्य है।[1]

चारों प्रकार के आयुष्यकर्मबन्ध के हेतु

चारों प्रकार के आयुष्यकर्म के बन्ध के आगमों और कर्मग्रन्थ आदि में पृथक-पृथक कारण बतलाये गए हैं।

नरकायुष्यकर्म-बन्ध के कारण

नरकायुष्यकर्म के बन्ध के चार कारण स्थानांग सूत्र में बताये गए हैं–(१) महारम्भ, (२) महापरिग्रह, (३) पंचेन्द्रिय-वध एवं (४) मांसाहार।

तत्त्वार्थसूत्र में नरकायुकर्म के दो मुख्य कारण बताये हैं–(१) अत्यधिक (बहुत) आरम्भ अर्थात् भयंकर तीव्र हिंसाकर्म, (२) अत्यधिक परिग्रह रखने का भाव (वृत्ति) यानी अत्यधिक संचय करने की वृत्ति।[2] दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जो जीव महान् आरम्भ में आसक्त रहता है, वह भी इस जन्म के बाद नरकभव या नरकगति का आयुष्य बांध लेता है। महारम्भ में आसक्त कालसौकरिक (कसाई) मर कर इसी महारम्भ के प्रभाव से सप्तम नरक में गया। इसी प्रकार जो लोग बड़े पैमाने पर अनाप-शनाप भयंकर हिंसक या त्रसजीवों की हिंसा प्रमत्तयोग से क्रूर भावों से करें, मांस-मछली अंडों आदि का एक्सपोर्ट करें या हिंसक वृत्ति रखें तो नरक गति का मेहमान बनना पड़ता है। नरकायु के बंध का दूसरा कारण है–महापरिग्रह। उसका अर्थ है–वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छाभाव व आसक्ति रखना। जैसे–मम्मण सेठ ने सांसारिक परपदार्थों पर अत्यन्त आसक्ति रखी। एक निर्जीव बैल तो उसने हीरों, रत्नों आदि से जड़ित कर लिया था, दूसरा बैल वैसा ही बनाने के लिए वह कठोर श्रम करने लगा था। किन्तु मरने के बाद क्या मिला ? वही सातवीं नरक, जहाँ भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। यहाँ 'बहु' या 'महा' शब्द संख्यावाचक भी है और परिमाणवाचक भी है। अर्थात् आरम्भ (हिंसाजनक क्रियाकलाप) अधिक संख्या में तथा अधिक मात्रा में, तीव्र क्रूर भावों के साथ किया जाए वहाँ महारम्भ या बह्वारम्भ है। ममता-मूर्छाभाव ही परिग्रह है। बाह्य वस्तुओं या अपने शरीर आदि पर भी जो ममत्व-मूर्च्छा-आसक्ति होती है, वह परिग्रह है। परन्तु यहाँ बहु या महा शब्द से

---

१. (क) कर्मप्रकृति से भावांशग्रहण, पृ. ५०
(ख) रे कर्म तेरी गति न्यारी से, पृ. १३४-१३५
(ग) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१०
(घ) कर्मग्रन्थ भा. १, विवेचन (मरुधरकेसरी) से, पृ. ९७

२. (क) चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, तंजहा-महारम्भताते, महा-परिग्गहताते, पंचेंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं। –स्थानांगसूत्र स्थान ४, उ. ४, सू. ३७३
(ख) बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं च नरकस्यायुषः। –तत्त्वार्थसूत्र ६/१६

ममता-मूर्च्छाभाव की तीव्रता सूचित की गई है। विशाल धन-सम्पत्ति होने मात्र से कोई महापरिग्रही या बहु-परिग्रही नहीं हो जाता; आनन्द, कामदेव आदि श्रमणोपासकों के पास १२ क्रोड़ सोनैया आदि की सम्पत्ति थी, किन्तु उस पर उनकी तीव्र ममता-मूर्च्छा नहीं थी। भरत चक्रवर्ती के पास चक्रवर्ती का साम्राज्य तथा विशाल वैभव था, किन्तु वे महापरिग्रही या बहु-परिग्रही नहीं थे, क्योंकि वे उसके प्रति अनासक्त, व निर्लेप रहते थे। इसलिए परिग्रह के प्रति तीव्र आसक्ति तीव्र मूर्च्छा-ममता होने से प्राणी बहु (महा) परिग्रही होता है। नरकायु बन्ध का तीसरा कारण है—मनुष्य, पशु-पक्षी आदि तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय का प्राणातिपातपूर्वक आकुट्टि की बुद्धि से वध करना। जो लोग दहेज लोलुपतावश, देवी-देवों को बलि देने हेतु तथा तस्करी-डकैती करने हेतु तथा शिकार करने या कसाईखाना (कत्लखाना) चलाने हेतु या आतंकवाद से प्रेरित होकर अथवा क्रूरतापूर्वक द्वेषवश मारण, उच्चाटन आदि अनिष्ट मंत्र प्रयोग करना, शाप देना आदि से निर्दोष मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, मछलियों आदि पंचेन्द्रिय प्राणियों का वध करते हैं, वे भी नारकीय जीवन प्राप्त करते हैं। नरकायु कर्मबन्ध का चौथा कारण है—मांसाहार यानी मांस, मछली, अंडों आदि का सेवन करना-कराना। गर्भपात आदि से पंचेन्द्रिय हत्या भी इसका कारण है।[1]

पंचेन्द्रिय हत्या का रौद्र परिणाम भी तृतीय कारण में समाविष्ट हो जाता है। जैसे-कंडरीक ने एक हजार वर्ष तक चारित्र-पालन किया, परन्तु भोगों के प्रति अत्यासक्तिवश उसने साधु जीवन को त्याग कर गृहस्थ जीवन अंगीकार किया। राज्यसत्ता-प्राप्ति के मद में आकर रसलोलुपतावश स्वादिष्ट गरिष्ट पदार्थों का अत्यासक्तिपूर्वक सेवन किया। किन्तु पुण्डरीक नृप की इस प्रकार की अहंकारी, तीव्र रसलोलुपता आदि देखकर राज्याधिकारियों व राज्य-कर्मचारियों ने उनकी सेवा से मुख मोड़ लिया। उनके द्वारा अपनी घोर उपेक्षा देख, कण्डरीक के मन में भयंकर रौद्र परिणाम आया। सत्ता के मद में आकर वह बोला—'यदि मैं कल ठीक हो गया तो एक-एक का मस्तक धड़ से अलग कर दूँगा।' इस प्रकार के तीव्र क्रूर हिंसक परिणामों के कारण मर कर सप्तम नरक का आयुष्यबन्ध करके सातवीं नरक में गया।[2]

तिर्यञ्चायुकर्मबन्ध के कारण—तत्त्वार्थसूत्र में मायाचार को तिर्यञ्चयोनि का आस्रवद्वार तथा उत्तर क्षण में तिर्यञ्चगतिरूप तिर्यञ्चायुकर्म बन्ध का हेतु बताया गया है। अर्थात्—कुटिल परिणाम रखना, छलकपट करना, मन में कुछ और रखना और बाहर में कुछ और दिखाना, ठगी और धोखाधड़ी करना तिर्यञ्चायु कर्मबन्ध का मुख्य कारण है। स्थानांगसूत्र में तिर्यञ्चायुकर्म बन्धने अर्थात् पाशविक जीवन की प्राप्ति के

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनिजी) से, पृ. २७९
   (ख) रे कर्म ! तेरी गति न्यारी से, पृ. १३७
२. रे कर्म ! तेरी गति न्यारी से भावांशग्रहण, पृ. १३७

वार कारण बतलाए हैं-(१) माया (कपट) करना, (२) गूढ़ माया (रहस्यपूर्ण कपट) करना, अथवा छल को छल द्वारा छिपाना, (३) असत्य भाषण और (४) झूठा (न्यूनाधिक) तौल-माप करना। अथवा झूठे तौल, और झूठे माप रखना, (खरीदने के बाँट और नापने के गज और रखना तथा बेचने के बाँट व मापने के गज दूसरे रखना)। व्यावहारिक जीवन में तो छल-कपट बुरा और विश्वासघातक है ही, धार्मिक जगत् में तो और भी बुरा है। जो लोग धर्म के नाम पर पाखण्ड फैलाते, दम्भ-दिखावा करते हैं, भोले-भाले लोगों को ठगते हैं, उसके कटु परिणाम इस जन्म में ही नहीं, अगले जन्म में भी भोगने पड़ते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट कहा है-जो मायापूर्वक आचरण करता है, वह अनन्त बार गर्भ में आता (जन्म-मरण करता) है।[1]

मायाशल्य : कपटपूर्वक प्रायश्चित्त तिर्यञ्चायुबन्ध का कारण

मन में कामवासना आदि किसी प्रकार का शल्य रखकर उस पाप को छिपाना, आलोचना करने के समय उस पाप को छिपा कर प्रायश्चित्त करना, इस प्रकार के माया शल्य के कारण भी तिर्यञ्च आयुष्य बंध जाता है। शिवभूति और वसुभूति दोनों भाई थे। बड़े भाई शिवभूति की पत्नी कमलश्री अपने देवर वसुभूति के प्रति मोहित हो गई। एक बार उसने वसुभूति के समक्ष कामचेष्टा करके अनुचित प्रार्थना की। भाभी की कामवासना देखकर वसुभूति को संसार से विरक्ति हो गई। उसने गुरुचरणों में जाकर संयम अंगीकार कर लिया।

इन समाचारों से कमलश्री मन ही मन कामपीड़ित रहने और आर्तध्यान करने लगी। देवर के प्रति प्रच्छन्न काम वासना की मानसिक-वाचिक आलोचना न करने के कारण कमलश्री ने तिर्यञ्च आयुरूप कर्म बाँधा और मर कर कुतिया बनी।[2]

एक बार उसी गाँव में वसुभूति मुनि पधारे, भिक्षाचरी के लिए जा रहे थे कि कुतिया बनी हुई कमलश्री मुनि को देख पूर्वभवजन्य कामराग के संस्कारों के वश मुनिश्री के साथ-साथ चलने लगी। यह देख जनता मुनिश्री को शुनीपति (कुतिया के पति) कहने लगी।

मुनि ने जब यह रवैया देखा तो एक दिन वे नजर बचाकर अन्यत्र चले गये। कुतिया ने मुनिश्री को नहीं देखा तो उनके विरह में पीड़ित होकर आर्तध्यानवश मरकर वानरी बनी। एक दिन मुनिश्री को देखा तो वह उनके पीछे-पीछे चलने लगी और कामचेष्टाएँ करने लगी। अब लोग मुनिश्री को वानरीपति कहने लगे। मुनिश्री ने

---

१. (क) माया तैर्यग्योनस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/१७ पर विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि), पृ. २८०
(ख) चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख-जोणियत्ताए कम्मं पगरेंति, तं.-माइल्लताते, नियडिल्लाते, अलियवयणेणं, कूडतुल्ल-कूड-माणेणं। —सूत्रकृतांग ठा. ४, उ. ४, सू. ३७३
(ग) जे इह मायाइ मिज्जति आगंता गब्भायऽणंतसो। —सूत्रकृतांग श्रु. २, उ. १, सू. ९

२. रे कर्म! तेरी गति न्यारी से, पृ. १४३

फिर नजर बचाकर वहाँ से अन्यत्र विहार किया। कामपीड़ित कमलश्री वानरी आर्तध्यान से मरकर हंसली बनी। एक बार वसुभूतिमुनि तालाब के किनारे कायोत्सर्ग में खड़े थे। हंसली आ-आकर पूर्वभव के कामोन्मादवश उन पर पानी छींटने, विरह वेदना व्यक्त करने तथा वैषयिक चेष्टा करने लगी। मुनि वहाँ से तुरंत अन्यत्र विहार कर गए। हंसली आर्तध्यान से विलाप करके मर गई और व्यन्तरी हुई। उसने अपने ज्ञान से वसुभूति मुनि और अपना पूर्व सम्बन्ध जाना और क्रोध में आगबबूला होकर मन ही मन निश्चय किया—"वसुभूति ने मुझे ठुकरा-ठुकराकर दुःखी किया, अब मैं मजा चखाऊँगी।" यों निश्चय करके मुनिवर जहाँ ध्यान में खड़े थे, वहाँ आई, भयंकर उपसर्ग किये, अनुकूल भी और प्रतिकूल भी। परन्तु मुनि मेरु की तरह समभाव एवं क्षमाभाव में अडोल रहे। शीघ्र ही क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर चार घातिकर्मों का क्षय किया। उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट हो गए। केवलीमुनि ने उपस्थित जनता को माया-शल्य की भयंकरता समझाई। अगर कमलश्री से मोहकर्मोदयवश दोष लग गया, परन्तु वह मायाशल्य न रखकर आलोचना-प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो जाती तो, तिर्यञ्चभवों का इतना भ्रमण टल जाता। किन्तु कमलश्री ने मन में कानवासना आदि का शल्य रखकर उस कृत पापकृत्य को छिपाकर प्रायश्चित्त किया। उक्त मायाशल्य के कारण तिर्यञ्चायुकर्म बंध गया।[1]

गूढ़माया के कारण तिर्यञ्चायु का बन्ध

इसी प्रकार गूढ़माया मन में रखने से, हृदय में किसी बात को छिपा कर रखने से, अथवा किसी के साथ धूर्तता या ठगी करने से, 'मुख में राम बगल में छुरी' वाली कहावत चरितार्थ करने से भी तिर्यञ्चायुकर्म का बन्ध होता है।

रुद्रदेव की पत्नी अग्निशिखा थी। उसके तीन पुत्र थे—डूंगर, कुडंग और सागर। उनकी तीन पत्नियों के नाम क्रमशः शीला, निकृति और संचया थे। घर में प्रतिदिन कभी सास-बहू में, कभी देवरानी-जिठानी में, कभी पिता-पुत्र में तो कभी पति-पत्नी में ठन जाया करती थी। कोई दिन ऐसा नहीं जाता था, जिस दिन घर में महाभारत न होता हो। पूरा घर क्लेशमय और नरकमय बन जाता था। इस अशान्ति की आग में घर के सभी लोग झुलस रहे थे।[2]

एक दिन रुद्रदेव ने सोचा—मेरे मरने के बाद अग्निशिखा का क्या होगा ? इसकी कोई सेवा नहीं करेगा और धन के अभाव में तो इसे कोई पूछेगा भी नहीं। अतः मुझे इसे चुपके से कुछ धन दे देना चाहिये, ताकि इसका जीवन सुखपूर्वक बीते।

एक दिन घर के सभी सदस्य बाहर गये थे, केवल रुद्रदेव और अग्निशिखा दो ही व्यक्ति घर में थे। रुद्रदेव ने घर का दरवाजा बंद किया और अग्निशिखा को

---

१. रे कर्म तेरी गति न्यारी से भावांशग्रहण, पृ. १४४

२. वही, भावांशग्रहण, पृ. १४१

उपर्युक्त बातें समझाईं। फिर चुपके से उसके हाथ में एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की थैली देकर कहा–"इसे इसी समय किसी जगह गाड़ दो। किसी से कहना मत।"

पति-पत्नी में यह मंत्रणा हो रही थी, उसी दौरान निकृति आ गई। उसने सास-ससुर की गुप्त बात सुन ली। तुरंत ही उसने अपनी देवरानी संचया को यह बात कह दी। दोनों सास से गाड़े हुए धन का पता लगाने हेतु उसकी सेवा करने लगीं। अपनी दोनों बहूरानियों को इस प्रकार सेवा में जुटे देख सास को प्रसन्नता हुई। समय पाकर दोनों ने अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी, झूठे आंसू बहाए। इस प्रकार सेवा के दंभ से सास का मन जीत लिया। सास ने भोलेभाव से यह सोच कर कि मरने के बाद स्वर्ण मोहरें मेरे किस काम की, दोनों बहुओं को गड़े हुए धन की जगह बता दी। दोनों को यही चाहिये था।

एक दिन सास कहीं बाहर गई हुई थी। दोनों बहुओं ने वह जगह खोद कर सोने की मोहरें निकाल लीं और अन्यत्र गाड़ दीं। अब धीरे-धीरे सास की सेवा बंद हो गई। अग्निशिखा ने रुद्रदेव के समक्ष अपना संदेह प्रगट किया। यह सुनते ही रुद्रदेव ने क्रोधायमान होकर अग्निशिखा पर तीक्ष्ण शस्त्र से प्रहार किया। अग्निशिखा क्रोधावेश में मर कर सर्पिणी बनी और उसी घर में घूमने लगी। इधर निकृति ने सोचा-मेहनत मैंने की, अतः आधा हिस्सा संचया को क्यों दूँ ? उसने लड्डू में विष मिलाकर संचया को खिला दिये। वह मर कर कुतिया बनी। निकृति ज्यों ही स्वर्ण मुद्राएँ लेने हेतु अंधेरे कमरे में हाथ से टटोलने लगी, त्योंही सर्पिणी ने काट खाया। वह मर कर नेवला बनी। इस प्रकार अग्निशिखा, संचया और निकृति तीनों की माया के कारण तिर्यञ्चयोनि प्राप्त हुई। मायाकषाय के कारण पूरे घर की तबाही हो गई। यह है–गूढ़माया के कारण तिर्यञ्चायुबन्ध का दुष्फल![1]

पूज्यपाद ने धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर प्रचार करना, शीलरहित जीवनयापन करना, मृत्यु के समय नील-कापोत-लेश्या एवं आर्तध्यान करना इन चारों को तिर्यञ्चायु बन्ध का कारण बताया है।[2]

मनुष्यायुकर्म का बन्ध–जिस कर्म के उदय से मनुष्यगति में जन्म हो, अथवा जिस कर्म के उदय से जीव को अमुक समय तक मनुष्यभव में रहना पड़े, उसे मनुष्यायुकर्म कहते हैं। स्वयं के पास धन हो या न हो, दान देने की रुचि सतत जागृत रहे तो वह मनुष्यायुकर्म बांधता है। संगम को दान देने की उत्कट रुचि थी, मासिक उपवासी मुनि को दान देने से वह मनुष्यायु बांध कर शालिभद्र बना।[3]

---

१. (क) रे कर्म तेरी गति न्यारी से भावांशग्रहण, पृ. १४१-१४२

२. सर्वार्थसिद्धि ६/१७

३. (क) कर्म-प्रकृति से, पृ. ५०

(ख) चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सताते कम्मं पगरेंति, तं जहा–पगतिभद्दताते, पगति विणीयताए, सानुक्कोसयाते, अमच्छरिताते। –ठाणांग, स्था. ४, उ. ४, सू. ३७३ टीका

(ग) अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं स्वभाव-मार्दवार्जवं च मानुषस्यायुषः। –तत्त्वार्थसूत्र ६/१८ विवेचन

(घ) तत्त्वार्थ-सूत्र, विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) ३, पृ. २८१

मनुष्यायु कर्म के बन्ध के चार कारण–स्थानांगसूत्र में इस प्रकार बताये गए हैं–चार कारणों से जीव मनुष्यायुकर्म का बन्ध करते हैं। यथा–(१) उत्तम भद्र प्रकृति (स्वभाव) होने से, (२) स्वभाव में विनयभाव होने से, (३) दयालु स्वभाव होने से, तथा (४) स्वभाव में मात्सर्य (ईर्ष्याभाव या डाह) न होने से। मूल-आगम में 'प्रकृतिभद्रता और प्रकृतिविनीतता' इन दोनों कारणों का तात्पर्य यह बताया गया है कि सरलता और विनीतता स्वाभाविक हो, हृदय की सहजवृत्ति में हो, दिखावटी-बनावटी न हो। ईर्ष्यालु न होकर गुणानुरागी होना तथा दयालु होना भी सरलता एवं विनीतता में समाविष्ट हो जाता है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र में मनुष्यायुकर्म बन्ध के बताए हुए चार कारणों में से स्वभाव की मृदुता और स्वभाव की ऋजुता (सरलता) इन दो के अतिरिक्त इन्हीं के परिपोषक अन्य दो गुणों का उल्लेख किया है–अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रह। इनका तात्पर्य है–आरम्भ वृत्ति और परिग्रह वृत्ति को कम करना। यहाँ 'अल्प' शब्द वस्तु की अल्पता का द्योतक न होकर वृत्ति में आरम्भ और परिग्रह की–ममत्व की, आसक्ति की अल्पता का द्योतक है। यद्यपि सामाजिक स्थिति-मर्यादा के अनुसार व्यक्ति को मानव जीवन की सार्थकता और भविष्य में प्राप्ति के अनुसार आरम्भ और परिग्रह की भी अल्पता–मर्यादा करना आवश्यक है, किन्तु उसमें भी मानसिक वृत्तियों में विषयासक्ति एवं कषाय की मन्दता की दृष्टि से आरम्भ के प्रति आसक्ति और ममता की अल्पता आनी चाहिए। आरम्भजन्य तीव्रता (हिंसा में क्रूरता) में भावात्मक अल्पता, आसक्ति एवं कषाय की अल्पता होनी आवश्यक है। यही कारण है कि एक आचार्य ने आरम्भ और परिग्रह में मन्दता-अल्पता के लिए क्रमशः दयालुता (अनुकम्पा वृत्ति) और दान देने की रुचि–परोपकारवृत्ति को, अल्पकषाय को तथा विनय, सरलता, मृदुता, देव-गुरु-भक्ति तथा अतिथि-सत्कार को भी मनुष्यायुकर्म बन्ध के फलस्वरूप मानव जीवन की प्राप्ति के कारण बताए हैं। कठोरता, क्रूरता, अभिमानी अहंकारी वृत्ति मनुष्यायुकर्मबन्ध के कारण नहीं हैं।[1]

देवायुकर्मबन्ध के कारण–स्थानांगसूत्र में देवायुष्यकर्मबन्ध के ४ कारण बताए हैं–चार कारणों से जीव देवायुकर्म का बन्ध करते हैं–सराग–संयम से, संयमासंयम से, बालतपःकर्म से और अकाम-निर्जरा से। ये ही चार कारण तत्त्वार्थसूत्र में बताए हैं। सरागसंयम का अर्थ है–संयत (हिंसादि अनर्दपापों से विरतिरूप चारित्र) ग्रहण कर लेने पर भी राग या कषाय का अंश शेष रहता है, तब तक वह संयम शुद्ध संयम नहीं है, सराग संयम है, क्योंकि शुद्ध संयम से तो कर्मबन्ध न होकर कर्मक्षय होता है, किन्तु रागयुक्त संयम होने के कारण उससे देवायुकर्म का बन्ध होता है। इसी प्रकार संयमासंयम (देशविरति चारित्र) का अर्थ है–कुछ संयम, कुछ असंयम। जैसे गृहस्थ

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र ६/१८ विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. २८१
(ख) ये कर्म ! तेरी गति न्यारी से भावांशग्रहण, पृ. १४६

श्रावक के व्रत में स्थूल रूप से हिंसा, झूठ, चोरी आदि का प्रत्याख्यान होता है, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की आरम्भजा हिंसा सर्वथा छूटती नहीं है, इसी प्रकार सूक्ष्म असत्य, स्तेय आदि भी रहते हैं। इस कारण संयमासंयम को भी देवायु कर्मबन्ध का कारण माना है। बालतप का अर्थ है--अज्ञानयुक्त तप, सम्यग्ज्ञान से रहित तप। जिस तपश्चरण या कायाकष्ट में आत्मशुद्धि का-सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान या सिद्धान्त का लक्ष्य न होकर अन्य कोई भौतिक या लौकिक लक्ष्य हो। इसी प्रकार अकामनिर्जरा का अर्थ है-अनिच्छा से, दबाव से, भय से, पराधीनता से या लोभ आदि वश कष्ट सहन करना, मजबूरी से भूख आदि सहना, कामेच्छा को सामाजिक भय से मारना आदि अकामनिर्जरा है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि सराग-संयम और संयमासंयम में तो सम्यक्त्व निश्चित और गर्भित है ही, क्योंकि बिना सम्यक्त्व के ये हो ही नहीं सकते। किन्तु अकामनिर्जरा और बालतप में ऐसा नियम नहीं है। सम्यक्त्व के साथ रागभाव साम्प्रदायिक या पान्थिक राग हो, निश्चय सम्यक्त्व रहित केवल व्यवहार सम्यक्त्व हो, वह भी देवायु का कारण बनता है।[1] जैसे-धूनी रमाना, वृक्षों के साथ स्वयं को उलटा बांध देना, ठंडे पानी में खड़े रहना, महीनों तक तलघर या गुफा में बन्द होकर पड़े रहना, काशी में करवत से स्वयं को चिरवाना, पंचाग्नि तप तपना आदि अज्ञानपूर्वक किये गये तप बालतप हैं।[2]

देवायु का बन्ध करने वाले जीव

बालतप या अज्ञानतप, सम्यग्ज्ञान के अभाव में होता है, इससे भी कई जीव देवायु का बन्ध करते हैं। औपपातिक सूत्र में ऐसे कई बालतपस्वियों के वर्णन हैं। तामली तापस, कमठ, अग्निशर्मा आदि भी बालतपस्या के फलस्वरूप देवयोनि-देवगति में गए। नारकीय जीव भयंकर कष्ट सहते हैं, उन्हें अनिच्छा से कष्ट सहना पड़ता है, सम्यग्ज्ञान न होने से वे कष्ट के समय समभाव एवं आत्मचिन्तन नहीं कर पाते, स्वभावरमण भी नहीं कर पाते, इस अकाम निर्जरा के कारण उनके कर्म तो कटते हैं, किन्तु साथ ही दुर्ध्यान होने के कारण वे देवायु का बन्ध नहीं कर पाते। धवल बैल अपने मालिक की बैलगाड़ी खींच रहा था। रास्ते में ५०० गाड़ियाँ फंस गईं। बैल के मालिक ने धवल को बहुत उकसाया। बेचारे ने भरसक जोर लगाया। उसने मालिक के प्रति वफादारी बताते हुए ५०० गाड़ियाँ खींचकर बाहर निकाल दीं। मगर उसके पैर के संधिस्थान टूट गए, वह निढाल होकर गिर पड़ा। मालिक को आगे जाना था। उसने गाँव के लोगों को बैल की चिकित्सा और शुश्रूषा के लिए बहुत-सा

---

१. (क) सरागसंयम-संयमासंयमाऽकामनिर्जरा-बालतपांसि देवस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२०
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन ६/२० (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. २८३
(ग) चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवो-कम्मेणं अकामणिज्जराए। —स्थानांग स्थान ४, उ. ४, सू. २७३

२. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१२

धन दिया। लोगों ने जब विश्वास दिलाया कि इस वफादार बैल की उचित शुश्रूषा और चिकित्सा की जाएगी, तब मालिक निश्चिन्त और आश्वस्त होकर चला गया। मगर गाँव के लोगों ने उस बैल की शुश्रूषा पर कोई ध्यान नहीं दिया। विश्वासघात करके वे पैसे डकार गए, मगर बैल की शुश्रूषा कुछ नहीं की, यहाँ तक कि उसे खाने-पीने को भी कुछ नहीं दिया। फलतः वह बैल भूख-प्यास एवं शारीरिक पीड़ा को सहता हुआ मर गया। इस अकामनिर्जरा के फलस्वरूप उसने देवायु का बन्ध किया और मर कर शूलपाणि यक्ष बना। उसने उपयोग लगाकर अपनी पूर्वावस्था देखी। क्रोध से आगबबूला होकर उसने सारे गाँव पर कहर बरसाया। गाँव को श्मशान बना डाला। गाँव का नाम पड़ा-अस्थिग्राम।[1] यह है अकामनिर्जरा का फल !

चारों प्रकार के आयुकर्मों में से कौन किसको बाँधता है ?

इस प्रकार चारों प्रकार के आयुष्यकर्मों का स्वरूप और स्वभाव तथा उनके बन्ध के कारण बताये हैं; फिर भी इनमें कुछ अपवाद हैं, और कुछ सैद्धान्तिक विषय हैं। जैसे कि देव और नारक अपना आयुष्य पूर्ण करके पुनः देवायु या नरकायु का बन्ध नहीं करते, और न ही परस्पर में एक-दूसरे आयु को बाँधते हैं। अर्थात्-देव आगामी भव के लिए पुनः देवायु का बन्ध नहीं करते, और न नरकायु का करते हैं। इसी प्रकार नारक न तो पुनः नरकायु का बन्ध कर सकते हैं और न ही देवायु का। तथा अपर्याप्त तिर्यञ्च सम्बन्धी आयु को भी देव व नारक नहीं बाँधते। भुज्यमान आयु के उत्कृष्ट ६ मास रहने पर देव और नारक मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु का बंध करते हैं, लेकिन सप्तम नरक पृथ्वी के नारक तिर्यञ्चायु को ही बाँधते हैं। सम्यग्दृष्टि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च केवल देवायु और मनुष्यायु का बन्ध करते हैं किन्तु सामान्य मनुष्य और तिर्यञ्च चारों प्रकार की आयु का बन्ध कर सकते हैं।[2]

व्रत-शीलरहित, प्राणी चारों प्रकार की आयु को बांधते हैं

भगवतीसूत्र में बताया है कि एकान्त बाल (व्रत और शील से रहित) मनुष्य नरकायु भी बांधता है, तिर्यञ्चायु भी बांधता है, मनुष्यायु भी बांधता है और देवायु का भी बन्ध करता है। जैसे कि तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है-निःशीलता और व्रतरहितता चारों प्रकार के आयुष्यकर्मबन्ध का कारण है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय नरकायु व तिर्यञ्चायु को तथा तैजस्कायिक एवं वायु कायिक[3] तिर्यञ्चायु

---

१. (क) बालतप के लिये देखें औपपातिक सूत्र के पाठ।
(ख) रे कर्म तेरी गति न्यारी ! से १४८, १४९

२. तत्त्वार्थसूत्र ६/१८

३. (क) निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् । ६/१९ तत्त्वार्थसूत्र विवेचन से, पृ. २८१, २८२
(ख) एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउं पि पकरेइ, तिरियाउयं पि पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ। -भगवती, श. १, उ. ८

को बांधते हैं। भोगभूमिज (यौगलिक) मनुष्य और तिर्यञ्च नियम से (मंदकषायी होने से) देवायु बांधते हैं, क्योंकि वे व्रत और शील से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। एकान्त बाल (मिथ्यात्वी) में सम्यक्त्व भी नहीं है तो ५ अणुव्रत और ७ शीलव्रत कहाँ से होंगे ?

इस प्रकार आयुकर्म की सभी प्रकृतियों का सांगोपांग विश्लेषण कर दिया है। इसके चारों प्रकारों के आयुबन्ध के कारणों को समझकर साधक को जागृत रहना चाहिए। सम्यक्त्व संवर है, वह मिथ्यात्वास्रव और बंध को रोकता है, किन्तु सराग हो तो वह नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, स्त्री-नपुंसकवेद, नीचगोत्र तथा भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क देवायु के बंध को रोकता है, केवल वैमानिक देवायु ही बँधती है। किन्तु आयु का बन्ध सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व हो गया हो तो बात दूसरी है, वैसा सम्यक्त्वी चारों गतियों में जा सकता है। जैसे—राजा श्रेणिक को नरक में जाना पड़ा।[1]

नामकर्म के पृथक् अस्तित्व की सिद्धि

'धवला' में नाम कर्म के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि 'कारण से कार्य की सिद्धि होती है। कारण के अभाव में कार्य कथमपि सम्भव नहीं है। शरीर, अंगोपांग, संस्थान, वर्ण आदि अनेक कार्य सभी जीवों में विभिन्न प्रकार के दिखाई देते हैं। ये कार्य ज्ञानावरणीय आदि अन्य कर्मों के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि उन कर्मों का स्वभाव ऐसा करना नहीं है। जितने कार्य हैं, उनके पृथक्-पृथक् कारणभूत कर्म भी होने चाहिए। अतः शरीर, संस्थान, वर्ण आदि के कारण के रूप में नामकर्म का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है'।[2]

नामकर्म : लक्षण, उत्तरप्रकृतियाँ, स्वरूप और कार्य

'सर्वार्थ-सिद्धि' में नामकर्म की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'जो कर्म आत्मा को नमाता है, जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह नामकर्म है।' जिस कर्म के उदय से आत्मा नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य देव-गति प्राप्त करके विविध अच्छी-बुरी पर्यायें प्राप्त करता है; अथवा जिस कर्म के उदय से आत्मा गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, संहनन, संस्थान, इन्द्रियाँ आदि शरीर के कण-कण की रचना हो, जीव गति आदि नाना पर्यायों या अवस्थाओं का अनुभव करे, वह नामकर्म है। 'गोम्मटसार' कर्मकाण्ड के अनुसार—'जिस कर्म से जीव में गति आदि भेद उत्पन्न हों, जो देहादि की विचित्रता का कारण हो, अथवा जिसके कारण गत्यन्तर जैसे परिणमन हो, वह नामकर्म कहलाता है।' 'नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवरूप नामकरण करना नामकर्म का स्वभाव है।' जिस प्रकार एक चित्रकार विविध प्रकार के चित्र बनाता है, उनमें विविध रंग भरता है, उनकी विविध आकृतियाँ बनाता है, उन्हें सुरूप-कुरूप या सुडौल-बेडौल बनाता है;

---

१. तत्त्वार्थ. ६/२० विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. २८४

२. (क) धवला ६/१/९-११ सू. १०, पृ. १३
(ख) वही, ७/२/१ सू. १९, पृ. ७०

उसी प्रकार नामकर्म भी प्राणी को प्राण धारण करा कर, नये-नये नाम, रूप, आकार आदि धारण कराता है, उनको नाना प्रकार की आकृति, प्रकृति एवं व्यक्तित्व प्रदान करता है; साथ ही, सुरूपता-कुरूपता, यश-अपयश, सुस्वर-दुःस्वर आदि नाना स्वरूप धारण कराता है। नाम और रूप की समस्त विविधताएँ नामकर्म में समाविष्ट होती हैं। 'प्रवचनसार' में कहा गया है–"नामकर्म आत्मा के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देवरूप प्रदान करता है।"[1]

नामकर्म की दो मुख्य उत्तर-प्रकृतियाँ : शुभनाम, अशुभनाम

नामकर्म की मुख्य उत्तर-प्रकृतियाँ दो हैं[2]–शुभनाम और अशुभनाम। देखा जाता है कि किसी मनुष्य का शरीर कोयले जैसा काला कलूटा, कुरूप, कुबड़ा और बेडौल होता है और किसी का शरीर गुलाब के फूल जैसा सुरूप, सुन्दर, गोरा और सुडौल होता है, तथा सलौना, प्रभावशाली एवं चित्ताकर्षक होता है। यह दो प्रकार का अन्तर क्रमशः अशुभनाम और शुभनाम के कारण होता है। शरीर की तरह शरीर के अंगोपांग, निर्माण, संघात, संहनन, स्पर्श, वर्ण, गन्ध की तरह जीव के गति, जाति, स्वर, व्यक्तित्व, आदेयता, सौभाग्य, शुभ, पर्याप्त, यश, आदि सबमें प्रायः शुभ और अशुभ ये दो-दो परस्पर विरोधी प्रकार होते हैं। उन्हीं का वर्गीकरण शुभनाम कर्म और अशुभनाम कर्म में हो जाता है। शुभ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं और अशुभ प्रकृतियाँ पापरूप हैं।[3] इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों के मूलभूत पुण्य और पाप के रूप में हम 'पाप और पुण्य प्रकृतियों का बन्ध' शीर्षक निबन्ध में कर चुके हैं।[4]

शुभनामकर्म-बन्ध के कारण

यद्यपि नामकर्म के इन दो भेदों के बन्ध के कारण हम संक्षेप में बता आए हैं, परन्तु इनका विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होने से पुनः उन्हें प्रस्तुत कर रहे हैं। शुभनामकर्म चार प्रकार से बांधा जाता है–(१) काया की सरलता-काया के द्वारा

---

१. (क) नमयत्यात्मानं, नम्यतेऽनेनेति वा नाम। –सर्वार्थसिद्धि ८/४, पृ. ३८१
(ख) विचित्रैरपर्याप्तैर्नमयति-परिणमयति यज्जीवं तन्नाम। –स्थानांग, टीका २/४/१०५
(ग) कर्मप्रकृति (आचार्य जयन्तसेनजी अ.) से, पृ. ५१
(घ) नाना मिनोति निर्वर्त्तयतीति नाम। –धवला ६/१/९, सू. १०
(ङ) गदि आदि जीवभेदं, देहादी पोग्गलाण भेदं च।
गदि अंतर-परिणामने, करेदि णाम अणेयविहं॥ –गो. कर्मकाण्ड गा. १२
(च) सर्वार्थसिद्धि ८/४, पृ. ३८१
(छ) प्रवचनसार गा. २/२५

२. नामे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं. सुभणामे चेव असुभणामे चेव। –स्थानांग स्था. २/१०५

३. शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य। –तत्त्वार्थसूत्र ६/३-४

४. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३३४
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, २८५

कोई कपटपूर्ण प्रवृत्ति न करना; (२) भाषा की सरलता–बोलते समय कपट का आश्रय न लेना, (३) भावों की सरलता–मनोभावों को छल-कपट से दूर रखना; और (४) अविसंवादन योग–मन-वचन-काया के व्यापारों में एकरूपता होना, मन से सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इस प्रकार की कुटिलता करना विसंवादन-योग है, जिसका न होना अविसंवादन योग कहलाता है। भगवतीसूत्र की वृत्ति में मन-वचन-काया की सरलता तथा अविसंवादनयोग में अंतर बताते हुए कहा गया है–मन-वचन-काया की सरलता वर्तमानकालीन होती है और अविसंवादन-योग वर्तमान, अतीत और भविष्यकाल की अपेक्षा से है। 'बृहत् हिन्दी कोष' के अनुसार अविसंवाद के फलितार्थ होते हैं–परस्पर-संवादी कथन करना, पूर्वापर विसंगत कथन न करना, सत्य कथन करना (जैसा है, वैसा ही कहना), जिस रूप में प्रतिज्ञा की है, उस रूप में पालन करना (प्रतिज्ञा भंग न करना), किसी को वचन देकर तदनुरूप पालन करना (उसे निराश न करना), प्रवंचना न करना आदि। तत्त्वार्थसूत्र में पं. सुखलालजी विसंवादन का अर्थ करते हैं–अन्यथा प्रवृत्ति कराना अथवा दो स्नेहियों में (एक दूसरे के विरुद्ध भड़काकर) भेद पैदा करना। योगवक्रता और विसंवादन में स्व और पर का अन्तर है कि अपने ही विषय में मन, वचन, काया की प्रवृत्ति भिन्न पड़े, तब योगवक्रता होती है और जब दूसरे के विषय में ऐसा हो, तब विसंवादन होता है। जैसे–कोई सुमार्ग पर चल रहा हो, उसे 'ऐसे नहीं, ऐसे;' इस प्रकार उलटा समझा कर कुमार्ग की ओर प्रवृत्त करना। कर्मग्रन्थ में शुभनामकर्म के बन्ध के कारण बताते हुए कहा गया है–जो व्यक्ति सरल (माया-कपट रहित हो, जिसके मन-वचन-काया का व्यापार एक समान) हो, तथा जो गौरव (गर्व) रहित (ऋद्धि, रस और साता के गौरवों–गर्वों–अहंकारों से रहित) हो, वह शुभनामकर्म बांधता है।[1]

शुभनामकर्म के अन्तर्गत तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के बीस कारण

शुभनामकर्म के अन्तर्गत तीर्थंकर नामकर्म भी है। तीर्थंकर नामकर्म (गोत्र) बन्ध के २० कारण हैं, वे इस प्रकार हैं–(१ से ७) अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी, इन सबकी भक्ति करना, इनके गुणों का कीर्तन करना, इनकी

---

१. (क) देखें–शुभ-अशुभ नामकर्मबन्ध के कारण–इसी खण्ड के 'मूलप्रकृति बन्ध : स्वभाव, स्वरूप और कारण' लेख में।

(ख) सुभनामकम्मासरीरे-पुच्छा ? गोयमा ! कायउज्जुययाए, भावुज्जुययाए, भासुज्जुययाए अविसंवाद-जोगेणं सुभनामकम्मासरीर जाव पयोगबंधे । असुभनामकम्मासरीर-पुच्छा ? गोयमा ! काय-अजुज्जुयाए, जाव विसंवायणाजोगेणं असुभनामकम्मा जाव पयोगबंधे ।

–भगवती श. ८, उ. ९

(ग) योगवक्रता-विसंवादनं चाशुभस्यनाम्नः, तद्विपरीतं शुभस्य । –तत्त्वार्थसूत्र ६/२१-२२

(घ) कर्मग्रन्थ भा. १ विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ.

(ङ) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी), पृ. १६२

सेवा करना। (८) निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना, (९) निरतिचार सम्यक्त्व की आराधना करना, (१०) अतिचार-दोष न लगाते हुए ज्ञानादि विनय का सेवन करना, (११) निर्दोष आवश्यक क्रियाएँ करना, (१२) मूलगुणों और उत्तरगुणों में अतिचार न लगाना, (१३) सदा संवेगभाव और शुभ ध्यान में लगे रहना, (१४) तपस्या करना, (१५) सुपात्रदान देना, (१६) दशविध वैयावृत्य (सेवा) करना, (१७) गुरुदेव आदि को समाधि प्राप्त हो, वैसा कार्य करना, (१८) नया-नया ज्ञान सीखना, (१९) श्रुत की भक्ति-बहुमान करना, और (२०) प्रवचन की प्रभावना करना।[1]

प्रकारान्तर से तीर्थंकर नामकर्मबन्ध के सोलह कारण

तत्त्वार्थसूत्र में उक्त तीर्थंकर नामकर्म[2] के बन्धकारणों की व्याख्या करते हुए पं. सुखलालजी लिखते हैं–(१) **दर्शनविशुद्धि**–वीतराग-कथित तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ रुचि रखना, (२) विनय-सम्पन्नता–ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधनों के प्रति योग्य रीति से बहुमान रखना, (३) **शीलव्रतानतिचार**–अहिंसा, सत्य आदि पाँच महाव्रत या अणुव्रत मूल गुण हैं, उनके पालन में उपयोगी एवं सहायक व्रत नियम शील हैं, उनका निरतिचार तथा अप्रमत्त होकर पालन करना, (४) **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**–तत्त्वविषयक ज्ञान में निरन्तर उपयोग रहना, (५) **अभीक्ष्ण संवेग**–सांसारिक भोग, जो वास्तव में सुख के बदले दुःख के साधन हैं, उनसे डरते रहना, विरक्त रहना, (६/७) **यथाशक्ति तपस्त्याग**–अपनी शक्ति और सामर्थ्य को छिपाये बिना विवेकपूर्ण बाह्य-आभ्यन्तर तप करना, सहिष्णुता बढ़ाना, तथा आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदान आदि दान भी विवेकपूर्ण देना, त्यागवृत्ति रखना। (८) **संघ-साधु-समाधिकरण**–साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ तथा विशेषतः साधु वर्ग को (सेवाशुश्रूषादि द्वारा) समाधि पहुँचाना, ऐसा करना जिससे वे तन-मन से स्वस्थ रहें। (९) **वैयावृत्यकरण**–किसी भी महान् आत्मा की रोग, ग्लान, अशक्त, असहाय-अवस्था में, तथा विपन्नता या संकटावस्था में यथायोग्य सेवा करना, उनकी उक्त कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न करना। (१०-११-१२-१३) **अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचन (शास्त्र) भक्ति** करना, शुद्ध निष्ठापूर्वक उनका

---

१. अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसु ।
वच्छलया एएसिं, अभिक्खं नाणोवओगे य ॥
खण-लव तव चियाए, वेयावच्चे समाही य ।
दंसणविणए आवस्सए य, सील व्वए निरइयारं ॥
अपुव्व-नाणगहणे सुय भत्ती, पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ --ज्ञातासूत्र, अ. ५, आवश्यकनिर्युक्ति गा. १-९-११

२. दर्शन-विशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शील-व्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी संघ-साधु-समाधि-वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन भक्तिरावश्यकाऽपरिहाणिर्मार्ग-प्रभावना-प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकृतस्य । -तत्त्वार्थसूत्र ६/२३

बहुमान करना। (१४) आवश्यकापरिहाणि-सामायिक आदि छह आवश्यकों के अनुष्ठान को भाव से नहीं छोड़ना, (१५) मोक्षमार्ग-प्रभावना-निरभिमानतापूर्वक ज्ञानादि मोक्षमार्ग की स्वयं साधना करना तथा दूसरों को उपदेशादि देकर उसका प्रभाव बढ़ाना, और (१६) प्रवचन-वात्सल्य-जैसे गाय बछड़े पर वात्सल्य (स्नेह) रखती है, वैसे ही प्रवचन और प्रवचनानुगामी साधर्मिकों पर निष्काम वात्सल्य (स्नेह) रखना।

अशुभनामकर्म के बन्ध के कारण

नामकर्म का दूसरा भेद अशुभनामकर्म है। अशुभ नामकर्म के बन्ध के भी चार कारण हैं-(१) काया की वक्रता (शारीरिक प्रवृत्तियों से धोखा देना), (२) भाषा की वक्रता, (छलपूर्ण भाषा का प्रयोग करना), (३) भावों की वक्रता-(कपटपूर्ण भाव बनाये रखना) और (४) विसंवादन-योग (प्रतिज्ञा भंग कर देना या असत्यमयी प्रवृत्ति करना)। तात्पर्य यह है कि मन-वचन-काया द्वारा मायावी बनने से तथा प्रणभंग करने से अशुभनामकर्म का बन्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में अशुभ नामकर्म के आस्रव बन्ध के जो दो कारण-'योगवक्रता और विसंवादन' बताये हैं, उनमें इन चारों का समावेश हो जाता है। इन चारों तथा दोनों का विश्लेषण शुभनामकर्मबन्ध के कारणों की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है।[1] इसके अतिरिक्त शुभ-अशुभ नामकर्म का फल कैसे भोगा जाता है ? इस विषय में भी हम 'मूल प्रकृतिबन्ध : स्वभाव, स्वरूप और कारण' लेख में प्रतिपादित कर चुके हैं।

अशुभनामकर्मबन्ध के कारणों से चार बातों की प्रेरणा

अशुभ नामकर्म के बन्धकारणों को देखते हुए चार बातों को जीवन का अंग बनाने की प्रेरणा प्राप्त होती है-(१) हृदय में कपट न रखकर अन्दर और बाहर एक-सा रहना चाहिए। जो लोग बकभक्त बन कर दूसरों के साथ वंचना करते हैं; दम्भ और दिखावा करते हैं, वे अशुभनामकर्म के दलदल में फँस जाते हैं। (२) व्यक्ति की जबान से जो कुछ कहना हो, वह इतना स्पष्ट और साफ सुथरा होना चाहिए कि सुनने वाला उसे आसानी से समझ सके, किसी प्रकार के धोखे या मुगालते में, या गलतफहमी में न रहे। जिसके दो या अधिक मतलब निकलें, ऐसे द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग करके दूसरे को धोखे में रखने से अशुभनामकर्म के बन्धन की बेड़ियों में जकड़ना पड़ता है। (३) हाथ, पैर, आँख, कान, जीभ, नाक आदि जितने भी शारीरिक अवयव हैं, उनसे किसी को धोखा नहीं देना चाहिए।

एक ग्वाले की गाय हृष्ट-पुष्ट थी, मगर दूध बिलकुल नहीं देती थी। एक भगतजी के पास जाकर उसने बहुत अनुनय विनय किया तो उन्होंने कहा-'कोई ग्राहक आए

१. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३३७
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ६/२१

तो मेरे पास ले आना, मैं तेरी गाय बिकवा दूँगा।' एक दिन दूसरे प्रान्त का एक ग्राहक गाय खरीदने के लिए आया। उसे गाय पसंद आ गई। उसने गाय का मूल्य दे दिया, फिर पूछा कि यह कितना दूध देती है ? ग्वाले ने कहा–मैं अपने मुँह से क्या कहूँ ? चलो, भगतजी के पास, वे आपको सब बता देंगे। दोनों भगतजी के पास आए। भगतजी मौन धारण करके बैठे थे। आगन्तुक ने पूछा–भगतजी ! यह गाय कितना दूध देती है ? भगतजी ने उँगली से सामने पड़े हुए लगभग पाँच सेर के पत्थर की ओर इशारा किया। आगन्तुक समझा कि लगभग ५ सेर दूध देती है। शाम को दुहने लगा तो गाय ने लात मार दी। दूध बिलकुल नहीं दिया। दूसरे दिन भी यही हुआ। सोचा–मेरे साथ धोखा किया गया है। वह गाय को लेकर भगतजी के पास आया और उन्हें उलाहना देने लगा कि आपने कैसे समर्थन किया कि यह पत्थर के जितना दूध देती है। भगतजी बोले–मैंने कहाँ कहा था, यह पाँच सेर दूध देती है ? तेरे दिमाग में सोचने की शक्ति नहीं है, उसका मैं क्या करूँ, मैंने पत्थर की ओर इसलिए इशारा किया था कि यह पत्थर दूध दे तो यह गाय दूध दे। इस प्रकार ग्वाले और भगतजी ने कायचेष्टा से धोखा देकर अशुभ नामकर्म का बन्ध किया।[1]

कई लोग इस प्रकार का वाक्य बोलते हैं कि सामने वाला धोखे में आ जाता है। एक ८० वर्ष का बूढ़ा था। उसे इस उम्र में विवाह करने की ललक उठी। एक दलाल को ठीक किया। दलाल ने कहा–किसी लड़की वाले के यहाँ जाकर तुम्हारी सगाई पक्की करा दूँगा। उसकी दलाली के ५०१ रुपये लूँगा। बूढ़े ने स्वीकार किया। वह एक गरीब लड़की वाले के यहाँ पहुँचा। उससे बात की। कहा–तुम्हारी लड़की सेठानी बन कर मौज करेगी, गहनों से लदी रहेगी। लड़की के पिता ने कहा–लड़के की उम्र कितनी है ? उसने प्रसन्नतापूर्वक कहा–"उगणीसाबीसी, बीसाइक्कीसी ऐंसी ऐंसी केवे हैं।" लड़की का बाप समझा–१९, २० या २१ वर्ष का होगा। अतः कहा–तो ठीक है, उसके साथ सगाई पक्की रही। विवाह तिथि निश्चित हो गई। बूढ़ा दूल्हा बनकर घोड़े पर चढ़ कर आया तो सब देखते ही रह गए कि दलाल तो कहता था–"१९, २० या २१ वर्ष का वर है। यह तो ८० वर्ष का बूढ़ा दिखता है।" लड़की के पिता ने झट दलाल को फटकारा तो उसने कहा–मैंने कब कहा था–उन्नीस-बीस वर्ष का है, मैंने जो कहा था–उसको जोड़ लगा लीजिए १९ + २० + २० + २१ कितने होते हैं, ये सब मिल कर अस्सी ही तो होते हैं। मैंने झूठ कहा हो तो बोलिये ! इस प्रकार दलाल ने वचन की चातुरी से दूसरों को धोखा देकर अशुभ नामकर्म का बन्ध कर लिया। इस प्रकार जो लोग काया से, वचन से और मन से दूसरों को धोखा देने की चेष्टा करते हैं, वे जानबूझकर अशुभनामकर्म का बन्धन कर लेते हैं।[2] और (४)

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३३७-३३८
   (ख) अस्तेयदर्शन (उपाध्याय अमरमुनि) से
२. श्रावक का अस्तेयव्रत (जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहरलालजी म.) से भावांशग्रहण

मायावाद के शैतान के चंगुल में फंसकर मानवजीवन रूपी अनमोल धन को बर्बाद नहीं करना चाहिए। जो सत्-प्रतिज्ञा जिस रूप में कर रखी है, उसका उसी रूप में पालन करना चाहिए। दो स्नेहियों के बीच में वैरभाव और आपसी वैमनस्य की गंदी धारा प्रवाहित नहीं करनी चाहिए। हो सके तो फटे दिलों को जोड़ने और सीने का प्रयत्न करना चाहिए किन्तु मिले दिलों को फाड़ने तथा संघ में, परिवार में या राष्ट्र में फूट डालने का कार्य तो हर्गिज नहीं करना चाहिए। किसी को वचन देकर विश्वासघात नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह निराशा के गहरे गर्त में गिर सकता है। सदैव हित मित और प्रिय सत्य कहना और आचरण करना चाहिए। किसी की उन्नति को देखकर कुढ़ना, ईर्ष्या करना, जलना और द्वेष नहीं करना चाहिए। ये बातें मनुष्य को अशुभनामकर्म में धकेल कर उसके भविष्य को अन्धकारमय बना डालती हैं। ये अशुभ पगडंडियाँ जीवन को जान-बूझकर दुःखी बनाने वाली हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन पापकारी पगडंडियों को छोड़कर निष्कपटता-सरलता की-धर्म की पगडंडी पर सच्चे हृदय से चलता है, वह कर्म के मूल कारण रूप कषायों या रागद्वेषों से छुटकारा पाकर, संसार के बन्धनों को शीघ्र ही तोड़कर परमधाम-मोक्ष में जा विराजता है, तथैव संसार की समस्त असुविधाओं से छुटकारा होकर परम-सुखरूप बनने में सफल हो जाता है।[1]

शुभनामकर्म की ३७ प्रकृतियाँ

नामकर्म के शुभ और अशुभ दो भेद बताकर कर्मशास्त्रियों ने इनकी प्रकृतियों का पृथक पृथक वर्गीकरण किया है। शुभ नाम की ३७ प्रकृतियाँ बताई गई हैं। यथा-(१) गतिनामकर्म के दो भेद-मनुष्यगति और देवगति, (२) जातिनामकर्म का संज्ञी पंचेन्द्रिय का एक भेद, (३) शरीरनामकर्म के ५ भेद-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मणशरीर; (४) अंगोपांग नामकर्म के तीन भेद-औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, (५) संहनन नामकर्म का एक भेद-वज्रऋषभनाराच संहनन; (६) संस्थान नामकर्म का एक भेद-समचतुरस्र-संस्थान, (७) वर्णनामकर्म का एक भेद-शुभवर्णनामकर्म, (८) रसनामकर्म का एक भेद-शुभ रसनामकर्म, (९) गन्धनामकर्म का एक भेद-सुरभिगन्ध, (१०) स्पर्शनामकर्म का एक भेद-शुभस्पर्श, (११) आनुपूर्वी नामकर्म के दो भेद-देवानुपूर्वी और मनुष्यानुपूर्वी, (१२) विहायोगति नामकर्म का एक भेद-शुभविहायोगति (अच्छी चाल), (१३) प्रत्येक नामकर्म की ७ प्रकृतियाँ-पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, निर्माण, और तीर्थंकर नामकर्म; (१४) त्रसदशक की १० प्रकृतियाँ-ये सब मिलकर ३७ प्रकृतियाँ होती हैं।[2]

---

१. ज्ञान का अमृत से भावांशग्रहण, पृ. ३३८

२. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३३३

अशुभनामकर्म की ३४ प्रकृतियाँ

अशुभ नामकर्म की ३४ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं-(१) गति नामकर्म के दो भेद-नरक और तिर्यञ्च। (२) जाति नामकर्म के ४ भेद-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। (३) संहनन (संघयण) नामकर्म के केवल वज्रऋषभनाराच संहनन को छोड़कर शेष रहे ५ भेद; (४) संस्थान नामकर्म के समचतुरस्र संस्थान को छोड़कर शेष ५ भेद; (५) वर्णनामकर्म का अशुभवर्ण नामक एक भेद (६) गन्धनामकर्म का अशुभ गन्ध नामक एक भेद, (७) रसनामकर्म का एक भेद-अशुभ रस; (८) स्पर्शनामकर्म का अशुभ स्पर्श नामक एक भेद, (९) आनुपूर्वीनामकर्म के दो भेद-नरकानुपूर्वी और तिर्यञ्चानुपूर्वी; (१०) अशुभविहायोगतिनामकर्म का एक भेद-अशुभविहायोगति-अशुभ चाल; (११) उपघात नामकर्म का एक भेद-उपघात, (१२) स्थावरदशक के १० भेद, ये सब मिलकर ३४ भेद हुए। शुभनामकर्म के ३७ और अशुभनामकर्म के ३४, ये सब मिलाकर ७१ भेद बनते हैं। लेकिन बन्धन नामकर्म के ५ भेद, संघातनामकर्म के ५ भेद, वर्णनामकर्म के ५ भेद, गन्धनामकर्म के दो भेद, रसनामकर्म के ५ भेद और स्पर्शनामकर्म के ८ भेद, इन ३० भेदों में से वर्णादि नाम कर्मों के आठ भेद (चार शुभ और चार अशुभ) निकाल देने पर २२ भेद शेष रह जाते हैं। पहले के शुभ अशुभ नामकर्म के ३७ + ३४ = ७१ भेदों में ये २२ भेद मिल जाने से इनकी कुल प्रकृतियों की संख्या ९३ हो जाती है।[1]

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या में अन्तर क्यों ?

नामकर्म की किसी अपेक्षा से ४२ उत्तर प्रकृतियाँ, किसी अपेक्षा से ६७, किसी अपेक्षा से ९३ और किसी अपेक्षा से १०३ प्रकृतियाँ हैं।

नामकर्म के सिवाय ज्ञानावरण आदि शेष मूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की गणना में जिनकी जितनी संख्या का निर्देश किया गया है, तदनुसार उतने ही उनके नामों का निर्देश है, लेकिन अपेक्षाभेद से उनके असंख्य भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार शास्त्रों में नामकर्म की असंख्यात लोक प्रकृतियाँ होने पर भी उत्तरप्रकृतियों की संख्या संक्षेप व विस्तार की दृष्टि से बयालीस, सड़सठ, तिरानवे और एकसौतीन बताई गई हैं। लेकिन इन संख्याओं में नामकर्म की मानी गई प्रकृतियों में न तो किसी प्रकृति को छोड़ा गया है, न ही अधिकता के लिए किसी नई प्रकृति का समावेश किया गया है। इस संख्या भिन्नता के कारण का उल्लेख आगे हम यथास्थान करेंगे।[2]

---

१. (क) ज्ञान का अमृत, पृ. ३३३-३३४
(ख) शुभ और अशुभ नामकर्म की प्रकृतियों के लक्षण आगे के पृष्ठों में देखें। -सं.

२. (क) कर्मप्रकृति (आचार्य जयन्तसेनसूरीजी) से, पृ. ५२
(ख) बायाल-तिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी । -कर्मग्रन्थ भा. १, गा. २३

नामकर्म की बयालीस उत्तरप्रकृतियाँ : क्यों और कैसे ?

कर्मप्रकृति में सर्वप्रथम नामकर्म की ४२ उत्तरप्रकृतियाँ को दो वर्गों में विभाजित किया गया है–पिण्ड प्रकृतियाँ और अपिण्ड-प्रकृतियाँ। जिन प्रकृतियों के अवान्तर भेद होते हैं, उन्हें पिण्ड-प्रकृतियाँ कहते हैं। पिण्ड अर्थात्–समूह। जिनमें दो तीन या अधिक प्रकृतियों का समूह साथ में हों, वे पिण्ड प्रकृतियाँ कहलाती हैं। अपिण्ड-प्रकृतियों को तीन भागों में विभक्त किया गया है–(१) प्रत्येक प्रकृतिवर्ग, (२) स्थावरदशकवर्ग, और (३) त्रसदशकवर्ग। जिन प्रकृतियों के अवान्तर भेद नहीं होते, उन्हें प्रत्येक प्रकृतियाँ कहते हैं। त्रस जीवों में ही पाई जाने वाली, जो प्रकृतियाँ संख्या में दस होती हैं, वे त्रसदशक और स्थावर जीवों में ही पाई जाने वाली दस प्रकृतियाँ स्थावरदशक कहलाती हैं।[1]

पिण्ड-प्रत्येक-त्रस-स्थावरदशक प्रकृतियाँ मिल कर बयालीस

पिण्डप्रकृतियों में गृहीत प्रकृतियाँ चौदह हैं–(१) गति, (२) जाति, (३) शरीर, (४) अंगोपांग, (५) बन्धन, (६) संघातन, (७) संहनन, (८) संस्थान, (९) वर्ण, (१०) गन्ध, (११) रस, (१२) स्पर्श, (१३) आनुपूर्वी और (१४) विहायोगति।

प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ हैं–(१) पराघात, (२) उच्छ्वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थंकर, (७) निर्माण और (८) आघात।

त्रसदशक इस प्रकार हैं–(१) त्रस, (२) बादर, (३) पर्याप्त, (४) प्रत्येक, (५) स्थिर, (६) शुभ, (७) सुभग, (८) सुस्वर, (९) आदेय और (१०) यशःकीर्ति। इसी प्रकार **स्थावर-दशक** इस प्रकार हैं–(१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) अपर्याप्तक, (४) साधारण, (५) अस्थिर, (६) अशुभ, (७) दुर्भाग, (८) दुःस्वर, (९) अनादेय और (१०) अयशःकीर्ति।

इस अपेक्षा से[2] नामकर्म के संक्षेप में '१४ + ८ + १० + १० = ४२[3] उत्तरप्रकृतियाँ होती हैं।[4]

---

१. (क) णायं बायालीसं पिंडापिंडभेएण। –कम्मपयडी ६६
   (ख) कर्मप्रकृति से, पृ. ५३
२. समवायांग, समवाय ४२
३. प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सू. २९३
४. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१५
   (ख) गइ-जाइ-तणु-उवंगा बंधण संघायणाणि संघयणा।
   संठाण-वण्ण-गंध-रस-फास-अणुपुव्वि-विहगगई ॥ २४ ॥
   पिंड पयडिति चउद्दस। परघाउस्सास-आयवुज्जोय।
   अगुरुलहु-तित्थ-निमिणोवघायमिय अट्ठ पत्तेया॥ २५ ॥
   तस-बायर-पज्जत्त पत्तेय थिर सुभं च सुभगं च।
   सुस्सराइज्ज-जसं तस-दसगं, थावरदसगं तु इमं॥ २६॥
   थावर-सुहुम-अपज्जं साहारण-अथिर-असुभ-दुभगाणि।
   दुस्सराऽऽणाइज्जजमिय नामे सेयरा वीसं॥ २७ ॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ

चौदह पिण्ड प्रकृतियों के पैंसठ भेद

पूर्वोक्त १४ पिण्ड-प्रकृतियों के भेद पैंसठ होते हैं। जैसे–गतिनाम कर्म के ५ भेद, जातिनामकर्म के ५ भेद, शरीरनामकर्म के ५ भेद, अंगोपांगनामकर्म के ३ भेद, संघातनामकर्म के ५ भेद, संहनननामकर्म के ६ भेद, संस्थाननामकर्म के ६ भेद, वर्णनामकर्म के ५ भेद, रसनामकर्म के ५ भेद, गन्धनामकर्म के २ भेद, स्पर्शनामकर्म के ८ भेद, आनुपूर्वीनामकर्म के ४ भेद, विहायोगतिनामकर्म के २ भेद, ये कुल मिला कर ६५ भेद पिण्डप्रकृतियों के हुए।

नामकर्म की तिरानवे और एक सौ तीन प्रकृतियाँ : कैसे कैसे ?

इन १४ पिण्डप्रकृतियों के ६५ भेदों के अतिरिक्त, प्रत्येक प्रकृतियों के ८, स्थावरदशक के १०, त्रसदशक के १० के २८ भेद मिलने से ६५ + २८ = ९३ भेद नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों के होते हैं। किन्तु बन्धननामकर्म के मूल पांच भेदों के संयोजन अंग १५ भी बनते हैं। पांच स्थानों में १५ भेदों की अपेक्षा पिण्ड प्रकृतियों की संख्या ७५ हो जाती है जिनको २८ अपिण्डप्रकृतियों के साथ जोड़ने पर २८ + ७५ = १०३ संख्या नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों की हो जाती है।

साक्षेपिक दृष्टि से नामकर्म की सड़सठ प्रकृतियाँ

इसके अतिरिक्त नामकर्म के सांक्षेपिक दृष्टि की अपेक्षा से ६७ भेद भी माने गये हैं। इनमें आपेक्षिक विशेषता यह है कि ८ प्रत्येक, १० त्रसदशक और १० स्थावरदशक, इन २८ अपिण्डप्रकृतियों के साथ १४ पिण्डप्रकृतियों में से बन्धननामकर्म के मूल पांच तथा संघात नामकर्म के पांच अवान्तर भेदों को अभेद विवक्षा से शरीर नामकर्म के ५ भेदों में गर्भित कर लिया जाता है, क्योंकि बन्धन और संघातनाम कर्म अपने-अपने नाम वाले शरीरनामकर्म के साथ हैं। इन दोनों भेदों का अपने-अपने शरीर-भेदों के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है, यानी ये दोनों शरीर के बिना नहीं हो सकते। इसी कारण ५ बन्धन और ५ संघात, ये १० प्रकृतियाँ अभेद विवक्षा से शरीर नामकर्म के भेदों से पृथक नहीं गिनी जातीं। इसी प्रकार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार पिण्ड प्रकृतियों के क्रमशः ५, २, ५ और ८; यों कुल २० भेदों में से एक समय में एक ही प्रकृति का बन्ध व उदय होने से बन्ध और उदय अवस्था में अभेद विवक्षा से उन-उनकी मूल पिण्ड प्रकृतियों में समाविष्ट करके मूल चार भेद ही लिये जाते हैं। अतः बन्धन और संघात नामकर्म के ५-५ भेदों को कम करने के साथ वर्णचतुष्क के बीस भेदों के स्थान पर कुल चार भेदों तथा शेष रही ८ पिण्डप्रकृतियों के ३५ भेदों के साथ, अपिण्ड प्रकृतियों के २८ भेदों को ग्रहण करने से (४ + ३५ + २८ = ६७) कुल ६७ भेद नामकर्म के होते हैं।[1]

नाम, गोत्र और अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतियों के स्वरूप आदि का विश्लेषण अगले लेख में देखिये। ●●

१ (क) कर्मप्रकृति से, पृ. ५२, ५३
(ख) जैनदृष्टिए कर्म से, पृ. ९३५
(ग) ज्ञान का अमृत से, पृष्ठ ३१५-३१६

२०

उत्तर-प्रकृतिबन्ध : प्रकार, स्वरूप और कारण—५

मानव या संसार का कोई भी जीव शरीर से पृथक् नहीं। संसारी जीव के साथ जहाँ आत्मा है, वहाँ साथ-साथ शरीर भी है। एक भव में शरीर नष्ट (मृत) हो जाता है, तब दूसरे भव में जाने के समय आत्मा के साथ-साथ तैजस-कार्मण शरीर (सूक्ष्म शरीर) अवश्य रहता है। यह शरीर तभी पूर्णरूप से छूटता है, जब जीव आठों ही कर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध परमात्मा हो जाता है। शरीर रहेगा, तब तक कर्म रहता है, और कर्म रहता है, तब तक शरीर पुनः पुनः धारण करना पड़ता है। जब मनुष्य कर्मोपाधिजन्य स्थूल शरीर को प्राप्त करता है, तब शरीर के साथ-साथ गति, जाति, इन्द्रियाँ, मन, अंगोपांग और उनसे सम्बद्ध शुभ-अशुभ संस्थान, संहनन, बन्धन, निर्माण, स्पर्श, रस, गन्ध, रूप-रंग (वर्ण), आनुपूर्वी, अगुरुलघुत्व, शुभ-अशुभ चाल-ढाल एवं सुभग-दुर्भग, सुस्वर-दुःस्वर, आदेयता-अनादेयता, यशःकीर्ति, अपयश आदि तथा उसी शरीर से सम्बन्धित गोत्र, आयु (स्थिति) एवं अच्छी-बुरी दशा, परिस्थिति, सुख-दुःख, सुविधा-असुविधा, तीर्थंकरत्व आदि अनेकों बातें पूर्वोपार्जित कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं। प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में कर्मों की मूल प्रकृतियों तथा उनके स्वभाव और कारणों का संक्षेप में निरूपण किया गया है। परन्तु मूल-प्रकृतियों के साथ-साथ उन मूल कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ और उनका स्वरूप एवं बन्ध-कारण नहीं बताया जाता तो शरीर और शरीर से सम्बन्धित सारे प्रश्न अधूरे रहते। परन्तु कर्म-विज्ञान ने उत्तर प्रकृतियों का स्वरूप और कारण बताकर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि समस्त जीवों को शरीर और शरीर से सम्बद्ध जो भी वस्तुएँ मिली हैं, वे किसी तथाकथित आकाश में स्थित परमात्मा के द्वारा नहीं, अपितु (निश्चयरूप से) अपनी शुद्ध आत्मा के द्वारा कृतकर्मों के द्वारा प्राप्त हैं। जीव यदि इन कर्मों से मुक्त होने का पुरुषार्थ करे तो अवश्य ही इन कर्मों से सर्वथा मुक्त, सिद्ध, बुद्ध हो सकता है।

पिछले लेख में हम नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों के ४२, ६७, ९३ और कथंचित् १०३ भेदों की गणना कर आये हैं। अब उनके स्वरूप और प्रकार तथा स्वभाव का शास्त्रोक्त वर्णन कर रहे हैं।[1]

नामकर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियों का लक्षण, स्वरूप और स्वभाव

(१) गतिनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च आदि एक पर्याय से दूसरी पर्याय को प्राप्त हो अथवा जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में जाए–गमन करे, या नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव की पर्याय को प्राप्त करे, वह गतिनामकर्म है। अथवा जो कर्मविशेष सुख-दुःख भोगने के योग्य पर्याय-विशेषरूप देवादि चार गतियों को प्राप्त कराये, वह कर्म गतिनामकर्म कहलाता है। अथवा जिस स्थान से जीव (मरकर) एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, वह स्थान गति कहलाता है।[2]

गतिनामकर्म के चार भेद हैं–(१) नरकगति, (२) तिर्यञ्चगति, (३) मनुष्यगति और (४) देवगति। जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी पर्याय प्राप्त हो कि वह नारक कहलाए, अथवा जिसके उदय से जीव नारक के रूप में पहचाना जाए, अथवा नारकी का आकार या नरकगति प्राप्त हो, उसे नरकगति नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था, पर्याय या गति प्राप्त हो, जिससे वह तिर्यञ्च है, ऐसा कहलाए या तिर्यञ्च रूप में पहचाना जाए, वह तिर्यञ्चगति नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य पर्याय/मनुष्यगति या ऐसी अवस्था प्राप्त हो, जिससे वह 'मनुष्य है' ऐसा कहलाए या मनुष्यरूप में पहचाना जाए, वह मनुष्यगति नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी पर्याय/अवस्था या गति प्राप्त हो, जिससे वह देव है ऐसा कहा जाए या देवरूप में पहचाना जाए, उसे देवगतिकर्म कहते हैं।

इस प्रकार संसार में परिभ्रमण करने वाला प्राणी पूर्वोक्त चार गतियों में से किसी एक गति में जाता है, फिर उस गति का आयुष्य पूर्ण करके दूसरी गति में कर्मानुसार जाता है। यों चार गतियाँ हैं।[3]

'गति' पारिभाषिक शब्द है। यह प्रथम पिण्डप्रकृति है। अपने सम्मुख कर्मचन्द नाम का मनुष्य खड़ा है, वह मनुष्य बना, यह पूर्वोक्त चार गतियों में से मनुष्यगतिनामकर्म का फल है। इसी प्रकार अन्य गतियों के विषय में समझना। प्रत्येक गति, जीव की

१. देखें, कर्मग्रन्थ भा. ६ की प्रस्तावना (पं. फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री)

२. (क) तव्य गम्यते तथाविध कर्म सचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः नारकादिपरिणतिः तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरियं गतिः। –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका २४
(ख) यदुदयाद्गात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः। –सर्वार्थसिद्धि ८/११
(ग) नेरइय-तिरिय-माणुसा-देवगइ त्ति हवे गइ चउधा। –कर्मप्रकृति ९७
(घ) निरय-तिरि-नर-सुरगई। –कर्मग्रन्थ १/३३

३. कर्म-प्रकृति से, पृ. ५४-५५

एक पर्याय को सूचित करती है। एक पर्याय में से दूसरी पर्याय में जाना हो, अर्थात्-मनुष्य मिटकर देव बने, या जानवर मिटकर मनुष्य बने, यह गति है।

तीन लोक हैं-ऊर्ध्वलोक, जिसमें देवगति के देव रहते हैं, अधोलोक, जिसमें भवनपतिदेव और नारक जीव रहते हैं, तीसरा तिर्यक्-लोक, जिसमें मनुष्य और तिर्यञ्च रहते हैं। ये दोनों गतियाँ छद्मस्थ मनुष्यों द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं। इसलिए मनुष्यगति और तिर्यञ्चगति के जीव मध्यलोक या तिर्यक्लोक में हैं। तिर्यञ्चगति में देव, मनुष्य और नारकों के सिवाय समस्त संसारी जीव-एकेन्द्रिय से तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव कहलाते हैं।[1] अर्थात्-तिर्यञ्च गति में एकेन्द्रिय पाँच स्थावर जीव (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति) तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियातिर्यञ्च तक के जीवों का समावेश हो जाता है।[2]

(२) जातिनामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव का एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि शब्दों से व्यवहार किया जाता है अथवा जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि कहे जाएँ, वह जातिनामकर्म है। अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं में समानता या एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को 'जाति' कहते हैं।[3] जैसे गोत्व (गायपन) सभी विभिन्न रंगों, आकृतियों या शरीर की प्रकृति में समानता या एकता का बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) जाति का, एक इन्द्रिय वाले जीवों में, दो इन्द्रिय (स्पर्शन एवं रसनेन्द्रिय) वाले जीवों में, द्वीन्द्रिय जाति की, तीन इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण) वाले जीवों में त्रीन्द्रिय जाति की, चार इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु) वाले जीवों में चतुरिन्द्रिय जाति की, एवं पांच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) वाले जीवों में पंचेन्द्रिय जाति की एकता या समानता का बोध कराता है। इसलिए एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों के अपने-अपने वर्ग को एकेन्द्रिय आदि जातिनामकर्म कहते हैं। पूर्वोक्त पाँच जातियाँ समस्त संसारी जीवों की बताई हैं। इनमें से देव, नारक और मनुष्य तो पंचेन्द्रिय ही होते हैं, इसलिए वे पंचेन्द्रिय जाति कहलाते हैं। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जाति वाले कहलाते हैं। एकेन्द्रिय से पृथ्वीकायादि पंच स्थावर जीवों के एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। स्पर्शनेन्द्रिय अकेली होती है।

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३९६
(ख) तत्त्वार्थ विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. ३७६

२. स्थानांगसूत्र में गतियाँ पाँच मानी गई हैं। चार गतियाँ नामकर्म के उदय से प्राप्त होती हैं और पाँचवीं सिद्ध गति में कर्म का सर्वथा अभाव होता है। वह कर्मोदय से प्राप्त नहीं होती। सिद्ध गति का नामकर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

३. (क) समान प्रत्यासत्तिका जातिः। -कामसूत्र २/२/६६
(ख) जननं जातिः-एकेन्द्रियादि शब्द-व्यपदेश्येन, पर्यायेण जीवानामुत्पत्तिः, तद्भाव-निबन्धनभूतं नाम जाति नाम। -प्रथम कर्मग्रन्थ टीका २४
(ग) इग-विय-तिय-चउ-पणिंदि जाइओ। -प्रथम कर्मग्रन्थ ३३
(घ) इग-वि-ति-चउ-पंचक्खा जाई पंचप्पयादे। -कर्मप्रकृति ६७

परन्तु दूसरी इन्द्रियाँ अकेली नहीं होतीं। उनका क्रम इस प्रकार है–(२) रसनेन्द्रिय, (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) चक्षुरिन्द्रिय और (५) श्रोत्रेन्द्रिय।[1]

इन पाँचों जातिनामकर्म के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं–जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ पहली इन्द्रिय–स्पर्शन (शरीर या त्वचा) इन्द्रिय प्राप्त हो, उसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। जैसे–पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। जिस कर्म के प्रभाव से जीव को दो इन्द्रियाँ–स्पर्शन और रसन (जीभ) प्राप्त हों, उसे द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। जैसे–लट, सीप, कृमि, अलसिया, चन्दनीया, जौंक आदि। जिस कर्म के उदय से जीव को तीन इन्द्रियाँ–स्पर्शन, रसन और घ्राण (नाक) प्राप्त हों, उसे त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। जैसे–चींटी, मकोड़ा, जूँ, लीख, चींचड़, खटमल, गजाई, खजूरिया, उहई, धनेरिधा आदि। जिस कर्म के उदय से जीव को चार इन्द्रियाँ–स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु (आँख) प्राप्त हो, वह चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म है। जैसे–मक्खी, मच्छर, भौंरा, टिड्डी, पतंगा, बिच्छू, कंसारी आदि। जिस कर्म के उदय से जीव को स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान), ये पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त हों, वह पंचेन्द्रिय जातिनामकर्म कहलाता है। जैसे–नारक, मनुष्य, देव तथा जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प और भुजपरिसर्प के रूप में तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय (गाय, भैंस, मछली, चिड़िया, सर्प, नेवला मेढ़क आदि)। इस प्रकार जातिनामकर्म समस्त संसारी जीवों को पाँच भागों–जातियों में विभक्त कर देता है। वह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की अलग-अलग पहचान भी कराता है। जैसे–पानी में तैर रही मछली को देखकर तुरंत पहचान लिया जाता है कि वह इन पाँच प्रकार की कर्म-प्रकृतियों में से पंचेन्द्रिय (जलचर) जातिकर्म का फल है।[2]

(३) शरीरनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव औदारिक आदि शरीर प्राप्त करता है, उसे शरीरनामकर्म कहते हैं। अथवा जिससे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि हो सके, जो सुख-दुःख भोगने का स्थान है, और जो औदारिक, वैक्रियक आदि वर्गणाओं से बनता है, वह शरीर कहलाता है। अथवा जो उत्पत्ति-समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता रहता है तथा जो शरीरनामकर्म के उदय से प्राप्त

---

१. (क) स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि।
(ख) पंचेन्द्रियाणि। –तत्त्वार्थसूत्र २/२०, १५
(ग) कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैक-वृद्धानि। –तत्त्वार्थसूत्र २/२४
(घ) प्रज्ञापना पद १५, उ. १, २
(ङ) पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पतयः स्थावराः। –तत्त्वार्थ० २/१३
(च) जिससे इन्द्र–आत्मा पहचाना जाए, उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे–एकेन्द्रिय जीव स्पर्शेन्द्रिय से पहचाने जाते हैं। –ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१७

२. (क) ज्ञान का अमृत, पृ. ३१६, ३१७
(ख) कर्म-प्रकृति से, पृ. ५७

(उत्पन्न) होता है। अथवा आहारादि वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध तथा तैजस-कार्मण के पुद्गल-स्कन्ध शरीरयोग्य परिणामों द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं, उसे शरीरनामकर्म कहते हैं। औदारिक आदि शरीर को प्राप्त करने वाले शरीरनामकर्म के पाँच भेद हैं-(१) औदारिक शरीरनामकर्म, (२) वैक्रिय शरीरनामकर्म, (३) आहारक शरीरनामकर्म, (४) तैजस शरीरनामकर्म और (५) कार्मण शरीरनामकर्म।

औदारिक आदि पाँच शरीरनामकर्मों के लक्षण इस प्रकार हैं-

(१) औदारिक शरीरनामकर्म-जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर प्राप्त हो, अथवा औदारिक अर्थात्-उदार, प्रधान या स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर, औदारिक नामकर्म से प्राप्त शरीर का नाम भी औदारिक शरीर नामकर्म है। अथवा औदारिक शरीर-प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण कर जीव औदारिक शरीर रूप परिणत करके जीव-प्रदेशों के साथ अन्योन्य-अनुगमरूप से सम्बन्धित करता है, उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। तीर्थंकरों, गणधरों आदि महापुरुषों का शरीर प्रधान-उत्तम पुद्गलों से बनता है, जबकि सर्वसाधारण जीवों का शरीर स्थूल-असार पुद्गलों से बना होता है; अथवा अन्य शरीरों की अपेक्षा अवस्थित रूप से जो शरीर बड़े परिमाण वाला हो, वह औदारिक है। वनस्पतिकाय का औदारिक शरीर उत्कृष्टतः एक हजार योजन की अवस्थित अवगाहना वाला होता है। अन्य सभी शरीरों की अवस्थित अवगाहना इससे कम होती है। यद्यपि वैक्रिय शरीर वाला (देव नारक) लाख योजन तक का शरीर बना सकता है, परन्तु वह उसकी अनवस्थित अवगाहना है। तथा भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अवगाहना तो ५०० धनुष से अधिक नहीं होती। अथवा रुधिर, मांस, हड्डी आदि से बना हुआ स्थूल शरीर औदारिक कहलाता है।[1]

(२) वैक्रियशरीरनामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रिय शरीर प्राप्त हो, उसे वैक्रियशरीरनामकर्म कहते हैं। जिस शरीर से विविध या विशिष्ट प्रकार की क्रिया

---

१. (क) विशिष्ट नामकर्मोदयापादितवृत्ती निशीर्यन्त शेते शरीराणि। -सर्वार्थसिद्धि
(ख) औदारिक-वैक्रियाऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि। -तत्त्वार्थसूत्र २/३७
(ग) ओरालिय-वेउव्विय-आहारय तेज-कम्मण-सरीरं। -कर्मप्रकृति ६८
(घ) उदारं स्थूलम् उदारः पुरुः महानित्यर्थः। -सर्वार्थसिद्धि; धवला
(ङ) यदुदयवशाद् औदारिकशरीर-प्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीर-रूपतया परिणमयन्ति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहाऽन्योन्यानुगममरूपतया सम्बन्धयति तदौदारिकशरीरनामेत्यर्थः। -प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३३
(च) स्थानांग वृत्ति।
(छ) गर्भ-सम्मूर्च्छनजमाद्यम्। -तत्त्वार्थसूत्र २/४६
(ज) कर्मप्रकृति, पृ. ५९-६०
(झ) ज्ञान का अमृत, पृष्ठ ३१८

होती है, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं। अर्थात्—जो विविध गुण और ऋद्धियों से युक्त हो और इन ऋद्धियों के संयोग से विविध प्रकार की क्रियाएँ हों, उसे वैक्रियशरीर कहते हैं। जैसे—एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, अनेक रूप होकर एक रूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर, और बड़े शरीर से छोटा शरीर बनाना, आकाशगामी होकर पृथ्वी पर चलना, पृथ्वीचर होकर आकाशचारी बनना, दृश्य-अदृश्य रूप बनाना; इत्यादि वैक्रिय शरीर नामकर्मजन्य शरीर वैक्रिय है। वैक्रिय शरीर दो प्रकार का होता है—औपपातिक (जन्मसिद्ध) और लब्धिप्रत्यय (अजन्मसिद्ध-कृत्रिम)। जन्मसिद्ध वैक्रिय शरीर उपपात जन्म से प्राप्त होने वाला औपपातिक कहलाता है। औपपातिक वैक्रियशरीर देवों और नारकों का होता है, जबकि लब्धिप्रत्यय (कृत्रिम) वैक्रिय शरीर विशिष्ट तपोजन्य लब्धि-शक्ति से कुछ ही गर्भज मनुष्यों और तिर्यञ्चों में ही सम्भव है। इसलिए लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर के अधिकारी किसी-किसी ही गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्चों को होता है। वह भी निष्ठापूर्वक विशेष तप आदि करने पर कभी प्राप्त होना सम्भव है। यद्यपि कपितय तिर्यञ्चों और मनुष्यों में विक्रियात्मक औदारिक शरीर वैक्रियलब्धि के समय पाया जाता है; तथापि गर्भज मनुष्यों और तिर्यञ्चों के वैक्रिय-नामकर्म का उदय न होने से औदारिक शरीर मुख्य और वैक्रिय शरीर गौण/अप्रधान है। कृत्रिम वैक्रिय की कारणभूत एक दूसरे प्रकार की भी लब्धि मानी जाती है; जो तपोजन्य न होकर जन्म से ही मिलती है। ऐसी लब्धि बादर वायुकायिक तथा तेजस्कायिक जीवों में मानी गई है। जिससे वे भी लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर के अधिकारी हैं।[1]

दो प्रकार की विक्रिया : एकत्व और पृथक्त्व

विक्रिया दो प्रकार की होती है—एकत्व और पृथक्त्व। अपने शरीर को ही सिंह, व्याघ्र, हिरण, हंस आदि रूप बना लेना एकत्व-विक्रिया है; जबकि स्वशरीर से भिन्न रूपों को बनाना पृथक्त्व-विक्रिया है। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पोपपन्न वैमानिक देवों के तो दोनों ही प्रकार की विक्रिया होती है। ग्रैवेयक से लेकर सर्वार्थसिद्ध-पर्यन्त के कल्पातीत देवों में प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है। नारकों में एकत्व विक्रिया होती है। मनुष्यों में तप और विद्या की प्रधानता से एकत्व एवं पृथक्त्व दोनों विक्रियाएँ होती हैं, किन्तु तिर्यञ्चो में एकत्व विक्रिया ही होती है।[2]

---

१. (क) कर्मप्रकृति से, पृ. ६७, ६१
   (ख) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१८
   (ग) यदुदयात् वैक्रियशरीरनिष्पत्तिरतद्वैक्रिय-शरीरं नाम। —कर्मप्रकृति टीका ६८
   (घ) वैक्रिय-निबन्धनं नाम वैक्रियनाम, यदुदयाद् वैक्रियशरीर-प्रायोग्यान् पुद्गलानादाय वैक्रिय-शरीर-रूपतया परिणमयति परिणमय्य च जीव प्रदेशैः सहाऽन्योन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति। —प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३३
   (ङ) नारक-देवानामुपपातः। वैक्रियमौपपातिकं। लब्धिप्रत्ययं च।—तत्त्वार्थसूत्र २/३५, ४७, ४८
२. कर्मप्रकृति से, पृ. ६२

(३) आहारकशरीर नामकर्म–जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर प्राप्त हो या बने, उसे आहारक शरीर नामकर्म कहते हैं। आहारक शरीर नामकर्म से प्राप्त होने वाले शरीर का नाम आहारक शरीर है। प्राणिदया, अन्यक्षेत्र (महाविदेह) में वर्तमान तीर्थंकरों की ऋद्धि-दर्शन तथा संशय-निवारण करने आदि कारणों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज लब्धिविशेष से जो शरीर धारण करते हैं, वह आहारकशरीर कहलाता है। यह शरीर अतिविशुद्ध, स्फटिक-सा निर्मल, शुभ, व्याघात-रहित, अर्थात्–न तो वह दूसरों से रुकता है और न दूसरों को रोकने वाला होता है। यह शरीर विशिष्ट लब्धिजन्य होता है। यह लब्धि मनुष्य के सिवाय अन्य जीवों में नहीं होती। मनुष्यों में भी सभी को नहीं होती, अपितु चतुर्दशपूर्वधारक मुनिराज को प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि जब कभी किसी चतुर्दश-पूर्वधारी मुनिराज को किसी विषय में सन्देह हो और सर्वज्ञ का सान्निध्य (सामीप्य) न हो, तब औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव समझकर मुनि अपनी विशिष्ट लब्धि के प्रयोग द्वारा एक हस्त (मुण्ड हाथ)-प्रमाण शरीर (का पुतला) बनाते (निकालते) हैं, जो शुभपुद्गलजन्य होने से अव्याघाती होता है।[1] ऐसे शरीर से अन्य क्षेत्र-स्थित सर्वज्ञ के पास पहुँचकर और उनसे सन्देह का निवारण कर पुनः अपने स्थान पर आ जाते हैं। यह सारा कार्य अन्तर्मुहूर्त्त में सम्पन्न हो जाता है। यही आहारक शरीर का स्वरूप और प्रयोजन है। इस प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर मुनिराज इस शरीर को छोड़ देते हैं। वस्तुतः यह आहारक शरीर औदारिक शरीरस्थ रस आदि धातुओं से रहित होता है। यह समचतुरस्र-संस्थान, शुभ-अंगोपांगों तथा मस्तिष्क (उत्तमांग) से निष्पन्न होता है। यह शरीर क्षणभर में एक लाख योजन गमन करने में समर्थ होता है।[2]

(४) तैजस शरीर-नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को तैजस शरीर प्राप्त हो, या बने, उसे तैजसशरीर-नामकर्म कहते हैं। इस नामकर्म से निर्मित शरीर तैजसशरीर कहलाता है। तैजस-परमाणु पुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस है। प्राणियों के शरीर में विद्यमान उष्णता, ऊर्जाशक्ति से इस शरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह स्थूल शरीर पर दीप्ति-विशेष, तेजस्विता, शक्ति, पाचन-क्षमता आदि का कारण है। तपोविशेष से प्राप्त तेजोलब्धि तथा तेजोलेश्या-शीतलेश्या का हेतु भी यही शरीर होता है। कोई-कोई तपस्वी क्रोधाविष्ट होकर तेजोलेश्या के द्वारा दूसरों को हानि

---

१. (क) आहारक-निबन्धनं नाम आहारकनाम। आहियते निर्वर्त्यते इत्याहारकम्। –कर्मग्रन्थ टीका ३३
(ख) यदुदयादाहारक-शरीर-निर्वृत्तिस्तदाहारकशरीरं नाम। –कर्मप्रकृति टीका ६८
(ग) शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दश-पूर्वधरस्यैव। –तत्त्वार्थसूत्र २/४९

२. (क) कर्मप्रकृति से, पृ. ६३-६४
(ख) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१९

अथवा प्रसन्न होने पर शीतलेश्या द्वारा लाभ पहुँचाता है, वह सब भी इसी तैजसशरीर के प्रभाव से समझना चाहिए।[1]

(५) कार्मण शरीर नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को कार्मणशरीर की प्राप्ति हो, वह कार्मणशरीर नामकर्म है। ज्ञानावरणीय आदि आठ मूल और उनकी उत्तर कर्म-प्रकृतियों से (कर्मपरमाणुओं से) बना हुआ शरीर कार्मण-शरीर कहलाता है और इसी कारण से जीव नरकादि चतुर्गतिकरूप संसार में जन्म मरण के चक्कर लगाता रहता है, वहाँ प्राप्त सुख-दुःखों का उपभोग करता रहता है।

औदारिक से कार्मणशरीर पर्यन्त विशेषता–औदारिक शरीर के अनन्तर वैक्रिय शरीर आदि कार्मण शरीर पर्यन्त एक के बाद दूसरे को क्रमशः कहने का कारण यह है कि उत्तर-उत्तर के शरीर पूर्व-पूर्व के शरीर की अपेक्षा सूक्ष्मतर हैं। अर्थात् सबसे स्थूल औदारिक शरीर, उससे सूक्ष्म है–वैक्रिय शरीर, वैक्रिय से सूक्ष्म आहारक और आहारक से सूक्ष्म तैजस तथा तैजस से सूक्ष्म कार्मण शरीर है। यहाँ स्थूल और सूक्ष्म से मतलब रचना की शिथिलता और सघनता से है, परिणाम से नहीं। अतः वैक्रिय, आहारक आदि शरीर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म और उत्तर-उत्तर की अपेक्षा स्थूल हैं। अर्थात्–जिस शरीर की रचना जिस दूसरे की रचना से शिथिल हो, वह उससे स्थूल और दूसरा उससे सूक्ष्म। यह शिथिलता और सघनता पौद्गलिक परिणति पर निर्भर है। तथा पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीरों के सूक्ष्म होने पर भी औदारिक से वैक्रिय के, वैक्रिय से आहारक के प्रदेश क्रमशः असंख्यात गुणे हैं, तथा आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण के प्रदेश अनन्त-अनन्त गुणे हैं। अनन्त भी अनन्त गुणा होने से उनमें तारतम्य है।[2]

पाँचों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर क्यों ?

पुद्गलों में अनेक प्रकार से परिणमन होने की शक्ति है, जिससे वे परिमाण (मात्रा) में अल्प होने पर भी शिथिलरूप में परिणत होते हैं, तब स्थूल और परिमाण में बहुत होने पर भी जैसे-जैसे सघन (ठोस) होते जाते हैं, वैसे वे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर कहलाते हैं। उदाहरणार्थ–रूई और लोहा समान परिमाण में लेने पर रूई की रचना शिथिल होगी, लोहे की उससे सघन-निबिड़। इसी से परिमाण बराबर होने पर भी रूई

---

१. (क) यदुदया तैजस-शरीर-निर्वृत्तिस्तत्तैजसशरीरनाम। –कर्मप्रकृति टीका ६८
(ख) तेजोनिबन्धनं नाम तैजसनाम। –कर्मग्रन्थ भा. १, टीका ३३
(ग) कर्मप्रकृति, पृ. ६४
(घ) ज्ञान का अमृत, पृ. ३१९

२. (क) ज्ञान का अमृत, पृ. ३१९
(ख) कर्मप्रकृति से, पृ. ६५-६६
(ग) परं परं सूक्ष्मम्। –तत्त्वार्थ. २/३८

की अपेक्षा लोहे का पौद्गलिक द्रव्य अधिक है, लेकिन क्रमशः सूक्ष्म होने पर भी तैजसशरीर के पूर्ववर्ती तीनों शरीरों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर-प्रदेश क्रमशः असंख्यात असंख्यात गुणे अधिक हैं और परवर्ती दो शरीर (तैजस और कार्मण) क्रमशः प्रदेशों से अनन्त-अनन्त गुणे होते हैं।

आदि के तीन शरीर एक दूसरे से असंख्यात गुणे तथा अन्तिम दो अनन्तगुणे

वैसे तो सभी शरीर अनन्त-परमाणुओं से बने स्कन्ध से बनते हैं; क्योंकि जब तक परमाणु अलग-अलग हों, तब तक उनसे शरीर नहीं बनता है; किन्तु परमाणुओं से बने जिन स्कन्धों से शरीर की रचना होती है; वे स्कन्ध ही शरीर के आरम्भिक द्रव्य हैं, और सभी शरीरों के वे आरम्भिक स्कन्ध अनन्त परमाणुओं से बने हुए होने चाहिए। इस अपेक्षा से औदारिक आदि सभी शरीरों के आरम्भिक स्कन्ध अनन्त परमाणुओं से बने होने पर भी औदारिक शरीर आरम्भिक स्कन्ध के अनन्त परमाणुओं से वैक्रिय शरीर के आरम्भिक स्कन्धगत अनन्त परमाणु असंख्यात गुणे अधिक होते हैं। यही असंख्यातगुणी अधिकता वैक्रिय से आहारक शरीर स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या में भी समझनी चाहिए। किन्तु तैजस शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या आहारकशरीर के स्कन्धगत अनन्त परमाणुओं से अनन्तगुणी अधिक होती है। इसी तरह तैजस शरीर से कार्मण-शरीर के स्कन्धगत परमाणु अनन्तगुणे अधिक हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भिक द्रव्य अधिकाधिक ही होता है, लेकिन पुद्गलों की परिणमन करने की शक्तियों की विचित्रता के कारण ही उत्तर-उत्तर का शरीर सघन, सघनतर और सघनतम बनता जाता है, इसी कारण यह पंचविध शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम कहलाता है।[1]

तैजस-कार्मणशरीर अप्रतिघाती

यही कारण है कि तैजस और कार्मण शरीर क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होने के कारण ये दोनों शरीर प्रतिघातरहित होते हैं। इनका प्रवेश सर्वत्र निर्बाध गति से बिना रुकावट के हो सकता है। लोक में कहीं भी ये प्रतिघातित नहीं होते। कैसी भी कठोरतम वस्तु इन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती, क्योंकि ये दोनों शरीर अत्यन्त सूक्ष्म हैं, और सूक्ष्म वस्तु का बेरोकटोक सर्वत्र प्रवेश पाना प्रत्यक्षसिद्ध है। जैसे-लोहपिण्ड में अग्नि। वैक्रिय और आहारक शरीर के सूक्ष्म होते हुए भी वे तैजस-

---

१. (क) प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ।
(ख) अनन्तगुणे परे । —तत्त्वार्थ. २/३९-४०
(ग) कर्मप्रकृति से, पृ. ६६
(घ) अनन्तगुणे का अर्थ है—अभव्यों से अनन्तगुणा, और सिद्धों से अनन्तवें भाग गुणाकार । गुणाकार का प्रमाण—पल्य का असंख्यातवाँ भाग समझना चाहिए।

कार्मण शरीर की भाँति अप्रतिघाती या अव्याहतगति वाले, इसलिए नहीं कहे गए कि अप्रतिघात का एक विशिष्ट अर्थ है–जिसकी लोक के अन्त तक अव्याहत गति हो, बेरोकटोक प्रवेश हो। वैक्रिय और आहारक शरीर अव्याहतगति वाले अवश्य हैं, लेकिन उनकी अव्याहतगति लोक के अन्त तक नहीं है, उनकी अव्याहतगति लोक के एक विशिष्ट भाग त्रसनाडी-पर्यन्त सीमित है, उनका अप्रतिघातित्व एकदेशिक है, सार्वत्रिक नहीं। जबकि तैजस और कार्मण शरीर का अप्रतिघातित्व लोकव्यापी है, उसके अप्रतिघातित्व में कोई प्रतिबन्ध नहीं है, जहाँ तक जीवमात्र विद्यमान है, वहाँ तक ये दोनों जीव के साथ चलते हैं–रहते हैं।[1]

तैजस और कार्मण अनादिसम्बन्ध युक्त शरीर

तैजस और कार्मण शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं और जीव के साथ प्रवाह रूप से उनका अनादि सम्बन्ध है। जीव के साथ इन दोनों शरीरों का प्रवाह रूप से जैसा अनादि-सम्बन्ध है, वैसा औदारिक आदि तीनों शरीरों का नहीं है; क्योंकि वे अमुक काल (बद्धआयुष्य) के बाद कायम नहीं रह सकते। अतएव औदारिक आदि तीनों शरीर कादाचित्क अस्थायी सम्बन्ध वाले हैं, जबकि तैजस और कार्मण शरीर अनादि सम्बन्ध वाले हैं। जीव के साथ अनादि सम्बन्ध होने पर भी इनका अन्त इसलिए हो जाता है कि ये दोनों शरीर प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं, व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं। व्यक्ति की अपेक्षा से इनका भी उपचय-अपचय हुआ करता है। जो भावात्मक पदार्थ व्यक्तिशः अनादि है, वह नष्ट नहीं होता, जैसे–परमाणु।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों को तो सभी जीव समानरूप से धारण नहीं करते, किन्तु तैजस और कार्मण शरीर को सभी जीव समानरूप से धारण करते हैं। जैसे–किसी जीव के केवल औदारिक शरीर होता है, किसी के केवल वैक्रिय शरीर होता है, तो किसी को विशिष्ट लब्धि प्राप्त होने पर औदारिक के साथ वैक्रिय शरीर उत्पन्न होता है। लेकिन सभी संसारी जीवों को तैजस कार्मण शरीर तो अवश्य प्राप्त होते हैं, चाहे वे तीनों शरीरों में से किसी भी शरीर वाले हों।[2]

शरीरों का प्रयोजन : उपभोग

एक प्रश्न है–सामान्यतया संसारी जीवों में पाये जाने वाले पाँचों शरीरों का मुख्य प्रयोजन क्या है ? संसारी जीवों के ये शरीर क्यों माने गये हैं ? प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई प्रयोजन होता ही है, इस दृष्टि से इन शरीरों का भी कोई न कोई प्रयोजन होना चाहिए। कर्म वैज्ञानिकों ने शरीरों को भी सप्रयोजन बताते हुए कहा है–शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है। उपभोग का अर्थ है–नेत्र-श्रोत्र आदि इन्द्रियों से

---

१. (क) अप्रतीघाते। –तत्त्वार्थसूत्र
(ख) कर्मप्रकृति से, पृ. ६८-६९
२. (क) वही, पृ. ६९-७०
(ख) अनादिसम्बन्धे च, सर्वस्य। –तत्त्वार्थ. २/४२-४३

मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषय ग्रहण करके उनसे सुख-दुःख आदि का अनुभव करना। हाथ-पैर, जीभ आदि अवयवों से दान, हिंसा-अहिंसा, दया आदि शुभ-अशुभ क्रिया द्वारा शुभाशुभ कर्मों का बन्ध करना, बद्धकर्मों के शुभ-अशुभ विपाक का वेदन करना तथा तप, त्याग, धर्मध्यान या पवित्र अनुष्ठानों द्वारा कर्म-निर्जरा करना आदि सब उपभोग कहलाता है। परन्तु यह उपभोग तो औदारिकादि प्रथम चार शरीरों से ही सिद्ध होता है, अन्तिम कार्मण शरीर से सिद्ध नहीं होता। इसलिए औदारिकादि प्रथम चार को सोपभोग और अन्तिम कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा गया है।

चार शरीर सोपभोग हैं, कार्मण शरीर निरुपभोग है

एक प्रश्न और है—औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन शरीर तो इन्द्रियसहित और सावयव हैं, इसलिए इनके द्वारा पूर्वोक्त प्रकार का उपभोग साध्य हो सकता है, लेकिन तैजस शरीर तो न सेन्द्रिय है और न सावयव है। ऐसी स्थिति में उसे सोपभोग कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि तैजस शरीर सेन्द्रिय और सावयव नहीं है, तथापि पाचनादि कार्यों में, ऊर्जाशक्ति, तेजस्विता बढ़ाने में उपभोग होता है, तथा तेजोलेश्या-शीतलेश्या की लब्धि विशिष्ट तप के द्वारा प्राप्त करके उस शरीर द्वारा कोपभाजन को शाप देने, जलाने तथा प्रसन्न होकर अनुग्रह प्राप्त होने पर अनुग्रह करने एवं शान्ति पहुँचाने में उपभोग हो सकता है। इस तरह तैजस शरीर द्वारा शाप-अनुग्रह आदि में उपभोग होने से सुख-दुःख आदि का अनुभव, शुभाशुभ कर्म का बन्ध व फलभोग आदि उसके उपभोग माने गए हैं।

कार्मण शरीर ही सब शरीरों की जड़ और निरुपभोग

यद्यपि तैजस शरीर की तरह कार्मण शरीर भी सेन्द्रिय और सावयव न होने पर भी वह सभी शरीरों की जड़ है। अतएव कार्मण शरीर को अन्य शरीरों के उपभोग का मूल सूत्रधार होने से पूर्वोक्त चार शरीरों के द्वारा किये जाने वाले उपभोग को कार्मण शरीर का उपभोग मानना चाहिए। किन्तु कार्मण शरीर को निरुपभोग कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक अन्य शरीर सहायक न हों, तब तक कार्मण शरीर अकेला न तो इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण कर सकता है, और न सुखदुःखानुभव आदि रूप में उसका डायरेक्ट उपभोग कर सकता है। अतः विशिष्ट उपभोग को सिद्ध करने में साक्षात् साधन औदारिक आदि चार शरीर ही हैं। इसलिए इन्हें सोपभोग और कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि सोपभोगत्व और निरुपभोगत्व का मूलाधार साक्षात् और परम्परा है।[1]

---

१. (क) इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरूप भोगः। —सर्वार्थसिद्धि २/४४
(ख) कर्म-प्रकृति से, पृ. ७०-७१
(ग) निरुपभोगमन्त्यम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/४५
(घ) कम्म-विगारो कम्मसमुद्दिट्ठं विचित्त कम्म निप्फन्नं।
सव्वेसिं सरीराणं कारणभूयं मुणेयव्वं ॥ —प्रथम कर्मग्रन्थ टीका १३

एक जीव में एक साथ कितने शरीर सम्भव ?

संसारी जीवों के (विग्रहगति में केवल तैजस और कार्मण शरीर होने से) कम से कम दो शरीर पाये जाते हैं। जब तीन होते हैं, तब वैक्रिय, तैजस और कार्मण या औदारिक, तैजस, कार्मण होते हैं, जब चार शरीर होते हैं, तब तैजस, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक होते हैं। पहला विकल्प वैक्रियलब्धि के समय मनुष्यों और तिर्यञ्चों में, जबकि दूसरा विकल्प आहार-कलब्धि के समय चतुर्दशपूर्वधारी मुनि में सम्भव है। वैक्रियलब्धि और आहारकलब्धि का युगपत् एक साथ प्रयोग सम्भव नहीं है, इसलिये एक जीव में अधिकतम चार शरीर होते हैं। वैक्रियलब्धि के प्रयोग के समय तथा लब्धि से शरीर बना लेने पर नियम से प्रमत्त दशा होती है, जबकि आहारकलब्धि का प्रयोग तो प्रमत्त दशा में होता है, किन्तु उससे शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय होने से अप्रमत्तभाव पाया जाता है।[1] इसलिए एक साथ ५ शरीर आविर्भाव की दृष्टि से नहीं होते।

(४) अंगोपांगनामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के अंग और उपांग के आकार में पुद्गलों का परिणमन होता है, उसे अंगोपांगनामकर्म कहते हैं। अंगोपांग शब्द में अंग, उपांग और अंगोपांग, इन तीन शब्दों का समावेश है। अंग के ८ भेद हैं—दो हाथ, दो उरु (जांघें), पीठ, मस्तक और उर—हृदय (छाती—वक्ष) तथा उदर, ये आठ अंग हैं। अंगों के साथ संलग्न अवयव उपांग कहलाते हैं, जैसे—हाथ-पैर की अंगुलियां, नाक, कान और जंघा से संलग्न दोनों टांगें आदि। अंगुलियों की रेखा, पर्व, केश, रोमराजि आदि को अंगोपांग कहते हैं। हाथ, पैर आदि अंगों के लिये किसी न किसी आकृति की आवश्यकता होती है और आकृति औदारिक आदि प्रथम तीन शरीरों में ही पाई जाती है। इसलिए इन शरीरों के भेद से अंगोपांग नामकर्म के भी तीन भेद होते हैं—(१) औदारिक शरीर अंगोपांग नामकर्म, (२) वैक्रिय शरीर—अंगोपांग नामकर्म, और (३) आहारक शरीर—अंगोपांग नामकर्म। अपने-अपने शरीररूप से परिणत पुद्गलों से उन-उन के योग्य अंगोपांग बनते हैं। जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीररूप से परिणत पुद्गलों से वैक्रिय-शरीररूप से परिणत पुद्गलों से तथा आहारक शरीररूप से परिणत पुद्गलों से, औदारिक अंगोपांगरूप, वैक्रिय अंगोपांगरूप तथा आहारक अंगोपांगरूप अवयव बनते हैं, क्रमशः उनका नाम औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग एवं आहारक-अंगोपांग-नामकर्म है। एकेन्द्रिय जीवों में अंगोपांग-नामकर्म का उदय नहीं पाया जाता है।[2]

---

१. (क) तदादीनिभाज्यानि युगपदेकस्याऽचतुर्भ्यः । —तत्त्वार्थसूत्र २/४४
(ख) कर्म-प्रकृति से, पृ. ७३-७४
(ग) प्रज्ञापना, पद २१

२. (क) यदुदयात् ..... शरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामंगोपांग-विभागपरिणति रूपं जायते तदंगोपांगनाम । —प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३४
(ख) बाहुस पिट्ठी सिर उर उयरंग, उवंग अंगुली पमुहा। सेसा अंगोवंगा । —वही टीका ३४
(ग) औदालिय-वेगुव्विय-आहारय अंगुवंगमादि भणिदं। अंगोवंग तिविहं ....। —कर्म प्रकृति ७३

(५) बन्धननाम कर्म-शरीर आदि के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों का सम्बन्ध-सम्मिलन-संधान होने पर शरीर आदि बनते हैं। उनसे सम्बन्ध कराने का माध्यम बनता है-बन्धननामकर्म। बन्धननामकर्म का स्वरूप यह है-जिस कर्म के उदय से पूर्व में ग्रहण किये हुए औदारिक आदि शरीर-पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले तथा वर्तमान में ग्रहण किये जा रहे शरीर-पुद्गल परस्पर बन्धन को प्राप्त हों, उसे बन्धननाम कर्म कहते हैं। बंधन नाम कर्म औदारिक आदि शरीरों के पुद्गलों को वैसे ही बांध देता है-जोड़ देता है, जैसे-लाख आदि चिपकने वाले पदार्थों से दो वस्तुएँ आपस में जोड़ दी जाती हैं। यदि बन्धन नामकर्म न हो तो शरीराकार-परिणत पुद्गलों में वैसी ही अस्थिरता रहती है, जैसी-हवा में उड़ते हुए सत्तु के कणों में होती है। अतः शरीरों के नाम के आधार पर बन्धननामकर्म के इस अपेक्षा से ५ भेद होते हैं। (१) औदारिक-शरीर-बन्धन-नाम, (२) वैक्रियशरीर-बन्धननाम, (३) आहारक-शरीर-बन्धन-नाम, (४) तैजसशरीरबन्धननाम, (५) कार्मणशरीरबन्धन-नाम। जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का परस्पर एवं तैजस-कार्मण-शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह **औदारिकशरीर-बन्धन-नामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से पूर्व-गृहीत वैक्रिय शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रियशरीरपुद्गलों का आपस में सम्बन्ध तथा तैजस, कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह **वैक्रियशरीरबन्धन नामकर्म** कहलाता है। जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का परस्पर व तैजस-कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह **आहारकशरीर-बन्धन नामकर्म** कहलाता है। जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत एवं वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले तैजस पुद्गलों का परस्पर तथा कार्मण शरीर-पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह **तैजस शरीर नामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मणशरीर-पुद्गलों का आपस में बन्ध होता है, उसे **कार्मणशरीर-बन्धननामकर्म** कहते हैं। पूर्व में बन्धन नामकर्म के पूर्वोक्त पांच भेद बताए गए हैं, किन्तु अपेक्षा दृष्टि से उसके पन्द्रह भेद भी होते हैं। जैसे-मूल शरीर का मूल शरीर के साथ संयोग करने से पांच, औदारिक, वैक्रिय, और आहारक के साथ क्रमशः एक बार तैजस शरीर को एक बार कार्मणशरीर को संयोग करने से क्रमशः ४+३=७ भेद बनते हैं। औदारिक आदि तीनों आद्य शरीरों के साथ युगपत् तैजस-कार्मणशरीर का संयोग करने से तीन भेद बनते हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-

I. द्विकसंयोगी-५ (१) औदारिक-औदारिक, (२) वैक्रिय-वैक्रिय, (३) आहारक-आहारक, (४) तैजस-तैजस और (५) कार्मण-कार्मण।

II. द्विकसंयोगी=३ (१) औदारिक-तैजस, (२) वैक्रिय-तैजस, (३) आहारक-तैजस।

III. द्विकसंयोगी=४ (१) औदारिक-कार्मण, (२) वैक्रिय-कार्मण, (३) आहारक-कार्मण, और (४) तैजस-कार्मण।

IV. युगपत् तैजसकार्मण-संयोगी=३ (१) औदारिक-तैजस-कार्मण, (२) वैक्रिय तैजस-कार्मण और (३) आहारक-तैजस-कार्मण। इस प्रकार बंधन-नामकर्म से विस्तार अपेक्षा से ५+३+४+३=१५ भेद हुए। इनका पूरा नाम कहने के लिए प्रत्येक के साथ बन्धननामकर्म जोड़ देना चाहिए। जैसे–औदारिक-औदारिक शरीर-बन्धननामकर्म इत्यादि। इनके लक्षण भी पूर्ववत् समझ लेने चाहिए। जैसे–जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिकादि शरीर-पुद्गलों का गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों के साथ परस्पर सम्बन्ध हो, वह औदारिक-औदारिक आदि शरीर-बन्धननामकर्म है।[1]

(६) संघात-नामकर्म–पूर्वगृहीत और गृह्यमाण औदारिक शरीरादि पुद्गलों का बन्धन तभी सम्भव है, जब वे दोनों एक दूसरे के निकट सन्निहित होंगे। यह कार्य जिस कर्म के द्वारा किया जाता है, उसका नाम है–संघात नामकर्म। संघात का अर्थ है–एकत्रित करके सन्निहित करना। अतः जिस कर्म के उदय से गृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्गल परस्पर सन्निहित होकर व्यवस्थित रूप से स्थापित होते हैं, उसे संघात नामकर्म कहते हैं।

संघातनाम कर्म का कार्य है पूर्वगृहीत और गृह्यमाण औदारिकादि शरीर के योग्य पुद्गलों को परस्पर सन्निहित करके एक दूसरे के पास व्यवस्थित रूप से स्थापित करना। जिससे परस्पर प्रदेशों में अनुप्रवेश से उन पुद्गलों को एकरूपता प्राप्त हो सके। इसके पश्चात् ही वे पुद्गल बन्धन-नामकर्म से भलीभांति सम्बद्ध होते हैं। जैसे–दंताली से इधर-उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है, ताकि बाद में वह गट्ठड़ के रूप में बंध सके। वैसे ही संघातनामकर्म शरीरयोग्य-पुद्गलों को सन्निहित करता (समीप लाता) है, और बन्धन-नामकर्म के द्वारा वे सम्बद्ध होते हैं। औदारिकादि ५ शरीरों के आधार से संघातनामकर्म के भी बन्धननामकर्म की तरह पांच भेद होते हैं– (१) औदारिक संघातनामकर्म, (२) वैक्रियसंघातनामकर्म, (३) आहारक संघात-नामकर्म, (४) तैजस संघात नामकर्म, और (५) कार्मणसंघात नामकर्म।

---

१. (क) कर्मप्रकृति से पृ. ७७-७८
(ख) शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योऽन्य-प्रदेश-संश्लेषणं यतो भवति तद् बन्धन-नाम। –सर्वार्थसिद्धि ८/११
(ग) उरलाइ-पुग्गलाणं निबद्ध-बज्झंतयाण संबंध।
जं कुणइ जइसमं, तं उरलाइ बंधणं नेमं ॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ ३५
(घ) बन्धन-पंचकं न स्यात्तुल्येषु शरीर-परिणती सत्यामप्यसम्बन्धत्वात् पवनाहत-कुंडस्थितारलीमित-वस्तुजातमिवैकमर्थैं न स्यादिति। –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३४
(ङ) पंच य सरीर बंधणणाम ओरालछह य वेउव्वं।
आहार तेज-कम्मण-सरीर-बंधण गुणनामिदि। –कर्मप्रकृति ७०
(च) ओदालदिउव्वाहाराण सगले य कम्म-जुत्ताणं।
नवबंधणाणि इयर-दुसहियाणं तिहिं तेसिं च ॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ ३७
(छ) कर्म-प्रकृति से पृ. ८०-८१

इनके लक्षण इस प्रकार हैं–जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीररूप, परिणत, वैक्रियशरीररूपपरिणत, आहारकशरीररूप परिणत, तैजसशरीररूप-परिणत और कार्मणशरीररूप परिणत गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, अर्थात्–एकत्रित होकर वे स्व-स्वशरीर के पास व्यवस्थापूर्वक जम जाएँ, वे क्रमशः औदारिक शरीर-संघात-नामकर्म, वैक्रियशरीर-संघात नामकर्म, आहारक शरीर-संघात-नामकर्म, तैजसशरीर-संघातनामकर्म और कार्मणशरीरसंघात नामकर्म कहलाते हैं।

यद्यपि संघातनामकर्म बन्धन नामकर्म का निकटतम सहयोगी है, तथापि बन्धननामकर्म की तरह अपेक्षा दृष्टि से उसके पन्द्रह भेद न मानकर गृहीत स्व-शरीर-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण-स्वशरीर-पुद्गलों के संयोगरूप संघातों की शुभरूपता का प्राधान्य बताने हेतु संघातनामकर्म के सिर्फ ५ भेद कहे गए हैं।[1]

(७) संहनन नामकर्म–जिस कर्म के उदय से वज्रऋषभनाराच आदि संहनन प्राप्त होते हैं, अथवा जिस कर्म के उदय से संहनन, अर्थात् हड्डियों की रचना-विशेष (हड्डियों का परस्पर जुड़ना या हड्डियों की संधियों का शरीर में दृढ़ होना) प्राप्त होती है, उसे संहनन (संघयण) नामकर्म कहते हैं।

औदारिक शरीर के सिवाय वैक्रिय आदि किसी भी शरीर में हड्डियाँ नहीं होती हैं, अतः संहनन नामकर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है। अर्थात्–मनुष्य और तिर्यंचों के औदारिक शरीर होने से, उनमें ही संहनन नामकर्म का उदय पाया जाता है। संहनननामकर्म के ६ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) वज्रऋषभनाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच (५) कीलक और (६) छेवट्ट (सेवार्त्त) संहनन।

इनके लक्षण

वज्रऋषभनाराच–वज्र+ऋषभ+नाराच, इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न है। वज्र का अर्थ है–कीली, ऋषभ का अर्थ है वेष्टन/पट्टी और नाराच का अर्थ है–दोनों ओर मर्कटबन्ध। इसका फलितार्थ हुआ–जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कटबन्ध से बंधी हुई दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी का वेष्टन–पट्टा हो, और इन तीनों हड्डियों को

---

१. (क) बंधन-नाम असंहतानां पुद्गलानां न संभवति, अतोऽन्योऽन्य-सन्निधान-लक्षण-पुद्गल-संहतेः कारणं संघातमाह । –प्रथम कर्मग्रन्थ ३६
(ख) जं संघायइ उरलाई-पुग्गले, तणगणं व दंताली। तं संघायं ॥ –वही, ३६ गा.
(ग) पंचसंघादणामं ओदालिय तह य जाण वेउव्वं ।
आहार-तेज-कम्मसरीर संघाद-णाममिति ॥ –कर्मप्रकृति ६७
(घ) बंधणमिव तणुनामेण पंचयिह । –प्रथम कर्मग्रन्थ ३६
(ङ) एवमिहापि स्वशरीर-पुद्गलानां स्वशरीर-पुद्गलान् प्रति ये संयोगरूपाः संघाताः शुभा इति प्राधान्य-ख्यापनाय पंचैव संघाता अभिहिता इति । –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३६

भेदने वाली हड्डी की कील लगी हुई हो, उसे वज्रऋषभ-नाराच कहते हैं। अतः जिस कर्म के उदय से हड्डियों की ऐसी रचना-विशेष हो, वह **वज्रऋषभ-नाराच-संहनन नामकर्म** कहलाता है। **ऋषभनाराच-संहनन नामकर्म**–उसे कहते हैं, जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना-विशेष में दोनों ओर हड्डियों का मर्कटबन्ध हो, तीसरी हड्डी के वेष्टन भी हो, किन्तु तीनों हड्डियों को भेदने वाली कीली न हो। **नाराच संहनन-नामकर्म**–उसे कहते हैं, जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में दोनों ओर मर्कटबन्ध तो हो, लेकिन वेष्टन (पट्टा) और कीली न हो। **अर्ध-नाराच-संहननामकर्म**–जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में एक ओर मर्कटबन्ध और दूसरी ओर कील हो। **कीलिकासंहनन नामकर्म**–उसे कहते हैं जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबन्ध और वेष्टन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुड़ी हुई हों। **छेवट्ट (सेवार्त), संहनन-नामकर्म**–उसे कहते हैं–जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबन्ध, वेष्टन और कील न होकर यों ही हड्डियाँ आपस में जुड़ी हुई हों। छेवट्ट का दूसरा नाम छेदवृत्त भी है। अर्थात्–वह संहनन, जिसमें हड्डियाँ पर्यन्तभाग में एक दूसरे का स्पर्श करती हुई रहती हैं, तथा सदा चिकने पदार्थों के प्रयोग एवं तैलादि के मालिश की अपेक्षा रखती हैं, उसे सेवार्त, छेवट्ट या सेवार्तक संहनन कहते हैं।[1]

उक्त छह संहननों में से विकलचतुष्क–अर्थात्–द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक चार जाति के जीवों में छठा संहनन होता है। एकेन्द्रिय जीवों के संहनन होता ही नहीं है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिज जीवों के प्रथम संहनन होता है। आदि के तीन संहनन उत्तम हैं। उत्तम संहनन वाले मनुष्य ही ध्यान करने में पूर्ण सक्षम होते हैं। अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में छहों संहनन वाले, पंचम आरे में अन्तिम तीन संहनन वाले, छठे आरे में अन्तिम एक सेवार्त संहनन वाले जीव होते हैं।

---

१. (क) संघयणमट्ठि निचओ। संहन्यते दृढी क्रियन्ते शरीरपुद्गलं येन तत् संहननम्।
–प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३७

(ख) अस्थ्याः निचयः रचना विशेषोऽस्थिनिचयः ततु संहननम्। –वही, टीका ३७

(ग) यस्योदयादस्थि-बन्धविशेषोभवति तत्संहनन-नाम। –कर्मग्रन्थ टीका ३७

(घ) इममुसलंगि, इदमस्थिनिचयात्मकं संहननम् औदारिकशरीर एव, नान्येषु शरीरेषु, तेषाम् स्थिरत्वात्। –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३८

(ङ) प्रज्ञापना–२३/२९३

(च) स्थानांग स्थान ६/४/९४

(छ) तं छद्धा वज्जरिसहनाराचं तह रिसहनाराचं, नाराचं, अद्धनाराचं, कीलियं छेवट्टं।'
–कर्मग्रन्थ १/३६-३८

(ज) गोम्मटसार (क) ५/६/७ में इनके नाम वज्र, नाराच, कीलित और असंप्राप्तासृपाटिक हैं।

(झ) इह रिसहोपट्टो य कीलिया वज्ज। उभओ मक्कडबंधो नाराचं।''' इह ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, वज्रशब्दे कीलिकाऽभिधीयते, नाराचशब्देनोभयतो मर्कटबन्धो भण्यते।
–प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ३८

सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रों, विद्याधरों, म्लेच्छ मानवों, तथा तिर्यंचों एवं नागेन्द्रपर्वत से परवर्ती तिर्यञ्चों में छहों संहनन होते हैं।[1]

(८) संस्थान-नामकर्म–संस्थान का अर्थ है–(शरीर की) आकृति। मनुष्यादि जीवों में जो शारीरिक विभिन्नताएँ और आकृतियों में, डील-डौल में, शारीरिक ढांचों में जो विविधताएँ दिखती हैं, उनका कारण संस्थाननामकर्म है। अथवा जिस कर्म के उदय से जीव को समचतुरस्र आदि छह संस्थानों में से किसी एक संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। संस्थान नामकर्म के ६ भेद होते हैं–(१) समचतुरस्र संस्थान नामकर्म, (२) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नामकर्म, (३) सादि-संस्थान-नामकर्म, (४) वामन-संस्थान नामकर्म, (५) कुब्जक-संस्थान नामकर्म, और (६) हुण्डक-संस्थान नामकर्म।

इनके लक्षण

समचतुरस्र-संस्थान-नामकर्म में सम का अर्थ है–समान, चतुर् यानी चार, अस्र का अर्थ है–कोण। पल्हथी (पालखी या पद्मासन) लगा कर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हों, अर्थात्–दोनों जानुओं (घुटनों) का, वामस्कन्ध और दक्षिण स्कन्ध का, आसन और कपाल का अन्तर समान हो, या सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव ठीक प्रमाण में तथा शुभ हों, उसे समचतुरस्र-संस्थान कहते हैं। यह संस्थान जिस कर्म के उदय के जीव को प्राप्त हो, उसे समचतुरस्र संस्थान-नामकर्म कहते हैं। न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान नामकर्म–न्यग्रोध कहते हैं–वटवृक्ष को, परिमण्डल का अर्थ है–चारों ओर से, सब तरफ से। न्यग्रोध के परिमण्डल के समान जिस शरीर का संस्थान–आकार या ढांचा हो, उसे न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान कहते हैं। अर्थात्–वटवृक्ष की तरह जिस शरीर का ढांचा (संस्थान) नाभि से ऊपर का भाग विस्तृत पूर्ण मोटा (स्थूल) या उचित प्रमाणोपेत अवयव वाला हो और नाभि से नीचे का भाग हीन (पतले) अवयव वाला हो, उसे न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को शरीर की आकृति न्यग्रोध-परिमण्डल के समान प्राप्त हो उसे न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान-नामकर्म कहते हैं। सादिसंस्थान नामकर्म–सादि का अर्थ है–नाभि के नीचे का भाग। जिस संस्थान में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण, मोटा और नाभि के ऊपर का भाग पतला/हीन हो अर्थात् नाभि के नीचे के अवयव पूर्ण/मोटे और नाभि के ऊपर के अवयव पतले होते जाएँ, वह सादि संस्थान है। कहीं-कहीं सादि संस्थान के बदले साची संस्थान शब्द मिलता है, जिसका अर्थ होता

१. (क) कर्मप्रकृति (विजयजयंतसेनसूरि) से. पृ. ८६, ८९।
(ख) विउल-चउक्के छट्ठं पढमं तु असंख आउ जीवेसु ।
चउत्थे पंचम छट्ठे कमसो बियं-छत्ति गेवक-संहउणी ॥
सव्वविदेहेसु तहा विज्जाहर-मिलिच्छ-मणुय-तिरिएसु ॥
छस्संहउणा भणिया, णागिंद-परेदो य तिरिएसु ॥ –कर्मप्रकृति ८८, ८९

है—सेमल (शाल्मली) वृक्ष-सम संस्थान। जिस प्रकार सेमल वृक्ष का धड़ जैसा पुष्ट होता है, वैसा ऊपर का भाग नहीं होता, इसी प्रकार जिस शरीर में नाभि के नीचे का भाग पुष्ट परिपूर्ण हो, और ऊपर का भाग हीन हो, वह साची संस्थान है। जिस कर्म के उदय से जीव को सादि/साची संस्थान मिलता है, वह सादि/साची संस्थान नामकर्म है। इस संस्थान का रूप समभुज त्रिकोणात्मक △ जैसा होता है।[1]

कुब्जक संस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से कुब्ज (कुबड़े) शरीर की प्राप्ति हो, वह कुब्जक संस्थान-नामकर्म है। जिस शरीर में हाथ-पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, किन्तु छाती, पीठ, पेट आदि अवयव टेढ़े मेढ़े हों, वह कुब्जक-संस्थान है। **वामन-संस्थान नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से वामन (बौना-ठिगना) शरीर प्राप्त हो, उसे वामन संस्थान-नामकर्म कहते हैं। जिस शरीर में छाती, पीठ, पेट आदि अवयव पूर्ण हों, किन्तु हाथ-पैर आदि अवयव छोटे हों, कद में ठिगने हों, उसे वामनसंस्थान कहते हैं। **हुण्डकसंस्थान-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से शरीर के सभी अवयव बेडौल एवं बेढंगे हों, यथायोग्य प्रमाणयुक्त न हों, वह हुण्डक-संस्थान-नामकर्म कहलाता है।

देव समचतुरस्र-संस्थान वाले होते हैं। नारक तथा तीन विकलेन्द्रिय (द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय) जीव हुण्डक संस्थान वाले होते हैं। पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों और मनुष्यों के समचतुरस्र आदि छहों संस्थान होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के हाथ पैर आदि अवयव न होने से उनके संस्थान नामकर्म का उदय नहीं होता। तथा संस्थान नामकर्म का उदय भव-धारण कर लेने के अनन्तर होता है, इसलिए विग्रहगति में संस्थान-नामकर्म का उदय नहीं रहता।

(९) **वर्णनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर काला, गोरा, पीला, हरा या श्वेत वर्ण वाला बनता है, उसे वर्णनामकर्म कहते हैं। इस कर्म के पांच भेद हैं—(१) कृष्णवर्णनाम, (२) नीलवर्णनाम, (३) लोहितवर्णनाम, (४) हारिद्रवर्णनाम और (५) श्वेतवर्णनाम।

लक्षण इस प्रकार हैं—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले-सा काला (कृष्ण) हो, वह कृष्णवर्णनामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का वर्ण

---

१. (क) समचउरंस निग्गोह-साइ-खुज्जाई वामणं हुंडं। संठाणं ... —कर्मग्रन्थ प्रथम ३९
(ख) संस्थानमाकृतिः। —सर्वार्थसिद्धि
(ग) तत् संस्थानं द्विविधमित्थंलक्षणमनित्थंलक्षणं चेति। वही ५/२४
(घ) भगवती २५/३/७२४
(ङ) प्रज्ञापना १/४ जीवाभिगम प्रतिपत्ति।
(च) यदुदयादौदारिकादिशरीराकारो भवति तत्संस्थानम्। —कर्मप्रकृति टीका ७३, ७२
(छ) अवयवरचनात्मक-शरीराकृति-स्वरूपाणि शरीरे भवन्ति। —कर्मग्रन्थ प्रथम टीका ३९
(ज) कर्म प्रकृति (आ. जयन्तसेनसूरिजी) से पृ. ९८ से ९१

(रंग) तोते के पंख जैसा हरा हो वह **नीलवर्णनामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिंदूर-सा लाल (रक्त) हो, वह **लोहितवर्णनामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रंग हल्दी जैसा पीला हो, वह **हारिद्रनामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शंख जैसा सफेद (श्वेत) हो, वह श्वेतवर्ण नामकर्म है। वर्णनामकर्म के भेदों में पांच वर्णों के जो नाम दिये गये हैं, वे ही पांच मूल वर्ण हैं। इनके अतिरिक्त जितने भी लोकप्रसिद्ध वर्ण हैं, वे इन्हीं के संयोग से जन्य हैं।[1]

(१०) **गन्धनामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की शुभ/अच्छी या अशुभ/बुरी गन्ध हो, उसे गन्धनामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं–**सुरभिगन्ध नामकर्म** और **दुरभिगन्धनामकर्म**। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की गुलाब, केसर, कस्तूरी, कपूर, इत्र जैसी सुगन्ध होती है, उसे सुरभिगन्ध नामकर्म कहते हैं। इसके विपरीत जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की सड़ी-गली वस्तुओं जैसी बुरी गन्ध (दुर्गन्ध) हो, वह दुरभिगन्ध नामकर्म कहलाता है।[2]

(११) **रस नामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तीक्ष्ण आदि रसों वाला हो, अथवा जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभ-अशुभ रसों की उत्पत्ति हो, उसे रसनामकर्म कहते हैं। रसनामकर्म के पांच भेद हैं–(१) तिक्तरसनाम, (२) कटुरसनाम, (३) कषायरसनाम, (४) अम्लरसनाम और (५) मधुररसनाम। **लक्षण**–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ,[3] या कालीमिर्च जैसा चरचरा हो, वह **तिक्तरसनामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस चिरायता, नीम, कड़वी वस्तुओं जैसा कटु हो, वह **कटुरसनामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस आंवला, बहेड़ा जैसा कसैला हो, वह **कषाय-रसनामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस नींबू, इमली आदि खट्टे पदार्थों जैसा हो, वह **अम्लरस-नामकर्म** है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस मिश्री, शक्कर, मधु आदि मीठे पदार्थों जैसा हो, वह मधुररसनामकर्म कहलाता है। मूल में, तिक्त

---

१. (क) शरीरादौ श्वेतादि वर्णान् यत्करोति तद् वर्णनाम। –कर्मप्रकृति टीका ९१
(ख) जस्स कम्मस्स उदएण जीव-सरीरे वण्ण-णिप्पत्ती होदि तस्स कम्मक्खंधस्स वण्णसण्णा। –धवला ६/१
(ग) ..... वण्ण किण्ह-नील-लोहिय-हालिद्द-सिया। –प्रथम कर्मग्रन्थ ३९
(घ) कम्मपयडी ९१
(ङ) स्थानांग ५/३९०

२. (क) यदुदयप्रभवो गन्धस्तद्गन्धनाम। –सर्वार्थसिद्धि ८/११
(ख) सुरही दुरही ..... । –प्रथम कर्मग्रन्थ ४०
(ग) यदुदयात् जन्तु शरीरं कर्पूरादिवत् सुरभिगन्धं भवति तत् सुरभिगन्ध नाम। वैपरीत्यं दुरभिगन्धः। –कर्मग्रन्थ १/४०

३. जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे ..... तित्तादि रसो होज्ज तस्स कम्मक्खंधस्स रससण्णा। –धवला ६/१

आदि पांच ही रस हैं। इन्हीं के संयोग से अन्य रस भी बन जाते हैं। इसलिए रस नामकर्म के ५ भेद हैं, अधिक नहीं।

(१२) स्पर्शनामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कोमल, कर्कश, रूक्ष आदि रूप हो, या कोमल आदि स्पर्श प्राप्त हो, उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। स्पर्श आठ होते हैं–(१) गुरु, (२) लघु, (३) मृदु, (४) कर्कश, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध और (८) रूक्ष। फलतः स्पर्श नामकर्म भी ८ प्रकार का होता है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-स्पर्श लोहे जैसा भारी हो, वह गुरु-स्पर्शनामकर्म है। जिस कर्म के उदय के जीव का शरीर (स्पर्श) आक की रूई जैसा हलका हो, वह लघु-स्पर्श-नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर (स्पर्श) मक्खन-सा मुलायम (कोमल) हो, वह मृदु-स्पर्श-नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर (स्पर्श) गाय की जीभ-सा खुरदरा–कर्कश हो, वह कर्कश स्पर्शनामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर (स्पर्श) बर्फ-सा ठंडा हो, वह शीत-स्पर्श-नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर (स्पर्श) आग-सा गर्म हो, वह उष्ण-स्पर्शनामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर (स्पर्श) घी के समान चिकना हो, वह स्निग्धस्पर्श नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर (स्पर्श) बालू या राख के समान रूखा हो, वह रूक्ष-स्पर्श-नामकर्म कहलाता है।[1]

(१३) आनुपूर्वी नामकर्म–जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में रहा हुआ जीव आकाश-प्रदेशों की श्रेणी (पंक्ति) के अनुसार गमन करके उत्पत्ति-स्थान (नरकादि गति) में पहुँचता है। उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। आनुपूर्वी नामकर्म के लिए नासारज्जु का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे–इधर-उधर भटकता हुआ बैल नासारज्जु के द्वारा इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। एक शरीर को यानी इस भव-सम्बन्धी शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को यानी भवान्तरसम्बन्धी शरीर को धारण करने के लिए संसारी जीव जब गमन (गति) करता है, उसे विग्रहगति कहते हैं। विग्रहगति में रहा हुआ जीव जब गति (परलोक यात्रा) करता है, तो आकाश-प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार गति करता हुआ उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है। इसमें आनुपूर्वी नामकर्म कारण है। जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है, तब आनुपूर्वी नामकर्म विश्रेणी में रहे हुए उत्पत्ति स्थान (नरकादि गति) पर पहुँचा देता है। यदि जीव का उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में हो तो आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता। जीव की यह स्वाभाविक गति श्रेणी के अनुसार होती है। जीव की यह (स्थानान्तर सम्बन्धी) गति दो प्रकार की होती है–ऋजु और वक्र।[2]

---

१. (क) फासा गुरु-लघु-मिउ-खर-सी-उण्ह-निद्धणिद्ध-रुक्खऽट्ठ। –प्रथम कर्मग्रन्थ ४०
(ख) कर्मप्रकृति ९२
(ग) सर्वार्थसिद्धि ५/२३
(घ) कर्मप्रकृति से १४ से १६

२. (क) कर्म प्रकृति, पृ. ९७/९८
(ख) णिरयाणु-तिरयाणु-णराणु-देवाणुपुव्वीमंसि। –कम्मपयडी ९३

जैनकर्मविज्ञान में आनुपूर्वी नामकर्म के अस्तित्व द्वारा मुख्यतया संसारी जीव की उस अन्तराल गति के सम्बन्ध में विचार किया गया है, जो मरणोपरान्त दृश्यमान भौतिक शरीर के न रहने पर भी जन्मान्तर में पहुँचने के लिए होती है। पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के मानने वाले सभी आस्तिक दर्शनों ने जीव की इस अन्तराल गति के बारे में अपने-अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। जैनकर्मविज्ञान ने इसे आनुपूर्वी नामकर्म कहा है।

ऋजुगति वह है, जिसमें पूर्वस्थान से नये स्थान तक जाने में सरल रेखा (बिना मोड़ वाली रेखा) का भंग न हो, अर्थात्—एक भी घुमाव (मोड़) न लेना पड़े। वक्रगति वह है, जिसमें पूर्वस्थान से नये स्थान तक जाने में सरल रेखा का भंग हो; अर्थात्—घुमाव लेना पड़े। जब कोई प्रतिघातक कारण हो, तब जीव की श्रेणी सरल रेखा को छोड़कर वक्रगति भी होती है। तात्पर्य यह है—जीव की विग्रहगतिक्रिया या प्रतिघातक निमित्त के अभाव में पूर्वस्थान-प्रमाण सरल रेखा (ऋजुगति) से और प्रतिघातक निमित्त के सद्भाव से वक्रगति (मोड़=घुमाव वाली रेखा) से होती है।

ऋजुगति से स्थानान्तर जाते समय जीव को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, तब उसे पूर्वशरीरजन्य वेग मिलता है। और उसी के वेग से अन्य प्रयत्न के बिना धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधा अपने नये स्थान पर पहुँच जाता है, जबकि वक्रगति (घुमाव वाली गति) से जाते हुए जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है; क्योंकि पूर्व शरीर जन्य प्रयत्न वहाँ तक ही काम करता है, जहाँ से जीव को घूमना पड़ता है। और तब वक्रगति वाले जीव के नवीन आयु-गति के अतिरिक्त आनुपूर्वी नामकर्म का उदय हो जाता है।

पूर्वशरीर छोड़कर स्थानान्तर को जाने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जो सदा-सदा के लिए स्थूल-सूक्ष्म सभी शरीरों को छोड़कर मोक्षगति में स्थानान्तरित हो जाते हैं। ऐसे मुक्त जीव मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजुगति से ही जाते हैं, वक्रगति से नहीं, उन्हें वहाँ पहुँचने में सिर्फ एक समय लगता है। दूसरे वे हैं, जो पूर्व स्थूल शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर को प्राप्त करते हैं, वे अन्तरालगति के समय सूक्ष्मशरीर (तैजस-कार्मण) से वेष्टित होते हैं। वे संसारी कहलाते हैं। ऐसे संसारी जीवों की गति ऋजु और वक्र दोनों प्रकार की होती है। क्योंकि उनके उत्पत्ति स्थान का कोई नियम नहीं है। उनका उत्पत्ति स्थान कभी वर्तमान स्थिति-स्थान से नीचे, ऊपर, सीधा, तिरछा आदि हो सकता है। वक्रगति में घुमावों की संख्या एक, दो या तीन हो तो क्रमशः दो, तीन या चार समय उत्पत्ति स्थान पर पहुँचने में लग जाते हैं। संसार में उत्पत्ति स्थान नरकादि चतुर्गतिकरूप है; और गति नामकर्म के चार भेद होने से आनुपूर्वी नामकर्म के भी चार प्रकार हो जाते हैं—नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वीनामकर्म। लक्षण—इस कर्म के कारण विग्रहगत्यवस्था में समश्रेणी में गति करता हुआ जीव विश्रेणी में अवस्थित अपने उत्पत्ति स्थान-

नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति या देवगति को प्राप्त करता है, तब वह क्रमशः नरकानुपूर्वी नामकर्म, तिर्यंचानुपूर्वी नामकर्म, मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म और देवानुपूर्वी नामकर्म कहलाता है।[1]

(१४) विहायोगति नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव की गति (चाल) हाथी या बैल के समान शुभ अथवा ऊँट या गधे के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगतिनामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं–शुभविहायोगति और अशुभ-विहायोगति। जिस कर्म के उदय से जीव की चाल (गतिक्रिया) हाथी या बैल के समान प्रशस्त हो, उसे शुभविहायोगति नामकर्म और जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट या गधे के समान अशुभ-अप्रशस्त हो, उसे अशुभविहायोगतिनामकर्म कहते हैं। यहाँ गति का विहायस् विशेषण पुनरुक्ति-दोष निवारणार्थ दिया गया है। अन्यथा सिर्फ गति शब्द रहता तो चौदह पिण्ड प्रकृतियों में पहली प्रकृति का नाम भी गति था। उससे भिन्नता बताने हेतु विहायस् शब्द गति से पूर्व लगाया गया है। विहायस् शब्द से अर्थ होता है, गति-प्रवृत्ति, न कि भवगति इत्यादि।

इस प्रकार चौदह पिण्ड प्रकृतियों के क्रमशः गति ४, जाति ५, शरीर ५ अंगोपांग ३, बन्धन ५ (प्रकारान्तर से १५), संघात ५, संहनन ६, संस्थान ६, वर्ण ५, गन्ध २, रस ५, स्पर्श ८, आनुपूर्वी ४ और विहायोगति २, यों कुल ६५ भेद हुए। बन्धन नामकर्म के १५ भेद गिनने पर १० भेद और बढ़ जाते हैं।[2]

नामकर्म की आठ प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप

(१) पराघातनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव बलवानों के लिए भी दुर्धर्ष अपराजेय हो, उसे पराघातनामकर्म कहते हैं। (२) उच्छ्वासनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास नामक लब्धि (शक्ति) से युक्त होता है, वह उच्छ्वासनामकर्म है। शरीर से बाहर की वायु को नाक से अंदर खींचना श्वास है,

---

१. (क) अनुश्रेणि गतिः । अविग्रहा जीवस्य । विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः । एक समयोऽविग्रहः । –तत्त्वार्थसूत्र २/२७ से ३० तक
(ख) कर्मप्रकृति से पृ. ९६ से ९९
(ग) पुव्वी उदओवक्के । पूर्व्याः –आनुपूर्व्या वृषभस्य नासिकारज्जुकल्पनाया उदयः विपाको वक्र एव भवति । –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ४३

२. (क) सुह-असुहयसुट्ठ-विहगगई । –प्रथम कर्मग्रन्थ ४३
(ख) कम्मपयडी ७५
(ग) यदिरित्येवोच्यते तदा नाम्नः प्रकृतिरपिगतिरस्तीति पौनरुक्त्याशंका स्यात् । तद्व्यवच्छेदार्थं विहायोग्रहणम् कृतम् । विहायसा गतिः प्रवृत्तिर्न तु भवगतिर्नारकादीकेति ।
–प्रथम कर्मग्रन्थ टीका २४
(घ) गइयाईण उ कमसो चउपण-पण-तिग-पंच-छक्कं ।
पण-दुग-पणट्ठ-चउ-दुग इय उत्तर भेया पणसट्ठी ॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ ३०

तथा शरीर के अंदर की वायु को नाक द्वारा बाहर निकालना उच्छ्वास है। इन दोनों क्रियाओं को सम्पन्न करने की शक्ति जीव को उच्छ्वासनामकर्म के द्वारा प्राप्त होती है। (३) आतपनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है। जिन जीवों को आतपनामकर्म का उदय होता है, उनका शरीर स्वयं तो ठंडा होता है, किन्तु प्रभा ही उष्ण होती है, इस कारण वे उष्ण प्रकाश करते हैं। आतपनामकर्म का उदय सूर्य-मण्डल (बिम्ब(के बाहर एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीवों के होता है, इन जीवों के सिवाय अन्य जीवों के आतपनामकर्म का उदय नहीं होता; न ही अग्निकायिक जीवों के आतपनामकर्म का उदय होता है। अग्निकायिक जीवों का शरीर और प्रकाश भी उष्ण होता है, वह उष्ण स्पर्शनामकर्म और लोहित वर्ण नामकर्म के उदय के कारण होता है। आतपनामकर्म और उष्णस्पर्शनामकर्म वाले जीवों में यही अन्तर है।[1] (४) उद्योतनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अनुष्ण शीतल प्रकाश फैलाता है, उसे उद्योतनामकर्म कहते हैं। लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, अथवा देव जब मूल शरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रिय शरीर धारण करते हैं, उस समय उनके शरीर से जो शीतल प्रकाश निकलता है, उसका कारण उद्योतनामकर्म का उदय है। चन्द्र, नक्षत्र और ग्रह तथा तारामण्डल के पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर उद्योतनामकर्म से युक्त होने से शीतल प्रकाश फैलाते हैं। इसी प्रकार जुगनू, रत्न एवं प्रकाश फैलाने वाली दूसरी औषधियों में भी इसी उद्योतकर्म का उदय जानना चाहिए। (५) अगुरुलघुनामकर्म–इस कर्म के कारण जीव को अपना शरीर लोहवत् न तो भारी मालूम होता है कि संभाला ही न जाये, न ही आक की रूई की तरह इतना हल्का मालूम होता है कि हवा से उड़ जाए; और न गुरुलघु; किन्तु अगुरुलघु परिणाम वाला होता है, उसे अगुरुलघु-नामकर्म कहते हैं। (६) तीर्थंकरनामकर्म[2]–जिस कर्म के उदय से जीव को तीर्थंकर-पद की प्राप्ति होती है। तीर्थंकरनामकर्म का उदय केवलज्ञान प्रत्पन्न होने पर ही होता है। तीर्थंकर अधिकारयुक्त वाणी में उत्सर्गमार्ग एवं धर्म का प्ररूपण करते हैं, जिसका स्वयं आचरण कर स्वयं ने इस कृतकृत्य दशा की प्राप्ति की है, तथा वे धर्मतीर्थ की

---

१. (क) प्रथम कर्मग्रन्थ २५
(ख) प्रज्ञापना २/२३/२९३
(ग) समवायांग, समवाय ४३
(घ) यदुदयात् परेषां दुरधर्षः तात् पराघात नामेत्यर्थः । परघा उदया पाणी परे दिन बलिनं पि होइ । –प्रथम कर्मग्रन्थ ४३
(ङ) आतपनामोदयाद्जीवानामंगं स्वयं अनुष्ण मत्युष्ण दुद्धरिसो । –प्रथम कर्मग्रन्थ ४३
प्रकाश-युक्तं भवति । –वही ४४
(च) रविबिम्बे भानुमण्डलादि पार्थिवशरीरेष्वेव । –वही ४४
न उ जलणे । –वही ४४

२. तीर्थंकरनामकर्मबन्ध के २० बोलों के लिए देखें –ज्ञातासूत्र अ. ८/६४, तत्त्वार्थसूत्र ६/२३

स्थापना करते हैं। (७) निर्माणनामकर्म–इस कर्म के उदय से जीव के शरीर के अंग-उपांग अपनी-अपनी जगह यथास्थान व्यवस्थित होते हैं। जैसे–चित्रकार या मूर्तिकार चित्र या मूर्ति के हाथ-पैर आदि तमाम अवयवों को यथास्थान चित्रित करता या बनाता है, वैसे ही निर्माण नामकर्म के प्रभाव से भी जीव के अंग-उपांग आदि की यथास्थान व्यवस्थित रीति से स्थापित होती हैं। यदि यह कर्म न हो तो अंगोपांग नामकर्म के उदय से बने हुए अंग-उपांगों का अपने-अपने स्थान पर–यथोचित स्थान पर व्यवस्थापन-नियमन नहीं हो सकता। यह कर्म शिल्पी या कारीगर के तुल्य होता है। (८) उपघातनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर के अवयवों से स्वयं क्लेश पाता है। जैसे–प्रतिजिह्वा, चोरदंत (होठ के बाहर निकले हुए दांत), लम्बिका (छठी अंगुली) आदि शरीरावयवों की उपघातक अवयवों में गणना की जाती है।[1] इससे व्यक्ति को स्वयं कष्ट होता है।

त्रसदशक की दस प्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य

द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। उनमें पाई जाने वाली प्रकृतियों की संख्या दस होने से त्रसदशक नाम से कहलाती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम, (७) सुभगनाम, (८) सुस्वरनाम, (९) आदेय नाम और (१०) यशःकीर्तिनामकर्म।

लक्षण–(१) त्रसनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो, वह त्रस नामकर्म है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय; ये त्रस जीवों के ४ प्रकार हैं। त्रस जीव सर्दी गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में जा सकते हैं। यद्यपि तेजस्काय और वायुकाय के जीवों के स्थावर नामकर्म का उदय है, किन्तु त्रस की-सी गति, सदृशता होने से उन्हें त्रस कहा जाता है। इस तरह त्रस दो प्रकार के होते हैं–गतित्रस और लब्धित्रस। द्वीन्द्रिय से

१. (क) उण्हूण पहा हु उज्जोओ। –कम्मपयडी ९६
(ख) अगुसिण पयासरूवं जियंगमुज्जोयए हुज्जोया। –प्रथम कर्मग्रन्थ ४५
(ग) जइदेकतर-विक्रियजोइस-खज्जोयमाइव्व॥ –वही, ४५
(घ) यदुदयाद् जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि गुरु-लघु, किन्त्वगुरुलघु- परिणाम-परिणतं भवति, तदगुरुलघुनामेत्यर्थः। –वही, टीका ४६
(ङ) यस्योदयात् अयः पिण्डवत् गुरुत्वात् न पतति, न चार्कतूलवत् लघुत्ववादूर्ध्वं गच्छति, तद् अगुरुलघुनाम। –कम्मपयडी टीका ९५
(च) से उदओ केवलिणो। तीर्थंकरनामकर्मण उदयः विपाकः केवलिनः उत्पन्नकेवलज्ञानस्यैव।
(छ) यदुदयाद् जन्तुशरीरेस्वंगोपांगानां प्रतिनियतस्थाने वृत्तिता भवति, तन्निर्माणनामेत्यर्थः।
(ज) सुत्तहारसमं।
(झ) उवघाया उवहम्मइ सताणुवलयल विगाईहिं॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ ४७, टीका

लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रसनामकर्म के उदय वाले होने से लब्धित्रस है और वे ही मुख्यतया त्रस कहलाते हैं। तेजस्कायिक और वायुकायिक तो त्रसजीवतुल्य गतिशील होने से उपचार से गतित्रस माने जाते हैं, यथार्थतः नहीं।

(२) **बादरनामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो; वह बादरनामकर्म कहलाता है। जिसे आँखों से देखा जा सके, उसका नाम बादर नहीं है, क्योंकि कई बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर ऐसा भी होता है, जो आँखों से नहीं देखा जा सकता; अपितु बादरनामकर्म वह है, जो पृथ्वीकाय आदि जीवों में बादर परिणाम उत्पन्न करता है, जिससे उन जीवों के शरीर-समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति की क्षमता प्रकट हो जाती है, वे शरीर दृष्टिगोचर हो सकते हैं। यह जीव विपाकिनी कर्म प्रकृति है, जो शरीर के माध्यम से जीव में (पुद्गलों में नहीं) बादर-परिणाम को उत्पन्न करती है, और उससे वे दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदायरूप में एकत्रित भी हो जाएँ तो भी वे दिख नहीं सकते। जीव विपाकिनी प्रकृति बादर होने से उसका शरीर में प्रभाव दिखाना प्रत्यक्ष है। जैसे–क्रोध जीव विपाकिनी प्रकृति होने पर भी उसका उद्रेक मुँह का टेढ़ा होना, आँखें लाल होना तथा होठों का फड़कना आदि परिणामों द्वारा प्रकटरूप में दिखाई देता है। (३) **पर्याप्तनामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, वह पर्याप्तनामकर्म कहलाता है। जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने, उनका आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का जो कार्य होता है, जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्तियों से युक्त हो, वह पर्याप्त है। पर्याप्ति ६ प्रकार की होती है–(१) आहार, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय, (४) श्वासोच्छ्वास, (५) भाषा और (६) मनःपर्याप्ति।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीन शरीरों में पर्याप्तियाँ होती हैं। औदारिक शरीर वाला जीव पहली आहार-पर्याप्ति एक समय में और उसके बाद दूसरी से लेकर छठी पर्याप्ति पर्यन्त प्रत्येक क्रमशः अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण करता है। वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण कर लेते हैं और इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त में दूसरी शरीर-पर्याप्ति पूर्ण करते हैं। तदनन्तर तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी पर्याप्ति अनुक्रम से एक समय में पूरी करते हैं। किन्तु पाँचवीं और छठी इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से एक साथ एक समय में ही पूर्ण कर लेते हैं।

पर्याप्तियों के बनने और पूर्ण होने का क्रम इस प्रकार है–इहभव-सम्बन्धी शरीर का परित्याग करने के बाद विग्रहगति में रहा हुआ जीव परभवसम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने हेतु उत्पत्ति-स्थान में पहुँचकर कार्मण शरीर के द्वारा स्थूलशरीरादि बनने योग्य जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है, उन पुद्गलों के आहार-पर्याप्ति आदि रूप ६ विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहों पर्याप्तियों का बनना

प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु आहार के बाद शरीर, शरीर के बाद इन्द्रिय आदि मन-पर्यन्त पूर्णता क्रमशः होती है।[1]

पर्याप्त जीवों के दो भेद

पर्याप्त जीवों के दो भेद होते हैं–लब्धि-पर्याप्त और करणपर्याप्त। जो जीव स्वयं योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं, वे लब्धि-पर्याप्त हैं। करण-पर्याप्त के दो अर्थ हैं (१) करण का अर्थ है–इन्द्रिय। जिन जीवों ने अपनी इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण कर ली है, उन्हें करणपर्याप्त कहते हैं, (२) जिन जीवों ने अपनी-अपनी योग्य-पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं, वे भी करणपर्याप्त कहलाते हैं।

छह पर्याप्तियाँ मानने का कारण

पूर्वोक्त आहारादि छह पर्याप्तियाँ मानने का कारण यह है कि प्रत्येक संसारी जीवित प्राणी में पूर्वोक्त छह क्रियाएँ नियमित रूप से चलती हैं–(१) आहार (भोजन-पान) करना, (२) शरीर-स्थिति, (३) इन्द्रियों की रचना, (४) नियमित श्वासोच्छ्वास लेना, (५) बोलना और (६) विचार करना। ये छह कार्य करने की शक्ति हम अपने में प्रतिक्षण अनुभव करते हैं। यदि इन कार्यों को करने की शक्ति न रहे तो, जीवित हैं, इसमें सन्देह पैदा हो जाता है। जीने का कार्य (दशविध प्राण धारण करने का कार्य) बंद हुआ कि प्राणी को प्रायः मृत घोषित कर दिया जाता है और जब दूसरे जन्म में पुनः ये ६ शक्तियाँ–(जीने के साधन सामग्री) मिलती हैं, तब जीवित कहलाता है। इस प्रकार ६ शक्तियों के साधनों का नामकर्म शास्त्रीय भाषा में पर्याप्ति है। ये ६ शक्तियाँ जीवन-पर्यन्त रहती हैं। जीव के लिए जन्म होने के समय में ही ऐसी व्यवस्था स्वतः हो जाती है कि उत्पन्न होने वाले जीव को अपने-अपने जीवन

---

१. (क) तस-बायर पज्जत्त पत्तेय-थिरं सुभं च सुभगं च।
सुस्सरा ऽऽइज्ज जसं तस-दसगं..... ॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ ४६
(ख) यदुदयाद्जीवास्त्रसा भवन्ति तत् त्रसनामेत्यर्थः। –वही, टीका ४८
(ग) बि-ति-चउ-पंचिंदिय तसा। –वही गा. ४८
(घ) यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति तद् बादर नामेत्यर्थः। –वही टीका ४८
(ङ) निय-निय-पज्जत्तिजुया पज्जत्ता। –वही गा. ४८
(च) प्रज्ञापना १/१२ टीका
(छ) भगवती ३/१/१३
(ज) आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाण भासाए।
होंति मणो विय कमसो पज्जत्तीओ जिणमादा ॥ –मूल आराधना १०४५
(झ) एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय- संज्ञिपंचेन्द्रियाणां च चतुः पंच षट् संख्या भवन्ति। –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ४८
(ञ) औदारिक शरीरिणां पुनराहार-पर्याप्तिरेकिका एक सामयिकी, शेषाः पुनरान्तैर्मुहूर्तिक्यः।
–वही टीका ४८

के योग्य शक्तियों को चलाने वाले साधन प्रकट हो जाते हैं। और मरण से पूर्व यानी जीवन-पर्यन्त उनका कार्य चालू रहता है। यद्यपि आत्मा का स्वरूप, नित्य, चैतन्यमय एवं जीवन्त (अविनाशी) है, किन्तु उसे आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास लेने, बोलने और सोचने के ये साधनरूप बलप्राण न मिलें तो व्यवहार में वह 'जिंदा है' यह नहीं जाना जा सकता।

शरीर पर्याप्ति एवं श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति अधिक क्यों ?

एक प्रश्न है—पहले शरीर नामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म से शरीर और उच्छ्वास प्राप्त होने का कथन किया गया है, फिर यहाँ पुनः शरीर पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति नामकर्म का उल्लेख क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि जीव द्वारा शरीर नामकर्म से गृहीत पुद्गल औदारिक आदि शरीररूप तथा उच्छ्वासनामकर्म द्वारा गृहीत पुद्गल श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत होते हैं, किन्तु उन-उन रूपों में परिणत होना शक्ति विशेष रूप शरीर तथा श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के बिना शक्य नहीं है। इसलिए अलग से शरीर-पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति मानी गई है।

कितनी पर्याप्तियाँ किसमें और कौन-सी ?

पूर्वोक्त ६ पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय को चार (आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी (अमनस्क) पंचेन्द्रिय जीव को उक्त चार पर्याप्तियों सहित पाँचवीं भाषापर्याप्ति मिलती है, तथा संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों को छहों पर्याप्तियाँ प्राप्त होती हैं।[1]

(४) **प्रत्येक नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, अर्थात् प्रत्येक जीव को अपने-अपने कर्म के अनुसार पृथक्-पृथक् शरीर प्राप्त हो, उनका अलग-अलग शरीर हो, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं। (५) **स्थिरनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव के दांत, हड्डियाँ, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर हों, अपने-अपने स्थान पर निश्चल हों, वह स्थिरनामकर्म है। (६) **शुभनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव शुभ (स्वस्थ और सुडौल) हों, उसे शुभनामकर्म कहते हैं। मस्तक आदि शरीर के अवयवों के स्पर्श होने या करने पर किसी को अप्रीति, ग्लानि या घृणा उस तरह नहीं होती, जिस तरह पैर आदि को छूने से होती है। इसी कारण नाभि से ऊपर के अवयवों का शुभत्व समझना चाहिए। (७) **सुभगनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार किये बिना ही या किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर भी सभी को प्रिय लगता है, उसे सुभगनामकर्म कहते हैं। (८) **सुस्वरनामकर्म**—जिस नामकर्म के उदय से जीव का

१. (क) लद्धि करणेहिं । ते य पर्याप्ता द्विधा-लब्ध्या करणैश्च । —प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ४८
(ख) कर्मप्रकृति से, पृ. ११२

स्वर (या कण्ठ) मधुर तथा प्रीतिकर व आकर्षक हो, वह सुस्वरनामकर्म कहलाता है। (९) आदेयनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य (सर्वग्राह्य) हो, वह आदेयनामकर्म है। (१०) यशःकीर्तिनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव की संसार में यशःकीर्ति फैले, दिग्दिगन्त में महिमा फैले, वह यशःकीर्तिनामकर्म है। किसी एक दिशा में ख्याति, प्रसिद्धि एवं प्रशंसा का फैलना कीर्ति है और सर्व-दिशाओं में प्रशंसा व ख्याति फैले वह यश है। अथवा दान, तप आदि से जो प्रसिद्धि होती है, उसे कीर्ति और पराक्रम, वीरता, शौर्य, शत्रु पर विजय आदि से जो प्रसिद्धि होती है, उसे यश कहते हैं।[1]

स्थावर-दशक की दस प्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य

एकेन्द्रिय (केवल स्पर्शेन्द्रिय–शरीर वाले) जीवों को स्थावर कहते हैं। उनमें (पृथ्वीकायिकादि पाँच प्रकार के जीवों में ही उदय होने या प्राप्त होने वाली नामकर्म की दस प्रकृतियाँ स्थावर-दशक कहलाती हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं–(१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) अपर्याप्त, (४) साधारण, (५) अस्थिर, (६) अशुभ, (७) दुर्भग, (८) दुःस्वर, (९) अनादेय और (१०) अयशःकीर्ति। इनमें से प्रत्येक के लक्षण इस प्रकार हैं–

(१) **स्थावरनामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव स्वयं स्थिर रहे, चल-फिर न सके, सर्दी-गर्मी आदि से बचने का उपाय न कर सके, वह स्थावरनामकर्म है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, ये पाँच स्थावर जीव हैं। इनमें सिर्फ प्रथम–स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। यद्यपि तेजस्काय और वायुकाय में स्वाभाविक गति तो है, किन्तु ये द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गर्मी आदि से बचने की गति न होने से उन्हें स्थावरनामकर्म का उदय है। (२) **सूक्ष्मनामकर्म**–जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, उसे सूक्ष्मशरीरनामकर्म कहते हैं। सूक्ष्म शरीर न तो किसी को रोकता है और न किसी से रोका जा सकता है। वह प्रतिघात-रहित है। सूक्ष्म शरीर का मतलब सिर्फ चर्मचक्षुओं से न दिखना ही नहीं है, अपितु सूक्ष्मनामकर्म का उदय उन जीवों के शरीरों में वैसी सूक्ष्मता पैदा कर देता है कि सामूहिकरूप से रहे हुए वे सूक्ष्म (सूक्ष्मशरीर-युक्त) प्राणी

---

१. (क) यदुदयादेकैकस्य जन्तोरेकैकं शरीरमौदारिकं वैक्रियं वा भवति तत् प्रत्येकं नाम। –प्रथम कर्मग्रन्थ टीका ४९
(ख) देत आइयाइथिरं। –वही ४९
(ग) यदुदयात्तन्नाभेरुपर्यवयवाः शुभा भवन्ति तत् शुभनाम। –वही टीका ४९
(घ) अणुवकाए वि बहूण होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ त्ति। –वही टीका ४९
(ङ) आइज्जा सव्वलोयग्गज्जायओ। –वही ५०
(च) दान-पुण्यकृता कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः।
एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामुकं पशः॥

दिखाई नहीं देते। इस नामकर्म का उदय पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावरों में ही होता है और वे समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। यह जीव-विपाकिनी प्रकृति है, जो शरीर के माध्यम से अपना कार्य अभिव्यक्त करती है। (३) अपर्याप्त नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं कर पाते, उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं। अपर्याप्त जीवों के दो प्रकार हैं–लब्ध्यपर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्त हैं। लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं। क्योंकि सभी जीव आगामी भव का आयुष्य बन्ध करके ही मरते हैं और आयु का बन्ध उन्हीं जीवों को होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण करली है। इसके विपरीत जो जीव अभी तो अपर्याप्त हैं, किन्तु आगे यथायोग्य समस्त पर्याप्तियाँ पूर्ण करने वाले हैं, उन्हें करणाऽपर्याप्त कहते हैं। (४) साधारण नामकर्म–जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो अर्थात्–अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी हों, उसे साधारण नामकर्म कहते हैं। साधारण–शरीरधारी इन अनन्त जीवों के जीवन, मरण, आहार और श्वासोच्छ्वास आदि परस्पराश्रित होते हैं। अर्थात्–जिस शरीर में एक जीव का मरण होने के साथ-साथ युगपत् अनन्त जीवों का मरण हो जाता है और यदि एक जीव की उत्पत्ति होती है तो अनन्त जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। इसीलिए तो इसे 'साधारण' कहते हैं। उनके आहार, जीवन, मरण आदि सभी समान काल में (युगपत्) होते हैं। पृथ्वीकाय आदि पांच प्रकार के स्थावर जीवों में से वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक और साधारण दोनों प्रकार के नामकर्म वाले हैं। उनकी पहचान के लिए कुछ लक्षण 'कम्मपयडी' में इस प्रकार दिये गए हैं–जिनकी शिराएँ (नसें) सन्धि पर्व अप्रकट हों, मूल, कन्द, त्वचा (छाल), कोंपल, टहनी (डाली), पत्र, पुष्प तथा बीजों को तोड़ने पर समान भंग हो; दोनों भंगों में परस्पर न लगे रहें, कंद, मूल, टहनी या स्कन्ध की छाल मोटी हो तो उसको साधारण और उसके विपरीत हो, अर्थात्–उसकी शिराएँ आदि प्रकट हों। मूल आदि को तोड़ने पर समान भंग न होते हों, मोटी छाल आदि न हो तो प्रत्येक वनस्पति समझना चाहिए। (५) अस्थिर नामकर्म–जिस कर्म के उदय से[1] नाक, भौंह और जीभ आदि शरीर-अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं, उसे अस्थिर

---

१. (क) थावर-सुहुम-अपज्जं साहारणमथिरमसुभदुभगाणि ।
दुस्सरऽणादेज्जाऽजस ···· ॥ –प्रथम कर्मग्रन्थ २७

(ख) कम्मपयडी १०७

(ग) कर्मप्रकृति से ११५ से ११८

(घ) गूढ-सिर-संधिपव्वं समभंग, महीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारण-सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥
कंदे मूले छल्ली-पवाल, सालदंड-कुसुमफलबीए ।
समभंगे सदिणंता, विसमे सदि होंति पत्तेया ॥ –कम्मपयडी टीका १०७

नामकर्म कहते हैं। (६) अशुभनामकर्म–जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव अशुभ हों, उसे अशुभनामकर्म कहते हैं। पैर के स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, आदि–यहीं नाभि से नीचे के अवयवों के अशुभत्व का लक्षण है। (७) दुर्भगनामकर्म–जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी, या परिचित होने पर भी जीव सबको अप्रिय लगता है। दूसरे जीव उससे शत्रुता, ईर्ष्या, द्वेषभाव, वैरभाव रखें, वह दुर्भगनामकर्म है। (८) दुःस्वर नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर या वचन श्रोता को सुनने में अप्रिय या कर्कश लगे, उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं। (९) अनादेय नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का युक्तिसंगत, लाभदायक या हितकारक वचन (कथन) भी अनादरणीय या अग्राह्य समझा जाता हो, उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं। (१०) अयशःनामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का लोक में अपयश और अपकीर्ति फैले, वह अयशः नामकर्म कहलाता है।

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियों के स्वरूप, लक्षण और कार्य का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।[1]

गोत्रकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ : स्वरूप और कार्य तथा बन्धकारण

जब तक जीव जन्म-मरणादिरूप संसार के चक्र से नहीं छूटता, तब तक वह किसी न किसी गति, योनि तथा परिवार कुटुम्ब में जन्म लेता ही है। साथ ही किसी न किसी प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित, सम्मान्य-असम्मान्य, निन्द्य-अनिन्द्य कुल में जन्म प्राप्त कराने का कोई कारण है तो वह गोत्रकर्म है। जिस प्रकार कुम्हार छोटे-बड़े दूध-घी के योग्य तथा मद्य आदि रखने के योग्य बर्तन तैयार करता है, उसी प्रकार यह कर्म भी जीव को कभी आदरास्पद–उच्च और कभी नीच–अनादरास्पद बना देता है। कोशकारों ने तथाकथित कुल-वंशोत्पन्न व्यक्ति विशेषों की संतान-परम्परा आदि अनेक शब्दों के लिए गोत्र शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु यहाँ गोत्र शब्द किसी ज्ञाति-जाति विशेष के अर्थ में प्रयुक्त न होकर यहाँ गोत्र शब्द कर्मविज्ञान का पारिभाषिक एवं टेकनिकल शब्द है। वह यहाँ विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वह अर्थ यह है–जिस कर्म के उदय से जीव जाति और कुल की अपेक्षा से उच्च-नीच, पूज्य-अपूज्य, आदरणीय-अनादरणीय, कुलीन-अकुलीन (उच्च खानदान-साधारण खानदान) कहलाता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। मातृपक्ष को या माता के वंश को जाति और पितृपक्ष के वंश को कुल कहते हैं। जाति कुल की उच्चता-नीचता या कुल की साधारणता-असाधारणता आदि सब गोत्रकर्म के प्रभाव से प्राप्त होती है। किसी भी

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र ८/१२
(ख) समवायांग ४२
(ग) प्रज्ञापना २३/२९३

व्यक्ति की नीचता या उच्चता का मापदंड या आधार धनसम्पत्ति, या सत्ता, पद आदि हीं, किन्तु गोत्रकर्म है। मान-अपमान के, यश-अपयश के कारणभूत[1] प्रशस्त और अप्रशस्त कुल की जो प्राप्ति होती है, इसका कारण जैनकर्मविज्ञान के अनुसार सत्ता या सम्पत्ति, शारीरिक बल या बुद्धि नहीं, अपितु गोत्रकर्म है। गोत्रकर्म ही जीव को माने-माने और यशस्वी कुल में पैदा करता है, और वही कर्म उसे निन्द्य, गृणित एवं कलंकित कुल की प्राप्ति कराता है। इस दृष्टि से उच्च एवं शुभ आचरण उच्च गोत्र का, तथा नीच एवं निन्द्य अशुभ आचरण नीच गोत्र का द्योतक है। यही गोत्र कर्म का कार्य और स्वभाव है।

गोत्रकर्म के दो भेद हैं—उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र। जिस कर्म के उदय से जीव (पूर्वजन्मकृत उच्च एवं शुभ कृत्य के फलस्वरूप) उच्च, प्रशस्त एवं श्रेष्ठकुल में जन्म लेता है, उसे उच्चगोत्र-नामकर्म कहते हैं। उच्च गोत्रकर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मानसम्मान, ऐश्वर्य आदि के उत्कर्ष का भी कारण है। शुभ एवं शिष्ट आचार-विचार, धर्म और नीति-न्याय आदि की दृष्टि से जिस कुल की ख्याति, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा अर्जित की हो, वही कुल उच्चकुल कहलाता है। इसके विपरीत जो आचार-विचार और सुसंस्कार में पिछड़ा हुआ है, नीति-न्याय धर्म की उपेक्षा-उपहास करता है, जिसके आचार-विचार भी दूषित निम्न व अप्रशस्त हैं, वह कुल नीचकुल कहलाता है।

प्राचीनकाल में हरिवंश, चन्द्रवंश, सूर्यवंश आदि कुल नीति और धर्म के सम्पोषक पूर्ण संरक्षक संवर्द्धक होने से उच्चकुल माने जाते थे। इसके विपरीत वधिकवंश, कसाइयों का वंश, मद्य-विक्रेतृ-वंश, चोरवंश, (इक्ष्वाकुवंश) आदि नीचवंश, हिंसक, भ्रष्टाचारी, अनीतिपोषक एवं अधर्मप्रधान होने से नीचकुल माने गए हैं।[2] अतः कर्मविज्ञान के अनुसार—पूर्वोक्त उच्चकुल की प्राप्ति का कारण उच्चगोत्रकर्म और पूर्वोक्त नीचकुल की प्राप्ति का कारण नीचगोत्र कर्म है।

उच्चगोत्रकर्म जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य के उत्कर्ष का निष्पादक है। इसके विपरीत नीचगोत्रकर्म जाति-कुलादि की निष्कृष्टता-निम्नता का निष्पादक है। इसी अपेक्षा से उत्तराध्ययन सूत्र में उच्च जाति-कुलादि आठ बातें उच्चगोत्र कर्म के तथा ये ही आठ नीच जाति कुलादि आठ बातें नीच गोत्रकर्म के उपभेद माने गए हैं। ये १६ भेद पूर्वोक्त आठों की विशिष्टता-हीनता के द्योतक हैं।

---

१. (क) कर्मप्रकृति से पृ. १२४
   (ख) गोयं कम्मं दुविहं उच्चनीयं च आहियं। —उत्तरा. ३३/१४
   (ग) प्रज्ञापना २३/२
   (घ) तत्त्वार्थसूत्र ८/१३
   (ङ) कम्मपयडी १०१
   (च) उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं। —उत्तराध्ययन ३३/१४

२. उच्चैर्गोत्रं देश-कुल-जाति-स्थान-मान-सत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिवर्तकम्।
   विपरीतं नीचं गोत्रं चाण्डाल-मुष्टिक-व्याध-मत्स्यबन्ध-दासादि-निवर्तकम्॥ —तत्त्वार्थभाष्य ८/१३

गोत्रकर्म बन्ध के १६ कारणों से बांधा जाता है, जिनमें से ८ कारण हैं, उच्च गोत्रकर्मबन्ध के और आठ कारण हैं नीच गोत्रकर्मबन्ध के। जीव आठ कारणों से उच्चगोत्रकर्म बांधता है–(१) जातिमद न करने से, (२) कुलमद न करने से, (३) बलमद न करने से, (४) रूपमद न करने से, (५) तपोमद न करने से, (६) लाभमद न करने से, (७) श्रुतमद-शास्त्रज्ञान का मद न करने से और (८) ऐश्वर्यमद न करने से। इसके विपरीत ही ८ कारणों से जीव नीचगोत्रकर्म बांध लेता है–जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य का मद (गर्व घमण्ड या अहंकार) करने से।[1]

कर्मग्रन्थ में उच्चगोत्र कर्म-बन्ध के चार कारण इस प्रकार बताये गए हैं–(१) किसी व्यक्ति में दोषों के रहते हुए भी उस विषय में उदासीन रहना, केवल उसके गुणों को ही देखना, (२) जातिमद आदि आठ प्रकार का मद न करना, निरभिमानी रहना, (३) सदैव पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन में रत रहना, तथा (४) जिनेन्द्र भगवान् (अरिहन्त), सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता-पिता तथा गुणिजनों की भक्ति करना, उनके गुणों की अनुमोदना करना। इसके विपरीत चार कारण नीचगोत्रकर्म-बन्ध के समझने चाहिए। जैसे–(१) दूसरे के गुणों को न देखकर दोषों का ही उद्भावन करना, (२) जातिमद आदि आठ मद करना, गर्व में चूर रहना। (३) पांचों इन्द्रियों के विषयों में, प्रमाद में व्यग्र रहना, (४) अरिहन्त आदि के अवगुणवाद बोलना निन्दा करना।[2]

तत्त्वार्थसूत्र में उच्चगोत्र कर्म बन्ध के ६ कारण बताए हैं–(१) आत्मनिन्दा–अपने में अवस्थित दोषों को देखना, (२) परप्रशंसा–दूसरे के गुणों को देखना, गुणानुवाद करना, (३) असद्गुणोद्भावन–अपने दुर्गुणों को प्रकट करना, (४) स्वगुणाच्छादन–अपने में विद्यमान गुणों को छिपाना, (५) नम्रवृत्ति–पूज्य व्यक्तियों के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, (६) अनुत्सेक–ज्ञानसम्पदा आदि में दूसरे से अधिक होने पर भी उसके कारण गर्व धारण न करना।

इसके विपरीत नीचगोत्रकर्मबन्ध के तत्त्वार्थसूत्र में ४ कारण बताए हैं–(१) परनिन्दा–दूसरों की निन्दा करना। निन्दा का अर्थ है दूसरे के सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धिपूर्वक प्रकट करने की वृत्ति, (२) आत्मप्रशंसा–अपनी बड़ाई करना, अपने सच्चे या झूठे गुणों को प्रगट करने की वृत्ति का नाम आत्मप्रशंसा है, (३) सद्गुणाच्छादन–दूसरे में यदि गुण हैं तो भी उन्हें छिपाना और उनके कहने का प्रसंग आने पर भी

---

१. (क) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३५७
(ख) कर्मप्रकृति से, पृ. १२३-१२४

२. गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झणारुई नियो।
पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं, नीयं इयरहा उ ॥ ६० ॥ –कर्म. भा. १

वशवश उन्हें न कहना। (४) असद्गुणोद्भावन–अपने में गुण न होने पर भी उनका प्रदर्शन करना, अपनी झूठी बड़ाई हांकना।[1]

भगवान महावीर ने मरीचि के भव में कुलमद किया, जिससे उनके नीचगोत्रकर्म का बन्ध हो गया। जिसका फल उन्हें अन्तिम भव में, प्राणत देवलोक से च्यवकर देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में अवतरित होने के रूप में मिला। भिक्षुक कुल में आना ही नीचगोत्रकर्म का फल था। उच्चगोत्रकर्म आत्मा की प्रवृत्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाता है; जबकि नीचगोत्रकर्म अपनी मायावी प्रकृति के कारण परलोक में नीचगोत्र का भोग कराता है।

उच्चगोत्रकर्म का फलभोग : आठ प्रकार से

गोत्रकर्म के प्रथम भेद उच्चगोत्रकर्म का फलभोग आठ प्रकार से होता है-(१) जाति की विशिष्टता–जाति का अभिमान (मद) न करने के फलस्वरूप जीव को श्रेष्ठ, उच्च और लोकप्रिय जाति की प्राप्ति होती है। ऐसी जननी प्राप्त होती है, जिसकी वंश परम्परा आचार-विचार और संस्कार की दृष्टि से प्रामाणिक और आदरास्पद होती है। (२) कुल की विशिष्टता–कुल का मद (अहंकार) न करने से सम्मानित और प्रतिष्ठित कुल की प्राप्ति होती है। ऐसे पिता की प्राप्ति होती है, जिसकी वंशपरम्परा आचार-विचार और संस्कार की दृष्टि से आध्यात्मिक और श्रेष्ठ होती है। ऐसे व्यक्ति को कलंकित, निन्द्य और घृणित कुल की प्राप्ति नहीं होती। (३) बल की विशिष्टता–बल का मद न करने से शरीर बलिष्ठ और स्वस्थ मिलता है। शरीर में दुर्बलता या शक्तिहीनता लेशमात्र भी नहीं होती। (४) रूप की विशिष्टता–रूप का अभिमान (गर्व) न करने से उत्तम रूप-सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। सुखविपाक सूत्रोक्त सुबाहुकुमार के समान सुन्दर रूप-सौन्दर्य प्राप्त होता है। कुरूपता या आकृतिगत अशोभनता उसके पास भी नहीं फटकती। (५) तप की विशिष्टता–तप का मद न करने से व्यक्ति को बाह्य-आभ्यन्तर तप करने का सुन्दर अवसर प्राप्त होता है। शरीर और मन इतना क्षमतापूर्ण होता है कि निरभिमानतापूर्वक आसानी से वह उग्र तपस्या कर लेता है। (६) ज्ञान की विशिष्टता–ज्ञान का अहंकार (गर्व–मद) न करने से उस जीव को आध्यात्मिक ज्ञान-श्रुतज्ञान की सम्पदा प्रचुरमात्रा में प्राप्त होती है। वह थोड़े ही

---

१. (क) जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयाकम्मासरीरं जाव पयोग बंधे।
जाति अमदेणं, कुल अमदेणं, बल अमदेणं, रूव अमदेणं, तव अमदेणं, सुय अमदेणं, लाभ-अमदेणं, इस्सरिय-अमदेणं उच्चागोयाकम्मासरीरं जाव पयोगबंधे।
–भगवतीसूत्र श. ८ सू. ३५१

(ख) परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रम्।
तद् विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य। –तत्त्वार्थसूत्र ६/२४-२५

(ग) गोयं दुहुव्वनीयं कुलाल इव सुधऽभुंभलाईयं

(घ) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३१६

पुरुषार्थ से अगाध ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। (७) लाभ की विशिष्टता–लाभ व मद न करने से, उपलब्धियों और सिद्धियों का गर्व (अहंकार) न करने से व्यक्ति व सदैव सर्वत्र उत्कृष्ट लाभ का सर्वोत्तम अवसर मिलता है। वहा जहाँ भी जाता है जिस किसी भी सत्कार्य को हाथ में लेता है, उसमें सिद्धि या सफलता ही मिलती है दूसरों के भी बिगड़े हुए कार्य को वह सुधार देता है। और (८) ऐश्वर्य की विशिष्टता–ऐश्वर्य का अभिमान (मद) न करने से उसे मनचाहे ऐश्वर्य–भौतिक एवं आध्यात्मिक विभूति की प्राप्ति होती है। अणिमादि सिद्धियाँ अथवा ऐश्वर्य-सामग्री भी उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है।[1]

नीचगोत्र कर्म का फलभोग आठ प्रकार से

नीचगोत्र का विपाक (फलभोग) भी आठ प्रकार से होता है–(१) जाति की हीनता–ऐसे व्यक्ति को जाति का मद करने से निकृष्ट जाति मिलती है, उसका मातृवंश कलंकित होता है, जिसके कारण सर्वत्र अपयश और अपमान के कड़वे घूंट पीने पड़ते हैं। (२) कुल की हीनता–कुल का मद करने से ऐसा जीव नीचकुल–कलंकित पितृ वंश में जन्म लेता है, जिस के कारण भरी सभा में वह अपना मस्तक ऊँचा नहीं कर पाता। (३) बलहीनता–बलमद करने से उसे तनबल एवं मनोबल की प्राप्ति नहीं होती। कितना ही पौष्टिक आहार करले या औषधि खा ले, उसके तन-मन में बल का संचार नहीं होता। बीमारी उसका पीछा नहीं छोड़ती। (४) रूप की हीनता–रूप का गर्व करने से उस जीव को सुरूपता और सुन्दरता प्राप्त नहीं होती। आकृति बेडौल और भद्दी मिलती है कि लोग देखते ही उसका मजाक करने लगते हैं।[2] कितने ही सौन्दर्यप्रसाधनों का उपयोग करके, उसे सुन्दरता और सुरूपता नहीं प्राप्त होती। (५) तप की हीनता–तप का अभिमान करने से तपस्वियों को अपमानित, निन्दित करने से तपस्या करने की शक्ति नहीं प्राप्त होती। इच्छा होने पर भी वह तप नहीं कर पाता। तपस्या करने की भावना अंगड़ाई लेती है, लेकिन वह साकार नहीं हो पाती। (६) ज्ञान की हीनता–ज्ञान (श्रुत) का मद करने से जीव को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती। ज्ञानप्राप्ति के अनेकविध प्रयत्न करने पर भी वह सम्यक् ज्ञान की पवित्र ज्योति से वंचित रहता है। उसका अन्तर्जगत् ज्ञानालोक से आलोकित नहीं हो पाता। (७) लाभ की हीनता–लाभ का, विशिष्ट उपलब्धि का मद (अहंकार–गर्व) करने से जीव लाभ सम्पदा से रिक्त रहता है। जहाँ लाभ की आशा होती है, वहीं निराशा प्राप्त होती है। अनेकविध प्रयत्न, एवं पुरुषार्थ करने पर भी लाभ नहीं मिल पाता। (८) ऐश्वर्य की हीनता–ऐश्वर्य का अभिमान करने के फलस्वरूप उसे किसी प्रकार के ऐश्वर्य–भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होती।

---

१. ज्ञान का अमृत से पृ. ३५७
२. वही, पृ. ३५८-३५९

ऐश्वर्यशालियों को वह देख-रेख कर तरसता रहता है। वैभव की दृष्टि से उसे सर्वत्र निराशा ही हाथ लगती है।[1]

उच्च-गोत्रकर्म का फलभोग स्वतः भी, परतः भी

उच्चगोत्रकर्म और नीच गोत्रकर्म का फल स्वतः और परतः दोनों प्रकार से मिलता है। जैन सिद्धान्त बोल संग्रह के अनुसार—उच्चगोत्र कर्म के उदय से व्यक्ति स्वतः विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि के रूप में फलभोग करता है, यह स्वतः अनुभाव है। उच्चगोत्रकर्म का परतः अनुभाव (फलभोग) एक या अनेक विशिष्ट द्रव्यादिरूप पुद्गलों या विशिष्ट व्यक्तियों का निमित्त पाकर जीव प्राप्त करता है। जैसे—राजा आदि (मंत्री आदि) विशिष्ट पुरुषों द्वारा अपनाए जाने से नीच जाति और कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी जाति-कुल-सम्पन्न की तरह माना जाता है। लाठी आदि घुमाने से, प्राणायाम क्रिया से श्वास रोककर छाती पर मनभर की चट्टान को हथौड़े से पिटवाने आदि से दुर्बल व्यक्ति भी बलिष्ठ माना जाता है। विशिष्ट वस्त्रालंकारों के धारण करने से कुरूप व्यक्ति भी रूपसम्पन्न मालूम होने लगता है। अमुक तीर्थ के पर्वत-शिखर पर चढ़ कर आतापना लेने से तपविशिष्टता प्राप्त हो जाती है। अमुक पवित्र एवं शान्त प्रदेश में स्वाध्याय, अध्ययन आदि करने से व्यक्ति श्रुतविशिष्टता का अनुभव कर लेता है। विशिष्ट रत्नादि की या धनादि की प्राप्ति द्वारा अमुक महापुरुष की सेवा करने से व्यक्ति लाभ विशिष्टता की अनुभूति प्राप्त कर लेता है। धन, सुवर्ण, सत्ता, पद आदि का निमित्त पाकर अथवा दान, सेवा आदि स्वयं करने या उसकी दलाली करने से जीव ऐश्वर्य-विशिष्टता का उपभोग प्राप्त करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल-परिणामों के निमित्त से भी जीव उच्चगोत्र का अनुभाव करता है। कई बार मन के, कई बार वचन के पुद्गलों से भी ऐसी विशिष्टता का अनुभाव (फलभोग) होता है। अकस्मात् कोई बात कही और वह वैसी ही घटित हो गई, इससे उसकी प्रशंसा और प्रसिद्धि होने से परतः उच्चगोत्रभाव होता है।[2]

नीचगोत्रकर्म का अनुभाव भी स्वतः परतः दोनों प्रकार से

नीचगोत्रकर्म का फल (अनुभाव) भी स्वतः और परतः दोनों प्रकार से भोगा जाता है। नीचगोत्रकर्म के उदय से जीव का जातिहीन, कुलहीन आदि होना स्वतः अनुभाव माना जाता है। परतः अनुभाव नीचकर्म का आचरण करने से, नीच और कलंकित, पापी पुरुषों की संगति आदि रूप एक या अनेक जीवों या पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव नीचगोत्रकर्म का अनुभाव (वेदन) करता है। जैसे—जातिवान् और कुलवान् व्यक्ति भी अधम जीविका के करने से या व्यभिचारादि अन्यान्य नीच कृत्यों

---

१. ज्ञान का अमृत से पृ. ३५९-३६०
२. वही, ३६१

के करने से निन्दनीय हो जाता है। अधिकतर आलसी बन कर सोने से, सत्कार्यों में पुरुषार्थ न करने से बलहीन हो जाता है। मैले-कुचैले वस्त्र पहनने से व्यक्ति रूपहीन मालूम होता है। कुशील और दुःशील, व्यभिचारी, कुलटा स्त्रियों आदि की संगति से तपोहीनता प्राप्त होती है। विकथा करने से, कुसाधुओं, दुर्व्यसनियों अथवा नीच विचारधारा वाले व्यक्तियों के संसर्ग से श्रुत (ज्ञान) में न्यूनता होती है। देशकाल के अयोग्य वस्तुओं के अपनाने, खरीदने आदि से लाभ का अभाव महसूस होता है। कुगृह, कुभार्या, कुलटा, कुमार्गगामी आदि के संसर्ग से व्यक्ति ऐश्वर्यरहित होता है। गलत और पथ्यप्रतिकूल आहार करने से, मद्यादि का पान करने से जीव रूपहीनता का अनुभव करता है। स्वाभाविक पुद्गल परिणामों से भी जीव नीचगोत्र का अनुभव करता है वह प्रभावहीन हो जाता है। जैसे–बादलों के बारे में कही हुई बात का सत्य न निकालना आदि।

निष्कर्ष यह है कि जाति आदि ८ प्रकार के मद, गर्व, अहंकार या अभिमान के मनुष्य जितना निकट जाता है, उतना ही वह आत्मभावों से दूर चला जाता है, मदादि से जितना दूर रहता है, उतना ही वह सत्यादि आत्मगुणों के निकट जाने का प्रयास करता है। अतः अहंकार (अभिमान) से दूर रहने की प्रेरणा देना ही गोत्रकर्म की बन्धकारण-सामग्री का प्रधान उद्देश्य है।[१]

अन्तराय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ : स्वरूप, कार्य और बन्धकारण

कर्म की आठ मूल प्रकृतियों में अन्तराय कर्म आठवाँ है। अन्तराय शब्द का अर्थ है–विघ्न, बाधा, रुकावट, अड़चन, कुण्ठा, रोड़ा अटकाना आदि। आत्मा की अनन्त शक्तियों को कुण्ठित करने वाला अन्तराय कर्म है। अन्तराय कर्म का कार्य है–जीव को लाभ आदि की प्राप्ति में, तथा शुभकार्यों को करने की क्षमता में, तप-शील आदि की साधना करने के सामर्थ्य में अवरोध खड़ा कर देना। जीव जब शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों द्वारा जिन कर्मयोग्य परमाणुओं को आकर्षित करके आत्मप्रदेशों से आबद्ध करता है, तब उनमें ज्ञानादि आत्मगुणों को आवृत करने की क्षमता प्राप्त होने के साथ-साथ ऐसा सामर्थ्य भी उत्पन्न होता है, जो आत्मा की वीर्यशक्ति के प्रकट होने में रुकावट डालते हैं। फलतः वे दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि कार्यों में सफलता या कार्यसिद्धि का मुख नहीं देखने देते। इस विघ्न-बाधा उपस्थित करने वाले कर्म का नाम है–अन्तराय। यह अन्तराय कर्म बनते हुए कार्य को वैसे ही बिगाड़ देता है, जीव की आशाओं पर वैसे ही तुषारपात कर देता है, जिस प्रकार चुगलखोर या विरोधी

१. ज्ञान का अमृत से पृ. ३६९

चुगली करके बना-बनाया खेल बिगाड़ देता है। पूज्यपाद आचार्य के अनुसार–दानादि परिणाम में व्याघात का कारण होने से इस कर्म को अन्तराय कर्म कहते हैं।[1]

अन्तराय कर्म की उपमा : राजभण्डारी से

अन्तरायकर्म की तुलना-उपमा राजा के भंडारी से की गई है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश मिलने पर भी दान आदि देने में आनाकानी करता है, विघ्न डालता है। यह कर्म जीव के गुणों में बाधा डालता है।

अन्तराय कर्म का द्विविध प्रभाव

अन्तराय कर्म अपना प्रभाव दो प्रकार से दिखाता है–(१) प्रत्युत्पन्न-विनाशी और (२) पिहितागामी पथ। प्रत्युत्पन्न-विनाशी अन्तरायकर्म के उदय से प्राप्त वस्तुओं का भी विनाश हो जाता है, अथवा हाथ में आई हुई बाजी बिगड़ जाती है, अथवा स्व-हस्तगत वस्तु भी गायब हो जाती है। और पिहितागामिपथ अन्तराय भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति में अवरोधक है।

आत्मा की पंचविध शक्तियों में अवरोधक, अन्तरायकर्म

यद्यपि आत्मा में संसार की सभी वस्तुओं को दान देने की, त्याग करने की शक्ति है, सभी कुछ प्राप्त करने की क्षमता है, सभी के भोग-उपभोग करने की सामर्थ्य है; तप, जप, ध्यान, मौन, चारित्रपालन, क्षमादि धर्माचरण करने की ताकत है, लेकिन अन्तराय कर्म वैसा करने में विघ्न बाधा उपस्थित करता है। इसीलिए आत्मा की इन देने, लेने, भोगोपभोग करने या धर्मादि का आचरण करने की शक्तियों में अवरोधक बनने के कारण अन्तराय कर्म के मुख्यतया पांच भेद हैं–(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय कर्म।

दान के प्रकार और दानान्तरायकर्म का स्वरूप

(१) दानान्तराय कर्म–जिस कर्म के उदय से दान की सामग्री, पात्र, दानफल का ज्ञान तथा विधि का ज्ञान है, दान देने की आकांक्षा भी है, इत्यादि सब कुछ होने पर भी दान देने का उत्साह नहीं होता, अथवा किसी अपरिहार्य या आकस्मिक कारणवश

---

१. (क) अंतराइए कम्मे दुविहे प. तं.–पडुप्पन्न-विणासिए, पिहित-आगामिपहे। –स्थानांग २/१०५
(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ ५२
(ग) कम्मपयडी १/२
(घ) तत्त्वार्थसूत्र ८/१४
(ङ) दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं॥ –उत्तराध्ययन, ३३/१५
(च) कर्मप्रकृति से पृ. १२६

दान देने में विघ्न उपस्थित हो जाता है, वह दानान्तराय कर्म है। दान का लक्षण है–अपने और दूसरे के उपकार अथवा कल्याण के लिए अपने स्वामित्व या अधिकार की वस्तु का अतिसर्ग कर देना त्याग कर देना दान है। स्थानांगसूत्र में दान के दस प्रकार बताये हैं–(१) अनुकम्पादान–किसी दीन-दुःखी, अनाथ-असहाय या पीड़ित प्राणी पर अनुकम्पा करके दान देना–सहयोग देना। (२) संग्रहदान–आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने या अपना तुच्छ स्वार्थ सिद्ध करने के लिए कुछ देना, अथवा रिश्वत देना संग्रहदान है। (३) भयदान–राजा, मंत्री, सरकार, डाकू, लुटेरे आदि को भयवश देना भयदान है। (४) कारुण्य-दान–पुत्रादि के वियोग से होने वाला शोक, कारुण्य है। शोक के समय पुत्रादि के नाम पर दान देना कारुण्यदान है। (५) लज्जादान–लज्जा के वश शर्माशर्मी या देखादेखी जो दान दिया जाता है, वह लज्जादान है। (६) गौरवदान–अपने यश, कीर्ति, प्रशंसा, नामथरी, प्रसिद्धि और गौरव के लिए जो दान दिया जाता है, वह गौरवदान है। (७) अधर्मदान–जो दान हिंसा, झूठ-फरेब, चोरी, पशुबलि, मांसोत्पादन, मत्स्योत्पादन आदि अधर्म की पुष्टि के लिए दिया जाता है, वह अधर्मदान है। (८) धर्मदान–धर्मकार्यों में या धर्मपरायण त्यागी साधु-श्रावकों को दिया गया दान। (९) करिष्यति दान–भविष्य में प्रत्युपकार की आशा से दिया गया दान और (१०) कृतदान–पहले किये हुए उपकार के बदले में (उपहार, पुरस्कारादि के रूप में) दिया गया दान।[1]

दान के चार प्रकार और भी है। जैसे कि (१) ज्ञानदान–ज्ञान पढ़ाना, पढ़ने-पढ़ाने वालों की सहायता करना, ग्रन्थादि देना। इसे विद्यादान भी कहते हैं। (२) अभयदान–दुःखों, संकटों और विपत्तियों से पीड़ित, या मारे जाते हुए भयभीत जीवों को भयरहित करना। (३) औषधदान–रुग्ण साधु-साध्वियों या रुग्ण, अशक्त, रोगग्रस्त व्यक्तियों को दवा, पथ्य, चिकित्सा आदि में सहयोग देना। इसके बदले में धर्मोपकरणदान का उल्लेख भी किसी-किसी ग्रन्थ में है। उसका अर्थ है–छह काया के आरम्भ से निवृत्त, पंचमहाव्रतधारी, त्यागी अनगार श्रमण-श्रमणियों के आहार, पानी, वस्त्र, पात्रादि धर्मपालन में सहायक धर्मोपकरण देना। (४) अनुकम्पादान–अनुकम्पापात्र, असहाय, अशरण, संकटग्रस्त व्यक्तियों को दया की भावना से दान देना।

अन्तरायकर्म दान का प्रसंग आने, इच्छा होने पर भी उसमें विघ्न डाल कर दाता के मनोरथ को विफल कर देता है।

लाभान्तरायादि कर्मों का स्वरूप

(२) लाभान्तराय कर्म–योग्य सामग्री, साधन, योग्यता-पात्रता आदि रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव को अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है, उसे

---

१. (क) स्थानांग सूत्र, स्थान १०
(ख) ज्ञान का अमृत से पृष्ठ ३६३-३६४

लाभान्तराय कर्म कहते हैं। (३) भोगान्तरायकर्म-स्वाधीन भोग-सामग्री पास में होते हुए भी, तथा त्याग-प्रत्याख्यान न रहते हुए, किसी यथोचित पदार्थ का सेवन करने की इच्छा रहते हुए भी इस कर्म के उदय से रुग्णता, अंग-विकलता, दुर्घटना या कृपणता आदि कारणों से भोग्य (एक बार भोगने योग्य) वस्तुओं का भोग (सेवन का उपयोग) नहीं कर पाता, उसे भोगान्तरायकर्म कहते हैं। (४) उपभोगान्तरायकर्म-त्याग-प्रत्याख्यान न रहते हुए, उपभोग की इच्छा होने पर भी स्वाधीन विद्यमान उपभोग्य (जिन वस्तुओं का बार-बार उपभोग कर सके, उन) वस्तुओं का उपभोग जिस कर्म के उदय से जीव न कर सके, उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं। (५) वीर्यान्तरायकर्म-शरीर स्वस्थ व शक्तिशाली हो, युवावस्था हो, तथा सशक्त हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव सत्त्वहीन, वृद्ध और कमजोर व्यक्ति की तरह प्रवृत्ति करता है, अथवा कार्यविशेष में पराक्रम तथा पुरुषार्थ नहीं कर पाता, उत्साहहीन, निर्वीर्य या असमर्थ हो जाता है, उसे वीर्यान्तरायकर्म कहते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से वीर्यान्तरायकर्म के तीन भेद

आध्यात्मिक शक्तियों की दृष्टि से वीर्यान्तरायकर्म के तीन भेद किये गए हैं--(१) बाल-वीर्यान्तरायकर्म-समर्थ होते हुए भी तथा चाहते हुए भी इस कर्म के उदय से मिथ्यात्वयुक्त या अज्ञानप्रेरित सत्कार्य या नैतिक सांसारिक कार्य नहीं कर पाता। (२) पण्डित वीर्यान्तरायकर्म-सम्यक्दृष्टि साधु-साध्वीवर्ग मोक्ष की इच्छा होते हुए भी तथा त्याग-वैराग्य होते हुए भी इस कर्म के उदय से मोक्ष प्राप्तियोग्य पराक्रम या पुरुषार्थ नहीं कर पाता। (३) बाल-पण्डितवीर्यान्तराय कर्म--सम्यग्दृष्टि श्रावक-श्राविकावर्ग देशविरति चारित्र में पुरुषार्थ करना चाहता हुआ भी जिस कर्म के उदय से (राजा श्रेणिक की तरह) उत्साह नहीं कर पाता, वह बाल-पण्डितवीर्यान्तराय कर्म कहलाता है।[1]

अन्तराय कर्मबन्ध के कारण

भगवती सूत्र में अन्तराय कर्मबन्ध के पांच कारण बताये गए हैं-'दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय (विघ्न) करने से अन्तराय कर्म (कार्मण) शरीर का प्रयोगबन्ध होता है।'

---

१. (क) विघ्नं दाने लाभे भोगुपभोगेषु वीरिए च॥ -कर्मग्रन्थ टीका ५२
(ख) ज्ञान का अमृत से पृ. ३६५
(ग) कर्मप्रकृति से पृ. १२६, १२७
(घ) अंतराइएणं कम्मे भंते ! कतिविधे पण्णत्ते ?
गोयमा ! पंचविधे पण्णत्ते, तं. दाणंतराइए, लाभंतराइए, भोगंतराइए, उवभोगंतराइए, वीरियंतराइए। -प्रज्ञापना पद २३, उ. २, सू. २९३
(ङ) दानादीनाम् । -तत्त्वार्थसूत्र ८/१४
(च) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से पृ. ३९२

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार–विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव (बन्ध) का कारण है। अर्थात्–अन्तरायकर्म की पांचों प्रकृतियाँ दूसरों के दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य में अन्तराय अथवा विघ्न डालने से बंधती हैं। इन पांच कारणों की व्याख्या इस प्रकार है (१) दान देने में रुकावट डालना–स्वयं शक्ति होते हुए, सामर्थ्य होते हुए भी धन, भोज्य, वस्त्रादि साधनों का जरूरतमंद को या अनुकम्पापात्र को दान न देना, दूसरा कोई किसी व्यक्ति को किसी प्रकार के साधन, श्रम आदि का दान दे रहा हो, अथवा किसी साधु या साध्वी को, या किसी अभावपीड़ित सत्पात्र को कोई व्यक्ति दान दे रहा हो, परन्तु कुछ संकीर्ण हृदय, कृपणवृत्ति के व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो दाता के मनोभावों को बदल देते हैं–इस तरह किस-किसको दान दोगे? भारत में तो ऐसे याचक करोड़ों की संख्या में हैं, इत्यादि प्रकार से उसे दान पुण्य में बाधा पहुँचा देना। (२) लाभ में अन्तराय डालना किसी मनुष्य को यदि कहीं लाभ हो रहा है, उसका बिगड़ा हुआ काम बन रहा हो, सरकारी कोटा या किसी एजेंसी की प्राप्ति हो रही हो, अच्छा रिश्ता आने से पोजिशन अच्छी बन रही हो, अथवा बाप दादों की सम्पत्ति का लाभ हो रहा हो, ऐसी स्थिति में विघ्न उपस्थित करने वाला व्यक्ति, या उसके लाभ को हानि पहुँचाने वाला व्यक्ति लाभान्तराय कर्मबन्ध कर लेता है। (३) भोग्यपदार्थों की प्राप्ति में विघ्न डालना–कोई व्यक्ति भोग्य पदार्थ अपनी पात्रता अथवा स्थिति देखकर वह खूब उपभोग कर रहा है, उसे देखकर कोई ईर्ष्यालु, क्षुद्रहृदय व्यक्ति द्वारा उसके भोग्य पदार्थों की सुविधा में अकारण ही बाधा पहुँचाता है। उसे भोग्य पदार्थों की प्राप्ति नहीं होने देता, वह भोगान्तरायकर्मबन्ध कर लेता है। (४) उपभोग पदार्थों की प्राप्ति में विघ्न डालना–कोई व्यक्ति अपने मकान, वस्त्र, बर्तन, वाहन आदि उपभोग पदार्थों का उपभोग कर रहा है, या करना चाहता है, किन्तु कोई ईर्ष्यालु या विरोधी, अथवा अन्धश्रद्धालु, सवर्ण-असवर्ण में भेदभावकर्ता व्यक्ति उसमें विघ्न डालता है, अथवा कोई व्यक्ति किसी की निर्धनता पर दया लाकर उसे अपनी दूकान सौंप देता है, अथवा उसके परिवार आदि के लिए जीवनोपयोगी वस्तुओं का प्रबन्ध कर देता है, किन्तु कुछ अभागे ईर्ष्यालु व्यक्ति इन परोपकार पूर्ण शुभ कार्यों में भी दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं, बलपूर्वक या छलपूर्वक वे विघ्न उपस्थित करते हैं, ऐसे विघ्नोत्पादक लोग उपभोगान्तराय कर्म बांध लेते हैं। (५) शक्ति को अनुशासन या कुण्ठित कर देना–किसी मनुष्य में शारीरिक, वाचिक, बौद्धिक एवं मानसिक शक्ति है, अथवा किसी मनुष्य में अपने व्यवहार से आकर्षित करने या अनुशासन या शासन करने की शक्ति है।[1] या उसमें रचनात्मक कार्य करने की या समाजसेवा करने की शक्ति है, अथवा ध्यान, उत्कट तप, जप, अहिंसादि व्रत-पालन करने आदि की शक्ति है, परन्तु कुछ तेजोद्वेषी, परोत्कर्ष-विघ्नोत्पादक, ईर्ष्यालु लोग उसकी अमुक शक्तियों को तथा उत्कर्ष को तथा प्रसिद्धि को देखकर जलते हैं, कुढ़ते हैं, लोगों में उन्हें

---

१. ज्ञान का अमृत से पृ. ३६६

बदनाम करके हतोत्साह करना चाहते हैं, उनकी उक्त शक्ति का ह्रास या नाश करने के लिए नानाविध योजनाएँ बनाते हैं, यहाँ तक कि उसे जहरीली वस्तु या तामसिक वस्तु देकर उसको मरवा देते हैं, या उसकी शक्ति को कुण्ठित या नष्ट कर डालते हैं, या कर डालने का उपक्रम करते हैं। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति की उपयोगी शक्ति को हानि पहुँचाना या समाप्त करना वीर्यान्तराय कर्मबन्ध का कारण है। कोई व्यक्ति उत्साहपूर्वक, अध्ययन, शास्त्रज्ञान, जप, तप कर रहा हो, उसे बहका कर उस कार्य से विरत कर देना, अथवा कोई समाजसेवा या अन्य कोई सत्कार्य में पराक्रम कर रहा हो, उसे बहकाना कि करलो समाजसेवा, अन्त में तो अपयश ही मिलेगा; इस प्रकार उसके उत्साह या वीर्यशक्ति को ठण्डा कर देना, निरुत्साहित कर देना भी वीर्यान्तरायकर्मबन्ध का भयंकर पाप करना है।

कर्मग्रन्थ में वीर्यान्तराय कर्मबन्ध के दो मुख्य कारण बताए हैं--(१) वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर देवों की भावपूर्वक अर्चा-भक्ति करने में विघ्न डालने से, उनकी निन्दा तथा द्वेषवश आशातना करने से, उनके द्वारा प्ररूपित धर्म की निंदा करने से तथा उनके गुणानुवाद-स्तुति करने में रुकावट डालने से तथा (२) स्वयं हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप पापों को करने, कराने तथा अनुमोदन से, साथ ही दूसरों को अहिंसादि धर्म, व्रत-नियम पालन, तप-संयमादि आचरण करते देख निरुत्साहित करने से, या उनके उक्त धर्माचरण में अन्तराय डालने से वीर्यान्तराय कर्मबन्ध होता है।[1]

अन्तरायकर्म का फलभोग : कैसे जानें-पहचानें ?

अन्तरायकर्म पांच प्रकार से जीव को अपने कृत कर्म का फल भुगवाता है--(१) **दान का अवसर हाथ न आना**--जो व्यक्ति दानान्तराय कर्म का बन्ध करता है, वह व्यक्ति दान देने का स्वर्णिम अवसर हाथ लगने पर भी दान देने का लाभ नहीं ले सकता, जैसे कपिला दासी, योग्य सुपात्र उसके द्वार पर आने पर भी वह दान नहीं दे सकती थी; क्योंकि दूसरों के दान में विघ्नकर्त्री बनी थी, इसलिए स्वयं भी दानधर्म की आराधना से वंचित रही। (२) **लाभ का अवसर न मिलना**--पूर्व-बद्ध लाभान्तरायकर्म के उदय में आने पर व्यक्ति लाभप्राप्ति का स्वर्ण अवसर हाथ लगने पर भी लाभ नहीं उठा पाता। कई लोग मांगने की कला में कुशल होने पर भी, तथा दानसामग्री सामने मौजूद होते हुए भी दान नहीं ले पाते। एक व्यक्ति व्यापारकला में बहुत कुशल है, परन्तु दूकान पर बैठने पर धीरे-धीरे दूकान घाटे में चलने लगती है, दूकान की चमक-दमक फीकी पड़ जाती है, यह लाभान्तरायकर्म का प्रकोपरूप फल समझना चाहिए।[2] (३-४) **भोग्य तथा उपभोग्य पदार्थों के सेवन न कर पाना**--जिसने

---

१. (क) कर्मप्रकृति से पृ. १२७, १२८
(ख) ज्ञान का अमृत से, ३५६, ३६६
जिणपूयाविघ्नकरो हिंसाइ-परायणो जयइ विग्घं ॥६१॥ --कर्मग्रन्थ भा. १

२. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३६८

भोगान्तराय कर्म बांध रखा है, भले ही उसका भण्डार खाने पीने की चीजों से भरा है, तथापि वह उनका उपभोग नहीं कर पाता। दुनिया में ऐसे लखपति-करोड़पति भी हैं, जिन्हें ऐसे रोग लगे हैं, या वे तनावग्रस्त हैं, या दुर्घटनाग्रस्त हैं, कि सिवाय एक दो चीज के कुछ भी खा-पी नहीं सकते, क्योंकि डॉक्टरों ने उन्हें मना कर रखा है। अथवा जिसने उपभोगान्तराय कर्म बांध रखा है, वे व्यक्ति भी बंगला, कोठी, कार, आदि वाहन होते हुए भी उनके भूतप्रेताग्रिग्रस्त होने या कार में बैठ कर बाहर निकलने पर प्राणों का खतरा होने के कारण उनका उपभोग नहीं कर सकते। आयकर, सम्पत्तिकर आदि का चक्कर होने से वे फटे-पुराने, मैले-कुचैले वस्त्र पहनते हैं, ताकि वे गरीब मालूम दें, और कोई सरकारी आधिकारी आकर छापा न मार दे, अथवा डाकू लोग अपहरण न करलें। यह सब उपभोगान्तराय कर्म की कृपा का फल है। मम्मण सेठ का उदाहरण इस विषय में प्रसिद्ध है। उसके भाग्य में सिर्फ तेल और चवला ही थे। (५) शक्ति का प्राप्त न होना—जिसने वीर्यान्तराय कर्म बांधा है, उसके उदय में आने पर शक्ति प्राप्त करने के तमाम साधन विद्यमान होने पर भी शक्ति प्राप्त नहीं कर पाता। देखा जाता है कि कई व्यक्ति अपने शरीर को पुष्ट और सशक्त बनाने के लिए नाना प्रकार की शक्तिवर्द्धक, टॉनिक दवाइयाँ एवं इंजेक्शन लेते हैं, पौष्टिक पदार्थों का सेवन भी करते हैं, फिर भी उनके शरीर में बल का संचार नहीं हो पाता, उनका मनोबल भी क्षीण हो जाता है, उनका बुद्धिबल भी मन्द हो जाता है। कुछ लोग तो शक्ति-संवर्द्धन के लिए मांसाहार, मछली और अंडों का सेवन करते हैं, प्राणिहिंसाजन्य शक्तिप्रद कई चीजें खाते-पीते हैं, इसके बावजूद भी उनका शरीर सत्त्वहीन, तेजोहीन और शक्तिहीन रहता है। केवल वातवृद्धि के कारण वह फूला हुआ दिखता है। पूर्वबद्ध वीर्यान्तरायकर्म मनुष्य की जीवनी शक्ति को इतना क्षीण कर डालता है कि उससे उठना-बैठना भी कठिन हो जाता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि कोई दान देता हो; छीने रोकने वाले, अपने मातहत या सेवकों की आवश्यकताओं में कटौती करने वाले, गिरवी रखी हुई वस्तु या संस्था की रकम को हड़पने वाले, तथा कपिला की तरह पराई वस्तु का कहने पर भी दान न दे सकने वाले, केवल धन या साधनों की चौकीदारी करने वाले साधन सम्पन्न होने पर भी सुपात्र को दान न देने वाले लोग दानान्तरायकर्म के फलस्वरूप आगामी भव में वस्तु या धन मिलने पर भी उसका उपयोग नहीं कर पाते, पैसा होने पर भी सत्कार्य में सदुपयोग नहीं कर सकते। इसी तरह ब्लैक मार्केट, चोरी, डकैती, स्मगलिंग आदि के कारण लाभान्तराय कर्म बांधते हैं, भविष्य में उन्हें उसके फलस्वरूप लाभ प्राप्त नहीं होता। जो व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग हिंसादि अशुभ कर्मों में करता है, वह जन्मान्तर में दीन-दुःखी, क्षयरोगी, दमा का रोगी, या कैंसर का रोगी होकर जिंदगी पूरी करता है।[2]

---

१. ज्ञान का अमृत से पृ. ३६८-३६९
२. जैनदृष्टिए कर्म से पृ. १६७-१६८

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्नरूप इस कर्म का अनुभाव (फलभोग) स्वतः भी होता है, परतः भी। एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव अन्तराय कर्म के पूर्वोक्त अनुभाव (फलभोग) का अनुभव (परतः) करता है। विशिष्ट रत्नादि के सम्बन्ध से तद्विषयक मूर्च्छा हो जाने से तद्विषयक दानान्तराय कर्म का बन्ध और तत्पश्चात् उदय होता है। रत्नादि की सन्धि को छेदने वाले उपकरणों के सम्बन्ध से लाभान्तरायकर्म का उदय होता है। विशिष्ट आहार अथवा बहुमूल्य वस्तु का सम्बन्ध होने पर लोभवश उनका भोग (सेवन) नहीं किया जाता। इस तरह वह बहुमूल्य वस्तु भोगान्तराय कर्म के उदय में कारण बनती है। इसी तरह उपभोगान्तराय कर्म के उदय की कथा है। लाठी आदि की चोट से मूर्च्छित हो जाना, निढाल होकर गिर पड़ना वीर्यान्तराय कर्म का अनुभाव है। आहार, औषधि आदि के परिणामस्वरूप भी कभी वीर्यान्तराय कर्म का उदय होता है। मंत्र संस्कारित गन्ध-पुद्गल परिणाम से भोगान्तरायकर्म का उदय हो जाता है। स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम भी अन्तराय कर्म के अनुभावों में निमित्त बन जाता है। जैसे—ठंड पड़ती देखकर सर्दी में ठिठुरते हुए व्यक्तियों को गर्म वस्त्र दान देने की भावना होने पर भी व्यक्ति वस्त्रादि का दान नहीं दे पाता, यह सोच कर कि ठंड अधिक पड़ने लगेगी तो ये वस्त्र मेरे काम आएँगे, वह व्यक्ति दानान्तराय कर्म का अनुभाव करता है। यह परतः अनुभाव है। अन्तरायकर्म के उदय से दान, भोग, उपभोगादि में अन्तरायरूप फल का जो भोग (अनुभाव) होता है, वह स्वतः अनुभाव होता है।[1]

उपसंहार

इस प्रकार आठों ही मूल कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के स्वरूप, उपमा, स्वभाव, उनके पृथक्-पृथक् रूप से बन्ध होने के कारण और उनके फल, अनुभाव (फलभोग) आदि का संक्षेप में दिग्दर्शन किया गया है। यों तो उत्तरप्रकृतियों के भी तीव्र, मन्द आदि के भेद से अनेक प्रकार होने के कारण, उनके बन्ध के भी कारणों में असंख्य तारतम्य हो सकते हैं। हम इतनी गहराई में अपने पाठकों को नहीं ले जाना चाहते; किन्तु प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ में जो-जो कर्मविज्ञान के मुख्य-मुख्य मुद्दे हैं, उन पर विशद प्रकाश डाला गया है।

●●

---

१ (क) जैन दृष्टिए कर्म, पृ. १६८
(ख) ज्ञान का अमृत से, पृ. ३६८-३६९
(ग) प्रज्ञापना २३/२

२१

घाती और अघाती कर्म-प्रकृतियों का बन्ध

द्रव्य विकार की निमित्तभूता प्रकृति अघाती कर्म

प्रत्येक संसारी जीव के जीवन के दो रूप होते हैं–एक द्रव्यात्मक और दूसरा भावात्मक। इस अपेक्षा से उसके विकार (आत्मदृष्टि से विभावात्मक या परभावात्मक विकार–स्वरूप विकृति) भी दो प्रकार के होते हैं द्रव्यविकार या प्रदेश-विकार तथा भावविकार। बाह्य संयोग द्रव्यरूप ही होता है, भावरूप नहीं। प्रदेश-विकार का, अथवा बाह्य संयोग-वियोग का तात्त्विक सम्बन्ध–स्व-स्वरूपत्याग का सम्बन्ध आत्मा के स्व-भावों के साथ नहीं होता, अर्थात्–इन द्रव्यविकारों या प्रदेश-विकारों से आत्मा के मूल भावात्मक स्वरूप में कोई क्षति या घात होना सम्भव नहीं है। जैसे कि जीव का आकार छोटा हो या बड़ा, शरीर कृश हो या पुष्ट, काला हो या गोरा, धनवान् हो या निर्धन, बंगले या कार वाला हो, अथवा झोंपड़ी और पैदल चलने वाला हो, स्त्री-शरीर हो पुरुष शरीर, शरीर बौना हो या अंग-विकल हो, अथवा लम्बा, तगड़ा और पूर्णांग हो, यदि मोह नहीं है, तो रागद्वेषात्मक भावविकार सम्भव नहीं; और न ही ज्ञान की हानि-वृद्धि सम्भव है। ऐसी केवल द्रव्य-विकार की निमित्तभूता कर्म प्रकृति को अघाती कर्म कहा जाता है। इसे अघात्या, या अघातिया कर्मप्रकृति भी कहते हैं।[1]

घातीकर्म प्रकृति : भाव विकार की निमित्तभूता

इसके विरीत घातीकर्म उसे कहते हैं, जो कर्म आत्मा से बंध कर उसके स्वरूप का घात करते हैं, अर्थात् उसके स्वरूप को, स्व-भाव को, स्व-गुणों के प्रकट होने में बाधक बनते हैं, उन्हें क्षति पहुँचाते हैं। उन पर आवारक बनकर छा जाते हैं, जिससे आत्मा अपनी शक्तियों को प्रकट नहीं कर पाता। 'धवला' में घाती कर्मप्रकृति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है–'जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्यरूप अनेक भेदभिन्न जीवगुण हैं, उनके उक्त (घाती) कर्म विरोधी यानी घातक

---

१. कर्मसिद्धान्त (ब्र. जिनेन्द्रवर्णी) से, पृ. ५३-५७

होते हैं, इसीलिए वे घातिया (घात्य) या घाती कर्म कहलाते हैं।' अर्थात्–भावविकार की निमित्तभूता प्रकृतियाँ घातिया हैं। क्योंकि इनका कार्य आत्मा के स्व-भावों को आच्छादित या विकृत करना है।

आठ कर्मों की द्विविध प्रकृतियाँ

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ये आठ कर्मों की प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं–घातिक और अघातिक। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्म प्रकृतियाँ हैं। शेष चार अघाती कर्मप्रकृतियाँ हैं। इन चार कर्मों को अघातिया इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उनमें जीव (आत्मा) के मूल गुणों का विनाश करने की शक्ति नहीं पाई जाती।[1]

आत्मा के चार मुख्य निजीगुणों की घातक चार घातीकर्म-प्रकृतियाँ

आत्मा के अन्तरंग स्व-भाव या निजी मूलगुण चार हैं–अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख (आत्मिक आनन्द) और अनन्त आत्मिक शक्ति (वीर्य)। घाती कर्मप्रकृतियाँ आत्मा के इन चार अन्तरंग स्व-भावों–मुख्य गुणों को आच्छादित या विकृत करती हैं; इसके अतिरिक्त वे आत्मा के अनुजीवी गुणों–क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आदि स्व-भावों (आत्म-धर्मों) का विकास भी अवरुद्ध कर देती हैं।

पूर्वोक्त चार आत्म-स्व-भावों को आच्छादित या विकृत करने के कारण घाती कर्म-प्रकृतियाँ उनके अनुरूप चार हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय।[2]

आत्मा के चार स्व-गुणों का ये चार घाती कर्म कैसे घात करते हैं ?

आत्मा के पूर्वोक्त चार निजी गुणों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है–ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प से विशेष आकार-प्रकारों को जानना ज्ञान है। अन्तरंग के सामान्य प्रतिभास मात्र को या अन्तर् के चिदवभाश को 'दर्शन' कहते हैं। निर्विकल्प

---

१. (क) केवलणाण-दंसण-सम्मत्त-चारित्त-विरियाणमणेय-भेय-भिण्णाणं जीव-गुणाणं विरोहित्तणेण तेसिं घादि-ववदेसादो। –धवला ७/२/१/१५

(ख) ताः पुनः कर्म-प्रकृतयो द्विविधाः –घातिका अघातिकाश्च। तत्र ज्ञान-दर्शनावरण-मोहान्तरायाख्या घातिकाः। इतरा अघातिकाः।
तत्त्वार्थ–राजवार्तिक ८/२३/७/५८४

(ग) संसकम्मणं घादि-वयदेसो किण्ण होदि ? ण, तेसिं जीव-गुण-विणासण-सत्तीए अभावा।
–धवला; पंचाध्यायी उ. ९९९

२. धर्म और दर्शन (आचार्य देवेन्द्रमुनि) से, पृ. ६४

ज्ञाता-द्रष्टाभाव, तथा समता एवं शमता के कारण निराकुलता ही (आत्मिक) सुख कहलाता है। तथा चित्शक्तियों की निर्विकल्पता, अचंचलता अथवा स्थिरता ही आत्मशक्ति (वीर्य) है। पूर्वोक्त चार घाती कर्मों में से ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करके, उसके प्रकाश को घटा देता है, आत्मा के ज्ञानगुण का विकास करने में बाधक-घातक बन जाता है। दूसरे शब्दों में—ज्ञानावरण रूप घाती कर्म आत्मा की अनन्तज्ञानशक्ति का घात करता है; वह ज्ञान-गुण को प्रकट नहीं होने देता। दर्शनावरणरूप घाती कर्म आत्मा के दर्शनगुण को आवृत करके उसके द्वारा होने वाले सामान्य चित्-प्रकाश को घटा देता है। अर्थात्—वह आत्मा की अनन्त दर्शन-शक्ति को प्रकट नहीं होने देता। मोहनीय कर्मरूप घातीकर्म आत्मा की समता-शमतारूप निराकुलता को विकृत एवं कुण्ठित करके राग-द्वेष (कषाय) उत्पन्न कराता है, आत्मा के सम्यग्दर्शन को विकृत करके उसे मद्यपान से मत्त मनुष्य की तरह मूढ़ बना देता है। अर्थात्—मोहनीय कर्मरूप घातीकर्म आत्मा को मोहमूढ़ बनाकर उसे सच्चे मार्ग (सत्य) का भान नहीं होने देता। इतना ही नहीं, वह उस सत्यपथ पर चलने में भी आत्मशक्ति को कुण्ठित, अवरुद्ध एवं विकृत कर देता है, जिससे आत्मा को निराकुल अव्याबाध सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती। संक्षेप में, मोहनीयकर्मरूप घातीकर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप गुणों के विकास में घातक-बाधक एवं अवरोधक बनता है। अन्तराय कर्मरूप घातीकर्म आत्मा की विराट् शक्तियों को प्रकटित होने में विघ्नरूप बनता है। वह आत्मा की अनन्त विराट् शक्ति आदि का विघातक है, जिससे आत्मा अपनी अनन्त विराट् शक्ति को विकसित एवं जागृत नहीं कर पाता।[1]

घातीकर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का सर्वथा नाश नहीं कर सकता

घातिकर्म के घाती शब्द को लेकर पाठक यह न समझें कि यह आत्मा के ज्ञानादि गुणों का सर्वथा घात-नाश कर देता है। क्योंकि घातीकर्म या कोई भी अन्य कर्म, आत्मा के गुणों को प्रभावित, कुण्ठित एवं आवृत कर सकते हैं, परन्तु पूर्णतया नष्ट करने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। जैसे—आत्मा का मूल गुण ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा निश्चय दृष्ट्या अभिन्न हैं। यदि आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण नष्ट हो जाएं तब तो वह आत्मा न रहकर अनात्मा (जड़-अचेतन) बन जाएगा। घातीकर्म आत्मा के ज्ञान-गुण को कितना ही आवृत कर दें, नन्दीसूत्र के अनुसार—प्रत्येक जीव में अक्षर का अनन्तवाँ भागरूप ज्ञान उद्घाटित (खुला) रहता है। काले कजरारे सघन मेघ चन्द्रमा और सूर्य की प्रभा को कितना ही आच्छादित कर दें, वे उनके प्रकाश को पूर्णतया आवृत करने में समर्थ नहीं होते, समय पाकर वे घनघटा को चीर कर प्रकाशित हो ही जाते हैं। इसी प्रकार घातीकर्म आत्मा के ज्ञान-दर्शन-गुणों को अथवा आत्मिक सुख

---

१. (क) कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्रवर्णी) से, पृ. ५७
(ख) धर्म और दर्शन से भावांश ग्रहण, पृ. ६४

या शक्ति को कितना ही आवृत, कुण्ठित, प्रतिरुद्ध या बाधित कर दें, अन्ततोगत्वा आत्मा अपनी अनन्तज्ञानादि शक्तियों को न्यूनाधिक तथा पूर्णमात्रा में प्रकाशित कर पाता है।[1]

घातिकर्म सम्बन्धी विस्तृत कर्मविज्ञान के तृतीय खण्ड में

फिर भी घातिकर्मों की उत्कटता, इनके द्वारा आत्मगुणों का घात करने की प्रक्रिया, तथा घातिकर्मों के सर्वथा नाश होने पर होने वाली स्थिति आदि के विषय में जानना आवश्यक है। हमने 'कर्मविज्ञान' तृतीयखण्ड के 'कर्मों के दो कुल : घातिकुल और अघातिकुल' शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।[2] यहाँ तो घाती-अघाती कर्म प्रकृतियों के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट तथ्यों का ही निरूपण करना उचित होगा।

घातिकर्मों का मुखिया : मोहनीयकर्म और उसकी प्रबलता

इन चार घातिकर्मों में सबसे प्रबल और सर्वाधिक खतरनाक मोहनीयकर्म है। वह आत्मा के स्वभाव, गुणों और क्षमताओं को सबसे अधिक आवृत, कुण्ठित और प्रतिबद्ध करता है, वही आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों को अधिकाधिक दबाकर जीव में मूढता, अविवेक, अन्धविश्वास, अज्ञानता, दृष्टिराग, पूर्वाग्रह, तत्त्व के प्रति अश्रद्धा एवं रत्नत्रयरूप धर्ममार्ग पर चलने में जीव की शक्ति को कुण्ठित एवं प्रतिबद्ध करता है। वह जीव को अपनी वास्तविक शक्तियों का भान नहीं होने देता। फलतः आर्त-रौद्रध्यान कराता है। मोहनीय कर्म ही जन्ममरणरूप संसार का मूल बीज है। वही जीव को अपने आत्म-स्वरूप का भान भुला कर कभी क्रोध, कभी अहंकार-ममकार, कभी मोह, कभी माया और कभी लोभ करवाता है। वह जरा-जरा-सी बात पर रुलाता है, हँसाता है, कभी उदास बना देता है। जिस प्रकार नाटक के रंगमंच पर बहुरूपिया नाट्य कलाकार दर्शकों को अपनी कला से ऐसा वशीभूत कर लेता है कि वे नाट्य मंच पर भर्तृहरि के दृश्य को देखकर सहसा विरक्त हो जाते हैं, और हिमालय की ओर चल पड़ते हैं। कभी नाट्यमंच पर किसी खलनायक का पार्ट देखकर क्रोध से आगबबूला हो उठते हैं, कभी-कभी तो उसे मारने के लिए अपने स्थान से उठकर मंच की ओर दौड़ पड़ते हैं। कभी दृश्य इतना करुण हो जाता है कि उसे देखते ही दर्शक सहसा फूट-फूट कर रो पड़ते हैं। कुछ ही वर्ष पहले सिनेमा के पर्दे पर 'एक दूजे के लिए' चलचित्र देखकर कुछ नवयुवक आत्महत्या कर बैठे, कई

---

१. सव्वजीवाणं वि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ हवइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेण जीवा अजीवत्तं पावेज्जा ॥
सुट्ठुवि मेहसमुदये होइ पभा चंद सूराणं। —नन्दीसूत्र सू. ४३

२. देखिये—कर्मविज्ञान, तृतीय खण्ड में कर्मों के दो कुल : घातिकुल और अघाति कुल, शीर्षक निबन्ध।

रेल की पटरियों के नीचे कट गए, कुछ 'पोटाशियम साइनाइड' (विष) खाकर मर गए। बेचारे निर्देशक को स्वप्न में भी यह ख्याल नहीं था कि दर्शक लोग इन दृश्यों को सच मानकर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाएँगे। प्रतिदिन हीरों के तीन शो देखने वाली नेपाल की उस दिवंहिता युवती की दशा तो इतनी चिन्ताजनक हो चुकी थी कि वह सचमुच ही 'जैकी श्रोफ' नाम हीरो को मन ही मन अपना प्रेमी मान बैठी थी।

निर्देशकों और बहुरूपियों तथा नाट्यकलाकारों में दर्शकों को वश में करने की जितनी शक्ति है, उससे कई गुना अधिक शक्ति मोहनीयकर्मरूपी घातीकर्म में है।[1]

मोहनीयकर्म की प्रबल घातकता का उदाहरण

बहुरूपिये की अपेक्षा भी मोहनीय कर्म में मनुष्य में सहसा क्रोध, अहंकार और मोह उत्पन्न करने की कितनी ताकत है? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक बहुरूपिया अपनी मंडली सहित एक गाँव में पहुँचा। वहाँ उसका विचार 'रामलीला' करने का था। परन्तु उसमें एक ड्रेस कम पड़ गया। बहुरूपिये ने सोचा—यदि इस गाँव में किसी दर्जी की सहायता मिल जाय तो उस ड्रेस की पूर्ति हो सकती है। वह दर्जी की तलाश में गाँव में इधर-उधर घूमा। पूरे गाँव में केवल एक ही दर्जी था। बहुरूपिये ने उसके पास पहुँच कर नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"भैया ! हमें आज इस गाँव में रामलीला करनी है। अतः शाम तक अगर इस ड्रेस को सींकर तैयार कर दो तो बड़ी मेहरबानी होगी।" उस समय विवाह का सीजन चल रहा था। दर्जी सारे दिन कपड़े सीते-सीते थका हुआ था। अभी बहुत-से कपड़े सीने बाकी थे। इसलिए तैश में आकर गाली-गलौज करते हुए अंट-शंट बोल गया। बहुरूपिये का भी अहंकार गर्ज उठा—"देख लेना, बच्चू ! मैं बहुरूपिया हूँ। ऐसा सबक सिखाऊंगा कि बच्चू याद रखेगा।" दर्जी का भी खून खौल उठा॥ बहुरूपिये को ललकारते हुए उसने कहा—'जा जा अबे ! तेरे जैसे बहुत आते हैं। तू मेरा क्या कर लेगा? क्या तू मुझे गाँव से बाहर निकाल देगा, जो ऐसी धमकी दे रहा है।' बहुरूपिये ने भी मूँछों पर ताव देकर इस चुनौती का जवाब दिया—'अगर मैं तुझे इस गाँव से बाहर न निकाल दूं तो मैं बहुरूपिया नहीं।' यों कहते हुए वह वहाँ से निकला और सीधा पहुँचा अपने डेरे पर। बहुरूपिये ने अपनी मंडली के लोगों को बुला कर कहा—'साथियो ! रामलीला तो हमने अनेक दफा की है, फिर भी करेंगे, परन्तु आज रात को हमें कुछ नया प्रोग्राम बताना है। वह है रामलीला के बदले दर्जीलीला करना।' बात सभी के गले उतर गई। दर्जीलीला के लिए उसने बहुरूपिये ने सभी को अपने-अपने रोल समझा दिये। आवश्यक तैयारी कर ली गई। दर्जी से सम्बन्धित जैसी-जैसी पोशाकों से सुसज्जित होना था, सभी सुसज्जित होकर बैठे।

---

१. रे कर्म तेरी गति न्यारी (आ. विजयगुणरत्नसूरीजी) से भावांशग्रहण, पृ. ३४

रात्रि के आगमन होते ही बहुरूपिये की नाट्यकला देखने के लिये गाँव गाँव से अपार मानव मेदिनी उमड़ पड़ी। गाँव के लोगों के साथ दर्जी भी अपनी पत्नी के साथ आ गया था। नाटक प्रारम्भ होते ही ज्यों ही पर्दा खुला, सभी लोग हूबहू गाँव के दर्जी और उसकी पत्नी की हूबहू नकल देखकर टकटकी लगाकर देखने लगे। इस दृश्य को देखते ही लोग हंसते-हंसते लोट-पोट हो गए। वही एक्टिंग, वही स्वर, हाथ में कैंची, गले में नापने का फीता, आँखों पर चश्मा लगाए और कान पर पैंसिल दबाये हुए दर्जी की लीला देखकर लोग ठहाका मार कर हंसने लगे। उधर दर्जी और उसकी पत्नी मन ही मन क्रोध के मारे आगबबूला हो रहे थे। दर्जी की पत्नी को अत्यधिक गुस्सा आया। वह एकदम उबल पड़ी और पति से कहा–चलो यहाँ से, हमारी यह तौहीन अब हमसे सहन नहीं होती ! लोग भी कैसे निर्लज्ज हैं, हंसते जा रहे हैं और हमारी ओर बार-बार ताकते जा रहे हैं। दर्जी को भी क्रोध तो बहुत आ ही रहा था, वह अपने स्थान से एकदम उठकर चलने लगा कि स्टेज पर से बहुरूपिया बोला–'अरे दर्जी भाई ! आप बीच में से उठ कर जा रहे हैं, यह अच्छा नहीं है। अभी तो खेल अधूरा है। यह तो हमारा नाटक है, आप इसे अपने पर क्यों ले रहे हैं? आप नाराज होकर मत जाइए, बैठिये, बैठिये !' यह सुनकर दर्जी के क्रोध का पारा और चढ़ गया। उठते-उठते दर्जी बड़बड़ाते हुए चलने लगा–"तू कौन होता है, मुझे रोकने वाला? हम तो अभी जा रहे हैं ! इतना ही नहीं, मैं अब इस गाँव में इन लोगों के साथ नहीं रहना चाहता; क्योंकि ये लोग भी हंसी उड़ाकर मेरा अपमान एवं तौहीन कर रहे हैं ! इसलिए मुझे यह बेकार का नाटक नहीं देखना।" दर्जी को उठकर जाते देख दर्शकों में खलबली मच गई। रंग में भंग हो गया। गाँव के मुखिया ने तथा अन्य लोगों ने बहुरूपिया से कहा–हमारे गाँव में एक ही तो दर्जी है, वह भी रूठ कर गाँव से जाने की तैयारी कर रहा है, यह अच्छा नहीं है। जैसे भी हो तुम दर्जी साहब को मनाकर लाओ।

उधर दर्जी और उसकी पत्नी झटपट घर गए और अपना सब सामान बटोर कर बैलगाड़ी में भरने लगे। गाँव के समझदार लोग पहुँचे। उसे मनाने और समझाने की बहुत कोशिश की, पर सब व्यर्थ ! बैलगाड़ी में सामान लादकर दर्जी ज्यों ही गाँव से बाहर निकला, त्यों ही बहुरूपिया बीच रास्ते में खड़ा हो गया। वह बोला–'देखी न, बंदे की करामात ! गाँव छोड़ कर जाना पड़ा न ! जाओ जाओ, शीघ्र चले जाओ। वापस लौटकर मत आना।" यह सुनते ही दर्जी के अहंकार पर डबल चोट पड़ी। उसने आवेश में आकर कहा–"जा जा, बहुरूपिये के बच्चे ! तू कौन होता है, हमें गाँव से निकालने वाला ! हम नहीं जाते, इसी गाँव में रहेंगे।" यों कह कर उसने अपनी बैलगाड़ी वापस लौटा ली और गाँव में प्रवेश करके अपने घर पहुँच गया।

इस रूपक में मुख्यतया चार बातें हैं–पहले बहुरूपिये में अहंकार, क्रोध और बदले की भावना उमड़ी। तत्पश्चात् बहुरूपिये ने दर्जी दम्पत्ति में क्रोध और आवेश

भरकर गाँव से जाने की उत्तेजना पैदा की। जब गाँव से जाने लगा तो उसने दर्जी में अहंकार का उफान और गाँव में लौटने की उत्तेजना भर दी। परन्तु यह सब है–मोहनीयरूप प्रबल घाति कर्म की चाल! इसने विश्व के बड़े-बड़े मान्धाताओं को धूल चटा दी, और उन्हें भिखारी बना दिया, कई तीसमारखां लोगों को परस्पर लड़ाकर नरक का मेहमान बना दिया। इसीलिए मोहनीयकर्म को घातिकर्मों का मुखिया ही नहीं, अन्य समस्त कर्मसेना का सेनापति बताया गया है।[1]

इस प्रकार मोहनीय कर्म ही नहीं, शेष तीन कर्म भी आत्मा की स्वभाव दशा को विकृत करते हैं। इतना अवश्य है कि मोहनीयरूपी कर्मबीज ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायरूप घातिकर्मों का हवा, पानी पाकर कर्मपरम्परा को सतत बनाये रखता है। अतः मोहनीय ही जन्ममरणरूप संसार या बन्धन का मूल है, शेष घातिकर्म तो उसके सहयोगी हैं।

घातिकर्मों के समूल नष्ट होने पर ही केवलज्ञान–दर्शन एवं जीवन्मुक्त वीतराग

जिस प्रकार सेनापति के पराजित-पलायित होते ही सारी सेना हतप्रभ होकर पराजित व पलायित हो जाती है, वैसे ही मोहनीयकर्म को पराजित कर देने पर शेष तीनों घातिकर्मों को आसानी से पराजित किया जा सकता है और आत्मस्वरूप को, शुद्ध आत्मगुणों को उपलब्ध किया जा सकता है। मोह का क्षय होते ही, शेष तीनों घातिकर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान केवलदर्शन प्रगट हो जाता है। व्यक्ति वीतरागी, केवलज्ञानी और जीवन्मुक्त बन जाता है।[2]

अतः चारों घातिकर्म आत्मा की अनन्त ज्ञानादि शक्तियों के घातक, आवरक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। जब तक चारों घातिकर्म नष्ट नहीं हो जाते, तब तक मोक्ष तो दूर रहा, केवलज्ञान-केवलदर्शन एवं वीतरागत्व या जीवन्मुक्तत्व भी प्राप्त नहीं हो सकता। इन चारों के समूल नष्ट होने पर ही आत्मा अपने मूलगुणों को[3] पूर्णरूप से प्रकट कर सकता है और स्व-रूप में सतत स्थिर रह सकता है।

चार घातिकर्मों की उत्तर-प्रकृतियाँ

घातिकर्मों की पूर्वोक्त चार मूलप्रकृतियों की उत्तर-प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–

ज्ञानावरण की पांच उत्तर प्रकृतियाँ–मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यायज्ञानावरणीय और केवल-ज्ञानावरणीय।

दर्शनावरणीय की नौ उत्तर-प्रकृतियाँ- निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय।

१. ये कर्म तेरी गति न्यारी से, पृ. ३५ से ३९ तक
२. जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन डॉ. सागरमल जैन पृ. ७७
३. कर्मविज्ञान खण्ड ३ (आचार्य देवेन्द्रमुनि) से, पृ. ५७५

मोहनीय कर्म की २८ उत्तरप्रकृतियाँ–दर्शन मोहनीय के तीन भेद I. सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय, II. चारित्र-मोहनीय के २५ भेद–अनन्तानुबन्धी के ४, अप्रत्याख्यानावरणीय के ४, प्रत्याख्यानावरणीय के ४ और संज्वलनकषाय के ४ भेद। नौ नोकषाय–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतियाँ–दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

इस प्रकार चार घातिकर्मों की कुल ४७ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। घातिकर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ घातिनी कहलाती हैं, और अघातिकर्मों की अघातिनी। कर्मग्रन्थ भा. ५ में कुल घाती कर्म प्रकृतियाँ ४५ ही मानी हैं।[1]

सर्वघाती और देशघाती प्रकृतियाँ

घातिकर्मों की प्रकृतियों के दो भेद हैं। उनमें से कुछ प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं, कुछ देशघातिनी हैं। द्रव्यसंग्रह (टीका) में कहा गया है–सब प्रकार से आत्मगुण-प्रच्छादक कर्मों की शक्तियाँ सर्वघातिनी और विवक्षित एकदेश रूप से आत्मगुण-प्रच्छादक शक्तियाँ देशघातिनी कहलाती हैं। कषायपाहुड के अनुसार–अपने से प्रतिबद्ध जीव के गुण को पूरी तरह से घातने का जिसका स्वभाव है, उस अनुभाग को सर्वघाती कहते हैं।[2] जो सर्वघातिनी हैं, वे आत्मा के गुणों का पूर्णतया घात (क्षति) करती हैं। अर्थात्–उनका उदय होते हुए कोई आत्मिक गुण प्रकट नहीं हो सकता। कर्मग्रन्थ पंचम भाग में बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी बतलाई हैं। वे बीस सर्वघातिनी प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–(१) केवलज्ञानावरण, (२) केवल दर्शनावरण, (३ से ७) पांच निद्राएँ, (८-१९) बारह कषायें (अनन्तानुबन्धी-चतुष्क, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क, और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क) तथा (२०) मिथ्यात्व। गोम्मटसार, पंचसंग्रह और राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में 'सम्यक्-मिथ्यात्व' को लेकर इक्कीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी मानी गई हैं। इस एक प्रकृति के अन्तर का कारण यह है कि कर्मग्रन्थ में बन्ध-प्रकृतियों की संख्या को लेकर सर्वघाती देशघाती का विभाग किया गया है, जबकि गोम्मटसार आदि में उदय प्रकृतियों की संख्या को लेकर उक्त विभाग किया गया है। इसी प्रकार देशघाती कर्म प्रकृतियां में भी एक प्रकृति सम्यक्त्वप्रकृति कही गई है। चूंकि सम्यक्त्व मोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) मोहनीय प्रकृति का बन्ध नहीं होता, किन्तु उदय होता है। और घातित्व अघातित्व का सम्बन्ध उदय के साथ है। यही कारण है कि कर्मग्रन्थ में

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ (मरुधरकेसरीजी) पृ.
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. १३-१४
२. (क) द्रव्यसंग्रह टीका ३४/९९
(ख) कषाय पाहुड ५/३/३/१९

बन्ध-प्रकृतियों की संख्या की अपेक्षा देशघातिनी कर्म-प्रकृतियाँ २५ बतलाई हैं, जबकि गोम्मटसार आदि में सम्यक्त्व मोहनीय सहित २६ कही हैं। वे इस प्रकार हैं–(१-४) ज्ञानावरणादि चार, (५-७) दर्शनावरण की तीन (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन), (८-११) संज्वलन कषाय-चतुष्क, (१२-२०) नौ हास्यादि नोकषाय, तथा (२१-२५) पांच अन्तराय।[1] (२६) सम्यक्त्वमोहनीय।

सर्वघातिनी में सर्वघात शब्द का रहस्यार्थ

एक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि यहाँ सर्वघात का अर्थ मात्र इन गुणों के पूर्ण प्रकटन को रोकना है, न कि इन गुणों का नामशेष कर देना या अनस्तित्व कर देना। क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव में आत्मतत्त्व और जड़तत्त्व में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसलिए सर्वघातिनी कर्म प्रकृतियाँ न तो आत्मा के ज्ञानादि गुणों के पूर्णतया प्रकटन को रोक सकती हैं और न ही उनकी प्रकाशादि क्षमता को।

सर्वघातिनी प्रकृतियाँ कैसे सर्वघात करती हैं ?

जैसे–केवलज्ञानावरण आत्मा के केवलज्ञान को पूरी तरह आवृत करता है। किन्तु जिस प्रकार मेघपटल द्वारा सूर्य के पूरी तरह आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का कुछ अंश अनावृत ही रहता है। यदि मेघपटल सूर्य की उस अवशिष्ट प्रभा को भी आवृत कर ले, कि दिन और रात में कोई अन्तर ही न रहे तब तो वर्षाकाल में दिन और रात में कोई अन्तर ही न रह सकेगा। फिर भी जैसे मेघपटल सूर्य का सर्वात्मना आवारक कहलाता है, उसी तरह केवलज्ञानावरण केवलज्ञान का सर्वघाती कहलाता है, क्योंकि उसके सर्वथा हटाये बिना केवलज्ञान प्रकट नहीं हो सकेगा। इसी तरह केवलदर्शनावरण भी केवलदर्शन का पूरी तरह घात करता है, फिर भी उसका अनन्तवाँ भाग नित्य अनावृत ही रहता है। इसका सर्वघातित्व भी केवलज्ञानावरण की तरह समझ लेना चाहिए।

पांचों निद्राएँ भी वस्तुओं का सामान्य प्रतिभास नहीं होने देतीं, अतः सर्वघातिनी हैं। सोते समय मनुष्य को जो थोड़ा बहुत ज्ञान रहता है, उसे भी पूर्ववत् मेघ के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिए। बारह कषायों में से अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व-गुण का घात करती है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र का घात करती है,

---

१. (क) केवल जुयलावरणा पणनिद्दा बारसाइमकसाया।
मिच्छंति सव्वघाई चउणाण-तिदंसणावरणा ॥१३॥
संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइय अघाई।
पत्तेय-तणुट्ठाक तसवीसा गोयदुगयन्ना ॥१४॥
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ (पं. कैलाशचन्द्रजी) विवेचन, से पृ. ४२, ४३
(ग) पंचसंग्रह (प्रा.) ४८३, ४८४

प्रत्याख्यानावरणीय कषाय सर्वविरति चारित्र का घात करती है। मिथ्यात्वमोहनीय भी सम्यक्त्व गुण का सर्वात्मना घात करता है। अतः ये बीस सर्वघाती कर्म प्रकृतियाँ हैं। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में सम्यक्त्व-मिथ्यात्व कर्म प्रकृति को (उदय की अपेक्षा से) सर्वघाती में माना है, क्योंकि सम्यग्-मिथ्यात्व के उदय में सम्यक्त्व की गन्ध भी नहीं रहती। सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के अस्तित्व का विरोध है। अर्थात्—उस समय न तो सम्यक्त्व ही रहता है और न मिथ्यात्व ही। केवल मिथ्यात्वमोह की प्रकृति सर्वघाती क्यों है? क्योंकि यह सम्यक्त्व के सब अवयवों का विनाश करती है, अतः सर्वघाती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय इसलिए सर्वघाती है कि वह अपने प्रतिपक्षी सर्वप्रत्याख्यान (संयम) गुण का घात करती है।[1]

वेदनीय कर्म अघाती भी, घाती भी

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में बताया है कि यद्यपि वेदनीय को अघातिया कर्म प्रकृति में गिनाया है, परन्तु वह सर्वथा अघातिया नहीं है, क्योंकि वेदनीय कर्म घातिकर्मवत् मोहनीय के भेद-रति-अरति के उदयकाल को लेकर ही जीव के गुण को घातता है। इसी कारण इसे घाती कर्मों के बीच में मोहनीय से पहले गिनाया गया है। दूसरी बात यह है कि वेदनीय के दो कार्य हैं-(१) विषय भोगों का संयोग-वियोग कराना और (२) उस संयोग-वियोग के निमित्त से दुःख-सुख की प्रतीति या वेदन कराना। परन्तु वेदन वाला यह कार्य मोह के साथ रहने पर ही सम्भव है। क्योंकि बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग होने पर अथवा बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट की या सुख-दुख के वेदन सम्बन्धी कल्पना मोह के अधीन है, इसलिए इस कर्म का व्यापार भी मोहनीय के सहवर्ती है। इसलिए मोही जीवों में इसके दो कार्य उपलब्ध होते हैं, और वीतरागियों में केवल एक। चूंकि सुख-दुख का वेदन चेतनभाव है, जड़ शरीर का कोई संयोगीभाव नहीं। इसलिए अघातिया होते हुए भी वेदनीय को घातिवत् माना जाता है।[2]

अन्तरायकर्म कथंचित् अघाती है

यद्यपि अन्तरायकर्म को घाति कर्म माना है, तथापि वह अघातिकर्मवत् है। यह समस्त जीवों के गुणों का घात करने में समर्थ नहीं है। नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मों के निमित्त से (शरीरादि की अपेक्षा से) अन्तराय कर्म ही इसका व्यापार है। इसी कारण अघातियों के बाद और अन्तिम अन्तराय कर्म को कहा है। अन्तराय कर्म का नाश शेष तीन कर्मों के नाश के साथ अविनाभावी है। अन्तराय कर्म के नष्ट होने पर अघातिया कर्म भ्रष्टबीज के समान निःशक्त हो जाते हैं।[3]

---

१. कर्मग्रन्थ पंचम भाग विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. ४३-४४
२. (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड मू. १९/१२ (टीका)
   (ख) कर्मसिद्धान्त (ब्र. जि. व.) से, पृ. ५८-५९
३. (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड, मू. १७/११
   (ख) धवला १/१, १, १/४४/४

देशघातिनी कर्मप्रकृतियाँ : स्वरूप और संख्या

जो प्रकृति आत्मा के गुण का एकदेश से घात करती है, वह देशघातिनी कहलाती है। इस लक्षण के प्रकाश में मतिज्ञानावरण आदि चारों केवलज्ञान के उस अनन्तवें भाग का एकदेश से घात करते हैं, जो केवलज्ञानावरण से अनावृत रह जाता है। जब कोई छद्मस्थ जीव मति आदि चार ज्ञानों की विषयभूत वस्तु को जानने में असमर्थ होता है, तब इसे मतिज्ञानावरण आदि चार आवरणों के उदय का ही फल जानना चाहिए। किन्तु मति आदि चार ज्ञानों के अविषयभूत अनन्तगुणों को जानने में जो उसकी असमर्थता है, उसे केवलज्ञानावरण के उदय का प्रताप समझना चाहिए। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, और अवधिदर्शनावरण भी केवलदर्शनावरण से अनावृत केवलदर्शन के एकदेश का घात करते हैं। अतः ये देशघाती हैं। इनके उदय में जीव चक्षुदर्शन आदि के विषयभूत विषयों को पूरी तरह नहीं देख सकता। किन्तु उनके अविषयभूत अनन्तगुणों को केवलदर्शनावरण के उदय होने के कारण ही देखने में असमर्थ होता है। संज्वलन कषायचतुष्क और नौ नोकषाय भी चारित्र के एकदेश का घात करती हैं। इसलिए देशघाती हैं, क्योंकि इनके उदय से व्रती पुरुषों के मूलगुण और उत्तरगुणों में अतिचार लगते हैं,[1] जबकि अन्य कषायों का उदय अनाचार का जनक है। अन्तरायकर्म की पांचों प्रकृतियाँ भी देशघातिनी हैं, क्योंकि दान, लाभ, भोग और उपभोग के योग्य जो पुद्गल हैं, वे सभी पुद्गल-द्रव्य के अनन्तवें भाग हैं। अर्थात्—सभी पुद्गल द्रव्य इस योग्य नहीं हैं कि उनका देन-लेन आदि किया जा सके। देने-लेने, भोगने और प्राप्त होने में आने योग्य पुद्गल बहुत ही थोड़े हैं। उन भोगयोग्य पुद्गलों में से भी एक जीव सभी पुद्गलों का दान, लाभ, भोग और उपभोग नहीं कर सकता। चूँकि उन पुद्गलों का थोड़ा भाग सभी जीवों के उपयोग में सदा आता रहता है। अतः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय देशघाती हैं। तथा वीर्यान्तराय कर्मप्रकृति भी एकदेशघाती है। क्योंकि वीर्यान्तराय कर्म का उदय होते हुए भी सूक्ष्म निगोदिया जीव को इतना क्षयोपशम अवश्य रहता है, जिससे कर्म और नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण वगैरह करता है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की तरतमता के कारण सूक्ष्म निगोदिया से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों की न्यूनाधिकता पाई जाती है। यदि वीर्यान्तराय सर्वघाती हो तो जीव के समस्त वीर्य को आवृत करके उसे जड़ की तरह निश्चेष्ट कर डालता। अतः वह भी देशघाती है। इस प्रकार पच्चीस प्रकृतियाँ (दिगम्बर मतानुसार सम्यक्त्वमोहनीय-सहित २६ प्रकृतियाँ) देशघातिनी समझनी चाहिए।[2]

१. सव्वे वि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति।
मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं॥ —पंचाशक २४४
अर्थात् संज्वलन कषाय के उदय से समस्त अतिचार होते हैं, किन्तु शेष १२ कषायों के उदय से तो व्रत के मूल का ही छेदन हो जाता है। यानी व्रत जड़ से ही नष्ट हो जाता है।

२. (क) कर्मग्रन्थ पंचम भाग गा. १३-१४ के विवेचन से, पृ. ४३-४४
(ख) गोम्मटसार (क.) पृ. ३९-४०

मतिज्ञानावरणीयादि चार तथा केवलज्ञानावरणीय घाती हैं या अघाती ?

मतिज्ञानावरणीय आदि चार प्रकृतियों को देशघातिनी इसलिए बताया गया है कि ये चारों ज्ञानादरण ज्ञानांश को घात करने के कारण देशघाती हैं। जबकि केवल-ज्ञानावरण ज्ञान के प्रचुर अंशों का घात करने के कारण सर्वघाती है। केवल-ज्ञानावरणीय सर्वघाती कैसे है? क्योंकि केवलज्ञान का निःशेष अभाव मान लेने पर जीव के अभाव का प्रसंग आता है, अथवा आवरणीय ज्ञानों का अभाव होने पर शेष आवरणों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इसका समाधान देते हुए धवला में कहा गया है–केवलज्ञानावरणीय कर्म देशघाती तो नहीं हो सकता, वह सर्वघाती ही है, वह केवलज्ञान को आवृत करता है, फिर भी जीव का अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञान के आवृत होने पर भी शेष चार ज्ञानों का अस्तित्व उपलब्ध होता है। इस पर फिर प्रश्न उठाया है, निश्चयनय से जीव में एकमात्र केवल-(पूर्ण) ज्ञान है, जब उसे पूर्णतया आवृत मानते हैं, तब फिर चार ज्ञानों का सद्भाव कैसे हो सकता है? उत्तर दिया गया है ऐसा नहीं है। जिस प्रकार राख से ढकी हुई अग्नि से वाष्प की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार सर्वघाती आवरण के द्वारा केवलज्ञान के आवृत होने पर भी उसमें ज्ञानों की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं होता।[1]

सम्यग्-मिथ्यात्वमोहनीय एवं मिथ्यात्वमोहनीय सर्वघाती हैं या देशघाती?

सम्यग्-मिथ्यात्वमोहनीय का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय विनाश तो करता नहीं है, फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा गया? धवलाकार ने इसका समाधान यों दिया है कि वह सम्यग्दर्शन की पूर्णता का प्रतिबन्ध करता है, इस अपेक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा गया है। धवलाकार ने शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कहा है कि सम्यक्त्व की अपेक्षा भले ही सम्यग्-मिथ्यात्व-स्पर्द्धकों में सर्वघातित्व हो, किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृति के स्पर्द्धकों में सर्वघातित्व नहीं होता, क्योंकि उसका उदय रहने पर भी मिथ्यात्व-निमित्तक सम्यक्त्व का कण पाया जाता है। मिथ्यात्वप्रकृति तो सर्वघाती है ही, क्योंकि वह सम्यक्त्व के सब अवयवों का विनाश करती है।[2]

सम्यक्त्व-मोहनीय-प्रकृति देशघाती क्यों ?

सम्यक्त्व-मोहनीय-प्रकृति देशघाती इसलिए है कि सम्यक्त्व प्रकृति का अनुभाग सम्यक्त्व के एकदेश को घातता है। अतः उसके देशघाती होने में कोई विरोध नहीं है।

१. (क) ज्ञानबिन्दु (जिनेन्द्रवर्णी) से
   (ख) धवला १३/५, ५, २१/२१४
२. (क) कषाय-पाहुड ५/४-२२/१९२
   (ख) धवला ५/१९, १३/३६८
   (ग) वही, ५, ५, ७९/१९७
   (घ) कषायपाहुड ५/४-२२/२००/१३९

कषाय-पाहुड में प्रश्न उठाया गया है कि सम्यक्त्व-मोहनीय प्रकृति से सम्यक्त्व के कौन-कौन से भाग का घात होता है? उत्तर इस प्रकार है कि सम्यक्त्व की स्थिरता और निष्कांक्षता का उससे घात होता है। अर्थात्–उसके द्वारा घात होने से सम्यक्त्व का मूल से विनाश तो नहीं होता, किन्तु उसमें चल, मल, अगाढ़ आदि दोष आ जाते हैं।[1]

प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क सर्वघाती कैसे ?

अब प्रश्न होता है कि प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क सर्वघाती कैसे है? यदि ऐसा माना जाए कि प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क के उदय में सर्व प्रकार से चारित्र-विनाश करने की शक्ति का अभाव है, तो क्या प्रत्याख्यानावरण कषाय का सर्वघातीपन नष्ट नहीं हो जाता? उत्तर–नहीं होता, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कषाय अपने प्रतिपक्षी सर्व-प्रत्याख्यान (संयम) गुण का घात करता है। इस कारण उसे सर्वघाती कहा जाता है। यह जरूर है कि वह सर्व-अप्रत्याख्यान कषायचतुष्क को नहीं घातता, क्योंकि इसका इस विषय में व्यापार नहीं है।[2]

अघातिकर्म का लक्षण, स्वरूप, कार्य और प्रभाव

घातिकर्म से विपरीत स्वभाव वाले कर्म अघाति कर्म कहलाते हैं। अर्थात्–उदयावस्था में आने के बावजूद जिस कर्म में आत्मा के गुणों का घात-नाश करने की शक्ति नहीं होती, वही अघातिकर्म प्रकृति कहलाती है। इसका विशेष परिष्कृत स्वरूप यह है–जो कर्म आत्मा के निजीगुणों का घात न करके केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करता है, अर्थात्–आत्मा के प्रतिजीवी गुणों को प्रकट होने नहीं देता, आवरण या प्रतिरोध करता है, वह **अघाती कर्म** है। अघातिनी या अघातिया कर्म-प्रकृति से जीव (आत्मा) के मूल स्वभावात्मक स्वरूप में कोई क्षति या घात होना सम्भव नहीं है। अर्थात्–अघातिकर्म-प्रकृति से रागद्वेषात्मक या कषायात्मक भाव-विकार या ज्ञानादि का ह्रास-विकास भी सम्भव नहीं है। इसलिए अघातिकर्म प्रकृति द्रव्यविकार की निमित्तभूता है। निष्कर्ष यह है कि अघातिकर्म आत्मा के मौलिक एवं स्वाभाविक ज्ञानादि अनुजीवी (निजी) गुणों का घात या ह्रास नहीं करते, इनकी अनुभाग शक्ति भी आत्मा की स्वभाव-दशा की उपलब्धि या आत्मगुणों के विकास में बाधक नहीं बनती।[3] ये केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात या ह्रास करते हैं।

---

१. कषायपाहुड ५/४-२२/१२१/१३०
२. धवला ५/१, ७, ७/२०२
३. (क) पंचसंग्रह (प्रा.) गा. ४८४
   (ख) गोम्मटसार (क.) गा. ४०
   (ग) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ५४
   (घ) कर्मसिद्धान्त पृ. ५७
   (ङ) कर्मविज्ञान खण्ड ३ पृ. ५७६-५७७

अघातिकर्म के प्रकार, नाम और प्रभाव

आत्मा के प्रतिजीवी गुण चार हैं–(१) अव्याबाध सुख, (२) अटल अवगाहना–शाश्वत स्थिरता, (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुत्व। इन चारों के अनुरूप शरीर, आयु तथा सुख-दुःखानुभव एवं भोग सम्पादन की कारणभूता, अघातिकर्म-प्रकृति भी चार प्रकार की है–(१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र। इष्टानिष्ट बाह्य विषयों या सांसारिक सुख-भोगों का संयोग-वियोग कराने तथा सुख-दुःख का वेदन कराने वाली कर्म प्रकृति वेदनीय है। नरकादि चार गतियों में या शरीरों में निश्चित काल पर्यन्त जीव को रोक रखने वाली प्रकृति का नाम आयु कर्म है। नरकादि चार गतियों में, एकेन्द्रियादि पांच जातियों के सुन्दर-असुन्दर, बलिष्ठ-निर्बल, शुभ-अशुभ, आदि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र एवं रंग बिरंगे पृथ्वी-जल आदि पंच स्थावर जीवों से लेकर मनुष्य पर्यन्त के शरीरों तथा उससे सम्बद्ध अन्य परिस्थितियों का निर्माण करने वाली कलाकार या चित्रकर्त्री प्रकृति का नाम नामकर्म है। जीव को उन शरीरों में उच्च-नीचपन का व्यवहार कराने वाली गोत्रकर्म-प्रकृति है। इन चारों अघाती कर्मों में वेदनीय कर्म जीव के अव्याबाध सुख को आवृत-सुषुप्त कर देता है। इसी कर्म के कारण जीव को नाना प्रकार के शारीरिक सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। आयुकर्म आत्मा की अटल अवगाहना तथा शाश्वत स्थिरता को नहीं होने देता। नामकर्म आत्मा की अमूर्तिकत्व या अरूपी अवस्था को आवृत किये रहता है और गोत्र कर्म आत्मा के अगुरु-लघुत्व भाव को रोकता है। इस प्रकार ये चारों अघाती कर्म बाह्य अर्थापेक्षी हैं। इस प्रकार अघातीकर्म जीव के गुणों पर सीधा प्रभाव नहीं दिखाते, सीधा असर नहीं करते। फिर भी इन अघातिकर्मों के उदय से जीव को किसी न किसी शरीर के कारागार में बद्ध होकर रहना पड़ता है। सामान्यतया कर्म आत्मा को पुनः-पुनः जन्म-मरणात्मक संसार में भ्रमण कराते हैं। अघातीकर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यों से सीधा सम्बन्ध जुड़ता है। इसके कारण अमूर्त आत्मा भी मूर्तवत् बनी रहती है। और इन अघातिकर्मों का शीघ्र असर शरीर, इन्द्रिय, अंगोपांग, आयुष्य, मन-वचन तथा विषय-सुखोपभोग के सभी साधन इत्यादि पर होता है। वैसे इनको कर्मविज्ञान वेत्ताओं ने भुने हुए बीज के समान बताया है, जिनमें अपने आप में नये कर्मों को उपार्जन करने या आत्मगुणों का विनाश करने का सामर्थ्य नहीं होता। आशय यह है कि कर्म-परम्परा का अविच्छिन्न प्रवाह जारी रखने में ये कर्म असमर्थ होते हैं। ये जीव की शुभ-अशुभ पौद्गलिक दशा में निमित्त बनते हैं।[1]

कषाय पाहुड में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जिनके उदय का प्रधानतया कार्य संसार की निमित्तभूत सामग्री प्रस्तुत करना है उन्हें अघातियाकर्म कहते हैं।[2]

---

१. (क) कर्म सिद्धान्त से, पृ. ५८
(ख) कर्मविज्ञान तृतीय खण्ड से पृ. ५७६-५७७
२. कषायपाहुड १/१, १/७०

अघातीकर्म की मूलप्रकृतियाँ और उनका कार्य

अघाती कर्म-प्रकृतियाँ चार हैं-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। ये चारों बाह्य पदार्थापेक्षी हैं। इनसे इष्ट-अनिष्ट भौतिक पदार्थों की उपलब्धि होती है। इनसे सांसारिक जीवन आत्मा के साथ शरीर के संयोग या सहभाव से निर्मित होता है। इनमें वेदनीय कर्म सुख-दुःखादि की उपलब्धि में निमित्त बनता है। नामकर्म शुभ-अशुभ शरीरादि-निर्माणकारी कार्मणवर्गणारूप है। आयुष्य कर्म प्रकृतियाँ शुभाशुभ जीवन को बनाये रखने वाली कार्मण-वर्गणा रूप हैं, जो आत्मा को कार्मण शरीर के माध्यम से विविध योनियों-गतियों में भटकाता है।[१]

अघाती कर्म-प्रकृतियों के बन्ध योग्य भेद

चारों अघाती कर्मों के कुल मिला कर १०१ भेद होते हैं। यथा-वेदनीय कर्म के दो भेद-सातावेदनीय और असातावेदनीय। आयुष्य कर्म के चार भेद-देवायु, नरकायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायु। गोत्रकर्म के दो भेद-उच्चगोत्र और नीचगोत्र। और नामकर्म के ९३ भेद, जिन्हें हम पिछले प्रकरण में गिना आए हैं। इस प्रकार २+४+२+९३=१०१ भेद अघातिकर्म प्रकृतियों के होते हैं। परन्तु इनमें से सबका बन्ध नहीं होता। बंध होता है-केवल ७५ कर्मप्रकृतियों का। वे इस प्रकार हैं-वेदनीय की दो, आयुष्य की चार, गोत्र की दो, और शेष ६७ नामकर्म की। नामकर्म की बन्धयोग्य अघाती कर्मप्रकृतियाँ ९३ के बजाय ६७ हैं-प्रत्येक प्रकृतियाँ आठ (पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण और उपघात), पांच शरीर, तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, एकेन्द्रियादि पांच जाति, नरकादि चार गति, चार आनुपूर्वी, त्रसदशक, स्थावरदशक, दो विहायोगति, वर्णादि चार, यों कुल मिला कर ७५ कर्मप्रकृतियाँ अघातिनी हैं। इनके स्वरूप का निरूपण हम पिछले प्रकरण में कर आए हैं।[२]

घाति-अघाती कर्मों की मूल-उत्तर-प्रकृतियों के बन्ध के हेतु

इस प्रकार घातिकर्मों की मूल प्रकृतियाँ चार और उत्तर प्रकृतियाँ ४७ तथैव अघातिकर्मों की मूल प्रकृतियाँ चार और उत्तर प्रकृतियाँ ७५ आत्मा (आत्म-प्रदेशों) के साथ बंधती हैं। इन सबके बन्ध के कारणों का निर्देश पिछले प्रकरणों में हम कर आए हैं।[३]

---

१. (क) कर्मविज्ञान खण्ड ३, पृ. ५७७
   (ख) जैनकर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से पृ. ७८
२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. ४३
   (ख) पनेयतणुङ्गाऊ तस्वीसा गोय-दुग वत्ता। -कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ५४
   (ग) देखें, इन सबके स्वरूप एवं कार्य को जानने हेतु, कर्मविज्ञान खण्ड ७ में 'उत्तरकर्मप्रकृतियों के बन्ध' शीर्षक प्रकरण में।
३. इन सबके बंध के कारणों के लिए देखें कर्मविज्ञान खण्ड ७ में 'मूल प्रकृतियों का बन्ध : स्वरूप, स्वभाव और कारण' तथा 'उत्तर प्रकृतियों का बन्ध' शीर्षक निबन्धों में

जीवविपाकी कर्मप्रकृतियाँ घातिया क्यों नहीं ?

धवला में एक प्रश्न उठाया गया है कि जीवविपाकी नामकर्म एवं वेदनीय कर्मों को घातिया कर्म क्यों नहीं माना गया? इसका समाधान यह है कि उक्त कर्मप्रकृतियों का कार्य अनात्मभूत सुभग-दुर्भग आदि जीव की पर्यायें उत्पन्न करना है, न कि जीव (आत्मा) के गुणों का नाश करना। इसी प्रकार असातावेदनीय जीव के लिए सुख-दुःख उत्पन्न करने वाला होने पर भी घातिकर्म इसलिए नहीं माना कि असातावेदनीय घातिकर्मों का केवल सहायक है, विध्वंसक नहीं; वह घातिकर्मों के बिना अपना कार्य करने में भी असमर्थ है, तथा प्रवृत्ति-रहित है।[1]

सर्वघाती और देशघाती कर्म-प्रकृतियों की निकृष्ट-उत्कृष्ट शक्ति लतादितुल्य

धवला और गोम्मटसार कर्मकाण्ड में घातिकर्मों में मध्यम और उत्कृष्ट दो-दो अनुभाग-शक्तियों का उपमा द्वारा निर्देश करते हुए कहा गया है—घातिकर्मों में चार प्रकार की अनुभाग शक्तियाँ हैं—(१) लतासम, (२) दारु (काष्ठ) सम, (३) अस्थि (हड्डी) सम और (४) शैल (पर्वत)-सम। इन चारों में से लता और दारु के तुल्य भाग में क्रमशः मध्यम और उत्कृष्ट देशघाती या देशावरण अनुभाग-शक्ति है। किन्तु अस्थि और शैल के तुल्य भाग में क्रमशः मध्यम और उत्कृष्ट सर्वघाती या सर्वावरण अनुभागशक्ति जाननी चाहिए।[2]

घाती-अघाती कर्मप्रकृतियों में शुभाशुभ कर्मप्रकृतियों का वर्गीकरण

घातिकर्मों और अघातिकर्मों में शुभ और अशुभ प्रकृतियाँ कितनी-कितनी और कौन-कौन-सी हैं? इसका वर्गीकरण भी तत्त्वार्थसूत्र, कर्मग्रन्थ, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों में किया गया है। वहाँ बताया गया है कि मूलकर्मप्रकृतियों में घातिकर्म की चारों प्रकृतियाँ अशुभ हैं। जबकि अघातिकर्म की चार प्रकृतियों में शुभ और अशुभ दोनों हैं। घातिकर्म की उत्तर-प्रकृतियों में पूर्वोक्त ४५ (दिगम्बर मतानुसार ४७) ही प्रकृतियाँ अशुभ हैं, पापरूप हैं। तथा अघातिकर्मों की उत्तरप्रकृतियों में कुछ प्रकृतियाँ अशुभ हैं और कुछ शुभ हैं। सातावेदनीय, शुभायु, (मनुष्यायु और देवायु), उच्च गोत्र और शुभनामकर्म की ३७, यों कुल ४२ प्रकृतियाँ शुभ हैं, जबकि शेष सभी ३७ प्रकृतियाँ अशुभ हैं। पाप रूप हैं। परन्तु तत्त्वार्थसूत्र में घातिकर्मों की चार उत्तर-प्रकृतियों को अशुभ के बदले शुभ बताया गया है—(१) सम्यक्त्व मोहनीय, (२) हास्य, (३) रति और (४) पुरुषवेद। इन चार घातिकर्म की उत्तर प्रकृतियों को शुभ (पुण्यरूप) क्यों माना गया है? इस विषय में पं. सुखलाल जी लिखते हैं—इन चार प्रकृतियों को

---

१. धवला ७/२, १, १५/६३, गा. १

२. (क) धवला ७/२, १, १५/६३, गा. १४

(ख) सत्ती य लदा दारु-अट्ठी सेलोवमाहु घादीणं।
अणंतिम-भागोत्ति, देसघादी तदो सव्वं॥ —गोम्मटसार कर्मकाण्ड मू. १८०/२११

पुण्यरूप मानने वाला मत-विशेष बहुत प्राचीन है, ऐसा ज्ञात होता है। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य-वृत्तिकार ने उक्त मतभेद-दर्शक कुछ कारिकाएँ भी दी हैं। इस मन्तव्य के रहस्य को उन्होंने चतुर्दशपूर्वधारकगम्य बताया है। अनुमान है कि हास्य, रति और पुरुषवेद को प्रशस्तता की विवक्षा से शुभ माना हो, तथा सम्यक्त्व मोहनीय को सरागसम्यक्त्वरूप होने से (केवल चल, मल अगाढ़ आदि दोषों के कारण) शुभ माना हो। तत्त्वं केवलिगम्यम्।[1]

चारों घाती और चारों अघाती कर्मों का समूल उन्मूलन होने पर

चारों घातिकर्मों का समूल उन्मूलन होने पर व्यक्ति केवलज्ञान-केवलदर्शन-सम्पन्न, वीतराग, अरिहन्त (अर्हत्) जीवन्मुक्त (सदेह-मुक्त) बन जाता है, फिर भी चार अघातिकर्म शेष रह जाते हैं, परन्तु जली हुई रस्सी के बट की तरह वे निष्फल हो जाते हैं। केवल शरीर, आयु और योग को बनाये रखना ही उनका कार्य रह जाता है। ऐसे जीवन्मुक्त अर्हत् परमात्मा सुख-दुःख में पूर्ण समभाव में स्थित रहते हैं। नये कर्मों का बन्धन एकदम रुक जाता है, पुराने जो चार कर्म हैं, उनके शेष परमाणु भी क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। वह सशरीर वीतराग केवली प्रभु जब तक आयुष्य पूर्ण नहीं होता, तब तक विचरण करते रहते हैं। आयुष्य कर्म के अन्तिम क्षणों में मन-वचन-काय तीनों योगों का पूर्ण निरोध करके निष्कम्प शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। फलतः चारों अघातिया कर्म वायुवेग से उड़ने वाले सूखे पत्तों की तरह नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। वे अपने स्वरूप में पूर्णतया स्थिर हो जाते हैं, आत्मगुणों में ही निरन्तर रमण करते हैं।

इस प्रकार अघाति कर्मों का भी समूल नाश होते ही वह सदेहमुक्त के बदले विदेहमुक्त (तन-मन, वचन, आदिरहित) परमात्मा बन जाता है। फिर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त (अष्टविध कर्मों से सर्वथा मुक्त), क्या जन्म, जरा, मरण, व्याधि, आधि, उपाधि आदि सर्व दुःखों से रहित हो जाता है। शरीर छूटते ही कर्मों से सर्वथा रहित होने के कारण वह मुक्त आत्मा ऊर्ध्वगमन के स्वभाववश लोक के अग्रभाग (लोकान्त) पर सिद्धिगति नामक सिद्धालय में जा विराजता है। संसार में आवागमन के कारणों का अभाव होने से फिर संसार में आवागमन, शरीर धारण या जन्ममरणादि नहीं करता।[2]

●●

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन से पृ. ४३;
(ख) आत्म तत्त्व विचार से पृ. ३७३
(ग) सद्वेद्य सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नामगोत्राणिपुण्यम् ततोऽन्यत् पापम्।
–तत्त्वार्थसूत्र अ. ८ सू. २६
(घ) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलालजी) से पृ. २०५

२. (क) जैन दृष्टिए कर्म (डॉ. मोतीचन्द गि. कापड़िया) से पृ. १८२
(ख) कर्मविज्ञान खण्ड ३ पृ. ५७९

२२

पाप और पुण्य कर्मप्रकृतियों का बन्ध

पाप कर्म की प्रकृतियाँ और उनका बन्ध

हिंसादि पापकर्मों का बन्ध सर्वमान्य

एक व्यक्ति निर्दयतापूर्वक किसी की हत्या कर रहा है, दूसरा व्यक्ति किसी को झूठ बोल कर ठग रहा है, तीसरा व्यक्ति किसी के यहाँ डाका डाल रहा है या चोरी कर रहा है, चौथा व्यक्ति किसी परस्त्री के साथ बलात्कार कर रहा है और पाँचवाँ व्यक्ति तस्करी से अनाप-शनाप धन कमा रहा है और उसे जोड़-जोड़ कर ममतापूर्वक तिजोरी में रख रहा है, न तो वह किसी दीन, अनाथ, निर्धन या पीड़ित को सहायता देता है और न ही किसी सेवा कार्य में अथवा सेवा संस्था में धन को लगाता है। इन पांचों प्रकार के व्यक्तियों के कार्य प्रत्यक्ष हैं, उजागर हैं। इन हिंसादि पांचों प्रकार के कार्यों के लिए भारत के तीनों ही प्रमुख धर्मों (जैन, बौद्ध, वैदिक) या धर्मशास्त्र अथवा धर्मानुयायी यही कहेंगे ये पांचों ही पापकर्म का बन्ध कर रहे हैं। जैसा पापकर्म करेंगे, वैसा इनको फल भोगना होगा।

चार कषायों से पापकर्म का बन्ध अवश्यम्भावी

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अत्यन्त क्रोध करता है, कोई अत्यन्त अहंकारी है, कोई जाति आदि के मद में छक रहा है, कोई छल-कपट, धोखाधड़ी, ठगी और अत्यन्त माया करता है, इससे भी आगे बढ़कर कोई लोभ, तृष्णा, लालसा, आसक्ति में अत्यन्त डूबा रहता है।[1] क्या इन चारों कषायों से पापकर्म का बन्ध नहीं होगा? कषायों से पापकर्म का बन्ध होगा, इसे सभी धर्म, धर्मशास्त्र एवं धर्मानुयायी एकस्वर से स्वीकार करते हैं। जैनागमों में तो स्पष्ट बताया है कि इन चारों उत्कट कषायों से पुनः पुनः जन्म-मरण होता है। माया करने से पापकर्मबन्ध होकर तिर्यञ्चगति प्राप्त

---

१. तिव्वकोहाए तिव्वमाणाए तिव्वलोहाए ·····। —भगवती सूत्र श. ८, उ. ९, सू. ४०

होती है। अनन्त बार गर्भ में आना पड़ता है। क्रोधादि पापकर्मों का प्रत्यक्ष फल बताते हुए 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा गया है-क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाशक है, माया मित्रता को नष्ट कर देती है और लोभ सर्वनाश कर देता है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया-काम, क्रोध और लोभ ये तीन आत्मा का नाश (गुणों का घात) करने वाले हैं, नरक के द्वार हैं। अतः इन तीनों का त्याग करना चाहिए।

स्पष्ट है कि ये चारों पापकर्मबन्ध के कारण हैं। स्थानांगसूत्र में प्राणातिपातादि पंच और चार कषाय, ये नौ पापकर्म के आयतन (स्थान) बताए हैं।[1]

विभिन्न प्रकार के अप्रशस्त राग और द्वेष से पापकर्म का बन्ध

इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञ (प्रिय) विषयों के प्रति राग, आसक्ति, मोह, गृद्धि, लालसा, लिप्सा आदि करता है, अथवा अपने स्त्री, पुत्र, माता-पिता, अथवा अन्य सम्बन्धी जनों, भक्त-भक्ताओं तथा मित्रों एवं परिजनों आदि सजीव पर-पदार्थों एवं मकान, दूकान, बाग, मोटर, बंगला, स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ, वाहन, शयनासन, धन-सम्पत्ति आदि निर्जीव पर-पदार्थों के प्रति अत्यधिक आसक्ति, तीव्र लालसा, तृष्णा, मोह-ममता रखता है। इष्ट पदार्थों के संयोग के लिए अहर्निश चिन्तन, आर्त्तध्यान करता रहता है। इसी प्रकार अनिष्ट पदार्थों, अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों, अवांछित काम-भोग-साधनों, अथवा अप्रिय स्वजन-परिजनों या सजीव एवं निर्जीव पदार्थों के प्रति द्वेष, घृणा, तिरस्कार, द्रोह एवं वैर-विरोध रखता है तो आगमकथनानुसार पापकर्म का निश्चित बन्ध करता है। व्यक्ति के अपने अनुभव की आँखों से भी देखने पर पापकर्म का बन्ध प्रतीत होगा। इन्हीं अप्रशस्त राग, द्वेष और मोह के कारण सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में, एक जाति का दूसरी जाति से, एक पंथ या मार्ग वाले का दूसरे पंथ या मार्ग वाले से, एक पक्ष, संस्कृति, प्रान्त, राष्ट्र आदि का दूसरे

---

१. (क) नवविहा पावस्स सेयणा पण्णत्ता तं जहा-पाणाइवाए जाव परिग्गहे, कोहे माणे माया लोभे। -स्थानांग, स्था. ९
(ख) बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए परियावणयाए। -भगवतीसूत्र ७/६/१०
(ग) परदुक्खणयाए परसोयणयाए, परजूरणयाए पर-तिप्पणयाए। -भगवती ७/६/१०
(घ) हिंसे बाले मुसावाई अद्धाणं पि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं नु हरे सढे॥ -उत्तराध्ययन सूत्र ७/५
(ङ) चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाई पुणब्भवस्स।
-दशवैकालिक सूत्र अ. ८, गा. ४०
(च) माया तिर्यग्योनस्य।
(छ) माई पमाई-पुणरेइ गब्भं। -आचारांगसूत्र श्रु. १, अ. ३, उ.२
(ज) कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व-विणासणो। -दशवैकालिकसूत्र ८/३८
(झ) त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्-त्रयं त्यजेत्॥ -गीता १६/२१

पक्ष, प्रान्त, राष्ट्र या संस्कृति वालों से झगड़ा, कलह, वैर-विरोध, युद्ध, संघर्ष, हत्या, दंगा, मार-पीट, उपद्रव आदि होते आए दिन आप देखते हैं। अपने और अपनों के प्रति आसक्ति, मोह के कारण मनुष्य उनके लिए रक्तपात, द्वेष, युद्ध, संघर्ष और हिंसादि करता है, क्योंकि उसे दूसरे सम्प्रदाय, पक्ष, जाति, प्रान्त, राष्ट्र वाले के प्रति अवश्यमेव द्वेष, घृणा, वैरविरोध और विद्रोह होता है।

अन्य पापस्थानकों से पापकर्म का बन्ध

इस प्रकार वह मोहवश ये क्रूर कर्मबन्ध करता रहता है।[1] इसी कारण कलह होता है, अभ्याख्यान होता है; दूसरों पर मिथ्या कलंक, दोषारोपण होता है, दूसरों की निन्दा, चुगली एवं परिवाद भी इसी कारण होता है। ऐसा व्यक्ति फिर कषायों और विषयों में अहर्निश रत रहता (रति–रमण करता) है; वह संयम, तप, त्याग, प्रत्याख्यान के प्रति अरुचि (अरति), घृणा करता है, इन के प्रति अश्रद्धा करके झूठे कुतर्क प्रस्तुत करता है; तथा सच्चे वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु, और सद्धर्म की निन्दा करता है, अश्रद्धा पैदा करता है। अथवा वह धर्म की, धर्मप्रभावना की ओट में दम्भ, दिखावा, छल-प्रपंच, आडम्बर निरर्थक क्रियाकाण्ड आदि करके अपने सम्प्रदायादि को ऊँचा, महान् बताने का उपक्रम करता है, कपटसहित झूठ (मायामृषवाद) बोलता है, आत्मवंचना एवं परवंचना करता है। अथवा मूढ़ता, मोह एवं विपरीत दृष्टि के कारण मिथ्यात्व को अपनाता है, उसी का पोषण करता है, उसकी वृद्धि के लिए जनता की भीड़ इकट्ठी कर लेता है। इस प्रकार प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ ही विभावों को पापस्थान अर्थात्–पापकर्मबन्ध के प्रबल कारण बताए हैं। अनुभवी, आत्मार्थी एवं सम्यग्दृष्टि इन्हें धर्म या पुण्य न कहकर पाप ही कहेगा।[2]

पापकर्मबन्ध : दुःखफलदायक एवं प्रत्यक्षवत्

पापकर्म के बन्ध के विषय में कई स्थूलदृष्टि वाले लोग कुछ भी विचार नहीं करते, वे इन पाप बन्ध के स्थानों (कारणों) की उपेक्षा करते हैं, परन्तु जब अकस्मात् ही कोई संकट, दुःख, पीड़ा, संताप, अंगविकलता, आधि, व्याधि, उपाधि, तनाव, आतंक या उपद्रव आ पड़ता है, तब भगवान् को, देवी-देवों को या निमित्तों को, काल या युग को कोसने लगते हैं। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि उसके पीछे कौन-से पापकर्म का बन्ध इससे पूर्व-काल या पूर्व-जन्म या जन्मों में हुआ है, जिस पाप कर्म-बन्ध के उदय में आने से यह दुःख या संकट भोगना पड़ रहा है। भगवान् महावीर ने स्पष्टरूप से कहा है–"यह सब प्रकार का दुःख नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य में तभी होता है–जब

---

१. जीवा दोहिं ठाणेहिं पावकम्मं बंधइ,–रागेण चेव दोसेण चेव। –स्थानांग सूत्र स्था. २

२. (क) देखें, १८ पापस्थानक का वर्णन आवश्यकसूत्र, निर्युक्ति आदि में
(ख) असुहभावजुत्ता पावं खलु हवइ जीवा। –द्रव्यसंग्रह पृ. ३८
(ग) पापं हिंसादिक्रियासाध्यं अशुभं कर्म। –स्याद्वादमंजरी २७ गा., ३०२ पृ.
(घ) पाशयति मलिनयति आत्मानमिति पापम्। –विशेषावश्यकभाष्य

वह वर्तमान में पापकर्म (बन्ध) करता है, भूतकाल में उसने पापकर्म (बन्ध) किया था, या भविष्य में पापकर्म करेगा।" अर्थात्–तीनों काल में पापकर्मबन्ध के ही फल नाना प्रकार के दुःख के रूप में भोगने पड़ते हैं।[1] साथ ही कई नासमझ या नास्तिक-अश्रद्धालु लोग पूर्वोक्त प्रकार से पापकर्म करते हैं और विविध प्रकार के आडम्बर करते हैं, लोगों को विविध प्रकार के प्रलोभन देते हैं और अपने पाप कृत्यों को छिपाने के लिए नाना मिथ्या प्रपंच करते हैं, जनता की दृष्टि में अपने आपको शुद्ध, उत्कृष्ट, प्रभावशाली एवं महान् सिद्ध करने के दुष्प्रयास करते हैं, परन्तु सूत्रकृतांग में ऐसे लोगों के लिए कहा है कि वे अपने पापकर्मों को छिपाकर दुगुने पापबन्ध करते हैं, यह उन बालजीवों की दूसरी मन्दता-मूढता है।[2]

पापकर्म छिपाने से छिप नहीं सकते

कई यह सोचते हैं कि पापकर्मों के बन्ध से हम भगवान् के या देवी देवों के मन्दिर में अधिकाधिक चढ़ावा चढ़ाकर या उनका मन्दिर बनवाकर, अथवा किसी धर्मस्थान या धर्मसंस्था और समाज के लिए दान देकर छूट जाएँगे, परन्तु यह भ्रान्ति है। इसका निराकरण करने के लिए दशवैकालिक में स्पष्ट कहा है–"पूर्व में दुश्चीर्ण दुष्प्रतिक्रान्त (सम्यक्प्रकार से अनिवृत्ति) रूप में कृत जो भी पापकर्म हैं, उनका वेदन (फलभोग) किये बिना छुटकारा नहीं हो सकता, वेदन करने पर (भोगने पर) ही छुटकारा हो सकता है। अथवा तपश्चर्या (बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चरण) केवल सकामनिर्जरा के हेतु से हो तो उससे पापकर्मों को नष्ट किया जा सकता है।"[3]

पापकर्मबन्ध के कारण और कटुपरिणाम

इसी प्रकार पापबन्ध के कारणों का उल्लेख करते हुए योगसार में कहा गया है–"अर्हन्तादि पूज्यपुरुषों की निन्दा करना, समस्त जीवों के प्रति निर्दयता का भाव रखना, निन्दनीय आचरणों में आसक्ति रखना आदि पापकर्मबन्ध के कारण है।"[4]

पंचास्तिकाय में कहा गया है–आहारादि चार संज्ञाएँ, तीन अशुभ लेश्याएँ, इन्द्रियवशता, आर्त्त-रौद्र-ध्यान एवं दुष्प्रयुक्त ज्ञान (ज्ञान का ठगी आदि में दुरुपयोग करना), तथा मोह; ये (भावात्मक) पापास्रव के प्रदायक हैं।[5]

---

१. नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं पावे कम्मे जे य कडे, जे य कज्जइ, जे य कज्जिस्सइ, सव्वे से दुक्खे। (दुःखहेतु-संसार-निबन्धनत्वाद् दुःखम्)। –भगवतीसूत्र ७ श. ८ उ.

२. पावं काऊण रायं अण्णाणं सुट्ठुमेव ववहरइ।
दुगुणं करेइ पावं, बीयं बालस्स मंदता॥ –सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. ४, उ. १

३. पावाणं खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्वं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेदइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेदइत्ता ; तवसा वा झोसइत्ता। –दशवैकालिक, रइवक्का चूलिया

४. निन्दकत्वं प्रतीत्येषु नैर्दयं सर्वजन्तुषु।
निन्दिते चरणे रागः पापबन्ध-विधायकः॥ –योगसार(अ.) ४/३८

५. सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्त-रुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति॥ –पंचास्तिकाय १४०

इसी ग्रन्थ में पापास्रव (पापबन्ध के कारण) के योग्य परिणामों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—अत्यन्त प्रमादयुक्त चर्या, कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता और पर-अपवाद (दूसरों के प्रति आक्षेप, निन्दा) करना, ये पापास्रवकारक हैं।[1]

दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—"जो व्यक्ति अयतना (अविवेक से—शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान न करके) से चर्या करता है, खड़ा होता है, बैठता है, सोता है, खाता-पीता है, बोलता है, या अन्य किसी प्रकार की शारीरिक मानसिक प्रवृत्ति करता है, वह पाप कर्म का बन्ध करता है, जिसका कटुफल उसे भोगना पड़ता है।"[2]

उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है कि जो व्यक्ति मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श इन पांचों मनोज्ञ इन्द्रियविषयों तथा मन के मनोज्ञ भावों (विभावों) के प्रति राग, मोह, आसक्ति एवं ममत्व करता है, तथा अमनोज्ञ इन्द्रिय विषयों या मनोभावों के प्रति द्वेष करता है; इष्टवियोग और अनिष्टयोग को पाकर या अतृप्त होने से अथवा मनचाहा न होने से अत्यन्त दुःखी होता है। उनके उपभोग में एवं मनचाहा कार्य न होने पर सदैव मन में संक्लेश एवं आर्त्तध्यान करता है, मनोज्ञ की प्राप्ति और अमनोज्ञ को हटाने-मिटाने के लिए हिंसा, झूठ फरेब, चोरी, ठगी एवं परिग्रह (अत्यधिक ममत्वपूर्वक संग्रह) करता है, फलतः लाभ-दोष वश मायामृषावाद के चक्कर में पड़ता है। इस प्रकार वह प्रदुष्टचित्त होकर पापकर्म का बन्ध एवं चयोपचय करता है, जिससे उसे विपाककाल में पुनः पुनः दुःख होता है; दुःखों की परम्परा बढ़ती है।[3]

सचमुच, पापकर्म-बन्ध वह है, जो आत्मा को शुभ से बचाकर अशुभ में ले जाता है, और उसके पश्चात् असातावेदनीय के उदयवश वह दुःख भोगती है। इसलिए भगवती आराधना में पापकर्म की परिभाषा दी गई है—जिससे अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो, ऐसे भावों को पापकर्म कहते हैं।[4]

पापकर्मबन्ध का अस्तित्व अनुमान से भी सिद्ध है

कई लोग पुण्य-पापकर्म के अस्तित्व को मानने से ही इन्कार कर देते हैं, उनके इस कथन का 'वदतो व्याघात' न्याय से ही खण्डन हो जाता है। पूर्वोक्त विवरण से पापकर्म के होने का स्वयं ही नहीं, सारा आस्तिक जगत् साक्षी है, उस व्यावहारिक

---

१. चरिया पमायबहुला कालुस्सं लोलदा य विसएसु ।
पर-परितावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि ॥ —पंचास्तिकाय, १३९

२. अजयं चरमाणो य पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं । इत्यादि ६ गाथाएँ । —दशवैकालिक अ. ४ गा.१ से ६

३. उत्तराध्ययन अ.३२ की गाथा २२ से ९८ तक

४. (क) पाति रक्षत्यात्मानं शुभादिति पापं, तदसद्वेद्योदे । —सर्वार्थसिद्धि ६/३/३२०
(ख) पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं । —भगवती आराधना वि. ३८/१३४/२१

प्रत्यक्ष को कैसे झुठलाया जा सकता है। विशेषावश्यक भाष्य में एक युक्ति द्वारा इस तथ्य को समझाते हुए कहा गया है–जैसे अंकुररूप कार्य को देखकर बीज का अनुमान लगा लिया जाता है कि जब अंकुर है तो बीज अवश्य होना चाहिए, इसी प्रकार सुख और दुःख की अनुभूति होती है, उस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि सुख और दुःख की अनुभूतिरूप कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिए, वह कारण है–क्रमशः पुण्य कर्म और पापकर्म।[1] पापकर्म का स्थानांगवृत्ति में निर्वचन किया गया है–"जो आत्मा को पतन में ग्रथित कर देता है, आत्मा का पतन कर देता है, अर्थात्–आत्मा के आनन्दरस को सोख लेता है, शुष्क कर देता है, नष्ट कर देता है, वह पाप है।"[2] वास्तव में जब जीव पापकर्म का आचरण करता है, तब अंदर से उसकी आत्मा कांपती है, उसके मन में भय का संचार होने लगता है।

पापकर्म के दो प्रकार : प्रच्छन्न और स्पष्ट

पापकर्म दो प्रकार के होते हैं–एक गोपनीय और दूसरा स्पष्ट। गोपनीय पापकर्म भी दो प्रकार के होते हैं–एक छोटा और एक बड़ा। किसी सत्ताधीश या धनिक से मिलते समय मन में उक्त सत्ताधीश या धनाढ्य के कुटिल कारनामों को जानते हुए भी मन में गुप्त रखकर उसको नमस्कार करना, उससे हाथ मिलाना अथवा उसकी प्रशंसा करना, या उसे प्रतिष्ठा देना, यह गोपनीय लघु पाप है। परन्तु गोपनीय महापाप विश्वासघात करना, ठगी करना, द्रोह करना आदि हैं। स्पष्ट पाप अनन्त संसार बढ़ाने वाला तथा जगत् में अपकीर्ति, अप्रतिष्ठा और निन्दा कराने वाला होता है। उसके भी दो प्रकार हैं–लघु और महान्। कुलाचार परम्परा आदि कारणों से कई बार व्यक्ति आरम्भ-परिग्रहादि का पाप कर बैठता है, अथवा प्रहार करने वाले के प्रति प्रतिप्रहार करता है। वह लघु है। परन्तु कई बार व्यक्ति जानबूझ कर निर्दोष पशुपक्षियों की, निर्दोष मानवों की हत्या करता रहता है, लूट-पाट करता है, चोरी-डकैती करता है, बलात्कार करता है, अनैतिक उपायों से धनार्जन करता है, दूसरों की अमानत–धरोहर को हड़प लेता है। ये सब स्पष्ट महापाप हैं।[3]

पापकर्मबन्ध का फल : किसी न किसी दुःख के रूप में

पापकर्म चाहे प्रच्छन्न हो या स्पष्ट (प्रत्यक्ष) हो, पाप ही है, उससे पापकर्म का बन्ध होता है। इतना जरूर है लघु पाप से अल्प पापकर्म का बन्ध होता है, जबकि

---

१. सुख दुःखानुभूतेर्हेतुरस्ति कार्यत्वादंकुरस्येव। बीजं यस्य हेतुत्वं तत्कर्म तस्मादस्ति (पुण्य-पाप) कर्मेति। –विशेषावश्यक भाष्य १९९०

२. पाशयति गुण्डयति आत्मानं पातयति, चात्मनः आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम्। –स्थानांगवृत्ति, स्थान १

३. इह पापं द्विधा-गोप्यं स्फुटं च। गोप्यमपि द्विधा-लघु महच्च। स्फुटमपि द्विधा–कुलाचारेण निर्लज्जत्वादिना च ''''''। –धर्मसंग्रह, अधिकार २

बड़े पाप से तीव्रतर पापकर्म का बन्ध होता है। जिसका कटुफल भविष्य में भोगना पड़ता है। अतः यह निश्चित है कि जिसका फल भोगते समय अत्यन्त दुःख, पीड़ा, सन्ताप, घनीभूत चिन्ता, तनाव आदि हो जाते हैं। समझ लो, वह मेरे द्वारा पहले किये हुए किसी पाप कर्म-बन्ध का फल है। वह कृत-पापकर्म अब उदय में आया है। उसका फल भोगे बिना अब कोई भी छुटकारा नहीं है।

पापकर्मबन्ध के मुख्य कारण : हिंसा, ममत्वयुक्त परिग्रह आदि

सूत्रकृतांग सूत्र में विभिन्न पापकर्मों से होने वाले बन्ध और उनसे प्राप्त होने वाले विभिन्न दुःखों का निरूपण करते हुए कहा गया है—'जो सचेतन (माता-पिता, भाई बहन, पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि सजीव) और अचेतन (मकान, दूकान, वाहन, धन, तथा अन्य भोगोपभोग के साधन आदि निर्जीव) पदार्थों के प्रति थोड़ा-सा भी परिग्रह (ममत्व, मूर्च्छा, आसक्ति एवं तृष्णा आदि पूर्वक संग्रह) करता है, तथा अन्य व्यक्तियों को परिग्रहबुद्धि से उक्त पदार्थ रखने को कहता है, उपदेश देता है, परिग्रही के द्वारा परिग्रह रखे जाने का अनुमोदन-समर्थन करता है। बहुपरिग्रह या महापरिग्रह के कारण उनकी धर्मात्मा, धर्मवीर, पुण्यवान् आदि शब्दों से प्रशंसा करता है। अथवा अन्याय, अत्याचार, अधर्म, अनीति, शोषण, ठगी, भ्रष्टाचार, चोरी-डकैती, तस्करी आदि अनैतिक उपायों से धन का अत्यधिक संग्रह करने वाले व्यक्ति को प्रतिष्ठा देता-दिलाता है। अर्थात्—परिग्रह-बुद्धि से अनर्थ-मूलक परिग्रह रखता-रखाता है, रखने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करता है; वह कर्मबन्धन करता है, जिसके फलस्वरूप आठ प्रकार के दुःखरूप कर्म और उसके असातावेदनीयादि दुःखरूप फल से—दुःखात्मक बन्धन से छूट नहीं सकता।'

इसी प्रकार "जो व्यक्ति (परिग्रह, तस्करी, चोरी-डकैती, धरोहर-हरण आदि के लिए ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, अहंकारादिवश) स्वयं मन-वचन-काया से प्राणियों के प्राणों का नाश करता है, अथवा दूसरों से प्राणियों का वध कराता है, या जो प्राणियों के दशविध प्राणों में से किसी भी प्राण का वध या घात करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन-समर्थन करता है, उपलक्षण से मृषावाद आदि (असत्य, चोरी, ठगी, जमाखोरी, तस्करी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि) पापों का भी त्रिकरण त्रियोग से दुष्कृत्य करता-कराता है), वह अपनी आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाली वैर-परम्परा बढ़ाता है। और उस दुःख-परम्परारूप बन्धन से तथा उसके जन्म-मरणादिरूप दुःख से छुटकारा नहीं पाता।"

इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति जिस कुल में, अथवा (जिस परिवार, कुटुम्ब, जाति, सम्प्रदाय, नगर-ग्राम, प्रान्त, राष्ट्र आदि के) जिन लोगों के साथ रहता है, या जिनसे रात-दिन वास्ता पड़ता है, उनके प्रति ममत्व, आसक्ति एवं मोहादि वश वह अज्ञ (सद्-असद्-विवेकविकल) व्यक्ति उक्त ममत्वादि जनित कर्मबन्ध के फलस्वरूप

चतुर्गतिरूप संसार-परिभ्रमण से पीड़ित (बाधित) होता है। जिन लोगों के प्रति मोह-ममत्व करते हैं, वे लोग भी उनके साथ ममत्ववश पापकर्म का बन्ध करके क्लेश पाते हैं।"

"धनादि तथा सहोदर भाई-बहन आदि (सगे-सम्बन्धी) कोई भी (सजीव या निर्जीव पदार्थ) पाप-कर्मबन्ध के फलस्वरूप प्राप्त शारीरिक-मानसिक वेदना से रक्षा नहीं कर सकते।" क्योंकि इन सब के प्रति (विनाशी परभावों के प्रति) ममत्वादि बन्धन के स्थान हैं।[1]

पापकर्म के अनेक पर्यायवाचक शब्द

इसी कारण 'पाइअ-नाममाला' में पाप कर्म के अनेक पर्यायवाची शब्दों का निरूपण करते हुए कहा गया है–"दुरित, कलुष, दुष्कर्म, अघ, अधर्म, मिथ्यात्व, मोह, विफल, अलीक, असत्य तथा असद्भूत। ये सभी पापकर्म के पर्यायवचक शब्द हैं।"[2]

विषय-लोलुपता के कारण वैरपरम्परा, नाना दुःखों से पीड़ित, आर्त

उन विविध पापकर्मों के बन्ध के दुःखद फलों का आचारांग में वर्णन करते हुए कहा है–विषयलोलुप मनुष्य अपने ही द्वारा किये हुए विषयलोलुपता के पापबन्ध के कारण अपनी आत्मा के प्रति वैर बढ़ाता है, वह बाद में (उन बद्ध कर्मों के उदय में आने पर) स्वयं को आर्त–दुःखपीड़ित देख त्राण (रक्षण) का मार्ग नहीं जानता हुआ केवल क्रन्दन करता है। इसलिए न तो स्वयं पाप-कर्मबन्ध करे और न दूसरों से कराये। विषयसुखार्थी मानव लालसाग्रस्त होकर सावद्य कार्य करता हुआ स्वकृत पापकर्म से मूढ़ बनकर विपर्यय को प्राप्त होता है।[3]

---

१. (क) चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खाण मुच्चइ ॥२॥
(ख) सयं तिवायए पाणे, अदुवा अन्नेहि घायए ।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥
(ग) जेसिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पइ बाले, अन्नेणा अण्णेहिं मुच्छिए ॥४॥
(घ) वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ ।
–सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. १, अ. १, उ. १ गा. २, से ६ तक

२. दुरिअं कलसं दुक्कम्मं, अघं अहम्मो य कम्मसं पावं ।
मिच्छा मोहं विहलं अलिअम्मच्चं असद्भूयं ॥ –पाइअ-नाममाला गा. ५३

३. (क) कडेण मूढो पुणो तं करेइ लोहं ।
(ख) वेरं वड्ढइ अप्पणो। –आचारांग श्रु. १, अ. २, उ. ५
(ग) अट्टमेयं तु पेहाए अपरिण्णाए कंदइ । –वही श्रु. १, अ. २, उ. ५
(घ) ''''तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा । –वही श्रु. १, अ. २, उ. ६

अंगविकलता दुःख-दैन्यादि का कारण हिंसाजनित पापकर्मबन्ध

प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्पष्ट बताया है कि "जो लोग किसी प्रबल पुण्योदयवश नरक से निकलकर किसी प्रकार से मनुष्ययोनि को प्राप्त होने पर भी पापकर्मबन्ध के कारण प्रायः विकृत-विकलरूप वाले, कुबड़े, ठिंगे-मेढ़े अंग वाले, बौने, बहरे, काने, टूंटे, पंगु, लंगड़े-लूले, मूक (गूंगे), अस्पष्टभाषी, अंधे, अपाहिज, दुर्बल, वातज, पित्तज या कफज व्याधि से पीड़ित, अल्पायु, कुसंहनन एवं कुसंस्थान वाले, कुलक्षण, कुरूप, कृपण, दीन-हीनसत्त्व, नित्य-सुखशान्तिरहित, असुख-दुःखभागी दिखाई देते हैं। ऐसे मनुष्य नरक से निकलकर पापकर्मों के अवशिष्ट रहने से इसी प्रकार नरकयोनि, तिर्यञ्चयोनि तथा कुमनुष्यत्व को प्राप्त होकर भटकते हुए अनन्त पापकारी दुःख पाते हैं। और यह उसी प्राणिवध (हिंसा से हुए पाप कर्मबन्ध) का फलविपाक है, जो इस लोक में तथा परलोक में अल्पसुख और बहुदुःख वाला है, महाभयंकर है, अत्यन्त कर्मरज के कारण प्रगाढ़ है, दारुण एवं कर्कश है और असाता पैदा करता है। (उस घोर हिंसा के कारण हुआ कर्मबन्ध) उसे हजारों वर्षों तक बिना भोगे नहीं छोड़ता।"[1]

निर्दोष त्रसप्राणियों के वध से बद्ध पाप का फल : विविध अंग विकलता

कर्मविज्ञान के पंचम खण्ड में 'कर्मफल के विविध आयाम' के सन्दर्भ दुःखविपाक सूत्र में पापकर्मबन्ध के विविध दारुण दुःखद फलों का दिग्दर्शन कराया है। उससे तथा प्रत्यक्ष अनुभवों पर से यह निश्चित हो जाता है, पापकर्मबन्ध का फल देर-सबेर से अवश्य मिलता है। योगशास्त्र में भी स्पष्ट कहा है—पंगुत्व, कुष्टरोग, अंगविकलता आदि सब निर्दोष त्रस प्राणियों के वध से हुए पाप-कर्म-बन्ध के फल हैं।[2]

दीन-दुःखी एवं अपमानित होने का कारण : पूर्वबद्ध पापकर्म

"कई लोग अत्यन्त दीन, दुःखी, दरिद्र होते हैं कि उदरभरणमात्र में असमर्थ होते हैं, जगह-जगह लोगों से तिरस्कार पाते हैं, अपमानित होते हैं, धन कमाने के लिए

---

१. जे वि य इह माणुसत्तणं आगया कहं वि नरगाओ उव्वट्टिया अधण्णा ते वि य दीसंति पायसो विकय-विकलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य बहिरा काणा कुंटा य पंगुला विगला य मूया य मम्मणा य अंधिल्लग एगचक्खु-विणिहय-सपिल्लगवाहिरोग-पीलिय-अप्पाउय-सत्त-चज्जवाला कुलक्खणुक्किण्णदेह-दुव्वल-कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया कुरूवा किवणा य हीण-दीण-सत्ताणिच्चं सोक्ख-परिवज्जिया असुह-दुक्ख-भागी नराओ उव्वट्टिता इह सावसेस-कम्मा एवं नरग-तिरिक्खजोणिं कुमाणुसत्तं च हिंडमाणा पावंति अणंताई दुक्खाई पावकारी, एसो सो पाणवहस्स फलविवाओ इहलोइए परलोइए ..... ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति ....."

—प्रश्नव्याकरण, प्रथम अधर्मद्वार

२. पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधी।
निरागस्त्रसजंतूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत्॥

नाना प्रकार के पापकर्म करते हैं, इस प्रकार फिर पापकर्मबन्ध करते हैं। यह सब उनके पूर्वबद्ध पापकर्म का ही फल है।"[1]

नेत्रेन्द्रिय-हीनता का कारण : पापकर्मबन्ध

कई लोग नेत्रेन्द्रिय से हीन होते हैं, कितना ही इलाज कराने पर भी उनका नेत्ररोग नहीं जाता, यह किस कर्म के बन्ध का फल है? इसके उत्तर में प्रज्ञापना एवं भगवती आदि शास्त्रों में कहा गया है—स्त्री-पुरुष के सुन्दर रूप को देखकर विषयानुराग करने से, किसी कुरूप को देखकर जुगुप्सा अथवा निन्दा करने से, अन्धे का उपहास करने तथा उसे चिढ़ाने से; मनुष्यों, पशुओं या जन्तुओं की आँखें फोड़ देने, उन्हें कष्ट देने से, कुशास्त्र अश्लील पुस्तकें एवं गंदे पत्रों को पढ़ने से, गंदे कामोत्तेजक दृश्यों को देखने से, क्रूर दृष्टि से देखने से चक्षुरिन्द्रियविषयों में आसक्त होने से एवं नेत्रों द्वारा कुचेष्टा करने से, चक्षुदर्शनावरणीय एवं असातावेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों का बन्ध करके वे अन्धे, काने, चक्षुहीन अथवा नेत्ररोगी होते हैं।[2]

श्रोत्रेन्द्रियहीनता के कारण : पाप कर्मबन्ध

इन्हीं सूत्रों में कहा गया है कि श्रोत्रेन्द्रिय हीनता (कानों की बधिरता या कर्णरोगादि) तभी होती है, जब व्यक्ति वैरविरोध की बातें, कामोत्तेजक, पापवर्द्धक विकथा, परपीड़ाकारी वचन, सद्धर्म के विरोध, क्रोध-लोभ-अहंकारवर्द्धक तथा घृणोत्पादक बातें सुनकर खुश होता है; असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करता है, दीन-दुःखियों की करुण पुकार पर ध्यान नहीं देता, सद्बोधदायक शास्त्रवचन नहीं सुनता, सुनकर भी उनका अपलाप एवं विरोध करता है। इस पापकर्मबन्ध (अचक्षु-दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं असातावेदनीय के बन्ध) के कटु फल हैं।[3]

---

१. दीणो जण-परिभूओ, असमत्थो उअर-भग्ग-मित्तेपि ।
वित्तेण पावकारी, तह वि हु पावफलं एअं ॥ —पंचाशक व. १ द्वार गा. १९२

२. (क) नेत्तावरणे, नेत्त-विण्णाणावरणे । —प्रज्ञापनासूत्र २३/१/१०
(ख) चक्खुदंसणावरणे, पासियव्वं ण पासति, पासिओकामे वि ण पासति, पासित्ता वि ण पासति, उच्छण्ण-दंसणिया वि भवति। —प्रज्ञापनासूत्र २३/१/१०
(ग) अमण्णुणा रूवा, मणोदुहया, वइदुहया, कायदुहया। ....अणिट्ठारूवा, अणिट्ठा लावण्णं ।
(घ) पडिणीययाए निण्हवणयाए, अंतराएणं, पदोसेणं, अच्चासाएणं, विसंवादजोगेणं ।
—भगवती ८/९/३७

३. (क) सोतावरणे, सोयविण्णाणावरणे ।
(ख) अमणुण्णा सद्दा, मणोदुहया, वइदुहया, कायदुहया। अचक्खुदंसणावरणे।
(ग) अणिट्ठा सद्दा, अणिट्ठा लावण्णं । —प्रज्ञापनासूत्र २३/१/१०, १२, ११, १५
(घ) पडिणीययाए, निण्हवणयाए, अंतराएणं, पदोसेणं विसंवाद-जोगेणं ।
—भगवतीसूत्र ८/९/३७-३८

जिह्वेन्द्रिय-हीनता का कारण : पापकर्मों का बन्ध

कई मनुष्यों को जिह्वेन्द्रिय की हीनता प्राप्त होती है, उसके पीछे भी अचक्षुदर्शनावरणीय, असातावेदनीय, अशुभ नामकर्म, मोहनीयकर्म आदि कई पापकर्मबन्ध कारण हैं–मदिरा, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का खाना, षट्रस-पदार्थों के प्रति अतिलोलुपता रखना, रसना-पोषणार्थ महारम्भ करना, प्राणि हिंसा का उपदेश देकर मांसाहार, अंडा, मत्स्यपालन आदि का प्रचार करना, कुव्यसनों के सेवन का उपदेश करने से, किसी का मर्म प्रकाशित करना, गूंगों, तोतलों आदि की हंसी उड़ाना, साधु-साध्वी आदि गुणिजनों की निन्दा करना, दूसरों की जिह्वा का छेदन-भेदन करना आदि। ऐसे पाप-कर्मबन्ध के कारण मनुष्य गूँगा, तोतला आदि बनता है, उसके वचन लोगों को अच्छे नहीं लगते, तथा उसके मुंह से दुर्गन्धि निकलती है।[1]

कई लोगों को घ्राणेन्द्रिय (नाक) की हीनता पूर्वबद्ध पापकर्म के कारण प्राप्त होती है, उसके निम्नोक्त कारण प्रज्ञापना, भगवती आदि में बताए गए हैं–सुगन्धित पदार्थों पर अत्यासक्ति रखने से, दुर्गन्धित पदार्थों के प्रति अत्यधिक घृणा, द्वेष आदि होने से, नासिकाहीन या बेडोल नाक वाले व्यक्ति की हंसी उड़ाने से, उन्हें दुःख एवं पीड़ा देने से तथा मनुष्य-पशु आदि की नासिका का छेदन-भेदन करने से।

कई लोगों को हाथों की हीनता प्राप्त होती है, वह भी निम्नोक्त पूर्वबद्ध पापकर्मों के कारण होती है, यह प्रज्ञापना, भगवती आदि शास्त्रों में बताया गया है। जैसे–चौर्यकर्म करने से, दूसरे के हाथ काट डालने से, हाथ से झूठा लेख लिखने से, कुशास्त्रों की रचना करने से, खोटा तोल और माप करने से, हस्त-हीन लोगों की हंसी उड़ाने से, दूसरे के हाथों का छेदन-भेदन, ताड़न-मारण, मरोड़ण आदि करने से, पक्षियों के पंख काटने आदि से पापकर्मों का बन्ध होता है, जिससे फलस्वरूप हस्तहीनता प्राप्त होती है।

कई लोग पैरों से लूले-लंगड़े एवं हीन हो जाते हैं, उनके भी पूर्वबद्ध निम्नोक्त पापकर्म कारण हैं–हिंसा आदि पापकार्यों में आगे बढ़ने से, धर्मकार्य में पीछे हटने से, चींटी आदि जंतुओं को असावधानीपूर्वक जानबूझ कर पैरों तले रौंदने से, अन्य छोटे-बड़े जीवों के, पशुओं तथा मनुष्यों के पैर तोड़ने से, लूले-लंगड़े व्यक्ति का

---

१. (क) रसावरणे, रसविण्णाणावरणे।
(ख) अचक्खुदंसणावरणे।
(ग) अमणुण्णा रसा, मणोदुहया, वइदुहया, कायदुहया।
(घ) अणिट्ठा रसा, अणिट्ठा लावण्णं। –प्रज्ञापनासूत्र २३/१/१०, ११, १२, १५
(ङ) पडिणीयत्ताए, निण्हवणयाए, अंतराएणं, पदोसेणं, अच्चासाएणं, विसंवाद- जोगेणं।
–भगवती ८/९/३७-३८
(च) पर-दुक्खणयाए, परपरितावणयाए। –भगवतीसूत्र ७/६/१०

उपहास करने से, चोरी, जारी, गुंडागीरी आदि कुकृत्यों में प्रवृत्त होने से पापकर्मबन्ध होता है, उसके फलस्वरूप व्यक्ति पंगु या पैर से रहित होता है।[1]

कई लोग बहुत परिश्रम करने पर भी दीन-हीन, अभाव-पीड़ित तथा दरिद्र बने रहते हैं, मन में आर्तध्यान एवं दूसरों से ईर्ष्या करते रहते हैं, उसके पीछे भी निम्नोक्त पापकर्म-बन्ध कारण हैं-चोरी, ठगी, धोखाधड़ी, धूर्तता, दगा, अन्याय, अत्याचार से तथा हिंसाकारी व्यवसायों से, तस्करी से धनोपार्जन करने से, धनवानों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या और वैरभाव रखने से, किसी के द्वारा स्व-श्रम से उपार्जित धन को लूट लेने या हड़प लेने से, दूसरों को घर से निकाल कर या उजाड़ कर तथा अन्न वस्त्र आदि छीन कर पीड़ित करने से, निर्धनों को कर्कश शब्द या अपशब्द बोलने से, उन पर दबाव डालकर अपने जाल में फंसाने से, किसी की आजीविका भंग करने से, दूसरों की कमाई में विघ्न डालने से, किसी की धरोहर को दबाकर उसे निर्धन एवं कंगाल बना देने से, किसी का धन अग्नि में जला देने या जल में डुबा देने आदि पापकर्मों के बंध के फलस्वरूप मानव दीन-हीन-दरिद्र बनता है।[2]

यदि कोई क्रूर स्वभाव वाला है तो उसके पीछे भी शास्त्रकारों ने पापकर्मबन्ध को कारण बताया है कि तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से तथा तीव्र लोभ करने से, बात-बात में संतप्त हो (तप्त) जाने से, सत्संग से दूर रहने और कुसंगति में खुश रहने से, तथा नरकगति से सीधा आकर जन्म लेने से मानव क्रूरस्वभावी बन जाता है।[3]

---

१. (क) घाणावरणे, घाण-विण्णाणावरणे ।
(ख) अणिट्ठा गंधा, अणिट्ठा लावण्णं ।
(ग) अमणुण्णा गंधा, मणोदुहया, वइदुहया, कायदुहया । —प्रज्ञापना, २३/१/१०, १२, १५
(घ) अमणुण्णा फासा, मणोदुहया, वइदुहया, काय-दुहया ।,
(ङ) अचक्खुदंसणयाए ।
(च) अणिट्ठाफासा, अणिट्ठा लावण्णं । —प्रज्ञापना २५/१/१२, ११,१०, १५
(छ) बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए, सोयणयाए, परितावणयाए ।
—भगवती ८/९
(ज) परपीला-कारगं च हासं । —प्रश्नव्याकरणसूत्र २/२/२५
(झ) बलमदेणं ।
(ञ) काल-अणुज्जयाए । —भगवती ८/९/४२
(ट) अणिट्ठा लावण्णं अणिट्ठे उट्ठाण-कम्म-बल-वीरिय-पुरिसकार-परक्कमे । —प्रज्ञापना २३/१/१५
२. (क) लाभन्तराएणं, लाभमदेणं। —भगवती ८/९/४४, ४३
(ख) परिवूढे परंदमे । —उत्तराध्ययन ७/६ गा.
३. (क) तिव्वकोहाए, तिव्व-माणाए, तिव्वलोहाए । —भगवती. श. ८/उ. ९/सू. ४०
(ख) अइज्झाणाए । संगो एस मणुस्साणं। —उत्तराध्ययन
(ग) कसाय-वेयणिज्जे । —प्रज्ञापनासूत्र २३/१/१३

इन पापकर्मों के बन्ध के कारण मानव अपमानित होता है

बहुत से लोग पद-पद पर अपमानित, तिरस्कृत होते देखे जाते हैं, वह भी पूर्वबद्ध पापकर्म के कारण होते हैं। वे पापकर्म ये हैं–दूसरों का मान खण्डित करने के लिए नीच उपाय तक करना, शत्रुओं का अपमान सुनकर खुश होना, अपनी प्रशंसा स्वयं करना और खुश होना, अपने सद्गुणों का अहंकार (गर्व) करना; निर्धन, मन्दबुद्धि एवं दीन-हीन लोगों का निरादर करना, माता-पिता, गुरु एवं वृद्धों व सज्जन व्यक्तियों का अविनय करना, गुणिजनों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या एवं असूया करना; गुणी चारित्रात्माओं की वन्दना-भक्ति स्वयं न करना और दूसरों को करने से रोकना, मर्यादाओं का भंग करना आदि।

निर्बल किस पापबन्ध के कारण के होता है ?

इसी प्रकार निर्बल होना भी निम्नोक्त पापकर्मबन्ध कारण है–दीन-हीनों को सताना, निर्बलों को दबाना, उनके साथ कलह करना, उन्हें बन्धन में डालना, किसी की अन्न-वस्त्रादि की प्राप्ति में विघ्न डालना, और अपने बल का अहंकार (मद) करना आदि।

कायर और डरपोक किन पापकर्मों के कारण होता है ?

बहुत-से लोग कायर, डरपोक और बात-बात में शंकाशील होते हैं, ऐसा होने में पापकर्मबन्ध ही कारण है। जो अन्य जीवों में भय पैदा करता है, अकस्मात् धमाका करके दूसरों को डराता-धमकाता है, दूसरों की इज्जत लूटता है; चोर, सर्प, विष, अग्नि, पानी, भूत, यक्ष आदि भयानक नामों का उच्चारण करके दूसरों को भयभीत करता है; शिशुओं और पशुओं को डरपोक बनाता है, उन्हें चौंकाता है, उन्हें भयभीत होकर दबते देख प्रसन्न होता है, वह व्यक्ति भयमोहनीय पापकर्मबन्ध करके भविष्य में कायर और डरपोक बनता है।

पराधीन होना भी पापकर्मबन्ध कारण है

इसी प्रकार जो मनुष्य द्वेष और ईर्ष्या आदि के वश दूसरों को बन्दीगृह में डलवाता है, अत्यधिक परिश्रम करवाकर अत्यल्प पारिश्रमिक देता है, कर्जदार के घर का सारा माल अपने कब्जे में लेकर उसे दर-दर का मोहताज बना देता है, दूसरे की इज्जत को धक्का पहुँचाता है, बलात् बेगार में काम करवाता है; कुटुम्बियों और नौकरों के भोजन-पानी में अन्तराय डालता है, पशु-पक्षियों को बाड़ों और पिंजरों में बंद करके रखता है, दूसरों को पराधीन और बंधे देखकर प्रसन्न होता है, दूसरों की स्वाधीनता नष्ट करता है, वह व्यक्ति उस पापकर्मबन्ध के फलस्वरूप स्वयं पराधीन होता है।[1]

---

१. (क) इस्सरिय-मदेणं –भगवतीसूत्र ८/९/४३
(ख) इस्सरिया-विहीणया। –प्रज्ञापनासूत्र २३/१/१६

दम्भी और धूर्त भी पापकर्मबन्ध के कारण

जो व्यक्ति धर्म करने का दिखावा करता है, दान-पुण्य के कार्यों में छल करता है, जप-तप की साधना में कपट करता है। थोड़ा-सा करके बहुत बताता है, वह उक्त माया-मोहनीय पापकर्म का बन्ध करके उसके फलस्वरूप धूर्त बनता है।

चोर किस पापकर्मबन्ध के कारण बनता है ?

जो चौर्यकर्म को अच्छा समझता है, चोरों को सहायता देता है, चुराई हुई वस्तु को खरीदता या रख लेता है, चौर्यकला सिखाता है, चोर की प्रशंसा करता है, वह उक्त पापकर्मबन्ध के फलस्वरूप चोर बन जाता है।[1]

पापात्मा बनता है, पापकर्मबन्ध के कारण

जो व्यक्ति लोगों को धर्मभ्रष्ट करता है, सद्धर्म की निन्दा करके कुधर्म की प्रशंसा और महिमा करता है, तथा अधार्मिक–पापीजनों की संगति करता है, वह व्यक्ति उक्त पापकर्मबन्ध के फलस्वरूप स्वयं पापात्मा बन जाता है।

कसाई और हत्यारा भी पापकर्मों के कारण बनता है

कई व्यक्ति कसाई, हत्यारे और हिंसाजीवी होते हैं, वे भी पापकर्मबन्ध के फलस्वरूप होते हैं, वे पापकर्म हैं–हिंसाजनक कृत्यों की प्रशंसा करना, हिंसा-हत्या, आतंक, उपद्रव आदि करने की कला सिखाना, हिंसाविषयक ग्रन्थों की रचना, तथा दयाधर्म की निन्दा करना आदि।

अनार्य देश में जन्म लेने के कारण

कई लोग अनार्य देश में जन्म लेते हैं, वहाँ उन्हें धर्म के सुसंस्कार नहीं मिल पाते; उसके पीछे भी निम्नोक्त पापकर्मों का बन्ध कारण है। जैसे--अनार्यों-म्लेच्छों के कार्यों की प्रशंसा करने से, उनकी-सी वेशभूषा धारण करने से, किसी पर झूठा इलजाम लगाने से, म्लेच्छों की सुख-सम्पदा को अच्छी समझने से तथा आर्यों का देश, वेश, संस्कृति, एवं सभ्यता छोड़कर अनार्यकर्म, वेश, संस्कृति एवं सभ्यता को अपनाने से।

(ग) परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य । –तत्त्वार्थसूत्र
(घ) बलमदेणं । –भगवती ८/९/४०
(ङ) बल-विहीणया । –प्रज्ञापना २३/१/४६
(च) लिंब्बधरित्त-मोहणिज्जाए । –भगवती ८/९/४०
(छ) नीकसाय-वेयणिज्जे । –प्रज्ञापना २३/१/१३
(ज) भय-वेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं। –स्थानांगसूत्र ४/४/२३
(झ) शुभाशुभकर्मफल (आत्मनिधिमुनि त्रिलोक) से पृ. १६, १७

१. तेनाहडे तक्करप्पओगे । –आवश्यकसूत्र

पुत्रहीनता भी पापकर्मबन्ध के कारण

कई लोग पुत्रहीन देखे जाते हैं, वे पुत्र के लिए तरसते हैं, फिर भी सुपुत्र नहीं मिलता, इसके पीछे निम्नोक्त पापकर्मबन्ध कारण हैं–मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के अनाथ बच्चों को मारना, अण्डों को फोड़ना, पुत्रवन्तों से द्वेष तथा ईर्ष्या रखना, गाय भैंस आदि के बच्चों को उनकी माता से विलग करना, उन्हें कम दूध पिलाना, बंदरी आदि के बच्चों को पकड़कर उनकी माता से अलग कर देना आदि से लाभान्तराय, असातावेदनीय आदि पापकर्मों को बन्ध होता है। यही पुत्रहीनता का कारण है।

कृपणता, कुपुत्र, कुभार्या की प्राप्ति कैसे ?

इसी प्रकार कुपुत्र एवं कुभार्या आदि की प्राप्ति भी अमुक पापकर्मबन्ध के कारण होती है। कृपण होना भी इसी प्रकार दानान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, मोहनीय आदि पापकर्मों के बन्ध का परिणाम है।[१]

सहोदर भाइयों में वैमनस्य का कारण

कई जगह हम देखते हैं कि सहोदर भाइयों में या सहोदर भाई-बहनों में परस्पर कलह, मनमुटाव, वैमनस्य, वैर-विरोध उत्पन्न हो जाता है, और वह बढ़ता ही जाता है, किसी भी प्रकार से शान्त नहीं होता, उसके पीछे भी पूर्वबद्ध पापकर्म कारण है। वह पापकर्म है–हाथी, घोड़े, भैंसे, मेंढ़े, सांड, कुत्ते, मुर्गे तथा मनुष्यों आदि को परस्पर लड़ाना और उनकी लड़ाई देखकर प्रसन्न होना, छोटी-सी बात पर झगड़ा करने पर आमादा हो जाना आदि।[२]

अल्पायु होने के ये कारण हैं

स्थानांगसूत्र में बताया गया है कि जो प्राणियों की घात करता है, झूठ बोलता है, तथारूप श्रमण और माहन को अकारण अप्रासुक (सचित्त) और अनैषणीय अमनोज्ञ असातकारी चतुर्विध आहार देता है, किसी की आजीविका भंग करता है; और किसी धार्मिक आध्यात्मिक व्यक्ति पर दोषारोपण करके उनके प्रति लोकश्रद्धा घटाने का प्रयत्न करता है, वह उक्त पापकर्मों का बन्ध करके उसके फलस्वरूप अल्पायुष्क होता है।[३]

---

१. (क) लाभांतराए –प्रज्ञापना २३/१/१७
(ख) लाभंतराएणं –भगवतीसूत्र ८/९/४४
(ग) परदुक्खणयाए, परसोयणयाए, परजूरणयाए, परतेप्पणयाए। –भगवतीसूत्र ७/६/१०
(घ) मणोदुहया। –प्रज्ञापना २३/१/१२
(ङ) कसाय वेयणिज्जे। –प्रज्ञापना २३/१/१३

२. सुदृष्टितरंगिणी, ध्यानकल्पतरु एवं शुभाशुभकर्मफल आदि में देखें।

३. तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउत्ताए कम्मं पगरेंति, तं.–पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभित्ता भवई। –स्थानांग, स्था ३, उ.१, सू. ७

आचारांगसूत्र में बताया है कि कई मोहमूढ़ मनुष्य अपने पूर्वबद्ध पापकर्मों को भोगने के लिए उनके शरीर में कुष्टरोग, जलोदर रोग, या मूत्रकृच्छ आदि एक-दो रोग नहीं, एक साथ निम्नोक्त सोलह रोगों तक उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे–(१) गंडमाला, (२) कोढ़ (३) राजयक्ष्मा (टी.बी), (४) अपस्मार (मृगी, हिस्टीरिया), (५) कानापन, (६) जड़ता (अंगोपांगों में शून्यता), (७) कुणित्व (ठूँटापन), (८) कुब्जता (कुबड़ापन), (९) जलोदर, उदरशूल आदि उदर रोग, (१०) मूकता (गूंगापन), (११) शोथ रोग (सूजन), (१२) भस्मक रोग, (१३) कम्पवात, (१४) पीठसर्पिता (पंगुता), (१५) श्लीपद रोग (हाथीपगा(और (१६) मधुमेह (डायबिटीज)। इसके पश्चात् शूल आदि मारणान्तक आतंक (दुःसाध्य रोग) और अप्रत्याशित (अचानक) दुःखों (पीड़ा, कष्ट आदि) का स्पर्श होता है।[1]

इन और ऐसे ही नाना प्रकार के दुःखों, कष्टों, रोगों, विपत्तियों और अनिष्टों को देखकर मनुष्य अनुमान कर सकता है कि ये सब किसी न किसी पूर्वकृत पापकर्म के ही फल हैं। इसके अतिरिक्त सर्वज्ञ महापुरुषों द्वारा अनुभव किये हुए होने से पापकर्म बन्ध प्रत्यक्षवत् भी हैं।

अष्टादश पापस्थानक : अठारह प्रकार से पापकर्मों के बन्ध के कारण

पहले हम बता चुके हैं कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच आस्रव (कर्मों के आगमन के कारण) हैं, और उत्तरक्षण में ये ही पांच बन्ध के कारण बनते हैं। मूल में योग और कषाय ये दो ही उत्तरोत्तर बन्ध के कारण हैं। योग के दो प्रकार हैं शुभयोग और अशुभयोग। पापकर्म का बन्ध अशुभ योग (मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्तियों) से होता है। पापकर्म की प्रकृतियाँ यों तो अगणित हो सकती हैं। परन्तु पहले हमने जितने भी दुःख, कष्ट, वेदना, पीड़ा, आर्त्ति, व्याधि, आधि, आतंक, भीति, अशान्ति आदि के कारणभूत पापकर्मबन्ध का निरूपण किया है; उन सब को शास्त्रकारों ने १८ पाप-स्थानों में समाविष्ट कर दिया है। वे १८ पाप-स्थानक यानी पापकर्मबन्ध के कारण हैं, यथा–(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३)

---

१. (क) शुभाशुभ कर्मफल (मुनि त्रिलोक) से भू. ३३, ३२, ३४

(ख) अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया–
गंडी अदुवा कोढी रायंसी अवमारिए।
काणिय झिमिय चेव कुणियं खुज्जियं तहा ॥१३॥
उदरिं च पास मूइं च सूणियं च गिलासिणिं।
वेवइं पीढसप्पिं च सिलिवयं मधुमेहणिं ॥१४॥
सोलस एते रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो।
अह णं फुसंति आतंका, फासा य असमंजसा ॥१५॥
अट्टे से बहुदुक्खे इतिबाले पकुव्वति।
एति रोगे बहू णच्चा आतुरा परितप्पए ॥ –आचारांग १ श्रु. अ. ६, उ. १, सू. १७९

अदत्तादान, (४) मैथुन (अब्रह्मचर्य), (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) परपरिवाद (परनिन्दा), (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषावाद, और (१८) मिथ्यादर्शन-शल्य।[1]

इन अठारह पापस्थानों से तथा इनके विविध प्रकारों से पाप कर्म का बन्ध होता है। संसारी जीव मुख्यतया अठारह प्रकार से जो पापकर्म बाँधता है, उसका फलभोग ८२ प्रकार से भोगता है। इनमें ४५ घाति कर्मप्रकृतियाँ तो बंधयोग्य पाप प्रकृतियाँ हैं ही। जैसे—ज्ञानावरणीय की पांच, दर्शनावरणीय की नौ, अन्तराय की पांच और मोहनीय की २६ (सम्यक्त्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय को छोड़कर), यों घातिकर्म की ४५ बन्धयोग्य प्रकृतियाँ पापकर्म प्रकृतियाँ हैं। शेष अघातिकर्म में से पुण्य की ४२ प्रकृतियों के सिवाय शेष ३७ प्रकृतियाँ अशुभ हैं, जो पापरूप हैं। वे इस प्रकार हैं—पहले संस्थान और संहनन को छोड़ कर शेष पांच संहनन, पांच संस्थान, अप्रशस्त विहायोगति, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीचगोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय जाति, तीन विकलेन्द्रिय, नरकायु, स्थावरदशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), वर्णचतुष्क (अशुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श); यों अघाति कर्म की ३७ प्रकृतियाँ तथा घातिकर्म की ४५ प्रकृतियाँ यों कुल मिलाकर ८२ पापकर्म की प्रकृतियाँ हैं, जो बंधती हैं, और उसका फल पापकर्मबन्धकर्त्ता जीव को ८२ प्रकार से भोगना पड़ता है।[2]

शास्त्रकारों ने विविध अपेक्षाओं से यह भी बताया है कि पापकर्म बन्ध किस-किस ने किया है, कौन-कौन बांधता है और कौन-कौन बांधेगा? समस्त संसारी जीव

---

१. (क) अशुभः पापस्य ।
(ख) समवायांगसूत्र १८वां समवाय
(ग) स्थानांगसूत्र में ९+९ आयतन, स्था. ९
(घ) सव्वं पाणाइवायं, अलिगमदत्तं च मेहुणं सव्वं,
सव्व-परिग्गहं तह राइभत्त (रई-अरई) च वोसिरेमो ॥६५॥
सव्वं कोहं माणं मायं लोहं च रागदोसे य ।
कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं पर-परीवायं ॥६६॥
मायामोसं, मिच्छादंसण-सल्लं तहेव वोसिरिमो ।
अंतिम-ऊसासम्मी देहंपि जिणाइ-पच्चक्खं ॥६७॥ —प्रवचनसारोद्धार २३७ द्वार

२. (क) पंचसंग्रह (प्रा.) ४५६ से ४५९
(ख) गोम्मटसार (क) ४४-४५
(ग) ·····अपढम-संठाण-खगइ-संघयणा,
तिरियदुग-असाय-नी-उवघाय-इगविगल निरय-नेतिगं ॥१६॥
थावर-दस वन्न-चउक्क-घाइ-पणयाल-सहिय वासीई ।
पाव पयडित्ति दोसुवि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. १६, १७

(ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के सिवाय) तीनों काल में पापकर्मों का बन्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में हम अगले खण्ड में विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

पापकर्म के सम्बन्ध में 'पुण्य और पाप : आस्रव के रूप में' शीर्षक निबन्ध में हमने इससे सम्बन्धित अनेक पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इसलिए इस विषय में पिष्टपेषण करना उचित नहीं है।[1]

पुण्यकर्म की प्रकृतियाँ और उनका बन्ध

तत्त्वार्थसूत्र में 'शुभः पुण्यस्य' कहकर शुभ योग को पुण्य-आस्रव कहा गया है, और आस्रव के उत्तरक्षण में प्रशस्त रस से बन्ध होता है। इसका आशय सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट किया गया है कि शुभ-परिणामों (भावों) से निष्पन्न योग शुभ है। 'प्रवचनसार' में इसी का निष्कर्ष दिया गया है–'पर के प्रति शुभपरिणाम पुण्य है।' 'द्रव्यसंग्रह' और 'मूलाचार' के अनुसार–शुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्यरूप है, और वह पुण्यरूप तभी होता है, जब सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, व्रतरूप परिणतम, तथा कषायनिग्रहरूप गुणों से परिणत आत्मा हो। पुण्यास्रव के कारणों का उल्लेख करते हुए 'पंचास्तिकाय' में कहा गया है–जिस जीव में प्रशस्त राग है, जिसके परिणाम अनुकम्पा से युक्त हैं, जिसके चित्त में कलुषता नहीं है, उस जीव के पुण्यास्रव (उत्तरक्षण में पुण्यबन्ध) होता है। मूलाचार में भी इसी से मिलते- जुलते कारण बताए हैं–"जीवों के प्रति अनुकम्पा, शुद्ध मन-वचन-काय की क्रिया, सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप उपयोग, ये पुण्य कर्मास्रव (पुण्यकर्मबन्ध) के कारण हैं।"[2]

'ज्ञानसार' के अनुसार 'यम (व्रत), प्रशम, निर्वेद (वैराग्य), तत्त्वों का चिन्तन आदि का जिस मन में आलम्बन हो, जिस मन में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ हों, वही मन शुभास्रव (पुण्य) को उत्पन्न करता है।' 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार–मन, वचन और काय की सरलता तथा इनकी अविसंवादिता, ये शुभ योग (पुण्यास्रव-हेतुक) के कारण हैं। 'तत्त्वार्थसार' में व्रताचरण को पुण्यकर्मास्रव का कारण बताया है। 'योगसार' में कहा गया है–"अरहंत आदि

---

१. देखें–कर्मविज्ञान छठा खण्ड में पुण्य और पाप : आस्रव के रूप में, पृ. ६३१ से ६८७ तक

२. (क) तत्त्वार्थसूत्र ६/३
(ख) शुभ-परिणाम-निर्वृतो योगः शुभः। –सर्वार्थसिद्धि ६/३
(ग) शुह-परिणामो पुण्णं। –प्रवचन सार गा. १८१
(घ) द्रव्यसंग्रह ३८/१५८
(ङ) मूलाचार २३४
(च) पंचास्तिकाय १३२, १३५
(छ) मूलाचार २३५

पंच-परमेष्ठियों के प्रति श्रद्धा-भक्ति, समस्त जीवों के प्रति करुणा और पवित्र चारित्री के प्रति अनुराग करने से पुण्यास्रव होता है।[1]

यह पहले कहा जा चुका है कि पुण्य और पाप कर्म के बन्ध या आस्रव का निर्णय किसी वस्तु या क्रिया के आधार पर नहीं होता, अपितु कर्त्ता के भावों (परिणामों) के आधार पर भी होता है। इसलिए किसी को सुख या दुःख उपजाने मात्र से ही पुण्य या पाप का आस्रव या बन्ध नहीं हो जाता, उसके पीछे कर्त्ता के आशय के साथ-साथ कभी-कभी उस प्रवृत्ति (क्रिया या कर्म) का शुभाशुभत्व या मंगलामंगलकारित्व भी देखा जाता है। किसी दूसरे जीव को हानि या क्षति पहुँचा कर किसी को सुख उपजाने से कार्य शुभ नहीं कहता, वह कार्य मांगलिक न होकर अमांगलिक हो जाता है, अतः उस कार्य से पुण्यबन्ध नहीं होता। नन्दीसूत्र की वृत्ति में एक 'दुःखमोचक' मत का वर्णन है। दुःखमोचक मतानुसार 'किसी अत्यन्त दुःख पाते हुए व्यक्ति का दम घोंट देने से उसे उक्त दुःख से छुटकारा मिल जाता है और वह मरकर स्वर्ग के सुख पाता है।' परन्तु यह कार्य भी अशुभ परिणाम तथा अशुभत्व से युक्त होने के कारण पुण्यबन्ध का कारण नहीं हो सकता।

इसी प्रकार एक दयार्द्र चिकित्सक निःस्वार्थभाव से, किसी मुनि के फोड़े की चीर-फाड़ करके मरहम-पट्टी करके उसे रोग-मुक्त करता है। चीर-फाड़ करते समय मुनि को दुःख होता है, परन्तु उस चिकित्सक का भाव मुनि को दुःख देने का नहीं है। इसलिए दुःखोत्पादन के इस कारणमात्र से चिकित्सक के पापकर्म का बन्ध नहीं होता, अपितु शुभभाव एवं शुभकार्य होने के कारण पुण्यास्रव एवं पुण्यबन्ध होता है।

'आप्तमीमांसा' में बताया गया है कि यदि ऐसा एकान्त माना जाए कि दूसरों को सुख देने से पुण्यबन्ध और दुःख देने से पापबन्ध होता है, तब तो अचेतन दूध आदि को पुण्य का और कांटे आदि को पाप का बन्ध होना चाहिए, क्योंकि प्राणियों के ही पुण्य-पाप का बन्ध होता है, तब तो वीतरागी को भी पुण्य या पाप का बन्ध होना चाहिए, क्योंकि वे भी दूसरों के सुख या दुःख में (संयम-तप-व्रतादि का उपदेश देकर) निमित्त होते हैं। यदि ऐसा कहें कि स्वयं को कष्ट देने से पुण्यबन्ध और सुख देने से पापबन्ध होता है तो विद्वान् और वीतरागी मुनि को भी पुण्य-पाप का बन्ध

१. (क) ज्ञानसार ३/३, ५, ७
(ख) काय-वाङ्-मनसामृजुत्वमविसंवादनं च। —सर्वार्थसिद्धि ६/२३
(ग) व्रतात् किलास्रवेन पुण्यम्। —तत्त्वार्थसार ४/५९
(घ) अर्हदादौ पराभक्तिः कारुण्ये सर्वजन्तुषु।
पावने चरणे रागः, पुण्य-बन्ध-निबन्धनम्॥ —योगसार अ. ४/३७

२. (क) सर्वार्थसिद्धि ६/१९/३३०
(ख) कर्मविज्ञान भा. ३, खण्ड ६, पृ. ६३५, ६३६
(ग) देखें, नन्दीसूत्र, मलयगिरिवृत्ति
(घ) आप्तमीमांसा ९२ से ९५ तक

होना चाहिए; क्योंकि विद्वान् को तत्त्वज्ञान और सन्तोष आदि से सुख होता है और वीतरागी त्रिकाल रत्नत्रयादि के अनुष्ठान से स्वयं को दुःख पहुँचाता है। ऐसी स्थिति में पुण्य और पाप का चक्र सदा चलता रहेगा और किसी भी जीव को मुक्ति ही नहीं होगी, क्योंकि पुण्यकर्म और पापकर्म दोनों से कभी छुटकारा ही नहीं होगा। आचार्य समन्तभद्र ने इसका समाधान देते हुए कहा है–'अपने में स्थित सुख-दुःख या पर में स्थित सुख-दुःख यदि विशुद्धि का कारण है, विशुद्धि कार्य और विशुद्धि स्वभाव है तो पुण्यास्रव (पुण्यबन्ध) होता है, और यदि संक्लेश का कारण, संक्लेश का कार्य और संक्लेश-स्वभावरूप है तो वहाँ पापास्रव (पापबन्ध) होता है। आर्त्त-रौद्र-ध्यानरूप परिणाम संक्लेश कहलाता है और धर्म-शुक्लध्यान विशुद्धि।[1]

श्रवणेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय की प्रबलता का लाभ-पुण्यबन्ध से

कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र (अध्यात्मलक्ष्यी) और सुकथा श्रवण करता है, गुणिजनों के गुणों को सुनकर प्रसन्न होता है, दीन-दुःखियों की पुकार पर ध्यान देकर उन्हें सन्तुष्ट एवं आश्वस्त करता है, बहरे व्यक्तियों की हंसी न उड़ा कर उनके प्रति सहानुभूति दिखाता है, यथाशक्ति सहायता करता है, इत्यादि कारणों से शास्त्रानुसार अचक्षुदर्शनावरणीय के क्षयोपशम से तथा शुभ अंगोपांग नामकर्म नामक पुण्य का बन्ध होने से वह श्रोत्रेन्द्रिय (कान) की तीव्रश्रवणता, स्वस्थता एवं सुन्दरता प्राप्त करता है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति त्यागी तपस्वी साधु-साध्वियों के दर्शन करता है, धर्म के प्रति अनुराग रखता है; विषयासक्तिवर्द्धक रूप देख तुरन्त दृष्टि हटा लेता है, नेत्रहीन या नेत्ररोग ग्रस्त व्यक्तियों पर दया करता है; सत्-शास्त्र तथा श्रेष्ठ साहित्य, आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़ता है, ऐसा व्यक्ति चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा शुभ अंगोपांग नामकर्म के पुण्यबन्ध और उसके फलस्वरूप उसे स्वस्थ, तेज, मनोहर और दूरदृष्टि वाली आँखें प्राप्त होती हैं।

एक व्यक्ति मांस, मदिरा, रक्त तथा अन्य अभक्ष्य अनिष्ट उत्तेजक खान-पान नहीं करता, रसलोलुपता नहीं करता, सद्बोध करता है, लोगों को सद्धर्म का तत्त्व समझाता है, सदैव गुणों का ही बखान करता है, हित-मित-प्रिय-सुखदायक वचन बोलता है, जिह्वाविकल, तोतला, मूक और अस्पष्टभाषी व्यक्ति के प्रति सहानुभूति रखता है, उसकी सहायता करता है, शास्त्रवचनानुसार ऐसे व्यक्ति शुभनामकर्म पुण्य का बन्ध करके जिह्वेन्द्रिय की प्रबलता, वचन की आदेयता प्राप्त करते हैं।[2]

---

१. आप्तमीमांसा (आचार्य समन्तभद्र) से

२. (क) मणुण्णा सद्दा, मणुण्णा रूवा, मणुण्णा रसा, मणोसुहया, वइसुहया, कायसुहया।
–प्रज्ञापनासूत्र २३/१/१२

(ख) इट्ठा सद्दा, इट्ठा रूवा, इट्ठा रसा, इट्ठा लावण्णा। –वही, २३/१/१५

(ग) अदुब्भणयाए, अपरियावणयाए, अणुकंपाए। –भगवतीसूत्र ७/६/९

(घ) मैत्रीभाव, सहायता-प्रदान, विनय, भक्ति, एकाग्रता एवं अनुकम्पाभाव से
–भगवती सूत्र ८/९/३७-३८

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय की प्रबलता एवं स्वस्थ सुशोभन नासिका प्राप्त होती है, अमुक प्रकार के पुण्यबन्ध से। वह होता है—सुगन्धित पदार्थों में गृद्ध आसक्त न होने से, नासिकाहीनों के प्रति सहानुभूति और उन्हें सहायता देने से एवं साधु-साध्वी आदि श्रेष्ठ-विरक्त त्यागी जनों के आगे मस्तक झुकाने से।[1]

कई लोग अपने हाथों से शुभभावनापूर्वक निरहंकारभाव से दान देते हैं, सच्चा लेख लिखते हैं, धर्मवृद्धिकारक आध्यात्मिक विचारोत्तेजक लेख, कथा, काव्य एवं निबन्ध लिखते हैं, आज्ञा प्राप्त करके या दूसरे की स्वीकृति-अनुमति से वस्तु ग्रहण करते हैं, हाथों से किसी को कष्ट, दुःख, पीड़ा या संताप नहीं देते, सही लेन-देन करते हैं, हस्तहीन की सहायता आदि करते हैं, इत्यादि कारणों से शुभ नामकर्मरूप पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होने से उन्हें तत्फलस्वरूप स्वस्थ एवं बलिष्ठ हाथ प्राप्त होता है।

कई स्वयं दुर्व्यसनों के या अनैतिक कुमार्ग पर नहीं चलते, अन्य लोगों को उस कुमार्ग पर जाने से रोकते हैं; दृश्यमान जीव-जन्तुओं को अपने पैरों से कुचलने-दबने से रोकते हैं, लूले-लंगड़े एवं अपाहिज को सहानुभूतिपूर्वक सहायता देते हैं; इत्यादि कारणों से वे भी शुभनामकर्म की प्रकृतियाँ का बन्ध करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें स्वस्थ एवं सशक्त पैर मिलते हैं।[2]

इसी प्रकार अधिकांश लोग सम्मान चाहते हैं। परन्तु आगमकारों ने बताया है कि अरिहंत, आचार्य, साधु-साध्वीगण, श्रावक-श्राविका, सम्यग्दृष्टि, मार्गानुसारी एवं धर्मिष्ठ गुणसम्पन्न आत्माओं का गुणगान करने, उनके सद्गुणों को अपने जीवन में यथाशक्ति उतारने से, उनकी सेवा, विनय श्रद्धा-भक्ति करने से, उनकी प्रशंसा एवं कीर्ति सुनकर मन में प्रमुदित होने से, उन्हें वन्दना नमन करने-कराने से, स्वयं सद्गुणी होते हुए भी नम्र एवं निरभिमानी रहने से व्यक्ति यशःकीर्तिनाम कर्मरूप पुण्य प्रकृति को बांधता है, और उसके फलस्वरूप सम्मान प्राप्त करता है।

दीन-दुखियों को रुग्णावस्था में देखकर दयाभाव लाने एवं उन्हें सुखी बनाने, साधु-साध्वी आदि महान् आत्माओं को औषध का दान देने-दिलाने एवं उनकी यथोचित सेवा करने से शुभ एवं स्वस्थ शरीर नामकर्मरूप पुण्यबन्ध होता है जिसके फलस्वरूप मिलता है—स्वस्थ, सशक्त एवं सुशोभन शरीर।

---

१. (क) इट्ठा गंधा, इट्ठा लावण्णा।
(ख) मणुण्णा गंधा, मणोसुहया, वइसुहया, कायसुहया। —प्रज्ञापना २३/१/१५, १२

२. (क) इट्ठा फासा, इट्ठा लावण्णा।
(ख) मणुण्णाफासा, मणोसुहया, वइसुहया, कायसुहया। —वही, २३/१/१५, १२
(ग) अदुक्खणयाए, अपरियावणयाए, अणुकंपाए। —भगवतीसूत्र ७/६/९
(घ) काय-उज्जुययाए। —भगवती ८/९

कई लोग बलवान् और निर्भय होते हैं, वे भी शुभनामकर्मरूप पुण्यबन्ध से होते हैं। ऐसा पुण्यबन्ध होता है—दीनों, अनाथों, अभावपीड़ितों, पद-दलितों एवं पिछड़े लोगों पर अनुकम्पा करके उन्हें सहायता देने से, उनके कष्टों को दूर करने से, उनके आंसू पोंछने से, संकटापन्न व्यक्तियों, बाढ़ भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोपों से पीड़ित व्यक्तियों को अन्न-वस्त्रादि का दान करने से तथा निर्भय होकर अन्याय-अत्याचार-पीड़ितों और शोषितों को न्याय दिलाने से, दूसरों को भयभीत न करने, कायर न बनाने तथा पशुओं, बालकों आदि को नहीं डराने-धमकाने से।[1]

पुण्यबन्ध के कारण सुखशान्ति सम्पन्न, सदाचारी एवं ऋद्धिमान धनाढ्य

कई लोग धनाढ्य, सदाचारी, ऋद्धिमान् एवं सुख-शान्ति सम्पन्न होते हैं, उसके पीछे भी अमुक प्रकार का पुण्यबन्ध कारण है। पुण्यबन्ध का वह प्रकार है—निर्धनों, दरिद्रों, अभावपीड़ितों, अनाथों, असहायों, अनाश्रितों और अपंगों आदि को अन्न, पानी, वस्त्र और आश्रय आदि की निःस्वार्थभाव, प्रशंसा-प्रतिष्ठा की आशा रखे बिना सहायता देना, प्राप्त द्रव्यों या साधनों पर ममता-मूर्च्छा कम करके धर्मोन्नति, सेवा, सत्कर्म एवं सदाचार-प्रचार करने आदि सुकृत्यों में अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करना, दूसरे के पास धन-सम्पत्ति, साधन-सामग्री आदि की प्रचुरता एवं वृद्धि देखकर ईर्ष्या-द्वेष न करना, उदारता रखना, स्वार्थवृत्ति कम करना, ये और ऐसे ही कार्य पुण्यबन्ध के हैं।

भगवतीसूत्र में भी अनुकम्पा, सेवा, परोपकारादि शुभ प्रवृत्तियाँ पुण्योपार्जन की कारण बताई गई हैं।[2]

---

१. (क) इस्सरिय-अमदेणं। —भगवतीसूत्र ८/९/४३
(ख) इस्सरिय-विसिट्ठिया। —प्रज्ञापना, २३/१/१६
(ग) आत्मनिन्दा परप्रशंसा, सद्गुणोद्भावन, असद्गुणाच्छादन- —तत्त्वार्थसूत्र
(घ) पाणाणुकंपाए, भूयाणुकंपाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए। —भगवतीसूत्र ७/६/९
(ङ) कायसुहया, बलविसिट्ठिया। —प्रज्ञापना २३/१/१२, १६
(च) बल-अमदेणं —भगवती ८/९/४३

२. (क) सया सच्चेण संपन्ने, मेत्तिं भूएहिं कप्पए। —सूत्रकृतांग-१५/३
(ख) अपच्छरियाए। —स्थानांग ४/४/३९
(ग) तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खंतिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा॥ —उत्तराध्ययन ५/३०
(घ) अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, लयणपुण्णे, सयणपुण्णे, वत्थपुण्णे। —ठाणांग, ९/२२
(ङ) लाभ-अमदेणं। —भगवती ८/९/४३
(च) लाभ-विसिट्ठिया। —प्रज्ञापना २३/१/१७
(छ) मैत्रीभाव, सहायता-प्रदान-विनय-भक्ति, एकाग्रता तथा अनुकम्पाभाव से।
—भगवती ८/९/३७-३८, ७/१०/१२१

शुभ-अशुभ बंध एवं विपाक : अध्यवसाय पर निर्भर

यह निश्चित है कि पुण्यबन्ध में इन (पूर्वोक्त) और आगे कहे जाने पुण्यबन्ध के प्रकारों (स्थानों) के पीछे शुभयोग एवं प्रशस्तभाव (परिणाम) होना अत्यावश्यक है। जिन कर्मों का बन्ध होता है, उनको लेकर विपाक (फल) केवल शुभ या अशुभ नहीं होता, अपितु अध्यवसाय-रूप कारण की शुभाशुभता के निमित्त से वे शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। शुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक शुभ (इष्ट) होता है, और अशुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक अशुभ (अनिष्ट) होता है। जिस परिणाम में संक्लेश जितना कम होगा, वह परिणाम उतना ही अधिक शुभ होगा और जिस परिणाम में संक्लेश जितना अधिक होगा, वह परिणाम उतना ही अधिक अशुभ होगा। इसलिए जिस परिणाम से पुण्य-प्रकृतियों में शुभ अनुभाग बंधता है, उसी परिणाम से पाप प्रकृतियों में अशुभ अनुभाग भी बंधता है।[1]

पुण्यबन्ध के नौ प्रमुख कारणात्मक प्रकार

यही कारण है कि स्थानांग में नौ प्रकार से पुण्य-प्रकृतियों का आस्रव या बंध होना बताया है—(१) अन्नपुण्य, (२) पानपुण्य, (३) लयनपुण्य, (४) शयनपुण्य, (५) वस्त्रपुण्य, (६) मनपुण्य, (७) वचनपुण्य, (८) कायपुण्य और (९) नमस्कारपुण्य।

(१) अन्न-पुण्य—शुभभाव से, निःस्वार्थभावना पूर्वक भूखे को भोजनादि देकर उसकी भूख मिटाना।

(२) पान-पुण्य—प्यासे को शुभभाव से पेयजल पिलाकर उसकी पिपासा शान्त करना।

(३) लयन-पुण्य—बेघरबार एवं निराश्रित को आश्रय के लिए मकानादि देना या सार्वजनिक धर्मशाला आदि खोलना; निःशुल्क छात्रावास चलाना।

(४) शयन-पुण्य—शय्या, बिछौना, चटाई, खाट, पट्टा आदि शयनीय सामग्री देना।

(५) वस्त्र-पुण्य—सर्दी, गर्मी, वर्षा से पीड़ित व्यक्ति को इनसे रक्षा के लिए वस्त्र देना।

(६) मन-पुण्य—मन से अपने और दूसरों के लिए शुभ, मंगल भावना करना।

(७) वचन-पुण्य—प्रशस्त, शुभ आश्वासनदायक, सहानुभूतिदर्शक, सुखशान्ति-प्रदायक, हित मित, पथ्य, तथ्य से युक्त वचन बोलना, अच्छी सलाह देना।

(८) काय-पुण्य—रोगी, पीड़ित, दुःखित एवं संतप्त व्यक्तियों की काया से सेवा करना, उनके आँसू पोंछना, सार्वजनिक सेवाकार्य में भाग लेना, श्रमदान करना।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलालजी) से पृ. २०४

(९) नमस्कारपुण्य गुणिजनों और महापुरुषों को श्रद्धाभक्तिपूर्वक नमस्कार करना, अपनी आत्मा को विकृत करने वाले जाति आदि आठ मद तथा बड़प्पन के अहंकार को छोड़कर नम्रता, विनय एवं निरहंकारिता धारण करना, महान् आत्माओं के प्रति स्वयं को समर्पित कर देना।

पहले हम जो पुण्यबन्ध के विभिन्न कारण बता आए हैं, उन सभी का एक या दूसरे प्रकार से इन नौ पुण्यबन्ध-हेतुओं में समावेश हो जाता है।[1]

पुण्य कर्म की बन्ध योग्य ४२ प्रकृतियाँ

पुण्यकर्म की बन्धयोग्य बयालीस प्रकृतियाँ हैं। पूर्वोक्त कारणों में से किसी भी कारण से पुण्य का बन्ध होने पर, उनका सुखद फलभोग ४२ प्रकार से होता है। तत्त्वार्थसूत्र में सातावेदनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ-आयु शुभनाम और शुभगोत्र, ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप बताई हैं। सम्यक्त्व-मोहनीय, हास्य, रति और पुरुषवेद इन चार घातिकर्मविशिष्ट मोहनीयकर्म की प्रकृतियों को पुण्य प्रकृतियों में कर्मप्रकृति, नवतत्त्व आदि ग्रन्थों में नहीं माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र-प्रोक्त चार प्रकृतियों को पुण्यरूप मानने वाला मत अतिप्राचीन ज्ञात होता है।[2]

वे ४२ पुण्य-प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—(१) सातावेदनीय, (२ से ४) मनुष्यायु, देवायु और तिर्यञ्चायु, (५-६) मनुष्यगोत्र, देवगति, (७) पंचेन्द्रिय जाति, (८ से १२) पांच शरीर, (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण), (१३ से १५) तीन अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय, आहारक), (१६) समचतुरस्र-संस्थान, (१७) वज्र-ऋषभनाराच संहनन, (१८ से २१) प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, (२२-२३) दो आनुपूर्वी (मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी), (२४) अगुरुलघु, (२५) पराघात, (२६) उच्छ्वास, (२७) आतप, (२८) उद्योत, (२९) प्रशस्त-विहायोगति, (३०) त्रस, (३१) बादर, (३२) पर्याप्त, (३३) प्रत्येक, (३४) स्थिर, (३५) शुभ, (३६) सुभग, (३७) सुस्वर, (३८) आदेय, (३९) यशःकीर्ति, (४०) निर्माणनाम, (४१) तीर्थंकरनाम और (४२) उच्चगोत्र।

ये ४२ ही पुण्य-प्रकृतियाँ शुभयोग से निष्पन्न होती हैं तथा पुण्यबन्ध से प्राप्त होने वाले सुखद फलभोग कराने के लिए हैं।[3]

---

१. (क) नवविधे पुण्णे पण्णत्ते तं.-अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वइपुण्णे, कायपुण्णे, णमोक्कारपुण्णे। —स्थानांगसूत्र स्थान ९, सू. २५

(ख) परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्य-पापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः॥ —आत्मानुशासन २३

२. सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्। —तत्त्वार्थ ८/२६

३. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गाथा १५

(ख) पंचसंग्रह (प्रा.) गा. ४५३ से ४५५ तक

रत्नत्रय पुण्यबन्ध का कारण नहीं, राग कारण है

पुण्यबन्ध के सम्बन्ध में एक चर्चा यह भी प्रचलित है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त व्रतादिरूप सम्यक्चारित्र पांचवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है तथा सयोगीकेवली (१३वें गुणस्थानवर्ती जीवन्मुक्त) के भी सातारूप होता है तो क्या रत्नत्रय भी पुण्यबन्ध का कारण है या मोक्ष का भी है? 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इसका सुन्दर समाधान किया गया है कि असमग्र (असम्पूर्ण) एकदेशादिरूप रत्नत्रय का भावन करने वाले के जो कर्मबन्ध होना है, वह अवश्य ही विपक्ष (रागादि) कृत है; क्योंकि मोक्ष का उपाय बन्ध का उपाय नहीं हो सकता। अर्थात्—एक ही कारण से दो परस्पर विरोधी कार्य—बन्ध और मोक्ष—कैसे हो सकते हैं?

इसी तथ्य को आगे स्पष्ट किया गया है—'यहाँ रत्नत्रय तो मोक्ष (निर्वाण) का ही कारण है, बन्ध का कारण नहीं। उसके होते हुए जो पुण्य का आस्रव (बन्ध) होता है, वह शुभोपयोग का अपराध है।'

'जिस अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र है, उस अंश में बन्ध नहीं होता, जिस अंश में राग है, उस 'अंश' से बन्धन होता है।'[1]

पुण्यबन्ध विषयेच्छा मूलक न हो

पुण्यबन्ध के विषय में चेतावनी देते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गा. ४०९-४१२) में कहा गया है कि पुण्यबन्ध की भावना से पुण्यकार्य नहीं करने चाहिए। जो व्यक्ति विषयसुखों की लालसा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उसके परिणामों में विशुद्धि कैसे हो सकती है? पुण्यबन्ध के मूल हैं—विशुद्धिरूप परिणाम ! विवेकी पुरुष अगर उच्चभूमिकारूढ़ नहीं है, शुद्ध परिणामों पर सतत टिका नहीं रह सकता, इसलिए वह अशुभपरिणामों से बचने के लिए पुण्यकार्य सहजभाव से करता है, परन्तु पुण्यबन्ध से इहलौकिक पारलौकिक सुखभोगों की, धन-सन्तानादि की या सम्मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है इस—तीव्र इच्छा से पुण्य कार्य करना, निदानरूप होने से अशुभ-कर्मफल का भागी होना सम्भव है, दुर्गति भी हो सकती है; क्योंकि विषयसुख-तृष्णा रूप कषाय से प्रेरित होकर पुण्य-उपार्जन की तीव्र अभिलाषा रखता है, उसके भावों (परिणामों) में विशुद्धि कैसे होगी? जिसे इहलोक-परलोक की वांछा नहीं है उसे ही पुण्य की प्राप्ति होती है। अतः पुण्यबन्ध का कारण मन्दकषाय है। मन्दकषायवश शुभ परिणाम होने पर ही जीव पुण्यबन्ध करता है, पुण्य की पूर्वोक्त प्रकार की तीव्र इच्छा पुण्यबन्ध का कारण नहीं है।[2]

---

१. (क) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २११, २२०
   (ख) जैन सिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १३०-१३१
२. (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४०९-४१२
   (ख) जैनसिद्धान्त पृ. १२७
   (ग) तिलोयपण्णत्ति ९/४२

पूर्वकृत पुण्य से वैभव मिल जाने पर मनुष्य को उसका मद हो जाए तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। बुद्धिभ्रष्टता से पाप होता है। अतः तिलोयपण्णत्ति (९/५२) में कहा गया है–ऐसा (तीव्रकषाययुक्त) पुण्य हमें कभी प्राप्त न हो। "सम्यग्दृष्टि यदि निदान न करे तो उसका पुण्यबन्ध परम्परा से मोक्ष की ओर ले जाने में कारण बनता है। क्योंकि तब वह देवगति में भी भोगों में न फंस कर यहाँ से च्यव कर उत्तम मनुष्य जन्मग्रहण करके तप-संयम द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।"

पुण्य-पापबन्ध के रहस्य को हेयोपादेयत्व को समझाने के लिए हमने 'पुण्य और पाप : आस्रव के रूप में' तथा 'पुण्य : कब और कहाँ तक हेय या उपादेय ?' इन दोनों निबन्धों में पर्याप्त प्रकाश डाला है।[1]

●●

१. (क) भावसंग्रह गा. ४०४
(ख) देखें–कर्मविज्ञान खण्ड ६ में पुण्य-तत्त्व से सम्बन्धित दो निबन्ध, पृ. ६३१ से ६८७

२३

रसबन्ध बनाम अनुभागबन्ध : स्वरूप और परिणाम

रस की संसार में सर्वव्यापकता

वर्तमान दृश्यमान जगत् में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो 'रस' शब्द से परिचित न हो। रस शब्द में ही ऐसा कुछ चमत्कार है कि इसका नाम सुनते ही कान खड़े हो जाते हैं, हृदय छलछला उठता है, मनोमयूर नाच उठता है, जिह्वा से पानी टपकने लगता है। पांचों इन्द्रियों के विषयरस में जब मानव भावविभोर हो जाता है, आसक्त होकर बार-बार उस रस का आस्वादन करने के लिए लालायित होता है। मन भी क्रोधादि कषायों तथा राग, द्वेष, मोह, मद एवं मात्सर्य आदि वैभाविक भावों के रस में जब मूर्च्छित एवं मत्त हो जाता है, तब उसे दुनिया की किसी भी वस्तु का भान नहीं रहता। विश्व के सभी क्षेत्रों में रस की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। किसी को फुटबॉल आदि के खेल में रस होता है, किसी को जूआ खेलने में। किसी को कबड्डी और ताश खेलने में रस होता है, किसी को शिकार खेलने में रस होता है। किसी को संगीत-श्रवण में रस आता है तो किसी को नृत्य एवं वाद्य में रस आता है। किसी को एकमात्र धन कमाने और धन जोड़-जोड़ कर रखने में रस आता है तो किसी को परोपकार के कार्यों में धन व्यय करने में रस होता है। इसी प्रकार किसी को सरस स्वादिष्ट विविध पकवान तथा मसालेदार व्यंजनों के चखने और स्वाद लेने में रस आता है। कोई चाट, पकौड़ी आदि को खाने में रस लेता है।

जीवन के समस्त क्षेत्रों में रस का ही महत्व

यों देखा जाए तो रसोई का सारा आधार रस पर है। अगर रसोई में रस नहीं है; उसमें से रस रुष्ट होकर चला गया है तो उसे कोई भी पसंद नहीं करेगा। इसके विपरीत रसोई यदि रसदार बनी है तो भोजन करने वाले प्रशंसा करते नहीं अघाते– 'कितना सरस (टेस्टफुल–Tasteful) भोजन है यह?' फल चाहे जितना आकर्षक हो, यदि उसमें रस न हो तो उसे कोई सूंघेगा भी नहीं। षट्रस भोजन भारतीय घरों में

प्रसिद्ध रहा है। इसी प्रकार काव्य में, कथा में तथा गद्य में भी शृंगाररस, वीररस, करुणरस, रौद्ररस, हास्यरस एवं भयानकरस में से कोई भी एक रस प्रधान होता है, कहीं-कहीं वात्सल्यरस एवं शान्तरस भी होता है। सूरदास ने वात्सल्य-रस का प्रवाह अपनी कविताओं में श्रीकृष्ण की बाल्यलीला का आधार कर बहाया है,जबकि भर्तृहरि ने अपने वैराग्य-शतक को शान्तरस से सराबोर किया है। फिल्म, नाटक, भाषण, सम्भाषण आदि में भी हाउस फुल (House full) तभी होता है, जब उनमें रस लबालब भरा हो। ऐसा कौन-सा क्षेत्र है, जिसमें रस की सार्वभौमता न हो? खेत में कृषिकर्म करने वाले कृषक से लेकर, राष्ट्र पर अनुशासन करने वाले राष्ट्रपति तक के जीवन में निरन्तर रस की ही उज्ज्वल यशोगाथा गाई जा रही है।

सभी क्षेत्रों में रसों को सरसता-निरसता-प्रदाता कार्मिक रसाणु

परन्तु इन सब रसों का महत्त्व उस रस की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है। उस रस के बिना, इन सब रसों में सरसता नहीं आ सकती। क्योंकि जीवन के सभी क्षेत्रों में निहित रसों को रसिकता या सरसता प्रदान करने वाले **कार्मिक रसाणु** (रसबन्धरूप कर्मरसाणु) हैं। इसलिए उक्त कार्मिक रस को हम सर्वरसों का स्रोतरूप रसाधिराज या रसेश्वर कह सकते हैं।[1]

कार्मिक रसाणु (बद्ध कर्मरस) ही समस्त संसारी जीवों का भाग्य विधाता

कार्मिक रसाणु (बद्ध कर्मरस) ही समग्र संसार का–संसारी जीवों का भाग्यविधाता है। उसकी नाराजी हो जाए, तो मनुष्य को दुःख की गहरी खाई में धकेल सकता है, और अगर उसकी प्रसन्नता या मेहरबानी हो जाए तो सुख के झूले में झुला सकता है। इस दृष्टि से कार्मिक रसाणु (बद्ध कर्मरस) के दो पहलू हैं–(१) एक है–विश्व के लिए त्रासरूप आसुरी शक्ति का पहलू, और (२) दूसरा है–विश्व के लिए आशीर्वादरूप दैवी शक्ति का पहलू। इन दोनों पहलुओं में से प्रथम को शास्त्रीय परिभाषा में पाप और दूसरे को पुण्य कहते हैं, अथवा सीधे शब्दों में क्रमशः अशुभ रस और शुभ रस कहते हैं।

समग्र विश्व का संचालक सत्ताधीश : कर्म-रसाणु

समग्र विश्व का संचालन आज इन्हीं अशुभ रसों (पाप-अध्यवसायों) और शुभ रसों (पुण्य-परिणामों–अध्यवसायों) के गणित के आधार पर चलता है। बार-बार प्रतिकूलता, विपत्ति, कष्ट, चिन्ता, त्रास, भय एवं निराधारता, पीड़ित एवं पददलित अवस्था इत्यादि अनिष्ट-संयोगरूप फलभोग, आत्मप्रदेशों पर चिपटे हुए पापकर्म के अशुभ रसाणुओं के अशुभ प्रभाव का फल (परिणाम) है। जबकि अनुकूलता, निश्चिन्तता, निर्भयता, सम्पन्नता, स्वस्थता, सुख-शान्ति, आश्वासन-प्राप्ति आदि

१. रसबंधो, पीठिका (विषय परिचय) से भावग्रहण, पृ. १७

पुण्यकर्म के शुभ रसाणुओं के शुभ प्रभाव का फल है। इस प्रकार पुण्य और पाप को दो आँखों के इशारे से विश्व का समग्र तंत्र चलाने वाला शुभाशुभकर्म-रस संसारी जीवों के लिए आध्यात्मिक सत्ताधीश बना हुआ है।

समग्र विश्व की गतिविधि कर्म-रसाणुओं पर निर्भर

हम जो कुछ भी मन से सोचते हैं, वचन से शब्दोच्चारण करते हैं, अथवा काया से जो चेष्टा, आचरण या प्रवृत्ति करते हैं, उनके पीछे भी इन कार्मिक रसाणुओं की जादुई करामात है। चक्रवर्ती हो, चाहे इन्द्र जैसा भौतिक शक्तियों का प्रतिनिधि हो, अथवा अडोल पर्वत शिखर को हिला देने में शक्तिमान् बलिष्ठ व्यक्ति हो, या अगाध, अथाह महासागर को भी भुजबल से तैर कर पार करने में समर्थ हो, अथवा अनन्त आकाश में पक्षियों की तरह स्वेच्छा से विहार करने में पारंगत हो, परन्तु आखिरकार तो ये सब अतिसूक्ष्म प्रबल कार्मिक रसाणुओं की ही तुच्छ उत्पादन रूप है। इस जीवसृष्टि में ऐसा कोई भी संसारी प्राणी नहीं है, जिस पर कार्मिक रसाणुओं की विपाक (फलदान) शक्तिरूप परछाईं न पड़ी हो। जल में रहने वाला लघुतम जलजन्तु हो, अथवा महाकाय मगरमच्छ हो, स्थल पर चलने वाली लघुकाय चींटी हो या हिमालय जैसा ऊँचा कद्दावर हाथी हो, अथवा निरक्षर-भट्टाचार्य अपढ़ ग्रामीण हो या कोई प्रखरबुद्धि सम्पन्न वैज्ञानिक हो, गगन-विहारी कोई पक्षी हो या विमानचारी आकाशविहारी अवकाशयात्री हो; छोटे-बड़े सभी जीवों में कार्मिक रसाणुओं की गणितात्मक व्यवस्था सदैव काम करती है। कर्म रसाणुओं के बिना सांसारिक कषाय-युक्त प्राणी की कोई भी गति-प्रगति या अगति-अधोगति नहीं हो सकती।[1]

अनुभाव (रस) बन्ध ही आत्मा के साथ कर्म का खास बन्ध

जीव और कर्म दो स्वतंत्र द्रव्य हैं। जीव (आत्मा) अमूर्त है—स्पर्शगुण से रहित है, और कर्म-पुद्गल मूर्त है—स्पर्शगुणयुक्त है। प्रश्न होता है कि पुद्गल में तो स्पर्शगुण होता है, इसलिए उसका अन्य स्पर्शगुण युक्त पुद्गलद्रव्य के साथ द्रव्य बन्ध हो जाता है, किन्तु जीवद्रव्य में स्पर्शगुण का अभाव होने से बन्ध कैसे हो सकता है? जब इन दोनों का बन्ध ही नहीं हो सकता, तब अनुभागबन्ध या रसबन्ध के होने का प्रश्न ही नहीं होता। इस प्रश्न का समाधान आचार्यों ने किया है कि 'रत्तोबंधदि कम्मं'—रागद्वेष के कारण जीव कर्मबन्ध को प्राप्त होता है। यह समाधान प्राथमिक दृष्टि से तो ठीक है, परन्तु फिर भी यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि स्पर्शगुण के अभाव में जीव के साथ स्पर्शवान् कर्मपुद्गल का बन्ध हो कैसे जाता है? यदि कहें कि पुद्गल का पुद्गल के साथ बन्ध होता है, और जीव उसमें अनुप्रविष्ट रहता है, तब फिर प्रश्न होता है कि जीव पुद्गल में अनुप्रविष्ट क्यों हुआ? पुद्गल के स्थानान्तरित होने पर जीव उसका अनुगमन क्यों करता है? इसका समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं—जीव

---

१. रसबन्धो, (पीठिका) से (मुनि जयशेखरविजयजी) ई१ पृ. १७-१८

और पुद्गल (कर्मादि) का सम्बन्ध अनादिकाल से हो रहा है। इस बन्ध का मुख्य कारण जीव की अपनी कमजोरी है। कर्म के निमित्त से जीव में योग और कषायरूप परिणमन होता है, इस कारण जीव के साथ कर्म बन्ध को प्राप्त होता है। यद्यपि जीव (शुद्ध आत्मा) में स्पर्श गुण नहीं है, फिर भी जीव में विद्यमान कषायरूप परिणाम स्पर्शगुण का ही कार्य करता है। जिस प्रकार पुद्गल में स्पर्शगुण के कारण उसका अन्य पुद्गल द्रव्य के साथ बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव में योग और कषायरूप परिणाम (स्पर्शगुणवत्कार्यकारी) होने के कारण उसका कर्म और नोकर्म के साथ बन्ध होता है। किन्तु जीव का यह योग और कषायरूप परिणाम स्वाभाविक नहीं, नैमित्तिक है। जब तक इस प्रकार के निमित्त (कषायादि विभावों) का सद्भाव रहता है, तभी तक यह बन्ध-प्रक्रिया चलती है, इसके अभाव में (ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान में कषाय का सद्भाव न होने से) (अनुभाग) बन्ध-प्रक्रिया नहीं चलती। निष्कर्ष यह है कि जीव का कषायरूप परिणाम और कर्मपुद्गल का स्पर्शगुण मुख्यतया बन्ध का प्रयोजक है। इन्हीं दोनों के आधार से अनुभागबन्ध या रसबन्ध का विचार किया गया है और रसबन्ध या अनुभागबन्ध का अस्तित्व इसी से सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जीव में जिस मात्रा में कषायाध्यवसाय-स्थान होता है, उसी मात्रा में जीव के साथ अनुभाग (रस) बन्ध होता है।[1]

केवल प्रकृति-प्रदेशबन्ध से काम नहीं चलता

योग के निमित्त से गुणस्थानों के अनुसार यथासम्भव ज्ञानावरणीयादि मूल प्रकृतियाँ तथा उनकी उत्तरप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध होता है, किन्तु स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध जीव के कषाय और कर्मवर्गणाओं के स्पर्श से होते हैं। प्रकृति और प्रदेश से सामान्य बन्ध होता है, जिसमें स्थिति और रस नहीं बनता। कषाय युक्त अध्यवसाय के कारण ही न्यूनाधिक (फलदान) शक्ति का निर्माण होता है। इसी न्यूनाधिक (फलदान) शक्ति को रसबन्ध या अनुभागबन्ध कहा जाता है।[2]

मुख्य फलदानशक्ति का नियामक अनुभागबन्ध है, प्रकृतिबन्ध नहीं

यद्यपि प्रत्येक कर्म में उसकी प्रकृति के अनुसार अनुभागशक्ति पड़ती है। इस कारण हम प्रकृतिबन्ध को सामान्य अनुभाग और रसबन्ध को विशेष अनुभाग कह सकते हैं। यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के मतिज्ञानावरणीय आदि विशेष ही हैं, फिर भी अपनी-अपनी फलदान-शक्ति की तारतम्य की अपेक्षा से वे सामान्य ही हैं। अर्थात्–प्रकृतिबन्ध में ज्ञानादि को आवृत्त करने की सामान्य शक्ति होती है, किन्तु यह शक्ति कहाँ, किस कर्म में, किस प्रकार के तीव्र-मन्दादि रस के कारण कितनी प्राप्त

१. महाबंधो भा. ६ की प्रस्तावना से, पृ. १५.
२. (क) वही, भावांशग्रहण.
(ख) रसबंधो (विषय परिचय) से, पृ. २१

होती है या हुई है? इस प्रकार की विशेषता रस (अनुभाग) बन्ध से ही प्राप्त होती है, प्रकृतिबन्ध से नहीं। जीव कर्मों के ग्रहण या आकर्षण करने के उत्तरकाल में या प्रदेशबन्ध या प्रकृतिबन्ध के उत्तरकाल में स्वकृतकर्मों का फल शुभरूप में भोगेगा या अशुभरूप में, अर्थात्–उदयकाल में जीव जो शुभाशुभ कर्मों का फल भोगेगा, उसमें मुख्य फलदानशक्ति का मुख्य नियामक कारण अनुभाग (रस) बन्ध ही है। और अनुभाग (रस) बन्ध का मुख्य कारण कषाय हैं।[1] अनुभाग का अर्थ ही है–फलदान-शक्ति।

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कार्य और दोनों में अन्तर

यद्यपि कर्मबन्ध के मिथ्यात्व आदि सर्व कारणों में कषाय प्रमुख कारण है। कषाय से स्थिति (कालमर्यादा) और रस दोनों का निर्माण होता है। विशिष्ट कर्मबन्ध में स्थितिबन्ध और रसबन्ध की मुख्यता कही जा सकती है। इस अपेक्षा से साधारणतया जीव में कषाय-परिणति और कार्मणवर्गणा के स्पर्श-गुण के कारण विशिष्ट बन्ध को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–स्थिति-बन्ध और अनुभाग (रस) बन्ध। परन्तु स्थितिबन्ध में विवक्षित (किसी नियत) कर्म का सम्बन्ध जीव के साथ कितने काल तक रहता है, इसका विचार किया जाता है, जबकि रस (अनुभाग) बन्ध में विपाक (फलभोग) के समय वह कर्म जीव को कितनी मात्रा में अर्थात्–कितने तीव्ररूप में या मन्दरूप में फल देता है, तथा उसका जीव के ज्ञानादि गुणों पर कैसा असर होता है; अथवा जीव के साथ जिस कर्म का बन्ध होता है, वह विघटन (फल भोगने) के समय जीव में कितनी मात्रा में और किस प्रकार की (सुखद-दुःखद) क्रिया के (अनुभव-वेदन) होने में सहायक होता है; इसका विचार किया जाता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए टाइम बम (Time bomb) का उदाहरण उपयुक्त होगा। टाइम बम में दो बातें मुख्यतया देखी जाती हैं–(१) नियत समय (अमुक काल) में उसका विस्फोटन होगा और (२) विस्फोट के समय अमुक मात्रा में आन्दोलन (हलचल) उत्पन्न करना। अर्थात्–उसकी संहारक शक्ति कितनी है? इसे दृष्टिगोचर करना। ठीक ये दोनों बातें कर्मों के पूर्वोक्त दोनों प्रकार के बन्धों पर घटित होती हैं। स्थितिबन्ध बताता है कि कर्म कितने काल के पश्चात्–अमुक नियत समय पर आत्मा से अलग होगा, और जिस समय कर्म आत्मा से अलग होगा, उस समय किस विशिष्ट प्रकार की नियतमात्रा में हलचल (कम्पन) उत्पन्न करके आत्मा से अलग होगा, यह कार्य अनुभाग (रस) बन्ध करता है। शास्त्रकारों ने इस प्रकार की हलचल को 'उदय' या 'उदीरणा' शब्द से प्रतिपादित किया है–कर्मों का उदय या उदीरणा अनुभाग (रस)

१. (क) महाबंधो भा. ६ की प्रस्तावना से, पृ. १५
(ख) रसबंधो (विषय परिचय) से पृ. २२

बन्ध के अधीन है। वस्तुतः विशिष्ट कर्मबन्ध में इस (अनुभाग) बन्ध के आधार से ही प्रायः स्थिति का बन्ध होता है। अतः प्राधान्य रसबन्ध का है।[1]

रस, अनुभाग, अनुभाव, अनुभव आदि एकार्थक हैं

अभिधान राजेन्द्र कोष में अनुभाग, रस, अनुभाव को एकार्थक कहा है। कर्मग्रन्थ में रस को अनुभाग कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में विपाक (फलभोग) को अनुभाव कहा है। प्रज्ञापनासूत्र[2] में प्रत्येक कर्म की मूल-उत्तर-प्रकृतियों के अनुभावों का विस्तृत निरूपण किया है। कर्मविज्ञान के द्वितीय भाग में हमने इस सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डाला है। अनुभाग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी कर्मग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है—"अनु अर्थात्—पश्चात—बन्ध के उत्तरकाल में, भजन यानी सेवन अनुभजन है। अनुभजन ही अनुभाग है।" स्थानांग वृत्ति में कर्मों के उदय अथवा तीव्र-मन्दादि रस को अनुभाग कहा है। सूत्रकृतांग में कर्मों के विपाक को भी अनुभाग या रस कहा है।[3]

मूलप्रकृति-अनुभागबन्ध और उत्तर-प्रकृति-अनुभागबन्ध

ऐसा अनुभागबन्ध की अपेक्षा दो प्रकार का है—मूल-प्रकृति-अनुभागबन्ध और उत्तरप्रकृति-अनुभागबन्ध। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। बन्ध के समय इन्हें जो अनुभाग प्राप्त होता है, उसे मूल प्रकृति अनुभाग कहते हैं तथा बन्ध के समय उत्तर-प्रकृतियों को जो अनुभाग प्राप्त होता है, उसे उत्तर-प्रकृति अनुभाग-बन्ध कहते हैं।

अनुभागबन्ध—रसबन्ध का कार्य

जीव को कर्मबन्ध के उत्तरकाल में शुभ या अशुभ-पुण्य या पाप कर्मों का फल किस-किस तीव्र-मन्द-मध्यम रूप से भोगना है, इसका दारोमदार मुख्यतया उस रसबन्ध या अनुभागबन्ध पर है; रसबन्ध ही यानी जीव के द्वारा बांधा हुआ शुभाशुभ रस ही, उसे शुभाशुभ फल (उदय में आने पर) भुगवाता है। रसबन्ध या अनुभागबन्ध का मूल कारण कषाय है। यों तो कर्मबन्ध के मुख्यतया दो (राग-द्वेष) या मिथ्यात्वादि

---

१. (क) महाबंधो भा. ६ की प्रस्तावना से, पृ. १५-१६
   (ख) रसबंधो (विषय परिचय) से, पृ. २१-२३

२. प्रज्ञापना पद २३

३. (क) अनुभागः रसः अनुभाव इति पर्यायाः । —अभिधान रा. कोष भा. १ पृ. ३९३
   (ख) अनुभागो रसः प्रोक्तः प्रदेशो दल-संचयः । —कर्मग्रन्थ भा. ५ वृत्ति
   (ग) कर्मणां विपाके । —सूत्रकृतांग श्रु. १,५ अ. १ उ.
   (घ) उदये रसे च । —स्थानांग स्थान ७ वृत्ति
   (ङ) तीव्रादि भेदेरसे । कर्मग्रन्थ
   (च) अनु-पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भजनं अनुभागः । —कर्मग्रन्थ भा. ६

पांच कारण बताए हैं, परन्तु उन सबमें मुख्य कारण कषाय ही है। जो रसबन्ध का मुख्य कारण है।[1]

स्वाभाविक रस और कषाय-परिणत रस में अन्तर

यद्यपि कार्मणवर्गणा के पुद्गलों में स्वाभाविक रस है, परन्तु वह बहुत अल्प है, वह जीव पर अनुग्रह या उपघात करने में असमर्थ है, परन्तु कषाय से परिणत हुआ प्राणी प्रत्येक कर्मांशु में अनन्तगुना रस उत्पन्न करता है, और वही जीव पर अनुग्रह या उपघात करने में समर्थ है।

रसबन्ध का लक्षण

इसलिए रसबन्ध का लक्षण किया गया है–ग्रहण या आकर्षित किये जाते हुए कर्मपुद्गलों में ज्ञानादि गुणों को रोकने के उस-उस स्वभाव के अनुसार जीव पर अनुग्रह या उपघात करने का सामर्थ्य निश्चित होता है, वह रसबन्ध है। अर्थात्–बन्ध को प्राप्त कर्मपुद्गलों में फल देने की शक्ति का जिससे निश्चय होता है, उसे रसबन्ध कहते हैं।

अनुभागबन्ध का स्वरूप

तत्त्वार्थसूत्र में अनुभागबन्ध का लक्षण इस प्रकार है–विपाक अर्थात्–विविध प्रकार के पाक यानी फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभाव–अनुभाग है। वह जिस कर्म का जैसा नाम है, उसके अनुरूप होता है। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–उस-उस कर्म के रस-विशेष को अनुभव (अनुभाग) कहते हैं। तथा कर्मपुद्गलों के पृथक्-पृथक् स्वगत-सामर्थ्य-विशेष को भी अनुभाग कहते हैं।[2] 'कषाय पाहुड' में कहा गया है–कर्मों के अपने-अपने कार्य करने (फल देने) की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। नियमसार के अनुसार–शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दुःखरूप फल देने की शक्ति वाला बन्ध अनुभागबन्ध है। मूलाचार में कहा है–ज्ञानावरणीयादि कर्मों का जो कषायादि-परिणामजनित शुभ अथवा अशुभ रस है, वह अनुभागबन्ध है।[3]

---

१. (क) रसबंधो (पीठिका) से भावग्रहण, पृ. २२
   (ख) महाबंधो भा. ६ (अनुभागबन्धप्ररूपणा) से, पृ. १५
२. (क) विपाकोऽनुभावः, स यथानाम । –तत्त्वार्थ ८/२१, २२
   (ख) तद्रस-विशेषोऽनुभवः । –सर्वार्थसिद्धि ८/३/३७९
   (ग) कम्माणं रस-कज्ज-करण-सत्ती अणुभागो नाम । –कषायप्राभृत ५/४/२३/१
३. (क) शुभाशुभ कर्मणां निर्जरा-समये सुख-दुःख-फलदान-शक्ति युक्तो ह्यनुभागबन्धः ।
   –नियमसार ता. वृ. ४०
   (ख) कम्माणं जोदु रसो अज्झवसाण-जणिदो सुह असुहो वा बंधो सो अणुभागो ..... ।
   –मूलाचार १२४०

एक ही प्रकार के कर्मपरमाणु भिन्न भिन्न रस वाले कैसे हो जाते हैं ?

आशय यह है कि जीव के साथ बँधने से पहले कर्म-परमाणुओं में उस प्रकार का विशिष्ट रस (फलजनक शक्ति) नहीं रहता, उस समय वे प्रायः नीरस और एकरूप रहते हैं, किन्तु जब वे जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब ग्रहण करने के समय में ही जीव के कषायरूप परिणामों का निमित्त पाकर उनमें अनन्तगुणा रस पड़ जाता है, जो जीव के गुणों का घात आदि तथा उन पर अनुग्रह आदि करता है; उसे ही रसबन्ध कहते हैं। जैसे-सूखा घास नीरस होता है, लेकिन ऊंटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट में पहुँचकर वह दूध (क्षीररस) के रूप में परिणत हो जाता है तथा उनके उस क्षीररस चिकनाई में की न्यूनाधिकता देखी जाती है। अर्थात्-उसी सूखे घास को खाकर ऊंटनी खूब गाढ़ा दूध देती है, जिसमें चिकनाई बहुत अधिक रहती है। भैंस के दूध में उससे कम गाढ़ापन और चिकनाई रहती है। गाय के दूध में उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई होती है, किन्तु बकरी के दूध में गाय के दूध से भी कम गाढ़ापन और चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक ही प्रकार का घास भिन्न-भिन्न पशुओं के पेट में जाकर भिन्न-भिन्न रसरूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म-परमाणु भिन्न-भिन्न (तीव्र-मन्दादि) कषाय-रूप परमाणुओं का निमित्त पाकर भिन्न-भिन्न (शुभ-अशुभ-तीव्रमन्दादि) रस वाले हो जाते हैं। जो आगे चलकर उनमें उसी प्रकार से जीव को फल-प्रदान करने की शक्ति पैदा हो जाती है। इसी का नाम रसबन्ध या अनुभागबन्ध है।[1]

अनुभागबन्धों के दो प्रकार : तीव्र और मन्द

जैसे ऊँटनी के दूध में अधिक शक्ति होती है, भैंस और गाय के दूध में उससे उत्तरोत्तर कम शक्ति होती है, और बकरी के दूध में उन तीनों से भी कम शक्ति होती है। इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रकृतियों का अनुभाग (फलदानशक्ति) तीव्र भी होता है, मन्द भी। इस दृष्टि से अनुभागबन्ध के दो प्रकार होते हैं-तीव्र अनुभागबन्ध और मन्द अनुभागबन्ध। ये दोनों प्रकार के अनुभाग बन्ध शुभ प्रकृतियों में भी होते हैं और अशुभ प्रकृतियों में भी।[2]

तीव्र और मन्द अनुभागबन्ध के कारण

इसीलिए कर्मग्रन्थकार शुभ और अशुभ प्रकृतियों के तीव्र और मन्द अनुभागबन्ध के कारण बतलाते हुए कहते हैं-संक्लेश-परिणामों से अशुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभागबन्ध होता है, तथा शुभभावों से शुभप्रकृतियों में तीव्र अनुभागबन्ध होता है।

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. २२६
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (रसबन्धाधिकार) (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १७०-१७१

२. वही, पृ. १७१

इसी प्रकार शुभभावों से अशुभ-प्रकृतियों में मन्द अनुभागबन्ध होता है और संक्लेशभावों से शुभ प्रकृतियों में मन्द अनुभागबन्ध होता है।[1]

रसबन्ध : रसाणुओं का, अर्थात्–फलदानशक्ति-अंशों का बन्ध

रसबन्ध का एक अर्थ है–विभिन्न रसाणुओं का बन्ध। इसे यों समझा जा सकता है। जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य के सबसे छोटे अंश को परमाणु कहते हैं, उसी प्रकार शक्ति के सबसे छोटे अंश को रसाणु कहते हैं। कर्मविज्ञान के सन्दर्भ में रस का अर्थ–खट्टे, मीठे आदि पांच प्रकार के रस से नहीं है; किन्तु अनुभागबन्ध या रसबन्ध का वर्णन करते हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल में जो मधुर, कटु अथवा तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, अत्यन्त तीव्र, मधुर तथा कटुफल का जो व्यवहार किया जाता है, उस रस से है। यह रस वैसे तो प्रत्येक पुद्गल में पाया जाता है। किन्तु कर्मपुद्गलों का फलरूप रस दूसरा ही है। जैसे–पुद्गलद्रव्य के स्कन्धों के टुकड़े किये जा सकते हैं, वैसे उसके अंदर रहने वाले गुणों या शक्ति-विशेष के टुकड़े नहीं किये जा सकते। फिर भी वर्तमान में विकसित भौतिक विज्ञान के प्रयोग द्वारा विभिन्न रसायनों, औषधियों आदि में तथा अन्यान्य पदार्थों में गुणों तथा शक्ति की न्यूनाधिकता को सहज ही जान लिया जाता है। विभिन्न यंत्रों और मशीनों में ५, १०, २० आदि हॉर्स पावर (अश्वशक्तितुल्य) आदि के रूप में शक्ति का माप ले लिया जाता है। उदाहरणार्थ–यदि हलवाई के सामने गाय, भैंस और बकरी का दूध रखा जाए तो वह उसकी परीक्षा करके तुरंत कह देता है कि इस दूध में चिकनाई अधिक है, इसमें कम है। चिकनाई के टुकड़े नहीं किये जा सकते, क्योंकि वह एक गुण है; मगर विभिन्न मापकयंत्रों द्वारा आसानी से व्यक्ति विभिन्न वस्तुओं के गुणों या शक्तियों की तरतमता को जान सकता है। वह तरतमता ही यह बतलाती है कि शक्ति या गुणवत्ता के भी विभिन्न अंश होते हैं। वर्तमान युग के वैज्ञानिकों ने यह खोज निकाला है कि किस खाद्य या पेय वस्तु में कितनी अधिक जीवनदायिनी शक्ति (विटामिन) है, और वह कौन-सी है और किस वस्तु में कौन-सी और कितनी कम है? विज्ञानविदों की इस प्रकार की खोजों का परिणाम आये दिन समाचार-पत्रों में प्रकाशित होता रहता है। उनके द्वारा प्रकाशित चार्ट (तालिका) में लिखा रहता है–बादाम में प्रतिशत इतनी जीवनी शक्ति है, दूध में इतनी है, अमुक दाल में, अमुक पत्तीवाली भाजी में इतनी है, इत्यादि। विभिन्न खाद्य पदार्थों में यह जो अमुक-अमुक अंश में इतनी-इतनी मात्रा में जीवनीशक्ति विद्यमान है; इससे यह सिद्ध होता है कि शक्ति या गुणवत्ता के भी अंश हो सकते हैं। इन्हें ही कर्म के सन्दर्भ में हम रस के अंश कह सकते हैं, इस अपेक्षा से रस शब्द से यहाँ फलदायिनी शक्ति ही इष्ट और विवक्षित है। ये रस के अंश ही 'रसाणु' कहे जाते हैं। सबसे जघन्य रस वाले पुद्गल द्रव्य में भी जीवराशि से अनन्तगुणे रसाणु पाये जाते

---

१. तिव्वो असुह सुहाणं सकेस-विसोहिउ विवज्जयउ, मंदरसो ..... ।

–कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ६३

हैं। इस अपेक्षा से कर्मस्कन्ध भी समस्त जीवराशि से अनन्तगुणे रसाणुओं से युक्त होता है। ये रसाणु भी जीव के तीव्र-मन्द शुभाशुभ भावों का निमित्त पाकर मधुरफलदायक या कटुफलदायक शक्ति में परिणत होते हैं, और उदय में आने पर फल देते हैं। 'पंचसंग्रह' में रसाणु को गुणाणु या भावाणु भी कहा गया है। पांच शरीरों के योग्य परमाणुओं की रसशक्ति का बुद्धि द्वारा खण्ड करने पर जो अविभागी एक अंश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं।[1]

कर्मपुद्गलों में सर्वजीवों से अनन्तगुणे भावाणु या रसाणु

अनुभाग (रस) के कारण जीव के कषायोदयरूप परिणाम दो प्रकार के होते हैं—एक शुभ और दूसरे अशुभ। शुभ परिणाम असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर होते हैं और अशुभ परिणाम भी उतने ही होते हैं। एक-एक परिणाम द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों में सर्वजीवों से अनन्तगुणे भावाणु या रसाणु होते हैं।[2]

अशुभ-प्रकृतियों का अनुभाग नीम्बरस और शुभप्रकृतियों का इक्षुरस के समान

अनुभाग या रस दो प्रकार का होता है—तीव्र और मन्द। ये दोनों ही प्रकार का अनुभाग अशुभप्रकृतियों में भी होता है और शुभप्रकृतियों में भी। अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को नीम आदि वनस्पतियों के कटुरस की उपमा दी जाती है। आशय यह है कि जैसे नीम का रस कडुआ होता है, वैसे ही अशुभ-प्रकृतियों का रस भी बुरा समझा जाता है, क्योंकि अशुभ प्रकृतियाँ अशुभ फल ही देती हैं। तथैव शुभप्रकृतियों के अनुभाग (रस) को ईख के रस की उपमा दी जाती है। जैसे ईख का रस मधुर और स्वादिष्ट होता है, वैसे ही शुभप्रकृतियों का रस भी सुखदायक होता है।[3]

द्विविध प्रकृतियों के तीव्र और मन्द रस की चार-चार अवस्थाएँ

शुभ और अशुभ इन दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों के तीव्र और मन्द रस की प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ होती हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) तीव्र, (२) तीव्रतर, (३) तीव्रतम और (४) अत्यन्त तीव्र; तथा (१) मन्द, (२) मन्दतर, (३) मन्दतम और (४) अत्यन्त मन्द।

अशुभ और शुभ प्रकृतियों की तीव्र रस की चार-चार अवस्थाएँ

यद्यपि कषायों की तीव्रता-मन्दता को लेकर प्रत्येक कर्म की असंख्य डिग्रियाँ होने से तीव्र-मन्द-रस के असंख्य प्रकार हो सकते हैं; किन्तु उन सबका समावेश इन

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. २२०-२२१
(ख) पंचण्ह सरीराणं परमाणूणं भईए अविभागो ।
कप्पियगाणेगंसो गुणाणु भावाणु वा होंति ॥ —पंचसंग्रह गा. ४१७

२. जीवस्सज्झवसाणा, सुभासुभासंखलोकपरिमाणा ।
सव्व-जीवाणंतगुणा एक्केक्के होंति भावगुणा ॥ —पंचसंग्रह गा. ४३६

३. (क) पंचम कर्मग्रन्थ (मरुधरकेसरी) से, पृ. २२७
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १७२

चार-चार स्थानों में हो जाता है। इन दोनों प्रकार के अनुभाग बन्धों की चार-चार अवस्थाओं को इस प्रकार समझाया गया है–नीम से तुरंत निकाला हुआ रस कडुआ होता है। फिर उस रस को अग्नि पर पकाया जाता है तो वह कटुकतर हो जाता है। वह सेर का आधा सेर रह जाता है। तथा वही रस और अधिक उबालने से सेर का तिहाई रह जाता है, इसलिए वह रस कटुकतम हो जाता है। और सेर का पावभर रहने पर वह रस अत्यन्त कटुक हो जाता है। इसी प्रकार अशुभ प्रकृतियों का तीव्र रस (अनुभाग) भी चार प्रकार का हो जाता है–तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र।

अशुभ और शुभ प्रकृतियों के मंद रस की चार-चार अवस्थाएँ

इसी प्रकार ईख को पेरने से जो रस निकलता है, वह स्वभाव से ही मधुर और स्वादिष्ट होता है। उस रस को आग पर पकाने पर जब वह सेर का आध सेर रह जाता है तो मधुरतर हो जाता है। फिर सेर का तिहाई रहने पर मधुरतम हो जाता है, और सेर का पावभर रहने पर अत्यन्त मधुर हो जाता है। इसी प्रकार शुभप्रकृतियों का तीव्ररस भी चार प्रकार का हो जाता है–तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र। इसी प्रकार उस कटुक या मधुर रस में एक चुल्लू भर पानी डाल देने से वह मन्द हो जाता है, उसी में एक गिलासभर पानी डाल देने से वह मन्दतर हो जाता है, फिर एक लोटाभर पानी डाल देने से वह मन्दतम हो जाता है, तथा घड़ाभर पानी डाल देने से वह अत्यन्त मन्द हो जाता है। इसी प्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियों का मन्दरस भी क्रमशः मन्द, मन्दतर, मन्दतम और अत्यन्त मन्द, यों चार प्रकार का हो जाता है।[1]

रस के तीव्रमन्द-बन्ध का कारण कषाय की तीव्रता-मन्दता

इस प्रकार की तीव्रता और मन्दता का कारण कषाय की तीव्रता और मन्दता है। तीव्रकषाय से अशुभप्रकृतियों में तीव्र और शुभ प्रकृतियों में मन्द अनुभाग (रस) बन्ध होता है। तथा मन्द कषाय से अशुभ प्रकृतियों में मन्द और शुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग (रस) बन्ध होता है।[2]

शुभाशुभ कर्मप्रकृतियों की तीव्रादि तथा मंदादि अवस्थाएँ

इसी तथ्य को दूसरी तरह स्पष्ट रूप से समझाया गया है–संक्लेश-परिणामों की वृद्धि, और विशुद्ध परिणामों की हानि होने से, तीव्र कषायोदय से बयासी प्रकार की अशुभकर्म (पाप) प्रकृतियों का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त उत्कृष्ट–तीव्र

---

१. (क) पंचम कर्मग्रन्थ (मरुधरकेसरी) से पृ. २२७
(ख) पंचम कर्मग्रन्थ (प. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १७२

२. (क) कर्मग्रन्थ (मरुधरकेसरी) भा. ५ से पृ. २२८
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १७२

अनुभाग (रस) बन्ध होता है। अर्थात्–समस्त अशुभ प्रकृतियों के बन्ध-कर्त्ता-प्राणियों में से जो जो उत्कृष्ट संक्लेश-तीव्र कषाय वाला प्राणी है, उसमें संक्लेश परिणामों की वृद्धि और विशुद्ध परिणामों की हानि होने से, वह-वह यथायोग्य तीव्रादि रस का बन्ध करता है। इसी तरह पूर्वोक्त प्रकार संक्लेश परिणामों की वृद्धि और विशुद्ध परिणामों की हानि से बयालीस शुभ प्रकृतियों का क्रमशः मन्द, मन्दतर, मन्दतम एवं अत्यन्त मन्द अनुभाग (रस) बन्ध होता है। इसी प्रकार संक्लेश परिणामों की मन्दता और विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होने से ४२ पुण्य (शुभ) प्रकृतियों का तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अत्यन्त तीव्र अनुभाग (रस) बन्ध होता है, तथैव बयासी पाप प्रकृतियों का मन्द, मन्दतर, मन्दतम एवं अत्यन्त मन्द अनुभाग (रस) बन्ध होता है।

यद्यपि रस (अनुभाग) के असंख्य प्रकार हैं, और एक-एक कर्म के रस के असंख्य-असंख्य प्रकार होते हुए भी उन सबका समावेश पूर्वोक्त चार प्रकारों अथवा स्थानों में हो जाता है।[1]

रसबन्ध के चारों प्रकारों के चार स्थान : दृष्टान्त द्वारा सिद्ध

इन चारों प्रकारों को क्रमशः एकस्थानिक (एकठाणिया), द्विस्थानिक (दो ठाणिया), त्रिस्थानिक (तीन ठाणिया) और चतुःस्थानिक (चार ठाणिया) कहा जाता है। एकस्थानिक से तीव्र या मन्द का, द्विस्थानिक से तीव्रतर या मन्दतर का, त्रिस्थानिक से तीव्रतम या मन्दतम का और चतुःस्थानिक से अत्यन्त तीव्र या अत्यन्त मन्द का ग्रहण करना चाहिए। इन चारों को इस प्रकार समझिए–जैसे–शक्कर की चासनी एक तार की, दो तार की, तीन चार की और चार तार की बनाई जाती है, वैसे ही एकठाणिया रस एक तार की चासनी के समान, दो ठाणिया दो तार की, तीन ठाणिया तीन तार की और चार ठाणिया चार तार की चासनी के समान समझना चाहिए। अर्थात्–इन्हें क्रमशः अत्यन्त तरल, कुछ गाढ़, अधिक गाढ़ और अत्यन्त गाढ़ चासनी के तुल्य जानना चाहिए।[2]

रसबन्ध : इक्षुरस या निम्बरस के दृष्टान्त से एक ठाणिया से लेकर चार ठाणिया तक

दूसरे प्रकार से समझिए–ईख या नीम के स्वाभाविक ताजा रस के समान एकठाणिया रसबन्ध (तीव्र या मन्द) होता है, ईख या नीम का रस उबालने पर जब गाढ़ा होकर आधा रह जाता है, तब वह कर्म का दो ठाणिया (तीव्रतर या मन्दतर) रसबन्ध होता है। इस रस में पहले वाले से अधिक मात्रा में फल देने की शक्ति होती

---

१. (क) कर्मग्रन्थ, भाग ५ (पं. कैलाशचन्द्रजी) पृ. १७३
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ (मरुधर केशरी) पृ. २२७
   (ग) अभिधान राजेन्द्र कोष भा. १ पृ. ३१३
२. रे कर्म ! तेरी गति न्यारी, से पृ. ५५-५६

है। ईख या नीम को खूब उबालने पर रस का जो १/३ (एक तिहाई) भाग रह जाता है, उसी तरह कर्म का तीन ठाणिया रसबन्ध होता है। इसमें दो ठाणिया से कई गुना अधिक फल देने की शक्ति होती है। ईख या नीम के रस को कड़ाही में अत्यन्त ताप देकर उबालने पर जो १/४ (एक चौथाई) अत्यन्त गाढ़ा रस बचता है, उसे चार ठाणिया (चतुःस्थानिक) रस कहते हैं। कर्म का भी जब ऐसा अत्यन्त गाढ़ सम्बन्ध होता है, तब उसे चार ठाणिया रसबन्ध–अर्थात्–अत्यन्त तीव्र या अत्यन्त मन्द अनुभागबन्ध कहते हैं। इसमें सबसे अधिक फल देने की शक्ति होती है।[1]

इसे दूसरी तरह से समझिये–एक वैद्य के पास सिरदर्द के चार रोगी आए। एक के हल्का-सा दर्द है। उसे एक गोली देने से ही सिरदर्द मिट गया। दूसरे रोगी का सिरदर्द उससे कुछ अधिक था। उसके निवारणार्थ वैद्य ने तेज पावर की गोली दी, जिससे रोगी की पीड़ा मिट गई। तीसरा रोगी कई दिनों से सिरदर्द से पीड़ित था। उसका दर्द बीच-बीच में कम हो जाता फिर बढ़ जाता। उसे वैद्य ने एक तेज दवा कई दिनों तक सेवन करने को दी। और चौथे रोगी को तो सिरदर्द इतना जटिल और हठीला था कि कितनी ही दवाइयाँ खाने पर भी रोग जाता नहीं था, उसे वैद्य ने अत्यन्त कड़वी दवा देकर लम्बे समय तक उपचार किया। इसी प्रकार एक ठाणिया से लेकर चार ठाणिया तक का रसबन्ध समझना चाहिए।[2]

रसबन्ध में कषाययुक्त लेश्या के कारण असंख्य-स्थान

रसबन्ध में कारणभूत रागादि-परिणाम (अध्यवसाय), कषायमोहनीय के उन-उन न्यूनाधिक रसोदय के संवेदन से, लेश्या से, ज्ञानावरणीयादि कर्म के उदय और योग आदि की विचित्रता से गर्भित एक प्रकार का आत्मा का परिणामरूप है। एक आचार्य ने कहा है–"कषाय के आधार से स्थितिबन्ध और लेश्या के आधार से रसबन्ध होता है।" वस्तुतः लेश्या के साथ दसवें गुणस्थान तक कषाय होता ही है। उसमें भी समान स्थिति असंख्य कषाय अध्यवसायों से बंधती है। एक अध्यवसाय में तरतमता वाले असंख्य लेश्यापरिणाम होते हैं। इसी कारण एक अध्यवसाय के अनुसार बंधने वाली कर्मस्थिति में लेश्या की तरतमता के कारण असंख्य रसबन्ध के स्थान हैं।

एक कषायोदय-स्थान में रहे हुए लेश्या के असंख्य-परिणामों को समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए–गहरे काले रंग (Dark Black) की अनेक वस्तुएँ होने पर भी एक के कालेपन में कुछ चमक (Light) अधिक है, दूसरे के कालेपन में उससे कुछ कम चमक है। यों तीव्र काला रंग भी अनेक तरतमताओं से युक्त दिखाई देता है। जैसे–एक सरीखे सफेद रंग के मोतियों में पानी (तेज) की अपेक्षा से अनेक तरतमताएँ जैसे जौहरी लोग परख लेते हैं, वैसे ही कषाययुक्त अध्यवसाय में भी

१. ये कर्म ! तेरी गतियारी से, पृ. ५६
२. वही, भावांशग्रहण, पृ. ५७

लेश्या परिणाम के कारण अनेक प्रकार की तरतमताएँ, जो रसबन्ध में कारण हैं, उन्हें केवलज्ञानी जान सकते हैं।[1]

अध्यवसाय के कारण हुए रसबंध के फलस्वरूप स्थिति और रस का निश्चय

इस प्रकार के अध्यवसाय के कारण बंधने वाले कर्म-रस का गणित ऐसा है कि संक्लेश (कषाय की चढ़ती मात्रा) जैसे-जैसे अधिक होगा, वैसे-वैसे अशुभकर्म की स्थिति लम्बी और रस तीव्र (उत्कृष्ट) बंधता है। तथैव शुभ प्रकृति की स्थिति लम्बी और रस मंद बंधता है। इसके विपरीत विशुद्धि (कषाय की उतरती मात्रा) जैसे-जैसे अधिक होगी, वैसे-वैसे शुभकर्म की स्थिति कम और रस तीव्र बंधेगा। अशुभकर्म की स्थिति और रस दोनों का कम बंध होगा। यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना है कि शुभ आयुष्य के सिवाय बाकी के शुभकर्मों की भी लम्बी (दीर्घकालिक) स्थिति अशुभ है, क्योंकि वह संक्लेश से बद्ध है।

शुभाशुभ कर्म के रस की अनन्त कक्षाएँ हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुषों ने अनन्त रसकक्षाओं का समावेश स्थूलरूप से पूर्वोक्त ४ कक्षाओं में ही कर दिया है। उन्हें ही अनुक्रम से एकस्थानिक रस, द्विस्थानिक रस, त्रिस्थानिक रस और चतुःस्थानिक रस कहते हैं।[2]

तीव्र और मन्द अनुभागबन्ध के चार-चार भेदों के कारणों का निर्देश

पहले यह बताया जा चुका है कि अनुभाग-बन्ध का कारण कषाय है। और कषायों की तरतमता के कारण तीव्र, तीव्रतर आदि तथा मंद, मन्दतर आदि चार-चार भेद अनुभागबन्ध के ही हैं। इन भेदों का कारण भी काषायिक परिणामों की अवस्थाएँ ही हैं। कषाय के चार भेद प्रसिद्ध हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमें से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ होती हैं। क्रोधकषाय की चार अवस्थाएं होती हैं, इसी प्रकार मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय की भी चार-चार अवस्थाएँ होती हैं। जिनके नाम क्रमशः अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय, प्रत्याख्यानावरण कषाय और संज्वलन कषाय हैं। शास्त्रकारों ने इन चारों ही प्रकार के कषायों के लिए चार उपमाएँ दी हैं। कर्मग्रन्थ आदि में जिनका उल्लेख किया गया है। अनन्तानुबन्धी कषाय को पर्वत की रेखा की उपमा दी गई है। जैसे—पर्वत में पड़ी दरार सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी नहीं मिटती, वैसे ही अनन्तानुबन्धी कषाय की वासना भी असंख्य भवों तक बनी रहती है। इस कषाय के उदय से जीव के परिणाम अत्यन्त संक्लिष्ट होते हैं और पाप प्रकृतियों का अत्यन्त तीव्ररूप चतुःस्थानिक अनुभागबन्ध करता है। किन्तु शुभप्रकृतियों में केवल मधुररसरूप द्विस्थानिक ही रसबन्ध करता है, क्योंकि शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता।

---

१. रसबंधो (पीठिका) से पृ. २४-२५
२. वही, पृ. २५

अप्रत्याख्यानावरण कषाय को पृथ्वी की रेखा की उपमा दी जाती है। जैसे–तालाब में पानी सूख जाने पर जमीन में दरारें पड़ जाती हैं। और वे दरारें समय पाकर पुर जाती हैं। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय होती है कि इस कषाय की वासना भी अपने समय पर शान्त हो जाती है। इस कषाय का उदय होने पर अशुभ प्रकृतियों में भी त्रिस्थानिक रसबन्ध होता है और शुभप्रकृतियों में त्रिस्थानिक रसबन्ध होता है। अर्थात्–कटुकतम और मधुरतम ही अनुभागबन्ध होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय को बालू या धूलि की लकीर की उपमा दी जाती है। जैसे–बालू में खींची हुई रेखा स्थायी नहीं होती, जल्दी ही पुर (मिट) जाती है। उसी तरह प्रत्याख्यानावरण कषाय की वासना को भी समझना चाहिए, कि वह भी अधिक समय तक नहीं रहती। इस कषाय का उदय होने पर पापप्रकृतियों में द्विस्थानिक अर्थात्–कटुकतर और पुण्यप्रकृतियों में त्रिस्थानिक रसबन्ध होता है।

संज्वलन कषाय की जल में खींची हुई रेखा (जलरेखा) से उपमा दी जाती है। जैसे–जल में खींची हुई रेखा खींचने के साथ ही तत्काल मिटती जाती है, वैसे ही संज्वलन-कषाय की वासना भी अन्तर्मुहूर्त में ही नष्ट हो जाती है। इस कषाय का उदय होने पर पुण्य-प्रकृतियों में चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है और पापप्रकृतियों में केवल एक-स्थानिक रसबन्ध होता है–अर्थात् कटुकरूप अनुभागबन्ध होता है।[1]

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय से अशुभ-प्रकृतियों में क्रमशः चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक रसबन्ध होता है, जबकि शुभ-प्रकृतियों में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है।

किस प्रकृति में, कितने प्रकार का रसबन्ध होता है और क्यों?

अनुभाग (रस) बन्ध के चारों प्रकारों के कारण चारों कषायों को बतलाकर अब आठ कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों में से किस प्रकृति में कितने प्रकार का रसबन्ध होता है? इसे कर्मग्रन्थ के अनुसार बता रहे हैं–

बन्ध योग्य कुल १२० प्रकृतियों में से ८२ अशुभ (पाप) प्रकृतियाँ और ४२ शुभ (पुण्य) प्रकृतियाँ हैं।[2] इन ८२ पाप-प्रकृतियों में से अन्तरायकर्म की ५,

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) पृ. १७४-१७५
(ख) "..... गिरि-महि-रय-जलरेहा-सरिस-कसाएहिं ॥६३॥
चउठाणाइ असुहा सुहत्रहा, विग्घदेस-घाइ-आवरणा ।
पुम-संजलणिग-दु-ति-चउ-ठाण-रसा-सेस दुगघाई ॥६४॥ –कर्मग्रन्थ भा. ५

२. वर्णचतुष्क (वर्णादि चार) पुण्य और पाप दोनों रूप होने से दोनों में ग्रहण किया जाता है। अतः जब उन्हें पुण्य-प्रकृतियों में ग्रहण करें तब पाप-प्रकृतियों में, और पाप-प्रकृतियों में ग्रहण करें तो पुण्य प्रकृतियों में नहीं ग्रहण करना चाहिए। –सं.

केवलज्ञानावरणीय को छोड़कर ज्ञानावरणीय कर्म की ४, केवलदर्शनावरणीय को छोड़कर दर्शनावरणीय कर्म की चक्षुदर्शनावरणीय आदि ३, संज्वलन कषाय चतुष्क और पुरुषवेद, इन १७ प्रकृतियों में एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक इन चारों ही प्रकार का रसबन्ध होता है, क्योंकि ये १७ प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं।[1]

घातिकर्मों की जो प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं, उनके तो सभी स्पर्धक सर्वघाती ही हैं; किन्तु देशघाती प्रकृतियों के कुछ स्पर्धक सर्वघाती और कुछ देशघाती होते हैं। जो स्पर्धक त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस वाले होते हैं, वे तो नियम से सर्वघाती होते हैं। किन्तु जो स्पर्धक द्विस्थानिक रस वाले होते हैं, वे देशघाती भी होते हैं, सर्वघाती भी, किन्तु एक-स्थानिक रस वाले स्पर्धक देशघाती ही होते हैं। यही कारण है कि इन १७ प्रकृतियों का एक, द्वि, त्रि और चतुःस्थानिक चारों प्रकार का रसबन्ध माना जाता है।

इन १७ पाप-प्रकृतियों के सिवाय शेष ६५ पाप प्रकृतियों में द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रसबन्ध होता है, मगर एक-स्थानिक रसबन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि शेष जो ६५ पापप्रकृतियाँ हैं, उनका नौवें गुणस्थान के संख्यात भाग के बीत जाने पर बन्ध नहीं होता; क्योंकि अशुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता।[2] कारण यह है कि अशुभ प्रकृतियों में एक-स्थानिक रसबन्ध नौवें गुणस्थान के संख्यातभाग बीत जाने पर ही होता है।

इन ६५ प्रकृतियों में केवल-ज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरण का भी समावेश है। लेकिन इन दोनों प्रकृतियों के बारे में यह समझना चाहिए कि इनका उक्त बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। मगर इनके सर्वघातिनी होने से इनमें एक स्थानिक रसबन्ध नहीं होता।[3]

शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक रसबन्ध क्यों नहीं ?

शेष ४२ जो पुण्यप्रकृतियाँ हैं, उनमें भी एक-स्थानिक रसबन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि जैसे ऊपर चढ़ने के लिए जितनी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं, उतरने के लिये भी उतनी ही सीढ़ियाँ उतरनी पड़ती हैं, वैसे ही संक्लिष्ट-परिणामी जीव जितने संक्लेश के स्थानों पर चढ़ता है, विशुद्ध भावों के होने पर उतने ही स्थानों से

---

१. आवरण-देसघादंतराय-संजलण-पुरिस-सत्तरसं ।
चदुविध-भाव-परिणदा, तिविधा भावा दु सेसाणं ॥ —गोम्मटसार, कर्मकाण्ड १८२

२. चउ-ति-ठाणरसाइं सव्व-विघाइणि होंति सेसाइं ।
दुठाणियाणि-मीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥ —पंचसंग्रह १४६

३. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन, (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १७६
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन, (मरुधरकेसरीजी) से पृ. २३१, २३२

उतरना भी होता है। तथा उपशम श्रेणी चढ़ते समय जितने विशुद्धि-स्थानों पर चढ़ता है, गिरते समय उतने ही संक्लेश-स्थानों पर उतरता है। इस दृष्टि से जितने संक्लेश स्थान हैं, उतने ही विशुद्धि के स्थान हैं। बल्कि क्षपकश्रेणी की दृष्टि से विचार करते हैं तो विशुद्धि के स्थान संक्लेश-स्थानों से अधिक हैं; क्योंकि क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने के बाद जीव जिन विशुद्धि स्थानों पर चढ़ता है, उन पर से फिर नीचे नहीं उतरता। यदि उन विशुद्धि स्थानों के बराबर संक्लेश स्थान भी होते तो उपशमश्रेणी के समान क्षपक श्रेणी में भी जीव का पतन अवश्य होता; किन्तु ऐसा होता नहीं है। फलितार्थ यह है कि क्षपक श्रेणी में विशुद्धि के स्थानों की संख्या अधिक है, संक्लेश-स्थानों की संख्या विशुद्धि स्थानों की अपेक्षा कम। इसलिए क्षपक श्रेणी पर चढ़ने के बाद जीव नीचे नहीं उतरता। क्षपक श्रेणी में विशुद्धिस्थान ही होते हैं, इसलिए शुभप्रकृतियों का रसबन्ध केवल चतुःस्थानिक ही होता है। तथा अत्यन्त संक्लेशस्थानों के रहने पर शुभप्रकृतियों का बन्ध ही नहीं होता। यद्यपि अत्यन्त संक्लेश के समय भी कोई-कोई जीव नरकगति के योग्य वैक्रिय शरीर आदि शुभ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं; किन्तु उस समय भी उनके भव-स्वभाव के कारण द्विस्थानिक ही रसबन्ध होता है; तथा जिन मध्यम परिणामों से शुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनसे भी उनका द्विस्थानिक ही रस-बन्ध होता है। अतएव शुभ प्रकृतियों में कहीं भी एक-स्थानिक रसबन्ध नहीं होता।

कषायों की तीव्रता-मन्दता से अशुभ-शुभप्रकृतियों के अनुभागबन्ध

उक्त चारों स्थान अशुभ-प्रकृतियों में कषायों की तीव्रता बढ़ने से और शुभ प्रकृतियों में कषायों की मन्दता बढ़ने से होते हैं। कषायों की तीव्रता बढ़ने से अशुभ प्रकृतियों में एक-स्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है और कषायों की मन्दता के बढ़ने से शुभ प्रकृतियों में द्विस्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है, क्योंकि शुभ प्रकृतियों में एकस्थानिक रसबन्ध नहीं होता।[1]

विशुद्ध-संक्लिष्ट परिणामों से शुभाशुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध में अंतर

'पंचसंग्रह' में बताया गया है कि शुभप्रकृतियों का अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणामों से तीव्र अर्थात्-उत्कृष्ट होता है, तथा अशुभ-प्रकृतियों का अनुभाग-बन्ध संक्लेश परिणामों से उत्कृष्ट होता है। इसके विपरीत, यानी शुभ प्रकृतियों का संक्लेश (परिणामों) से और अशुभ-प्रकृतियों का विशुद्धि (परिणामों) से जघन्य अनुभाग बन्ध होता है। जो ४२ प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्धि गुण की

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन से (मरुधरकेसरी)

उत्कटता वाले जीव के होता है, तथा जो ८२ अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, उनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश वाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।[1]

अशुभ और शुभ प्रकृतियों का कटु-मधुर रस कैसे-कैसे चार प्रकार का होता है?

पहले अशुभ-प्रकृतियों को नीम की तथा शुभ-प्रकृतियों को इक्षुरस की उपमा दी गई थी, अब इन दोनों प्रकृतियों का रस कैसा-कैसा होता है, इसे कर्मग्रन्थ में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। जैसे-नीम और ईख के रस में स्वाभाविक रूप से एकस्थानिक ही रस रहता है, अर्थात्-उनमें नम्बर एक की कटुकता और मधुरता रहती है। किन्तु आग पर रखकर उसको दो-तीन-चार भाग में उबाले जाने (काढ़ा बनाये जाने) पर उसमें द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक रस हो जाता है। अर्थात्-पहले से दुगुना, तिगुना, चौगुना कड़ुआपन अथवा मिठास आ जाता है। इसी प्रकार अशुभ-प्रकृतियों में संक्लेश के बढ़ने पर अशुभ, अशुभतर, अशुभतम और अत्यन्त अशुभ तथा शुभ-प्रकृतियों में विशुद्धि के बढ़ने पर शुभ, शुभतर, शुभतम और अत्यन्त शुभ रस पाया जाता है।[2]

एकस्थानिक से चतुःस्थानिक रस तक की प्रक्रिया

नीम और ईख, इन दोनों रस के कड़ुएपन और मीठेपन की उत्तरोत्तर वृद्धि होने से उनका चार-चार प्रकार का रस (Paste) बन जाता है, इसी प्रकार अशुभ और शुभ प्रकृतियों के रस में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने से क्रमशः चार-चार प्रकार का दुःखदायक तथा सुखदायक बन जाता है। अर्थात्-अशुभ या शुभ कर्म-प्रकृतियों में वैसी-वैसी अनिष्ट-इष्ट-फलदायक शक्ति स्वतः हो जाती है। इसका विशेष स्पष्टीकरण कर्मग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है--जैसे-नीम का रस स्वभाव से ही कटु होता है, वह पीने वाले के मुख को एकदम कड़ुआ कर देता है, उसी प्रकार अशुभप्रकृतियों का रस भी अनिष्ट और दुःखदायक होता है; उसी प्रकार जैसे-ईख का रस मीठा और सुखदायक होता है, उसी तरह शुभ-प्रकृतियों का रस भी जीव को इष्ट एवं सुखदायक प्रतीत होता है। अतः नीम और ईख को पेरने पर उनमें से निकलने वाला स्वाभाविक रस स्वभावतः कड़ुआ और मीठा होता है। रस में इस प्रकार की स्वाभाविक कटुता या मधुरता को एकस्थानिक रस समझना चाहिए। इस स्वाभाविक एक-स्थानिक रस से द्वि-स्थानिक, त्रि-स्थानिक और चतुःस्थानिक प्रकारों को क्रमशः इस प्रकार समझना

---

१. सुहपयडीण विसोही तिव्व असुहाण संकिलेसेण।
विवरीए दु जहण्णो अणुभागो सव्व-पयडीणं॥
बायाल पि पसत्था विसोहि-गुण-उक्कडस्स तिव्वाओ।
वासीय अप्पसत्था मिच्छुक्कड-संकिलिट्ठस्स॥ -पंचसंग्रह ४/४५१, ४५२

२. कर्मग्रन्थ भा. ५ (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १७८

चाहिए—नीम और ईख का एक-एक रस को लेकर उन्हें आग पर उबाले जाने पर वे जल कर आधा-आधा सेर रह जाएँ तो द्विस्थानिक रस कहा जाएगा, क्योंकि स्वाभाविक कटु या मधुर रस से दोनों के उस पके हुए रस में दूनी कड़वाहट और दूनी मधुरता आ गई। वही रस उबलने पर एक सेर का तिहाई रह जाए तो त्रिस्थानिक रस समझना चाहिए, क्योंकि उसमें पहले के स्वाभाविक रस से तिगुनी कटुता और मधुरता आ गई है। वही रस जब उबलने पर एक सेर का पावभर रह जाए तो उसे चतुःस्थानिक रस समझना चाहिए, क्योंकि पहले के स्वाभाविक रस से उसमें चार गुनी कटुकता और मधुरता आ जाती है।[1]

अशुभ-शुभप्रकृतियों में कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार उत्तरोत्तर अनन्तगुने से रस-स्पर्द्धक

आशय यह है कि कषाय की तीव्रता बढ़ने से अशुभ (पाप) प्रकृतियों में एक-स्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है, इसके विपरीत कषाय की मन्दता के बढ़ने से शुभ (पुण्य) प्रकृतियों में एक-स्थानिक को छोड़कर द्विस्थानिक से लेकर चतुःस्थानिक पर्यन्त रस पाया जाता है।

जैसे—नीम के एकस्थानिक रस से द्विस्थानिक रस में दुगुनी, त्रिस्थानिक रस में तिगुनी और चतुःस्थानिक रस में चौगुनी कड़वाहट होती है, उसी प्रकार अशुभ प्रकृतियों के जो स्पर्द्धक सबसे जघन्य (अल्प) रस वाले होते हैं, वे एकस्थानिक कटुरस वाले हैं। उनसे द्विस्थानिक स्पर्द्धकों में अनन्तगुणा कटुतर रस, उनसे त्रिस्थानिक स्पर्द्धकों में अनन्तगुणा कटुतमरस, तथा उनसे चतुःस्थानिक स्पर्द्धकों में अनन्तगुणा अत्यन्त कटु रस होता है। इसके विपरीत शुभ प्रकृतियों में इक्षु के एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिक रस के समान मधुर रस स्वाभाविक मधुर, मधुरतर, मधुरतम तथा अत्यन्त मधुर होता है। अर्थात्—शुभ प्रकृतियों में एक-स्थानिक स्वाभाविक रस होता है, उनसे द्विस्थानिक स्पर्द्धकों में अनन्तगुणा मधुरतर रस होता है, उनसे त्रिस्थानिक स्पर्द्धकों में अनन्तगुणा मधुरतम और उनसे चतुःस्थानिक स्पर्द्धकों में अनन्तगुणा अत्यन्त मधुर रस होता है।[2]

पंचसंग्रह में अशुभ-शुभ प्रकृतियों के रस की उपमाएँ

'पंचसंग्रह' (प्रा.) में अशुभ-प्रकृतियों के एक-स्थानिक रस को घोषातकी नीम आदि की और शुभ-प्रकृतियों के रस को क्षीर-खांड़ वगैरह की उपमा दी गई है। बाकी

---

१. (क) वही, भा. ५, पृ. १७९
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ (मरुधरकेसरी), पृ. २३४-२३५
(ग) निंबुच्छुरसो सहजो दु-ति-चउभाग कड्ढिऊभागंतो।
इगठाणाइ असुहो असुहाण, सुहो सुहाणं तु ॥६५॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ६५

२. कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ६५ की व्याख्या (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १७८-१७९

के द्वि-स्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक स्पर्द्धक उत्तरोत्तर क्रमशः अनन्त-अनन्तगुणे रस वाले होते हैं।[1]

गोम्मटसार में घाती-अघाती कर्मों के अनुसार विविध उपमाएँ

गोमट्टसार कर्मकाण्ड के अनुभाग (रस) बन्ध के सन्दर्भ में घातिकर्मों की (फलदान)-शक्ति के चार विभाग किये गये हैं—लता, दारु (काष्ठ), अस्थि (हड्डी) और पत्थर। जैसे ये पदार्थ उत्तरोत्तर कठोर होते हैं, वैसे ही अशुभ कर्मों की शक्ति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक कठोर कर्मफलदायिनी समझनी चाहिए। इन चारों विभागों को कर्मग्रन्थ के अनुसार क्रमशः एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक नाम दिये जा सकते हैं। इनमें से लता-विभाग तो देशघाती ही है। दारुविभाग का अनन्तवां भाग देशघाती है और शेष बहुभाग सर्वघाती है। तथा अस्थि और पत्थर विभाग सर्वघाती[2] ही हैं। पंचसंग्रह में अघातिकर्मों के पुण्य और पाप रूप दो विभाग करके शुभ (पुण्य) प्रकृतियों में गुड़, खांड, शक्कर और अमृतरूप चार विभाग किये हैं। और अशुभ (पाप) प्रकृतियों में नीम, कंजीर, विष और हालाहल, यों चार विभाग किये गए हैं।[3] इन विभागों को भी एकस्थानिक, द्विस्थानिक आदि नाम दिये जा सकते हैं।[4]

(१) प्रथम द्वार : रसबन्ध के चार प्रकार तारतम्यापेक्षा से

कर्मों की सबसे कम अनुभाग-शक्ति को सर्वजघन्य (रसबन्ध) कहते हैं, सर्वजघन्य अनुभागशक्ति से ऊपर के एक अविभागी अंश से लेकर सबसे उत्कृष्ट अनुभाग तक के भेदों को अजघन्य (रसबन्ध) कहते हैं। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य भेद में अनुभाग (रस) के अनन्त भेद गर्भित हो जाते हैं। तथा सबसे अधिक अनुभाग शक्ति (सर्वाधिक होने वाले रसबन्ध) को उत्कृष्ट (रसबन्ध) कहते हैं। और उसमें से एक अविभागी अंश कम शक्ति से लेकर सर्वजघन्य अनुभाग (रसबन्ध) तक के भेदों को अनुत्कृष्ट कहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट भेद में भी अनुभाग शक्ति

---

१. घोसाडइ सिलवमो असुभाण सुभाण खीर-खंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो, अणंत-गुणिया कमेणियरे ॥ —पंचसंग्रह १५०

२. सग-पडिबद्धं जीवगुणं निरवसेसं घाएउं-विणासिउं सीलं जस्स अणुभागस्स सो अणुभागो सव्वघादी। (अपने से प्रतिबद्ध जीव के गुण को पूरी तरह से घातने का जिस अनुभाग का स्वभाव है, वह सर्वघाती है।) —कसायपाहुड ५/३-३/११

३. (क) सत्ती य लदा-दारू-अट्ठी सेलोवमाहु घादीणं ।
दारू अणंतिम-भागोत्ति, देसघादीदु सव्वं ॥ —गोम्मटसार (क.) १८०
(ख) क्षपणासार भा. ४८५

४. सुहपयडीणं णाया गुड खंड-सियामयाण खलु सरिसा ।
इयरा दु णिंब-कंजीर-विस-हालाहलेण सरिसाई ॥ —पंचसंग्रह (प्रा.) ४/४८७, गो. क. मू. १८४

(रसबन्ध) के समस्त भेद गर्भित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ--यदि सर्वजघन्य अनुभाग का प्रमाण ८ और सबसे उत्कृष्ट अनुभाग का प्रमाण १६ कल्पना करें तो आठ को सर्वजघन्य कहेंगे। और आठ से ऊपर ९ से १५ तक के भेदों को अजघन्य कहेंगे। इसी तरह १६ को उत्कृष्ट कहेंगे और १६ से एक कम और १५ से लेकर ८ तक के भेदों को अनुत्कृष्ट कहेंगे। संक्षेप में कहें तो उन-उन मार्गणाओं में रहे जीवों द्वारा किये जाते हुए पृथक्-पृथक् रसबन्धों की अपेक्षा से कम से कम होने वाला रसबन्ध जघन्य रसबन्ध है। जघन्य रसबन्ध के सिवाय बाकी के सभी रसबन्ध अजघन्य रसबन्ध हैं। सबसे अधिक होने वाला रसबन्ध उत्कृष्ट रसबन्ध है और उत्कृष्ट रसबन्ध के सिवाय सर्वाल्परसबन्ध तक के सभी रसबन्ध अनुत्कृष्ट रसबंध हैं। इस प्रकार (अनुभागशक्ति) रसबन्ध को विभिन्न द्वारों द्वारा चार प्रकार से समझाया गया है--(१) जघन्य रसबन्ध, (२) अजघन्य रसबन्ध, (३) उत्कृष्ट रसबन्ध और (४) अनुत्कृष्ट रसबन्ध। इन चार प्रकारों से रस (अनुभाग) शक्ति के अनन्त-अनन्त तारतम्य को लेकर अनन्त-अनन्त भेदों के परिज्ञान की कल्पना की जा सकती है।[1]

(२) संज्ञाद्वार : रसबन्ध के लिए प्रयुक्त दो संज्ञाएँ

जैसे वैद्य और डाक्टर शरीर में उत्पन्न होने वाले रोग को अनेक संज्ञाओं से पुकारते हैं। कभी किसी एक रोग को उसका सामान्य नाम देकर उसके अन्तर्गत दूसरे रोगों को अनेक नाम देते हैं। जैसे--वातरोग एक रोग की सामान्य संज्ञा है। उसके अन्तर्गत--आमवात, ऊर्ध्ववात, सन्निपात, धनुर्वात, गठियावात आदि ८० संज्ञाएँ एक वातरोग की हो जाती हैं। इसी प्रकार यहाँ कर्मरस की भिन्न-भिन्न कक्षाओं को लेकर विभिन्न नाम संज्ञाएँ दी गई हैं। उनमें घातिसंज्ञा और स्थानसंज्ञा, ये दो संज्ञाएँ रस के लिए प्रयुक्त होती हैं।[2]

घातिसंज्ञा-प्ररूपणा द्वारा रसबन्ध के चार प्रकारों का निरूपण

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों को दो भागों में विभाजित किया है--घातिकर्म और अघातिकर्म। घातीकर्म भी दो प्रकार के हैं--सर्वघाती और देशघाती। जो जीव के ज्ञानादि गुणों का पूर्णरूप घात करते हैं, वे सर्वघाती कर्म हैं, और जो एकदेश से घात करते हैं, वे देशघाती हैं। पंचसंग्रह के अनुसार केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रापंचक (दर्शनावरणीय की ५), मोहनीय की १२ (आदि की तीन कषायों की चौकड़ी), मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन २१ प्रकृतियों की सर्वघातीसंज्ञा है। तथा ज्ञानावरण के शेष चार प्रकार, दर्शनावरण की शेष तीन, अन्तराय की ५, सम्यक्त्व प्रकृति, संज्वलन-चतुष्क एवं नौ नोकषाय, ये छब्बीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं।

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १९७
   (ख) रसबन्धो (पीठिका) से, पृ. २७
२. वही, पृ. २७

घातिकर्मों का जो सर्वघाती और देशघाती अनुभाग है, वह उत्कृष्ट आदि भेदों में विभाजित होकर भी उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाती ही होता है। अनुत्कृष्ट अनुभाग बन्ध सर्वघाती और देशघाती दोनों प्रकार का होता है। इसी प्रकार जघन्य अनुभागबन्ध देशघाती ही होता है। और अजघन्य अनुभागबन्ध सर्वघाती और देशघाती दोनों प्रकार का होता है।[1]

स्थान-संज्ञा-प्ररूपणा द्वारा चतुःस्थानों का अनुभागबन्ध-निरूपण

चारों घातिकर्मों का उत्कृष्ट अनुभाग चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एक-स्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक होता है और अजघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है। चार अघातिकर्मों में उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक होता है। अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है।[2]

वस्तुतः अनन्त कक्षाओं का समावेश कर्मवैज्ञानिकों ने चार प्रकार में किया है– एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक। चार घातिकर्मों का सर्वोत्कृष्ट रस चतुःस्थानिक ही होता है, और जघन्य रस एकस्थानिक होता है; जबकि अनुत्कृष्ट रस और अजघन्य रस ४-३-२-१ स्थानिक होता है। अघातिकर्मों का सर्वोत्कृष्ट रस भी चतुःस्थानिक और जघन्यरस द्विस्थानिक होता है। जबकि अनुत्कृष्ट और अजघन्य रस २-३-४ स्थानिक होता है।[3]

(३) प्रत्ययद्वार : बन्धहेतुओं की दृष्टि से अनुभागबन्ध विचार

प्रत्यय का अर्थ है–हेतु। इस द्वार में अनुभाग की अपेक्षा से कर्मबन्ध के हेतुओं का विविध रूप में निरूपण है। कर्मबन्ध के मुख्य हेतु चार हैं–(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) कषाय और (४) योग। इनके क्रमशः ५, १२, २५, और १५ भेद हैं। इस प्रकार बन्ध के कारणों के ५७ भेद हुए। इस द्वार में गुणस्थानों की अपेक्षा से बन्ध के ४ मुख्य भेदों का निरूपण किया गया है। वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के मुख्यतया मिथ्यात्व, अविरति और कषाय, ये तीन बन्ध हेतु बताये गए हैं। पहले गुणस्थान में होने वाले बंध मुख्यतया मिथ्यात्वप्रत्ययिक हैं, दूसरे से पांचवें गुणस्थान तक होने वाला बंध मुख्यतया अविरति-प्रत्ययिक है, छठे से दसवें गुणस्थान तक होने वाला बन्ध मुख्यतया कषाय-प्रत्ययिक है। इन सात कर्मों में से आयुष्यकर्म,

---

१. (क) महाबंधो भा. ६ (प्रस्तावना) से, पृ. १६-१७
(ख) पंचसंग्रह गा. ४८३, ४८४
२. महाबंधो, भा. ६ (प्रस्तावना) से पृ. १८
३. रसबंधो (पीठिका) से, पृ. २९

मोहनीय कर्म और शेष पांच कर्मों का क्रमशः पांचवें, सातवें, नौवें और दसवें गुणस्थान तक बन्ध होते रहने से तीन बन्ध-प्रत्यय (बन्धहेतु) कहे हैं। जबकि वेदनीय कर्म बन्ध तेरहवें गुण-स्थान तक होता है, इसलिए प्रधानतया ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक योग-प्रत्ययिक बन्ध होता है, जिससे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। यही कारण है कि वेदनीय कर्म के बन्ध के ४ हेतु कहे हैं। गौणभाव से तो आठों ही कर्मों के चारों ही बन्ध हेतु हैं।[1]

(४) विपाकद्वार : कर्म की फलदानाभिमुखता की दृष्टि से बन्ध-विचार

विपाक का अर्थ है–कर्मफल देने की तैयारी (अभिमुखता)। कर्मप्रकृतियों का विपाक फल जीव ही अनुभव करता है, इस अपेक्षा से सर्वप्रकृतियों को जीव-विपाकी कहना चाहिए। परन्तु कई कर्मप्रकृतियाँ अमुक क्षेत्र, अमुक भव या अमुक शरीरादि पुद्गल के निमित्त से उदय में आती है, जबकि कई प्रकृतियाँ उपर्युक्त निमित्तों की अपेक्षा के बिना ही उदय में आती हैं। अतः इन चार निमित्तभेदों की अपेक्षा से कर्मप्रकृतियों के अनुभाव को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है–(१) पुद्गल-विपाकी–ये कर्म अपनी शक्ति का पर्धा शरीरादि पुद्गलों में दिखाते हैं। (२) भव-विपाकी–ये कर्म नरकादि भवों को पाकर अपनी शक्ति का प्रभाव दिखाते हैं; (३) क्षेत्र-विपाकी–ये कर्म एक गति से दूसरी गति में जाते हुए क्षेत्र में-विग्रहगति (आकाशमार्ग) में ही अपना सामर्थ्य दिखाते हैं। (४) जीव-विपाकी–ये कर्म बाह्य पुद्गलों की अपेक्षा के बिना सीधे रूप में (डाइरेक्टली–Directly) अर्थात्–जीव के गुणों का उपघात करने में अपनी शक्ति आजमाते हैं।[2]

आयुकर्म भवविपाकी है, क्योंकि नरकादि भवों में उसका विपाक–अनुभाव (अनुभव) दिखाई देता है। नामकर्म- जीव-विपाकी, पुद्गल-विपाकी और क्षेत्र विपाकी, यों तीनों है। इसके उदय से जीव को नरकादि गतियों की तथा औदारिकादि शरीरों की प्राप्ति होती है, और कुछ नामकर्म विग्रहगति में जीव को बैल के नथ की तरह खींच ले जाने का कार्य करते हैं। चार घातिकर्म, वेदनीय और गोत्र ये ६ कर्म जीव-विपाकी हैं, क्योंकि इनके उदय से जीव को अज्ञान, अदर्शन, सुख-दुःख, राग-द्वेषादि, उच्चत्व-नीचत्व और अलाभादि परिणामों की प्राप्ति होती है।[3]

(५) प्रशस्त-अप्रशस्तद्वार : प्रशस्त-अप्रशस्त-रसबन्ध का कारण

जिस कर्म का रस जीव के प्रमोदभाव में प्रशस्त अर्थात्–शुभ है, वह प्रशस्तरस है। अथवा बन्ध के समय प्रशस्त परिणाम से जिन्हें अधिकरस (अनुभाग) प्राप्त हो, वे

१. वही (गीटिका) में, पृ. २९
२. वही, (गीटिका) में, पृ. ३०
३. रसबंधो (गीटिका) में पृ. ३०

शुभ (प्रशस्त) कर्म या पुण्य कहलाते हैं। तथा जीव के दुःख में कारणभूत हो, वह अप्रशस्त (अशुभ) कर्म कहलाता है, अथवा बन्ध के समय अप्रशस्त परिणामों से जिन्हें अधिक रस (अनुभाग) मिलता है, वे अप्रशस्त कर्म कहलाते हैं। चार घातिकर्म अप्रशस्त हैं, पाप-प्रकृति हैं और चार अघातिकर्म प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के हैं। इस पर से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उत्कृष्ट और जघन्य रसबन्ध (अनुभागबन्ध) के स्वामित्व में भी बहुत तारतम्य रहेगा।[1]

(६) सादि-अनादि, ध्रुव-अध्रुव द्वार : अनुभागबन्ध के परिप्रेक्ष्य में

परिभाषा–उत्कृष्टादि रसबन्ध का पहले विच्छेद हो गया हो, अथवा वह रस बंधा ही न हो और उसका बन्ध नये सिरे से शुरू हो, वह **सादिबन्ध** है। अनादिकाल से जिसका बन्ध प्रवाहरूप से चालू हो, जिसका कभी विच्छेद न हुआ हो, वह **अनादिबन्ध** है। जिस बन्ध का भविष्यकाल में कभी विच्छेद न हो, वह **ध्रुवबन्ध** है, और जिस बन्ध का विच्छेद होता हो, वह **अध्रुव-बन्ध** है।

वैसे तो सभी कर्मों का उत्कृष्ट और जघन्य रसबन्ध अमुक मर्यादित समय तक कायम रहता है, फिर उसका प्रारम्भ नये सिरे से होता है, इस अपेक्षा से ये दोनों प्रकार के रसबन्ध सादि और अध्रुव, इन दो ही किस्म के हैं। जिन कर्मों का उत्कृष्ट या जघन्य रस क्षपक श्रेणी या सम्यक्त्वाभिमुख आदि अवश्य कहा हो, उनका अनुत्कृष्ट और अजघन्य रसबन्ध सादि वगैरह चारों विकल्पों वाला होता है। ओघ (सामान्यरूप) से चार घातिकर्म और गोत्रकर्म का अजघन्य रसबन्ध तथा तीन अघातिकर्मों का अनुत्कृष्ट रसबन्ध चारों विकल्पों वाला है। मिथ्यात्व गुणस्थान में स्व-स्थानावस्था में जिस कर्म का उत्कृष्ट अथवा जघन्य रसबन्ध प्राप्त हो, उस कर्म का अनुत्कृष्ट और अजघन्य रसबन्ध के सादि और अध्रुव, ये दो विकल्प होते हैं। जैसे कि घातिकर्म के अनुत्कृष्ट रसबन्ध के और वेदनीय और नाम कर्म के अजघन्य रसबन्ध के सादि और अध्रुव ये दो विकल्प होते हैं। आयुष्य कर्मबन्ध तो समग्र भव में अन्तर्मुहूर्त्त काल का ही होता है, इस कारण उसके चारों ही प्रकार के बन्धों के सादि और अध्रुव, यों दो ही विकल्प होते हैं।[2]

निम्नोक्त आठ प्रकृतियों के रसबन्धचतुष्टय में सादि-आदि की प्ररूपणा

कर्मग्रन्थ में मूल और उत्तर प्रकृतियों में रसबन्ध के प्रस्तुत चार प्रकारों का विचार उनके सादि-अनादि तथा ध्रुव-अध्रुव भंगों के साथ किया गया है। वह इस प्रकार है–तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण), वर्णचतुष्क (शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस और शुभस्पर्श), इन आठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग (रस)

१. (क) महाबंधो (प्रस्तावना) भा. ६, से पृ. १९
   (ख) रसबंधो (पीठिका) से पृ. ३७
२. वही (पीठिका) से, पृ. ३५-३६

बन्ध क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान में देवगति के योग्य तीस प्रकृतियों के बन्ध-विच्छेद के समय होता है। इसके सिवाय अन्य स्थानों में, यहाँ तक कि उपशमश्रेणि में भी उक्त प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध ही होता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में उनका बन्ध बिलकुल नहीं होता। अतः ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जब कोई जीव उक्त प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त होने से पहले उसका वह बन्ध (प्रवाहरूप से) अनादि कहलाता है, क्योंकि उस जीव के वह बन्ध अनादिकाल से चला आता है। भव्य जीव का बन्ध अध्रुव होता है, जबकि अभव्यजीव का ध्रुव। इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चार प्रकार का होता है। किन्तु शेष उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध के सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। चूँकि तैजसचतुष्क और वर्णचतुष्क का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक (श्रेणि) के अपूर्वकरण गुणस्थान से पहले नहीं होता, इसलिए वह सादि है तथा एक समय तक होकर आगे नहीं होता, इस कारण अध्रुव है। ये प्रकृतियाँ शुभ हैं, इसलिए इनका जघन्य अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश वाला पर्याप्त संज्ञीपंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव ही करता है, तथा कम से कम एक समय और अधिक के अधिक दो समय के बाद वही जीव उनका अजघन्य अनुभागबन्ध करता है; कालान्तर में उत्कृष्ट संक्लेश होने पर वह उनका पुनः जघन्य अनुभागबन्ध करता है। इस प्रकार अजघन्य और जघन्य अनुभागबन्ध भी सादि और अध्रुव ही होते हैं।[1]

वेदनीय और नामकर्म के रसबन्ध की दृष्टि से सादि-आदि प्ररूपणा

वेदनीय कर्म की साता और नामकर्म की यशःकीर्ति प्रकृति की अपेक्षा से इन दोनों कर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्मसम्पराय नामक गुण-स्थान में होता है। क्योंकि इस गुणस्थान में उक्त दोनों कर्मों की ये दो प्रकृतियाँ ही बंधती हैं। इनके सिवाय अन्य सभी स्थानों में वेदनीय और नामकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभाग-बन्ध होता है। मगर ग्यारहवें गुणस्थान में उनका बन्ध नहीं होता। अतः ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है, वह सादि है। भव्यजीव का बन्ध अध्रुव और अभव्य जीव का बन्ध ध्रुव है। इस प्रकार वेदनीय और नामकर्म का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्म-सम्पराय नामक गुणस्थान में होता है, इससे पहले किसी भी गुणस्थान में वह बन्ध नहीं होता, इस कारण सादि है। और बारहवें आदि गुणस्थानों में तो नियमतः बन्ध होता नहीं, इसलिए अध्रुव है। तथा इन कर्मों का जघन्य अनुभागबन्ध मध्यम परिणाम वाला सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करता

---

१. (क) तस-वन्न-तेय-चउ-मणि-खगइ-दुग पणिंदी-सास-परऽगुच्चे।
संघयणा-गिइ-नपु-त्थी-सुभगेयर-रति मिच्छ-चउइया॥
—कर्मग्रन्थ भा. ५ (पं. कैलाशचन्द्रजी) पृ. १९४
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन (मरुधरकेसरी) से

है। यह जघन्य अनुभागबन्ध अजघन्य-बन्ध के बाद होता है, अतः सादि है। तथा कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक चार समय तक जघन्य बन्ध होने के पश्चात् अजघन्यबन्ध होता है, अतः जघन्यबन्ध अध्रुव है और अजघन्य बन्ध सादि है। उसके बाद उसी भव में या किसी दूसरे भव में पुनः जघन्य बन्ध के होने पर अजघन्य बन्ध अध्रुव होता है। इस प्रकार शेष तीनों प्रकार के बन्ध सादि और अध्रुव होते हैं।[1]

ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के अनुभागबन्ध-चतुष्टय का विचार

अब ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों के बन्धों के सम्बन्ध में विचार करते हैं–तैजस-चतुष्क के सिवाय शेष ध्रुवबन्धी प्रकृतियों का अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकार का होता है। वह इस प्रकार है–५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, और ५ अन्तराय का जघन्य अनुभागबन्ध सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान के अन्त में होता है। अन्य स्थानों में उनका अजघन्य अनुभागबन्ध ही होता है; क्योंकि ये प्रकृतियाँ अशुभ हैं। तथा ग्यारहवें गुणस्थान में उनका बन्ध ही नहीं होता। अतः ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर जो अनुभाग-बन्ध होता है, वह सादि है; उससे पहले वह बन्ध अनादि है। भव्य का बन्ध अध्रुव है और अभव्य का ध्रुव।

संज्वलन-चतुष्क का जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में–अशुभ प्रकृति होने से बन्ध-विच्छेद के समय में एक समय होता है। इसके सिवाय अन्य सब जगह अजघन्य बन्ध होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में बन्ध नहीं होता है। अतः वहाँ से च्युत होकर जो अजघन्यबन्ध होता है, वह सादि है, इससे पहले अनादि है। अभव्य का बन्ध ध्रुव है, जबकि भव्य का अध्रुव।

निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्ण, अशुभ गंध, अशुभ, रस, अशुभ स्पर्श, उपघात, भय और जुगुप्सा का क्षपक अपूर्वकरण में अपने-अपने बन्ध-विच्छेद के समय में एक समय तक जघन्य अनुभागबन्ध और अन्य सब स्थानों पर अजघन्य अनुभाग बन्ध होता है, जो सादि है। बन्ध-विच्छेद से पहले उनका बन्ध अनादि है। भव्य का बन्ध अध्रुव है और अभव्य का बन्ध ध्रुव है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का जघन्य अनुभागबन्ध संयम की प्राप्ति के अभिमुख देशविरत अपने गुणस्थान के अन्त समय में करता है। उससे पहले उसका जो बन्ध होता है, वह अजघन्य बन्ध है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का जघन्य अनुभागबन्ध क्षायिक सम्यक्त्व और संयम को एक साथ प्राप्त करने का इच्छुक अत्यन्त विशुद्ध अविरतसम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणस्थान के अन्त समय में करता है। इसके सिवाय शेष सर्वत्र उसका अजघन्य-अनुभागबन्ध होता है। स्त्यानर्द्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का जघन्य अनुभागबन्ध सम्यक्त्व और संयम को

---

१. (क) वही (मरुधरकेसरी) से पृ. २६१
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ (विवेचन) (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १९६

एक साथ प्राप्त करने का इच्छुक अत्यन्त विशुद्ध मिथ्यादृष्टि अपने गुणस्थान के अन्तिम समय में करता है। इसके सिवाय शेष सर्वत्र उनका अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। ये देशविरत आदि अपनी-अपनी उक्त प्रकृतियों के बन्धकों में अत्यन्त विशुद्ध होते हैं। इसलिए उन-उन प्रकृतियों का जघन्य अनुबन्ध करते हैं। उसके बाद संयम आदि को प्राप्त करके वहाँ से गिरकर जब पुनः उनका अजघन्य बन्ध करते हैं तब वह बन्ध सादि होता है। उससे पहले का अजघन्य बंध अनादि होता है। अभव्य का बन्ध ध्रुव और भव्य का अध्रुव होता है।[1]

४३ प्रकृतियों के अजघन्य अनुभागबन्ध का विचार करते समय सूक्ष्म-सम्पराय आदि गुणस्थानों में उनका जघन्य अनुभागबन्ध पहले बताया जा चुका है। वह जघन्य अनुभागबन्ध उन-उन गुणस्थानों में पहली बार होता है, अतः सादि है। तथा इन ४२ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश वाला पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव एक या दो समय तक करता है। उसके बाद पुनः अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध करता है। इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध में सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं। यह हुआ ध्रुवबन्धी प्रकृतियों के अजघन्य आदि चारों प्रकारों में सादि वगैरह भंगों का विचार।[2]

शेष ७३ अध्रुवबन्धी प्रकृतियों के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभाग (रस) बन्ध के सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं, क्योंकि अध्रुवबन्धी होने के कारण इन प्रकृतियों का बन्ध सादि और अध्रुव ही होता है।

चार घातिकर्मों का अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकार का होता है। जो इस प्रकार है—अशुभ-प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध और शुभ-प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध वही जीव करता है, जो उनके बन्धनों में सबसे विशुद्ध होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय अशुभ हैं; अतः उनका जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान के अन्त समय में होता है। मोहनीय कर्म का बन्ध नौवें गुणस्थान तक होता है। अतः क्षपक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के अन्त में उसका भी जघन्य अनुभागबन्ध होता है क्योंकि मोहनीय कर्म के बन्धनों में यह सबसे विशुद्ध स्थान है। इन गुणस्थानों के सिवाय शेष सभी स्थानों में उक्त चारों कर्मों का अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। ग्यारहवें और दसवें गुणस्थान में उक्त चारों कर्मों का बन्ध न करके, वहाँ से गिर कर जब जब पुनः अजघन्य अनुभागबन्ध होता है, तब वह बन्ध सादि है। जो जीव नौवें दसवें आदि गुणस्थानों में कभी नहीं आए हैं, उनका अजघन्य अनुभागबन्ध अनादि है। क्योंकि (प्रवाहरूप से) अनादिकाल से उसका विच्छेद नहीं हुआ है। अभव्य का बन्ध ध्रुव है, और भव्य का बन्ध अध्रुव। इस प्रकार घातिकर्मों का अजघन्य अनुभागबन्ध चार प्रकार का हुआ। शेष तीन-जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध के सादि और अध्रुव दो ही प्रकार होते हैं। पहले कहा गया है

१. कर्मग्रन्थ भा. ५, (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. २००-२०१
२. कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. २०१, २०२

कि मोहनीय कर्म का जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में होता है और शेष तीन कर्मों का जघन्य अनुभागबन्ध क्षपक-सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। यह बन्ध इससे पहले नहीं होता, प्रथम बार ही होता है, इसलिये सादि है। और बारहवें आदि गुणस्थानों में जाने पर तो नियम से नहीं होता, अतः अध्रुव है। यह बन्ध अनादि भी नहीं है, क्योंकि उक्त गुणस्थानों में आने से पूर्व कदापि नहीं होता। साथ ही यह अभव्य के नहीं होता, अतः ध्रुव भी नहीं है। तथा प्रस्तुत कर्मों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश वाला पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव एक या दो समय तक करता है। अनुत्कृष्टबन्ध के बाद उत्कृष्ट बन्ध होता है, अतः वह सादि है। उससे एक या दो समय के बाद पुनः अनुत्कृष्ट बन्ध होता है। अतः वह सादि है तथा कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बाद उत्कृष्ट संक्लेश के होने पर पुनः उत्कृष्ट बन्ध होता है। अतः अनुत्कृष्ट बन्ध अध्रुव है। इस प्रकार जीव के उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध बदलते रहते हैं, इसलिये ये दोनों सादि तथा अध्रुव हैं।[1]

गोत्रकर्म में अजघन्य और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सादि आदि चारों प्रकार का होता है, जबकि जघन्य और उत्कृष्ट अनुभागबन्ध दो ही प्रकार का होता है। उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध के प्रकार वेदनीय और नामकर्म के प्रकारों की तरह समझ लेने चाहिए। यहाँ अब उनके जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध का विचार करते हैं—सातवें नरक का कोई नारक सम्यक्त्व के अभिमुख होता हुआ यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है। उनमें से अन्तिम अनिवृत्तिकरण में वह मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है। उस अन्तरकरण के द्वारा मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते हैं—एक—नीचे की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति और दूसरा-शेष उपर की स्थिति। नीचे की स्थिति का अनुभवन करते हुए अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति के अन्तिम समय में नीचगोत्र की अपेक्षा से जघन्य अनुभागबन्ध होता है। अन्य स्थान में यदि इतनी विशुद्धि होती तो उससे उच्चगोत्र का अजघन्य अनुभागबन्ध होता। इसी कारण सप्तम नरक के नारक का ही ग्रहण किया है, क्योंकि सातवें नरक में मिथ्यात्वदशा में नीच गोत्र का ही बन्ध बताया है। तथा जो नारक मिथ्यादृष्टि है, सम्यक्त्व के अभिमुख नहीं है, उसके नीचगोत्र का अजघन्य अनुभागबन्ध होता है। और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उच्चगोत्र का अजघन्य अनुभाग बन्ध होता है। नीच गोत्र का यह अजघन्य अनुभागबन्ध अन्यत्र सम्भव नहीं है। यह उसी अवस्था में पहले पहल होता है, इसलिए सादि है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर वही जीव उच्चगोत्र की अपेक्षा से गोत्रकर्म का अजघन्य अनुभागबन्ध करता है। अतः जघन्य अनुभागबन्ध अध्रुव है और अजघन्य अनुभागबन्ध सादि है। इससे पहले जो अजघन्य अनुभागबन्ध होता है, वह अनादि है। अभव्य का अजघन्यबन्ध ध्रुव है, और भव्य का अध्रुव है। इस प्रकार गोत्रकर्म के जघन्य अनुभागबन्ध के दो और अजघन्य अनुभाग-बन्ध के चार विकल्प होते हैं।

---

१. वही, भा. ५ से पृ. २०३

अवशिष्ट आयुकर्म के जघन्य, उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध के सादि और अध्रुव दो ही विकल्प होते हैं, क्योंकि भुज्यमान आयु के त्रिभाग आदि नियतकाल में ही आयुकर्म का बन्ध होता है। अतः उसका जघन्यादिरूप अनुभागबन्ध भी सादि है। तथा अन्तर्मुहूर्त के बाद वह बन्ध अवश्य रुक जाता है। अतः इसके बन्ध के अध्रुव होने से इसका अनुभागबन्ध भी अध्रुव होता है। निष्कर्ष यह है कि जब आयुकर्म का बन्ध ही सादि और अध्रुव होता है, तब उसी के भेद जघन्यादि अनुभागबन्ध भी सादि और अध्रुव होने ही चाहिये।[1]

इस प्रकार अनुभागबन्ध चतुष्टय की अपेक्षा से मूल और उत्तरप्रकृतियों में सादि आदि चारों विकल्पों की प्ररूपणा समझनी चाहिए।

(७) उत्कृष्ट-जघन्य अनुभाग-बन्ध के स्वामित्व की प्ररूपणा : स्वामित्वद्वार, उत्कृष्ट अनुभागबन्ध के स्वामी

एकेन्द्रिय जाति, स्थावर और आतप प्रकृति का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते हैं। विकलत्रय, सूक्ष्मादि तीन, नरकत्रिक, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। तथा तिर्यंचगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी और सेवार्त संहनन का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारक करते हैं।

इसी प्रकार वैक्रिय-द्विक, सुरद्विक, आहारकद्विक, प्रशस्त विहायोगति, वर्ण-चतुष्क, तैजसचतुष्क (तैजस, कार्मण, अगुरुलघु और निर्माण नामकर्म), तीर्थंकर, सातावेदनीय, समचतुरस्रसंस्थान, पराघात, त्रसनाम आदि दस, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, और उच्चगोत्र का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध क्षपकश्रेणि चढ़ने वाले मनुष्यों के होता है।[2] सातवें नरक के नारक उद्योत प्रकृति का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करते हैं। मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्रऋषभनाराच संहनन का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि देव करते हैं। देवायु का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध अप्रमत्तसंयत मुनि करते हैं और शेष प्रकृतियों का तीव्र अनुभागबन्ध चारों ही गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी

स्त्यानर्द्धि-त्रिक, अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय, तथा मिथ्यात्व, इन आठ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध संयम के अभिमुख मिथ्यादृष्टि जीव करता है।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ५ की गा. ७४ के समग्र विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. २०३ से २०५

२. (क) तिव्वाभिलाषावरायवय-सुर मिच्छा विगल-सुहुम-निरय-तिगं ।
तिरि-मणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ-सुर-निरया ॥६६॥
(ख) विउव्वि-सुरायहारदुगं, सुखगइ-वज्ज-चउ-देय-जिण-सायं ।
समचउ-परघा-तस-दस-पणिंदि सासुच्च खवगाउ। ।६७॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन
(ग) इनके विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखें—कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) पृ. १८२-१८३

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का जघन्य अनुभागबन्ध संयम के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय का जघन्य अनुभागबन्ध संयम के अभिमुख देशविरत गुणस्थान वाला करता है। अरति और शोक का जघन्य अनुभागबन्ध संयम के अभिमुख प्रमत्त-संयमी करता है।

आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का जघन्य अनुभागबन्ध अप्रमत्त-संयत करते हैं। दो निद्रा (निद्रा और प्रचला), अशुभ वर्णादि चतुष्क, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय और उपघात, इन ११ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध अपूर्वकरण गुणस्थान वाले जीव करते हैं। तथा पुरुषवेद एवं संज्वलन कषाय का जघन्य अनुभागबन्ध अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाले जीव करते हैं।

पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का जघन्य अनुभाग बन्ध सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान में होता है। सूक्ष्म आदि तीन, विकल-त्रय, चारों आयु और वैक्रियषट्क (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी) का जघन्य अनुभागबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च करते हैं। तथा उद्योत और औदारिकद्विक का अनुभागबन्ध देव और नारक करते हैं।

तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, और नीचगोत्र का जघन्य अनुभागबन्ध सातवें नरक के नारक करते हैं। तीर्थंकरनामकर्म का जघन्य अनुभागबन्ध अविरत सम्यग्दृष्टि जीव करता है। एकेन्द्रिय जाति और स्थावर नामकर्म का जघन्य अनुभागबन्ध नरकगति के सिवाय शेष तीनों गति के जीव करते हैं। आतप प्रकृति का जघन्य अनुभागबन्ध सौधर्म स्वर्ग तक के देव करते हैं. सातावेदनीय, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और उनके प्रतिपक्षी असातावेदनीय, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति का जघन्य अनुभागबन्ध सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

त्रस आदि चार, वर्णादि चार, तैजस आदि चार, मनुष्यद्विक, दोनों विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास, पराघात, उच्चगोत्र, ६ संहनन, ६ संस्थान, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, सुभग आदि तीन, उनके प्रतिपक्षी दुर्भग आदि तीन प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।[1]

इस प्रकार पंचसंग्रह (प्रा.) के अनुसार सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, प्रशस्त अप्रशस्त, देशघाति, सर्वघाती, प्रत्यय, विपाक और स्वामित्व, इन चौदह प्रकारों (द्वारों) की अपेक्षा से अनुभागबन्ध का सांगोपांग निरूपण किया गया है।[2]

● ●

---

१. इनके विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखें, कर्मग्रन्थ भा. ५ की गा. ६७ से ७३ तक का विवेचन, पृ. १८३ से १९६

२. सादि-अणादिय अट्ठ य, पसत्थि-दर-पत्तेगा तहा सण्णा ।
पच्चय विवाय-देसा सामित्तेणाह अणुभागो ॥ —पंचसंग्रह (प्रा.) ४/४४१

२५

स्थितिबन्ध : स्वरूप, कार्य और परिणाम

न्यायप्रिय शासक : एक को दण्ड, दूसरे को पुरस्कार

एक न्यायप्रिय शासक है। उसके सामने दो प्रकार के व्यक्ति उपस्थित किये गए हैं–एक अपराधी है, दूसरा व्यक्ति लोकोपकारी सेवक है। एक दण्डयोग्य है, दूसरा पुरस्कारयोग्य है। एक ने न्याय-नीतिविरुद्ध दुष्कार्य–अशुभ कार्य किया है, जबकि दूसरे व्यक्ति ने नदी में भयंकर बाढ़ आने के कारण दूर से तेज रफ्तार से आती हुई पैसिंजर ट्रेन को रोक कर हजारों रेल-यात्रियों के जान-माल की रक्षा की है–शुभसेवाकार्य किया है। शासक एक न्यायाधीश की तरह अपराधी को न्याय देने के विषय में यह सोचता है कि इसने किस प्रकार का अपराध किया है ? हत्या की है, चोरी की है, अथवा बलात्कार किया है ? इत्यादि, फिर वह सोचता है कि अगर चोरी का अपराध किया है तो पहली ही बार किया है या बार-बार किया है ? अथवा बड़ी चोरी की है या मामूली चोरी की है ? अथवा कितना माल चुराया है ? लाखों का या हजारों का माल चुराया है ? फिर वह यह सोचता है कि इस व्यक्ति ने किस इरादे से, किस अभिप्राय से चोरी की है ? चोरी के पीछे इसकी क्रूरता, दुष्ट-भावना या तीव्रता कम या अधिक थी। अथवा इसने अभाव पीड़ित होने से या परिवार की क्षुधा के निवारण या अन्य अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए लाचारी से चोरी की है या जानबूझ कर तीव्र लोभ से प्रेरित होकर चोरी की है ? इसके पश्चात् उक्त चोर के परिणामों को देखकर तदनुसार शारीरिक, मानसिक, आर्थिक सजा देता है, तथा उस सजा की काल सीमा भी निश्चित करता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त लोकसेवक को उसकी सेवा का प्रकार तथा यह सेवा बार-बार या एक बार ही की है? इसका वह शासक विचार करता है, किस भाव से उसने सेवा की है ? इसका विचार करके उसको पुरस्कार देता है, अपने राज्य में उसे यावज्जीवन पेन्शन, पुरस्कार राशि के रूप में, तथा निःशुल्क अन्नवस्त्र-प्रवासादि के रूप में उसे सम्मानित करता है।

स्थितिबन्ध के रूप में कर्मराज द्वारा भी दण्ड-पुरस्कार की काल-सीमा का निर्धारण

ठीक यही बात कर्मराज के विषय में समझिये। कर्मराज के समक्ष भी शुभाशुभकर्म वाले व्यक्ति होते हैं। पहले वह अशुभ और शुभकर्म के प्रकार या स्वभाव का निश्चय प्रकृतिबन्ध के रूप में करता है, तत्पश्चात् उन दोनों के परिमाण का निश्चय प्रदेशबन्ध के रूप में करता है, फिर उन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के अशुभ-शुभ भावों की तीव्रता-मन्दता को, कषायपरिणामों की प्रशस्तता-अप्रशस्तता का निश्चय अनुभाग (रस)-बन्ध के रूप में करता है, साथ ही उसके अपराध या दोषरूप अशुभकर्म का दण्ड स्थितिबन्ध के रूप में देता है। यही प्रक्रिया शुभकर्म-पुण्यकर्म के विषय में समझनी चाहिए। पुण्यकर्मकर्ता को भी उसके तीव्र-मन्द भावों के अनुरूप दो शुभगतियों में से अमुक गति में, गमन करने अथवा उसी गति या भव में, अमुक काल तक सुखभोग करने की स्थिति बांध देता है। यही उसको पुरस्कार प्रदान करना है।

अनुभागबन्ध के अनुसार ही प्रायः स्थितिबन्ध

राजवार्तिक के अनुसार अनुभाग-बन्ध प्रधान है, वही सुख-दुःख के फलप्रदान में निमित्त होता है, उसी के अनुसार उक्त बद्धकर्म की स्थिति (काल-सीमा) का निर्धारण होता है।[1] पंचाध्यायी (उ.) में तो स्पष्ट कहा गया है कि केवल अनुभाग-बन्ध ही बांधने रूप अपनी क्रिया में समर्थ है, बाकी के तीनों बन्ध आत्मा को बांधने रूप क्रिया में समर्थ नहीं हैं।[2] फिर भी कहना होगा कि अनुभागबन्ध के पश्चात् यदि स्थितिबन्ध न हो तो कर्मबन्ध का विपाकरूप कार्य पूर्ण नहीं होता। जैसे—न्यायाधीश किसी अपराधी को उसके परिणामों के अनुसार सजा तो सुना दे, परन्तु वह दण्ड क्रियान्वित न हो तो अपराध के फलस्वरूप दण्ड प्रदान कार्य पूर्ण नहीं माना जाता, वैसे ही अनुभागबन्ध के द्वारा बद्धकर्म का तीव्र-मन्द रसानुसार दण्ड या पुरस्कार के रूप में फल नियत करने पर यदि स्थितिबन्ध के द्वारा उसका अमुक कालावधिपर्यन्त दण्ड या पुरस्कार क्रियान्वित न हो तो दण्ड-पुरस्कार फल अपूर्ण माना जाता है। इसलिए कर्मविज्ञान के पुरस्कर्ताओं ने अनुभाग (रस) बन्ध के साथ-साथ स्थितिबन्ध का होना आवश्यक माना है।

इन दोनों बन्धों के साहचर्य का 'धवला' में एक कारण यह भी बताया गया है कि उत्कृष्ट अनुभाग को बांधने वाला जीव निश्चय से उत्कृष्ट स्थिति को ही बांधता

---

१. अनुभागबन्धो हि प्रधानभूतः, तन्निमित्तत्वात् सुखदुःख विपाकस्य। —राजवार्तिक ६/३/७/५०७

२. (क) स्वार्थ-क्रिया-समर्थोऽत्र बन्धः स्याद् रससंज्ञिकः), शेषबन्धत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः।
—पंचाध्यायी (उ.) गा. ९३७

(ख) एतेषु षट्सु सत्सु जीवो ज्ञान-दर्शनावरण द्वयं भूयो बध्नाति, प्रचुरवृत्त्या स्थित्यनुभागौ बध्नातीत्यर्थः।
—गोम्मटसार (क) ८/३/३७९

है, क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेश के बिना उत्कृष्ट अनुभागबन्ध नहीं होता तथा उत्कृष्ट स्थिति के साथ यदि उत्कृष्ट विशेष प्रत्यय रूप उत्कृष्ट संक्लेश के द्वारा उत्कृष्ट अनुभाग बांधा गया है, तो काल-वेदना (स्थितिबन्ध) के साथ भाव (अनुभाव) भी उत्कृष्ट होता है। और अनुभाग-सम्बन्धी उत्कृष्ट विशेष प्रत्यय के अभाव में भाव (अनुभाग) भी अनुत्कृष्ट ही होता है।[1]

स्थितिबन्ध : लक्षण, स्वरूप और कार्य

जीव के अपने आयुष्य कर्म द्वारा प्राप्त आयुष्य के उदय से उस भव में अपने शरीर के साथ रहना स्थिति कहलाता है। धवला के अनुसार–योग के वश से कर्मस्वरूप से परिणत पुद्गल-स्कन्धों का कषाय के वश से जीव में एकस्वरूप रहने के काल को स्थिति कहते हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार स्थितिबन्ध का लक्षण है–अध्यवसाय से गृहीत कर्मदलिक की स्थिति के काल का नियम स्थितिबन्ध है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो–बंध हो जाने पर जो कर्म जितने समय तक आत्मा के साथ ठहरा (अवस्थित) रहता है, वह उसका स्थितिकाल है, बंधने वाले कर्मों में इस स्थितिकाल की मर्यादा (सीमा–अवधि) के पड़ने (निश्चित हो जाने) को स्थितिबन्ध कहते हैं। बंधा हुआ कर्म कितने समय तक जीव के साथ सम्बद्ध रहेगा ? इस प्रकार का निर्धारण (निश्चय) करना स्थितिबन्ध (ड्यूरेशन–Duration) का कार्य है। साथ ही, वह यह भी निश्चित करता है कि स्थिति पूर्ण होते ही कर्म स्वयं ही निर्जीव होकर आत्मा से पृथक् हो जाएगा, झड़ जाएगा।[2]

स्थितिबन्ध का कार्य और प्रकार

स्थितिबन्ध का कार्य है, जीव ने जैसा, जिस प्रकार से, जिस भाव से कर्म बांधा है, उसे तदनुसार फल देने की काल-मर्यादा का निश्चय करना। वैसे तो सामान्य रूप

---

१. (क) उक्कसाणुभागं बंधमाणो णिच्छएण उक्कस्सियं चेव ट्ठिदिं बंधदि, उक्कस-संकिलेसेण विणा उक्कस्साणुभागबंधाभावादो। –धवला १२/४, २, १३, ४०/३९३/६

(ख) इन दोनों कथनों की नियमतः व्याप्ति घटित नहीं होती; देवों और नारकों में कदाचित् यह तथ्य सुसंगत हो सकता है, मनुष्यों और तिर्यंचों में इस कथन से विपरीत भी देखा जाता है। अतः धवला का यह कथन विचारणीय है।

(ग) जदि उक्कस्सट्ठिदीए सह उक्कस्स-संकिलिसेण उक्कस्स-विसेस-पच्चएण उक्कस्साणुभागो पबद्धो तो कालवेयणाए सह भावो वि उक्कसो होदि। उक्कस्स-विसेस-पच्चयाभावे अणुक्कस्सामो चेय। –धवला १२/४, २, १३, ३१/३९०/१३

२. (क) स्वोपात्तस्यायुष उदयात्तस्मिन् भवे शरीरेण सहावस्थानं स्थितिः। –सर्वार्थसिद्धि ८/३/३७९

(ख) जोगवसेण कम्म-सरूवेण परिणदाणं पोग्गलक्खंधाणं कसाय-वसेण जीवे एग-सरूवेणावट्ठाणकालो ट्ठिदिनाम। –धवला ६/१, ९-६/२

(ग) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. ८७

(घ) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. ३९५

से वह स्थिति दो ही प्रकार की बताई है–उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति। उत्कृष्ट स्थिति का अर्थ है–अधिक से अधिक काल तक प्राप्त शरीर या भव में स्थित रहना। और जघन्य स्थिति का अर्थ है कम से कम काल तक शरीर या भव में अवस्थित रहना। किन्तु इसके मध्य में असंख्यात भाग होते हैं; क्योंकि उत्कृष्ट और जघन्य से तो वस्तु के अन्तिम दो छोर का ही ग्रहण किया जाता है, एक इस पार का और दूसरा उस पार का। बीच में असंख्यात भागों का ग्रहण इन दोनों से नहीं होता। इसलिए कई आचार्यों ने इन दोनों के बीच की स्थिति को ग्रहण करने की दृष्टि से मध्यम स्थिति भी मानी है। मध्यम स्थिति का अर्थ है–जो जघन्य स्थिति से एक समय आदि अधिक हो और उत्कृष्ट स्थिति से एक समय कम हो। इसी को मध्यम स्थिति समझनी चाहिए।[1]

जैनकालमान का प्ररूपण : समय से लेकर सागरोपम तक

आधुनिक विज्ञान ने सूक्ष्म से सूक्ष्म काल का माप निश्चित किया है। उसने एक सैकंड के भी हजारों भाग कर दिये हैं, जिनका गणितीय उपयोग किया जाता है। किन्तु जैनागमों (अनुयोगद्वार आदि) में जो कालमान दिया है; वह आधुनिक विज्ञान के कालमान से भी बहुत सूक्ष्म है। जैसे–जैन कालमान के अनुसार–काल के अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अंश, कल्पना से भी जिसके दो भाग न हो सकें, ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालांश को 'समय' कहते हैं। ऐसे असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। असंख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास-निःश्वास काल, दो श्वास का एक प्राण, सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, साढ़े अड़तीस लव की एक नाली या घटिका, दो घटिका (अथवा ७७ लव) का एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) होता है। ३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र (दिन और रात) होता है।

एक मुहूर्त्त (४८ मिनट लगभग) में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं। अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यात भाग होते हैं। निगोदिया जीव एक मुहूर्त में ६५५३६ बार जन्म लेता है। एक श्वासोच्छ्वास का काल एक सैकिंड से भी कम होता है, उतने काल में (अर्थात्–एक श्वासोच्छ्वास में) निगोदिया जीव साढ़े सत्रह (सत्रह से कुछ अधिक) बार जन्म-मरण कर लेता है।

एक अहोरात्र के पश्चात् १५ अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष प्रसिद्ध है। उसके पश्चात् ५ वर्ष का एक युग, बीस युग की एक शताब्दी, दस शताब्दि की एक सहस्राब्दि, ८४०० सहस्राब्दि यानी ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व (अर्थात्–७०५६० अरब वर्ष), ८४ लाख पूर्व का एक त्रुटितांग, उसके

१. (क) आत्मतत्व-विचार से भावांशग्रहण, पृ. ३४९
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. ३९४

पश्चात् उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणा करने से त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हूहूअंग, हूहू, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थ-निपूरांग, अर्थनिपूर आदि से लेकर शीर्ष प्रहेलिका-पर्यन्त गणित (संख्या) विधि का क्षेत्र है। अर्थात् शीर्षप्रहेलिका तक उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणा करने से १९४ अंक प्रमाण, जो राशि बनती है, वहीं तक गणित की सीमा है। उससे आगे की जो कालावधि वर्षों के रूप में नहीं गिनी जा सकती, उसके लिए उपमा-प्रमाण का सहारा लिया जाता है। अर्थात्–जब संख्यात (संख्येय) की गणना रुक जाती है, तब असंख्यात (असंख्येय) की गणना शुरू होती है। पल्योपम और सागरोपम उसी जाति के कालमान (उपमाप्रमाण) हैं।[1]

पल्योपम और सागरोपम कालमान

पल्योपम और सागरोपम ये दोनों उपमा-प्रमाण हैं। कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम और सागरोपमों में बताई गई है। इसीलिए स्थितिबन्ध के सन्दर्भ में इन दोनों का तात्पर्य समझना आवश्यक है। संक्षेप में पल्योपम का अर्थ यह है–अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं। समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसे काल-पल्योपम कहते हैं। सामान्यतया एक योजन लम्बा, एक एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा गोल पल्य (गड्ढा), जिसकी परिधि ३ $\frac{1}{6}$ योजन हो, एक दिन से लेकर सात दिन तक के (देवकुरु या उत्तरकुरु क्षेत्र के) मनुष्यों के केशाग्रों (जिनका दूसरा टुकड़ा न हो सके इतने सूक्ष्म) को इतना ठसाठस भरे कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही उसमें प्रवेश हो सके, इतना ही नहीं, चक्रवर्ती की सेना भी उस पर से कूच कर जाए तो भी दबे नहीं। फिर उस पल्य में से १००-१०० वर्षों में एक-एक टुकड़ा (खण्ड) निकाले जाने पर जितने सौ वर्षों में वह गड्ढा खाली हो जाए उतने काल को पल्योपम कहते हैं। ऐसे १० कोटिकोटि (१० करोड़ × १० करोड़) पल्योपम काल को एक सागरोपम कहते हैं। यह बादर अद्धा पल्योपम और सागरोपम हैं। इनसे देवादि चारों की आयुष्य की स्थिति का काल नापा जाता है। इनके भेद-प्रभेदों का वर्णन पंचम कर्मग्रन्थ में विस्तार से किया गया है।[2]

स्थितिबन्ध का मुख्य कारण : कषाय

स्थितिबन्ध का प्रमुख कारण कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ, फिर इनके चार-चार भेद होने से षोडश-प्रकारात्मक कषाय, साथ ही नौ नोकषाय भी; राग और

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ८५ का विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. २६१ से २७१
(ख) आत्मतत्त्व विचार से, पृ. ३५०-३५१

२. (क) कर्मग्रन्थ भाग ५, गा. ८५ के विवेचन से सारांश ग्रहण
(ख) आत्मतत्त्वविचार से, पृ. ३६३
(ग) कर्मग्रन्थ भा. ५ में ८५वीं गाथा के विवेचन में पल्योपमादि के प्रकार का विवरण।

द्वेष भी कषाय के अन्तर्गत) हैं। कषाय का उदय दसवें गुणस्थान तक ही रहता है। इसलिए दसवें गुणस्थान तक के जीव सकषाय कहलाते हैं और उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगीकेवली और अयोगीकेवली कहलाते हैं—अकषाय। तत्त्वार्थसूत्र में कर्मों की मूल-प्रकृति के उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का निर्देश सकषाय—साम्परायिक क्रिया की अपेक्षा से किया गया है। मूल आठ कर्मों में एक वेदनीय कर्म ही ऐसा है, जो अकषाय जीवों के भी बंधता है। वह सातावेदनीय का बन्ध भी नाममात्र का है, क्योंकि वह कषाय-रहित उच्च गुणस्थानवर्ती जीव के ईर्यापथिक क्रिया की अपेक्षा पहले समय में बँधता है, दूसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। यानी उनके वह सातावेदनीय का बन्ध मात्र दो समय (अत्यन्त सूक्ष्म क्षण) का है। यह स्थिति केवल तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में ही होती है, अन्यत्र कहीं भी ऐसा सम्भव नहीं है।[1] कर्मवैज्ञानिक स्थितिबन्ध में अध्यवसाय को मुख्य कारण मानते हैं। आत्मा जिस प्रकार के शुभ या अशुभ तीव्र, मन्द या मध्यम अध्यवसाय में प्रवृत्त है, तदनुसार ही स्थितिबन्ध होता है।[2]

मूलकर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति

उत्तराध्ययनसूत्र के ३३वें अध्ययन, तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय तथा कर्मग्रन्थ के पंचम भाग के अनुसार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की होती है, मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम की होती है। नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम की होती है तथा आयुष्यकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय तथा आयुष्यकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है, वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति (अकषाय-सयोगीकेवली को छोड़कर) १२ मुहूर्त की है, नाम और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति प्रत्येक की ८ मुहूर्त की है।[3]

---

१. (क) तत्त्वार्थ विवेचन (उपाध्याय केवलमुनि) से, पृ. ३९५
   (ख) कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्र जी) से, पृ. ८९
   (ग) सकषायाकषाययोः साम्परायिकैर्यापथयोः। —तत्त्वार्थसूत्र ६/५
   (घ) मुत्तुं अकसायठिइं। —गा. २७
२. (क) आत्मतत्त्वविचार (प्र. विजयलक्ष्मणसूरिजी) से, पृ. ३४९
   (ख) वही, पृ. ३५०
३. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. २६-२७
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ८/सू. १५ से २१ तक
   (ग) उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३३, गा. १९ से ४२ तक

आयुकर्म के सिवाय सात मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति सागरोपम प्रमाण द्वारा

मूल प्रकृतियों की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है, वह स्थिति इतनी अधिक है कि संख्या-प्रमाण के द्वारा उसका कालमान बतलाना अशक्य-सा है। अतः उसे उपमा-प्रमाण काल के द्वारा बताया गया है। उपमा प्रमाण का ही एक भेद सागरोपम है। कोटाकोटि या कोटिकोटि का अर्थ है–एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जो महाराशि आती है, उसे एक कोटिकोटि या कोटाकोटि अथवा कोड़ाकोड़ी कहते हैं। आठ कर्मों में एक आयुष्यकर्म ही ऐसा है, जिसकी स्थिति कोटिकोटि सागरोपमों में नहीं होती, वह ३३ सागरोपम है।[1] इतनी सुदीर्घ स्थिति से यह स्पष्ट है कि एक भव में बांधा हुआ कर्म अनेक भवों तक बना रह सकता है।

कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति

पांच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण और असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागरोपम प्रमाण है। सूक्ष्म-त्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण) नामकर्म की, तथा विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) जातिनामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। तथा प्रथम संस्थान, प्रथम संहनन की उत्कृष्ट स्थिति दस कोटि-कोटि सागर है। और आगे के प्रत्येक संस्थान और प्रत्येक संहनन की स्थिति में दो-दो सागर की वृद्धि होती जाती है। अर्थात्–दूसरे संस्थान और दूसरे संहनन की उत्कृष्ट स्थिति बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है; तीसरे संस्थान और तीसरे संहनन की चौदह, चौथे की सोलह, पांचवें की अठारह और छठे की बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति जाननी चाहिए।[2]

वास्तव में उत्तर प्रकृतियों की स्थिति से मूल प्रकृतियों की स्थिति कोई पृथक् नहीं होती, किन्तु उत्तर-प्रकृतियों की स्थिति में से जो स्थिति सबसे अधिक होती है, वही मूल प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति मान ली गई है। जैसे–ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म की उत्तरप्रकृतियों की भी उतनी उत्कृष्ट स्थिति है, जितनी मूलकर्म प्रकृतियों की बतला चुके हैं। किन्तु नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में अधिक विषमता पाई जाती है। जैसे कि अभी-अभी प्रथम संस्थान और प्रथम संघनन की उत्कृष्ट स्थिति दस कोटिकोटि सागर की है, और उत्तरोत्तर दो-दो कोटिकोटि सागर की वृद्धि होते होते अन्तिम संस्थान और अन्तिम संहनन की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटिकोटि सागर हो जाती है। इस विषमता का कारण है, कषायों की न्यूनाधिकता। जब जीव के भाव अधिक संक्लिष्ट होते हैं, तब स्थितिबन्ध भी अधिक

१. देखें, कर्मग्रन्थ भा. ५ की गाथा ८५ में पल्योपम और सागरोपम कालप्रमाण का विश्लेषण, पृ. २६० से २७१ तक।

२. कर्मग्रन्थ भा. ५ (पं. कैलाशचन्द्रजी) गा. २८ का विवेचन, पृ. ८९

होता है, और जब कम संक्लिष्ट होते हैं, तो स्थितिबन्ध भी कम होता है। इसी कारण जितनी भी प्रशस्त प्रकृतियाँ हैं, प्रायः सभी की स्थिति अप्रशस्त प्रकृतियों की स्थिति से कम होती है, क्योंकि उनका बन्ध प्रशस्त परिणाम वाले जीव के ही होता है।[1]

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क, संज्वलन-कषाय-चतुष्क, इन सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। मृदु-स्पर्श, लघुस्पर्श, स्निग्ध स्पर्श, उष्णस्पर्श, सुरभिगन्ध, श्वेतवर्ण और मधुररसनामकर्म की इन सात प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोटिकोटि सागर प्रमाण है। आगे के प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक रस की स्थिति ढाई कोटिकोटि सागर प्रमाण अधिक-अधिक जाननी चाहिए। अर्थात् हरितवर्ण, आम्लरस नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति साढ़े बारह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। लालवर्ण और कषायरस नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है। नीलवर्ण और कटुकरस नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति साढ़े सत्रह कोटिकोटि सागर प्रमाण है तथा कृष्णवर्ण और तिक्तरस की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटिकोटि सागर प्रमाण है।

प्रशस्त विहायोगति, उच्चगोत्र, सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी) स्थिर षट्क (स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति), पुरुषवेद, रति, हास्य, इन १३ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति दस कोटिकोटि सागरोपम प्रमाण है। तथा मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, स्त्रीवेद और सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति १५ कोटिकोटि सागरोपम-प्रमाण है। जबकि मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतिरूप मिथ्यात्व मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, औदारिक शरीर[2], औदारिक अंगोपांग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नीचगोत्र, तैजसशरीरादि पंचक (तैजस शरीर, कार्मणशरीर, अगुरुलघु, निर्माण, उपघात) और अस्थिरादि छह (अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति), त्रस-चतुष्क (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक), स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, नपुंसकवेद, अप्रशस्त-विहायोगति, उच्छ्वास-चतुष्क (उच्छ्वास, उद्योत, आतप और पराघात) गुरु, कठोर, रूक्ष, शीत एवं दुर्गन्ध; इन ४२ उत्तर-प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटिकोटि सागरोपम-प्रमाण है। इसी प्रकार तीर्थंकरनाम और आहारक-द्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः-कोटिकोटि सागरोपम-प्रमाण है[3]। मनुष्यायु

१. वही, विवेचन, पृ. ९८

२. कर्मग्रन्थ भा. ५ के टब्बे के अनुसार—जो मूल शरीर नामकर्म की स्थिति है, वही शरीर के अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघातनामकर्म की स्थिति समझनी चाहिए। —कर्मग्रन्थ भा.५, पृ. ९६

३. अन्तःकोटिकोटि सागरोपम- कुछ कम कोटिकोटि को अन्तःकोटिकोटि कहते हैं। आशय यह है कि तीर्थंकर नामकर्म, आहारक शरीर एवं आहारक अंगोपांग, इन तीनों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कोटिकोटि सागर से कुछ कम है और जघन्य स्थिति उससे संख्यातगुणी हीन है। अर्थात् संख्यातवें भाग प्रमाण है।

और तिर्यञ्चायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम काल प्रमाण है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्व कोटि-प्रमाण[1] बांधते हैं। असंज्ञी पर्याप्तक जीव चारों ही आयुष्यकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण बांधते हैं।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव मरकर तिर्यञ्च गति या मनुष्यगति में ही जन्म लेते हैं। वे मर कर देव या नारक नहीं हो सकते। तथा तिर्यञ्चों और मनुष्यों में भी कर्मभूमिजों में ही जन्म लेते हैं, भोगभूमिजों में नहीं। अतः वे आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्वकोटि-प्रमाण बांध सकते है;[2] क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि की होती है, तथा असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव तो मर करके चारों ही गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है। अतः चारों में से वह किसी भी आयु का बन्ध कर सकता है। किन्तु वह मनुष्यों में कर्मभूमिज मनुष्य तथा तिर्यञ्चों में कर्मभूमिज तिर्यञ्च ही होता है। देवों में भवनपति और व्यन्तर ही होता है तथा नरक में पहले नरक के तीन पाथड़ों तक ही जन्म लेता है। अतः उसके आयुकर्म का बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होता है।[3]

कर्मग्रन्थ भा. ५ की उक्त गाथाओं के अनुसार कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध केवल संज्ञी पर्याप्तक जीव ही कर सकते हैं। अतः यह उत्कृष्ट स्थिति पर्याप्तक संज्ञी जीवों की अपेक्षा से ही बतलाई गई है।[4] इस प्रकार बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से आहारक द्विक, तीर्थंकर नाम तथा आयुकर्म की ४ प्रकृतियाँ, इन ७ प्रकृतियों के सिवाय ११३ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है।

अबाधकाल : कर्म के स्थितिबन्ध से लेकर उदय तक का काल तथा स्वरूप

किसी भी कर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के बाद, जब तक कर्म उदय में नहीं आता, बाधा नहीं पहुँचाता, तब तक का काल अबाधाकाल कहलाता है। अर्थात्—जब तक

---

१. पूर्वकोटि-प्रमाण के लिये देखें यह गाथा—
पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरी खलु होंति सय-सहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीए ॥ —ज्योतिष्करंडक
अर्थात्—७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व का परिमाण जानना चाहिए। यह गाथा सर्वार्थसिद्धि, पृ. १२८ में भी उद्धृत है।

२. कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, गा. २९ से ३४ तक, पृ. ८९ से १००

३. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ३४ के भावार्थ, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १००
(ख) तिर्यञ्चगति में तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता का जो निषेध (अभाव-कथन) किया गया है, वह निकाचित तीर्थंकर नामकर्म—अर्थात् अवश्य अनुभव में आने योग्य तीर्थंकर नामकर्म की अपेक्षा से किया है, किन्तु जिसमें उद्वर्तन और अपवर्तन हो सकता है उस तीर्थंकर नाम प्रकृति का निषेध तिर्यञ्चगति में नहीं किया है। इस दृष्टि से अन्तःकोटिकोटि सागर लम्बी स्थिति घटित हो जाती है। —कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन, पृ. ९७

४. वही भा. ५ विवेचन पृ. ९९

बद्ध-कृतकर्म (द्रव्य) उदय या उदीरणा को प्राप्त होकर फल न दे, तब तक का काल अबाधाकाल कहलाता है। अबाधाकाल का शब्दशः अर्थ होता है[1] कर्म की बाधा-पीड़ा न उत्पन्न करने वाला काल। जैसे-किसी ने सप्तम नरक का उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम का आयुष्य बांधा हो, तो भी तत्काल उसका कोई फल नहीं मिलता, वह कर्म उदय में आने पर ही फल दे सकता है, उससे पहले नहीं। उत्कृष्ट स्थितिबन्ध काल से उदयकाल तक के बीच में वह कर्म सत्ता में पड़ा रहता है। दिगम्बर परम्परा में इसे आबाधाकाल कहते हैं।

आप कहेंगे कि कर्म के बन्ध होते समय काल के निश्चित हो जाने के बाद ही कर्म का उदय क्यों नहीं होता ? अमुक निश्चित काल तक उसका फलभोग क्यों नहीं होता ? इसके समाधान के लिये कर्मों को मादकद्रव्य से उपमा दी जाती है। जैसे-भांग, गांजा, अफीम, चरस, गांजा, मद्य आदि नशीली चीजों का नशा कुछ समय के बाद ही चढ़ता है, उसी प्रकार बद्धकर्मपुद्गलों का प्रभाव भी एक निश्चित काल के पश्चात् ही होता है। मदिरा आदि के समान आत्मा पर असर डालने वाले कर्म की जितनी ही अधिक स्थिति होती है, उतने ही अधिक समय तक वह कर्म बंधने के बाद फल दिये बिना ही आत्मा में पड़ा रहता है। उसे ही अबाधाकाल कहते हैं। अबाधाकाल मुद्दतिया हुंडी-सा है। जैसे-मुद्दतिया हुंडी मुद्दत पूरी होने पर ही सिकारी जाती है, वैसे ही कर्म की स्थिति बंधने पर अमुक मुद्दत के पश्चात् ही, यानी-शुभ-अशुभकर्म का काल पकने पर ही वह उदय में आता है और उसका फल भुगवाता है।[2]

अबाधाकाल का परिमाण

कर्मग्रन्थ में बद्ध-कर्मों का अबाधाकाल उनकी स्थिति के अनुपात से बतलाते हुए कहा गया है कि जिस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितने कोटिकोटि सागर-प्रमाण होती है, उस कर्म का उतने ही सौ वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट अबाधाकाल होता है। जैसे-किसी कर्म की स्थिति एक कोटिकोटि सागरोपम की है तो उस स्थिति में सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है। अर्थात्-आज एक कोटिकोटि सागर की स्थिति को लेकर जो कर्म बांधा है, वह आज से १०० वर्ष बाद उदय में आएगा, और तब तक उदय में आता रहेगा, जब तक एक कोटिकोटि सागर प्रमाण काल समाप्त नहीं हो जाएगा।[3]

---

१. न बाधा अबाधा, अबाधास्येव आबाधा —धवला, पृ. ६

२. (क) कर्मग्रन्थ भा.५, गा. ३२
   (ख) आत्मतत्त्वविचार से, पृ. ३५८
   (ग) होई अबाहकालो किर कम्मस्स अणुदयकालो। —शतक गा. ४२, पृ. ६७
   (घ) कम्मसरूवेणागयदव्वं ण य एदि उदयरूवेण।
   रूवेणुदीरणस्स व आबाहा जाव ताव हवे॥ —गोम्मटसार (क) गा. १५५

३. कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन, पृ. २३

स्थिति के दो प्रकार : कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणा, अनुभवयोग्या

'कर्मप्रकृति' में स्थिति के दो भेद बताये गए हैं–एक-कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति और दूसरी अनुभवयोग्या स्थिति। बंधने के बाद कर्म जब तक आत्मा के साथ ठहरता है, उतने काल का परिमाण कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा स्थिति है, और जो अबाधाकाल-रहित स्थिति है, वह अनुभवयोग्या स्थिति कहलाती है। स्थितिबन्ध के प्रकरण में पहली ही स्थिति बताई गई है। दूसरी स्थिति जानने के लिए पहली स्थिति में से अबाधाकाल कम कर देना चाहिए।[1]

अबाधाकाल : विभिन्न कर्मों का

इसे एक उदाहरण में समझिए–पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पाँच अन्तराय और असातावेदनीय कर्मों में प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटिकोटि सागरोपम की है और एक कोटिकोटि सागरोपम की स्थिति में एक सौ वर्ष अबाधाकाल होता है। अतः उपर्युक्त कर्मों में से प्रत्येक का अबाधाकाल ३०× १०० = ३००० वर्ष हुआ। इसी अनुपात के अनुसार सूक्ष्म त्रिक और विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) का अबाधाकाल १८०० वर्ष है; समचतुरस्र संस्थान और वज्रऋषभनाराच संहनन का अबाधाकाल १००० वर्ष, न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान और ऋषभनाराच संहनन का अबाधाकाल १२०० वर्ष, स्वाति (सादी) संस्थान और नाराच संहनन का अबाधाकाल १४०० वर्ष, कुब्ज संस्थान और अर्धनाराच संहनन का अबाधाकाल १६०० वर्ष, वामन संस्थान और कीलक संहनन का अबाधाकाल १८०० वर्ष, तथा हुंडक संस्थान और सेवार्त्त संहनन का अबाधाकाल २००० वर्ष, पूर्वोक्त सोलह कषायों का चार हजार वर्ष; मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण, सुगन्ध, श्वेतवर्ण, और मधुर रस का अबाधाकाल १००० वर्ष, हरित वर्ण और आम्लरस का १२५० वर्ष, लाल वर्ण और काषाय रस का १५०० वर्ष, नील वर्ण और कटु रस का १७५० वर्ष, काला वर्ण और तिक्त (तीखे) रस का २००० वर्ष का अबाधाकाल है। इसी प्रकार शुभ विहायोगति, उच्च गोत्र, सुरद्विक, स्थिरषट्क, पुरुषवेद, हास्य और रति का १००० वर्ष का, मिथ्यात्वमोहनीय का ७००० वर्ष का, मनुष्यद्विक, स्त्रीवेद और सातवेदनीय का १५०० वर्ष का, भय, जुगुप्सा, अरति, शोक, वैक्रियद्विक, तिर्यग्द्विक, नरकद्विक, औदारिकद्विक, नीचगोत्र, तैजस-पंचक, अस्थिरषट्क, त्रसचतुष्क, स्थावर, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नपुंसकवेद, अप्रशस्त (अशुभ) विहायोगति, उच्छ्वास-चतुष्क, गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत और दुर्गन्ध का अबाधाकाल दो हजार वर्ष का जानना चाहिए।[2]

---

१. (क) इह द्विधा स्थितिः, कर्मरूपतावस्थान-लक्षणा, अनुभवयोग्या च। तत्र कर्मरूपतावस्थान-लक्षणामेव स्थितिमधिकृत्य जघन्योत्कृष्ट-प्रमाणमवगन्तव्यम्। अनुभवयोग्या पुनरबाधाकालहीना। –कर्मप्रकृति, मलयगिरि टीका, पृ. १६३

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ३२ का विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. ९२ से ९४ तक
(ख) वीस कोडाकोडी एवइयाऽऽबाहवाससया। –कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ३२
(ग) दस सेसाणं वीसा एवइयाबाह वाससया। –पंचसंग्रह गा. २४३

तीर्थंकर नामकर्म और आहारक द्विक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोटिकोटि सागर है और अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है। अर्थात् उनकी उत्कृष्ट तथा जघन्य अबाधा भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

आयुकर्म के सम्बन्ध में अबाधा स्थिति के अनुपातानुसार नहीं

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अबाधाकाल के सम्बन्ध में जो नियम पहले बताया गया था कि एक कोटिकोटि सागरोपम की स्थिति में सौ वर्ष का अबाधाकाल होता है, वह नियम आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों के ही अबाधाकाल का प्रमाण जानने के लिए था। जैसे कि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है– जैसे अन्य कर्मों में स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार आबाधा (अबाधा) का प्रमाण निकाला जाता है, वैसे आयुकर्म में नहीं निकाला जाता। इसका कारण यह है कि अन्य कर्मों का बन्ध तो सर्वदा होता रहता है, किन्तु आयुकर्म का बन्ध अमुक-अमुक काल में ही होता है।[1]

आयुकर्म का अबाधाकाल अनिश्चित भी है

आयुकर्म की स्थिति में अबाधाकाल का पूर्वोक्त नियम लागू नहीं होता। आयुकर्म की ३३ सागर, ३ पल्य तथा एक पल्य का असंख्यातवाँ भाग आदि जो स्थिति बतलाई है, तथा आगे भी बतलाएंगे, वह शुद्ध स्थिति है। उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है। इस अन्तर का कारण यह है कि अन्य सात कर्मों की तरह आयुकर्म की अबाधा आयुस्थिति के अनुपात पर अवलम्बित नहीं है और न सुनिश्चित है, क्योंकि आयु के त्रिभाग में भी आयुकर्म का बन्ध अवश्यम्भावी नहीं है। उसमें भी त्रिभाग के भी त्रिभाग करते-करते आठ विभाग पड़ते हैं। उसमें भी अगर आयुबन्ध नहीं होता तो मरण से अन्तर्मुहूर्त पहले तो अवश्य हो जाता है।[2] इसी अनिश्चितता के कारण आयुकर्म की स्थिति में उसका अबाधाकाल सम्मिलित नहीं किया गया है, क्योंकि वह स्थिति अनुभवयोग्य (अबाधारहित) है।[3]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ४ (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १०२
(ख) आउसस्स अबाहा ण ट्ठिदि पडिभागगउत्ति। —गोम्मटसार (क-) गा. १५८

२. बंधंति देवनारय-असंखनरतिरि छमासऽसंखाऊ।
परभवियाऊ सेसा निरुवक्कम-तिभाग सेसाऊ॥
सोवक्कमाऊया पुण सेस तिभागे, अहव नवमभागे।
सत्तावीसइमे वा अंतोमुहुत्तंतिमेवा वि॥ —संग्रहणीसूत्र ३०१, ३०२

३. (क) सुर-नारयाउयाणं अयरा तेत्तीस तिण्णि पलियाइं।
इयराणं चउसु वि पुव्वकोडितिसो अबाहाओ॥
(ख) कर्मग्रन्थ, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १०२, १०४

आयुकर्म के त्रिभाग वाले अबाधाकाल का हिसाब

इसके विपरीत जो स्थिति कर्मरूपताऽवस्थानलक्षणा है, उसमें आयुकर्म के अबाधाकाल का त्रिभाग वाला नियम लागू होता है। पहले नरकायु और देवायु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की बतला चुके हैं। तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है। अतः इन चारों की उत्कृष्ट स्थिति के अनुसार अबाधाकाल का प्ररूपण इस प्रकार किया गया है–

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्वकोटि-प्रमाण बांधते हैं। असंज्ञी पर्याप्तक जीव चारों ही आयुकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण बांधते हैं। निरुपक्रम आयु वाले अर्थात्–जिनकी आयु का अपवर्तन–घात नहीं होता, ऐसे देव, नारक और भोगभूमिज मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों के आयुकर्म का अबाधाकाल छह मास का होता है। शेष मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों के आयुकर्म का अबाधाकाल अपनी-अपनी आयु के तीसरे भाग (१/३ भाग) प्रमाण होता है।

गति के अनुसार आयु का बन्ध त्रिभाग प्रमाण

गति के अनुसार–मनुष्यगति और तिर्यञ्चगति में जब भुज्यमान आयु के दो भाग बीत जाते हैं, तब परभव की आयु के बन्ध का काल उपस्थित होता है। जैसे–यदि किसी मनुष्य की ९९ वर्ष की आयु है तो उसमें से ६६ वर्ष बीत जाने पर वह मनुष्य परभव की आयु बांध सकता है। इससे पहले उसके आयुकर्म का बन्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से मनुष्यों और तिर्यञ्चों के आयुकर्म का अबाधाकाल एक पूर्वकोटि का तीसरा भाग बतलाया है, क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च की आयु एक पूर्वकोटि की होती है। अतः उसके त्रिभाग में परभव की आयु बंधती है। भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के ६ मास शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं, इसी से निरुपक्रम आयु वालों के बध्यमान आयुष्य का अबाधाकाल छह मास बतलाया है।

त्रिभाग से कुछ अधिक शेष रहने पर परभव का आयुष्य बन्ध नहीं

एक शंका इस सम्बन्ध में उपस्थित होती है कि आयु के दो भाग बीत जाने पर जो आयु का बन्ध कहा है, वह असंभव होने से चारों गतियों में घटित नहीं होता। क्योंकि भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यञ्च कुछ अधिक पल्य का असंख्यातवाँ भाग शेष रहने पर परभव की आयु नहीं बाँधते हैं। अपितु पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग शेष रहने पर ही परभव की आयु बांधते हैं। तथा देव, नारक और असंख्यात वर्ष की आयु वाले निरुपक्रमी मनुष्य एवं तिर्यञ्च अपनी आयु के छह मास से अधिक शेष रहने पर परभव की आयु नहीं बांधते, किन्तु छह मास की आयु बाकी रहने पर ही परभव की आयु बांधते हैं। मगर उनकी आयु का त्रिभाग बहुत होता है। तिर्यञ्चों और मनुष्यों की आयु का त्रिभाग एक पल्य तथा देवों और नारकों की आयु का त्रिभाग ग्यारह सागर होता है।

यह अबाधा अनुभूयमान भव-सम्बन्धी आयु में ही

पंचसंग्रह के अनुसार एक बात और ध्यान में ले लेनी चाहिए कि जिन तिर्यंचों और मनुष्यों की आयु एक पूर्वकोटि होती है, उनकी अपेक्षा से ही एक पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण अबाधा बतलाई है। तथा यह अबाधा अनुभूयमान भवसम्बन्धी आयु में ही जाननी चाहिए, परभव-सम्बन्धी आयु में नहीं, क्योंकि परभव सम्बन्धी आयु की दल-रचना प्रथम समय में ही हो जाती है, उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं है।

अतः एक पूर्वकोटि आयु वाले तिर्यञ्चों और मनुष्यों की परभव की आयु की उत्कृष्ट अबाधा पूर्वकोटि के त्रिभाग प्रमाण होती है। शेष देव, नारक और भोगभूमियों के परभव की आयु की अबाधा छह मास होती है। तथा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के अपनी-अपनी आयु के त्रिभाग-प्रमाण उत्कृष्ट अबाधा होती है। कुछ आचार्य भोगभूमियों के परभव की आयु की[1] अबाधा पल्य के असंख्यातवें प्रमाण कहते हैं।

निरुपक्रमी और सोपक्रमी आयु द्वारा परभवायुर्बन्ध

निष्कर्ष यह है कि निरुपक्रमी आयु वाले जीव आयु का त्रिभाग शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं, जबकि सोपक्रमी आयु वाले जीव अपनी आयु के त्रिभाग में, अथवा नौवें भाग में या सत्ताईसवें भाग में परभव की आयु बांधते हैं। यदि इन विभागों में भी आयुबन्ध नहीं कर पाते तो अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में परभव की अयु बांधते हैं।[2]

उत्तरकर्मप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध

अठारह प्रकृतियों की जघन्य स्थिति

संज्वलन लोभ, पांच अन्तराय, पांच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरणों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। यशःकीर्ति और उच्चगोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण होता है और सातावेदनीय का जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

जघन्य स्थितिबन्ध के सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि यह स्थितिबन्ध अपने-अपने बन्ध-व्युच्छित्ति के समय में, अर्थात् इन १८ प्रकृतियों के बन्ध के अन्तकाल आने के समय में होता है। इस दृष्टि से संज्वलन लोभ का जघन्य स्थितिबन्ध नौवें

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १०१
(ख) वही, टिप्पण, पृ. १०२

२. बंधंति देव-नारय-असंख-नर-तिरि छमास-सेसाऊ ।
परभवियाउ सेसा निरुवक्कम-तिभाग-सेसाऊ ॥३०१॥
सोवक्कमाउया पुण सेस-तिभागे अहव नवमभागे ।
सत्तावीसइमे वा अंतमुहुत्तंतिमेवा वि ॥३०२॥—संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरिरचित)

गुणस्थान में, पांच अन्तराय, ९ ज्ञानावरण चार दर्शनावरण यशःकीर्ति और उच्चगोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। सातावेदनीय की बारह मुहूर्त्त प्रमाण जो जघन्य स्थिति बताई गई है, वह सकषाय बन्ध की अपेक्षा से समझनी चाहिए। अकषाय बन्ध की अपेक्षा से तो उसकी जघन्य स्थिति मात्र दो समय की होती है। यह पहले कह चुके हैं।

चार उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति

संज्वलन क्रोध की दो मास, संज्वलन मान की एक मास, संज्वलन माया की एक पक्ष और पुरुषवेद की चार मास की जघन्य स्थिति है। तथा शेष प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्वमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटि-कोटि का भाग देने पर जो लब्ध (भाज्यफल) आता है, वही उनकी जघन्य स्थिति जाननी चाहिए।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि पूर्वोक्त संज्वलन क्रोधादि चारों की प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध अपनी-अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति-काल में ही होता है। अर्थात्—उक्त चारों प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध नौवें गुणस्थान में होता है।[1]

आयुकर्म की चार प्रकृतियों की जघन्य स्थिति

देवायु और नरकायु की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है और शेष मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु की जघन्य स्थिति क्षुद्रभव प्रमाण है।

किन्हीं आचार्यों के मत से तीर्थंकरनाम की जघन्य स्थिति देवायु के समान, अर्थात् दस हजार वर्ष है और आहारक-द्विक की अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है।

तीर्थंकर नामादि तीन प्रकृतियों की जघन्य स्थिति

वैसे पहले बता चुके हैं कि तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक की जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, यही संख्यातगुणीहीन उनकी जघन्य स्थिति जाननी चाहिए।[2]

वैक्रियषट्क की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति

पंचसंग्रह के अनुसार—वैक्रियषट्क की बीस कोटि-कोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटि-कोटि सागर का भाग देने से जो

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ३५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १०५, १०६
(ख) लहुठिईबंधो संजलण-लोभे, पणविग्घ-नाण-दंसेछु ।
भिन्नमुहुत्त ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥३५॥
(ग) दो इग-मासो पक्खो, संजलणतिगे पुमट्ठ वरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाउ, मिच्छत्त-ठिईए जं लद्धं ॥३६॥ —पंचम कर्मग्रन्थ

२. (क) सुरनरयाउ समा-दस-सहस्स सेसाउ खुड्डभवं। ॥३८॥ —वही, भाग ५ पृ. ११७
(ख) गुरु कोडि कोडि अंतो तित्थाहाराण भिन्नमुहु जहा ।
लहुठिई सखगुणणा नरतिरियाणाउ पल्लतिगं ॥३३॥ —वही, भा. ५ विवेचन पृ. ९४

२/७ लब्ध स्थिति आती है, उसे १ हजार से गुणा करने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के वैक्रियषट्क (वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी) की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण आता है। उसमें से पल्य का असंख्यातवां भाग कम कर देने से जघन्य स्थिति का प्रमाण आता है।[1]

१२० बंधयोग्य प्रकृतियों में ३५ की उत्कृष्ट जघन्य स्थिति

इसी प्रकार तीर्थंकर नाम, आहारकद्विक, ३५वीं गाथा में निर्दिष्ट (पूर्वोक्त) १८ प्रकृतियों, तथा ३६वीं गाथा में निर्दिष्ट ४ प्रकृतियों (संज्वलनत्रिक और पुरुषवेद), एवं आयुकर्म की चार प्रकृतियों और वैक्रिय-षट्क की ६ प्रकृतियों, यों ३५ बंधयोग्य प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का निरूपण हुआ।

शेष ८५ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति का नियम और प्रक्रिया

बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से ३५ प्रकृतियों (पूर्वोक्त) को छोड़कर शेष ८५ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति को जानने के लिये कर्मग्रन्थकार ने एक नियम बताया है कि उन-उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व-मोहनीय की ७० कोटि-कोटि सागरोपम स्थिति का भाग देने पर जो लब्ध होता है, उसे उसकी जघन्य स्थिति समझनी चाहिए। जघन्य स्थिति का यह नियम शेष ८५ प्रकृतियों पर लागू होता है। क्योंकि ३५ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति पहले बता चुके हैं। उक्त अवशिष्ट ८५ प्रकृतियों की जघन्य स्थिति इस प्रकार है:-

पूर्वोक्त नियम के अनुसार निद्रा-पंचक तथा असातावेदनीय की जघन्य स्थिति ३/७ सागर, मिथ्यात्व की एक सागर, अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि १२ कषायों की ४/७ सागर, स्त्रीवेद और मनुष्यद्विक की ३।१४ सागर, (क्योंकि उनकी उत्कृष्ट स्थिति १५ कोटि-कोटि सागर में ७० कोटि-कोटि सागर का भाग देने से लब्ध आता है १५/७०; फिर ऊपर-नीचे के अंकों को ५ से काटने पर ३/१४ शेष रहता है), सूक्ष्मत्रिक और विकलत्रिक ९/३५ सागर (क्योंकि उनकी उत्कृष्ट स्थिति १८ कोटि-कोटि सागर में ७० कोटि-कोटि सागर का भाग देने से लब्ध आता है-१८/७०, फिर ऊपर और नीचे के दोनों अंकों को दो से काटने पर ९/३५ शेष रहता है), स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, शुभविहायोगति, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, सुगन्ध, शुक्ल वर्ण, मधुर रस, मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण स्पर्श की १/७ सागर तथा शेष शुभ और अशुभ वर्णादिचतुष्क की २/७ सागर, दूसरे संस्थान और संहनन की ६/३५ सागर, तीसरे संस्थान और संहनन की ७/३५ सागर, चौथे संस्थान और संहनन की ८/३५ सागर, पांचवें संस्थान और संहनन की ९/३५ सागर और शेष प्रकृतियों की २/७ सागर जघन्य स्थिति समझनी चाहिए।

---

१. (क) वेउव्विछक्कि त सहसतिदियं अ असन्निणो तीसिं ।
पलियासंखमूणं ठिई अबाहूणिय-निसेगो ॥२५६॥ -पंचसंग्रह
(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन पृ. १७१

इन ८५ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव ही कर सकते हैं। इन जघन्य स्थितियों में पल्य का असंख्यातवाँ भाग बढ़ा देने पर एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रमाण जानना चाहिए। यह विवेचन 'पंचसंग्रह' के अनुसार किया गया है।[1]

वर्ग के अनुसार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का नियम

'कर्मप्रकृति' ग्रन्थ के अनुसार इस गाथा की व्याख्या दूसरे प्रकार से की जाती है। उस-उस कर्मप्रकृति की उत्कृष्ट स्थितिसूचक अर्थ न लेकर अष्टविध कर्म के प्रत्येक वर्ग का उत्कृष्ट स्थितिसूचक अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जैसे–मति-ज्ञानावरण आदि प्रकृतियों का समुदाय ज्ञानावरण वर्ग कहलाता है। इसी प्रकार चक्षुदर्शनावरण आदि प्रकृतियों का समुदाय दर्शनावरणवर्ग है। सातावेदनीय आदि प्रकृतियों का वर्ग वेदनीय वर्ग है। दर्शनमोहनीय की उत्तर प्रकृतियों का समुदाय दर्शनमोहनीयवर्ग है। कषाय-मोहनीय की प्रकृतियों का समुदाय कषाय-मोहनीय वर्ग है। नोकषाय-मोहनीय की प्रकृतियों का समुदाय नोकषाय-मोहनीय वर्ग है। नामकर्म की प्रकृतियों का समुदाय नामकर्म का वर्ग, गोत्रकर्म की प्रकृतियों का समुदाय गोत्रकर्म वर्ग और अन्तराय कर्म की प्रकृतियों का समुदाय अन्तरायकर्मवर्ग कहलाएगा।

कर्मप्रकृति के अनुसार प्रत्येक वर्ग की जघन्य स्थिति ज्ञात करने का तरीका

इस प्रकार प्रत्येक वर्ग की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसे वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं और उस स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटि-कोटि सागरोपम का भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसमें से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर उस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली प्रकृतियों की जघन्य स्थिति ज्ञात हो जाती है।

ऐसा करने का कारण

ऐसा करने का कारण यह है कि एक ही वर्ग की विभिन्न प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में बहुत अन्तर देखा जाता है। जैसे कि वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटि-कोटि सागरोपम है, किन्तु उसके ही भेद सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति उससे आधी, अर्थात् १५ कोटि-कोटि सागरोपम की बताई है। 'पंचसंग्रह' के विवेचनानुसार सातावेदनीय की जघन्य स्थिति मालूम करने के लिए उसकी उत्कृष्ट स्थिति १५ कोटि-कोटि सागरोपम में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देना चाहिये। जबकि

---

१. (क) ऐसणुक्कोसाउ सिद्धलद्धिइए ज लद्धं ।
—कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ३६ विवेचन। (मरुधर केसरी)
(ख) जा एगिंदि जहन्ना पलियासंखंस संजुया सा उ । तेसिं जेट्ठा ॥२६१॥ —पंचसंग्रह ५/५४
(ग) कर्मप्रकृति के अनुसार व्याख्या, कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (मरुधरकेसरी) पृ. १४६-१४७
(घ) सजातीय प्रकृतियों के समुदाय को वर्ग कहते हैं।–सं.

'कर्मप्रकृति' ग्रन्थ के अनुसार सातावेदनीय के वेदनीय नामक वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटि-कोटि सागरोपम में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध में पल्योपम के असंख्यातवें भाग को कम करना चाहिए।[1]

कर्मप्रकृत्यनुसार उपर्युक्त वर्गों की जघन्य स्थिति

'कर्मप्रकृति' के अनुसार दर्शनावरण और वेदनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटि-कोटि सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटि-कोटि सागर का भाग देने पर ३/७ लब्ध आता है। उसमें पल्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर निद्रापंचक और असातावेदनीय की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है। दर्शनामोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटि-कोटि सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर लब्ध एक सागर में से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम करने पर मिथ्यात्व-(दर्शन) मोहनीय की जघन्य स्थिति आती है। कषायमोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति ४० कोटि-कोटि सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर लब्ध ४/७ सागर में से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर प्रारम्भ की १२ कषायों की जघन्य स्थिति आती है। नोकषाय-मोहनीय वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटि-कोटि सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर लब्ध २/७ सागर में से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम करने पर पुरुषवेद के सिवाय नोकषायों की जघन्य स्थिति आती है। नामवर्ग और गोत्रवर्ग की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटि-कोटि सागर में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर लब्ध में से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, तीर्थंकरनाम, एवं यशःकीर्तिनाम को छोड़कर कर्म की शेष सत्तावन प्रकृतियों और नीच गोत्र की जघन्य स्थिति ज्ञात होती है।[2]

एकेन्द्रिय आदि के योग्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बन्ध

पहले बताया जा चुका है कि अपने-अपने वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देकर जो लब्ध निकला, वही एकेन्द्रिय जीवों के उन-उन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का परिमाण है, उस उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में पल्य के असंख्यातवें भाग को कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव के जघन्य स्थितिबन्ध का प्रमाण आता है।

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ३६ का विवेचन (मरुधरकेसरी) से, पृ. १४६, १४७
(ख) वग्गुक्कोस ठिईणं मिच्छत्तुक्कोसगेण जं लद्धं।
सेसाणं तु जहन्ना पल्लासंखिज्ज भागूणा ॥ —कर्मप्रकृति गा. ७९

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (गा. ३६) (मरुधरकेसरी) से पृ. १४८
(ख) जघन्य स्थितिबन्ध में विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें, कर्मग्रन्थ भा. ५ का परिशिष्ट (मरुधर केसरी)

एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से पच्चीस गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध द्वीन्द्रिय जीवों के, पचास गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीवों के, सौ गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीवों के, तथा एक हजार गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के होता है। अपने-अपने उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में से पल्य का संख्यातवाँ भाग कम करने पर जघन्य स्थितिबन्ध का प्रमाण आता है।[1]

८५ प्रकृतियों का उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबन्ध

पहले ८५ प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध को बतलाने हेतु उन प्रकृतियों के वर्गों की उत्कृष्ट स्थितियों में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने का जो विधान किया है, एकेन्द्रिय जीव के उत्तरप्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रमाण निकालने के लिए वही विधान काम में लाया जाता है। तदनुसार विवक्षित प्रकृति की पूर्वोक्त उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का भाग देने पर जितना लब्ध आता है, एकेन्द्रिय जीव के उस प्रकृति का उतना ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। जैसे–पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय, और पांच अन्तराय, इन इक्कीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय जीव के ३/७ सागर प्रमाण होता है, क्योंकि इन प्रकृतियों के वर्गों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटि-कोटि सागर है। उसमें मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति से भाग देने पर ३/७ सागर लब्ध होता है। इसी क्रम से अन्य प्रकृतियों की स्थिति निकालने पर, मिथ्यात्व की एक सागर, सोलह कषायों की ४/७ सागर, नौ नोकषायों की २/७ सागर, तथा वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम को छोड़कर, एकेन्द्रिय के बंधने योग्य नामकर्म की शेष ५८ प्रकृतियों की और दोनों गोत्रों की २/७ सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति आती है। इस उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर एकेन्द्रिय जीव के जघन्य स्थितिबन्ध का प्रमाण आता है। अर्थात्–प्रत्येक प्रकृति की ३/७ सागर इत्यादि जो उत्कृष्ट स्थिति निकाली है, उसमें से पल्य का असंख्यातवाँ भाग कम कर देने पर वही उस प्रकृति की जघन्य स्थिति हो जाती है।[2]

द्वीन्द्रियादि का उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थितिबन्ध-प्रमाण

कर्मग्रन्थ की गा. ३७ के पूर्वार्द्ध द्वारा एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा से स्थितिबन्ध का उत्कृष्ट-जघन्य परिमाण बतलाया, किन्तु इसके उत्तरार्द्ध में द्वीन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा से उनका स्थितिबन्ध प्रमाण बतलाया गया है। जिसका आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीव के ३/७ सागर इत्यादि जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उसे पच्चीस से गुणा करने पर द्वीन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का प्रमाण आता है। इस दृष्टि से एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण बंधती है, तो द्वीन्द्रिय

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ३७ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १११, ११२
२. कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ३७ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. ११४, ११५

जीव के उसकी उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर-प्रमाण बँधती है। एकेन्द्रिय जीव के जो उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, उससे पचास गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध त्रीन्द्रिय जीव के होता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से सौ गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चतुरिन्द्रिय जीव के होता है, तथा उसके उत्कृष्ट स्थितिबन्ध से एक हजार गुणा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध असंज्ञिपंचेन्द्रिय जीव के होता है। ऐसा ही अन्य प्रकृतियों के विषय में समझ लेना चाहिए। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में इसका निष्कर्ष इस प्रकार बताया गया है—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय (तथा असंज्ञीपंचेन्द्रिय) जीवों के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध क्रमशः एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर, सौ सागर, और एक हजार सागर प्रमाण होता है। तथा उसका जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रिय के पल्य के असंख्यातवें भाग हीन एक सागर प्रमाण होता है और विकलेन्द्रिय जीवों के पल्य के संख्यातवें भाग हीन अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति-प्रमाण होता है।[1] पंचसंग्रह के अनुसार "तीर्थंकर नाम सहित देवायु-नरकायु की जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष प्रमाण है। तथा सातावेदनीय की १२ मुहूर्त और आहारक, अन्तराय, ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण की कुछ कम मुहूर्त प्रमाण जघन्य स्थिति है।"[2]

जघन्य अबाधाकाल का प्रमाण

समस्त प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध में तथा आयुकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में भी जघन्य अबाधा का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। किन्हीं आचार्यों के मत से तीर्थंकर नाम की जघन्य स्थिति देवायु के समान अर्थात्—दस हजार वर्ष है और आहारद्विक की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

जघन्य स्थितिबन्ध में जो अबाधाकाल होता है, उसे जघन्य अबाधा कहते हैं। जबकि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में जो अबाधाकाल होता है, उसे उत्कृष्ट अबाधा कहते हैं। किन्तु यह परिभाषा सात कर्मों (आयुकर्म के सिवाय) तक ही सीमित है, जिनकी अबाधा स्थिति के प्रतिभाग के अनुसार होती है। आयुकर्म की तो उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है।

अतः आयुकर्म की अबाधा में चार विकल्प होते हैं—(१) उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में उत्कृष्ट अबाधा, (२) उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में जघन्य अबाधा, (३) जघन्य स्थितिबन्ध में उत्कृष्ट अबाधा और (४) जघन्य स्थितिबन्ध में जघन्य अबाधा। इन विकल्पों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—(१) जब कोई मनुष्य अपनी एक पूर्वकोटि की आयु में

---

१. (क) कम्मस्स पण्णवीसाए पण्णास-सहस्सगुणिओ ॥३७॥
(ख) विगलि असन्नि सु तिण्हो कणिट्ठउ गल्लसंखभागूणो ॥३८॥
(ग) एय पणकदी पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छबंधो ।
इग-विगलाणं अवरं पल्लासंखूण-संखूणं ॥१४४॥ —गोम्मटसार (कर्मकांड)
(घ) कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन, (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. ११५

२. पंचसंग्रह गा. २५३, २५४

तीसरा भाग शेष रहने पर ३३ सागर की आयु बांधता है, तब उत्कृष्ट स्थितिबन्ध में उत्कृष्ट अबाधा होती है। (२) यदि वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के शेष रहते ३३ सागर की स्थिति बांधता है तो उत्कृष्ट स्थिति में जघन्य अबाधा होती है। (३) जब कोई मनुष्य एक पूर्व कोटि का तीसरा भाग शेष रहते हुए परभव की जघन्य स्थिति बांधता है, जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण भी हो सकती है। तब जघन्य स्थिति में उत्कृष्ट अबाधा होती है। (४) यदि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने पर परभव की अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण स्थिति बांधता है, तो जघन्य स्थिति में जघन्य अबाधा होती है। इसीलिए कहा गया है कि आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति में भी जघन्य अबाधा हो सकती है और जघन्य स्थिति में भी उत्कृष्ट अबाधा हो सकती है।[1]

उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी

अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है?

अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करता है। इसका रहस्य यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य सम्यक्त्व ग्रहण करने से पूर्व मिथ्यात्व-गुणस्थान में नरकायु का बन्ध कर लेता है। और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ग्रहण करके तीर्थंकर नामकर्म-प्रकृति का बन्ध करता है। वह मनुष्य जब नरक में जाने का समय आता है, तब सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व को अंगीकार करता है। जिस समय वह सम्यक्त्व को त्यागकर मिथ्यात्व को अंगीकार करता है, उससे पहले समय में उस अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध चतुर्थ गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान तक होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश से ही बंधती है, और वह उत्कृष्ट संक्लेश तीर्थंकर प्रकृति के बन्धकों में से अविरत-सम्यग्दृष्टि के ही उस अवस्था में होता है, जिसका वर्णन ऊपर किया है। अतः उसका ही ग्रहण किया है। तथा तिर्यञ्चगति में तो तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध ही नहीं होता। देवगति और नरकगति में उसका बन्ध तो होता है, किन्तु वहाँ तीर्थंकर-प्रकृति का बन्धक चौथे गुणस्थान से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख नहीं होता। और ऐसा हुए बिना तीर्थंकर-प्रकृति के उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध का कारणभूत उत्कृष्ट संक्लेश नहीं हो सकता। अतः मनुष्य का ग्रहण किया है। तथा तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध करने से पहले जो मनुष्य नरकायु का बन्ध नहीं करता, वह तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध करने के बाद नरक में उत्पन्न नहीं होता। इसलिए ऐसे मनुष्य का ग्रहण किया है, जो तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध करने से पूर्व नरकायु का बन्ध कर लेता है। तथा राजा श्रेणिक की तरह कोई-कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व-दशा में ही

१. कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ३९ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. ११७-११८

मरकर नरक में जा सकते हैं, किन्तु विशुद्ध परिणाम होने के कारण वे जीव तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं कर सकते। अतः यहाँ उनका ग्रहण न करके मिथ्यात्व के अभिमुख अविरत सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि बद्धनरकायु अविरतसम्यग्दृष्टि जो मनुष्य मिथ्यात्व के अभिमुख होता है, वही उस समय तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी होता है।

आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग के उत्कृष्ट स्थिति बंध का स्वामी

आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी अप्रमत्त गुणस्थान से च्युत हुआ प्रमत्तसंयत मुनि होता है; क्योंकि इन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के लिए उत्कृष्ट संक्लेश होना अनिवार्य होता है।

देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी

देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध भी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के अभिमुख हुए प्रमत्तसंयत मुनि के ही होता है। क्योंकि यह स्थिति शुभ है, अतः इसका बन्ध विशुद्ध दशा में होता है। और वैसी विशुद्ध दशा अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त संयत मुनि के ही होती है।[1]

देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबन्धक प्रमत्तमुनि की दो अवस्थाएँ

आशय यह है कि जो प्रमत्त मुनि देवायु के बन्ध का आरम्भ करते हैं, उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं-(१) एक तो उसी गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ करके उसी में उसकी समाप्ति कर लेते हैं, और (२) दूसरे, छठे गुणस्थान में उसका बन्ध प्रारम्भ करके सातवें में उसकी पूर्ति करते हैं। अतः अप्रमत्त अवस्था में देवायु के बन्ध की समाप्ति तो हो सकती है, किन्तु उसका प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसलिए देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी अप्रमत्त को न बतलाकर अप्रमत्त भाव के अभिमुख प्रमत्त संयमी को बताया है।[2]

शेष बन्धयोग्य ११६ प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी

आहारकद्विक, तीर्थंकर नाम और देवायु के सिवाय शेष बंधयोग्य ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि ही करता है। क्योंकि पूर्वोक्त नियमानुसार उत्कृष्ट

---

१. (क) अविरय सम्मो तित्थं, आहारदुगमराउ य पमत्तो ।
सिव्वट्ठिई बंधइ, जिट्ठठिई सेसपयडीण ॥४२॥ -कर्मग्रन्थ भा. ५
(ख) कर्मग्रन्थ भाग. ५, विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से पृ. १२२ से १२५ तक
(ग) देवाउगं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु ।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥ -गोम्मटसार कर्मकाण्ड १३६

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ४२ का विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १२६
(ख) देवायुर्बन्धारम्भाग्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः । -सर्वार्थसिद्धि, पृ. २३८

स्थितिबन्ध प्रायः संक्लेश से ही होता है और प्रसत बन्धकों में मिथ्यादृष्टि के ही विशेष संक्लेश पाया जाता है। इतना विशेष है कि इन ११६ बंधयोग्य प्रकृतियों में से मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धि से होता है। अतः इन दोनों का बन्धक संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि न होकर विशुद्ध परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव होता है।

यहाँ एक शंका होती है कि मनुष्यायु का बन्ध चौथे गुणस्थान तक होता है, और तिर्यञ्चायु का बन्ध होता है–दूसरे गुणस्थान तक। चूंकि तिर्यंचायु और मनुष्यायु के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के लिये विशुद्ध परिणामों की आवश्यकता है। और मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सास्वादन-सम्यग्दृष्टि के तथा अविरत सम्यग्दृष्टि के परिणाम विशेष विशुद्ध होते हैं, इस कारण तिर्यञ्चायु का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध सास्वादन-सम्यग्दृष्टि के और मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अविरत-सम्यग्दृष्टि के होना चाहिए, मिथ्यादृष्टि के क्यों बतलाया गया?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सास्वादन सम्यग्दृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि के परिणाम विशेष विशुद्ध होते हैं, किन्तु उनसे मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यायु और तिर्यंचायु की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और यह उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिज मनुष्यों और तिर्यंचों के ही होती है। परन्तु कृतार्थ गुणस्थानवर्ती देव और नारक मनुष्यायु का बन्ध करके भी कर्मभूमि में ही जन्म लेते हैं। तथा मनुष्य और तिर्यञ्च यदि अविरत सम्यग्दृष्टि हों तो देवायु का ही बन्ध करते हैं। अतः चतुर्थ गुणस्थान की विशुद्धि उत्कृष्ट मनुष्यायु के बन्ध का कारण नहीं हो सकती। और दूसरा गुणस्थान तभी होता है, जब जीव सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व के अभिमुख होता है। अतः सम्यक्त्व गुण के अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यक्त्वगुण से विमुख सास्वादन सम्यग्दृष्टि के अधिक विशुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सास्वादन सम्यग्दृष्टि के नहीं हो सकता। इस प्रकार से क्लिष्ट मिथ्यादृष्टि के ११६ प्रकृतियों का सामान्यरूप से उत्कृष्ट स्थितिबन्ध समझना चाहिए।[1]

चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव किन प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी

विकलत्रिक, (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति) सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त), आयुष्त्रिक (नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु), सुरद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी) वैक्रियद्विक (वैक्रिय शरीर, वैक्रियानुपूर्वी), और नारकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी) इन १५ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तिर्यंचों और

१. कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. ९१७ से ९२८

मनुष्यों के तथा एकेन्द्रिय जाति, स्थावर तथा आतप नाम, इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान स्वर्ग तक के देवों के होता है।

पूर्वोक्त १५ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्यों और तिर्यंचों के ही बताया है, इसका कारण यह है कि १५ प्रकृतियों में से तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु के सिवाय शेष १३ प्रकृतियों का बन्ध देवगति और नरकगति में तो जन्म से ही नहीं होता। तथा तिर्यंचायु और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्योपम है, जो भोग भूमिजों में होती है, मगर देव और नारक मरकर भोगभूमि में जन्म नहीं ले सकते।

इन १५ प्रकृतियों के सिवाय, शेष ३ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ईशान देवलोक तक के देवों के बतलाया है; क्योंकि ईशान स्वर्ग से ऊपर के देव तो एकेन्द्रिय जाति में जन्म ही नहीं लेते। अतः एकेन्द्रिय के योग्य उक्त ३ प्रकृतियों का बन्ध उनके नहीं होता। तथा तिर्यञ्च और मनुष्यों के यदि इन प्रकार के संक्लिष्ट परिणाम हों तो वे नरकगति के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। अतः उनके भी एकेन्द्रियादि तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध नहीं हो सकता। किन्तु ईशान स्वर्ग तक के देवों में यदि इस प्रकार के संक्लिष्ट परिणाम होते हैं तो वे एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। क्योंकि देव मरकर नरक में जन्म नहीं लेता है। अतः पूर्वोक्त १५ प्रकृतियों का तिर्यञ्च और मनुष्यगति में तथा तीन का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देवगति में ही जानना चाहिए।[1]

छह प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्वामी

तिर्यञ्चद्विक (तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी), औदारिक द्विक (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग), उद्योतनाम, और सेवार्त संहनन, इन ६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।

आशय यह है कि उक्त ६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यञ्च नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त प्रकृतियों के बन्ध के योग्य संक्लिष्ट परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यंच, इन ६ प्रकृतियों की अधिक से अधिक १८ सागर-प्रमाण ही स्थिति का बन्ध करते हैं। यदि उससे अधिक संक्लेश परिणाम होते हैं तो प्रस्तुत प्रकृतियों के बन्ध का अतिक्रमण करके वे नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। किन्तु देव और नारक तो उत्कृष्ट से उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणामों के होने पर भी तिर्यञ्चगति के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं, नरकगति के योग्य प्रकृतियों का नहीं, क्योंकि देव और नारक मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते। अतः उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से युक्त देव और नारक ही प्रस्तुत ६ प्रकृतियों की २० कोटि-कोटि सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करते हैं।[2]

---

१. विगल-सुहुमाउतिगं तिविगणुया सुर-विउव्वि-निरय दुगं ।
एगिंदि-थावरायव आईसाणा सुरुक्कोसं ॥४३॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन, पृ. १२८, १२९

२. वही, पृ. १३०, तिरिउरल दुगुवजोयं तेऽवइ सुर-निरय सेस चउगइया ॥४४॥

पूर्वोक्त छह प्रकृतियों के विषय में विशेष विवरण

पूर्वोक्त छह प्रकृतियों के विषय में इतना विशेष जानना चाहिए कि ईशान स्वर्ग से ऊपर के सानत्कुमार आदि स्वर्गों के देव ही सेवार्त संहनन और औदारिक अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। ईशान तक के देव नहीं क्योंकि ईशान तक के देव उनके योग्य संक्लेश परिणामों के होने पर भी अधिक से अधिक १८ सागर प्रमाण मध्यम स्थिति का ही बन्ध करते हैं और यदि उनके उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होते हैं तो एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बन्ध करते हैं; जबकि सानत्कुमार आदि स्वर्गों के देव उत्कृष्ट संक्लेश होने पर भी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के योग्य प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं। एकेन्द्रिय-योग्य प्रकृतियों का नहीं; क्योंकि उनकी उत्पत्ति एकेन्द्रियों में नहीं होती। अतः इन प्रस्तुत दो प्रकृतियों का बीस सागरोपम-प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले सानत्कुमार आदि स्वर्गों के देव ही करते हैं, नीचे के देव नहीं; क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय-योग्य नहीं हैं। एकेन्द्रिय के संहनन और अंगोपांग नहीं होते। निष्कर्ष यह है कि समान-परिणाम होते हुए भी गति आदि के भेद से उनमें भेद हो जाता है। जैसे—जिन परिणामों से ईशान स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बन्ध करते हैं, वैसे ही परिणाम होने पर मनुष्य और तिर्यञ्च नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। अतः मिथ्यादृष्टि के बंधने योग्य ११६ प्रकृतियों में से २४ प्रकृतियों के सिवाय शेष ९२ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध चारों ही गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं।[1]

जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी

आहारक-द्विक और तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में होता है, और संज्वलन कषाय तथा पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबन्ध अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में होता है।

जैसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के लिये उत्कृष्ट संक्लेश का होना आवश्यक है, वैसे ही जघन्य स्थितिबन्ध के लिए उत्कृष्ट विशुद्धि का होना आवश्यक है। यही कारण है कि आहारकद्विक और तीर्थंकर नाम का जघन्य स्थितिबन्ध आठवें में, और संज्वलन कषायचतुष्क एवं पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबन्ध नौवें गुणस्थान में बतलाया है। इन प्रकृतियों का बन्ध इन्हीं गुणस्थानों तक होता है। अतः इनके बन्धकों में उक्त गुणस्थान वाले जीव ही अतिविशुद्ध होते हैं। यहाँ इतना विशेष समझ लें कि उक्त दोनों गुणस्थान क्षपक श्रेणि के ही लेने चाहिए। क्योंकि उपशम श्रेणि से क्षपकश्रेणि में विशेष विशुद्धि होती है।[2]

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ४४ के पूर्वार्द्ध का विवेचन, पृ. १३०-१३१

२. आहार-जिणमपुव्वोऽनियट्टि-संजलण-पुरिस लहुं ॥४४॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५, विवेचन पृ. १३१

सत्रह प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी

सातावेदनीय, यशःकीर्ति, उच्च गोत्र, पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अन्तराय, इन १७ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान के अन्त में होता है। तथा वैक्रियषट्क (वैक्रियद्विक, देवद्विक, नरकद्विक) का जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी तिर्यंच-पंचेन्द्रिय करता है। चारों आयुकर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध संज्ञी और असंज्ञी दोनों करते हैं। तथैव शेष प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध बादर-पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव करता है।[1]

पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी

आशय यह है कि पूर्वोक्त १७ प्रकृतियों में से सातावेदनीय के सिवाय शेष १६ प्रकृतियाँ सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक ही बंधती है। अतः उनके बंधकों में यही गुणस्थान-विशेष विशुद्ध है। यद्यपि सातावेदनीय का बन्ध १३वें गुणस्थान तक होता है, तथापि स्थितिबन्ध तो १०वें गुणस्थान तक ही होता है, क्योंकि स्थितिबन्ध का कारण कषाय है और कषाय का उदय १०वें गुणस्थान तक ही होता है। इस दृष्टि से सातावेदनीय का जघन्य स्थितिबन्ध भी १०वें गुणस्थान में ही बताया है।

वैक्रिय-षट्क का जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च करते हैं। क्योंकि देव, नारक और एकेन्द्रिय तो नरकगति और देवगति में जन्म ही नहीं ले सकते तथा संज्ञीतिर्यञ्च पंचेन्द्रिय एवं मनुष्य स्वभाव से ही उक्त ६ प्रकृतियों का मध्यम अथवा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध करते हैं। अतः असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच के ही उनका जघन्य स्थिति बन्ध बताया है।

आयुकर्म के जघन्य स्थितिबन्ध के स्वामी

आयुकर्म की चारों प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध असंज्ञी जीव भी करते हैं, संज्ञी जीव भी। उनमें से देवायु और नरकायु का जघन्य स्थितिबन्ध पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य करते हैं, जबकि मनुष्यायु और तिर्यंचायु का जघन्य स्थितिबन्ध एकेन्द्रियादि करते हैं। शेष ८५ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्य एकेन्द्रिय जीवों में विशेष विशुद्धि न होने से बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव ही करता है। क्योंकि उनके बंधकों में वही विशेष विशुद्धि वाला होता है। विकलेन्द्रियादि में अधिक विशुद्धि होते हुए भी वे स्वभाव से ही प्रस्तुत प्रकृतियों की अधिक स्थिति बांधते हैं, इसलिए शेष प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध का स्वामी बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव ही सिद्ध होता है।[2]

---

१. साय-जसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो चउद्धिह-असत्री ।
सत्रीवि आउ बायर-पज्जेगिंदिउ सेसाणं ॥४५॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५, पृ. १३२

२. कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ४५ के विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १३२, १३३

उत्कृष्टादि चार भेदों के माध्यम से सादि, ध्रुव आदि स्थितिबन्ध का विचार

मूलप्रकृतियों के स्थितिबन्ध के चार भेद बताए गये हैं—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य। प्रकारान्तर से भी उनके सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुवबन्ध की अपेक्षा से चार प्रकार सम्भव हैं। मूल प्रकृतियों में उत्कृष्ट आदि चारों ही बन्ध होते हैं। उनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन ७ कर्मों का अजघन्यबन्ध सादि भी होता है, अनादि भी। तथा ध्रुव भी होता है, अध्रुव भी। क्योंकि इन ७ कर्मों में से मोहनीय कर्म का जघन्यबन्ध केवल क्षपकश्रेणि के अनिवृत्तिबादरसम्पराय नामक नौवें गुणस्थान के अन्त में होता है और शेष ६ कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध क्षपक सूक्ष्म सम्पराय नामक १०वें गुणस्थान के अन्त में होता है। उनके सिवाय अन्य गुणस्थानों में, यहाँ तक कि उपशमश्रेणि में भी इन ७ कर्मों का अजघन्य बन्ध होता है। अतः ११वें गुणस्थान में अजघन्यबन्ध न करके वहाँ से च्युत होकर जब जीव पुनः ७ कर्मों का अजघन्य स्थितिबन्ध करता है, तब वह बन्ध सादि कहलाता है और नौवें, दसवें आदि गुणस्थानों में आने से पहले उक्त ७ कर्मों का जो अजघन्य बन्ध होता है, वह अनादि कहलाता है। क्योंकि अनादिकाल से निरन्तर उसका बन्ध होता रहता है। अभव्य के जो अजघन्य बन्ध होता है, वह ध्रुव कहलाता है, क्योंकि उसका अन्त नहीं होता। भव्य के जो अजघन्य बन्ध होता है, वह अध्रुव होता है, क्योंकि उसका अन्त हो जाता है। इस प्रकार ७ कर्मों के अजघन्य बन्ध में चारों ही भंग होते हैं। शेष तीन बंधों में सादि और अध्रुव, यों पूर्वोक्त कथनानुसार दो ही प्रकार होते हैं।[1]

इसी प्रकार जघन्य बन्ध में केवल दो ही विकल्प होते हैं—सादि और अध्रुव। उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संक्लिष्ट परिणामी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव के ही होता है। यह बन्ध कभी-कभी होता है, सदा नहीं। इसलिए सादि है तथा अन्तर्मुहूर्त के बाद नियम से इसका स्थान अनुत्कृष्ट बन्ध ले लेता है, इस कारण अध्रुव भी है। उत्कृष्ट बन्ध में भी सिर्फ दो विकल्प होते हैं। उत्कृष्ट बन्ध के पश्चात् अनुत्कृष्ट बन्ध होता है, इसलिए वह सादि है। और कम से कम अन्तर्मुहूर्त के बाद और अधिक से अधिक अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के पश्चात् उत्कृष्ट बन्ध के होने पर अनुत्कृष्ट बन्ध रुक जाता है। अतः वह अध्रुव कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि उत्कृष्ट बन्ध एवं अनुत्कृष्ट बन्ध की पूर्वोक्त काल-सीमा के बाद दोनों परस्पर एक दूसरे का स्थान ले लेते हैं। अतः दोनों ही सादि और अध्रुव होते हैं। इस प्रकार ७ कर्मों के शेष तीन बन्धों में सादि और अध्रुव भंग ही होते हैं।

---

१. (क) उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि-अनादि, ध्रुव अध्रुव आदि के लक्षणों के लिए देखें—रसबन्ध के प्रकरण में तथा कर्मग्रन्थ भा. ५ के पृष्ठ १३४ पर

(ख) उक्कोस जहन्ने यदभंगा साइअणाइ-धुव-अधुवा ।
चउहा तए अजहन्नो सेस तिगे, आउचउसु दुहा ॥४६॥

कर्मग्रन्थ भा. ५ विवेचन, पृ. १३३, १३४

आयुकर्म का बन्ध सदा-सर्वदा नहीं होता, अपितु नियत समय में ही होता है। अतः वह सादि है; तथा उसका निरन्तर बंध केवल अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद नियमतः वह रुक जाता है, इसलिए वह अध्रुव है।

इस प्रकार आठों मूलकर्मों के अजघन्य आदि चारों बंधों में सादि आदि विकल्प जान लें।

उत्तरप्रकृतियों में अजघन्य आदि बंधों में सादि आदि भंगों का निरूपण

१२० बन्धयोग्य प्रकृतियों में अजघन्य बन्ध वाली सिर्फ १८ प्रकृतियाँ हैं—संज्वलनकषाय-चतुष्क, ज्ञानावरणादि पांच, चक्षुदर्शनावरणादि चार, और पांच अन्तराय; इन १८ प्रकृतियों के अजघन्य बन्ध में सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव ये चारों ही विकल्प होते हैं। इनमें अजघन्य स्थिति का प्रारम्भ उपशमश्रेणि से पतित होने वाले के होता है। उपशमश्रेणि में इन १८ प्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद करके, वहाँ से च्युत होकर पुनः उनका अजघन्य स्थितिबन्ध करता है, तो वह बन्ध सादि होता है तथा उपशमश्रेणि में आरोहण करने से पूर्व वह बन्ध अनादि होता है, अभव्य का वही बन्ध ध्रुव और भव्य का अध्रुव होता है। इन १८ प्रकृतियों के अजघन्य बन्ध के सिवाय शेष तीन बन्धों में प्रत्येक के साद्दि और अध्रुव, ये दो ही विकल्प होते हैं। क्योंकि नौवें गुणस्थान में अपनी-अपनी बन्ध-व्युच्छित्ति के समय संज्वलन-चतुष्क का जघन्य बन्ध होता है, और शेष ज्ञानावरण पंचक आदि १४ प्रकृतियों का जघन्य बन्ध १०वें सूक्ष्मसम्पराय क्षपक गुणस्थान के अन्त में होता है। यह बन्ध इन गुणस्थानों में आने से पहले नहीं होता, अतः सादि है और आगे के गुणस्थानों में जाने के बाद बिलकुल रुक जाता है, अतः अध्रुव है। इसी प्रकार उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट बन्ध में भी समझना चाहिए। क्योंकि ये दोनों बन्ध परिवर्तित होते रहते हैं। जीव कभी उत्कृष्ट बन्ध करता है, कभी अनुत्कृष्ट बन्ध।

शेष एक सौ दो प्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि चारों ही प्रकार के बन्धों में सादि और अध्रुव ये दो भंग होते हैं, क्योंकि ५ निद्रा, मिथ्यात्व, आदि की १२ कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात और निर्माण इन २९ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध विशुद्धि युक्त बादर एकेन्द्रिय-पर्याप्तक करता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद वही जीव संक्लिष्ट परिणामी होने पर उनका अजघन्य बंध करता है। इस प्रकार जघन्य और अजघन्य बन्ध के बदलते रहने से दोनों सादि और अध्रुव होते हैं। इन्हीं २९ प्रकृतियों का उत्कृष्ट बन्ध संक्लिष्ट परिणामी पंचेन्द्रिय जीव करता है, और अन्तर्मुहूर्त के बाद अनुत्कृष्ट बन्ध करता है, और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् पुनः उत्कृष्ट बंध करता है। इस प्रकार बदलते रहने से ये दोनों बन्ध भी सादि और अध्रुव होते हैं। शेष ७३ प्रकृतियाँ अध्रुवबन्धिनी हैं, इसी कारण उनके जघन्यादि चारों ही स्थितिबन्ध सादि और अध्रुव होते हैं।[1]

---

१. चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवग-विग्घाणं।
सेस तिगि साइ-अधुवो तह चउहा सेस पयडीणं ॥४७॥ —कर्मग्रन्थ, भाग ५

गुणस्थानों में स्थितिबन्ध का विचार

अब गुणस्थानों की अपेक्षा से यह बतलाया जाता है कि किस गुणस्थान में कितना स्थितिबन्ध होता है? सास्वादन गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण (अष्टम) गुणस्थान तक अन्तः कोटि-कोटि सागर से न तो अधिक ही स्थिति बंधती है, और न ही कम बंधती है। क्योंकि सास्वादन आदि गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वग्रन्थी का भेदन कर देते हैं। अतः उनके अन्तः कोटि-कोटि सागर प्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, उससे अधिक नहीं। इससे फलितार्थ यह निकला कि अन्तः कोटि-कोटि सागर से अधिक स्थितिबन्ध केवल मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है। इसके एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अपूर्वकरण गुणस्थान तक अन्तः कोटि-कोटि सागर से हीन स्थिति का निषेध करने से उससे आगे के अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थानों में अन्तः कोटि-कोटि सागर से भी कम स्थितिबन्ध होता है। सम्यक्त्व का वमन करके जो पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाते हैं, उनके ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, मिथ्यात्वग्रन्थी के भेदन करने वालों के नहीं, इस कारण सास्वादन आदि गुणस्थानवर्ती मिथ्यात्वग्रन्थी का भेदन करने वाले जीवों के अन्तः कोटि-कोटि सागर प्रमाण ही स्थितिबन्ध होता है, उससे अधिक बन्ध नहीं।[1]

एकेन्द्रियादि जीवों की अपेक्षा से स्थितिबन्ध का अल्पबहुत्व

अब कर्मग्रन्थ के अनुसार किस जीव के अधिक स्थितिबन्ध होता है, किस जीव के कम ? इस प्रकार स्थितिबन्ध के अल्पबहुत्व का निरूपण कर रहे हैं। (१) सबसे कम (जघन्य) स्थितिबन्ध यति अर्थात् सूक्ष्मसम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती साधु के होता है। (२) उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबन्ध असंख्यातगुणा है, (३) उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रिय के होने वाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (४) उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रिय के होने वाला जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (५) उससे सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (६) उससे सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (७) उससे बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (८) उससे सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (९) उससे बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१०) उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (११) उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक का जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१२) उससे द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१३) उससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१४) उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक का जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१५) उससे त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक का जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१६) उससे

---

१. साणाइ अपुव्वंते अयरंतो कोडिकोडिउ न हिणो।
बंधो न हु हीणो न य मिच्छे भव्वियरसंभिमि ॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ४८, पृ. १३८-१३९

त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१७) उससे त्रीन्द्रिय पर्याप्तक का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१८) उससे पर्याप्तक चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (१९) उससे अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय का जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (२०) उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (२१) उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (२२) उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (२३) उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (२४) उससे अपर्याप्त[1] असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (२५) उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कुछ अधिक है। (२६) उससे संयत का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यात-गुणा है।)२७) उससे देशसंयत का जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (२८) उससे देशसंयत का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (२९) उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (३०) उससे अपर्याप्त सम्यग्दृष्टि का जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (३१) उससे अपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (३२) उससे पर्याप्त सम्यग्दृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (३३) उससे अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि का जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (३४) उससे पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि का जघन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (३५) उससे अपर्याप्तसंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है। (३६) उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध संख्यातगुणा है।

इस प्रकार दसवें गुणस्थान से हीं स्थितिबन्ध के अल्पबहुत्व का वर्णन प्रारम्भ होता है, और पर्याप्त-संज्ञी-पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि के सबसे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, यहाँ आकर वर्णन समाप्त होता है।[2]

स्थितिबन्ध की दृष्टि से शुभ और अशुभ स्थिति की मीमांसा

साधारण जनता शुभ प्रकृति में अधिक स्थिति बंधने को अच्छा समझती है, क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति के बंधने से शुभ प्रकृति बहुत दिनों तक शुभ फल देती रहती है। किन्तु कर्मशास्त्र की दृष्टि से बन्ध आखिर बन्ध है, पराधीनतारूप है, वह निर्जरा (कर्मक्षय) या कर्ममुक्ति नहीं है, इस अपेक्षा से अधिक (उत्कृष्ट) स्थितिबन्ध का होना अच्छा नहीं है। क्योंकि स्थितिबन्ध का मूल कारण कषाय है। जिस श्रेणी का कषाय होता है, स्थितिबन्ध भी उसी श्रेणी का होता है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट कषाय से होता है, इसलिये उसे अच्छा नहीं कहा जा सकता।

---

१. कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ४९ के ५१ का विवेचन (पं. कैलाशचन्द्रजी) से, पृ. १४२

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ४९ से ५१ तक का विवेचन (वही.) पृ. १४३

इस दृष्टि से कर्मग्रन्थ में बताया गया है कि देवायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायु के सिवाय शेष सभी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अशुभ और जघन्य स्थिति शुभ होती है। उत्कृष्ट स्थिति अशुभ इसलिये मानी जाती है कि उसका बन्ध अतिसंक्लिष्ट परिणामों से होता है, जबकि जघन्य स्थिति का बन्ध विशुद्ध भावों से होता है।[1]

कषायजन्य होते हुए भी अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध में महान् अन्तर

यहाँ शंका होती है–स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध दोनों ही कषाय से ही होते हैं, तब जैसे उत्कृष्ट स्थिति को अशुभ माना जाता है, उसी तरह उत्कृष्ट अनुभाग को भी अशुभ मानना चाहिए; क्योंकि दोनों का कारण कषाय है। किन्तु शास्त्रों में शुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभागबन्ध को शुभ और अशुभ प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध को अशुभ कहा है, ऐसा क्यों?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि अनुभागबन्ध का कारण भी कषाय ही है और स्थितिबन्ध का कारण भी कषाय ही है। तथापि दोनों में बड़ा अन्तर है। कषाय की तीव्रता होने पर अशुभ प्रकृतियों में अनुभागबन्ध अधिक होता है, जबकि शुभ प्रकृतियों में कम। तथैव कषाय की मन्दता होने पर शुभ प्रकृतियों में अनुभागबन्ध अधिक होता है, और अशुभ प्रकृतियों में कम होता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकृति के अनुभागबन्ध की हीनाधिकता कषाय की हीनाधिकता पर निर्भर नहीं है। किन्तु शुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध की हीनता और अधिकता कषायों की तीव्रता और मन्दता पर अवलम्बित है, जबकि अशुभ प्रकृतियों के अनुभागबन्ध की हीनता और अधिकता कषाय की मन्दता और तीव्रता पर अवलम्बित है। तात्पर्य यह है कि अनुभाग-बन्ध की दृष्टि से कषाय की तीव्रता और मन्दता का प्रभाव शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर बिलकुल विपरीत पड़ता है। किन्तु स्थितिबन्ध में यह बात नहीं है। क्योंकि कषाय की तीव्रता के समय शुभ या अशुभ जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं, उन सबमें ही स्थितिबन्ध अधिक होता है। इसी तरह कषाय की मन्दता के समय जो भी प्रकृतियाँ बंधती हैं, उन सब में ही स्थितिबन्ध कम होता है। अतः स्थितिबन्ध की अपेक्षा से कषाय की तीव्रता-मन्दता का प्रभाव सभी प्रकृतियों पर एक-सा होता है। जैसे–अनुभाग में शुभ और अशुभ प्रकृतियों पर कषाय का पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ता है; वैसे स्थितिबन्ध में नहीं पड़ता। दूसरी दृष्टि से इस तथ्य को यों कह सकते हैं–जब-जब शुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है, तब-तब उनमें जघन्य स्थितिबन्ध होता है और जब-जब उनमें जघन्य अनुभागबन्ध होता है, तब-तब उनमें उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। क्योंकि शुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट अनुभागबन्ध का कारण कषाय की मन्दता है, जो कि जघन्य स्थितिबन्ध का कारण है। तथा उनके जघन्य अनुभाग का कारण कषाय की तीव्रता

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ५२ (पं. कैलाशचन्द्रजी) विवेचन सहित, पृ. १४७
(ख) स्थितिबन्ध के अल्पबहुत्व तथा शुभाशुभता के विषय में कर्मग्रन्थ भा. ५ में देखें।

है, जो कि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का कारण है। यह तो हुई शुभ प्रकृतियों की बात। अशुभ-प्रकृतियों में तो अनुभाग अधिक होने पर स्थिति भी अधिक और अनुभाग कम होने पर स्थितिबन्ध भी कम होता है, क्योंकि दोनों का कारण कषाय की तीव्रता ही है। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ही अशुभ है। उनका कारण है—कषायों की तीव्रता। तथा शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध शुभ है, उसका कारण है—कषायों की मन्दता। अतः उत्कृष्ट स्थितिबन्ध की तरह उत्कृष्ट अनुभागबन्ध को सर्वथा अशुभ नहीं माना जा सकता।[1]

सारांश यह है कि उत्कृष्ट संक्लेश से उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और विशुद्धि से जघन्य स्थितिबन्ध होता है, मगर तीन प्रकृतियाँ (देवायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु) इस नियम की अपवाद हैं। इन तीन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति शुभ मानी जाती है, क्योंकि उसका बन्ध विशुद्धि से होता है और जघन्य स्थिति अशुभ मानी जाती है, क्योंकि उसका बन्ध संक्लेश से होता है।

आशय यह है कि उपर्युक्त तीनों प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति मन्द कषाय से और जघन्य स्थिति तीव्र कषाय से बंधती है। इनके सिवाय शेष प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति तीव्र कषाय से और जघन्य स्थिति मन्द कषाय से बंधती है।

स्थितिबन्ध में कषाय के साथ योग का भी संयोग

स्थितिबन्ध में कषाय की प्रधानता है, फिर भी योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) भी अमुक कार्यिक अध्यवसाय से युक्त होती है, इसलिए वह भी गौणरूप से स्थितिबन्ध में सहायक होती है। यही कारण है कि कर्मग्रन्थकार जीवों के स्थितिबन्ध होने में कषाय के साथ योगों के अल्पबहुत्व की भी विचारणा करते हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध-पर्याप्तक जीव के प्रथम समय में सबसे अल्प योग होता है। उससे बादर एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी और संज्ञी लब्ध-पर्याप्तक का जघन्य योग असंख्यातगुणा है। उससे प्रारम्भ के दो लब्धपर्याप्तक (सूक्ष्म और बादर) एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग संख्यातगुणा है। उससे दोनों ही पर्याप्तकों का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे दोनों ही पूर्वोक्त पर्याप्तकों का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। उससे अपर्याप्त त्रसों का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है, उससे पर्याप्त त्रसों का जघन्य योग असंख्यात गुणा है। उससे पर्याप्त त्रसों का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है। इसी प्रकार

---

१. (क) सव्वाण वि जिट्ठिई असुभा, जं साइ-संकिलेसेणं ।
इयरा विसोहिउ पुण सुत्तुं. नर-अमर-तीरियाउं ॥ —कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ५२

(ख) सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्स-संकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो, आउ-गतिय-वज्जियाणं तु ॥ —गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. १३४

(ग) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ५२ के विषय का विश्लेषण, पृ. १४७ से १४९

स्थिति-स्थान भी अपर्याप्त और पर्याप्त के (उत्तरोत्तर) संख्यातगुणे होते हैं, केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थिति-स्थान असंख्यातगुणे हैं।[1]

योग-स्थानों के कारण स्थिति-स्थानों की उत्तरोत्तर वृद्धि

किसी प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त स्थिति के जो भेद होते हैं, उन्हें स्थिति-स्थान कहते हैं। ये स्थिति-स्थान भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय के लब्धपर्याप्तक के जघन्य स्थिति-स्थान से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक तक उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे होते जाते हैं। अर्थात्-ज्यों-ज्यों स्थिति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्थिति-स्थानों की संख्या भी उत्तरोत्तर संख्यातगुणी होती जाती है, केवल अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के स्थिति-स्थान असंख्यात गुणे होते हैं।[2]

स्थानों के कारण होते हैं, अगणित अध्यवसायस्थान, जिनसे स्थितिबंध में तारतम्य होता है।

एक एक स्थितिस्थान के कारण अगणित अध्यवस्थान होते हैं। अध्यवसाय-स्थान से मतलब है-कषाय के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, और मन्द, मन्दतर, मन्दतम उदय से। अर्थात्-स्थितिबन्ध के कारण कषायजन्य आत्म-परिणाम को अध्यवसाय कहते हैं। एक स्थितिबन्ध का कारण एक ही अध्यवसाय-स्थान नहीं है, अपितु अनेक अध्यवसाय-स्थान हैं। यानी एक ही स्थिति नाना जीवों के नाना अध्यवसाय-स्थानों से होती है। मान लो, दस मनुष्य दो सागर प्रमाण देवायु का बन्ध करते हैं तो यह आवश्यक नहीं कि उन दसों मनुष्यों के एक-सरीखे अध्यवसाय हों। अतः एक स्थितिस्थान के कारण अध्यवसाय-स्थान असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों के अध्यवसाय-स्थान उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होते हैं। इसी तरह ज्ञानावरणीयादि के जघन्य से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त अध्यवसाय-स्थानों की संख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक जाननी चाहिए। इनके क्रमशः चार स्थितिस्थान होते हैं। परन्तु आयुकर्म के चार स्थितिबन्ध क्रमशः होते हैं, जिनके अनुसार अध्यवसायस्थान असंख्यातगुणे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार स्थितिबन्ध का सर्वांगपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।[3]

● ●

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५, गा. ५३, ५४ का संक्षिप्त भावार्थ, पृ. १४९-१५०
(ख) योगों के अल्प बहुत्व, लक्षण तथा योगस्थानों की व्याख्या के लिए देखें-कर्मग्रन्थ भा. ५ पृ.१५० से १५४

२. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ गा. ५४ का संक्षिप्त भावार्थ, पृ. १५३
(ख) स्थितिस्थानों के विस्तृत विश्लेषण के लिए देखें, कर्मग्रन्थ भाग ५, पृ. १५४-१५५

३. अध्यवसायस्थानों के स्थितिबन्ध से सम्बद्ध विवेचन के लिए देखें-कर्मग्रन्थ भा. ५, पृ. १५६, १५७

सन्दर्भ हेतु प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अखण्ड ज्योति : फरवरी १९७६ अगस्त १९७८
आत्म-तत्व विचार
आत्मानुशासन
आप्तमीमांसा
(आचार्य समंतभद्र)
अभिधान राजेन्द्र कोष
अमर भारती (अक्टूबर-नवम्बर ८४)
(उपाध्याय अमरमुनिजी का द्रव्यभाव चतुर्भंगी लेख)
अस्तेय दर्शन (उपाध्याय अमर मुनि)
आचारांग सूत्र
आवश्यक सूत्र
आवश्यक टीका
आवश्यक निर्युक्ति
आवश्यक निर्युक्ति हारि० वृत्ति
उत्तराध्ययन सूत्र
उत्तराध्ययन पाइय टीका
उपासकदशांग सूत्र
ओघनिर्युक्ति
औपपातिक सूत्र
अन्तकृद्दशांग सूत्र
कम्मपयडी (भूत व टीका)
कर्म अने आत्मानो संयोग
(श्री अध्यायी)
कर्म ग्रन्थ : भाग ५
(विवेचन--पं. कैलाशचन्द्रजी)
कर्मग्रन्थ : भाग ६
(प्रस्तावना : पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री)
कर्मग्रन्थ भाग १, ५, ६
(विवेचन–मरुधरकेसरी जी म.)
कर्म प्रकृति (मलयगिरि टीका)
कर्म प्रकृति (विजयजयन्तसेनसूरि)
कर्म प्रकृति
कर्म फिलोसोफी (गुजराती)
(व्याख्या : विजयलक्ष्मणसूरीजी)
कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी जी)
कर्मवाद
कर्मवाद : पर्यवेक्षण
(आचार्य देवेन्द्र मुनि)
कर्म-विपाक (मरुधर केसरी जी)
कर्म-विपाक (स्वोपज्ञवृत्ति)
कर्म विज्ञान, भाग १, २, ३
(आचार्य देवेन्द्र मुनि)
कर्म-सिद्धान्त
(जिनेन्द्र वर्णी जी)
कल्याणमन्दिर स्तोत्र
कषायपाहुड
कषायप्राभृत
कामसूत्र
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
गीता (भगवद्गीता)
गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड)
(नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित)
चारित्र प्राभृत
चेतना का ऊर्ध्वारोहण
जीवप्राभृत
जीवाभिगम सूत्र
जवाहर किरणावली
जिनवाणी, सितम्बर १९९० अंक
जैन कर्म सिद्धान्त: तुलनात्मक अध्ययन (डा. सागरमल जैन)

जैन तत्व प्रकाश
(पूज्य अमोलक ऋषि जी म.)
जैन दर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य)
जैन दर्शन में आत्म-विचार
(डॉ. लालचन्द्र जैन)
जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण
(आचार्य देवेन्द्र मुनि)
जैन दर्शनमां कर्मवाद
(श्री चन्द्रशेखर विजयजी गणिवर)
जैन दृष्टिए कर्म
(डा. मोतीचन्द गि. कापड़िया)
जैन धर्म और दर्शन
(गणेश ललवानी)
जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन
(डा. सागरमल जैन)
जैन योग
जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ४
जैन सिद्धान्त (पं. कैलाशचन्द्र जी)
जैन सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी जी)
जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (भाग २, ६,-)
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष
ज्योतिष्करण्डक
तत्वानुशासन
तत्वार्थसार
तत्वार्थसूत्र (मूल) (उमास्वाति रचित)
तत्वार्थ सूत्र भाष्य (उमास्वाति)
तत्वार्थ सूत्र (उमास्वाति रचित)
(विवेचन-उपाध्याय केवलमुनिजी)
तत्वार्थ सूत्र (उमास्वाति)
(विवेचन-पं. सुखलाल जी)
तत्वार्थ वृत्ति श्रुतसागरीया
तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय
(आचार्य आत्मारामजी म.)
तिलोय पण्णत्ति
तीर्थंकर महावीर
द्रव्य संग्रह (वृहद् द्रव्य संग्रह)
दशवैकालिक सूत्र
दशवैकालिक : भद्रबाहु निर्युक्ति
दशवैकालिक हारि० वृत्ति
धर्म और दर्शन
(आचार्य देवेन्द्र मुनि)
धर्मसंग्रह
धवला
नन्दीसूत्र (मूल)
नन्दीसूत्र (मलयगिरिवृत्ति)
नयचक्रवृत्ति
नवतत्व प्रकरण (स्वोपज्ञ टीका)
(देवेन्द्र सूरि रचित)
नवपदार्थज्ञानसार
नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
निशीथ चूर्णि
न्याय सूत्र
परमात्म प्रकाश मूल एवं टीका
पाइअ णाम माला
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
(आचार्य अमृतचन्द्र)
पंच संग्रह (प्राकृत)
पंचाध्यायी
पंचाशक
पंचास्तिकाय (आ. कुन्दकुन्द)
प्रवचनसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
प्रवचनसारोद्धार
प्रशमरति (उमास्वाति रचित)
प्रश्नव्याकरण सूत्र
प्रज्ञापना सूत्र

बौद्ध धर्म-दर्शन
भक्त-परिज्ञा
भगवती आराधना
भगवती सूत्र
भाव पाहुड
भाव संग्रह
मनुस्मृति
महाबन्धो
महाबंधो भाग १, प्रस्तावना
(पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर)
मुक्ति के ये क्षण
(ब्र. कु. कौशल)
मूल आराधना
मूलाचार
मोक्षमार्ग प्रकाशक
युक्त्यनुशासन टीका
योगदर्शन
योगदर्शन व्यास भाष्य
योगशास्त्र
योगसार
रत्नकरंडक श्रावकाचार
रसबन्धो (मुनि जयशेखरविजयजी)
राजवार्तिक (तत्वार्थवार्तिक)
(आ. अकलंकदेव रचित)
रे कर्म तेरी गति न्यारी
(आ. विजयगुणरत्नसूरीश्वर)
वाल्मीकि रामायण, (सुन्दर काण्ड)
विपाक सूत्र
विशेषावश्यक भाष्य
वीतरागता : एक समीचीन दृष्टि
(डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री)
वैराग्य शतक
वैशेषिक सूत्र, (प्रशस्तपाद भाष्य)
व्यवहारभाष्य
व्याख्याप्रज्ञप्ति
शतक
शुभाशुभकर्मफल
(आत्मनिधि मुनि त्रिलोक)
श्रावक का अस्तेय व्रत
(पूज्य श्री जवाहरलाल जी म.)
षट् खण्डागम, पंचम खण्ड
षड्दर्शन समुच्चय
समयसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
समयसार कलश
(आचार्य अमृतचन्द्र)
समवायांग सूत्र
सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन
(अशोक मुनि)
सर्वार्थसिद्धि (आचार्य पूज्यपाद रचित)
सुधर्मा, अगस्त ८९ का अंक
सूत्रकृतांग सूत्र
संग्रहणी सूत्र (चन्द्रसूरि रचित)
संयुक्त निकाय
सांख्य कारिका
सांख्य दर्शन
स्थानांग (ठाणांग) सूत्र
स्थानांग वृत्ति
स्याद्वाद मंजरी
हितोपदेश
क्षपणासार
ज्ञातासूत्र
ज्ञान का अमृत (ज्ञान मुनि जी)
ज्ञानबिन्दु (जिनेन्द्र वर्णी जी)
ज्ञानसार
ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य)

● ●